हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों
का
मूल्यांकन

सम्पादक
डा० यश गुलाटी
एम. ए., पीएच. डी.
सनातन धर्म कालिज
अम्बाला छावनी

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक : सूर्य-प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक : शोभा प्रिंटर्स.
ईस्ट पार्क रोड, नई दिल्ली ५

: कपूर प्रिंटिंग प्रेस
कशमीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य : चालीस रुपए

प्रथम संस्करण : गणतन्त्र-दिवस १९६९

'मेरे लिए हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है,
अपने-अपने कला-नियमों को लिए हुए है।
इसलिए हर कृति की राह से गुज़र
कर उसे जाना तथा पहचाना
जा सकता है।'

—इन्द्रनाथ मदान

अनुक्रमणिका

परिप्रेक्ष्यहृदयंगम कर सकें। मेरी यह योजना कभी भी साकार न हो सकती, यदि मुझे दो महानुभावों का सक्रिय-सहयोग न मिला होता। कुरुक्षेत्र में तत्कालीन हिंदी-विभाग के अध्यक्ष और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य विनयमोहन शर्मा के पथ-निर्देशन के अभाव में यह पुस्तक कभी भी वर्तमान रूप में प्रकाशित न हो सकती। इस पुस्तक के प्रकाशक श्री तनसुखराम गुप्त, स्वयं अनेक सफल कृतियों के कर्ता हैं, उनको इसका महत्त्व समझाने की मुझे विशेष जरूरत नहीं पड़ी। इनके सहयोग का परिणाम यह वृहद्-ग्रंथ है।

प्रस्तुत ग्रंथ के लिए उन्हीं विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया गया है, जो अपने विषय में पारंगत हैं। पुस्तक में संकलित लेख विशेष रूप से इसी के लिए लिखे गए हैं। कतिपय पूर्व-मुद्रित लेखों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस कार्य में सम्पादक को किन कठिनाइयों में से गुजरना पड़ा है, इसका अनुभव ऐसी ही स्थिति में से निकलकर किया जा सकता है। सम्पादक और मुद्रणालय के विभिन्न स्थानों पर होने के कारण इसमें कतिपय त्रुटियाँ सम्भाव्य हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में उन काव्यों का विवेचन ही सम्मिलित किया गया है, जो समग्र रूप से अथवा कथ्य या कथन की दृष्टि से इसमें सम्मिलित होने के अधिकारी प्रतीत हुए हैं। इनके विषय में मतभेद हो सकता है। ग्रंथ में केवल प्रबंध-काव्यों के विवेचन को ही स्थान नहीं दिया गया। मुक्तक-कविता भी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है, उसके संकलनों की आलोचना भी इसमें समुचित स्थान लिए हुए है।

प्रस्तुत काव्यों को किस क्रम से रखा जाए, यह भी एक समस्या थी। इसके लिए प्राचीन काव्यों और नवीन कला-कृतियों के लिए भिन्न मानदंड स्वीकार करने पड़े। आदिकाल की कृतियों, विशेषरूप से पृथ्वीराज रासो का रचनाकाल विवादास्पद है। आजकल अनेक विद्वान् इसे परवर्ती काल की रचना स्वीकार करते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका। अतएव इसे और कहीं रखना इसके साथ अन्याय होता।

मुक्तक-काव्यों में अनेक ऐसे हैं जिनका संकलन कवि द्वारा न किया जाकर परवर्ती काल में अन्य व्यक्तियों के द्वारा किया गया। इसलिए यही उचित समझा गया कि एक ही प्रवृत्ति के काव्यों को एक साथ रख दिया जाए।

आधुनिक कालीन रचनाओं के प्रकाशन वर्ष को ही प्रामाणिक स्वीकार किया गया है। इस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि हिन्दी में विभिन्न प्रवृत्तियों की रचनाएँ एक साथ प्रकाशित और सम्मिलित होती रही हैं।

प्रस्तुत प्रयास में सम्पादक की सफलता अथवा असफलता का निर्णय विज्ञ-पाठक और अधिकारी विद्वान् ही कर सकते हैं। फूल सोई जो महेसहिं चढ़ै।

१ जनवरी, १९६६। —यश गुलाटी

१

बीसलदेव रास

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित

बीसलदेव रास हिन्दी की सर्वाधिक विवादग्रस्त रचना है। रचना-तिथि, रचयिता, ऐतिहासिक तथ्य, भाषा और उसकी साहित्यिकता, सभी के सम्बन्ध में आलोचकों के बीच मत-वैभिन्य बना हुआ है। अब तक इस ग्रंथ के तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम के सम्पादक थे श्री सत्यजीवन वर्मा, दूसरे के हैं डा० माताप्रसाद गुप्त तथा तीसरे का सम्पादन कुछ दिन पहले डा० तारकनाथ अग्रवाल ने शोधग्रन्थ के रूप में किया है। सभी सम्पादकों को मिली हुई हस्तलिखित प्रतियों में संख्या का अन्तर होने से उनके ग्रंथ-सम्पादन में भी भेद दिखाई देता है। इसकी प्राप्त प्राचीनतम प्रतिलिपि सं० १६३३ की लिखी हुई है और उपलब्ध समस्त प्रतियों के मिलान करने से इसके दो रूपान्तरों का पता लगता है। एक रूपान्तर में चार खण्ड हैं और दूसरे में खण्ड-विभाजन नहीं किया गया है तथा कथा भी बीसलदेव के उड़ीसा से लौट आने तथा उसके संभोग-वर्णन के साथ समाप्त हो जाती है। चार खण्डों वाली कथा इसके उपरान्त भी चलती रहती है जिसमें कवि ने हनुमान की वंदना करके बीसलदेव द्वारा अपने भतीजे को युवराज-पद दिया जाना, राजा भोज को पुरोहित भेजकर धार नगरी से मिलन-हेतु बुलवाना, भोज के साथ राजमती का धार जाना तथा कुछ समय उपरान्त बीसलदेव का स्वयं धार जाकर उसे वापस लाना और सुख-पूर्वक रहना वर्णित है तथा समाप्ति पर ग्रंथकार का आशीष भी सम्मिलित है। डा० माता-प्रसाद गुप्त ने प्रतियों की छानबीन करके उनमें से केवल १२८ छन्दों को ही मूल बीसलदेव रास माना है, किन्तु डा० अग्रवाल ने सं० १६३३ की प्राचीनतम प्रति के अन्तर्गत दिए गए २४६ छन्दों को प्रामाणिक स्वीकार किया है। हम इस लेख में डा० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण का ही आधार ग्रहण करेंगे।

बीसलदेव रास की रचना-तिथि के संबंध में कोई एक निश्चित मत नहीं है। प्रतियों की उपलब्धि, भाषा तथा ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जांच करके भी विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। भिन्न-भिन्न प्रतियों में रचना-संवत् सूचक भिन्न-भिन्न पंक्तियां मिलती हैं। ये पंक्तियां चार प्रकार की हैं: १—संवत् सहस सतिहत्तरई जाणि। २—संवत् सहस तिहुत्तर जाणि। ३—संवत् तेर सतोत्तरई

जाणि, तथा ४—बारह से बहोत्तराहां मंझारि पाठ वाली। इनके आधार पर विद्वानों ने छः प्रकार के संवत् निकाले हैं: (१) १०७७, (२) १०७३, (३) १३७७, (४) १३०७, (५) १२७२, तथा (६) १२१२। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, लाला सीताराम, डा० उदयनारायण तिवारी सं० १२७२ के पक्ष में हैं। डा० ओझा ने कार्त्तिकादि और चैत्रादि भेद से वर्ष के दो प्रकार मानकर कार्त्तिकादि १२७२ को ठीक बताया है। श्री अगरचन्द नाहटा भी सं० १२७२ के पक्ष में थे किन्तु बाद में आपने भाषा के आधार पर इसे १६वीं-१७वीं शती के नरपति नामक जैन कवि की रचना मान लिया। दूसरी ओर आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री सत्यजीवन वर्मा सं० १२१२ को ही उचित मानते हैं। मिश्रबन्धुओं का अलग ही अपना एक मत है जिसके अनुसार सं० १३५४ रचना-तिथि ठहरती है और डा० रामकुमार वर्मा बहुत पहले पहुँचकर सं० १०७३ को इसका निर्माण-काल मानते हैं। नाहटा जी ने नरपति नामक किसी जैन कवि का सहारा लेकर इस रचना को भी उसकी ही मान लिया है और साथ ही रचना-तिथि को ग्रंथारम्भ में देखकर इसे मुसलमानी प्रभाव मानकर इसे १६वीं-१७वीं शती में स्थापित करने का प्रयत्न किया है अवश्य, किन्तु इन दोनों ही निष्कर्षों में युक्ति का अभाव ही अधिक है। जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने कहा है: "उसकी भाषा के आधार पर जो परिणाम नाहटा जी ने निकाला है, उसके विषय में यह जान लेना चाहिए कि जिन प्रतियों की भाषा के आधार पर उन्होंने वह परिणाम निकाला है, उनमें ग्रंथ के पाठ की अन्तिम स्थितियों तक के प्रक्षिप्त छंद मिले हुए हैं, जिनकी संख्या मूल से भी अधिक है।[1]" दूसरे "जहाँ तक गुजरात के नरपति नाल्ह के एक होने का प्रश्न है, यह नहीं कहा गया है कि गुजरात के 'नरपति' ने भी अपने को कहीं 'नाल्ह' कहा है, जबकि बीसलदेव रास का रचयिता अपने को 'नाल्ह' कहता है। फिर जो पंक्तियां तुलना के लिए दोनों कवियों से दी गई हैं, उनमें से चार तो इस संस्करण में प्रक्षिप्त माने गए छंदों की हैं, और शेष तीन पंक्तियों में जो साम्य है वह साधारण है, उस प्रकार का साम्य देखा जाय तो मध्ययुग के किन्हीं भी दो कवियों की रचनाओं से मिल सकता है। फिर 'बीसलदेव रास' में न जैन नमस्क्रिया है और न कोई अन्य बात मिलती है जिससे इसका लेखक जैन प्रमाणित होता हो। केवल आंशिक नाम-साम्य के आधार पर इस रचना को सोलहवीं-सत्रहवीं शती के किसी जैन लेखक की कृति मानना तटस्थ बुद्धि से संभव नहीं ज्ञात होता है।[2]" इतना ही नहीं डा० गुप्त के "संस्करण के पाठ की भाषा को सं० १४०० के आस-पास की किन्हीं भी राजस्थानी रचनाओं की भाषा से मिलाकर यह बात देखी जा सकती है कि 'वीसलदेव रास' की भाषा लगभग उन्हीं के जैसी

१. डा० गुप्त द्वारा संपादित 'वीसलदेव रास' भूमिका, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ६०।

है ।[१] इसी प्रकार ग्रंथारम्भ में ही रचना-तिथि देने का तर्क भी महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह वात डा० तारकनाथ अग्रवाल ने यह कहकर स्पष्ट कर दी है कि एक तो इसका संबंध रुचि से और दूसरे स्वयं जैन कवि मान द्वारा रचित 'राजविलास' ग्रंथ के आरम्भ में भी रचना-तिथि दी गई है ।[२] तात्पर्य यह है कि अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में यह रचना ११वीं से लेकर १४-१५वीं शती के अन्दर की ही प्रमाणित होती है, भले ही वे किसी एक ही तिथि के निर्णय करने में असमर्थ रहे हैं अथवा डा० गुप्त ने स्पष्टतः सारे पूर्वोक्त संवतों को निरस्त करके किसी संवत् विशेष को निर्धारित नहीं किया है । डा० गुप्त से भी आगे बढ़कर सं० १४०० के स्थान पर डा० अग्रवाल इसकी भाषा को १२वीं शती की मानते हैं और उसे पृथ्वीराज रासो की भाषा से प्राचीन मानते हैं । उनका कथन है : "आज के प्राप्त इस ग्रंथ की प्रतियों में निस्सन्देह डिंगल और पिंगल भाषा की बहुलता है, क्योंकि पन्द्रहवीं शती के पश्चात् की ही ये सभी प्रतियां हैं लेकिन इन प्रतियों में अपभ्रंश संज्ञाओं और क्रियाओं का प्रयोग तो स्पष्ट सिद्ध करता है कि इस काव्य की रचना अति प्राचीन अर्थात् १२वीं शती की थी और स्मरण के आधार पर लिखित होने के कारण केवल थोड़े-बहुत शब्दों और क्रियाओं का ही प्रयोग लेख-बद्ध करते समय किया जा सका । तथा इस कथन में भी अत्युक्ति न होगी कि इस ग्रंथ की रचना आजकल की राजस्थानी में नहीं हुई थी, जैसा कि डा० उदयनारायण तिवारी का विचार है, यदि उन्होंने सचमुच 'राजस्थानी' शब्द का प्रयोग आज की राजस्थानी के लिए किया हो ।[३]

जो हो, इतना स्पष्ट है कि सभी विद्वान् कम-से-कम इस वात से अवश्य सहमत हैं कि "वीसलदेव रास में उल्लिखित घटनाओं का संबंध इतिहास से बहुत कम है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ग्रंथ के रचयिता को इतिहास का ज्ञान यथेष्ट न था । अतः इन घटनाओं के आधार पर वीसलदेव रास का निर्माण-काल का निर्णय करना खतरे से खाली नहीं है ।[४] काव्य के नायक वीसलदेव के संबंध में भी इसीलिए यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि वह बीसलदेव तृतीय है अथवा चतुर्थ । इतिहास यह बताता है कि सं० १२१० से १२२० तक विग्रहराज चतुर्थ का शासनकाल था और रास की रचना का समय १२१२ मानने पर, जैसा कि सत्यजीवन वर्मा तथा अग्रवाल ने माना है, वही लेखक का समकालीन होने से नायक जान पड़ता है क्योंकि लेखक ने 'सर्वत्र वर्तमानकालिक प्रयोग'[५] किए हैं ।

१. डा० गुप्त सं० 'वीसलदेव रास' पृ० ५९ ।
२. डा० अग्रवाल सं०, भूमिका पृ० २२ ।
३. वही, पृ० २२ ।
४. वही, पृ० ५९ ।
५. स० जी० वर्मा सं०, भू० पृ० ६ ।

किन्तु वर्मा जी के इस तर्क को न तो अग्रवाल ही मानते हैं और न डा० ओझा ही। डा० अग्रवाल तो विग्रहराज तृतीय को ही नायक मानते हैं और ओझा जी भाषा को रुचि पर निर्भर बताकर वर्तमानकालिक प्रयोग के तर्क को टाल देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि भाषा की कसौटी सदियां नहीं हैं। जैनों ने प्राकृत में ही लिखा जबकि उनके समकालीन चारण प्रचलित भाषा में लिखते रहे।[१] डा० उदयनारायण तिवारी ओझा जी के इस मत की ही पुष्टि करते हैं और वर्तमानकालिक प्रयोग को अनेक ग्रंथों में स्वीकृत मानने के साथ ही यह कल्पना भी करते हैं कि लेखक ने "सत्य का रूप देने के लिए ऐसा किया है।[२]" इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह यह कि नाल्ह का समय कहीं ११वीं से १३वीं शती के बीच निश्चित होना चाहिए।

रचयिता के नाम और उसकी जाति को लेकर भी विद्वानों ने बड़ी मजेदार कल्पनाएँ की हैं। डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० तिवारी 'नाल्ह' को उपनाम मानते हैं तो लाला सीताराम 'नरपति' नाम को ही उपनाम बताते हैं और सत्यजीवन वर्मा *'कर जोड़ि नरपति कहई। नाल्ह कहई जिन लावई खोड़ि।'* जैसी पंक्ति के आधार पर नरपति और नाल्ह को अलग-अलग दो व्यक्ति ही मानते हैं जिनमें से पहले एक ने कथा गाई फिर दूसरे ने। डा० अग्रवाल ने एक दूसरा ही मार्ग अपनाया है। सं० १६३३ की प्रति को प्रामाणिक मानकर दोनों को एक ही बताते हुए वे कहते हैं: "इस प्रति में कवि का नाम 'नरपति' पहले पद के अतिरिक्त और कहीं नहीं आता। 'करि जोड़ि नरपति भणई। जाणि करि रोहणी जिमि तपउ सूरि।' इसी प्रकार 'नाल्ह' भी इसकी पद्य-संख्या ४-५ के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। अतः कवि का प्रचलित नाम नाल्ह था। प्रचलित होने के कारण ही इस नाम का उपयोग एक स्थान से अधिक स्थानों में किया गया है और नरपति कवि का उपनाम इस लिए प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग केवल एक स्थान पर हुआ और वह भी हुआ केवल तुक के मेल के लिए ही।... दोनों एक हैं। फिर भी कुछ मानना ही हो तो यह मानें कि 'नरपति' नाल्ह की उपाधि समझी जाये, जो बहुत कुछ संभव है कि उसे प्राप्त हुई होगी उसके गुणों के कारण। और यों भी कवि नरपुंगव तो होते ही हैं।[३]"

नाम की ही भांति कवि की जाति भी अभी तक अनिश्चित है। आचार्य शुक्ल तथा सत्यजीवन वर्मा की सम्मति में वह भाट था, नाहटा तथा तिवारी के मत से काव्य में यत्र-तत्र आए हुए शब्द 'व्यास' तथा 'जोइसी' के आधार पर वह ब्राह्मण था। डा०

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० १०१।
२. वीर काव्य, पृ० २०३।
३. अग्रवाल संस्क०, पृ० ६७-६८।

किन्तु वर्मा जी के इस तर्क को न तो अग्रवाल ही मानते हैं और न डा० ओझा ही। डा० अग्रवाल तो विग्रहराज तृतीय को ही नायक मानते हैं और ओझा जी भाषा को रुचि पर निर्भर बताकर वर्तमानकालिक प्रयोग के तर्क को टाल देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि भाषा की कसौटी सदियां नहीं हैं। जैनों ने प्राकृत में ही लिखा जबकि उनके समकालीन चारण प्रचलित भाषा में लिखते रहे।[१] डा० उदयनारायण तिवारी ओझा जी के इस मत की ही पुष्टि करते हैं और वर्तमानकालिक प्रयोग को अनेक ग्रंथों में स्वीकृत मानने के साथ ही यह कल्पना भी करते हैं कि लेखक ने "सत्य का रूप देने के लिए ऐसा किया है।[२]" इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह यह कि नाल्ह का समय कहीं ११वीं से १३वीं शती के बीच निश्चित होना चाहिए।

रचयिता के नाम और उसकी जाति को लेकर भी विद्वानों ने बड़ी मज़ेदार कल्पनाएँ की हैं। डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० तिवारी 'नाल्ह' को उपनाम मानते हैं तो लाला सीताराम 'नरपति' नाम को ही उपनाम बताते हैं और सत्य-जीवन वर्मा 'कर जोड़ि नरपति कहई। नाल्ह कहई जिन लावई खोड़ि।' जैसी पंक्ति के आधार पर नरपति और नाल्ह को अलग-अलग दो व्यक्ति ही मानते हैं जिनमें से पहले एक ने कथा गाई फिर दूसरे ने। डा० अग्रवाल ने एक दूसरा ही मार्ग अपनाया है। सं० १६३३ की प्रति को प्रामाणिक मानकर दोनों को एक ही बताते हुए वे कहते हैं: "इस प्रति में कवि का नाम 'नरपति' पहले पद के अतिरिक्त और कहीं नहीं आता। 'करि जोड़ि नरपति भणई। जाणि करि रोहणी जिमि तपउ सूरि।' इसी प्रकार 'नाल्ह' भी इसकी पद्य-संख्या ४-५ के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। अतः कवि का प्रचलित नाम नाल्ह था। प्रचलित होने के कारण ही इस नाम का उपयोग एक स्थान से अधिक स्थानों में किया गया है और नरपति कवि का उपनाम इस लिए प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग केवल एक स्थान पर हुआ और वह भी हुआ केवल तुक के मेल के लिए ही।... दोनों एक हैं। फिर भी कुछ मानना ही हो तो यह मानें कि 'नरपति' नाल्ह की उपाधि समझी जाये, जो बहुत कुछ संभव है कि उसे प्राप्त हुई होगी उसके गुणों के कारण। और यों भी कवि नरपुंगव तो होते ही हैं।[३]"

नाम की ही भांति कवि की जाति भी अभी तक अनिश्चित है। आचार्य शुक्ल तथा सत्यजीवन वर्मा की सम्मति में वह भाट था, नाहटा तथा तिवारी के मत से काव्य में यत्र-तत्र आए हुए शब्द 'व्यास' तथा 'जोइसी' के आधार पर वह ब्राह्मण था। डा०

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० १०१।

२. वीर काव्य, पृ० २०३।

३. अग्रवाल संस्क०, पृ० ६७-६८।

किन्तु वर्मा जी के इस तर्क को न तो अग्रवाल ही मानते हैं और न डा० ओझा ही। डा० अग्रवाल तो विग्रहराज तृतीय को ही नायक मानते हैं और ओझा जी भाषा को रुचि पर निर्भर बताकर वर्तमानकालिक प्रयोग के तर्क को टाल देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि भाषा की कसौटी सदियां नहीं हैं। जैनों ने प्राकृत में ही लिखा जबकि उनके समकालीन चारण प्रचलित भाषा में लिखते रहे।[१] डा० उदयनारायण तिवारी ओझा जी के इस मत की ही पुष्टि करते हैं और वर्तमानकालिक प्रयोग को अनेक ग्रंथों में स्वीकृत मानने के साथ ही यह कल्पना भी करते हैं कि लेखक ने "सत्य का रूप देने के लिए ऐसा किया है।[२]" इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह यह कि नाल्ह का समय कहीं ११वीं से १३वीं शती के बीच निश्चित होना चाहिए।

रचयिता के नाम और उसकी जाति को लेकर भी विद्वानों ने बड़ी मजेदार कल्पनाएँ की हैं। डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० तिवारी 'नाल्ह' को उपनाम मानते हैं तो लाला सीताराम 'नरपति' नाम को ही उपनाम बताते हैं और सत्यजीवन वर्मा 'कर जोड़ि नरपति कहई। नाल्ह कहई जिन लावई खोड़ि।' जैसी पंक्ति के आधार पर नरपति और नाल्ह को अलग-अलग दो व्यक्ति ही मानते हैं जिनमें से पहले एक ने कथा गाई फिर दूसरे ने। डा० अग्रवाल ने एक दूसरा ही मार्ग अपनाया है। सं० १६३३ की प्रति को प्रामाणिक मानकर दोनों को एक ही बताते हुए वे कहते हैं: "इस प्रति में कवि का नाम 'नरपति' पहले पद के अतिरिक्त और कहीं नहीं आता। 'करि जोड़ि नरपति भणई। जाणि करि रोहणी जिमि तपउ सूरि।' इसी प्रकार 'नाल्ह' भी इसकी पद्य-संख्या ४-५ के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। अतः कवि का प्रचलित नाम नाल्ह था। प्रचलित होने के कारण ही इस नाम का उपयोग एक स्थान से अधिक स्थानों में किया गया है और नरपति कवि का उपनाम इस लिए प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग केवल एक स्थान पर हुआ और वह भी हुआ केवल तुक के मेल के लिए ही। . . . दोनों एक हैं। फिर भी कुछ मानना ही हो तो यह मानें कि 'नरपति' नाल्ह की उपाधि समझी जाये, जो बहुत कुछ संभव है कि उसे प्राप्त हुई होगी उसके गुणों के कारण। और यों भी कवि नरपुंगव तो होते ही हैं।[३]"

नाम की ही भांति कवि की जाति भी अभी तक अनिश्चित है। आचार्य शुक्ल तथा सत्यजीवन वर्मा की सम्मति में वह भाट था, नाहटा तथा तिवारी के मत से काव्य में यत्र-तत्र आए हुए शब्द 'व्यास' तथा 'जोइसी' के आधार पर वह ब्राह्मण था। डा०

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० १०१।

२. वीर काव्य, पृ० २०३।

३. अग्रवाल संस्क०, पृ० ६७-६८।

की इसकी शक्ति का हर्ष-निर्भर स्वर में व्याख्यान करते हों।[1] मोतीलाल मेनारिया ने भी सत्यजीवन वर्मा के ही कथन को दुहराते हुए बीसलदेव रास के अकाव्यत्व का ही निर्देश इन शब्दों में किया है: "मालूम होता है नाल्ह कोई बहुत पढ़ा-लिखा हुआ नहीं, बल्कि एक साधारण योग्यता का रमता-फिरता भाट था, जो अपनी तुकबन्दियों द्वारा जन-साधारण को प्रभावित कर अपनी उदर-पूर्ति करता था। जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा उसमें न थी। अतः रास में न तो काव्य-चमत्कार, न अर्थ-गौरव और न छन्द-वैचित्र्य है। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग उसने किया अवश्य, पर उनका भी ठीक-ठीक प्रयोग उससे न हुआ, उनके साथ लिपटे हुए भाव को वह न समझ सका।......निष्कर्ष यह है कि साहित्यिक दृष्टि से 'बीसलदेव रास' का मूल्य प्रायः नगण्य है। उन्हें केवल भाषा की प्राचीनता की दृष्टि से ही यह काव्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ा है और यह विश्वास हुआ है कि इसी आधार पर यह काव्य 'हिन्दी साहित्य' में अमर होगा।"

इन वक्तव्यों के विपरीत डा० अग्रवाल तो काव्य से उद्धरणादि का सहारा लेकर उसका काव्यत्व प्रमाणित करते हैं और ऐसे वक्तव्यों पर खेद प्रकट करके सन्तोष कर लेते हैं, किन्तु डा० गुप्त अपनी भूमिका की पहली ही पंक्ति से इसकी प्रशंसा करते हुए इसे 'हिन्दी का गौरव ग्रंथ' बताते हुए मेनारिया के कथन पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। उनका कथन है : "'बीसलदेव रास' हिन्दी का गौरव-ग्रंथ माना जाता रहा है, क्योंकि इसमें स्वस्थ-प्रणय की एक सुन्दर प्रेम-गाथा गाई गई है, और सामान्यतः इसके संबंध में विश्वास यह रहा है कि यह हिंदी के सबसे प्राचीन ग्रंथों में से है। कुछ इतिहासकारों ने तो इसे हिंदी का सर्वप्रथम ग्रंथ तक कहा है। किन्तु राजस्थान के आलोचकों और इतिहासकारों के गत कुछ वर्षों में जो विचार सामने आए, उन्हें देखकर किंचित् आश्चर्य हुआ।" इस आश्चर्य का आधार आगे उद्धृत किया गया मेनारिया का पूर्वोक्त कथन ही है। यहाँ एक बात तो स्पष्ट ही आश्चर्य की है कि ऊपर उद्धृत सम्मतियों में से एक भी 'बीसलदेव रास' को भाषा के अतिरिक्त और किसी कारण से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मानने के पक्ष में नहीं है। प्राचीनता उसी दृष्टि से स्वीकार की गई थी। फिर भी डा० गुप्त ने लिखा है : "बीसलदेव रास हिन्दी का गौरव-ग्रंथ माना जाता रहा है, क्योंकि इसमें स्वस्थ-प्रणय की एक सुन्दर प्रेम-गाथा गाई गई है।" गौरव-ग्रंथ मानने और उसके कारण की बात दोनों ही पूर्व-सम्मतियों से समर्थित नहीं हैं।

'बीसलदेव रास' हिन्दी का गौरव-ग्रंथ हो न हो, उसमें काव्य गुण हैं और वह आकर्षित करता है, इतना ग्रंथ को ध्यान से पढ़ने से अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। काव्यत्व की यह सिद्धि जैसी उसके कथा-संगठन में निहित है, वैसी ही उद्देश्य-सिद्धि, रस-संचार और वर्णन-कौशल में भी है।

---

१. वीर काव्य, पृ० २०३।

'बीसलदेव रास' के आरम्भ में ही, मंगलाचरण के ५ छन्दों के अन्तर्गत, लेखन की कतिपय विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं और 'बीसलदेव रास' के पाठक तथा सहृदय समालोचक से इस बात की अपेक्षा है कि वह इन बातों को ग्रंथ पढ़ते समय अपने दृष्टि-पथ में रखे। पहली बात तो यह कि कवि को अपने कवि होने और उसके उत्तरदायित्व का पूरा ध्यान है। उसने गणेश और सरस्वती की वन्दना में तीन बातें स्पष्टतः कही हैं : १ : मेरे भूले हुए अक्षरों को यथास्थान लौटा लाना : २ : झूठा कवित्त कुलहीन ही कहता है, तथा : ३ : हे सरस्वती, तेरे प्रसन्न होने पर अक्षर जुड़ते हैं :—

छन्द दूसरा—"भूलउ जी अक्षर आणिज्यो ठांइ।"
छन्द चौथा—"भूलउ जी अक्षर आणि वहोडि।
तंइ तूठी अक्षर जुडइ।
तथा
झूठडउ कवित कहइ कुलहीण।"

इन तीनों उक्तियों से जहाँ कवि की देव-वन्दना में निष्ठा प्रकट होती है, वहाँ इस बात की भी सूचना मिलती है कि उसे अपने कवित्व का विश्वास है। विश्वास है, तभी तो वह भूले हुए अक्षरों की बात करता है और उनसे भी बढ़कर झूठी कविता किसी कुलहीन का ही भाग्य समझता है। उक्ति की मौलिकता का विश्वास ही उससे यह कहला रहा है। इस कवित्व की उपस्थिति को उसने इन्हीं छन्दों में प्रमाणित भी कर दिया है। गणेश जी के सिन्दूर का वर्णन करते हुए पहले ही छन्द में 'जाणि करि रोहिणी तप्पइ सूर ॥ भुवणनइ देषउं रे रवि तलइ ॥' कहकर अपने ज्योतिष-ज्ञान और कवि-संभव उत्प्रेक्षा का परिचय दे दिया है। इसके अतिरिक्त पांचवें छन्द में उसने "नाल्ह रसायण रसभरि गाइ" पंक्ति में रसयुक्त काव्य की रचना करने का अपना उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया है। इतना ही नहीं नाल्ह ने तीसरे तथा पांचवें छन्द में दृश्य-विधायक और काव्य की पूर्व-पीठिका के प्रस्तुत कर्ता का काम भी पूरा कर दिया है। तीसरे छन्द में उसने द्वार पर प्रतीक्षाकुल खड़ी सिर संवारती, दिन गिनती प्रोषितपतिका का चित्र अंकित किया है, राजसेवक की पत्नी की विरह-व्यथा और मिलनाशा के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है और पांचवें छन्द में उसने कथा लिखने के उद्देश्य को प्रकट करते हुए कहा है : "स्त्रीयचरित्र घण लप लहइ। एकही अक्षर सरव विणास ॥" इस प्रकार पूरे विधान के साथ कवि ने रचना को आरम्भ करके कवित्व के प्रति अपनी सजगता का ही परिचय दिया है।

कवित्व का वास्तविक पता कथा-संगठन से लगा करता है। वर्णनीय स्थलों और घटनाओं का अनुकूल विस्तार अथवा संकोच, कथा-क्षिप्रता अथवा उसकी स्थिर-मन्द-गति आदि से कवित्व की परीक्षा हो जाती है। रस, अलंकार आदि उसकी पहचान के अन्य रूप हैं। कथा में नियोजित घटनाएँ कवि के दृष्टि-विस्तार या संकोच की सूचना

दे देती हैं और उन्हीं से कवि की सफलता-असफलता का भी निश्चय कर लिया जाता या जा सकता है।

'बीसलदेव रास' एक गीतात्मक खण्डकाव्य है, अतएव उसके प्रबन्धत्व की परीक्षा भी खण्डकाव्य की दृष्टि से ही की जा सकती है। खण्डकाव्य का लेखक विस्तृत कथा को या तो ग्रहण ही नहीं करता या करता भी है तो मुख्य कथा के वर्णन में ही उसका ध्यान लगा रहता है और अवान्तर अथवा अपेक्षाकृत महत्त्वहीन रचनाओं को वह त्यागता चलता है। 'बीसलदेव रास' का लेखक इस कौशल से मात्र परिचित ही नहीं है अपितु उसमें दक्ष भी है। रास की मुख्य कथा तो इतनी ही है कि दो वैभवशाली राजघरानों का परस्पर संबंध होता है, वर की ओर से अपनी वैभव का गर्व-सूचक संकेत दिए जाने पर वधू उसे उड़ीसा के वैभव की सूचना देकर गर्व न करने को कहती है, वर वधू के मनाने पर भी नहीं मानता और उड़ीसा से धन-सम्पत्ति लाने चला जाता है, विरहिणी वधू रो-रोकर दिन काटती है, पंडित भेजकर वर को वापस बुलाने का प्रयत्न करती और उसमें सफल होती है। कथा का उद्देश्य है चाकरी करने वाले प्रवासी की पत्नी की विरह-व्यथा का प्रदर्शन करना तथा स्त्री-चरित्र को सामने लाना। नाल्ह ने इस उद्देश्य की सिद्धि बड़ी सफलता के साथ की है। कथा की क्षिप्र अथवा मन्द-गति के स्थलों की उसे अच्छी पहचान है। वैभव, विवाह तथा विरह ही ऐसे तीन स्थल हैं जिनमें काव्य के प्राण निवास करते हैं और इन्हीं स्थलों पर लेखक पर्याप्त समय तक ठहरता चला है। अन्य स्थलों पर वह शीघ्रता से आगे बढ़ जाता है। इन स्थलों में भी महत्त्वपूर्ण है विरह-व्यथा, अतएव ३५ छन्दों को विरह की भूमिका के रूप में रखकर कवि ने ९३ छन्दों में विरह का ही वर्णन किया है और उसमें वर के लौटने का प्रसंग भी आ गया है। आरम्भ के ३५ छन्दों में मंगलाचरण से लेकर भोज के यहाँ राजमती के वर के लिए माता-पिता की चिन्ता, पण्डित को बुलाकर भोज का उसे बीसलदेव के पास जाने और विवाह के लिए निमन्त्रित करने को कहना, पण्डित का बीसलदेव की वैभवपूर्ण नगरी में जाना, प्रस्ताव करना, प्रस्ताव पर बीसलदेव का प्रसन्नता व्यक्त करना, विवाह के लिए बारात लेकर चलना, धार में स्वागत और विवाह होना, सात फेरों के साथ दायज मिलना, पहिरावनी आदि संस्कार होना, उसका लौटना और नगर में स्वागत होना ही नहीं, वर-वधू के वार्तालाप का वह अंश भी सम्मिलित है जिसके कारण बीसलदेव उड़ीसा जाने का निश्चय कर बैठा और राजमती ने विरह-व्यथा सही। इन प्रसंगों में भी कवि वैभव-वर्णन और विवाह संस्कार-वर्णन पर तो ठहरा है, शेष दृश्य शीघ्रतया परिवर्तित होते चले हैं। इन दो वर्णनों में स्थिरता की आवश्यकता एक तो दो संबंधियों की योग्य-तुल्यता दिखाने के लिए हुई है दूसरे, अपने संस्कारों का परिचय देने का सुअवसर कवि के हाथ लग गया है, और तीसरे उल्लास का ऐसा वातावरण तैयार हुआ है कि आगे आने वाली पीड़ा का दाह बढ़ जाता है और पाठक में अनुकूल वेदनीयता उत्पन्न करने में लेखक

सफल हो जाता है।

मुख्य कथा पूर्व-पीठिका की कथा की अपेक्षा अन्तर्मुखी है। प्रारंभ के ३५ छन्दों में जीवन-व्यापार के चित्र उपस्थित हुए हैं और कथा भिन्न-भिन्न स्थलों से संबंधित है तो मुख्य कथा का विस्तार केवल अन्तर्वृत्तियों के उद्घाटन में हुआ है। मान और प्रवास की स्थितियों में कभी गर्विता नारी के चित्र उभरे हैं तो कभी दीना-मलीना प्रतिप्राणा के। कभी विनीत नारी-मूर्ति सामने आई है तो कभी कुपिता। साथ ही विरह की अन्तर्दशाओं और विरह-प्रबोधक व्यापारों का वर्णन भी आ गया है। विरह की इन घड़ियों की साथिन सखियां, भावज और सास भी हैं जो सन्तोष देने का काम करती रहती हैं और कुटनी भी है जो राजमती के सतीत्व को भंग कराना चाहती है। स्वयं नायिका की ओर से पति को समझाने का प्रयत्न विफल हो जाता है तो पण्डित के माध्यम से शकुन न निकल पाने की बात कहलाकर रोकने का प्रयत्न भी है और प्रवासी पति को सन्देशहर पण्डित के द्वारा बुलवाने का प्रयत्न भी। यहां तक कि राजा और रानी के सहिशन की चर्चा भी बहाने से रखदी गई है। बारहमासे की योजना तो संभवतः हिन्दी साहित्य में पहली ही है। दैन्य, अमर्ष, साम, नति, प्रलाप, विलाप, संलाप, और व्याधि से लेकर मूर्च्छा तक पहुँचे हुए अनेक चित्र हैं जो विरहिणी की व्यग्रता और उसके उद्वेग को प्रकट करने और पाठक को प्रभावित करने में समर्थ हैं। ये चित्र एक बार आकर फिर लुप्त नहीं हो जाते बल्कि उद्विग्न मन की वास्तविक झांकी प्रस्तुत करने के लिए बार-बार आते रहते हैं। इन सबके साथ यौवन का ध्यान बीच-बीच में इस तरह उपस्थित होता रहता है कि उससे नारीत्व को बल मिलता रहे। यों विरह का आरंभ और उसका अन्त दोनों ही दीनता-प्रदर्शन के साथ होते हैं। कुछ उदाहरणों से इन स्थितियों को स्पष्टतया समझा जा सकता है।

वीसलदेव द्वारा यह सूचित कर दिये जाने पर कि वह बारह वर्ष के लिए उड़ीसा जा रहा है, राजमती की पतिव्रता-सुलभ दीनता जागृत हो जाती है। वह कहती है: "पग की पानही से रोष कैसा ? कीड़ी के ऊपर कटकी कैसी ? मैंने तो हँसी की है। हे स्वामी ! भला पानी के बिना मछली कैसे रह सकती है ?" छ० ३६। अपनी तुच्छता को स्वीकार करने के लिए इससे अधिक नम्र और कौन-सी शब्दावली हो सकती है ? अभिन्नता प्रदर्शित करने और रसान्तर का उपाय ढूँढने का इससे अच्छा और क्या तरीका हो सकता है ? भारतीय नारी की दासत्व स्वीकार करने की संस्कारगत भावना कितने सहज रूप में प्रकट हुई है। यही नम्रता वीसलदेव की जाने की हठ बनी रहने पर इस कथन के रूप में भी प्रकट होती है :—

"ऊलग जाए की करइ छै बात।
हूं पण आवसुं रावलइ साथि।
वांदीय हुइ करि निरवहूं।
पाव तलासिसुं ढोलिसुं वाइ।

ऊभीय पूहरइ जागिसुं ।
इण परि ऊलगुं आपणउ राय ॥" छ० ४० ।

राम से साथ चलने का आग्रह करती हुई सीता "पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पांय पखारिहों भूभुरि डाढ़े" कहकर क्या इसी भाव को व्यक्त नहीं करतीं ? हृदय की निर्मलता और आत्म-समर्पण का ऐसा सहज उच्छ्वास भला मार्मिकता में कहीं ओछा पड़ सकता है ।

राजा की अस्वीकृति से पतिप्राणा की पीड़ा और भी गहरी हो उठती है। निराश हो वह एक ही सांस में बनवास ग्रहण करने, तप तपने, पर्वत पर चढ़ने अथवा हिमालय में गलने और गंगा में डूब जाने की कष्टकर कल्पनाएँ करती है। पीड़ा से उसका हृदय टूक-टूक होता जान पड़ता है। छ० ४४। निराशा की तीव्रता उसे विद्रोह और रोष से भर देती है। वह राजा को कभी अविश्वसनीय कहकर अपने मर जाने की धमकी देती है और कभी उसे 'भैंस का पाड़ा' जैसे नामों से पुकारकर उसके प्रति अपना रोष प्रकट करती है। वह उसे अपने यौवन की ओर आकर्षित करके रोकना चाहती है, उसकी नींद और भूख, सब भाग गई हैं। छ० ६७। वह अपने स्त्री-जन्म पर ही दु:खी हो उठती है। नारी की समस्त हृदय-वेदना, उपेक्षिता की सारी ग्लानि जैसे इन पंक्तियों में सिमट आई हो :

"अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस ।
अवर जनम थारइ घणा रे नरेस ।
रानी न सिरजीय रोझड़ी ।
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ ।
वनषंड काली कोइली ।
हउं वइसती अंबा नइ चंपा की डाल ।
भषती द्राप बीजोरडी ॥" छ० ८१ ।

सचमुच, ऐसे स्त्री-जन्म से तो पशु-पक्षी का जन्म ही अच्छा, स्वेच्छया कुछ तो कर पाती या न भी कर पाती तो कम-से-कम यह दुःख तो न रहता कि हम समझदार मनुष्य हैं। यशोधरा के लिए तो यह भी सहारा था कि "आंचल में है दूध", राहुल जैसा लाल तो है, किन्तु इस बेचारी नवविवाहिता राजमती का यौवन तो अभी जैसे 'अनाघ्रात पुष्प' के समान ही रह गया है, सन्तान-हीन वह बेचारी किसका सहारा ले। इससे तो अच्छा था कि वह जाटनी ही बनती, पति से सम्मुख होकर बात तो करती। छ० ८२। इसी सोच-विचार और ताप-परिताप में बेचारी पति के पास सन्देश भेजने के लिए पण्डित की शरण लेती है और अपनी क्षीणता का इस प्रकार वर्णन करती है : "डावां हाथ कउ मूंदडउ। ढलिक करि आवइ हो जीमणी बांह ॥" ८५। और इससे अधिक तनुता क्या होगी ? यदि बाद के कवियों ने इस बात को पकड़ कर "कर-कंगन मुंदरी भई, तुम बिन या कहं राम ॥" कह दिया तो कौन-सी

नई बात कह दी। राजमती पत्र भी लिखती है तो उसका मन रुदन से भर आता है, स्मृति से बोझिल हो उठता है। वह अपने त्याग की कथा कहती है और सन्देश भेजती है : "थारी वाट बुहारुं सिरह का केसि। जोवन भरि जल ऊनह्यउ।" ९३। मीरां के विरह से उसका विरह भला किस बात में कम है? इन सब विरह की उक्तियों को तीव्रता मिलती है वारहमासे से। उससे एकाध उद्धरण देना यहाँ अपर्याप्त ही होगा। पाठक को उस स्थल का स्वयं पढ़कर आनन्द ग्रहण करना चाहिए।

विरह की इस व्याकुलता में राजमती की सखियाँ उसे समझाने आती हैं, सांत्वना देती हैं और उसकी कटु बातें सुनकर उसे उपदेश भी दे बैठती हैं, राजा जाता है और जाते-जाते कह जाता है "जीभ का जला कोई पल्लवित नहीं होता।" ४६। भावज राजा को समझाती है किन्तु यह भी कह देती है कि राजमती जबान की बड़ी तेज है। सास आती है और उसे बाहर दिखाई देने से इसलिए मना करती है कि कहीं "चन्द्र को राहु न ग्रस ले।" राजमती का वह यौवन, वह उभरता सौन्दर्य और उसके पति के प्रति कहे गए वे वचन उसके लिए कितने दाहक हो गए होंगे, वह ऐसे वातावरण में कितना अकेलापन अनुभव कर रही होगी, इसकी कल्पना की जाय तो उसकी वेदना और भी उभर कर सामने आ जाती है। किन्तु वेदना के ये क्षण शनैः-शनैः आह्लाद के क्षणों में परिवर्तित होने लगते हैं। इतना कष्ट उठाने के पश्चात् राजमती को पति से पुनः मिलने का अवसर मिल जाता है और तब उसका उल्लास देखने ही योग्य है। विरह-कथा की यह आह्लादकर परिणति शृंगार के दोनों पक्षों का उद्घाटन करती है। योगी के माध्यम से बीसलदेव द्वारा भेजी गई चिट्ठी को पढ़कर उसकी जो दशा होती है, उससे उसके हृदय की अनन्यासक्ति और हार्दिक उल्लास छिपाये नहीं छिप सकता। हर्ष संचारी ही नहीं, अश्रु सात्विक भी स्पष्टतः प्रकट हो आया है। सुख और उल्लास का ऐसा मधुर क्षण आया है कि राजमती ने उस पत्र को गले लगा लिया है जैसे बछड़े से बहुत दिन के उपरान्त गाय मिली हो। पत्र को माध्यम बनाकर प्रेम का ऐसा विह्वल चित्र अंकित करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है :

चीरी रही गोरी गलइ लगाइ।
जाणि करि वाछडइ स्युं मिली गाइ।
नइणां थी लोही पडइ।
परिहसि रूनी मीनउ छइ हार।
जिण विण घडीय न जंवती।
हिवइ ताहि स्युं हुआ चीरी विवहार॥ छं० ११७॥

कैसी विवशता है, जिससे विलग होकर एक क्षण भी जीवित रहना संभव न हो उससे ही पत्र-व्यवहार करना पड़े। लेकिन राजमती उल्लसित है, योगी को प्रसन्नतापूर्वक

भोजन कराती है, उससे अन्य जानकारी प्राप्त करती है। उसका प्रिय चाकरी पूरी करके लौट रहा है, मानों वह समुद्र संतरण में सफल हो गई है। भला हुआ कि इस भरे-पूरे यौवन में कोई कलंक नहीं लगा। छ० १२१। वह प्रसन्नतापूर्वक शृंगार करती है और उसके आ जाने पर तो दृश्य ही दूसरा उपस्थित हो जाता है। बारह वर्ष बाद मिलने पर जो न हो कम है। उमंग की एक लहर दोनों में व्याप गई है, एक चुम्बनों से देह भरे दे रहा है और दूसरी सखियों के बीच लाज से गड़ी जा रही है। कंचुकी पीकों से भीग गई है। वह हँसती है, मुस्काती है, आलिंगन देती है और हर्ष से इतनी विह्वल हो गई है कि न पलंग पर बैठती है न बीसलदेव से पान ही लेती है। उसके मन में एक बार फिर मरोर उठती है, उपालम्भ देना आरंभ होता है। किन्तु इस समय का यह उपालम्भ अनहोना और असह्य नहीं लगता, पतिव्रता का अधिकार ज्ञात होता है। उस पतिव्रता का जो बारह बरस तक बिछुड़न का कष्ट सहन कर चुकी है और अब उपालम्भ देकर भी "झूना का दुपट्टा और झूना का ही ताव पहन-ओढ़कर श्वेत चन्दन को कटोरे में भरे प्रियतम से मिल रही है, उसकी शय्या पर आ गई है।" अन्ततः विरह का सारा दुःख भोग के सुख में परिणत हो जाता है। छ० १२७-८।

इस प्रकार 'वीसलदेव रास' शृंगार रस से बसा हुआ एक अच्छा काव्य है। प्राकृतिक उद्दीपन के रूप में बारहमासे के वर्णन की उत्तमता की तो सभी ने सराहना की ही है। डा० अग्रवाल का उसके सम्बन्ध में यह कथन ठीक ही है : "कवि नाल्ह का प्रस्तुत षड्ऋतु वर्णन न तो कवि जायसी के पद्मावत के षड्ऋतु-वर्णन और नागमती वियोग खण्ड के लम्बे-चौड़े वर्णन के समान ईश्वर से मिलन और उनके वियोग के मिस है, न भक्तप्रवर तुलसी के मानस के किष्किंधा काण्ड के पावस और शरद के वर्णन की भाँति नीति और भक्ति का उपदेशक और न रीतिकालीन कवियों की तरह शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के घटाटोप में मन और बुद्धि को कुछ क्षणों के लिए आच्छादित करने वाला, वरन् है अपने ढंग का आकर्षक, मुख्य कथा से जुड़ा हुआ स्वाभाविक और प्राकृतिक, तथा हृदय पर गहरा प्रभाव डालने वाला। यहाँ इस कथन में भी अतिशयोक्ति न होगी कि षड्ऋतु वर्णन की परंपरा का आरम्भ करने का श्रेय हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम कवि नाल्ह को है।" पृ० ७३।

यदि कहीं इस रस में व्याघात पहुँचता ज्ञात होता है तो ऐसे स्थानों पर जहाँ राजमती राजा को भैंस का पाड़ा कहती है अथवा राजमती की अंगुलियों को कवि मूंगफली के सदृश बताता है। इन स्थलों पर आलोचकों ने प्रायः रसाभास की कल्पना की है। लोक-पद्धति पर लिखा गया अथवा लोक-गीत ही यह काव्य यदि इस प्रकार की एकाध उक्ति अपना लेता है तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रस-निर्वाह के साथ ही कवि की दृष्टि अलंकारों पर भी गई है, किन्तु उतनी ही जितनी स्वाभाविक स्थिति में सहज-संभव थी। परिणामतः उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति के कतिपय गिने-चुने प्रयोगों को छोड़कर अन्य स्थलों पर काव्य

अपनी सहज गति से ही प्रवाहित हुआ है। सौन्दर्य-वर्णन अथवा वैभव-वर्णन में ही इन अलंकारों की आवश्यकता जान पड़ी है। फिर चाहे वह सौन्दर्य गणेश का हो, राजमती का हो या स्वयं राजा का हो। ऐसे स्थलों पर लेखक प्राकृतिक उपमानों में ज्योतिष की जानकारी का पुट दे देता है। गणेश का सिंदूर उसे ऐसा लगता है "जानो रोहिणी नक्षत्र में सूर्य तप रहा हो।" छं० १। विवाह के लिए आया हुआ वीसलदेव राजमती को "कलाओं से संयुक्त पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र" प्रतीत होता है। "गोकुल का प्रत्यक्ष गोविन्द" ज्ञात होता है। "तोरण में सूर्य उदित हुआ" हो ऐसा जान पड़ता है। वीसलदेव के साथ बैठी वधू राजमती "मानो रुक्मिणी के साथ बैठे कृष्ण" का दृश्य उपस्थित करती दिखाई देती है। १८। धार से विदा हुई राजमती से वहाँ ऐसा लगता है जैसे "धार का दीपक अजमेर चला हो।" २५। उपेक्षिता राजमती अपनी उपमा किससे दे? उसे यह कहना ही उचित जान पड़ता है: "मैं हेड़ाऊ के उस घोड़े की भाँति हूँ, जिस पर वह सौ-सौ दिन तक हाथ नहीं फेरता" छं० ४८। वह ऐसी प्रतीत होती है जैसे "हेम की कुप्पी हो जिस पर मोम की मुद्रा लगी हो।" छं० ७६। उसका शरीर इतना क्षीण हो गया है कि "बाएँ हाथ की मुद्रिका उसकी दाहिनी बाँह में आने लगी है।" छं० ८५। उसकी आँख से, पत्र मिलने पर, रक्त के आँसू गिर रहे हैं। छं० ११७। ऊहा और अतिशयोक्ति का यही रूप बारात की विशालतादि के वर्णन में भी देखने को मिलेगा। उसका मुख उसकी सास को चन्द्रमा प्रतीत होता है जिसे राहु के द्वारा ग्रस लिए जाने का भय है। ऐसी सामान्य सी रूपक रचना भी केवल एकाध स्थल पर देखने को मिलेगी। वास्तविकता यह है कि कवि का मन अलंकारों की योजना करने में नहीं, जीवन से गृहीत उपमानों और कथनों को प्रस्तुत करने में अधिक लगता है। वह लोक-प्रचलित उक्तियों को ऐसे स्थान पर रखता है कि उससे कथयिता के चित्त की दशा अथवा जीवनोपदेश का सम्यक् ज्ञान भी हो जाता है और कथन में सौन्दर्य भी आ जाता है। उदाहरण के लिए भावज कहती है: "रत्न के कटोरे को तू कैसे भीख में दिए डाल रहा है।" सात सहेलियाँ राजमती को उपदेश देती हैं: "हे निगुणी! यदि स्त्री में गुण ही हो, तो स्वामी क्यों चाकरी करने जाय? वह तो स्वामी को वैसे ही रखे जैसे फूल को पगड़ी में रखा जाता है।" राजमती विदा होते हुए पति को उपदेश देती है "हे स्वामी, राजनीति खड्ग की धार जैसी होती है।" इस प्रकार की उक्तियों से काव्य में मार्मिकता और सहजता, दोनों का ही सन्निवेश हो सका है। सौन्दर्य-वर्णन में रूढ़ उपमानों का ग्रहण भी अनेक बार हुआ है। दाड़िम जैसे दाँत और सिंह जैसी लंक का वर्णन सहिदान के बहाने आ ही गया है, किन्तु यहाँ भी कवि का मन उतना रमता नहीं, जितना वह अन्तरंग भावों के प्रकाशन और अनुभावों के दिग्दर्शन में रमता है।

कथा और उद्देश्य की योजना में सहायता करने वाला तत्त्व होता है, चरित्र-चित्रण। 'वीसलदेव रास' घटना-प्रधान काव्य है, चरित्र-प्रधान नहीं। घटनाओं

से चरित्र का जितना सम्बन्ध हो सकता है उतना ही वह यहाँ प्रकट भी हुआ है। नायक का चरित्र अंकित करना लेखक का उद्देश्य ही नहीं है, वह तो स्त्री-चरित्र का वर्णन करने बैठा है, अतएव यह सहज ही था कि राजा बीसलदेव का चरित्र प्रधान रूप से उपस्थित न होता। बीसलदेव का जितना चरित्र सामने आया है उससे वह एक वैभवशाली और सम्मानित राजा तो जान पड़ता है किन्तु राजहठ का जैसा रूप उसके द्वारा प्रकट हुआ है, वह उत्तम कोटि का नहीं है। यह सही है कि वह नव-विवाहिता को त्याग कर यह सिद्ध कर देता है कि वह स्त्रैण नहीं था, किन्तु यह भी कोई प्रशंस्य बात हुई कि तनिक सी बात पर वह इतना खीझे कि हज़ार विनती करने पर और सबके द्वारा समझाये जाने पर भी वह अपनी हठ नहीं छोड़ता। और फिर हठ पूरी करने के लिए नौकरी पर जाना राजा के लिए कहाँ तक शोभनीय है। उसे तो अपनी तेजस्विता का परिचय देने के लिए अभियान पर निकलना चाहिए था। लेकिन तब काव्य की कथा ही न बनती। दूसरी ओर राजमती का चरित्र नारी चरित्र का सच्चा प्रतिनिधि जान पड़ता है। बड़े घर की बेटी की तरह वह तुर्की-बतुर्की उत्तर देती है, खीझती और बुरा-भला कहती है, स्वकीया का अधिकार जनाती है, रूप-गर्व प्रकट करती है और पति-वियोग में विह्वल होकर मृत्यु-दशा तक को पहुँच जाती है। नारी-हृदय की लेखक को अच्छी पहचान है और स्त्री चरित्र वर्णन करने की अपनी प्रतिज्ञा में वह सफल भी होता है। इन दो पात्रों के अतिरिक्त बहाने से वह अन्य पात्रों को भी थोड़ा-थोड़ा प्रस्तुत करता जाता है, किन्तु उनसे घटना के विकास में तो सहायता मिलती है चरित्र-विकास में विशेष नहीं मिलती। केवल कुटनी के आने पर राजमती का सतीत्व विशेष प्रकट होता है। कभी-कभी राजमती के स्वयं यह कहने पर कि इस भरे यौवन में उसे कोई कलंक नहीं लगा, उसका यत्किंचित् प्रकाशन हो जाता है। यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित राजा तथा रानी का चरित्र जितना है खरा ही उतरा है।

छन्द की दृष्टि से इस काव्य में छप्पय के से ६ चरण तो मिलते हैं किन्तु उनका योग्य निर्वाह न करके लयात्मकता का ही विशेष ध्यान रखा गया है। लोकगीत की शैली में होने के कारण और अधिक आशा भी नहीं की जा सकती। लोकगीत की सी स्वाभाविक प्रांजलता, मर्मस्पर्शिता और भाषा का चलतापन इसमें निःसन्देह पूर्ण मात्रा में है और उसी के कारण इसे शतियों तक अलिखित रहने पर भी बचे रहने का गौरव मिला है। अतएव डा० मेनारिया का यह कथन उचित नहीं जान पड़ता कि : "बीसलदेव रासो गीतकाव्य नहीं है। राजस्थान में वह कभी गाया नहीं गया, न आज गाया जाता है और न इसमें गीतकाव्य के कोई लक्षण मिलते हैं। गीतकाव्य की भाषा में जो चलतापन, छन्दों में जो गति, शब्दों में जो मर्मस्पर्शिता और विषय में जो लोकप्रियता होनी चाहिए वह इसमें नहीं है"[1]।

१. रा० भा० सा०, पृ० ८७।

सही तो यह कहना ही होगा कि 'बीसलदेव रास' एक लोकगीतात्मक ग्रनलंकृत किन्तु स्वाभाविक एवं लोकप्रिय तथा लोकप्रचलित मार्मिक उक्तियों से युक्त, वर्णन-सौन्दर्य, रस-परिपाक, लोक-व्यवहार और संस्कार-ज्ञान से सम्यक् रूपेण सुशोभित प्रेम-पीड़ा और विरह-विह्वलता को मर्मग्राही बनाकर उपस्थित करने वाला एक महत्त्व-पूर्ण खण्डकाव्य है जो बारहमासा-पद्धति और भाषा की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है तथा कथा-संगठन की चारु-क्षमता के लिए उसके कवि की प्रशंसा होनी चाहिए, साथ ही इस बात के लिए भी उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए कि उसने विवाह के पूर्व नायक-नायिका दोनों को उल्लसित दिखाकर समान-प्रेम के भारतीय आदर्श का निर्वाह बड़ी चतुराई से किया है और शृंगार के नाना चित्रों का सफलतापूर्णवक उद्घाटन किया है ।

२

पृथ्वीराज रासो

डा० बेणीप्रसाद शर्मा

संस्कृत साहित्य में जो स्थान महाभारत तथा वाल्मीकी रामायण को प्राप्त है, वही स्थान हिन्दी साहित्य में पृथ्वीराज रासो का है। वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य का यह महाकाव्य है। कभी समय था कि रासो राजपूताने में क्षत्रिय वीरों का सर्वप्रिय ग्रन्थ था। गत सौ वर्षों में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों में इसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता विषयक चर्चा चलती रही है और अब भी चल ही रही है। राजपूताने के ऐतिहासिक तथ्यों की खोज के लिए इस ग्रन्थ को सर्वमान्यता प्राप्त थी। सन् १८७० में कर्नल टॉड ने इस रचना के पद्यों का अर्थ समझने के लिए जैन यति ज्ञानचन्द्र को अपना गुरु धारण किया। कर्नल महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Annals of Rajasthan" में रासो का विशेष रूप से उपयोग किया। इस पुस्तक से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार (ईस्ट इण्डिया कम्पनी) ने रासो को राजस्थानी ऐतिहासिक सामग्री के लिए एक विशेष ग्रन्थ समझा और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के माध्यम से इसका विधिवत् सम्पादन करने के लिए दो अंग्रेज विद्वानों—जोहन बीम्स तथा रूडोल्फ हर्नले को नियुक्त किया। दो तीन वर्ष पर्यन्त इस विषय पर कार्य करते रहने पर भी उक्त दोनों विद्वानों को इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी दौरान में जर्मन विद्वान् ब्यूहलेर को काश्मीर से जयानक कृत "पृथ्वीराज विजय" की एक खण्डित प्रति मिली। इस काव्य के अध्ययन के आधार पर ब्यूहलेर साहिब ने यह घोषणा कर दी कि पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक रचना नहीं है। यहां से रासो विषयक दो विचारधाराएँ चल पड़ीं। प्रथम—वे विद्वान् थे जो रासो को एक जाली ग्रन्थ समझते थे। इनमें अग्रणी आचार्य शुक्ल जी तथा डॉ० गौरीशंकर हीरानंद ओझा थे। दूसरी विचारधारा के विद्वान् स्व० श्यामसुन्दर दास, तथा मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया आदि इस रचना को प्रामाणिक घोषित करते थे। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि इस समय तक रासो का वृहद् संस्करण ही ज्ञात था। सन् १६२६ के लगभग इस रचना का मध्यम संस्करण प्रकाश में आया। लाहोर में डॉ० ए० सी० वुल्नर, डॉ० बनारसीदास जैन तथा पं० मथुराप्रसाद दीक्षित उक्त दोनों संस्करणों का अध्ययन तथा शोध कार्य करते रहे। सन् १६४० के लगभग इस ग्रन्थ के लघुसंस्करण का पता लगा, और कुछ ही समय बाद एक लघुतम संस्करण भी मैदान में आ उतरा।

बृहद् रूपान्तर में ६९ खण्ड अथवा समय हैं। इसका पाठ १६००० से ४०००० श्लोक[1] प्रमाण तक है। इस रूपान्तर की सबसे प्राचीनतम पाण्डुलिपि सम्वत् १७३८ की है और वह मेवाड़ के ठिकाना भींडर के संग्रह में है। मध्यम रूपान्तर का पाठ ११००० श्लोक प्रमाण है। ४५ खण्ड हैं। इस रूपान्तर की सबसे प्राचीनतम पाण्डुलिपि सम्वत् १६६२ की है और यह प्रति लन्दन के रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है। लघु रूपान्तर की प्राचीनतम तीन प्रतियाँ बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में हैं। इसका लिपि काल सम्वत १६३० के लगभग है। इसका पाठ ३५०० श्लोक प्रमाण है। १९ खण्ड हैं। (लेखक ने इन्हीं तीन पाण्डुलिपियों के आधार पर रासो के लघु संस्करण का सम्पादन किया है)। लघुतम रूपान्तर की एक पाण्डुलिपि श्री अगरचंद जी नाहटा को गुजरात के किसी एक गाँव के पास प्राप्त हुई थी। इसका लिपिकाल सम्वत् १६६७ है। इस प्रति में खण्ड विभाजन नहीं है। सामूहिक रूप में ४०० छन्द (१३०० श्लोक) प्रमाण पाठ है। पाठ विश्लेषण की दृष्टि से लघुतम रूपान्तर के सभी पद्य लघु रूपान्तर में मिलते हैं और लघु के मध्यम में तथा मध्यम के बृहद् में। परन्तु चारों रूपान्तरों में खण्डों की योजना, छन्दों का पूर्वापर सम्बन्ध तथा शब्दावली में पर्याप्त अन्तर है।

बृहद् तथा मध्यम रूपान्तरों में प्रबन्धात्मकता नाम की कोई वस्तु नहीं है। घटनाक्रम अत्यन्त शिथिल है। प्रत्येक घटना अपने में स्वतन्त्र है। मुख्य कथानक में इतने अनिच्छित प्रसंग आ घुसे हैं कि उनका मुख्य कथानक से खींचातानी से ही सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। मुख्य कथा इधर-उधर बिखरी पड़ी है। लघुतम वाचना का पाठ क्रम-बद्ध नहीं है। मंगलाचरण के पश्चात् राजसूय यज्ञ का कुछ छन्दों में वर्णन है। फिर कयमास-वध और पृथ्वीराज का कन्नौज गमन आदि घटनाओं का संक्षेप में वर्णन है। इस वाचना में कथाक्रम क्रमानुसार नहीं है। यहाँ युद्ध वर्णन भी दो-चार छन्दों में एक दिग्दर्शन सा है। लघु वाचना का कथानक इन तीनों वाचनाओं की अपेक्षा क्रमबद्ध है। कथाक्रम प्रबन्ध काव्य के नियमानुसार आगे सरकता है।

रासो के विषय में सबसे बड़ा विवाद प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता विषयक रहा है। डॉ० व्यूहलेर, महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास तथा डॉ० गौरीशंकर हीरानन्द ओझा आदि विद्वानों ने रासो की बृहद् वाचना के विषय में इस में आई हुई ऐतिहासिक विप्रतिपत्तियों, भाषा-विकृति तथा सन्-सम्वतों की उथल-पथल को देखकर अपना मत दिया था कि रासो १७वीं शताब्दी की रचना है। इन विद्वानों ने निम्नोक्त ऐतिहासिक विप्रतिपत्तियों के आधार पर अपनी उपर्युक्त सम्मति दी है:—

---

१. श्लोक प्रमाण से अभिप्राय है कि लिपिकारों को अनुष्टुप् छन्द के मापदण्ड से पारिश्रमिक दिया जाता था। अतः विभिन्न छन्दों के पाठ को अनुष्टुप् छन्द में परिवर्तित कर पारिश्रमिक आँका जाता था।

१. चौहानवंश की उत्पत्ति अग्निकुल से बताई गई है, जबकि किसी ऐतिहासिक प्रमाण से चौहानवंश की उत्पत्ति अग्निकुल से सिद्ध नहीं होती।

२. अनंगपाल तोंवर की कन्या का सोमेश्वर के साथ विवाह, उसके गर्भ से पृथ्वीराज का जन्म, अनंगपाल तोंवर द्वारा पृथ्वीराज को गोद लेना तथा उसे दिल्ली राज्य का अधिकारी नियुक्त करना इतिहास सम्मत नहीं हैं।

३. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से होना, तथा उसका पृथ्वीराज के पक्ष में शहाबुद्दीन गोरी के साथ युद्ध करते हुए दूसरी पानी-पत की लड़ाई में मारा जाना भी अनैतिहासिक है। ऐतिहासिक सचाई तो यह है कि समरसिंह पृथ्वीराज से १०९ वर्ष पीछे तक जीवित रहा।

४. पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को गुजरात नरेश भीमदेव चालुक्य ने एक युद्ध में मार दिया था और कुछ समय पश्चात् अपने पिता का बदला लेने के लिए पृथ्वी-राज ने भीमदेव को मार दिया, जबकि इतिहास इस घटना को प्रामाणिक नहीं मानता क्योंकि सोमेश्वर की मृत्यु के समय (सम्वत् १२३६) भीमदेव चालुक्य अभी बालक ही था और सम्वत् १२९८ तक जीवित रहा।

५. पृथ्वीराज ने कई विवाह किए जिनमें से देवगिरि के राजा की कन्या शशिव्रता, नाहरराय की पुत्री हंसावती, समुद्रशिखर नरेश की दुहिता पद्मावती तथा आबू नरेश सलष परमार की लड़की इंच्छिनी आदि के अपहरण प्रमुख हैं। परन्तु इतिहास से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज के समय उक्त राजाओं का अस्तित्व ही नहीं था।

६. इसके अतिरिक्त रासो अन्तर्गत निम्नलिखित सम्वत् भी ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध हैं :—

(क) सम्वत् ८२१ में बीसलदेव का राजगद्दी पर बैठना।
(ख) १११५ में पृथ्वीराज का जन्म।
(ग) ११३८ में पृथ्वीराज का राज्याभिषेक।
(घ) ११३६ में सलष परमार द्वारा शहाबुद्दीन का पकड़ा जाना।
(ङ) ११५२ में धीरपुण्डीर का सुलतान गोरी से युद्ध।
(च) ११४८ में आबू के समीप पृथ्वीराज-भीमदेव युद्ध।
(छ) ११५१-५२ में पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध।

इसके अलावा रासो के बृहद् तथा मध्यम संस्करणों में अनैतिहासिक पात्रों तथा घटनाओं की इतनी भरमार है कि उन सब की यहाँ चर्चा करना सम्भव नहीं है। इन विद्वानों की इन उपर्युक्त शंकाओं का युक्ति-युक्त तथा सही उत्तर आज तक मिल नहीं सका है। अतः यह बात निर्विवाद है कि रासो की ये दोनों वाचनाएँ १७वीं-१८वीं शती की रचनाएँ हैं अथवा मूल रासो के, कालन्तर में प्रक्षिप्तांशों द्वारा बढ़ते-बढ़ते ये दो रूप बन गए।

रासो की लघु तथा लघुतम वाचनाओं में आगत ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण निम्नोक्त रूप में है :—

लघुवाचना में घटनाएँ :—

१. ब्रह्मा के यज्ञ से माणिक्य राय चौहान की उत्पत्ति।

२. पृथ्वीराज का खट्टुवन में धन प्राप्त करना तथा अनंगपाल द्वारा गोद लिया जाना।

३. भीमदेव चालुक्य से पृथ्वीराज का आबू तथा नागौर के निकट युद्ध।

४. कयमास वध।

५. संयोगिता हरण तथा जयचन्द से युद्ध।

६. जैतपम्भारोपण एवं धीर पुण्डीर द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का पकड़ा जाना।

७. पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी में युद्ध। प्रथम युद्ध—जब पृथ्वीराज भीमदेव चालुक्य से युद्ध कर रहा था। दूसरा युद्ध—जिसमें सुलतान गोरी धीर पुण्डीर के हाथों बन्दी हुआ। अन्तिम तीसरा युद्ध—जिसमें पृथ्वीराज स्वयं बन्दी हुआ।

८. शब्द वेधी-बाण छेदन खण्ड।

लघुतम वाचना में घटनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. मंगलाचरण।

२. जयचन्द का राजसूय यज्ञ।

३. कयमास वध।

४. पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध।

५. शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध।

६. पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन का अन्त।

१. किसी भी शिलालेख अथवा ऐतिहासिक काव्य ने इस बात का विरोध नहीं किया कि माणिक्य राय चौहान की उत्पत्ति ब्रह्मा के यज्ञ से हुई। सुर्जन चरित, हम्मीर महाकाव्य तथा पृथ्वीराज विजय महाकाव्य इस बात का समर्थन करते हैं कि ब्रह्मा के यज्ञ से ही प्रथम चौहान की उत्पत्ति हुई। लघु संस्करण में वृहद् तथा मध्यम वाचनाओं की तरह प्रथम चौहान की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से नहीं हुई, अपितु ब्रह्मा के यज्ञ से बताई गई है :—

ब्रह्मान जग्य ऊपन्न सूर मानिक्कराय चहुवानसूर। जो वंशावली इस वाचना में दी गई है, वह यद्यपि संक्षिप्त है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। यथा :—

मानिक्कराय चौहान

|

अनेक प्रतापी उत्तराधिकारी

|

धर्माधिराज

|

बीसलदेव

|

सारंगदेव

|

आनानरिंद

|

जयसिंह

|

आनंददेव

|

सोमेश्वर

|

पृथ्वीराज

लघुतम वाचना में भी यही वंशावली है । अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों वाचनाओं में चौहान वंशावली सही है ।

२. पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना इतिहास सम्मत नहीं है। अनंगपाल तोंवर का अपनी कनिष्ठा कन्या कमला का विवाह सोमेश्वर से करना तथा अपने दोहित्र पृथ्वीराज को (दिल्ली) राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त करना, दोनों काल्पनिक घटनाएं हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय न तो अनंगपाल दिल्ली का राजा था और न ही उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर से हुआ। इस समय दिल्ली का राज्य तो पहले से ही सोमेश्वर के छोटे भाई विग्रह राज चतुर्थ ने अपने राज्य (अजमेर) के अधीन कर लिया था । सोमेश्वर का विवाह हैहयवंशी चेदिराज नरसिंहदेव की कन्या कर्पूरदेवी से हुआ और उसके गर्भ से दो पुत्र—पृथ्वीराज तथा हरिराज उत्पन्न हुए। इस कथन की पुष्टि हम्मीर महाकाव्य, सुर्जन-चरित तथा अन्य शिलालेखों से हो चुकी है।

३. कदम्बास अथवा कयमास पृथ्वीराज का प्रधान मंत्री था इसका किसी ऐतिहासिक शोधक ने विरोध नहीं किया। 'पृथ्वीराज विजय' काव्य में भी कयमास का उल्लेख है। इस काव्य में कहा गया है कि उसी के संरक्षण में पृथ्वीराज बालक से युवा हुआ था। जिनपाल उपाध्याय रचित "खरतर गच्छ पट्टावली में मण्डलेश्वर कयमास का उल्लेख हुआ है। इस ग्रंथ में जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ बनता है। अतः यह कहा जा सकता है कि कयमास ऐतिहासिक व्यक्ति था और वह पृथ्वी-

राज का अमात्य था। परन्तु कयमास को करनाटी दासी में विषयासक्ति और परिणामस्वरूप पृथ्वीराज द्वारा उसका वध—इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

४. लघुवाचना में पृथ्वीराज भीमदेव में युद्ध का कारण सलप परमार की पुत्री तथा जैतपरमार की बहिन इञ्छिनी है। लघुतम वाचना के एक पद्य में कहा गया है कि पृथ्वीराज ने युद्ध करके भीम की शक्ति को नष्ट किया। डा० माता प्रसाद जी का मत तो यही है कि भीमदेव चालुक्य पृथ्वीराज का समकालीन था पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भीम पृथ्वीराज से अवस्था में बहुत छोटा था। पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४८ में हुई और भीम सम्वत् १२६८ तक जीवित रहा अतः यह तो कहना ही पड़ेगा कि भीमदेव चालुक्य ऐतिहासिक व्यक्ति है और पृथ्वीराज का समकालीन है।

५. संयोगिता-हरण, जयचंद का राजसूय यज्ञ तथा पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध : संयोगिता-हरण रासो कथानक का केन्द्र-बिन्दु है। यह घटना थोड़े बहुत अन्तर के साथ चारों वाचनाओं में मिलती है। ऐतिहासिक ग्रंथों में, अथवा किसी भी शिलालेख से यह सिद्ध नहीं हो सका कि पृथ्वीराज-संयोगिता का विवाह हुआ था अथवा जयचन्द ने राजसूय यज्ञ किया था। जयचन्द के अनेक दान-पत्र प्राप्त हुए हैं, क्योंकि अपने युग का वह एक दानी राजा था, परन्तु जयचन्द के किसी भी दान-पत्र में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं मिलता। १५वीं शती के अन्त में नयचन्द्र सूरी द्वारा रचित "हम्मीर महाकाव्य तथा रम्भा मंजरी" में जयचन्द के राजसूय यज्ञ, पृथ्वीराज-संयोगिता परिणय तथा पृथ्वीराज-जयचन्द संघर्ष का उल्लेख नहीं मिलता हालांकि हम्मीर महाकाव्य में पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन संघर्ष का विस्तार से वर्णन है। इन घटनाओं को रासो द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त हुई, और कवि चंद के परवर्ती साहित्यकारों अथवा काव्यकारों ने रासो से ही इन घटनाओं को लिया है। सम्राट अकबर के समय में ये घटनाएं पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। आइने अकबरी में जयचंद यज्ञ विध्वंस तथा संयोगिता हरण रासोवत् ही वर्णित है। इसके कुछ समय पश्चात् सुर्जन चरित नामक संस्कृत महाकाव्य में यह कथा कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है। परन्तु इस काव्य में जयचन्द की कन्या का नाम कान्तिमती है। पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में वर्णन है कि पृथ्वीराज के अनेक विवाह होने पर भी वह तिलोत्तमा नामक राजकुमारी पर अत्यन्त मोहित था। बहुत संभव है कि तिलोत्तमा अथवा कान्तिमती रासो में संयोगिता नाम से अवतरित हुई हो। कुल मिलाकर यह कहना उचित ही है कि ये घटनाएं कवि चन्द की अपनी कल्पना है।

६. पृथ्वीराज शहाबुद्दीन गोरी युद्ध : मुस्लिम इतिहासकारों ने पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन गोरी के दो युद्धों का उल्लेख किया है। पहले युद्ध में शहाबुद्दीन गोरी पराजित हुआ और दूसरे में पृथ्वीराज चौहान। बृहद् संस्करण में अनेक युद्धों

का वर्णन है। मध्यम संस्करण में सात युद्धों का, लघु वाचना में तीन का और लघुतम में एक युद्ध का वर्णन है। प्रबन्ध संग्रहान्तर्गत पृथ्वीराज प्रबंध में सात युद्धों का उल्लेख है। आइने-अकबरी तथा सुर्जनचरित काव्य में पृथ्वीराज का गौरी के हाथों बंदी होकर गजनी ले जाया जाना, उसको 'अंषहीन' करना तथा अन्ततः पृथ्वीराज के धनुर्विद्या कौशल से सुलतान गौरी का अन्त रासो में कथावत् ही वर्णित हैं।

परन्तु इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार पृथ्वीराज तथा कवि चंद स्वयं आत्मघात नहीं करते अपितु सुलतान गौरी के दरबारियों द्वारा हमला करके उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। मेरुतुंगाचार्य (जन्म सं० १३६१) द्वारा रचित प्रबन्ध चिन्तामणि में "पृथ्वीराज का म्लेच्छों द्वारा मारा जाना" नामक प्रबंध में बन्दी पृथ्वीराज का दिल्ली में ही (महरौली के किले में) तुर्क प्रहरियों द्वारा कुठाराघात से मारा जाना लिखा है। पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार पृथ्वीराज ने गजनी के राजदरबार में सुलतान की एक लोह मूर्ति पर निशाना लगाया था। निशाना तो ठीक लगा परन्तु सुलतान बच गया, पृथ्वीराज पकड़ा गया और मारा गया। यह देखा जा सकता है कि इस घटना के विषय में विभिन्न लेखकों के विभिन्न मत हैं अथवा अपनी-अपनी कल्पना हैं। इतिहासकार यह कहते हैं कि सन् ११६१ के युद्ध में पृथ्वीराज पराजित होकर तरौड़ी के मैदान से कुरुक्षेत्र की ओर भागा और वहीं-कहीं सरस्वती नदी के तट पर सुलतान का पीछा करते हुए सिपाहियों द्वारा मारा गया। यहां पर कवि चंद की कल्पना अद्भुत है। कवि ने अपने काव्य नायक की प्रतिष्ठा के लिए खलनायक सुलतान गौरी को अवश्य दण्ड देना था। यही काव्य का काव्यत्व है।

लघुतम वाचना में तो पृथ्वीराज का जन्म, राज्याभिषेक तथा युद्धादि का सन् सम्वत् दिया ही नहीं, लघुवाचना में भी निम्नलिखित जो सम्वत् दिए हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं :—

(क) सम्वत् ११३८ में पृथ्वीराज का राज्याभिषेक।

(ख) सम्वत् ११४८ में भीमदेव चालुक्य युद्ध।

(ग) सम्वत् ११५१ में पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध।

(घ) सम्वत् ११५२ में पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन गौरी युद्ध।

१. चंदवरदाई हिन्दी साहित्य का आदि महाकवि है। उसने स्वयं को पृथ्वीराज का दरबारी कवि तथा जीवन-सखा घोषित किया है :—

'हौं सु साही वरभट्ट चंद, अवतार लीन्ह पृथ्वीराज सत्य' यह एक अद्भुत और अनोखी बात है कि सम्राट् अकबर के राज्य-काल से पूर्व किसी भी साहित्यकार अथवा इतिहासकार ने चंद जैसे महाकवि का उल्लेख नहीं किया। "पृथ्वीराज विजय" संस्कृत काव्य के रचयिता जयानक ने भी अपनी रचना में चंद का नाम नहीं लिया। जैसा कि ऊपर भी कह चुका हूँ कि १५वीं शती में ग्वालियर के तोमर वंशी राजा वीरम

के दरबारी कवि नयचंद्र सूरी ने अपनी रचना हम्मीर महाकाव्य में चंद की चर्चा तक नहीं की हालांकि इस महाकाव्य में पृथ्वीराज का विस्तृत रूप में वर्णन है। इन्हीं नयचंद्र सूरी द्वारा रचित रम्भा मंजरी नाटिका में भी (जिसका नायक जयचंद है) चंद का उल्लेख तक नहीं हुआ। एक उल्लेखनीय बात यह है कि लघु वाचना के अनुसार राजा वीरम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से साथ देता है :—

क—वलिराइ वीरंम सारंग गाजी।
ख—सैरंध्री उरजन्म नाम वीरम रावत्ता।

अतः यह कहा जा सकता है कि १५वीं शती के अन्त तक रासो की रचना नहीं हुई थी।

२. सन् १२६७ (सम्वत् १३५४) में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात नरेश राजा कर्ण (राजधानी अनहिपुर-अनहिलवाड़ा) को परास्त कर उसकी पत्नी कमला का अपहरण कर लिया था और गुजरात पर अपना अधिकार जमा लिया था। लघु वाचना में कर्णरायजी पृथ्वीराज की ओर से पानीपत की दूसरी लड़ाई में शहाबुद्दीन गौरी से युद्ध करते हुए दिखाई देते हैं :—

करनराई कुण्डली समर, रावल वज्जीरम्
अनहिलपुर आभरन, राज राव ततहि भीरम्।

इससे सिद्ध होता है कि रासो रचना (लघु वाचना) अलाउद्दीन खिलजी के बाद की रचना है।

३. तत्कालीन संदेशरासक आदि रचनाओं से रासो की भाषा पर्याप्त नव्यतर है। इस के अतिरिक्त इस वाचना में "हथनारि"=बंदूक, "जम्बूर"=छोटी तोप, तथा "मुगलन्नि" शब्दों का प्रयोग मिलता है। पृथ्वीराज के युग में न बंदूक का प्रचलन था और न छोटी तोप का और मुग़ल भी हमारे देश में नहीं आए थे।

यह देखा जा चुका है कि रासो की चारों वाचनाओं में ऐतिहासिक विप्रतिपत्तियाँ हैं। बृहद् वाचना से लेकर लघुतम वाचना तक ऐतिहासिक विषमताएं उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं, परन्तु ये विषमताएँ हैं चारों वाचनाओं में। फिर यह बात हमारी समझ से बहार है कि जो कवि अपने आप को अपने चरित-नायक का बाल-सखा और जन्म-मरण का साथी घोषित करता हो वह ऐसी ऐतिहासिक विषमताएं अपने काव्य में क्योंकर रखता ? किसी भी ऐतिहासिक काव्यकार ने ऐसी गलती नहीं की है। अतएव मेरा तो ऐसा विश्वास है कि रासो (चारों वाचनाओं में से एक की) की रचना सम्राट् अकबर से पूर्व और बाबर के समय के लगभग हुई। इस के बाद यह रचना भट्ट जाति की आजीविका का साधन बन गई और उत्तरोत्तर प्रक्षिप्तांशों द्वारा इस के कलेवर में वृद्धि होती रही। यदि हिन्दी साहित्य की इस आदि रचना सम्बन्धी ऐतिहासिक पचड़े में न पड़कर साहित्यिक दृष्टि से ही इसका अध्ययन-अध्यापन हो तो

ठीक रहेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि रासो की तीन वाचनाएं (बृहद्, लघु, लघुतम) प्रकाशित रूप में प्राप्य हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन

रासो असंभ नव रस सरस, बंद चंद किय अमिश्र सम।
शृंगार वीर करुण विभच्छ भय, अद्भुत हसंत सम।

रासो-गत इस उक्ति के अनुसार रासो में चंद कवि ने नव रसों का वर्णन किया है। परन्तु यहाँ दो ही रस अंगाङ्गीभाव से मुख्य हैं। शेष करुणादि रसों के लिए अवसर प्राप्त होने पर भी कवि इन रसों की उद्भावना नहीं कर सका है। जैसे- "अंपहीन" पृथ्वीराज, गज़नी में बड़ी दीन-हीन अवस्था में कैद है। चंद की भेंट उससे होती है। इस अवसर को एक ही दोहा कह कर समाप्त कर दिया है :—

चक्षुहीन दुर्बल नृपति, दस बंभन रहि पास।
रोस अगनि तन प्रज्जरे, अरि चिंतित चितास।

इसी प्रकार संयोगिता पृथ्वीराज के पराजय की सूचना सुनकर प्राण त्याग देती है :—

जनम जानि अन्तर मिलन, जुग्गिनिपुर आवास।
चरण लग्गि बंद्यो मरण, सब परि गहरु पवास।

रासो में प्रयाण, मृगया तथा युद्धादि का विशद वर्णन है। युद्ध-वर्णन सजीव है, पर परम्परागत है; आँखों देखा नहीं—जैसा कि कुछ आलोचक कहते हैं। रासो के युद्ध वर्णन कीतिलता-से साम्य रखते हैं। जायसी के पद्मावत में भी इसी प्रकार का युद्ध वर्णन है। हां, कहीं-कहीं कवि की अपनी नवीन कल्पना के दर्शन भी होते हैं। यथा उभय पक्षीय योद्धा-गण आघात प्रतिघातों को ऐसे सहन कर रहे हैं जैसे महादेव जी ने आकाश से उतरती हुई गंगा के आघात को सहन किया था:—

"मनो झिल्लवै सीस त्रिनैन गंगा।

सेना का ऊपर को उठता हुआ घटाटोप रंगबिरंगे बादलों की तरह उमड़ रहा है। (सेना की वर्दी रंगबिरंगी थी):—

मनो तहाँ टोप टंकार दीसै उतंगा।
मनो वद्दलै पंति बंधी सुरंगा॥

इसी प्रकार सैनिक साज-सज्जा का, हाथी-घोड़ों की रेलपेल का विस्तृत वर्णन है।

विप्रलम्भ शृंगार का तो यहां सर्वथा अभाव है। संभोग शृंगार के सरस छींटों के यहां दर्शन कई बार होते हैं। रति क्रीड़ा आरम्भ होने से पूर्व संयोगिता के षोड्श शृंगार की एक झलक देखिए :—

सुरेप कज्जलं दुनं, धनुक्क संगुनं मनम्।
स-नासिका सुमुत्तियं, तमोरपुप्प दुत्तियम्।

सुकट्टि मेपला भरं, सरोह नूपुरं जनम्।
सवीर चातुरी रसं, शृंगार मंडी पोड्सम्।

रति-क्रीड़ा में संयोगिता के गले का हार टूट गया। हार के मोती श्रम-बिन्दुओं की तरह वक्षस्थल पर लुढ़क रहे हैं। "रति विछुट्टित पंतिचंगं, श्रम बुंदिनि मुत्ति हारं उरनं" और साथ ही रति प्रसंग में कटि मेखला की क्षुद्र घंटिकाएं भी भनभना रही हैं :—

कटि मण्डल घंट रवन्ति रवैं, सुर तंज मंजीर अमृत भ्रवै।
रति उज्ज-अयोज तरंगभरी, हिमवंत रीति रति राज कटि॥

इसी प्रकार कवि ने संयोग शृंगार का खुले रूप में वर्णन किया है।

षट्-ऋतु वर्णन, प्रकृति-वर्णन परम्परागत है। चंद के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवियों के प्रकृति-वर्णन आदि में पर्याप्त साम्य है। जायसी के प्रकृति-वर्णन से इसकी तुलना की जा सकती है। विस्तार-भय से एक दो उदाहरण ही काफी होंगे। कृष्ण-लीला वर्णन में चंद ने ब्रज के मधुवन का वर्णन करते हुए जायसीवत् अनेक पक्षी तथा वृक्षादिकों के नाम मात्र गिना दिए हैं :—

कहं विजज विज्जोर पीयूपभारं।
लुठे भुम्मि भुम्मे मनो हेमनारं।
कहं दाड़िमी सुवचंचानि चंपै।
मनों लाल माणिक्क पेरोज थप्पे॥

वर्षा ऋतु में संयोगिता अपनी सखियों के साथ उद्यान में झूलना झूल रही है। पुष्प रस से सुगंधित रंग बिरंगे महीन चीर (दुपट्टे) में संयोगिता तथा उसकी सहेलियों के सुप्रसाधित केशपाश (जूड़ा) तथा चँद्र मुख किस प्रकार झलक रहे हैं :—

कुसुमंत चीर गंभीर गंधति मंद बुंद सुहावनम्।
हिंदोल लोलति चाल सपि सुर, ग्राम सुख सुरगावनम्।
ढरकंत वेनिय बद्धए लिय, चंद सेनिय आननम्।

फल पुष्पों से लदे वृक्ष कामदेव की सेना के हाथियों की तरह झूल रहे हैं :—

तरु भरहिं फूल्ल इह रत्त नील।
हलि चलहिं मनहुं मनमत्थ पील॥

भाषा:—भाषाविद् विद्वानों के लिए रासो का भाषाविषयक प्रश्न काफी वाद-विवाद का विषय रहा है। डिंगल-पिङ्गल की चर्चा रही। कुछ विद्वान् कहते हैं कि रासो की भाषा अपभ्रंश है। परन्तु १३वीं शती के अपभ्रंश काव्यों की भाषा से रासो की भाषा का मिलान करने से अपभ्रंश की श्रेणी में इसे हम नहीं रख सकते। डा० नामवर सिंह के शब्दों में रासो की भाषा नव्यतर है और अपभ्रंश काव्यों की कोटि में नहीं रखी जा सकती। वास्तविक रूप में रासो में भाषा-वैविध्य तथा विकृति का कारण भाटों तथा चारणों द्वारा राजदरबारों तथा समरांगण में प्रशस्ति रूप में गायन अथवा

ठीक रहेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि रासो की तीन वाचनाएं (बृहद्, लघु, लघुतम) प्रकाशित रूप में प्राप्य हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन

रासो असंभ नव रस सरस, बंद चंद किय अमिअ सम।
श्रृंगार वीर करुण विभच्छ भय, अद्भुत हसंत सम।

रासो-गत इस उक्ति के अनुसार रासो में चंद कवि ने नव रसों का वर्णन किया है। परन्तु यहाँ दो ही रस अंगाङ्गीभाव से मुख्य हैं। शेष करुणादि रसों के लिए अवसर प्राप्त होने पर भी कवि इन रसों की उद्भावना नहीं कर सका है। जैसे- "अंधहीन" पृथ्वीराज, गज़नी में बड़ी दीन-हीन अवस्था में कैद है। चंद की भेंट उससे होती है। इस अवसर को एक ही दोहा कह कर समाप्त कर दिया है :—

चक्षुहीन दुर्बल नृपति, दस बंभन रहि पास।
रोस अगनि तन प्रज्जरे, अरि चिंतित चितास।

इसी प्रकार संयोगिता पृथ्वीराज के पराजय की सूचना सुनकर प्राण त्याग देती है :—

जनम जानि अन्तर मिलन, जुग्गिनिपुर आवास।
चरण लग्गि बंध्यो मरण, सब परि गहरु पवास।

रासो में प्रयाण, मृगया तथा युद्धादि का विशद वर्णन है। युद्ध-वर्णन सजीव है, पर परम्परागत है; आँखों देखा नहीं—जैसा कि कुछ आलोचक कहते हैं। रासो के युद्ध वर्णन कीर्तिलता-से साम्य रखते हैं। जायसी के पद्मावत में भी इसी प्रकार का युद्ध वर्णन है। हां, कहीं-कहीं कवि की अपनी नवीन कल्पना के दर्शन भी होते हैं। यथा उभय पक्षीय योद्धा-गण आघात प्रतिघातों को ऐसे सहन कर रहे हैं जैसे महादेव जी ने आकाश से उतरती हुई गंगा के आघात को सहन किया था:—

"मनौ झिल्लवै सीस त्रिनैन गंगा।

सेना का ऊपर को उठता हुआ घटाटोप रंगबिरंगे बादलों की तरह उमड़ रहा है। (सेना की वर्दी रंगबिरंगी थी):—

मनौ तहाँ टोप टंकार दीसै उतंगा।
मनौ बद्दलै पंति बंधी सुरंगा॥

इसी प्रकार सैनिक साज-सज्जा का, हाथी-घोड़ों की रेलपेल का विस्तृत वर्णन है।

विप्रलम्भ श्रृंगार का तो यहां सर्वथा अभाव है। संभोग श्रृंगार के सरस छींटों के यहां दर्शन कई बार होते हैं। रति क्रीड़ा आरम्भ होने से पूर्व संयोगिता के षोड्श श्रृंगार की एक झलक देखिए :—

सुरेप कज्जलं दुनं, धनुक्क संगुनं मनम्।
स-नासिका सुमुत्तियं, तमोरमुप्य दुत्तियम्।

मुकट्टि मेपला भरं, सरोह नूपुरं जनम् ।
सवीर चातुरी रसं, शृंगार मंटी पोड्सम् ।

रति-क्रीड़ा में संयोगिता के गले का हार टूट गया। हार के मोती श्रम-बिन्दुओं की तरह वक्षस्थल पर लुढ़क रहे हैं। "रति विछुट्टित पतिचंगं, श्रम बुंदिनि मुत्ति शरं उरनं" और साथ ही रति प्रसंग में कटि मेखला की क्षुद्र घंटिकाएं भी झनझना रही हैं :—

कटि मण्डल घंट रवन्ति रवै, सुर संज मंजीर अमृत श्रवै ।
रति उज्ज-ग्रयोज तरंगभरी, हिमवंत रीति रति राज कटि ॥

इसी प्रकार कवि ने संयोग शृंगार का खुले रूप में वर्णन किया है।

षट्-ऋतु वर्णन, प्रकृति-वर्णन परम्परागत है। चंद के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवियों के प्रकृति-वर्णन आदि में पर्याप्त साम्य है। जायसी के प्रकृति-वर्णन से इसकी तुलना की जा सकती है। विस्तार-भय से एक दो उदाहरण ही काफी होंगे। कृष्ण-लीला वर्णन में चंद ने ब्रज के मधुवन का वर्णन करते हुए जायसीवत् अनेक पक्षी तथा वृक्षादिकों के नाम मात्र गिना दिए हैं :—

कहुं विज्ज विज्जोर पीयूपभारं ।
लुठे भुम्मि झुम्मे मनो हेमनारं ।
कहुं दाड़िमी सुवचंचानि चंपै ।
मनों लाल माणिक्क पेरोज थप्पे ॥

वर्षा ऋतु में संयोगिता अपनी सखियों के साथ उद्यान में झूलना झूल रही है। पुष्प रस से सुगंधित रंग बिरंगे महीन चीर (दुपट्टे) में संयोगिता तथा उसकी सहेलियों के सुप्रसाधित केशपाश (जूड़ा) तथा चंद्र मुख किस प्रकार झलक रहे हैं :—

कुसुमंत चीर गंभीर गंधति मंद बुंद सुहावनम् ।
हिंदोल लोलति चाल सवि सुर, ग्राम सुख सुरगावनम् ।
ढरकंत वेनिय वद्धए निय, चंद सेनिय आननम् ।

फल पुष्पों से लदे वृक्ष कामदेव की सेना के हाथियों की तरह झूल रहे हैं :—

तरु भरहिं फूल्ल इह रत्त नील ।
हलि चलहि मनहुं मनमत्थ पील ॥

भाषा:—भाषाविद् विद्वानों के लिए रासो का भाषाविषयक प्रश्न काफी वाद-विवाद का विषय रहा है। डिंगल-पिङ्गल की चर्चा रही। कुछ विद्वान् कहते हैं कि रासो की भाषा अपभ्रंश है। परन्तु १२वीं शती के अपभ्रंश काव्यों की भाषा से रासो की भाषा का मिलान करने से अपभ्रंश की श्रेणी में इसे हम नहीं रख सकते। डा० नामवर सिंह के शब्दों में रासो की भाषा नव्यतर है और अपभ्रंश काव्यों की कोटि में नहीं रखी जा सकती। वास्तविक रूप में रासो में भाषा-वैविध्य तथा विकृति का कारण भाटों तथा चारणों द्वारा राजदरबारों तथा समरांगण में प्रशस्ति रूप में गायन अथवा

उच्चारण और लिपिकारों का प्रमाद है। वृहद् और मध्यम वाचनाओं की भाषा तो पर्याप्त रूप में नवीन है। लघु तथा लघुतम वाचनाओं की भाषा भी पूर्ण रूप से अपभ्रंश नहीं कही जा सकती। हाँ, अपभ्रंश शब्द तथा प्राचीन हिन्दी के शब्द प्रचुर मात्रा में देखने को मिलते हैं। भाषाओं की काफी खिचड़ी है। विकृत संस्कृत, अपभ्रंश, अपभ्रंशाभास, प्राकृत, प्राचीन ब्रज (पिङ्गल), प्राचीन राजस्थानी (डिंगल) अनेक भाषाओं के शब्दों की भरमार है। रूप विचार अथवा वैयाकरणिक दृष्टि से भाषा का रूप अधिकतर प्राचीन ब्रज है और कहीं-कहीं प्राचीन राजस्थानी (डिङ्गल) है।

इसी लिए कुछ विद्वानों ने रासो की भाषा का नाम डिङ्गल-पिङ्गल रख दिया है। राजस्थानी भाषा के विद्वान् टैसिटरी ने इसीलिए कहा था :—

"It is a well known fact that there are two Languages used by the Bards of Rajputana in their poetical compositions and they are called Dingal and Pingal. The former being the local Bhasa of Rajputana and the latter the Braj Bhasa".

इसी सम्बन्ध में जार्ज ग्रियर्सन ने भी अपना मत देते हुए कहा था :—

"The writer sometimes composed in Marwari and sometimes in Braj Bhasa ; in the former case the language was called Dingal and the latter Pingal" ।

अतः यह कहा जा सकता है कि डिङ्गल-पिङ्गल, राजस्थानी और ब्रज रासो की भाषाएँ हैं।

रासो की कम से कम तीन वाचनाओं में कहीं न कहीं षट् भाषा का उल्लेख मिलता है। जैसे :—

क—रसं नौ छः भाषा, सुभाषा उचारो (ल०सं०६-१६)

ख—नव रस भाष छः पुच्छन तत्ते।
कवि अनेक भाषा गुन मत्ते ॥

वास्तव में मध्य युग में छः भाषाओं के प्रयोग का रिवाज था। १४ वीं शती की रचना वर्ण-रत्नाकर में कवि अथवा महाकवि की उपाधि उसी को दी जाती थी जो छः भाषाओं अथवा अनेक भाषाओं का विद्वान् होता था। यथा—पुनु कइसन भाट, संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ, पैशाची, सौरसेनी, मागधी, छहु भाषाक तत्वज्ञ। शकारी, आभीरी, चाण्डाली, सावली, द्रावली, औतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह।" १५वीं शती में रचित हम्मीर महाकाव्य में छः भाषाओं का वर्णन मिलता है :—

प्राकृत संस्कृत मागध, पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश विशेषादपभ्रंशः ॥

लघुवाचना में तो विकृत संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृतों—(मागधी, पैशाची, शौरसेनी) के कुछ विकृत शब्द जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं, परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या अधिक नहीं

है। यहां तो प्राचीन ब्रज (पिंगल), प्राचीन राजस्थानी (डिङ्गल), अरबी, फारसी, तथा आधुनिक खड़ी बोली का बाहुल्य है। और इन सब भाषाओं के शब्दों को कवि ने अपनी चारणी भाषा-शैली में परिवर्तित कर दिया है। और यह चारण भाषा दोनों भूषण कवि के समय तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही है। लघुवाचना में यत्र-तत्र पंजाबी तथा हिसार प्रांतीय भाषा का रूप भी देखने को मिलता है। डा० माताप्रसाद जी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' 'प्राकृत पैंगल' के हम्मीर सम्बधी छंदों तथा 'रणमल्ल छंद' की भाषाओं के बीच की लगती है।'

३

विद्यापति की पदावली

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

विद्यापति ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी काव्य रूपों में रचना करने का प्रयत्न किया था किन्तु जिन रचनाओं के कारण वे उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध कवि और संसार प्रसिद्ध गीत-कवि माने जाते हैं, वे उनके पद या गीत हैं, जिन्हें देखकर जार्ज ग्रियर्सन ने कहा था "हिन्दु धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण में विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो जाय, कृष्ण-प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे, तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति, जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगों की आस्था और श्रद्धा कभी कम न होगी" (एन इन्ट्रोडक्शन टू द मैथिली लैंग्वेज)।

पदावली में संगृहीत पदों की प्रामाणिकता, संख्या तथा पाठ के बारे में काफी विवाद है। विद्यापति के पदों के संग्रह का प्रयत्न सर्वप्रथम सम्भवतः शारदाचरण मित्र ने किया था और बाद में १८८१-८२ ई० में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने लोगों के मुख से सुनकर उनके ८२ पद एकत्र किये थे। तबसे लेकर आज तक विद्यापति के जन्म काल, धार्मिक मान्यताएं तथा काव्य गुणों के विषय में काफी ऊहापोह हुआ है। आरम्भ में विवाद का विषय यह था कि विद्यापति हिन्दी कवि हैं अथवा बंगाली। विद्यापति के प्रति जिज्ञासा और श्रद्धा का उद्रेक पहले बंगाली सहृदयों में दिखाई पड़ा, इसमें सन्देह नहीं, और उन लोगों ने कवि की रचनाओं से मुग्ध होकर उन्हें अपना बताने का दावा भी पेश किया। विद्यापति मैथिली भाषा के कवि थे और स्वभावतः मैथिली लोगों के दावे को स्वीकार करना पड़ा। विद्यापति के विषय में दूसरा विवाद यह था कि वे शैव हैं, वैष्णव हैं या शृंगारिक कवि हैं। इस विवाद के पीछे भी कुछ निराधार किस्म के पूर्वग्रह कार्य करते रहे। शिवनन्दन ठाकुर उन्हें शैव मानते हैं ('महाकवि विद्यापति,' लेहरियासराय, पटना), उमेश मिश्र मात्र शृंगारिक ('विद्यापति ठाकुर,' हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३७ ई०पृ० ८९-

६०), रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "विद्यापति शैव थे, इन्होंने इन पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से ही की है, भक्त के रूप में नहीं, विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए" (हि० सा० इ० छठा संस्करण, सं० २००७, काशी, पृ० ५७-५८)। इन तर्कों की एकांगिता स्पष्ट है क्योंकि विद्यापति के समय की धार्मिक पृष्ठभूमि भुलाकर उन्हें कुछ निश्चित खानों में फिट करने का अनुचित प्रयत्न किया गया है। यह मान लेना कि कोई शैव भक्तिपरक शृंगारिक गीत नहीं लिख सकता, वस्तुस्थिति को नकारना है। शिव सिद्धि-दाता थे और विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वार नरेश अपने को परम माहेश्वर कहते थे और विष्णु की स्तुति गाते थे। विद्यापति ने भी शिव और विष्णु की समवेत स्तुति की है: "भल हर भल हरि भल तुव कला, खन पति वसन खनहिं बघछला।" शृंगार भक्ति का विरोधी है, यह परम्परा भी भारतीय भक्ति को न समझने के कारण उत्पन्न होती है। विद्यापति पर रहस्यवादी होने का आरोप भी किया गया है। ग्रियर्सन, कुमारस्वामी, और जनार्दन मिश्र विद्यापति को रहस्यवादी मानते हैं। रहस्यवादी मानने वालों को विनयकुमार सरकार ने ('लव इन हिन्दू लिट्रेचर' १६१६, पृ० २०-२१) उचित उत्तर दिया है। उन्होंने भक्ति और शृंगार का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कहा कि "ऐन्द्रिय भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अलावा और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया।" वस्तुतः विद्यापति शुद्ध मानवधर्मी कवि थे, जिनके सामने धार्मिक मान्यताओं के घेरे कोई महत्त्व नहीं रखते।

विभिन्न पाठ—विद्यापति चौदहवीं शती के कवि थे और निर्विवाद रूप से उनका यश सोलहवीं शती के अन्त तक समस्त पूर्वी भारत में व्याप्त हो चुका था। उनके पदों के अनुकरण पर गीत लिखने वाले अनेकानेक कवि उत्पन्न हुए और उन्होंने अपनी रचनाओं में यदाकदा विद्यापति का अतीव आदर के साथ स्मरण भी किया पर आश्चर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्व कवि के समस्त पदों को एकत्र उपस्थित करने वाला कोई संग्रह या संकलन प्राप्त नहीं होता। पदावली की प्राप्त विभिन्न पाण्डुलिपियों को देखने से प्रतीत होता है कि ये तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं:— (१) नेपाल से प्राप्त पाण्डुलिपि (२) मिथिला की पोथियाँ—राग तरंगिणी, रामभद्रपुर की पोथी और तरौणी की तालपत्र की पोथी, तथा (३) बंगाल में संकलित 'क्षणदागीत चिन्तामणि' 'पदामृत समुद्र,' 'पदकल्पतरु,' 'संकीर्तनामृत' और 'कीर्तनानन्द'। नेपाल की पोथी पुरातन मैथिली लिपि में लिखी गई है। काशी प्रसाद जयसवाल और अनन्त प्रसाद वन्द्योपाध्याय के उद्योग से मूल प्रति की फोटो कापी प्राप्त की गई, जिसका एक खण्ड पटना कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय लाइब्रेरी में सुरक्षित है। सब मिलाकर इसमें ३८७ पद हैं। 'रागतरंगिणी' सत्रहवीं शताब्दी में महीनाथ ठाकुर के राजत्व-काल में लोचन कवि ने

लिखी, जिसमें कवि विद्यापति के ५१ पद संकलित हैं। इन ५१ पदों में तीन पद ऐसे हैं, जिनमें कवि भणिता के रूप में विद्यापति का नाम नहीं आता किन्तु इनके नीचे लोचन कवि ने 'इति विद्यापतेः" लिखा है जिससे मालूम होता है कि ये पद भी विद्यापति के ही हैं। रामभद्रपुर की पोथी मूलतः विष्णु लाल झा को मिली थी, जिन्होंने शिवनन्दन ठाकुर को इसकी सूचना दी। ठाकुर ने इन पदों को उतार कर 'विद्यापति विशुद्ध पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक 'महाकवि विद्यापति' में प्रस्तुत कराया। उपलब्ध पदों की संख्या ९६ है किन्तु शिवनन्दन ठाकुर ने ८६ पद ही प्रकाशित किये थे। तरोणी की तालपत्र-पोथी आज उपलब्ध नहीं है। इसके विवरण के लिए नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। इसमें ३५० पद थे, जिन्हें उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित 'विद्यापति पदावली' में प्रकाशित कराया। बंगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। गौड़ीय वैष्णव भक्तों ने इन पदों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिन्तामणि' है, जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी १७०५ में प्रस्तुत किया। 'पदामृत समुद्र' के संकलयिता राधामोहन ठाकुर हैं, जिन्होंने अनुमानतः अट्ठारहवीं शताब्दी में यह संग्रह उपस्थित किया। इस संकलन के पदों पर बंगला प्रभाव की अतिशयता है। मैथिल प्रयोगों के स्थान पर बंगला प्रयोगों की भरमार है। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोकुल नन्द सेन अर्थात् वैष्णव दास ने 'पदकल्पतरु' का संग्रह किया। यह बहुत बृहत् संकलन है। इसमें १३०१ पद हैं। विद्यापति के १६१ पद हैं। देशबन्धु चितरंजन दास के पास उपलब्ध 'संकीर्तनामृत' की पोथी में विद्यापति द्वारा रचे केवल १० पद ही प्राप्त होते हैं।

विद्यापति के पदों के संकलन का कार्य सबसे पहले शारदाचरण मित्र ने किया। १८८१ ई० में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने गायकों के मुख से सुनकर ८२ पद एकत्र किये। बाद में बंगाल के नगेन्द्रनाथ गुप्त ने १३१६ बंगाब्द में 'विद्यापति पदावली' का संपादन किया। 'विद्यापति पदावली' नाम से एक संग्रह अमूल्य विद्याभूषण और खगेन्द्रनाथ मित्र ने किया। बंगाली संस्करणों में नगेन्द्रनाथ गुप्त का संकलन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इन्होंने काफी सन्तुलित और परीक्षणात्मक ढंग से काम लिया किन्तु इनके संकलन का आधार सिर्फ नेपाल की पोथी ही नहीं थी, उन्होंने 'पदकल्पतरु' आदि से भी सहायता ली। फलस्वरूप उनके संकलन के बहुत से पद विद्यापति के पदों की आत्मा और भाषा से काफी दूर जा पड़ते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादन में पुस्तक भण्डार, लेहरियासराय से 'विद्यापति पदावली' प्रकाशित हुई (प्रकाशन तिथि नहीं दी गई है)। यह संकलन मुख्यतः नगेन्द्रनाथ गुप्त की 'विद्यापति पदावली' पर आधारित है। इन सभी प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्रियों के आधार पर खगेन्द्रनाथ मित्र और विमानविहारी मजूमदार ने 'विद्यापति' नाम से एक बृहत् संकलन और तैयार किया। इसमें मजूमदार ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी है। इसका हिन्दी अनुवाद संवत् २०१० में

पटना से छपा। १९५४ ई० में सुभद्र झा ने काशी से 'द सांग्स ऑव विद्यापति' नाम से एक नया संकलन छपवाया।

वर्ण्य विषय—विषय की दृष्टि से विद्यापति के पद कई श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। अधिकांश पद राधा और कृष्ण प्रेम के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करते हैं। कुछ पद शुद्ध प्रकृति सम्बन्धी हैं, इनमें प्रकृति ही वर्ण्य है, वही काव्य का आलम्बन है। कुछ विभिन्न देवताओं की स्तुति में लिखे गये हैं। स्तुति-पदों में सबसे अधिक पद शिव और उमा के सम्बन्ध में हैं। इसमें कई केवल शंकर की स्तुति के हैं। उमा-शिव-विवाह वाले पदों में शिव में ईश्वरत्वबुद्धि और तज्जन्य श्रद्धा का समावेश है, किन्तु इनमें सामान्य-जीवन, हास-परिहास तथा व्यंग्य-विनोद का भी पुट कम नहीं है : "हम नहि आज रहब यहि आँगन गे माई" (पदावली बेनीपुरी, पद संख्या२३५) "नाहि करब वर हर निरमोहिया' (२३६) "एत जप तप हम किया लगि कैलहु" (२४२) आदि पदों में दुकूलावेष्टित सुन्दरी गौरी और गजाजिना-वेष्टित भूतभावन शंकर के बेमेल विवाह पर व्यंग्य और अन्त में कन्या के अक्षय सौभाग्य की सदिच्छा व्यक्त की गई है। इस तरह के गीत आज भी पूर्वी प्रदेशों में विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। प्रार्थना या नचारी वर्ग के पदों में दुर्गा, जानकी, गंगा आदि की भी स्तुति की गई है। कुछ पदों में कवि अपने दैन्य की अतिशयता का कारुणिक चित्रण करके स्तुत्य देवता से कृपा की याचना करता है। यह भक्तिकाल के कवियों की एक रूढ़ परिपाटी है। करुणोद्रेक के लिए अपनी हीनता का वर्णन भक्ति का आवश्यक अंग माना जाता था। ऐसे पदों को देखकर यह कहना कि शुरू में विद्यापति शृंगारिक थे, बाद में भक्त हो गये अनुचित है।

राधा—मध्यकालीन साहित्य को यदि किसी एक शब्द में अभिव्यक्त करना हो तो निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि वह शब्द है राधा। राधा मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणा शक्ति है, अधिष्ठात्री है और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मांसल मूर्ति है जिसके शरीर के अणु में कच्ची मिट्टी की गंध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा। राधा की यह मूर्ति जो वेद-काल के पृथ्वी रूप से प्रस्फुटित होकर नाना पुराणों के देवी रूप, लक्ष्मी श्री रूप तथा तंत्रों में वर्णित देवी रूपों से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेम प्रधान काव्यों में प्राण प्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य की राधा के रूप में उपस्थित हुई—विद्यापति को इसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को पूर्वजों की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्ण गरिमा, अन्धविश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने तरह से देखा, सोचा, समझा और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना और शक्ति के संयोग से इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

बालिका के रूप में राधा के चित्त का प्रस्फुटन कवि के लिए आकर्षण की वस्तु नहीं। विद्यापति की राधिका के जीवन का प्रथम क्षण उस समय आरम्भ हुआ जब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूप बालिका देखी जो यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहल-चकित होकर अपने अंगों का उभार देखते हुए विविध प्रकार के आनन्द में विभोर हो जाती है:—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल
निरजन उरज हेरइ कत वेरि
हंसइ जे अपन पयोधर हेरि

यौवन की बालसुलभ अल्हड़ चेष्टायें ठिठक कर रह गईं, हँसते, चलने, बोलने और साधारण व्यवहार में भी भिन्नता आ गई:—

प्रगट हास अब गोपित भेल
वरण प्रकट फिर उन्हके नेल
चरन चपल गति लोचन पाव
लोचन के धीरज पद तले जाव
नव कवि सेखर कि कहित पार
भिन-भिन राज भिन बेवहार

यौवन का यह प्रथम चरण-निक्षेप बाला के चित्त को एक विचित्र भावभंगा से भर देता है। इन्हीं दिनों जब राधा अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को संभालने में असमर्थ, व्रज की खोरियों में घूम रही थी कि अचानक कृष्ण पर दृष्टि पड़ गई। राधा और कृष्ण का यह प्रथम मिलन कवि की अनुपम निधि है। दो तरुण हृदयों के इस मिलन पर दोनों के हृदय के मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है।

दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की वैचित्र्यावस्था का दारुण वर्णन एक-दूसरे को सुनाती हैं। एक तरफ राधा के अभाव में कृष्ण कालिन्दी के किनारे धूल में गिरे पड़े हैं। भुजंगिनी के दंश से पीड़ित अचेत कृष्ण तब तक होश में नहीं आ सकते जब तक दूसरे दंश की लहर उस विष को दूर नहीं कर देती। विरह-पीड़ा को नागिन दंश की तरह बताना काफी महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती काल में भक्त के मन में उठने वाली विरह-पीर की तुलना कई स्थानों पर नागिनि-दंश से की गई है।

राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा को प्राप्त होने के लिए सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ़ होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है जैसे इक्षु-बीज बोने के बाद क्रम से रस, खांड, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सितोपला में बदलता है। उसी तरह रति से प्रेम,

प्रेम से राग, राग से अनुराग आदि की उत्पत्ति होकर महाभाव उत्पन्न होता है। प्रेम जब अंतिम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे 'चिद्दीपन' अवस्था कहते हैं अर्थात् यह प्रेम-विषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रंभण या भ्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते हैं। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुःख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर 'यावदाश्रयवृत्ति' होकर स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते हैं।[1]

राधा का प्रेम इसी अधिरूढ़ महाभाव की दशा को प्राप्त था। वह कृष्ण के वियोग में तड़फड़ा कर गिर पड़ती थी और घंटों मुख नीचे किये आँसू गिराया करती थी। वह लम्बी साँसें लेती, पृथ्वी पर लोटती, उसकी दशा को कोई समझ नहीं पाता।

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ
खने खने मुरछइ कंठ परान
इथि परको गति दैव से जान
हे हरि पेखलौं से वर नारि
न जीवइ विनु कर परस तोहारि

विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह उपहासास्पद नहीं हुआ है। सूर की तरह विरह की उसासों का आधिक्य भी नहीं है। इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन सुख की स्थूल विवृत्ति। यह आश्चर्य की बात नहीं है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसीलिए करते हैं कि वे विरह की काली

---

१. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते॥
स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥
मानो दधानो विस्रंभं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः॥
दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥
सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते॥
अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेत्ति भाव इत्याभिधीयते॥

(उज्ज्वल नीलमणि)

रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते हैं। अर्थात् उनके मिलन-संयोग के चित्रों की सघनता और रंगसाज़ी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने में सहायक हुई है। विरह की इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोकगीतों की धुन का अनुसरण किया है।

अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय मे शास्त्रीय मतों की कुशलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की कब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्मायें चलती भी हैं और जबकि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फर्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा।[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसी वस्तु की परिभाषा करनी कठिन ही नहीं, असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्तों या बवण्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य! इसीलिए हज़ारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौन्दर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

सौन्दर्य वस्तु का नहीं व्यक्ति का धर्म है जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमें सत्य है। यदि ऐसा न होता तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नहीं है, यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है जो उन वस्तुओं के बारे में सोचता है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलतः वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं। क्योंकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्त्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरुक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता

---

1. *Dictionary of World Literary Terms, Page 36.*

है। दूसरे इस अनुभूत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सके। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखुरस्ट (H. H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है, वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए कि किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है। अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिष्कार है। दूसरे यह कि वह व्यक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य-बोध का परिचय देते हैं।

विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव-विह्वल और एकोन्मुख कर देता है इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रायः 'अपरूप' या सौन्दर्य की अतिशयता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है :—

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूप रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव कि कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप,' आदि पंक्तियों से आरम्भ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना की गई है।

---

1. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits.

(Beauty. 1930)

रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते हैं। अर्थात् उनके मिलन-संयोग के चित्रों की सघनता और रंगसाजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने में सहायक हुई है। विरह की इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोकगीतों की धुन का अनुसरण किया है।

अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय में शास्त्रीय मतों की कुशलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की कब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्मायें चलती भी हैं और जबकि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फर्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन ज़िन्दा है और कौन मुर्दा।[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसी वस्तु की परिभाषा करनी कठिन ही नहीं, असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्तों का बवण्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य! इसीलिए हज़ारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौन्दर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

सौन्दर्य वस्तु का नहीं व्यक्ति का धर्म है जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमें सत्य है। यदि ऐसा न होता तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नहीं है, यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है जो उन वस्तुओं के बारे में सोचता है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलतः वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं। क्योंकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्त्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता

---

1. Dictionary of World Literary Terms, Page 36.

है। दूसरे इस अनुभूत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सके। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखूरस्ट (H. H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है, वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए कि किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है। अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिष्कार है। दूसरे यह कि वह व्यक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य-बोध का परिचय देते हैं।

विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव-विह्वल और एकोन्मुख कर देता है इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रायः 'अपरूप' या सौन्दर्य की अतिशयता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है:—

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूप रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव कि कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप,' आदि पंक्तियों से आरम्भ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना की गई है।

---

1. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits.

(Beauty. 1930)

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्व व्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की सभी वस्तुयें सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पद्मावत में पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते हैं। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से भी वस्तुयें अभिनव सौन्दर्य को धारण करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पारस-रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि "पारस रूप वह है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिरः—

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उस पर लोगों का ध्यान नहीं गया, इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहें। विद्यापति की राधा वह अपूर्ण सौन्दर्य-मणि है जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं:—

जहाँ-जहाँ पग-जुग धरई तंहि तंहि सरोरुह भरई
जहाँ-जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि विजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माँहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास सँचार, तँहि तँहि अमिय विथार
जहाँ-जहाँ कुटिल कटाख, ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव, दय योहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तव गुने दैवव आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरे मालूम होते हैं, उसके मधुर हास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत बिखेर देता है। यह राधा का पारस रूप जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमें जो लोग शृंगार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हें कौन रोक सकता है, किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमें सन्देह नहीं। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की बात करके मैं उनकी मांसल सौन्दर्य सृष्टि का मूल्य घटाना नहीं चाहता। वस्तुतः सौन्दर्य-लोभी कवि कभी भी रहस्यवादी हों, ही

१. मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० २०६।

नहीं पाता, उसके मन के कुछ क्षणों में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जब वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध होकर उसके उद्दीप्त स्तर का चित्रण करे और उसमें दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे परन्तु अधिकांशतः वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्रनाथ आदि जो भी सौन्दर्य-प्रेमी कवि हैं, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते हैं अर्थात् उसमें यथासंभव यथार्थ का आधार रखते हैं किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु में किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओं का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है, ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप-जाल में न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है, जैसा कि रवीन्द्रनाथ या अन्य रहस्यवादियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रवृत्ति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालिदास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमें नहीं है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ढूंढा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम, कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनों प्रकार के चित्रण किए हैं, बहुत से चित्रण उनकी अपनी उद्भावनाओं से अनुप्राणित हैं, बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि की रुचि के कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि विद्यापति के ये प्रयोग बिल्कुल मौलिक हैं, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें किसी प्रसिद्ध रूढ़ि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नहीं है। मध्यकालीन काव्य में मौलिकता ढूंढने का यह तरीका ठीक नहीं है। क्योंकि मौलिकता वस्तुओं के लिए नए उपमानों को ढूँढ़ने में नहीं बल्कि पुराने उपमानों को नये तरीके से कहने में दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती है। मुख और आँख के एकत्र चित्रण में मुख को कमल और आँखों को भ्रमर कहते हैं। किन्तु यह दृश्य का बारीक चित्रण नहीं कहा जा सकता। विद्यापति पहले तो मुख की छवि को अभिधार्थ में ही व्यक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। साधारण से साधारण शब्द जैसे नगीने की तरह जड़े होते हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर आँखें—विद्यापति कहते हैं:—

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौंह सुरेखलि आँखि

मुंह तो 'सहज' सुन्दर है। सौन्दर्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता है। यह विशेषण विद्यापति ही दे सकते हैं। और आँखें जो भौंहों से सुरेखित हैं। 'भौंह-सुरेखलि' आँख का प्रयोग ध्यान देने लायक है। विद्यापति को अब भी सन्तोष नहीं हुआ। मुख को कमल की तरह कह सकते हैं, और आँखों को भ्रमरों की तरह। किन्तु क्या 'भ्रमर' कह देने मात्र से चंचल बरौनियों वाली चपल आँखों की विशेषता का पूरा बोध हो जाता है? शायद नहीं। इसलिए विद्यापति ने लिखा है:—

पंकज मधु पिवि मधुकर रे
उड़ए पसारलि पाँखि

चंचल भ्रमर स्वभाव वश और आशंका से (यौवन के आगमन पर भय-आशंका का संचारी स्वतः उदित होता है) इस मधु को पीते हुए भी उड़ जाने की मुद्रा में पांखों को फैलाये हुए हैं—युवती की आँखें जैसे सुदूर गगन में उड़ जाना चाहती हैं। विद्यापति इस रूप के स्वभाव की व्यंजना भी अत्यन्त हलके ढंग से किन्तु अतीव गहन व्यंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं:—

तर्तहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारी

जैसे आशा लुब्ध भिखारी कृपण का पीछा नहीं छोड़ता, वैसे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे रूप-लुब्ध आँखें दौड़ गईं। कृपण सम्बोधन में नारी के रूप-शील की ओर संकेत है।

उपमानों का प्रयोग विद्यापति के काव्य में अत्यन्त रूढ़ ढंग से हुआ है। किन्तु कवि को जैसे इन उपमानों में आसक्ति नहीं है चूंकि वह जिस वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं, उसके लिए इन उपमानों का प्रयोग होता आ रहा है, इसलिए उन्होंने भी किया, किन्तु उनके मन में निरन्तर यह शंका है कि शायद माध्यम उपयुक्त नहीं है, वह रूप इससे ऊपर की वस्तु है, इसे इन शृंखलाओं में बांधना ठीक नहीं, बांधने का प्रयत्न भी किया जाये तो भी क्या यह अनिर्वचनीय रूप इन रूढ़ियों में बांधा जा सकता है। इसीलिए प्रायः वे विरोधाभासों या प्रतीपों का प्रयोग करते हैं। उनका एक बहुत प्रसिद्ध गीत नीचे उद्धृत किया जाता है:—

तोहर वदन सम चांद हो अथि नहि
जइयो जतन विहि देल
कए बेरि काटि बनाओल नव कय
तइयो तुलित नहि भेल
लोचन तूल कमल नहि भय सक
से जग के नहि जाने
से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इतना सब होते हुए भी उन्होंने पुराने उपमान का स्वच्छन्द व्यवहार भी किया है। विद्यापति के इन वर्णनों को समझने के लिए कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अप्रस्तुतों की पुरानी परिपाटी को समझना आवश्यक हो जाता है।[1] नखशिख वर्णन में उन्होंने सर्वत्र इसी पिटी हुई परिपाटी को धारण ली है। किन्तु विद्यापति ने इन रूढ़ उपमानों को भी नये ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने द्रव्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतों के निर्वाचन में अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए शरीर के वर्णन के लिए चन्द्रकला, शिरीषमाला, विद्युल्लता, तारा, कनकलता, दीपशिखा आदि प्रयोग साहित्य-शास्त्र में रूढ़ माने गये हैं।[2] विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्हीं का प्रयोग किया है:—

(१) मेघमाल संग तड़ित लता जनि (पदावली,[3] पद २८)
(२) जनि विजुरी रेह (पद २६)
(३) कनक लता अरविन्दा (पद १६)
(४) कनक लता अवलम्वन ऊअल (पद १८)

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्रायः सर्वत्र उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया है। केशों की उपमा शास्त्रकारों की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी, चामर, यमुना-तरंग, नील-मणि, आकाश, धूप, धूप का धुँआ इत्यादि से दी जानी चाहिये।[4]

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा (पद २३)
(२) केस निगारइत वह जह जल धारा
चामर गरए जनि मोतिय हारा (पद २५)
(३) चिकुर गरये जल धारा
मेह वरिस जनु मोतिय हारा (पद २४)
(४) अलकहि तीतल तैं अति शोभा
अलिकुल कमल वेढ़ल मधुलोभा (पद २५)
(५) तापर सापिधि झापल मोर (पद २६)

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से दी जाती है। विद्यापति ने आँखों की उपमा प्रायः उपर्युक्त सभी

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका के परिशिष्ट में कवि प्रसिद्धियों पर विचार किया गया है।
२. अलंकार शेखर १३/१।
३. पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी—सम्पादित।
४. कवि कल्पलता।

उपमानों से दी है।[1] आँखों की उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों से भी दी जाती है।[2]

(१) कुटिल कटाख लाट पडि गेल
मधुकर डम्बर अम्बर लेल (पद ३०)
(२) लोचन तूल कमल नहि
(३) तापर चंचल खंजन जोर (पद ३६)
(४) वादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिवए धाओल
जानि के चाँद चकोर (पद ३८)
(५) सावन घन सम झर दु नयान (पद ४०)
(६) नीर निरंजन लोचन राता
सिंदुर मंडित जनु पंकज पाता (पद २५)

स्नान के वाद लाल हुई आँखों की उपमा केवल कमल-पत्र से नहीं दी। वैसे कमल-पत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र जो सिन्दूर मडित हो ऐसा कहा। क्योंकि आँखें निरन्तर लाल नहीं रहतीं। श्वेत आँखें सद्यःस्नान के वाद लाल हैं। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शब्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य और सौन्दर्य का भी संकेत दे दिया है।

वराह मिहिर ने बन्धु जीव के समान लाल और अमांसल अधर को प्रशस्त वताया है। इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरों के लिए प्रवाल, बिम्बफल, वंधूक पुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।[3]

(१) विमल विम्ब फल जुगल विकास (पद ३६)
(२) अधर विम्ब अधजाई (पद १०)
(३) अधर विम्ब सन दसन दाडिम विजु (पद १२)

अधरों के वारे में विद्यापति वहुत जागरूक नहीं हैं। वे तो मुख का वर्णन करने के वाद अधर, चिवुक और कंठ की वात छोड़कर कुचों के वारे में वर्णन करने लगते हैं। कुचों की उपमा देने में तो विद्यापति वेजोड़ हैं। जाने कितनी प्रकार की उपमायें खटाखट उपस्थित होती चली आती हैं। यह उनके नखशिख वर्णन का सवसे आकर्षक और सवसे अधिक निर्वल पक्ष है। इसके वर्णन में उन्होंने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलंकारिकों ने कुछ रूढ़ उपमान माने हैं जैसे युगफल, कमल, कमल-कोरक, विल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़,

---

१. अलंकार शेखर १३/६।
२. वही १३/१५।
३. वही १३/७।

घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्र, छोलंग आदि।[1] वराह मिहिर ने वर्तुलाकृत घन, अविपम और कठिन उरोजों की प्रशंसा की है।[2]

(१) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता (पद १०)

(२) कुच जुग परसि चिकुर पुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जति सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद विहुन सब तारा (पद ११)

(३) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइल (पद १२)

(४) जुगल सैल सम हिमकर देखल (पद १३)

(५) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
ढारत सुरसरि धारा (पद १८)

(६) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु (पद २०)

(७) कुच युग चारु चकेवा (पद २३)

(८) माजि धएल अनु कनक मुकूरे
तेइ उदसल कुच जोरा
पलटि बैठाओल कनक कटोरा (पद २४)

(९) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक बेल जनि पड़ गेल हीमा (पद २५)

(१०) कुच जुग अरविन्द (पद २६)

(११) कनक कमल हेरि काहे न लोभि (पद ३०)

(१२) कुच कुम्भे कहि गेल अप्प आस (पद ३०)

(१३) अम्बर विघटु अकामिक कामिनी
कर कुच झांपु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुई पंकज दस चन्दा (पद ३१)

यही नहीं, विद्यापति कुचों के विकास को संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओं की करामात दिखाते हैं। ऐसे स्थलों पर रूढ़ उपमाओं से उन्होंने आकार की दृष्टि से विकास-सूचक स्थितियों की कल्पना की है।

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग

---

१. अलंकार शेखर पृ० ४९।
२. वृहद संहिता ७०/६।

से पुन भये गेल बीजक पोर
अब कुच बाढ़ल सिरफल जोर

बेर, नारंगी, बीजपूर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आँचल से अनाच्छादित कुचों के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद् के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें :—

उरहि अंचल झाँपि चंचल
आधि पयोधर हेरू
पौन पराभव सरद घन जनि
बेकत कएल सुमेरू

संस्कृत आलंकारिकों ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय में बताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है। इसके लिए रसातल कूप, आवर्त, झील या ह्रद आदि की उपमायें चलती हैं।[1] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियों का वर्णन भी कवि लोग करते हैं। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को वलि कहते हैं, त्रिवली का वर्णन कवि लोग करते हैं। इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन में सुई की नोंक शून्य, अणु, सिंह की कटि आदि उपमान गृहीत होते हैं। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं—

(१) कनक कदलि पर सिंह समारल (पद १२)

(२) गरू नितम्ब भर चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई
भागी जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरूझाई (पद १३)

(३) नाभि विवर संय लोम लता वलि (पद १४)

(४) केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सगनि गे
गुन पाओल अवधारि (पद १६)

जाँघों की उपमा कनक-कदली से बहुत रूढ़ हो गई है। चरण-तल-कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते हैं। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या ललाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणों के जावक या महावर के वर्णन में उषा की लाली, अग्नि

---

१. अलंकार शेखर १३/१०-११।

शिखा, पलाश पुष्प आदि की उपमायें दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्हीं उपमाओं का सहारा लिया है :—

(१) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने (पद १२)

(२) विपरीत कनक कदलि तर सोभित
थल-पंकज के रूप दे (पद १३)

(३) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि (पद १६)

(४) चरन जावक हृदय पावक (पद ३२)

(५) तखन मदन सर पूरए रे
गति गंजए गजराज (पद ३२)

(६) जहाँ-जहाँ पग धरई
तहिं-तहिं सरोरूह भरई (पद २५)

(७) कमल जुगल पर चाँद का माला
(पैर और नख ज्योति) (पद ३६)

विद्यापति के नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्रायः प्रसिद्ध रूढ़ियों या कवि-समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है, इसीलिए उनके वर्णनों में और रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक-चित्रणों में साम्य नहीं है। उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन की विवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ख्याल रखना चाहिये कि यह वर्णन चौदहवीं शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये हैं, जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नहीं है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्रायः अत्यन्त आकर्षक और वर्ण्य वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली होती हैं। ऊपर के उदाहरणों में यदा-कदा मैंने संकेत दिये हैं। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बंगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि 'भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यपति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह के अश्रुओं से सिक्त

होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।'[1]

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किए? विनयकुमार सरकार ने कुमार स्वामी की मान्यताओं का कि राधा कृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि 'राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मांसल चित्रण, तथा शृंगार के कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमार स्वामी ने अपने को भ्रम में भुलाया है।[2]

सूरदास के चित्रणों को जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्रायः विद्यापति की शैली के सदृश या सम्भवतः उसी से प्रभावित होकर नख-शिख-वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ि परिपाटी में लिखे हुए हैं, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुतः यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्ति पूर्ण काव्य लिखते आ रहे हैं। नखशिख-वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि 'वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज़ समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वहीं उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना आत्म-निवेदन में अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।"

मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिलसिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो बिहारी आदि की तरह थकती है और न सूर की तरह समर्पण कर देती है। विद्यापति कृष्ण या राधा के सौन्दर्य की अतिशयता को अनिर्वचनीय कहकर उस पर सूर की तरह बलि-

१. बंग-भाषा ओ साहित्य, पृ० २२४।
2. Love in Hindu literature 1916. Page 20-21.

वलि नहीं जाते, वल्कि इस सौन्दर्य को निरन्तर नाना रूपों में निरखते रहने की इच्छा से ही इसकी अर्चना किया करते हैं। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। वहुत से आलोचक नख-शिख-वर्णन को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं है। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का—स्थूल दृष्टि से कहें तो नखशिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं वल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिए किया है; प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों में नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं, श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा है कि विद्यापति रूप के पार्थिव वन्धन में वँधे हुए कवि नहीं हैं, मांसल रूप के वन्धन में वँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की वात न करते। वस्तुतः वे इस तमाम खण्डित रूप तत्वों के वीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।

प्रकृति चित्रण—प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का वहुत वड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तन।

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढ़िग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लिए वना वनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे वना देना रह गया। काव्य-मीमांसा में काल-विभाग के अन्तर्गत इस प्रकार का पूरा-विवरण एकत्र मिल जाता है। षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग-शृंगार का काव्य है जवकि वारहमासा विरह या विप्रलम्भ का। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण वारहमासे की पद्धति पर किया है:—

मोर पिया सखि गेलि दुर देस
जौवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रह्यौं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करव माय तहाँ जोगिनी वेस

होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।"[1]

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किए? विनयकुमार सरकार ने कुमार स्वामी की मान्यताओं का कि राधा कृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि "राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मांसल चित्रण, तथा शृंगार के कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमार स्वामी ने अपने को भ्रम में भुलाया है।[2]

सूरदास के चित्रणों को जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्रायः विद्यापति की शैली के सदृश या सम्भवतः उसी से प्रभावित होकर नख-शिख-वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ि परिपाटी में लिखे हुए हैं, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुतः यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्ति पूर्ण काव्य लिखते आ रहे हैं। नखशिख-वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि 'वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वहीं उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना आत्म-निवेदन में अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।"

मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिलसिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो बिहारी आदि की तरह थकती है और न सूर की तरह समर्पण कर देती है। विद्यापति कृष्ण या राधा के सौन्दर्य की अतिशयता को अनिर्वचनीय कहकर उस पर सूर की तरह बलि-

१. बंग-भाषा ओ साहित्य, पृ० २२४।
2. Love in Hindu literature 1916. Page 20-21.

वलि नहीं जाते, वल्कि इस सौन्दर्य को निरन्तर नाना रूपों में निरखते रहने की इच्छा से ही इसकी अर्चना किया करते हैं। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। बहुत से आलोचक नख-शिख-वर्णन को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं है। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का—स्थूल दृष्टि से कहें तो नखशिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं वल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिए किया है; प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं, श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा है कि विद्यापति रूप के पार्थिव वन्धन में वँधे हुए कवि नहीं हैं, मांसल रूप के वन्धन में वँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की वात न करते। वस्तुतः वे इस तमाम खण्डित रूप तत्वों के बीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्त्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।

प्रकृति चित्रण—प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत वड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तन।

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढ़िग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लिए वना वनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे वना देना रह गया। काव्य-मीमांसा में काल-विभाग के अन्तर्गत इस प्रकार का पूरा-विवरण एकत्र मिल जाता है। षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग-शृंगार का काव्य है जबकि वारहमासा विरह या विप्रलम्भ का। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण वारहमासे की पद्धति पर किया है:—

मोर पिया सखि गेलि दुर देस
जौवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रह्यों निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करव माय तहाँ जोगिनी वेस

आषाढ़ के नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दुःख की काली छाया निरन्तर घनी होती जा रही है और पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश को सूनी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यन्त कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासा में अंकित किया है।[1] 'वसन्त वर्णन में अभिव्यक्त उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान दिखाई पड़ता है। वसन्त राजा की भाँति वनस्थली में प्रवेश करता है, राजा के सम्मान में नवोत्पन्न पत्तों ने सिंहासन स्थापित किया, काँचन कुसुमों ने माथे पर छत्र रखा, आम्र-मुकुल शिरोभूषण हुआ, पक्षी कलकल ध्वनि में आशीर्वाद का उच्चारण कर रहे हैं, कुसुम पराग श्वेत चँदोवे की तरह छा गया। तरु ने कुन्दलता की पताकाएँ फहरा दीं। वसन्त के वर्णन में विद्यापति ने एक आत्मीयता और निकटता का भाव संयोजित कर दिया है। वसन्त उनके लिए जैसे विदेश से लौटा हुआ कोई परिजन है, स्वजन जिसके स्वागत में लाज-संकोच की आवश्यकता नहीं। प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है, मुख्य है उसका उद्दीपन के रूप में चित्रण ही। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ़ कवि-व्यापार है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु इस परिपाटी को मानने वाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदनशीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है।

यथार्थ चेतना

विद्यापति की रचनाओं में यथार्थ के रूपों का भी बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। तत्कालीन कुरीतियों आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखों के सामने होने वाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती हैं; किन्तु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर या उसके पति पर व्यंग्य नहीं किया है, वे समाज की उन रूढ़ियों पर व्यंग्य करते हैं। यथार्थ की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कूटनी नारी पर लिखी कविता में हुई है। यह सत्य है कि उस कविता में आर्थिक वैषम्य या दीनता का ज़िक्र वैसा नहीं है जैसाकि आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओं में होता है। यह संभव नहीं था क्योंकि चौदहवीं शताब्दी के एक कवि को न तो आजकल का यह बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था न उसके सामने वर्ग-संघर्ष की वर्तमान परिस्थितियाँ ही स्पष्ट थीं। इसी कारण इस कविता में दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरी तरह से। काम-कला के प्रचार ने जिस प्रकार छिछले प्रणय का प्रचार किया उसमें कूटनी नारी या शिष्ट शब्दों में दूती का महत्त्व था। यह दूती केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के स्वाभाविक प्रेम-व्यापार में ही सहायता नहीं देती थी, बल्कि नागर-

१. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।

जनों की काम-वासना की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के जाल फेंककर भोली-भाली मूर्ख लड़कियों को फंसाने का भी कार्य करती थीं। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन-काल को इस प्रकार के छल-छद्म पूर्ण प्रेम-व्यापार या व्यवसाय में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति या निराशा से भर उठती है।

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होंने सारे अभिजात प्रयोगों के बावजूद कई स्थानों पर घोर ग्राम्य या लोक प्रसूत प्रयोग किये हैं। ऐसे प्रयोग से कवि की पैठ और बात-चीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहाविरे और कहावतों के प्रयोग में विद्यापति ने कमाल कर दिया है।

विद्यापति के गीत

विद्यापति के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है, संगीतात्मकता। संगीत गीतों में दो प्रकार से संलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली में गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि संगीत की मूलभूत विशेषता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतों में अवस्थिति। स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि बहुत से गीत शास्त्रीय संगीत में गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आबद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं। किन्तु बहुत से गीत ऐसे हैं जिन्हें असंगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहराकर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नहीं कहता क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, वैसे अपने बहुत से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते हैं।

लेकिन बहुत से गीत ऐसे हैं जो संगीत के तत्त्वों से स्पष्टतया बाधित न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे गीत मन में निहित व्यक्त भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए हैं। इन गीतों में जैसे मानव मन में परम्परा, संस्कार और सुख-दुःख के हजारों क्षणों में प्राप्त अनुभूतियों की लहर की कम्पन है, ये गीत-मानव मन में अभिलषित भाव के साथ इतना शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि जैसे ये हमारे मन की ही उपज हों, इसी प्रकार के गीत संगीत बद्ध परिपाटी से अनुचालित न होकर मनुष्य के मन में अवस्थित शाश्वत से प्रेरित होते हैं। विद्यापति के गीतों में लोक-गीतों की केवल धुन ही नहीं उनकी सहजता और गम्भीरतम अनुभूतियों की व्यंजना हुई है, इसी कारण ये गीत बहुत अधिक संवेद्य हो पाये हैं। विद्यापति जैसे दरबारी कवि के लिए लोक गीतों की ओर आकृष्ट होना ही बड़ी बात थी।

विद्यापति संभवतः अपने काल के इस तरह के अद्वितीय कवि थे जिन्होंने गीत को, उसकी स्वाभाविक प्रकृति को पहचान कर एक अभिनव पूर्णता और उत्कर्षता प्रदान की। सर और मीरा भी संगीतात्मकता को अपने गीतों में संजोते हैं, पर विद्यापति की सहजता इनमें नहीं है। कारण विद्यापति की अद्भुत लोक-जीवन सम्पृक्तता है जो उन्हें अपने युग के अन्य गीतकारों से अलग करती है। विद्यापति अच्छे संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं, पर उन पर ग्वालियर घराने के प्राचीन संगीत का प्रभाव नहीं है, जैसा सूर और मीरा दोनों पर जाने-अनजाने पड़ा है। इसी कारण विद्यापति में लय और तर्ज़ की मौलिकता तो है ही, एक अछूती भाव-संवेदना को व्यक्त करने में समर्थ ग्राम्यता या नैसर्गिता भी दिखाई पड़ती है।

४

कबीर-बीजक

डा० गोविन्द त्रिगुणायत

बीजक सन्त साहित्य की अन्यतम विभूति है। वह कबीर पंथ का पूज्यतम ग्रंथ है। इसमें प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धान्त जन-जीवन की आध्यात्मिक प्रेरणाओं का मूल स्रोत है। यह कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन का वह ज्योतिलिंग है जिसके प्रकाश में मुरझाई हुई मानवता नवचेतना का अनुभव करती है। इस छोटे से ग्रंथ में भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के, उसकी सांस्कृतिक चेतना के, उसके सामाजिक आदर्शों के जो अमर रत्न संगुंफित हैं वे आज भी भारतीय जनता में जीवन ज्योति जगाए हुए हैं।

सर्वप्रथम बीजक का अभिधान विचारणीय है। बीजक शब्द संस्कृत तथा लोक-भाषा दोनों में पाया जाता है। संस्कृत में पुल्लिङ्ग बीजक शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त पाया जाता है—वृक्ष विशेष के अर्थ में, नीबू के अर्थ में तथा जन्म के समय शिशु के हाथों की मुद्रा विशेष के अर्थ में। नपुंसकलिंग बीजक शब्द बीज का पर्यायवाची है। लोकभाषा में बीजक का अर्थ व्यापारिक लेखा भी होता है। बीजक उस हस्तलिखित लेख को भी कहते हैं जिसमें किसी गुप्त धन का निर्देश रहता है। कबीर ने सम्भवतः अन्तिम अर्थ ही दृष्टि में रखकर अपने आध्यात्मिक ग्रंथ को बीजक का अभिधान दिया था। ३७वीं रमैनी में उन्होंने इस तथ्य की ओर संकेत भी किया है :—

"बीजक बित्त बतावई जो वित गुप्ता होय।
(ऐसे) सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥"

अर्थात् गाड़े हुए गुप्त धन के सांकेतिक लेख को बीजक कहते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में आत्मा के गूढ़ रहस्यों का उल्लेख किया गया है। इसलिए इसे बीजक का अभिधान दिया गया है। जीव से यहाँ महात्मा जी का अभिप्राय आत्म-तत्त्व है। उपनिषदों में जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः, तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्, अंगुष्ठमात्रो रवि तुल्य रूपो, नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः इत्यादि।

बीजक मेरी दृष्टि में एक प्रकरण ग्रंथ है। प्रकरण ग्रंथ[1] का रचना क्रम बड़ा सुव्यवस्थित होता है। उसमें अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चार तत्व जिन्हें अनुबंध चतुष्टय कहते हैं, पाए जाते हैं। ये प्रबन्ध को एक व्यवस्थित रूप में बाँधे रहते हैं। वैराग्यादि-साधन-सम्पत्ति-सम्पन्न साधु अधिकारी है। आत्मोपलब्धि इसका विषय है। बोध्य बोधक भावरूप सम्बन्ध है और प्रयोजन है समस्त लौकिक अर्थों से निवृत्ति लाभकर आत्मोपलब्धि करना। संक्षेप में बीजक के अनुबन्ध चतुष्टय यही हैं। 'अन्तर् ज्योति' वाले पद में प्रत्येक चैतन्य अन्तरात्म स्वरूप का स्मरण किया गया है। आत्मतत्त्व के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन रूप-विषय का संकेत करते हुए वस्तु-निर्देशात्मक रूप मंगलाचरण का भी विधान किया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ में एक व्यवस्थित चिंतना पद्धति का अनुष्ठान मिलता है। बीजक में किसी अध्याय पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है। उसमें विविध कोटि के छन्दों में लिखी गई रचनाएं क्रमशः संकलित की गई हैं। संक्षेप में बीजक के प्रमुख अंग हैं—(१) आदि मंगल—इसे हम मंगलाचरण भी कह सकते हैं। (२) रमैनियाँ—इनमें गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इन रमैनियों में पहले तो अनिश्चित संख्या में चौपाइयाँ रहती हैं, अन्त में साखी रहती है। यहाँ पर थोड़ा सा विचार रमैनी शब्द पर कर लेना चाहते हैं। इस शब्द को रामणी शब्द से व्युत्पन्न बताया जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने रमैनी शब्द की व्युत्पत्ति रामायण से अनुमित की है। हमारी समझ में रमैनी शब्द लोकभाषा का है। और उस छन्द के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है जिनमें उन गूढ़ दार्शनिक तथ्यों का कथन होता था जिसमें साधक स्वयमेव रमता था। साधुओं के मन को अपने में रमा लेने की क्षमता रखने वाले छन्द को रमैनी कहा गया है। कबीरदास तुलसी से पहले हुए थे। उनके समय तक तुलसी कृत रामायण की रचना नहीं हो पाई थी, जिसके आधार पर चौपाई और दोहों

---

१. प्रकरण ग्रंथ का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया गया है:—

शास्त्रैकदेशसंबद्धं शास्त्र कार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथभेदं विपश्चिताः ॥

वेदान्तसार—हिरयन्ना पृ० २०

अर्थात् शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादित करने वाले ग्रंथ को प्रकरण ग्रंथ कहते हैं।

इस प्रकरण ग्रंथ में अनुवन्ध चतुष्टय अवश्य पाये जाते हैं। इस परम्परा का संकेत मीमांसा श्लोकवार्तिक में निम्न प्रकार से किया गया है:—

सिद्धार्थ-सिद्ध-सम्बन्धं श्रोतुः श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

अर्थात् विषय सम्बन्ध आदि का ज्ञान होने पर अधिकारी श्रोता व्यक्ति किसी शास्त्र के श्रवण आदि में प्रवृत्त होता है। इसलिए ग्रंथ के आरम्भ में विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी का उल्लेख रहता है।

की परम्परा में लिखे गए छन्दों का रामायणीय रमैनी अभियान सम्भव होगा। वास्तव में दोहा और चौपाई की परम्परा तुलसी से भी प्राचीन है। और इस कोटि के छन्दों में मन को तन्मय करने की विशेष क्षमता पाई जाती है इसलिए इन छन्दों को लोक ने रमैनी की संज्ञा दी है। इनका प्रचार कबीर से भी पहले था इसका संकेत तथा हमारे मत का समर्थन चौथी रमैनी की चौथी पंक्ति से होता है :—

"अद्बुद रूपजात कै बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी ॥"

इन रमैनियों की संख्या बीजक में ८४ है।

रमैनियों के बाद बीजक में सबद संकलित हैं। इन 'सबदों' को कहीं पद और कहीं बानी भी कहा गया है। यह 'सबद' गेय हैं। इन रचनाओं में स्वानुभूति मूलक सत्य खण्डों की प्रतिष्ठा की गई है।

बीजक के तृतीय अंग में चौंतीसी हैं। इस प्रकरण में ऊँकारादि चौंतीस अक्षरों के परस्पर सम्वाद रूप से तत्त्वोपदेश किया गया है। सूचना-स्वर और व्यंजनों से पृथक् होते हुए भी अक्षरान्तर्गत होने के कारण ऊँकार का प्रथमतः उल्लेख किया गया है। कैथी में ऊँकार का विन्यास इस रूप से किया जाता है। बीजक की प्राचीन प्रतियों में प्रायः इसी रूप में ऊँ का उल्लेख मिलता है।

चौंतीसी के बाद विप्रमतीसी का संकलन किया गया है। जैसा कि इस प्रकरण से ही प्रकट है इसमें ३० पंक्तियों में ब्राह्मणों के दुर्बुद्धि मूलक कर्मों का भण्डाफोड़ किया गया है। यह अंग खण्डनात्मक है। इसमें चौपाइयों की ३० अर्द्धालियाँ हैं। इसके अंत में एक साखी है। जिसमें ब्राह्मणों को न समझने पर बल प्रयोग कर धक्का देने का आदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि कबीर मानव जाति को साम और दण्ड दोनों नीतियों से सन्मार्ग पर लाना चाहते थे।

विप्रमतीसी के बाद कहरा नामक छन्दों का संकलन किया गया है। बीजक में केवल १२ कहरा संग्रहीत हैं। कहरे में ३० मात्राएँ होती हैं। १६ एवं १४ पर क्रमशः विराम रहता है। छन्द के मात्रिक होते हुए भी प्रधानता लय को दी गई है। लय के अनुरूप मात्राओं में परिवर्तन भी कर दिया गया है।

कहरा के बाद वसन्त शीर्षक काव्यरूप का संकलन है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार वसन्त लोकगीत फाग का ही रूपान्तर है। मेरी समझ में इस प्रकरण में वसन्त के रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति से सदा वसन्त रूप आत्म-तत्त्व की गूढ़ मीमांसा की गई है, इनका सम्बन्ध फाग नामक लोकगीतों से अधिक नहीं है। इस शीर्षक से १२ छन्द संकलित किए गए हैं।

चाँचर एक प्रकार का होली का खेल होता है। इस खेल में स्त्री और पुरुष दो दलों में विभक्त हो जाते हैं। दोनों दल पिचकारियों, डोलचियों से रंग खेलते हैं। यह खेल हार-जीत का खेल है। इस खेल के रूपक से बीजक में दो चाँचर-संकलित किए गए हैं। चाँचर में हरिपद, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। चाँचर

कोई स्वयं छन्द विशेष नहीं है। पहले चाँचर में २५ पंक्तियाँ हैं और दूसरे में २८ पंक्तियाँ हैं।

वेली भी छन्द विशेष है। इस बीजक में केवल दो वेलियाँ हैं। इनमें से एक में तीस पंक्तियाँ हैं और दूसरे में १६ पंक्तियाँ हैं। यह भी कोई लोक छन्द है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में 'हो रमैया राम' की दस मात्राओं की टेक है।

विरहुली नामक छन्द भी लोकगीत का ही एक रूप है। इसका प्रचार संभवतः पूरब में ही था। यह पूर्वी विरहा से मिलता-जुलता कोई काव्य-रूप रहा होगा जिसका प्रचार अब बहुत कम मिलता है। विचारदास ने उसे एक गारुड-मंत्र का प्राकृत रूप कहा है। हो सकता है कि विरहुलि कोई लोकगीत हो जिसमें गारुड़-मंत्रों का पाठ किया जाता हो। निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिंडोला नाम की भी तीन रचनाएँ बीजक में संकलित हैं। साखियाँ अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक हैं। साखी का अर्थ है साक्षी। जो स्वानुभूति साधक को स्वयमेव अनुभूत होती है और फिर वह उसे दोहे की शैली में अभिव्यक्त कर देता है, उस रचना को साखी कहते हैं। बीजक में साखी का स्वरूप एवं निरूपण निम्न प्रकार से किया गया है :—

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देख मन माँहि।
विनु साखी संसार का झगड़ा छूटत नाँहि॥

साखियाँ प्रायः दोहा नामक छन्द में बांधी गई हैं। इसके अतिरिक्त उनमें सोरठा, हरिपद, गीता आदि अन्य छन्दों का प्रयोग भी किया गया है। बीजक में ३५३ साखियाँ संग्रहीत हैं।

बीजक के वर्ण्य-विषय की उपर्युक्त विवेचना से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं :—

(१) बीजक में वस्तु विन्यास छन्दों या काव्य-रूपों के शीर्षक से किया गया है। वर्ण्य-विषय के आधार पर नहीं है। वह राग-रागनियों के आधार पर भी नहीं किया गया है।

(२) बीजक में संकलित काव्य-रूप एवं छन्द लोक-भाषा के अधिक हैं, साहित्यिक भाषा के कम।

(३) बीजक में वर्ण्य-भेद छन्दों के भेद पर ही आश्रित है।

(४) रमैनियों का विन्यास भी पदों की संख्या के आधार पर न होकर वर्ण्य-वस्तु के आधार पर ही किया जान पड़ता है।

आज बीजक के कई संस्करण उपलब्ध हैं। प्रमुख रूप से ४ संस्करण विशेष उल्लेखनीय हैं। एक संस्करण राजा विश्वनाथ का है। इसमें आदि मंगल के अतिरिक्त ८४ रमैनियां, १२ कहरा, १२ वसन्त, एक चौंतीसी, ३ हिंडोला, १ विरहुली,

२८३ साखियाँ हैं। दूसरा संस्करण १८९० का प्रेमचन्द का है। इसमें ८४ रमैनियाँ, ११३ सबद, १ चौंतीसी, १ विप्रमतीसी, २ चाँचर, १ बिरहुली, २ बेली, ३ हिंडोला १२ कहरा, १२ वसन्त, ३६४ साखी, ६० परिशिष्ट साखियाँ हैं। तीसरा संस्करण १९०५ का पूरनदास का है। उसमें ८४ रमैनियाँ, ११५ सबद, १ चौंतीसी, २ विप्रमतीसी, १२ कहरा, १२ वसन्त, २ चाँचर, २ बेली, १ बिरहुली, ३ हिंडोला, ३५३ साखियाँ हैं। चौथा संस्करण १९११ का अहमदशाह का है। उसमें आदि मंगल, ११५ सबद, १ चौंतीसी, १ विप्रमतीसी, १२ कहरा, १२ वसन्त, २ चाँचर, दो बेली, २ बिरहुली, ३ हिंडोला, और ४४५ साखियाँ हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई संस्करण उपलब्ध हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार बीजक के प्रमुख संस्करण दो हैं। कहते हैं कि कबीरदास का भगवानदास नामक एक शिष्य बीजक की प्रति धनौती ले गया। वहाँ वह बहुत दिनों तक महन्तों के साथ रहा। जब भगवानदास हिमालय की किसी गुफा में बीजक को हाथ में लेकर समाधि मग्न था, उसी समय किसी सिद्ध ने बीजक को उड़ा देना चाहा। सद्‌गुरु की कृपा से वह उसे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करने में समर्थ न हो सका, किन्तु उसने उसका कुछ भाग अवश्य उड़ा दिया। बाद में भक्तों ने उस भाग को पूर्ण करने की चेष्टा की। पाठ भेद का यही कारण है।

बीजक के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती और प्रचलित है। कहते हैं कि कबीर के शिष्य जग्गोदास और भग्गोदास दो सहोदर थे। देह त्याग के समय उन्होंने बीजक उनकी माँ को सौंप दिया। कबीर के सत्यलोक कूच करने के बाद दोनों भाइयों में झगड़ा होने लगा। तब माता ने दोनों को ही बीजक का अधिकार सौंप दिया। केवल अन्तर इतना था कि एक का बीजक 'जीवरूप एक अन्तरबासा' से और दूसरे का 'अन्तर्ज्योति समुहे एक नारी' से प्रारम्भ होता था। इस प्रकार बीजक के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियां प्रचलित हैं जिन्हें विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

उपर्युक्त संस्करणों के वैविध्य और वैभिन्य को देखकर बीजक की प्रामाणिकता की समस्या विचारणीय हो जाती है। बहुत से विद्वान् उसे प्रामाणिक मानते हैं और कुछ अप्रामाणिक। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विश्व भारती पत्रिका में तथा कीथ साहब ने अपने ग्रंथ Kabir and his followers में बीजक के विभिन्न संस्करणों और उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया है। उन्होंने कुछ अंश प्रामाणिक और कुछ अप्रामाणिक माना है। मैंने अपनी 'कबीर की विचारधारा' में बीजक की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी है। मेरी अपनी धारणा है कि बीजक में कुछ रचनाएं कबीर की संकलित हैं और कुछ परवर्ती भक्तों की। कबीर ने सत्यलोक कूच करते समय अपने परमप्रिय शिष्यों को अपने सम्पूर्ण जीवन की रचनाओं में से कुछ गूढ़ आध्यात्मिक रचनाओं को ही गुप्त निधि के रूप में प्रदान किया होगा। इसीलिए उसे बीजक की संज्ञा दी। बाद-

में उनके शिष्यों ने कबीर के नाम पर उसमें कुछ अपनी रचनाएं भी जोड़ दी होंगी किन्तु इतना निर्विवाद है कि बीजक में कबीर की विचारधारा का नवनीत संचित किया गया है। चाहे वह कबीर के आदेश से हुआ हो या भक्तों ने अपने मन से किया हो।

बीजक के विभिन्न संस्करणों पर अब तक अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं। कुछ प्रमुख टीकाएं इस प्रकार हैं :—

(१) रींवा के राजा विश्वनाथ सिंह ने बीजक पर पाखंड-खंडिनी नाम की सुन्दर टीका लिखी थी।

(२) प्रेमचन्द नामक मिशनरी ने १८९० में एक दूसरी टीका प्रस्तुत की। यह अंग्रेजी अनुवाद के रूप में थी। इसका पाठ रींवा नरेश के बीजक के पाठ से भिन्न है।

(३) १९०५ में सन्त पूरनदास ने भी बीजक पर विजया टीका प्रस्तुत की। इस बीजक में अनेक पाठान्तर मिलते हैं। यह गद्य और पद्य दोनों में है।

(४) अहमदशाह ने भी बीजक की एक टीका लिखी थी। यह टीका भी अंग्रेजी अनुवाद के रूप में थी।

(५) सं० १९७१ में शिवव्रत लाल ने अहमदशाह के पाठ को प्रामाणिक मान कर उस पर उर्दू में एक टीका लिखी।

(६) हनुमानदास की शिशु-बोधनी टीका की रचना १९८३ में हुई थी। इस भाषा टीका के अतिरिक्त उन्होंने एक संस्कृत टीका भी लिखी थी जिसका नाम था 'स्वानुभूति व्याख्या।'

(७) विचारदास की टीका—कबीर पंथी साधु विचारदास ने 'विरला टीका और टिप्पणी' शीर्षक से बीजक की व्याख्या प्रकाशित की है। विचारदास जी ने बीजक के मूल पाठ को खोजने का सर्वप्रथम प्रयास किया। उन्होंने अनेक प्रतियों का अधिक से अधिक शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

(८) मेंहीदास की टीका—सं० १९७२ में सन्त मेंहीदास जी ने बीजक पर अपनी टीका लिखी। यह टीका भी बड़ी पांडित्यपूर्ण है।

इनके अतिरिक्त बीजक पर और भी छोटी-मोटी कई टीकाएं लिखी गई हैं। इनमें प्रागदास लिखित टीकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार बीजक पर एक विस्तृत टीका साहित्य उपलब्ध है।

अब हम बीजक में वर्णित कबीर के सिद्धान्त और साधना पर विचार कर लेना चाहते हैं। कबीर के दार्शनिक चिन्तन की कुछ अपनी विशेषताएं थीं। सबसे प्रमुख विशेषता बुद्धिवादिता थी। बीजक में कबीर ने बुद्धिवादी चिन्तन को विशेष महत्त्व दिया है। वे विचार को दुःखों का मूलोच्छेदक मानते थे 'कहैं विचार जेहि नर दुख जाई।' उनका तत्त्व चिन्तन बुद्धिवादी चिन्तन से ही जन्मता है।

कहै कबीर पाखण्ड ते बहुत जीव सताय
अनुभव भाव न दासई जिय तन आपु

ऐसी स्थिति में बुद्धिवादिता और स्वानुभूति मूलक ज्ञान में विश्राम करने वालों के लिए पुस्तक ज्ञान का मूल्य निर्मूल हो जाता है।

'अंध सो दरपन वेदपुराना

(रमैनी ३२)

इसी बात को कबीर ने दूसरे शब्दों में भी कहा है। वे कहते हैं कि जो आत्म-ज्ञानी नहीं है उनके वेद ज्ञान व्यर्थ हैं।

पंडित भूले पढ़ि गुन भेदा
आपु अपन पौ जानु न भेदा

कबीर का दर्शन आत्म-दर्शन था—वही आत्म-दर्शन जिसके निरूपण में सारे वेद अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं। उस आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति में लिखा है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" 'प्रवचनेनाह मौनमेवोत्तरं ददौ।' फिर भी सामान्य व्यक्तियों के लिए उस अनिर्वचनीय को भी वाणी में उतारने के शत-शत प्रयत्न कबीर ने किए हैं। क्योंकि कबीर का उद्देश्य सामान्य जनता को तत्त्वोपदेश कर सन्मार्ग पर ले जाना है।

कहँहि कबीर पुकारि के सभुका उहै विचार।
कहा हमर माने नहीं किमि छूटै भ्रमजाल॥

(रमैनी ५२)

वे इस कलियुग में ही उपदेश नहीं दे रहे हैं, उन्हें तत्त्वोपदेश करते चार युग बीत गए। माया विमूढ़ित जीव कुछ सुनता समझता नहीं है।

कह इत मोहि भइल जुग चारी
समुझत नाहि मोह सुत नारी

(रमैनी ५०)

अनिर्वचनीय तत्त्व को वाणीवद्ध करने के शत-शत प्रयासों के परिणाम-स्वरूप कबीर को अभिव्यक्ति की नूतन से नूतन प्रणालियां अपनानी पड़ी हैं। उन्होंने अपने तत्त्वोपदेश साधारणतया कहीं उलटबासियों में, कहीं रूपकों में, कहीं प्रतीकों के सहारे, अनेक प्रकार की शैलियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है जिसके

में उनके शिष्यों ने कबीर के नाम पर उसमें कुछ अपनी रचनाएं भी जोड़ दी होंगी किन्तु इतना निर्विवाद है कि बीजक में कबीर की विचारधारा का नवनीत संचित किया गया है। चाहे वह कबीर के आदेश से हुआ हो या भक्तों ने अपने मन से किया हो।

बीजक के विभिन्न संस्करणों पर अब तक अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं। कुछ प्रमुख टीकाएं इस प्रकार हैं :—

(१) रींवा के राजा विश्वनाथ सिंह ने बीजक पर पाखंड-खंडिनी नाम की सुन्दर टीका लिखी थी।

(२) प्रेमचन्द नामक मिशनरी ने १८९० में एक दूसरी टीका प्रस्तुत की। यह अंग्रेज़ी अनुवाद के रूप में थी। इसका पाठ रींवा नरेश के बीजक के पाठ से भिन्न है।

(३) १९०५ में सन्त पूरनदास ने भी बीजक पर विजया टीका प्रस्तुत की। इस बीजक में अनेक पाठान्तर मिलते हैं। यह गद्य और पद्य दोनों में है।

(४) अहमदशाह ने भी बीजक की एक टीका लिखी थी। यह टीका भी अंग्रेज़ी अनुवाद के रूप में थी।

(५) सं० १९७१ में शिवव्रत लाल ने अहमदशाह के पाठ को प्रामाणिक मान कर उस पर उर्दू में एक टीका लिखी।

(६) हनुमानदास की शिशु-बोधनी टीका की रचना १९८३ में हुई थी। इस भाषा टीका के अतिरिक्त उन्होंने एक संस्कृत टीका भी लिखी थी जिसका नाम था 'स्वानुभूति व्याख्या।'

(७) विचारदास की टीका—कबीर पंथी साधु विचारदास ने 'बिरला टीका और टिप्पणी' शीर्षक से बीजक की व्याख्या प्रकाशित की है। विचारदास जी ने बीजक के मूल पाठ को खोजने का सर्वप्रथम प्रयास किया। उन्होंने अनेक प्रतियों का अधिक से अधिक शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

(८) मेंहीदास की टीका—सं० १९७२ में सन्त मेंहीदास जी ने बीजक पर अपनी टीका लिखी। यह टीका भी बड़ी पांडित्यपूर्ण है।

इनके अतिरिक्त बीजक पर और भी छोटी-मोटी कई टीकाएं लिखी गई हैं। इनमें प्रागदास लिखित टीकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार बीजक पर एक विस्तृत टीका साहित्य उपलब्ध है।

अब हम बीजक में वर्णित कबीर के सिद्धान्त और साधना पर विचार कर लेना चाहते हैं। कबीर के दार्शनिक चिन्तन की कुछ अपनी विशेषताएं थीं। सबसे प्रमुख विशेषता बुद्धिवादिता थी। बीजक में कबीर ने बुद्धिवादी चिन्तन को विशेष महत्त्व दिया है। वे विचार को दुःखों का मूलोच्छेदक मानते थे 'कहँ विचार जेहि सं दुख जाई।' उनका तत्त्व चिन्तन बुद्धिवादी चिन्तन में ही जन्मता है।

कहै कबीर पाखण्ड ते बहुत जीव सताय
अनुभव भाव न दासई जिय तन आपु

ऐसी स्थिति में बुद्धिवादिता और स्वानुभूति मूलक ज्ञान में विश्वास करने वालों के लिए पुस्तक ज्ञान का मूल्य निर्मूल हो जाता है।

'अंध सो दरपन वेदपुराना

(रमैनी ३२)

इसी बात को कबीर ने दूसरे शब्दों में भी कहा है। वे कहते हैं कि जो आत्म-ज्ञानी नहीं है उनके वेद ज्ञान व्यर्थ हैं।

पंडित भूले पढ़ि गुन भेदा
आपु अपन पौ जानु न भेदा

कबीर का दर्शन आत्म-दर्शन था—वही आत्म-दर्शन जिसके निरूपण में सारे वेद अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं। उस आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति में लिखा है "यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" 'प्रवचनेनाह मौनमेवोत्तरं ददौ।' फिर भी सामान्य व्यक्तियों के लिए उस अनिर्वचनीय को भी वाणी में उतारने के शत-शत प्रयत्न कबीर ने किए हैं। क्योंकि कबीर का उद्देश्य सामान्य जनता को तत्त्वोपदेश कर सन्मार्ग पर ले जाना है।

कहँहि कबीर पुकारि के सभुका उहै विचार।
कहा हमर माने नहीं किमि छुटै भ्रमजाल॥

(रमैनी ५२)

वे इस कलियुग में ही उपदेश नहीं दे रहे हैं, उन्हें तत्त्वोपदेश करते चार युग बीत गए। माया विमूढ़ित जीव कुछ सुनता समझता नहीं है।

कह इत मोहि भइल जुग चारी
समुझत नाहि मोह सुत नारी

(रमैनी ५०)

अनिर्वचनीय तत्त्व को वाणीवद्ध करने के शत-शत प्रयासों के परिणाम-स्वरूप कबीर को अभिव्यक्ति की नूतन से नूतन प्रणालियाँ अपनानी पड़ी हैं। उन्होंने अपने तत्त्वोपदेश साधारणतया कहीं उलटबासियों में, कहीं रूपकों में, कहीं प्रतीकों के सहारे, अनेक प्रकार की शैलियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है जिसके

परिणामस्वरूप एक धार्मिक एवं दार्शनिक प्रकरण ग्रंथ श्रेष्ठ आध्यात्मिक काव्य बन गया है। कबीर की शुद्ध दार्शनिक विचार बूटियाँ काव्यत्व-मधुरिमा से आवेष्टित हो अमृतोपम बन गई हैं जिन्हें पान कर मानव देवोपम बन जाता है। यहाँ पर दार्शनिक सिद्धान्तों को किस प्रकार काव्य के साँचे में ढाला गया है, इसके दो एक उदाहरण दे देना चाहते हैं। कबीर में ब्रह्म निरूपण कहीं-कहीं अर्थान्तिर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि गर्भित निषेधात्मक शैली में किया गया है।

पंडित ! मिथ्या करहु विचारा, न वहाँ सिस्टि न सिरजन हारा।
थूल (अ) स्थूल पवन नहि पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥
जोति सरूप काल नहि उहवाँ, वचन न आहि सरीरा।
करम धरम किछवो नहिं उहवाँ, न वहँ मंत्र न पूजा॥
संजम सहित भाव नहि उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा।
गोरख राम एको नहि उहवाँ, न वह वेद विचारा॥
हरि हरि ब्रह्मा नहि सिव सक्ति, न वहँ तिरथ अचारा।
माय बाप गुरु जाके नाही, सो धौ दूजा कि अकेला॥

(बीजक विचारधारा पृ० ११)

इस पद में न का अर्थ अनिर्वचनीय लिया गया है। इसीलिए अर्थान्तिर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार के सहारे भी ब्रह्म तत्त्व की अनिर्वचनीयता वर्णित है :—

जो मुख होय जीभ दस लाखा
तो कोई आय महन्तो भाखा

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता व्यंग्य होने से यहाँ पर स्वतः सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंजना है। इसी प्रकार ब्रह्म निरूपण में और भी अनेक काव्यमयी शैलियों का आश्रय लिया गया जिससे काव्यसीपी में ब्रह्म निरूपण रूप मोती की कान्ति प्रस्फुटित हुई है। फिर भी वह रहा अनिर्वचनीय ही :—

अविगत की गति काहु न जानी
एक जीभ कित कहौं बखानी

(बीजक)

वह अनिर्वचनीय तत्त्व सर्वथा अद्वैत रूप है। उसकी अद्वैतता का भान ब्रह्मभूत महात्मा ही स्वानुभूति के बल पर कर पाता है। वह ब्रह्मभूत महात्मा सर्वात्मरूप हो जाता है:—

मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारौं मैं खाँव
जल थल में मैं ही रम रहा मोर निरंजन नाम

(बीजक)

इसी सर्वात्मभाव को भगवान कृष्ण ने निम्नलिखित शब्दों में कहा है :—

मत्तः परतरं नान्यत किञ्चदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥

वही 'अलख निरंजन' अपनी इच्छा से कर्त्ता भी बन जाता है :—

''आपुही करता भये कुलाला बहुविधि बसन-गढ़े कुम्हारा'' ।

जिसने इस विचित्र-चित्र रूप संसार की रचना की है वही सच्चा सूत्रधार है किन्तु वह अवतार-ग्रहण नहीं करता। 'दसरथ कुल अवतार नहि आवा नहि लंका के राय सताया'—पृ० ६५। फिर भी पुरुष की रचना के लिए स्त्री तत्व की भी आवश्यकता पड़ी तो अष्टधा (भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च अहंकार इतीयं प्रकृतिरष्टधा) प्रकृति का निर्माण किया गया।

तब अष्टङ्गी रचल कुमारी
तीन लोक मोहा सब भारी ।

एक पुरुष और एक प्रकृति रूप नारी से सारी सृष्टि का विकास हुआ है :—

"एकै पुरुष एक है नारी
तातै रचनि खानि भौ चारी"

(रमैनी २७)

उपादान कारण सत, रज, तम हैं :—

"रज सत तम गुन धरति अकासा ।"

यह सब स्थूल उपादान हैं। सूक्ष्म उपादान ऊँकार स्वरूप शब्द-रूप परमात्मा है :—

एक अंड वोअंकार ते सब जग भयो पसार।
है नारी सब राम की अविचल पुरुष भतार ॥

(रमैनी २७)

कबीर ने जीव और ब्रह्म में नारी-नर का सम्बन्ध माना है :—

है नारी सब राम की अविचल पुरुष भतार ।

उपर्युक्त अवतरण से प्रकट है कि कबीर जीव की अनेकता में विश्वास करते थे—'बहुतक जीव सताय' (रमैनी ३१) से भी इस बात की पुष्टि होती है। जीव शुद्ध आत्म-तत्त्व ही है। बस अन्तर इतना ही है कि जब वह स्वयं अपने को बन्धन में डाल लेता है तब जीव कहलाने लगता है :—

आपुहि बरि आपुन गर बंधा
झूठा मोह काल को फंदा

(रमैनी ३३)

बंधन का कारण कर्मजाल भी है। इसी बंधन में फंसकर जीव को भव-चक्र में फंसना पड़ता है। अतः कर्त्ता या चेतनात्मा की महिमा को समझकर कर्मजाल से मुक्त रहने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु जो जीव अपने अहं के वशीभूत रहते हैं उन्हें नरक में ही रहना पड़ता है :—

जिन्हि जीव कीन्ह आप विस्वासा, नरक गए तेहि नरकहि वासा।

यह अहं ही माया का मूल है। इस अहं से सारा द्वन्द्वात्मक जगत परिपूर्ण है। यहाँ तक कि :—

'हरिहर ब्रह्म न ऊबरे सुरनर मुनि केहिकेर'

(रमैनी ४६)

इस प्रकार यह माया अत्यधिक मोहन-रूपा है:—

'ई माया जग मोहिनी मोहित सब जग भार'

उसका स्वरूप-निरूपण कबीर ने इस प्रकार किया है :—

तहिया गुपुत थूल नहीं काया
ताके न सोग ताकि यै माया
तथा नारि एका संसारहिं आई
माय न वाके वाप हि जाई
गोड़ न मूड न प्राण अधारा
ता मंह भभरि रहा संसारा"

(कबीर-बीजक)

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर ने माया के अनादि निराकार रूप का वर्णन किया है। वह चंचला भी है—'सन्तो आवै जाय सो माया' (१२०)। इसी माया का सारा विस्तार है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, शंकर, विष्णु भी उसी माया की विभूतियाँ हैं। इसी लिए कबीर देवतावाद में विश्वास नहीं करते क्योंकि उनका राम तो त्रिगुणातीत है। 'रज गुन ब्रह्मा, तम गुन शंकर, सत्त गुन हरि सोई' इस माया के पाश-रूपा हैं, ऊपर हम इस बात का संकेत कर चुके हैं:—

करमहि कर कर जग बौराया,
संगति भगति लै बाँधनि माया।

मिथ्या माया में विश्वास करने वाले कबीर सर्वात्मवादी—अद्वैती थे। उन्होंने बीजक में स्पष्ट लिखा है :—

आपुहि देवा आपुहि पाती,
आपुहि कुल आपुहि है जाती,
सर्वभूत संसार निवासी,
आपुहि खसम आप सुखवासी।

(रमैनी १४)

यही आत्म-दर्शन है, यही सहज-दर्शन है। यही साध्य है, शेष समस्त-दर्शन पाखण्ड-रूप है; मिथ्या है अतएव निन्दनीय है :—

छौ दरसन पाखण्ड छानवे ये कुल काहु न जाना।

(बीजक, विचारदास की टीका, पृ० १५०)

चाहे वे किसी भी क्षेत्र के क्यों न हों इन पाखण्डों के प्रति कबीर की आत्मा सदैव विद्रोह करती रही। ऊपर दार्शनिक पाखण्ड के प्रति उनकी वाणी प्रवृत्त हुई है। समाज-क्षेत्र में भी उनकी वाणी पाखण्डों का मूलोच्छेदन करने में थकी नहीं है। उनके युग में हिन्दू समाज में सामाजिक पाखण्डों के प्रवर्तक एवं समर्थक ब्राह्मण लोग थे। अतः कबीर ने ब्राह्मणों की अच्छी तरह से खबर ली है। ब्राह्मण वही जो ब्रह्म को जानता हो। किन्तु जो ब्रह्म को नहीं जानता, कोरा मिथ्या आडम्बर रूप यज्ञादि के जाल में फँसा रहता है, वह निन्दनीय है। ब्राह्मण अपने स्रष्टा को ही नहीं जानता तो फिर उसका मिथ्या कर्म का उपदेश व्यर्थ है :—

ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै
घर में जग्य प्रतिग्रह आनै
जो सिरजा तेहि नही पहिचानै
करम भरम लै बैठि बखानै

(बीजक, विचारदास की टीका पृष्ठ २००)

इसी प्रकार अवसर आने पर उन्होंने मुसलमान समाज के ठेकेदारों की भी खबर ली है : —

बहुतक देखा पीर अवलिया पढ़ै कितवे कुराना
कै मुरीद ततवीर बतावैं उनिमह उहै जो ज्ञाना
आसन मारि डिभ धरि बैठे मन मह बहुत गुमाना

(विचारदास का कबीर-बीजक)

संक्षेप में यहाँ इतना कहना ही अभीष्ट है कि कबीर को जहाँ कहीं भी मिथ्यात्व मिला वहीं उन्होंने उसका डटकर विरोध किया और उस पर कुठाराघात किया।

अब थोड़ा सा विचार साधना पक्ष पर भी कर लेना चाहते हैं। यह मनुष्य जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। दूसरी बार मिलेगा या नहीं यह नहीं कह सकते :—

"मनुष्य जन्म दुरलभ अहै होय न दूजी बार।

जो इस जन्म को पाकर उचित साधना नहीं करता उसे बार-बार भवचक्र में पड़ना पड़ता है:—

"मानुष जन्महि पाइ के चूकै अबकी बार।
जाय परे भवचक्र में सहे घनेरी मार ।।"

मानव जीवन का सदुपयोग तभी हो सकता है जब सद्गुरु मिल जाय :—

जाको सदगुरु न मिला व्याकुल दहुं दिसि धाय
आंखि न बूझै बावरा घर जरे घूर बुताय ॥
(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ४०७)

उस परमात्मा के द्वार पर जीव गुरु की कृपा और साधु की संगत से पहुँच सकता है :—

ए मरजीवा अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार ॥

इस के लिए साधक को कथनी के अनुकूल करनी को ढालना पड़ेगा :—

यहि विधि कहऊ मान जो कोई
जस मुख तस जो हिदया होई
(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ५८)

इससे कबीर का अभिप्राय सदाचार प्रियता से है। मनुष्य को सदाचार का उपदेश ही नहीं देना चाहिए वरन् स्वयं उसका आचरण भी करना चाहिए।

कबीर का उद्देश्य आत्मदर्शन करना था। इसलिए उन्होंने मूर्तिवाद, देववाद, अवतारवाद आदि को अस्वीकार कर समाज क्षेत्र में सर्वात्मवाद और साधन क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी। कबीर के सर्वात्मवाद ने ही समाज क्षेत्र में साम्यवाद की प्रेरणा दी थी :—

गुपुत प्रगट है एके दूधा
काको कहिए ब्राह्मन सूदा
झूठ गरब भूलो मत कोई
हिन्दु तुरुक झूठ कुल दोई
(रमैनी २६)

कहीं-कहीं तो उन्होंने सामाजिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा चुभते हुए तर्कों से की है :—

जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए
अवर राह ते काहे न आए।
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाए
पेटहि काहे न सुनति कराए।
कारी पियरी दुहहू गाई
ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाड़ कपट नर अधिक सयानी
कहहि कबीर भजु सारंगपानी।
(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ७५)

और अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है:—

नाना रूप बरन हम कीन्हा
चारि बरन उहि काहु न चीन्हा।

साधना-क्षेत्र में कबीर का उद्देश्य आत्मदर्शन करना या निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि करना था। उस निर्गुण आत्मतत्त्व का वर्णन कबीर ने देखिए कितने सुन्दर शब्दों में किया है:—

पंडित देखहु हृदय विचारी को पुरुषा को नारी।
सहज समाना घट-घट बोले वाके चरित अनूपा॥
वाको नाम काह कहि लीजै न वाके बरन न रूपा।
तैं मैं काह करसि नल बौरे का तेरा का मेरा॥
राम खोदाय सकति सिव एकै कहुधो काहि निहोरा।
वेद पुरान कुरान कितेबा नाना भाँति बखाना॥
हिन्दु तुरुक जइनि औ जोगी ये कल काहु न जाना॥

इस निर्गुण आत्मा या परमात्मा की साधना कबीर ने भाव, भगति, शब्द, सुरति-योग और सहज-योग से बताई है। कबीर वैधी-भक्ति के विरोधी थे। उसकी उन्होंने जी खोलकर आलोचना की थी :—

कबिरन भक्ति बिगारिया कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखिके अमृत डारति खोय॥

वे सहजा भक्ति के उद्घोषक थे। सहजा भक्ति की आधार शक्ति सहज भावना है। कबीर ने सहज भावना का रूपकात्मक प्रतीकों के सहारे बड़ा सुन्दर वर्णन किया है :—

माइ मैं दूनो कुल उजियारी
सासु ननदि पटिया मिलि बेध ली

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० २११)

इस पद का भावार्थ है कि सहज भावना ने माया (सासु) ननदि (कुमति) को पूर्ण रूपेण पराभूत कर दिया (पटिया मिलि बेध ली), उसने अविवेक (ससुर) को तिरस्कृत किया। उसने अविद्या (तासु नारि का) सौभाग्य नष्ट कर दिया। उसने पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (पाँचों वीरों) को आत्मसात् कर लिया। उसने द्वैतभाव और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भी जीत लिया इत्यादि। इस प्रकार कबीर ने सहज-भावना को विशेष महत्त्व दिया है। सहज-भावना के उदय हो जाने पर भक्ति सुगम हो जाती है और राम में लौ लग जाती है। किंतु यह लौ स्थायी नहीं हो पाती जिसके परिणाम-स्वरूप विरहासक्ति उदय हो जाती है। उस विरहासक्ति व्यथित व्यक्ति की दशा ओदी लकड़ी के सदृश होती है :—

जाको सदगुरु न मिला व्याकुल दहुं दिसि धाय
आंखि न बूझै बावरा घर जरे धूर बुताय ॥

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ४०७)

उस परमात्मा के द्वार पर जीव गुरु की कृपा और साधु की संगत से पहुँच सकता है :—

ए मरजीवा अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार ॥

इस के लिए साधक को कथनी के अनुकूल करनी को ढालना पड़ेगा :—

यहि विधि कहऊ मान जो कोई
जस मुख तस जो हिदया होई

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ५८)

इससे कबीर का अभिप्राय सदाचार प्रियता से है। मनुष्य को सदाचार का उपदेश ही नहीं देना चाहिए वरन् स्वयं उसका आचरण भी करना चाहिए।

कबीर का उद्देश्य आत्मदर्शन करना था। इसलिए उन्होंने मूर्तिवाद, देववाद, अवतारवाद आदि को अस्वीकार कर समाज क्षेत्र में सर्वात्मवाद और साधन क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी। कबीर के सर्वात्मवाद ने ही समाज क्षेत्र में साम्यवाद की प्रेरणा दी थी :—

गुपुत प्रगट है एके दूधा
काको कहिए ब्राह्मन सूदा
झूठ गरब भूलो मत कोई
हिन्दु तुरुक झूठ कुल दोई

(रमैनी २६)

कहीं-कहीं तो उन्होंने सामाजिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा चुभते हुए तर्कों से की है :—

जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए
अवर राह ते काहे न आए।
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाए
पेटहि काहे न सुनति कराए।
कारी पियरी दुहहु गाई
ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाड़ कपट नर अधिक सयानी
कहहि कबीर भजु सारंगपानी।

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० ७५)

इस प्रकार कबीर ने साधना क्षेत्र में सहज भावना या भाव-भगति, सहज-योग और सहज-ज्ञान की त्रिवेणी को ही अपनी साधना का साध्य माना है। यही उनकी साधना की मौलिकता है।

अब थोड़ी सी मीमांसा हम बीजक के काव्यत्व, भाषा और शैली की कर लेना चाहते हैं। मैं कई स्थलों पर स्पष्ट कर चुका हूं कि काव्य दो प्रकार का होता है—एक लौकिक काव्य दूसरा आध्यात्मिक काव्य। लौकिक काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय लौकिक बातें होती हैं। उसमें शास्त्रीय साहित्यिकता की प्रतिष्ठा रहती है। आध्यात्मिक काव्य का विषय आत्मानुसन्धान और आत्म-दर्शन होता है। इन की अभिव्यक्ति सहज साहित्यिकता से संवलित रहती है। बीजक का वर्ण्य-विषय अध्यात्म है। उनकी भावना ने उसमें सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा की है।

सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा कबीर काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है। कबीर साहित्यिकता के पीछे स्वयं कभी नहीं पड़े थे, उलटे साहित्यिकता ही उस महात्मा के पीछे पड़ गई थी। उन्होंने कभी भी काव्य और काव्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था किन्तु कवि उनके रूप में मूर्तिमान और काव्य-शास्त्र उनकी वाणी में मुखरित हो उठे थे। कबीर में सहज भक्ति रस और सहज सात्विक श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। नाट्य शास्त्रकार ने भक्ति को शान्त के अन्तर्गत ही समेटा है :—

अतएवेश्वर प्रणिधानविषये भक्ति श्रद्धे।

भामह आदि ने भक्ति को प्रेयस् अलंकार का विषय माना है, किन्तु आनन्दवर्धन ने 'न त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्' लिखकर भक्ति रस की श्रेष्ठता व्यंजित की है किन्तु साहित्य क्षेत्र में उसके प्रस्थापन की विशेष आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। अतः वह उपेक्षित रह गया। किन्तु आध्यात्मिक काव्य में भक्ति-रस ही प्रधान होता है। इस भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयक रति, आलम्बन भगवान के दिव्य-विग्रह, अनुभाव भक्ति जन्य अश्रु-रोमांच आदि, व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य होते हैं।

बीजक में कबीर ने भक्ति रस का परिपाक कहीं प्रत्यक्ष रूप में और कहीं प्रतीकों के माध्यम से किया है। जहाँ प्रत्यक्ष भक्ति की बात कही गई है वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

ऐसी भक्ति भगवंत की लावै
हिरणाकुस को पंथ दिखावै

(कबीर-बीजक, पृष्ठ ३०१)

इसी भक्ति रस को कबीर ने राम रस कहा है :—

कोई राम-रसिक रस पीवहुगे पीवहुगे, सुख जीवहुगे इत्यादि।

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० १३८)

विरह की ओदी लाकड़ी सपचे औ धुंधवाय।
दुख तो तबहि बाचि हों जब सकलो जरि जाय॥

(वही, पृ० ३७७)

इस विरहासक्ति की स्थिति में साधक का एक मात्र सम्बल सुमिरन और नाम-जप है। सुमिरन का निम्नपद में वर्णन जुलाहे के रूपक से किया गया है:—

जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, इत्यादि।

(सबद ६४, पृष्ठ २१३)

इस पद्य में अज्ञानियों को हरिनाम का ताना-बान बुनने का उपदेश दिया गया है। इस पद्य में नामोपासना के साथ-साथ मनोज्योति उपासना प्राणायामादिक योगाङ्गों का साथ-साथ ही वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि कबीरदास जी सहजा-भक्ति में योग के पुट को आवश्यक मानते थे किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कबीर हठयोग के विरोधी थे। उन्होंने उसको हेय व्यंजित किया है। उन्होंने हठयोगियों की निन्दा करते हुए लिखा है कि हठयोगियों को सिद्धियाँ प्यारी होती हैं किन्तु सहज योगी इनको महत्त्व न देकर सहज संयम को ही महत्त्व देता है। वह अपने मन के संयम से ही सदा सुखी रहता है :—

"कहहि कबीर सुनहु हो सन्तों जोगिन सिद्ध पियारी।
सदा रहे सुख संजम वसुधा आदि कुवाँरी॥

(वही, पृ० २४४)

सहज-संयम योग के साथ-साथ शब्द सुरति-योग की भी साधना की जा सकती है। सुरति-योग का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं :—

देखि-देखि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय।
धरति उलटि अकासहिं जाय चिऊटी के मुख हस्ति समाय॥

(वही, पृ० २६६)

अर्थात् अभ्यास के बल पर धरती अर्थात् सुरति अन्तर्मुखी करके ऊर्ध्वगामी होकर सार शब्द में समा जाती है तभी सुरति का निरति में परिचय होता है। किन्तु जिस प्रकार सहजा-भक्ति के लिए सहज-संयम और सहज-योग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सहज-योग के लिए सहज-ज्ञान और सहज-वैराग्य की आवश्यकता होती है। यह मन तभी शीतल होता है जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है :—

यह मन सीतल भया जब उपज्यो ब्रह्मज्ञान।

(वही, पृ० ४२५)

और शब्द सुरति साधना भी तभी पूर्णरूपेण सार्थक होती है जब विवेक होता है:—

बिनु विवेक भटकत फिरे पकरि सब्द की छांह।

इस प्रकार कबीर ने साधना क्षेत्र में सहज भावना या भाव-भगति, सहज-योग और सहज-ज्ञान की त्रिवेणी को ही अपनी साधना का साध्य माना है। यही उनकी साधना की मौलिकता है।

अब थोड़ी सी मीमांसा हम बीजक के काव्यत्व, भाषा और शैली की कर लेना चाहते हैं। मैं कई स्थलों पर स्पष्ट कर चुका हूं कि काव्य दो प्रकार का होता है—एक लौकिक काव्य दूसरा आध्यात्मिक काव्य। लौकिक काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय लौकिक बातें होती हैं। उसमें शास्त्रीय साहित्यिकता की प्रतिष्ठा रहती है। आध्यात्मिक काव्य का विषय आत्मानुसन्धान और आत्म-दर्शन होता है। इन की अभिव्यक्ति सहज साहित्यिकता से संवलित रहती है। बीजक का वर्ण्य-विषय अध्यात्म है। उनकी भावना ने उसमें सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा की है।

सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा कबीर काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है। कबीर साहित्यिकता के पीछे स्वयं कभी नहीं पड़े थे, उलटे साहित्यिकता ही उस महात्मा के पीछे पड़ गई थी। उन्होंने कभी भी काव्य और काव्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था किन्तु कवि उनके रूप में मूर्तिमान और काव्य-शास्त्र उनकी वाणी में मुखरित हो उठे थे। कबीर में सहज भक्ति रस और सहज सात्विक शृंगार रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। नाट्य शास्त्रकार ने भक्ति को शान्त के अन्तर्गत ही समेटा है :—

अतएवेश्वर प्रणिधानविषये भक्ति श्रद्धे।

भामह आदि ने भक्ति को प्रेयस् अलंकार का विषय माना है, किन्तु आनन्दवर्धन ने "न त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्' लिखकर भक्ति रस की श्रेष्ठता व्यंजित की है किन्तु साहित्य क्षेत्र में उसके प्रस्थापन की विशेष आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। अतः वह उपेक्षित रह गया। किन्तु आध्यात्मिक काव्य में भक्ति-रस ही प्रधान होता है। इस भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयक रति, आलम्बन भगवान के दिव्य-विग्रह, अनुभाव भक्ति जन्य अश्रु-रोमांच आदि, व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य होते हैं।

बीजक में कबीर ने भक्ति रस का परिपाक कहीं प्रत्यक्ष रूप में और कहीं प्रतीकों के माध्यम से किया है। जहाँ प्रत्यक्ष भक्ति की बात कही गई है वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

ऐसी भक्ति भगवंत की लावै
हिरणाकुस को पंथ दिखावै

(कबीर-बीजक, पृष्ठ ३०१)

इसी भक्ति रस को कबीर ने राम रस कहा है :—

कोई राम-रसिक रस पीवहुगे पीवहुगे, सुख जीवहुगे इत्यादि।

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० १३८)

विरह की ओदी लाकड़ी सपचे औ धुंधवाय।
दुख तो तबहि बाचि हों जब सकलो जरि जाय॥

(वही, पृ० ३७७)

इस विरहासक्ति की स्थिति में साधक का एक मात्र सम्बल सुमिरन और नाम-जप है। सुमिरन का निम्नपद में वर्णन जुलाहे के रूपक से किया गया है:—

जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, इत्यादि।

(सबद ६४, पृष्ठ २१३)

इस पद्य में अज्ञानियों को हरिनाम का ताना-बान बुनने का उपदेश दिया गया है। इस पद्य में नामोपासना के साथ-साथ मनोज्योति उपासना प्राणायामादिक योगाङ्गों का साथ-साथ ही वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि कबीरदास जी सहजा-भक्ति में योग के पुट को आवश्यक मानते थे किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कबीर हठयोग के विरोधी थे। उन्होंने उसको हेय व्यंजित किया है। उन्होंने हठयोगियों की निन्दा करते हुए लिखा है कि हठयोगियों को सिद्धियाँ प्यारी होती हैं किन्तु सहज योगी इनको महत्त्व न देकर सहज संयम को ही महत्त्व देता है। वह अपने मन के संयम से ही सदा सुखी रहता है :—

"कहहि कबीर सुनहु हो सन्तों जोगिन सिद्ध पियारी।
सदा रहे सुख संजम बसुधा आदि कुवाँरी॥

(वही, पृ० २४४)

सहज-संयम योग के साथ-साथ शब्द सुरति-योग की भी साधना की जा सकती है। सुरति-योग का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं :—

देखि-देखि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय।
धरति उलटि अकासहिं जाय चिऊटी के मुख हस्ति समाय॥

(वही, पृ० २६९)

अर्थात् अभ्यास के बल पर धरती अर्थात् सुरति अन्तर्मुखी करके ऊर्ध्वगामी होकर सार शब्द में समा जाती है तभी सुरति का निरति में परिचय होता है। किन्तु जिस प्रकार सहजा-भक्ति के लिए सहज-संयम और सहज-योग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सहज-योग के लिए सहज-ज्ञान और सहज-वैराग्य की आवश्यकता होती है। यह मन तभी शीतल होता है जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है :—

यह मन सीतल भया जब उपज्यो ब्रह्मज्ञान।

(वही, पृ० ४२५)

और शब्द सुरति साधना भी तभी पूर्णरूपेण सार्थक होती है जब विवेक होता है:—

बिनु विवेक भटकत फिरे पकरि सब्द की छांह।

इस प्रकार कबीर ने साधना क्षेत्र में सहज भावना या भाव-भगति, सहज-योग और सहज-ज्ञान की त्रिवेणी को ही अपनी साधना का साध्य माना है। यही उनकी साधना की मौलिकता है।

अब थोड़ी सी मीमांसा हम बीजक के काव्यत्व, भाषा और शैली की कर लेना चाहते हैं। मैं कई स्थलों पर स्पष्ट कर चुका हूं कि काव्य दो प्रकार का होता है— एक लौकिक काव्य दूसरा आध्यात्मिक काव्य। लौकिक काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय लौकिक बातें होती हैं। उसमें शास्त्रीय साहित्यिकता की प्रतिष्ठा रहती है। आध्यात्मिक काव्य का विषय आत्मानुसन्धान और आत्म-दर्शन होता है। इन की अभिव्यक्ति सहज साहित्यिकता से संवलित रहती है। बीजक का वर्ण्य-विषय अध्यात्म है। उनकी भावना ने उसमें सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा की है।

सहज-साहित्यिकता की प्रतिष्ठा कबीर काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है। कबीर साहित्यिकता के पीछे स्वयं कभी नहीं पड़े थे, उलटे साहित्यिकता ही उस महात्मा के पीछे पड़ गई थी। उन्होंने कभी भी काव्य और काव्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था किन्तु कवि उनके रूप में मूर्तिमान और काव्य-शास्त्र उनकी वाणी में मुखरित हो उठे थे। कबीर में सहज भक्ति रस और सहज सात्विक श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। नाट्य शास्त्रकार ने भक्ति को शान्त के अन्तर्गत ही समेटा है :—

अतएवेश्वर प्रणिधानविषये भक्ति श्रद्धे।

भामह आदि ने भक्ति को प्रेयस् अलंकार का विषय माना है, किन्तु आनन्दवर्धन ने 'न त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्' लिखकर भक्ति रस की श्रेष्ठता व्यंजित की है किन्तु साहित्य क्षेत्र में उसके प्रस्थापन की विशेष आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। अतः वह उपेक्षित रह गया। किन्तु आध्यात्मिक काव्य में भक्ति-रस ही प्रधान होता है। इस भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयक रति, आलम्बन भगवान के दिव्य-विग्रह, अनुभाव भक्ति जन्य अश्रु-रोमांच आदि, व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य होते हैं।

बीजक में कबीर ने भक्ति रस का परिपाक कहीं प्रत्यक्ष रूप में और कहीं प्रतीकों के माध्यम से किया है। जहाँ प्रत्यक्ष भक्ति की बात कही गई है वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

ऐसी भक्ति भगवंत की लावै
हिरणाकुस को पंथ दिखावै

(कबीर-बीजक, पृष्ठ ३०१)

इसी भक्ति रस को कबीर ने राम रस कहा है :—

कोई राम-रसिक रस पीवहुगे पीवहुगे, सुख जीवहुगे इत्यादि।

(विचारदास का कबीर-बीजक, पृ० १३८)

भक्ति रस का परिपाक कबीर में हमें दाम्पत्य-प्रतीकों के सहारे भी मिलता है। यह वर्णन वास्तव में बड़े मधुर हैं। इन्हें रहस्यवाद की संज्ञा दी गई है किन्तु रस की दृष्टि से भक्ति की ही विभूति हैं :—

हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया
राम बड़ो मैं तनुक लहुरिया।

इस प्रकार के दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे भक्ति रस का ऐसा मनोरम परिपाक कबीर में मिलता है जैसा शायद ही किसी में उपलब्ध हो।

कबीर में हमें सहज-अलंकरों की भी सहज योजना मिलती है। सहज-अलंकार उन्हें कहते हैं जिनका अभिव्यक्ति से सहज-साहचर्य रहता है। ये सहज-अलंकार भी साधर्म्यमूलक और वैधर्म्यमूलक भेद से दो प्रकार के होते हैं। उस अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के प्रयास में दोनों ही कोटि के कुछ अलंकार वाणी में स्वयमेव प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कवि को उनका ज्ञान भी नहीं हो पाता है। साधर्म्यमूलक अलंकारों में कबीर,-वाणी में रूपक, दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि स्वयमेव ही समाविष्ट हो गए हैं। इनमें रूपकों की प्रचुरता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है :—

जोलाहा बीनहु हो हरिनामा।
जाके सुरनर मुनि धरे ध्याना ।। इत्यादि।

इस पद्य में प्रपञ्चपरायण अज्ञानियों का वर्णन जुलाहे के रूपक से किया गया है।

इस प्रकार सैकड़ों रूपकों से कबीर साहित्य संवलित है। वैधर्म्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कबीर ने उलटबासियों में अधिक किया है। उलटबासी शब्द का प्रयोग किसके समय से आरम्भ हुआ यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। किन्तु यह निश्चित है कि इसका प्रयोग सर्वप्रथम कबीर जैसे किसी निर्गुणिया सन्त ने ही किया होगा। अनिर्वचनीय निर्गुण को वाणी में बांधने के प्रयास में कबीर ने उलटे ढंग से अनभिव्यक्त को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया होगा। इसके उलटे कथन को लोगों ने बकवास जैसे शब्दों के अनुकरण में उलटबास और जिन वाणियों में यह उलटबास प्रतिष्ठित किए गए उन वाणियों को उलटबासी कहना प्रारम्भ कर दिया होगा। यह उलटबासियाँ प्रायः तीन प्रकार की है—(१) वैषम्य मूलक अलंकार प्रधान (२) प्रतीक प्रधान उलटबासियां (३) अद्‌भुत रस प्रधान उलटबासियाँ। वैषम्यमूलक अलंकारों में विषम, विभावना, विरोध, विशेषोक्ति, विचित्र सम अधिक, अन्योन्य-विशेष-व्याघात आदि विशेष, उल्लेखनीय हैं। यों तो कबीर ने अपनी उलटबासियों में इन सभी का प्रयोग किया है। किन्तु विभावना, विरोध और विषम आदि प्रयोगों की प्रचुरता है। विभावना का एक उदाहरण देखिए :—

बिनु चरनन को दहुँ दिसि धावै बिनु लोचन जग सूझै ।।

विरोध का एक उदाहरण और दृष्टव्य है :—

'कहैं कबीर सुनहु हो सन्तो पुरुष जन्म भो नारी'

(विचारदास का कबीर बीजक पृ०११८)

अद्भुत रसप्रधान उलटवासियों की भी बीजक में कमी नहीं है—

अचरज सतो देखहुँ हस्ति सिंहहि-खाय इत्यादि

(विचारदास का कबीर बीजक, पृ० ८८)

प्रतीक प्रधान उलटवासियों में प्रतीकात्मकता प्रधान होती है, आलंकारिकता गौण। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

नारी एक पुरुष दुई जाया बूझहु पंडित ज्ञानी
पाहन फोरि गंग इक निकसी चहु दिसि पानी-पानी।

इस प्रकार कबीर के बीजक में हमें सभी प्रकार की उलटवासियाँ मिलती हैं।

प्रतीकात्मकता कबीर की अभिव्यक्ति की सबसे प्रमुख विशेषता है। यों तो कबीर में हमें अनेक प्रकार की प्रतीक-योजना मिलती है, किन्तु ५ प्रकार तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है जिसका उल्लेख किए विना नहीं रहा जा सकता। उनकी प्रमुख प्रतीक योजनाएं निम्न प्रकार की हैं। (१) सांकेतिक (२) पारिभाषिक (३) संख्या मूलक (४) रूपकात्मक (५) अलंकार-मूलक। सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग कबीर के लिए अनिवार्य था। गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक एवं साधनात्मक तथ्यों की व्याख्या बिना प्रतीकात्मक प्रतीकों के हो ही नहीं सकती। अतः बीजक में इनके प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। इसके उदाहरण रूप में हम बीजक का निम्नलिखित शब्द ले सकते हैं—

अवधू सो जोगी गुरुमेरा जो यहि पदका केर निवेरा।
तरुर एक मूल बिन दादा बिनु फूले फल लागा॥

(इत्यादि पृ० १४४)

इस पद्य में सांकेतिक प्रतीकों के सहारे ही मूल प्रकृति का वर्णन किया गया है। पारिभाषिक प्रतीकों की योजना भी साधनात्मक प्रसंगों के वर्णन के लिए आवश्यक होती है। कबीर ने अपने बीजक में इस कोटि के भी अनेकानेक प्रतीकों की योजना की है। एक उदाहरण है—

उलटि गंग समुद्रहि सोखैं
ससि और सूरहि ग्रासै।

यहां उलटी गंगा इड़ा का प्रतीक है और सूर्य पिंगला का प्रतीक है। भाव यह है कि योगी जन सुषुम्णा काल में ध्यान लगाते हैं। अतः सुषुम्णा नाड़ी के चलने से सूर्य और चन्द्र का लय हो जाता है। इस अभिप्राय से 'गरासे' का प्रयोग किया है। इसी के आगे कवि ने संख्यावाचक प्रतीक की योजना भी की है—'नवग्रह मार रोगिया ..' योगी का प्रतीक है। अर्थ है—नवों द्वारों को बंद करके योगी निश्चल हो जाते

हैं। इस प्रकार के प्रतीकात्मक प्रयोग कहीं-कहीं इतने जटिल और गूढ़ हो गए हैं कि उनका अर्थ निकालना कठिन ही नहीं कहीं-कहीं असम्भव भी हो गया है। ऐसे स्थल यद्यपि हैं कम ही, किन्तु उनसे कबीर की अभिव्यक्ति कलंकित हो गई है। ऐसे स्थलों को अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का उदाहरण मान सकते हैं। यहाँ पर एक छोटा सा उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा—

नारी एक पुरुष दुई जाया बूझहु पंडित ज्ञानी।
पाहन फोरि गंग इक निकसी चहुँ दिस पानी-पानी।
तिहि पानी दुई परवत बूडे दरिया लहर समानी।

(विचारदास का बीजक, पृ० १०६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीजक एक श्रेष्ठ अध्यात्म-प्रधान काव्य है। वह भारतीय अध्यात्म-क्षेत्र की वह दिव्य विभूति है जिस पर आज भी हम गर्व कर सकते हैं। उसमें ज्ञान, भक्ति और योग की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहमान है जिसके स्पर्शमात्र से मानवता के युग-युग के कालुष्य धुल जाते हैं। उस त्रिवेणी पर सहज काव्य का वह दिव्य मन्दिर प्रतिष्ठित है जिसमें प्रविष्ट होते ही सहृदय साधक राम रसायन के सहज रस में ऐसा निमग्न हो जाता है कि क्षण भर के लिए वह जीवन-मुक्ति की स्थिति में पहुँच जाता है। यही इस महिमामय ग्रंथ का गौरव है।

५

दादू-वाणी

डा० वासुदेव शर्मा

सन्त दादूदयाल ने अपनी "वाणी" से भारतीय धर्म-संस्थापकों एवं समाज-सुधारकों को प्रेरित तथा अनुप्राणित किया है। दादू जी कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं थे। "वाणी" दादू जी के शिष्यों द्वारा अक्षरबद्ध एक-मात्र रचना है। इसी अमृतवाणी द्वारा जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा को शान्त करते रहे हैं, जिसमें उनके अनुभव एवं सिद्धान्त संकलित हैं। आत्मानुभूति की अनिर्वचनीयता सर्वमान्य होने पर भी साधारण मनुष्यों की समझ से परे की वस्तु है। मध्यकालीन भक्त एवं सन्त कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा समाज को रसाप्लावित किया है। दादू भी अपनी "वाणी" में अन्य सन्तों के समान "परमतत्व" को सर्वत्र एक समान व्याप्त और भरपूर समझते हैं और उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते। अतः दादू भी इन सन्तों के समान अपने अध्ययन से विमुख नहीं हुए। उनकी स्वतः निसृत अमृतरूपी वाणी का आज भी पठन-श्रवण कर साधक सन्मार्ग को प्राप्त करता तथा आत्मविभोर हो उठता है। साहित्य के रसज्ञ इस "वाणी" का रसास्वादन करते हैं और इसी "वाणी" का आज भी दादू मन्दिरों में पाठ किया जाता है। आध्यात्मिकता उसमें कूट-कूट कर भरी है, जो कि अशांतिमय जीवन के लिए सुधा-स्वरूप सिद्ध हो सकती है।

मध्यकालीन सन्तों की वाणियों का मुख्य लक्ष्य है, मानव की प्रतिष्ठा, उसके आन्तरिक सद्भाव और सात्विक-वृत्ति में आस्था तथा मानव-मानव में एकता की स्थापना। मानव की एकता, प्रेम और सद्भाव द्वारा ही स्थापित हो सकती है। दादू की प्रेम तत्व की व्यंजना तो बहुत ही ऊँची और गहरी है। कितने ही शब्दों और साखियों में उन्होंने प्रेम और विरह का निरूपण अत्यन्त मार्मिक रूप में किया है:—

दादू नाता प्रेम का, रस में रह्या समाइ।
अन्त न आवै जब लग, तब लग पीवत जाइ॥[1]

---

[1] 'दादू दयाल की वाणी', सं० स्वामी मंगल दास, पृ० १४५।

प्रभु के प्रेम का प्यासा इस पावन रस के एक-एक घूंट को पीकर नित्य नई प्यास अनुभव करता है। इस रस का पान करते हुए अरुचि तो क्या सदा अतृप्ति बनी रहती है :—

दादू हरि रस पीवतां, कबहूँ अरुचि न होई।
पीवत प्यासा नित नया, पीवण हारा सोई ॥[1]

प्रेम और विरह की सबसे गहरी व्यंजना दाम्पत्य में ही सम्भव है इसीलिये दादू जी ने भी स्वयं को नारी के रूप में कल्पित करके प्रिय-मिलन की उत्सुकता और "तज्जन्य-पीड़ा" का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। वे कहते हैं—"प्रिय आप दया करके मेरे यहाँ पधारिये, मैं बार-बार आप पर बलिहारी जाती हूँ, आप की वियोग-व्यथा से व्याकुल विरहिणी आप का पंथ निहार रही है, आपको पुकार रही है। नेत्रों में अश्रुजल भर पथिकों से तुम्हारा ही कुशलक्षेम पूछ रही है। स्वयं निश-दिन तड़पती हुई, शरीर की सुधि को भूल गई है। वह तो तुम्हारे प्यार में अन्दर ही अन्दर मर चुकी है"।[2] प्रिय-मिलन के भी अनेक मादक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

विरह की तीव्र-वेदना को भी व्यक्त कर, ईश्वर-साक्षात्कार और "तज्जन्य" उल्लास की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना की है। नायक-नायिका के मिलन के अनेक मधुर वर्णन "दादू-वाणी" में देखे जा सकते हैं—

सुन्दरि कों सांई मिल्या, पाया सेज सुहाग।
पीव सौं पेले प्रेम रस, दादू मोटे भाग ॥[3]

... ...

साईं सुन्दरि सेज परि, सदा एकरस होइ।
दादू पेले पीव सौं, ता समि और न कोइ ॥[4]

इस प्रकार "दादू-वाणी" में प्रियतम और प्रिय-मिलन के अनेक मनोहारी चित्र प्राप्त किये जा सकते हैं, जिनमें कवि का उल्लास मुखरित हुआ है; जिनमें शुष्क और तार्किक, नैतिक और सैद्धान्तिक विवेचना नहीं, अपितु हृदय का स्पन्दन दिखाई दे रहा है।

दादू जी की यह सहज अभिव्यक्ति ईश्वरीय-प्रेम, दिव्यानन्द से ही सम्बन्धित है। भक्ति के आवेग में दादू जी ने अभिव्यक्ति के लिए आकुलता अनुभव की और उसी को काव्य के रूप में अभिव्यंजित कर दिया। भक्ति की भावना एवं उसका सम्बन्ध जब प्रगाढ़ावस्था को पहुँच जाता है तब साधक "प्रेम-साधना" में अनुरक्त हो कर

१. 'दादू दयाल की वाणी'—स्वामी मंगलदास।
२. 'दादू दयाल ग्रंथावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पद ६, पृ० ४४७।
३. 'दादू दयाल ग्रंथावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २८१।

सर्वत्र परमात्मा की प्रेममयी सत्ता का दर्शन करता है। सन्तवर-दादू जी भी ईश्वर-साक्षात्कार की ऐसी ही अनुभूति को वाणी देते हैं—

दादू अविनासी अंगे तेज का, ऐसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैंनभरि, सुन्दर सहज सरूप ॥[1]

यही ईश्वर-साक्षात्कार की उत्कट अभिलाषा दादू जी को सूर और तुलसी की श्रेणी में ला बिठाती है। सगुण-भक्त कवियों में जैसे तुलसी और सूर हैं वैसे ही निर्गुण-भक्त कवियों में कबीर और दादू हैं। दादू के काव्य में भाव-भक्ति की एक अजस्रधारा प्रवाहित हो रही है। इसको लक्ष्य करते हुए डा० मोतीसिंह जी ने लिखा है—"इसी से दादू का व्यक्तित्व तुलसी आदि भक्त कवियों के दास्य-भाव से भीगा-भीगा है।"[2] किन्तु दादू जी की भक्ति में 'दास्य' भाव की अपेक्षा माधुर्य-भाव की ही प्रधानता है। क्योंकि ईश्वर-मिलन की चरम परिणति दाम्पत्य-भाव में ही सम्भव है। परमात्मा के प्रति अनन्य अनुराग, भक्ति की प्रमुख विशेषता है। प्रेम अनन्य भावना का समर्थक है। प्रेमी अपने सिर को उतार कर उसके सम्मुख रख दे, और अपने प्यार के समस्त अहंभाव को (विरह की) आग में जला दे। अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर के प्रिय के आगे उत्सर्ग कर दे। फिर भी वह मधुर-प्रियतम कटु न प्रतीत हो तभी उसे उसका साथ मिल सकता है। जब तक अपने को ईश्वर के चरणों में समर्पित न कर दिया जाए तब तक सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। जो प्रेमी मृत्यु की परवाह नहीं करता, वही उस प्रेम-प्यारे को पाने का अधिकारी होता है। हरि-मार्ग में मस्तक दे कर ही भक्त प्रभु के निकट पहुँच कर परम-पद प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है—

दादू आसिक रब दा, सिर भी डेवै लाहि।
अल्लह कारणि आपकों साड़े अंदरि माहि ॥[3]

अतः दादू जी की भक्ति को माधुर्य-भाव की भक्ति कहना ही संगत प्रतीत होता है। दादू जी के काव्य में आलम्बन की निराकारता के कारण उसमें रहस्यवाद का प्रवेश हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

"दादू-वाणी" में आध्यात्मिक जिज्ञासा का पर्याप्त वर्णन हुआ है। सन्त-कवियों के अनुसार परम-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की जानकारी सामूहिक न हो कर व्यक्तिगत साधना से ही सम्भव है और यह जानकारी भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। "परम-तत्त्व" की विवेचना करते हुए उपनिषदों[4] के आधार पर 'दादू-वाणी' में भी कहा गया है—

---

१. दादू ग्रंथावली—परशुराम चतुर्वेदी पृ० ५२।
२. 'निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि', डा० मोतीसिंह, पृ० १२४।
३. 'दादूदयाल-ग्रंथावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५७।
४. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१९,

बिन श्रवणहु सब कुछ सुणौं, बिन नैनहु सब देखैं।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै, यहु दादू अचिरज पेखैं ॥[1]

वह अनिर्वचनीय है, न उसे हल्का कह सकते हैं न भारी, जिसका न नाप है न तौल, आगा है न पीछा, कितने ही पारखी प्रयत्न करते-करते थक गए पर उसकी परख न कर सके। यही नहीं, वह तो अगम है, अगोचर है, अपरंपार है—

अगम अगोचर अपार अपरंपारा।
को यहु तेरो चरित न जानो ॥[2]

ब्रह्म सर्वव्यापक है और उसका गुण कण-कण में व्याप्त है। उपनिषदों के अनुसार 'दादू-वाणी' में कहा है—

दादू जीए तेल तिलनि मैं, जीए गंध फुलनि।
जीएँ मषण षीर में, इरें रबु रंहनि ॥[3]

यहाँ तिल तैल आदि के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म की सर्वव्यापकता का आभास दिया है। इसी दृष्टान्त का दर्शन श्वेताश्वेतरोपनिषद् में इस प्रकार है—

तिलेषु तैल दधनीव सर्पिरापः।
स्रोतः स्वरणीपु चाग्निः ॥[4]

ब्रह्म समस्त प्रपंच का आधार है। समस्त सृष्टि इसी पर अधिष्ठित है पर वह स्वयं निराधार है, अपने आप में प्रतिष्ठित है। 'दादू-वाणी में ब्रह्म की निराधारता अथवा 'स्वप्रतिष्ठता' का वर्णन कितने स्पष्ट रूप में हुआ है। दादू जी कहते हैं कि "मैं अपने आप में प्रतिष्ठित हूँ, मैं ही अपना घर-बार हूँ, निर्विकार स्वरूप ही मेरा निवास स्थान है। मैं तो अपने स्वरूप चिदाकाश में ही रहता हूँ, पाविक सप्तम आकाश में नहीं, मेरा आधार स्वयं मैं ही हूँ।[5] ब्रह्म सर्वशक्तिमान है यदि वह चाहे तो कीड़ी को कुंजर बना सकते हैं, और कुंजर को कीड़ी में परिवर्तित कर सकते हैं। वह राई का पर्वत और पर्वत को राई बना सकते हैं, वह जल को थल और थल को जल में बदल सकते हैं। सृष्टि का अणु-अणु, परमाणु-परमाणु उसी ईश्वरी-शक्ति से गतिमान है। प्रभु की शक्ति अपार एवं अवर्णनीय है।"[6] ब्रह्म सृष्टि में व्याप्त होते हुए भी उससे पृथक् है, उससे भिन्न है तथा निर्लिप्त है। 'दादू-वाणी' में दादू जी निर्लेप अवस्था का

---

१. 'दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० १२५।
२. 'दादूदयाल ग्रंथावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पद १३, पृ० ३४३।
३. देखिए वही, पृ० २०३।
४. 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', अध्याय १/५।
५. 'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, सं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ६३
६. 'दादूदयाल की वाणी' सं० मंगलदास, पृ० ३५३।

वर्णन करते हैं—

दादू जल में गगन, गगन में जल है,
पुनि ये गगन निरालम् ।
ब्रह्म जीव इहिं विधि रहैं,
ऐसा भेद विचारम् ॥[१]

कबीर की भाँति दादू ने भी अपनी वाणी में ब्रह्म को निर्गुण निराकार निर्विकल्प रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः दादू जी के अनुसार ब्रह्म निर्गुण और सगुण से भी परे एवं उससे भिन्न है—

"गुण अवगुण थे रहित है, सो निज ब्रह्म अगाध ।[२]

ब्रह्म जब किसी उपाधि रूप में प्रकट होते हैं तो परमात्मा से आत्मा का नाम धारण कर लेते हैं। सन्त-काव्य में इसे जीव भी कहा गया है। दादू जी भी कहते हैं कि जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही एक रूप है, किन्तु माया के आच्छन्न हो जाने के कारण वह ब्रह्म से अत्यन्त दूर एवं पृथक् हो गया है। इस अज्ञान के आवरण में वह आनन्द-स्वरूप होता हुआ भी दुःखी है, असीम होता हुआ भी ससीम है, सर्वज्ञ होता हुआ भी अल्पज्ञ है, नित्य अविनाशी होता हुआ भी अनित्य और विनाशशील है, निर्विकार होता हुआ भी सविकार है—

कर्मों के बस जीव है,
कर्म रहित सो ब्रह्म ।[३]

इसी प्रकार 'दादू-वाणी' में एक अन्य साखी में भी स्पष्ट किया गया है कि समस्त क्रियाओं का कर्त्ता वास्तव में जीव नहीं, अपितु दूसरी ही शक्ति हुआ करती है—

कर्ता ह्वै करि सब कुछ करे, उस मोहि बंधावै ।
दादू उस को पूछिये, उत्तर नहिं आवै ।[४]

यही जीव जब माया के आवरण से मुक्त हो जाता है; ज्ञान की ज्योति-जग उठने से इसका माया का आवरण समाप्त हो जाता है तब जीव ब्रह्म-रूप हो जाता है सर्वत्र एक ही आत्म-तत्व का प्रसार दृष्टिगत होता है—

"जब पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक ।"[५]

अतः दादू जी ब्रह्म और जीव की एकता में विश्वास रखते हैं। डा० एच० डब्ल्यू० ओरर ने भी इस मत की पुष्टि की है। वे कहते हैं—"Numerous passages

---

१. 'दादूदयाल की वाणी' सं० मंगलदास, पृ० ३२७ ।
२. देखिए वही, पृ० ३०५ ।
३. देखिए वही, पृ० ४१२ ।
४. देखिए वही, पृ० ४५८ ।
५. देखिए वही, पृ० ३२६ ।

from the 'Bani' could be quoted, which appear to declare in the most unambiguous terms the essential oneness of human soul and the Supreme Brahma."[1]

वस्तुतः दादू जी का इस विषय में 'वाणी' में यह कथन अत्यन्त स्पष्ट है—

जीव पीव न्यारा नहीं सब संगि बसेरा ।[2]

माया ही ब्रह्म और जीव की अद्वैतता में बाधक बनती है। माया ब्रह्म का वह शक्ति है जिसके द्वारा जगत् का स्फुरण अर्थात् जगत् की रचना, स्थिति और विनाश सम्पन्न होता है। यही नहीं, माया समस्त सुर-नर-मुनि एवं ब्रह्म-विष्णु-महेश को अपने वश में करके सारे संसार के सिर पर खड़ी है और उनको उलझा रखा है—

ब्रह्म विष्णु महेश लों, सुर नर उरझाय ।[3]

यद्यपि यह सारे संसार की स्वामिनी है, किन्तु सन्तों की वैरी है ।[4] जिस घर में ब्रह्म प्रकट नहीं होते, वहाँ माया का मंगल गान होता है ।[5] जब ब्रह्म की ज्योति जग जाती है तब मायाजनित भ्रम दूर हो जाते हैं ।[6] त्रिगुणात्मिका माया जीवों को भ्रम में डालकर उन्हें कंचन-कामिनी के आकर्षण सूत्रों में बाँध देती है ।[7] 'दादू-वाणी' में सन्तवर दादू ने इनसे दूर रहने का उपदेश दिया है। क्योंकि मन चंचल है कभी वह मलिन-वृत्ति की ओर चला जाता है, कभी वह शुद्ध वृत्तियों में लग जाता है। मन जब मलिन-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है तब वह विषयासक्त एवं पतनोन्मुख हो जाता है, पर वह जब ईश्वर की ओर उन्मुख होता है तब वह अविनाशी भी बन जाता है—

दादू मन की माया ऊपजे, मन ही माया जाइ ।

....

मन अविनासी ह्वै रह्या, साहिब सों ल्यौं लाई ।[8]

---

१. 'ए सिक्स्टीन्थ सैंचुरी इंडियन मिस्टिक', डॉ० एच० डब्ल्यू० ओरर, पृ० १५६ ।
२. 'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, सं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, पद २०६, पृ० ४४२ ।
३. देखिए वही , पृ० १७१ ।
४. 'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, सं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, साखी ९३, पृ० १७५ ।
५. देखिए वही , साखी ११३, पृ० १७७ ।
६. देखिए वही , साखी ११६, पृ० १७८ ।
७. 'दादूदयाल की वाणी' सं० मंगलदास, पृ० २३२ ।
८. देखिए वही , साखी १२१, १२२, पृ० २१५ ।

श्रीमद्गीता के समान दादू-वाणी में भी मनोनिरोध का साधन अभ्यास और वैराग्य को बताया गया है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निरोध करने पर मन की निवृत्तिमय अवस्था होती है जिसका वर्णन दादू जी ने इस रूप में किया है—

सुख दुख सब झांई पड़ें, तब लग काचा मन
दादू कुछ व्यापै नहीं, तब मन भया रतन ॥[1]

"दादू-वाणी" में ब्रह्म का साक्षात्कार कराने के लिए मन की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। वह कहते हैं कि जैसे दर्पण यदि निर्मल हो तो उसमें मुख स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है पर मलयुक्त दर्पण में कुछ भी दिखाई नहीं देता।[2]

इस मन को स्वच्छ एवं उज्ज्वल रखने में गुरु-ज्ञान ही समर्थ हो सकता है। क्योंकि वस्तुतः विषय-वासनाओं में फंसे हुए मन का ईश्वरोन्मुख करने वाला गुरु ही होता है।[3] भवसागर के पार उतरने के लिए गुरु ही अपनी ज्ञान की नौका के द्वारा शिष्य को पार उतारता है। वह एक सतर्क नाविक की भाँति नाव खेवन करते हुए साधक को मोक्ष मार्ग की ओर ले जाता है।[4] 'दादू-वाणी' के मत में गुरु का मार्ग द्विमुखी होता है। एक ओर वह साधक को विषय वासनाओं के जाल से बचाता है तो दूसरी ओर वह उसे तत्वज्ञान के द्वारा, आत्म-साक्षात्कार कराने में सहायक सिद्ध होता है। तभी तो गुरु की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए दादू जी कहते हैं कि यदि एक लाख चन्द्रमा और एक करोड़ सूर्य एक साथ मिलकर अज्ञान के तिमिर को दूर करना चाहें, तो वे नहीं कर सकते, इस अज्ञान का नाश तो एक मात्र गुरु ही कर सकता है—

एक लष चन्दा आणि घरि, सूरज कोटि मिलाय।
दादू गुरु गोव्यंद बिन, तो भी तिमर न जाय ॥[5]

अतः मन को निग्रह कर जहाँ गुरु सद्मार्ग एवं मुक्ति का पथ-प्रदर्शक बनता है वहाँ कुछ साधना भी करनी पड़ती है। 'दादू-वाणी' में मोक्ष प्राप्ति के लिए योग मार्ग के अपनाने पर बल दिया गया है। पर उन्होंने योग के अनेक जटिल उपायों एवं हठ-योग का विरोध किया है। 'दादू-वाणी' में सहज-योग का ही सविस्तार वर्णन है जो कि दादू जी के स्वभाव के भी सर्वथा अनुकूल है। यों तो 'दादू-वाणी'

---

१. देखिए 'दादूदयाल की वाणी,' अंगवधु सटीक, चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी साखी ४७,पृ०२०१।
२. 'दादू जिसका दर्पण ऊजला, सो दर्पण देषै मांहि।
जिसकी मैली आरसी, सो मुष देषै नांहि ॥८९॥
'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पृ० १५२।
३. 'दादूदयाल की वाणी', स० मंगलदास, साखी १०, पृ० ३।
४. देखिए वही , साखी ११ एवं १८, पृ० ३-४।
५. देखिए वही , साखी ५६, पृ० ११।

में योग के सम्बन्ध में कुछ पारिभाषिक शब्दावली अवश्य उपलब्ध होती है। कहीं पर 'इड़ा', 'पिंगला', 'सुषमना' का उल्लेख है तो कहीं 'कुण्डलिनी', 'ध्यान' और 'समाधि' का वर्णन, कहीं 'अजपाजाप' के विषय में कुछ पद, पर वास्तव में दादू जी ने योग-शास्त्रों की सहज और सरल साधनाओं को ही स्वीकार किया है, उसके जटिल और कठिन रूप का उन्होंने परित्याग किया है। इसीलिए उनकी 'वाणी' में अधिकतर सहज-समाधि का ही भावमय चित्रण हुआ है। सहज-समाधि में 'लौ' लगते ही मन थक जाता है, वाणी मूक हो जाती है। चाहे कोई कितना चिन्तन करे, किन्तु उसका अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा अपार और इन्द्रियों की पकड़ से परे होता है। सागर में मिल जाने वाली बूँदें कैसे तोली जा सकती हैं? अवरुद्ध-वाणी कैसे बोल सकती है? अनिल पक्षी की भाँति, मन-बन्धन मुक्त होकर निस्सीम गगन में दूर-दूर तक उड़ जाता है और विचित्रता तो यह है कि उसका वर्णन नहीं करते बनता—

थकित भयो मन कह्यो न जाई, सहज समाधि रह्यो ल्यौ लाई।
जे कुछ कहिये सोचि विचारक, ज्ञान अगोचर अगम अपारा॥[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि दादू दयाल की सहज-समाधि का भी यही रहस्य है। इसमें जीव अपने को सदा अपने प्रियतम के सम्पर्क में समझा करता है और उसका शरीर संसार के भीतर ही रहकर उसके प्रभाव में यन्त्रवत् काम करता है।[2]

'दादू-वाणी' में केवल निश्रेयस ही नहीं लौकिक अभ्युदय के विषय मे भी पर्याप्त वर्णन है। दादू जी की दृष्टि समाज के लौकिक पतन की ओर भी गई है। इसीलिये 'दादू-वाणी' में सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक-रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्याचारों की उन्होंने निन्दा की है पर ऐसा करते हुए दादू जी कभी भी उग्र नहीं होते। उदाहरणतया निर्गुण-वाद में विश्वास रखने के कारण दादू जी 'प्रतिमा-पूजन' को उचित नहीं मानते। इसीलिये उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध एवं 'देवता-वाद' का खण्डन किया है किन्तु उनकी वाणी में अनावश्यक उग्रता नहीं है—

ब्रह्मा का वेद विष्णु की मुरति, पूजै सब संसारा।
महादेव की सेवा लागै, कहाँ है सिरजनहारा॥[3]

जाति-पाँति के विषय में वे सभी को केशव के कुल का ही सदस्य मानते हैं—

---

१. 'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, सं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पद २४० पृ० ४५४-४५५।

२. 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४४६।

३. 'दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० २४५।

यौवन, आनन्द, भोग और विरह का परम्परावादी तथा आधुनिक चित्रण मिलता है। रूप चित्रण की दृष्टि से 'देहवल्ली' अज्ञेय की सफल कृति कही जा सकती है:—

"देखा
व्रीड़ा हीन, इस कान्ति को,
आंखों में समेट लो,
देखो
रूप
नामहीन
एक ज्योति
अस्मिता इयत्ता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता" (पृ० १४)

इस अनावृत रूप-ज्वाला को अज्ञेय ने छक-कर भोगा है। अज्ञेय के इस भोग-प्रधान, अनियन्त्रित विलास का मुखर चित्र इन पंक्तियों में उभर आया है :—

रात बीती, यदपि उसमें संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे स्फूर्त एक अनंग भी था,
तीन की उस एकता में प्रलय ने तांडव किया था,
सृष्टि-भर को एक क्षण-भर बाहुओं ने बांध-घेरा,
(नाम तेरा)

अनियन्त्रित एवं दायित्वहीन वासना के ये चित्र अज्ञेय का सही प्रतिनिधित्व करते हैं :—

'इसी बल,
जहाँ-जहाँ पहचान हुई, मैंने
-ह ठांव छोड़ दी,
मता ने तरिणी को तीर-ओर मोड़ा,
ह डोर मैंने तोड़ दी !
हर लीक पोंछी, हर डगर मिटा दी,
(पृ० ६६)

तथा

"जो सदा बांधे रहे वह एक कारावास होगा,
घर वही है जो थके को रैन भर का हो बसेरा"
(पृ० ८०)

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० श्रीवास्तव प्रायः दस वर्ष से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। 'मानवा की हिन्दी कविता को देन' इनका शोध-ग्रंथ है। नवीन और उनका काव्य; साहित्य-शास्त्र और रूप इनकी रचनाएं हैं। इस समय वे मध्य-प्रदेश में गंज बासौदा नामक स्थान पर शासकीय महाविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

डॉ० जयनाथ नलिन एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

प्रायः २० वर्षों से डॉ० नलिन प्राध्यापन-कार्य कर रहे हैं। इनकी प्रमुख कृतियां हैं : भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप (शोध-प्रबन्ध), विद्यापति, निराला काव्य-कोश, काव्य-पुरुष निराला, हिन्दी नाटककार, हिन्दी निबन्धकार, रामचंद्रशुक्ल, चिन्तन और कला (निबन्ध), धरती के बोल (कविता), सभाई लाल (हास्य-व्यंग्य), नवाबी-सनक (एकांकी), हाथी के दांत (एकांकी)। सम्प्रति वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० जयभगवान गोयल एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर प्रादेशिक केन्द्र रोहतक में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और रीडर डॉ० गोयल १३ वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाएं पढ़ा रहे हैं। उनकी रचनाएं ये हैं : गुरु प्रताप सूरज के काव्य-पक्ष का अध्ययन (शोध-प्रबन्ध), गुरु गोविन्द सिंह का वीर काव्य, गुरु गोविन्द सिंह : विचार और चिंतन, वीर कवि दशमेश। इसके अतिरिक्त जंगनामा गुरु गोविन्द सिंह (अणी राय), गुरुशोभा (सेनापति) का सम्पादन भी उन्होंने किया है। 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य' नामक कृति मुद्रणाधीन है।

डॉ० दशरथराज एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० दशरथ राज दस वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था, दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य। इनकी प्रमुख रचनाएं हैं--हालावाद और बच्चन। कविवर सुमित्रानन्दन पंत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, कविवर रामकुमार वर्मा और उनका काव्य, रसखान और उनका काव्य, साहित्य-विमर्श, पंखों की छांव (उपन्यास), अंतिम पत्र (उपन्यास), सफर और (उपन्यास)। सम्पादित ग्रंथों में शाह मीरांजी शम्सुल्लु शाक कृत खुशनामा के साथ वली कृत प्रेमनामा (पूना विश्वविद्यालय एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यताओं के २००० रु० का अनुदान प्राप्त) उल्लेखनीय हैं। रसलीन और काव्य-शास्त्रीय अंश सम्प्रदाय और उसके प्रधान कवि नामक पुस्तकों पर कार्य समाप्त करके वे शोध-कार्य में संलग्न हैं।

१९४१ के पश्चात्—सम्भवतः अवसाद के दौरे पड़ने पर—अज्ञेय 'प्रकृति' के प्रति बहुत क्षुब्ध भी दिखाई पड़ते हैं —

'वंचना है चाँदनी रात
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार'।
(वंचना के दुर्ग : अज्ञेय)

वैसे कुल मिलाकर प्रकृति अज्ञेय के काव्य में सर्वव्यापिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है।

सुनहले शैवाल में संकलित और छायांकित प्रकृति-चित्र अज्ञेय के सर्वोत्तम चित्र हैं। सम्भ्रान्त और सम्पन्न वर्ग की रुचि, छायावादी दृष्टि तथा आत्मकेन्द्रित चिन्तन का मुंह बोलता चित्र इस संकलन की उपलब्धि कही जा सकती है। विशेषतः 'सूर्यास्त' कविता अज्ञेय की संश्लिष्ट-शैली, सूक्ष्म-पर्यवेक्षण शक्ति तथा अनूठे बिम्ब-विधान का मोहक रूप प्रस्तुत करती है —

अन्तिम रवि की अन्तिम रक्तिम किरण छू चुकी हिमगिरि भाल,
अन्तिम रक्त-रश्मि के नर्तन को दे चुके चीड़-तरु ताल,
नीलिम शिला-खंड के पीछे दीप्त अरुण की अन्तिम ज्वाल,
जग को दे अन्तिम आश्वासन अस्ताचल की ओट हुए रवि !
खोल हृदय-पट तू दिखला दे अपना उल्लास प्राणोन्माद,
शब्द-शब्द की कम्पन कम्पन में भर दे अतुलित आह्लाद,
अक्षर-अक्षर हो समर्थ बिखराने को जीवन-अवसाद,
फिर भी वर्णित हुई न होगी इसकी एक किरण भर छवि। (पृष्ठ ३०)

"सन्ध्या संकल्प' का यह चित्र सचमुच सुन्दर है :—

यह सूरज का जवा फूल,
नैवेद्य चढ़ चला,
सागर हाथों
अम्बा तिमिरमयी को, (पृ० ९)

प्रकृति को अज्ञेय ने साध्य और साधन दोनों रूपों में रूपायित किया है। अपनी वेदना, अपने संत्रास और अपने मानववादी दृष्टिकोण को काव्यमयी अभिव्यक्ति प्रकृति के संदर्भ में अज्ञेय ने दी है।

हिरोशिमा, साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान, सागर चित्र, वर्फ की झील, कलगी बाजरे की, हवाई यात्रा, प्रभृति कविताओं में अज्ञेय के चिन्तन और उनके काव्य-वैभव का मोहक चित्र देखा जा सकता है।

मानव : अज्ञेय

मानव और उसके सुख-दुःखों की कहानी कविता कहती आई है। अज्ञेय की इस कहानी में मानव-मन का कोमलतम पक्ष अर्थात् प्रेम और प्रेम की परिधि में रूप,

तुलसी आधुनिक वातायन से, मध्य युगीन रस दर्शन और समकालीन सौंदर्य-बोध, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण।

प्रो० रवेलचन्द आनन्द एम० ए० (हिन्दी)

सनातन धर्म कालेज, अम्बाला छावनी में एम० ए० की कक्षाओं को छः वर्ष से पढ़ाने वाले प्रो० आनन्द का 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन के सर्जनात्मक साहित्य' पर शोध-प्रबन्ध समाप्त-प्रायः है। 'हिन्दी का संस्मरण साहित्य' नामक इनका समीक्षा-ग्रंथ यंत्रस्थ है।

डॉ० रामदत्त भारद्वाज एम० ए० (हिन्दी, दर्शन, राजनीति), पीएच० डी० (दर्शन), डी० लिट् (हिन्दी)

डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने चार दशकों से अधिक समय तक अध्यापन किया है। आजकल वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत दिल्ली विश्वविद्यालय से संबंधित हैं। 'तुलसीदास और उनके काव्य' तथा 'तुलसी दास : व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य' (डी० लिट् का शोध-प्रवन्ध) प्रकाशित हो चुका है। द वाइफ ऑफ तुलसीदास यंत्रस्थ है। द फिलॉसफी ऑफ तुलसीदास (पी० एच० डी० शोध-ग्रंथ), ए टीचर स्पीकस, रैम्बिलज इन फिलॉसफी अभी अप्रकाशित हैं।

यौवन, आनन्द, भोग और विरह का परम्परावादी तथा आधुनिक चित्रण मिलता है। रूप चित्रण की दृष्टि से 'देहवल्ली' अज्ञेय की सफल कृति कही जा सकती है:—

"देखा
व्रीड़ा हीन, इस कान्ति को,
आंखों में समेट लो,
देखो
रूप
नामहीन
एक ज्योति
अस्मिता इयत्ता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता" (पृ० १४)

इस अनावृत रूप-ज्वाला को अज्ञेय ने छक-कर भोगा है। अज्ञेय के इस भोग-प्रधान, अनियन्त्रित विलास का मुखर चित्र इन पंक्तियों में उभर आया है :—

रात बीती, यदपि उसमें संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे स्फूर्त एक अनंग भी था,
तीन की उस एकता में प्रलय ने तांडव किया था,
सृष्टि-भर को एक क्षण-भर बाहुओं ने बांध-घेरा,
(नाम तेरा)

अनियन्त्रित एवं दायित्वहीन वासना के ये चित्र अज्ञेय का सही प्रतिनिधित्व करते हैं :—

'इसी बल,
जहाँ-जहाँ पहचान हुई, मैंने
वह ठांव छोड़ दी,
ममता ने तरिणी को तीर-ओर मोड़ा,
वह डोर मैंने तोड़ दी !
हर-लीक पोंछी, हर डगर मिटा दी,
(पृ० ६६)

तथा

"जो सदा बांधे रहे वह एक कारावास होगा,
घर वही है जो थके को रैन भर का हो बसेरा"
(पृ० ८०)

२१ वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाएँ पढ़ा रहे हैं। इनकी रचनाएँ ये हैं—वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन (शोध-प्रबन्ध) उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत, प्रसाद की नाट्य कला एवं स्कन्दगुप्त समीक्षा, भारतेन्दु की नाट्य कला एवं भारत दुर्दशा नाटक।

प्रो० रामलाल सावल एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

सनातन धर्म कालेज, अम्बाला छावनी में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० सावल महाराजा कालेज, जयपुर में स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और राजर्षि कालेज अलवर में प्रिंसिपल रह चुके हैं। इनकी प्रकाशित रचनाओं में उल्लेखनीय ये हैं : प्राचीन महाकवि, महाभियान, ऐवरेस्ट विजय, महात्मा गांधी, झांसी की रानी।

डॉ० रामलाल सिंह एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

भारत के विभिन्न स्थानों में स्थित महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के उपरान्त डॉ० रामलालसिंह अब उत्तर-प्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्य हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ ये हैं—कामायनी-अनुशीलन, समीक्षा-दर्शन (दो भाग), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त (शोध-प्रबन्ध) भाषा-दर्शन, भाषा और साहित्य, तुलसी काव्य-दर्शन, भारतीय समीक्षा, निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल। निबन्ध-निचय विचारणा आदि कई पुस्तकों का संपादन भी उन्होंने किया है।

डॉ० रामसागर त्रिपाठी एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

कन्नौज और अमरोहा में संस्कृत की कक्षाओं का अध्यापन करने के बाद डॉ० त्रिपाठी ने कुछ समय खालसा कालेज, नई दिल्ली में कार्य किया। आजकल वे श्यामलाल कालेज, दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। इनकी कृतियाँ ये हैं : मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी (शोध-प्रबन्ध, डालमिया का २१०० रु० का तथा उ० प्र० सरकार का पुरस्कार प्राप्त), ध्वन्यालोक की तारावती व्याख्या (दो भाग)। वे काव्य प्रकाश की व्याख्या लगभग आधी लिख चुके हैं। वे डी० लिट् के लि 'छाया तथा छायावाद' विषय पर शोध भी कर रहे हैं।

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे एम० ए० (हिन्दी, इतिहास), पीएच० डी० ·०० .

डॉ० दुबे आजकल सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में सह हैं। इससे पूर्व वे होशंगाबाद में एक कालेज में हिन्दी विभाग के अ हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं : बालकृष्ण शर्मा नवीन : व्यक्ति प्रबन्ध; मध्यप्रदेश सरकार द्वारा १२०० रु० का पुरस्कार प्राप्त रिवर्द्धन के साथ हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा, प्रसाद-साहित्य : कुछ वि र मान्यताओं के इनकी दो अन्य पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित हो रही हैं। वे आज त्य काव्य-शास्त्रीय अंश -काव्य-धारा का सांस्कृतिक अध्ययन' पर डी० लिट् के या है।

स्पष्ट है 'सुनहले शैवाल' में मानव का यही विलासी रूप मुख्यतः चित्रित हो सका है। कहीं-कहीं वर्गसंघर्ष, संत्रास और हिरोशिमा की भी क्षीण-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। रहस्यवादी रंगत की एक दो कवितायें भी इसमें संकलित हैं। 'पहेली' और 'भीतर जागा दाता' में अज्ञेय की आस्था तथा सुखद भविष्य में उनकी अटूट निष्ठा का प्रमाण मिलता है।

जब कभी अज्ञेय मानव को उसके स्वाभाविक परिवेश में रखकर देखते हैं तो मानव की नियति उन्हें एक 'दर्द' में दिखाई देती है। इस 'दर्द' को वे इस प्रकार स्वीकारते हैं :—

"तुमने यदि
दर्द ही लिखा है,
भद्दा कुछ नहीं लिखा, भूठा कुछ नहीं लिखा,
तो आश्वस्त रहो
हम उसे गहरा ही करेंगे, सारमय बनायेंगे,
उसमें रंग भरेंगे, रूप अवतारेंगे,
उसे मांज-मांजकर एक नई आभा देते रहेंगे,
काल भी उसे एक ओप ही देगा और !
जाओ, वह लिखा हुआ दर्द यहाँ छोड़ जाओ,
तुम्हें वह बार-बार नाना शुभ रूपों में फलेगा।"

(पृ० ३८)

असंख्य दबावों, तनावों में (सागर के माध्यम से) मानव को रखकर अज्ञेय ने आज के मानव को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की है। पर ऐसी संतुलित चेष्टाएं अज्ञेय के काव्य में कम हैं।

शिल्प

आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में अज्ञेय का काव्य-शिल्प आयास-जन्य ही कहा जा सकता है। तराशे और खरादे हुए शब्दों की जगमगाहट, संस्कृत-कोश की क्लासिकल एवम् रूढ़ शब्दावलि तथा बिम्ब-विधान की परम्परा-मुक्त शैली उनके काव्य की उल्लेखनीय विशेषता और साथ ही दुर्बलता भी कही जा सकती है! सामान्यतः प्राचीन काव्य-विधान (जिसमें छन्द-योजना भी सम्मिलित है) अज्ञेय को पसन्द नहीं है :—

"छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास,
सभी कुछ में है नियम की साँस,

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०, डी० लिट्

डॉ० त्रिगुणायत एक दीर्घकाल से हिन्दी और संस्कृत की स्नातकोत्तर कक्षाओं का प्राध्यापन कर रहे हैं। आजकल वे के० जी० के० कालेज में स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। इनकी प्रमुख कृतियां हैं : कबीर की विचार-धारा (पीएच० डी० शोध-ग्रंथ, हरजीमल डालमिया २१०० रु. का पुरस्कार), कबीर और जायसी का रहस्यवाद (उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत), हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि (डी० लिट् का शोध-प्रबन्ध, उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत), जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन।

डॉ. गोविन्दनाथ राजगुरु एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

डॉ० राजगुरु २० वर्ष से अध्यापन-क्षेत्र में हैं। इनके शोध-प्रबन्ध का विषय था 'गुरुमुखी लिपी में हिन्दी गद्य।' सम्प्रति वे पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० गोविन्दराम शर्मा एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० शर्मा १५ वर्षों से इसी कालेज में हैं। इससे पूर्व वे लाहौर के एफ़० सी० कालेज में प्राध्यापन कर चुके हैं। 'हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य', 'विद्यापति की काव्य प्रतिभा', 'हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ' नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'संस्कृत-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ' पुस्तक इस समय यंत्रस्थ है।

डॉ० चन्द्रशेखर एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० चन्द्रशेखर दस वर्षों से अधिक समय से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। 'रीति-कालीन स्वच्छन्द काव्यधारा—अभिव्यंजना-शिल्प विश्लेषण एवं मूल्यांकन पर' पंजाब विश्वविद्यालय से इन्हें पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई है। त्रिकोण की भुजाएं (ध्वनि नाटक) तथा कमल और केतकी (संगीत नाटिका) पर इन्हें पंजाब भाषा विभाग से १३०० रु. के पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। सम्प्रति वे लायलपुर खालसा कालेज, जालंधर में स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी० (हिन्दी, संस्कृत)

डॉ० त्रिपाठी २०. वर्षों से अधिक समय से अध्यापन-क्षेत्र में हैं। कहानी कला और उसका विकास, कहानी कला और हिन्दी कहानियों का विकास, चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन (शोध-ग्रंथ), मध्यकालीन हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त (शोध-ग्रंथ) आपकी कृतियां हैं। आजकल वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवाचक हैं।

कौन-सा वह ग्रर्थ जिसकी ग्रलंकृति कर नहीं सकती,
यही पैरों तले की घास,
× × ×
"ग्रहं ही यति है।

(हरी घास पर क्षण भर : ग्रज्ञेय)

छन्द ग्रौर 'प्रास' के साथ-साथ ग्रज्ञेय ने कुछ रूढ़िबद्ध उपमानों पर प्रासंगिक रूप से यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है :—

"ग्रगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की ग्रकेली तारिका,
ग्रब नहीं कहता,
....
वगैरह तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही,
ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच"

(हरी घास पर क्षण भर : कलगी-बाजरे की : ग्रज्ञेय)

परन्तु यत्र-तत्र कुछ नए उपमानों को प्रयुक्त करने के बावजूद, समूचे तौर, यह कहा जा सकता है कि ग्रज्ञेय का काव्य-बोध ग्राधुनिक काव्य के संदर्भ में दम पुराना पड़ गया है। ऐसा लगता है कि ग्रज्ञेय का कवित्व ग्राज चुक सा गया ग्रौर वे कम से कम कविता के क्षेत्र में 'ग्राउट ग्राफ डेट' हो गए हैं।

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० श्रीवास्तव प्रायः दस वर्ष से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। 'मालवा की हिन्दी कविता को देन' इनका शोध-ग्रंथ है। नवीन और उनका काव्य ; साहित्य-शास्त्र और रूप इनकी रचनाएं हैं। इस समय वे मध्य-प्रदेश में गंज वासौदा नामक स्थान पर शासकीय महाविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं।

डॉ० जयनाथ नलिन एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

प्रायः २० वर्षों से डॉ० नलिन प्राध्यापन-कार्य कर रहे हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप (शोध-प्रबन्ध), विद्यापति, निराला काव्य-कोश, काव्य-पुरुष निराला, हिन्दी नाटककार, हिन्दी निबन्धकार, रामचंद्रशुक्ल, चिन्तन और कला (निबन्ध), धरती के बोल (कविता), सभाई लाल (हास्य-व्यंग्य), नवाबी-सनक (एकांकी), हाथी के दाँत (एकांकी)। सम्प्रति वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० जयभगवान गोयल एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर प्रादेशिक केन्द्र रोहतक में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और रीडर डॉ० गोयल १३ वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाएं पढ़ा रहे हैं। उनकी रचनाएं ये हैं : गुरु प्रताप सूरज के काव्य-पक्ष का अध्ययन (शोध-प्रबन्ध), गुरु गोविन्द सिंह का वीर काव्य, गुरु गोविन्द सिंह : विचार और चिंतन, वीर कवि दशमेश। इसके अतिरिक्त जंगनामा गुरु गोविन्द सिंह (अणी राय), गुरुशोभा (सेनापति) का सम्पादन भी उन्होंने किया है। 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य' नामक कृति मुद्रणाधीन है।

डॉ० दशरथराज एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० दशरथ राज दस वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था, दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य। इनकी प्रमुख रचनाएं हैं--हालावाद और बच्चन। कविवर सुमित्रानन्दन पंत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, कविवर रामकुमार वर्मा और उनका काव्य, रसखान और उनका काव्य, सूर साहित्य-विमर्श, पंखों की छांव (उपन्यास), अंतिम पत्र (उपन्यास), सफर और सपने (उपन्यास)। सम्पादित ग्रंथों में शाह मीराँजी शम्सुल्लु शाक कृत खुशनामा, हाजी चली कृत प्रेमनामा (पूना विश्वविद्यालय एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से ३००० रु० का अनुदान प्राप्त) उल्लेखनीय हैं। रसलीन और उनका काव्य, सखी सम्प्रदाय और उसके प्रधान कवि नामक पुस्तकों पर कार्य समाप्तप्राय: है। आजकल वे शोध-कार्य में संलग्न हैं।

डॉ० धर्मपाल सैनी एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

पंजाब-विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक डॉ० सैनी एक लम्बे समय से स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। इनकी रचनाएँ हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी में भी प्रकाशित हुई हैं। एक अंग्रेजी पुस्तक का प्रणयन भी उन्होंने किया है। उनकी कुछ कृतियों के नाम इस प्रकार हैं: सन्तों के धार्मिक विश्वास (शोध-ग्रंथ), श्री गुरुग्रंथ साहिब-एक परिचय, कबीर के धार्मिक विश्वास। इनके अतिरिक्त इलियट के संस्कृति सम्बन्धी विचारों का अनुवाद भी उन्होंने किया है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन शर्मा एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० शर्मा प्राय: दस वर्षों से अध्यापन कर रहे हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में अप्रस्तुत विधान (शोध-प्रबन्ध) यंत्रस्थ है। सम्प्रति वे श्री गुरुतेगबहादुर खालसा कालेज, नई दिल्ली में प्राध्यापक हैं।

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में वरिष्ठ रीडर डॉ० कमलेश १९४९ से एम० ए० की कक्षाएँ पढ़ा रहे हैं। इनकी प्रकाशित रचनाएँ ये हैं—हिन्दी गद्य-काव्य (शोध-प्रबन्ध), वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व, राजा राधिका-रमण प्रसाद सिंह : व्यक्तित्व और कृतित्व, हिन्दी गद्य विधाएँ और विकास। इनके अतिरिक्त तू युवक है, धरती पर उतरो, दूब के आंसू, सपने मिले नामक कविता संग्रह और मैं इनसे मिला (इन्टरव्यू, दो भाग) भी प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० प्रेमनारायण टंडन एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० टंडन प्राय: तीस वर्षों से विभिन्न स्तरों की कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। आजकल वे लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं। 'ब्रजभाषा सूर कोश' के लिए इन्हें मोदी स्कालरशिप मिला था। 'हिन्दी सेवी संसार' का संपादन भी उन्होंने किया है। 'रसवंती' का सम्पादन वे कर रहे हैं। इनकी कतिपय रचनाएँ ये हैं—द्विवेदी मीमांसा, हमारे गद्य निर्माता, सूर की भाषा (शोध-ग्रंथ), सूर-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, रहस्यवाद और हिन्दी कविता, महाकवि निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व, व्रजभाषा सूर कोश, प्रेमचन्द : कृतियां और कला। इनकी रचनाओं में सूर की भाषा, एकांकी-संग्रह और रसिक-शतक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हो चुकी हैं।

डॉ० वेणीप्रसाद शर्मा एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० शर्मा अनेक वर्षों से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। 'पृथ्वीराज रासो का प्रामाणिक संस्करण' इनका शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। सम्प्रति वे डी० ए० वी० कालेज, चंडीगढ़ में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं।

परिशिष्ट

लेखक-परिचय

डॉ० मनमोहन गौतम एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

दिल्ली विश्वविद्यालय के अंगभूत देहली कालेज के हिन्दी विभाग में वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० गौतम की अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रमुख ये हैं : सूर की काव्य-कला, भ्रमरगीत का काव्य-वैभव, सरल भाषा विज्ञान, हिन्दी साहित्य का नूतन इतिहास, निबंध-भारती, निबंध-सुषमा।

डॉ० मनमोहन सहगल एम० ए० (हिन्दी दर्शन), पीएच० डी०

डॉ० सहगल प्रायः १४ वर्षों से स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। इस समय वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। इनकी कतिपय कृतियाँ ये हैं—सन्त काव्य का दार्शनिक विश्लेषण, उपन्यासकार गुरुदत्त : व्यक्तित्व और कृतित्व, भारतीय शिक्षा का इतिहास, ज़िंदगी और ज़िंदगी (उपन्यास), बदलती करवटें (उपन्यास)।

डॉ० मनोहरलाल गौड़ एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

धर्म समाज कालेज, अलीगढ़ में हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० गौड़ के शोध-प्रबन्ध का विषय था 'घनानंद और रीतिकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा'। इसके अतिरिक्त उनकी हमारी सभ्यता और विज्ञान कला, आचार्य क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा और भास की नाटक कृतियाँ छप चुकी हैं।

डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' एम० ए० (हिन्दी), पी०एचडी०

डॉ० सुरस आगरा और लुधियाना के महाविद्यालयों में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करने के उपरान्त आजकल डी० ए० वी० कालेज, जालंधर में प्राध्यापक हैं। इनकी कुछ प्रकाशित रचनाएँ ये हैं : अवधी कृष्ण काव्य और उसके कवि (शोध-प्रबन्ध), वत्सराज : एक अध्ययन, शशि गुप्त : एक अध्ययन, कबीर गवेषणात्मक अध्ययन, प्रकृति संदेश (काव्य)।

डॉ० यशगुलाटी एम० ए० (हिन्दी, अंग्रेजी), पीएच० डी०

डॉ० गुलाटी बारह वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाओं का प्राध्यापन कर रहे हैं। 'हिन्दी और पंजाबी की सूफ़ी कविता का तुलनात्मक अध्ययन' पर इन्हें पंजाब विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। निबंध-पीयूष इनकी सम्पादित पुस्तक है। 'अभिव्यक्ति' से व्यवस्था-संपादक के रूप में सम्बद्ध हैं। 'मंझन : दर्शन और काव्य' नामक इनकी पुस्तक यंत्रस्थ है।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

कवि और आलोचक डॉ० कुन्तल मेघ पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर प्रादेशिक केन्द्र, जालंधर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और रीडर हैं। इनकी प्रकाशित कृतियाँ ये हैं : 'मिथक और स्वप्न, कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका',

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित सेण्ट एण्ड्रूज कालेज, गोरखपुर और गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर में १६४६-६२ तक प्रवक्ता रहे। तत्पश्चात् उन्होंने प्रायः पाँच वर्ष राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में रीडर के पद पर कार्य किया। १६६६ से वे पूना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के आचार्य तथा अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे हैं। रस सिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण (शोध-ग्रंथ), तुलसीदास : वस्तु और शिल्प, विद्यापति : काव्य और आलोचना नामक इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'काव्यालोचन' पुस्तक यंत्रस्थ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' का सम्पादन और बंगला से सौंदर्य तत्त्व का अनुवाद भी किया है।

डॉ० ओम्प्रकाश सिंहल एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० सिंहल दस वर्ष से अध्यापन-क्षेत्र में हैं। आजकल वे श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कालेज, नई दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा 'हिन्दी गद्य-साहित्य में प्रकृति चित्रण' पर इन्हें १६६७ में पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई। 'कर्मभूमि का रचनातंत्र' नामक इनकी पुस्तक इस समय मुद्रणाधीन है।

डॉ० कमलाकांत पाठक एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

नागपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ० कमलाकांत पाठक, वर्तमान-पद पर आसीन होने से पूर्व सागर विश्वविद्यालय में भी प्राध्यापन कर चुके हैं। मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, रचना और आलोचना, हिन्दी भाषा और साहित्य जैसे आलोचनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त फूल और पत्ते (कविता-संग्रह) संगम (नाटक) जैसी सर्जनात्मक कृतियों का प्रणयन भी उन्होंने किया है। अब तक वे प्रायः दस ग्रंथों का संपादन भी कर चुके हैं।

डॉ० कुमार विमल एम० ए० (हिन्दी), डो० लिट्

डॉ० कुमार विमल १६५५ से व्यवस्थित रूप से लेखन और अध्यापन कर रहे हैं। १६६४ में इन्होंने पटना विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की। इस समय वे पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। इनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ये हैं : मूल्य और मीमांसा, महादेवी वर्मा : एक मूल्यांकन, नयी कविता, नयी आलोचना और कला, आधुनिक हिन्दी काव्य, सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व, कला-विवेचन। नयी कविता, नयी आलोचना और कला पर इन्हें बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् से एक हजार रुपये का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

तुलसी आधुनिक वातायन से, मध्य युगीन रस दर्शन और समकालीन सौंदर्य-बोध, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण।

प्रो० रवेलचन्द आनन्द एम० ए० (हिन्दी)

सनातन धर्म कालेज, अम्बाला छावनी में एम० ए० की कक्षाओं को छः वर्ष से पढ़ाने वाले प्रो० आनन्द का 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन के सर्जनात्मक साहित्य' पर शोध-प्रबन्ध समाप्त-प्राय: है। 'हिन्दी का संस्मरण साहित्य' नामक इनका समीक्षा-ग्रंथ यंत्रस्थ है।

डॉ० रामदत्त भारद्वाज एम० ए० (हिन्दी, दर्शन, राजनीति), पीएच० डी० (दर्शन), डी० लिट् (हिन्दी)

डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने चार दशकों से अधिक समय तक अध्यापन किया है। आजकल वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत दिल्ली विश्वविद्यालय से संबंधित हैं। 'तुलसीदास और उनके काव्य' तथा 'तुलसी दास : व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य' (डी० लिट् का शोध-प्रबन्ध) प्रकाशित हो चुका है। द वाइफ ऑफ तुलसीदास यंत्रस्थ है। द फिलॉसफी ऑफ तुलसीदास (पी० एच० डी० शोध-ग्रंथ), ए टीचर स्पीकस, रैम्बिलज इन फिलॉसफी अभी अप्रकाशित हैं।

डॉ० रामपूजन तिवारी एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० तिवारी २० वर्षों से भी अधिक समय से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। विश्वभारती शांति निकेतन में शिक्षा-भवन के प्रिंसिपिल; विद्याभवन के वाइस-प्रिंसिपल और हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य कर चुके हैं। सम्प्रति वे विश्वविद्यालय में प्रावटर हैं। इनकी प्रमुख कृतियां हैं : सूफ़ी मत-साधना और साहित्य, हिन्दी सूफ़ी काव्य की भूमिका (शोध-प्रबन्ध), जायसी, ब्रजबुलि साहित्य। कवीन्द्र रवीन्द्र की कविताओं के सटिप्पण संकलनों-एकोत्तर शती, गीत पंचशती और उनके नाटकों के टिप्पणी-सहित संग्रहों नाट्य सप्तक (दो भाग) का संपादन भी कर चुके हैं।

डॉ० रामप्रकाश एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० रामप्रकाश ने विभिन्न स्तरों पर बारह वर्ष तक अध्यापन किया है। 'रीतिकाल के सन्दर्भ में आचार्य अमीरदास की कृतियों का अध्ययन' पर इन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिली है। पगडंडी उपन्यास छप चुका है। आजकल वे दिल्ली विश्वविद्यालय के पत्राचार विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी), पीएच० डी०

मेरठ कालेज, मेरठ में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और मेरठ विश्वविद्यालय की हिन्दी पाठ्य-क्रम समिति एवं शोध-समिति के संयोजक डॉ० अग्रवाल प्राय:

डॉ० कृष्णदेव झारी एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० झारी दशाधिक वर्षों से हिन्दी की उच्च कक्षाओं का प्राध्यापन कर रहे हैं। इनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं : रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा, वीभत्स रस और हिन्दी साहित्य (शोध-प्रबंध), भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, उपन्यासकार प्रेमचन्द और गोदान, अष्टछाप के कवि नन्ददास, उपन्यासकार इलाचंद्र जोशी और संन्यासी। मध्यकालीन कृष्ण-काव्य तथा काव्य-मनोविज्ञान और अद्‌भुत रस मुद्रणाधीन हैं। आजकल वे डी. ए. वी. कालेज नई दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

डॉ० गंगाप्रसाद विमल एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

कवि, कहानीकार और समीक्षक डॉ० विमल आजकल देहली कालेज, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। डॉ० विमल की अनेक कहानियों का अनुवाद विदेशों में हो चुका है। समकालीन कहानी का रचना-विधान, प्रेमचन्द (पुनर्मूल्यांकन) नामक इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त डॉ० कुंतल मेघ के सहयोग में 'अभिव्यक्ति' का सम्पादन भी उन्होंने किया है। 'अज्ञेय का रचना संसार' इनकी एक संपादित पुस्तक है। मुक्ति-बोध के सृजन पर एक संपादित ग्रंथ और एक उपन्यास शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं।

डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०, डी० लिट्

पंजाब-विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर प्रादेशिक केन्द्र, शिमला में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और रीडर डॉ० गुप्त की मुख्य कृतियां ये हैं : हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी (पीएच०डी० शोध-प्रबन्ध, उत्तर प्रदेश और पंजाब की सरकारों द्वारा पुरस्कृत), साहित्य-विज्ञान (डी. लिट् का शोध-प्रबन्ध, डालमिया पुरस्कार और उत्तर प्रदेश सरकार से एक सहस्र मुद्रा के पुरस्कार प्राप्त), हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (उत्तर प्रदेश सरकार का २५०० रु. का पुरस्कार तथा हरयाणा सरकार का प्रथम श्रेणी पुरस्कार), साहित्यिक निबन्ध, बिहारी सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा, आधुनिक साहित्य और साहित्यकार, महादेवी : नया मूल्यांकन।

डॉ० गोवर्धनलाल शुक्ल एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

डॉ० गोवर्धनलाल शुक्ल प्रायः तीन दशकों से स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं। परमानन्द सागर एवं वल्लभ सम्प्रदाय शीर्षक शोध-प्रबन्ध के अतिरिक्त विष्णु प्रिया अनुशीलन, कुन्दमाला पुस्तकों का प्रणयन और रेखा तट, देव सुधा आदि का सम्पादन कर चुके हैं। 'मध्य युगीन हिन्दी भक्ति कविता' नामक निबन्ध-संग्रह यंत्रस्थ है। सम्प्रति वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के वरिष्ठ रीडर के पद पर कार्य कर रहे हैं।

२५ वर्षों से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाएँ पढ़ा रहे हैं। इनकी रचनाएँ ये है—वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन (शोध-प्रबन्ध) उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत, प्रसाद की नाट्य कला एवं स्कन्दगुप्त समीक्षा, भारतेन्दु की नाट्य कला एवं भारत दुर्दशा नाटक।

प्रो० रामलाल सावल एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

सनातन धर्म कालेज, अम्बाला छावनी में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० सावल महाराजा कालेज, जयपुर मे स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और राजर्षि कालेज अलवर में प्रिंसिपल रह चुके हैं। इनकी प्रकाशित रचनाओं मे उल्लेखनीय ये हैं : प्राचीन महाकवि, महाभियान, ऐवरेस्ट विजय, महात्मा गांधी, झांसी की रानी।

डॉ० रामलाल सिंह एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

भारत के विभिन्न स्थानों में स्थित महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के उपरान्त डॉ० रामलालसिंह अब उत्तर-प्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्य हैं। इनकी प्रमुख कृतियां ये हैं—कामायनी-अनुशीलन, समीक्षा-दर्शन (दो भाग), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त (शोध-प्रबन्ध) भाषा-दर्शन, भाषा और साहित्य, तुलसी काव्य-दर्शन, भारतीय समीक्षा, निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल। निबन्ध-निचय विचारणा आदि कई पुस्तकों का संपादन भी उन्होंने किया है।

डॉ० रामसागर त्रिपाठी एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

कन्नौज और अमरोहा में संस्कृत की कक्षाओं का अध्यापन करने के बाद डॉ० त्रिपाठी ने कुछ समय खालसा कालेज, नई दिल्ली में कार्य किया। आजकल वे श्यामलाल कालेज, दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। इनकी कृतियां ये हैं : मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी (शोध-प्रबन्ध, डालमिया का २१०० रु० का तथा उ० प्र० सरकार का पुरस्कार प्राप्त), ध्वन्यालोक की तारावती व्याख्या (दो भाग)। वे काव्य प्रकाश की व्याख्या लगभग आधी लिख चुके हैं। वे डी० लिट् के लिए 'छाया तथा छायावाद' विषय पर शोध भी कर रहे हैं।

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे एम० ए० (हिन्दी, इतिहास), पीएच० डी०

डॉ० दुबे आजकल सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर हैं। इससे पूर्व वे होशंगाबाद में एक कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं : बालकृष्ण शर्मा नवीन : व्यक्ति एवं काव्य (शोध-प्रबन्ध; मध्यप्रदेश सरकार द्वारा १२०० रु० का पुरस्कार प्राप्त), साहित्य के [illegible], हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा, प्रसाद-साहित्य : कुछ विचार, साहित्य के [illegible]। इनकी दो अन्य पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित हो रही हैं। वे आजकल 'आधुनिक हिन्दी राष्ट्रीय काव्य-धारा का सांस्कृतिक अध्ययन' पर डी० लिट् के लिए शोध-ग्रंथ लिख रहे हैं।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०, डी० लिट्

डॉ० त्रिगुणायत एक दीर्घकाल से हिन्दी और संस्कृत की स्नातकोत्तर कक्षाओं का प्राध्यापन कर रहे हैं। आजकल वे के० जी० के० कालेज में स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। इनकी प्रमुख कृतियां हैं : कबीर की विचार-धारा (पीएच० डी० शोध-ग्रंथ, हरजीमल डालमिया २१०० रु. का पुरस्कार), कबीर और जायसी का रहस्यवाद (उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत), हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि (डी० लिट् का शोध-प्रबन्ध, उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत), जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन।

डॉ. गोविन्दनाथ राजगुरु एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

डॉ० राजगुरु २० वर्ष से अध्यापन-क्षेत्र में हैं। इनके शोध-प्रबन्ध का विषय था 'गुरुमुखी लिपी में हिन्दी गद्य।' सम्प्रति वे पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० गोविन्दराम शर्मा एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० शर्मा १५ वर्षों से इसी कालेज में हैं। इससे पूर्व वे लाहौर के एफ़० सी० कालेज में प्राध्यापन कर चुके हैं। 'हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य', 'विद्यापति की काव्य प्रतिभा', 'हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ' नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'संस्कृत-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ' पुस्तक इस समय यंत्रस्थ है।

डॉ० चन्द्रशेखर एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० चन्द्रशेखर दस वर्षों से अधिक समय से अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। 'रीति-कालीन स्वच्छन्द काव्यधारा—अभिव्यंजना-शिल्प विश्लेषण एवं मूल्यांकन पर' पंजाब विश्वविद्यालय से इन्हें पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई है। त्रिकोण की भुजाएं (ध्वनि नाटक) तथा कमल और केतकी (संगीत नाटिका) पर इन्हें पंजाब भाषा विभाग से १३०० रु. के पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। सम्प्रति वे लायलपुर खालसा कालेज, जालंधर में स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी० (हिन्दी, संस्कृत)

डॉ० त्रिपाठी २० वर्षों से अधिक समय से अध्यापन-क्षेत्र में हैं। कहानी कला और उसका विकास, कहानी कला और हिन्दी कहानियों का विकास, चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन (शोध-ग्रंथ), मध्यकालीन हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त (शोध-ग्रंथ) आपकी कृतियां हैं। आजकल वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवाचक हैं।

विभाग का अध्यक्ष रह चुकी हैं। इनकी प्रकाशित कृतियाँ ये हैं : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (पीएच० डी० शोध-प्रबन्ध), ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प (डी० लिट् का शोध-प्रबन्ध, वर्ष का सर्वश्रेष्ठ शोध-प्रबन्ध होने के लिए बैनर्जी शोध-पुरस्कार और स्वर्णपदक प्राप्त), युगचारण दिनकर, तुला और तारे। इनके अतिरिक्त अनुसंधान का स्वरूप, अनुसंधान की प्रक्रिया, पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, दिनकर आदि ग्रंथों का सम्पादन भी उन्होंने किया है।

डॉ० सुरेशचंद्र गुप्त एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० गुप्त १५ वर्षों से अध्यापन कर रहे हैं। उनकी आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त (शोध-प्रबन्ध), महादेवी की साहित्य-साधना, समीक्षात्मक निबन्ध आलोचना और आलोचक, आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने मुद्राराक्षस और हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ का संपादन भी किया है। सम्प्रति वे राजधानी कालेज, नई दिल्ली में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर प्रादेशिक केन्द्र, शिमला में हिन्दी के प्राध्यापक डॉ० शर्मा लुधियाना, हिसार और चंडीगढ़ में स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाओं का प्राध्यापन कर चुके हैं। 'हिन्दी निर्गुण साहित्य के प्रेरणा-स्रोत' इनका शोध-प्रबन्ध है। मध्यकालीन भक्ति-साधना प्रकाशित हो चुकी है। आदिग्रंथ के दार्शनिक सिद्धान्त' पर वे डी० लिट् के लिए शोध-प्रबन्ध तैयार करने में संलग्न हैं।

डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी०

डॉ० वर्मा आठ वर्षों से अध्यापन क्षेत्र में है। संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति (शोध-प्रबन्ध), चंद्रावली नाटिका (संपादित), मनोवैज्ञानिक विषयों पर भाषण (अनुवाद) रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सम्प्रति वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

डॉ० हेमराज निर्मम एम० ए० (हिन्दी), पीएच० डी०

डॉ० निर्मम प्रायः ११ वर्षों से विभिन्न स्तरों पर अध्यापन कार्य कर रहे हैं। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में आधुनिक मध्यवर्गीय समाज पर इन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिली है। इनकी प्रकाशित रचनाएँ हैं—मुझे भूल जाना (उपन्यास), वसन्त फिर आएगा (उपन्यास, पुरस्कृत), टूटते बंधन (उपन्यास), रण में उतरे वीर सपूत, गद्यकार द्विवेदी। आजकल वे पंजाब विश्वविद्यालय के ईवनिंग कालेज, रोहतक में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं।

दादू कुल हमारे केशवा सगात सिरजनहार।
जाति हमारी जगत गुरु परमेश्वर परिवार ॥[1]

कबीर के समान दादू भी तीर्थों की महत्ता को स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि लोग कितने मूर्ख हैं जो अन्तर्यामी ईश्वर को ढूंढने द्वारिका, काशी और मथुरा जाते हैं—

दादू केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जाहिं।
केई मथुरा कों चले, साहिब घर ही मांहि ॥[2]

बाह्याचरों का खण्डन करने में भी वे पीछे नहीं रहे—

जोगी जगम से बड़े, बोध संन्यासी सेख।
षट दर्शन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष ॥[3]

इस प्रकार के सब पाखण्डों को छोड़, गर्व, अहं एवं भ्रम तथा अभिमान को छोड़ना ही अपने व्यक्तित्व का ध्येय समझते थे—

झूठा गर्व गुमान तजि, तजि आपा अभिमान।
दादू दीन गरीब ह्वै, पाया पद निर्वाण ॥[4]

तभी तो मानव निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। दादू जी स्वयं एक उच्च-कोटि के साधक थे, कर्मयोगी थे। वह लोगों को यही उपदेश देते हैं कि मनुष्य को अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए भी लौकिक कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। निष्काम भाव से किया गया कोई भी उद्यम साधना में बाधक नहीं होता—

दादू उदिम औगुण को नहीं, जै करि जाणै कोइ।
उदिम में आनन्द है, जे साईं सेती होइ ॥[5]

धार्मिक एकता का प्रतिपादन करते हुए 'दादू-वाणी' में अपने अन्वेषण के विषय में दादू जी कहते हैं कि उन्होंने हम सब को परख लिया है, इसमें आत्मा के सिवाय और कोई नहीं रहता चाहे वह हिन्दू है या मुसलमान—

सब हम देख्या सोधि कर, दूजा नांही आन।
सब घट एकै आतमा, क्या हिन्दू मुसलमान ॥

(दादू दयाल की वाणी, मंगलदास, पृ० ४२१)

---

१. 'दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० १७६।
पुनरावृत्ति लेख 'धर्म की एकता या एकाकारता', आचार्य क्षितिमोहन सेन, 'श्री दादू चतुरशताब्दी निबन्धमाला से उद्धृत, पृ० ३।
२. दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० ४३३।
३. देखिए वही , पृ० २८७।
४. लेख 'युग प्रवर्तक महात्मा दादू', रामदेव चौखानी, श्री दादू चतुरशताब्दी निबन्धमाला से उद्धृत, पृ० २२।
५. 'दादूदयाल की वाणी' सं० मंगलदास, पृ० ३३६।

में योग के सम्बन्ध में कुछ पारिभाषिक शब्दावली अवश्य उपलब्ध होती है। कहीं पर 'इड़ा', 'पिंगला', 'सुषमना' का उल्लेख है तो कहीं 'कुण्डलिनी', 'ध्यान' और 'समाधि' का वर्णन, कहीं 'अजपाजाप' के विषय में कुछ पद, पर वास्तव में दादू जी ने योग-शास्त्रों की सहज और सरल साधनाओं को ही स्वीकार किया है, उसके जटिल और कठिन रूप का उन्होंने परित्याग किया है। इसीलिए उनकी 'वाणी' में अधिकतर सहज-समाधि का ही भावमय चित्रण हुआ है। सहज-समाधि में 'लौ' लगते ही मन थक जाता है, वाणी मूक हो जाती है। चाहे कोई कितना चिन्तन करे, किन्तु उसका अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा अपार और इन्द्रियों की पकड़ से परे होता है। सागर में मिल जाने वाली बूँदें कैसे तोली जा सकती हैं ? अवरुद्ध-वाणी कैसे बोल सकती है ? अनिल पक्षी की भाँति, मन-बन्धन मुक्त होकर निस्सीम गगन में दूर-दूर तक उड़ जाता है और विचित्रता तो यह है कि उसका वर्णन नहीं करते बनता—

थकित भयों मन कह्यों न जाई, सहज समाधि रह्यौ ल्यौ लाई।
जे कुछ कहिये सोचि विचारक, ज्ञान अगोचर अगम अपारा ॥[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि दादू दयाल की सहज-समाधि का भी यही रहस्य है। इसमें जीव अपने को सदा अपने प्रियतम के सम्पर्क में समझा करता है और उसका शरीर संसार के भीतर ही रहकर उसके प्रभाव में यन्त्रवत् काम करता है।[2]

'दादू-वाणी' में केवल निश्रेयस ही नहीं लौकिक अभ्युदय के विषय मे भी पर्याप्त वर्णन है। दादू जी की दृष्टि समाज के लौकिक पतन की ओर भी गई है। इसीलिये 'दादू-वाणी' में सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक-रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्याचारों की उन्होंने निन्दा की है पर ऐसा करते हुए दादू जी कभी भी उग्र नहीं होते। उदाहरणतया निर्गुण-वाद में विश्वास रखने के कारण दादू जी 'प्रतिमा-पूजन' को उचित नहीं मानते। इसीलिये उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध एवं 'देवता-वाद' का खण्डन किया है किन्तु उनकी वाणी में अनावश्यक उग्रता नहीं है—

ब्रह्मा का वेद विष्णु की मुरति, पूजै सब संसारा।
महादेव की सेवा लागै, कहाँ है सिरजनहारा ॥[3]

जाति-पाँति के विषय में वे सभी को केशव के कुल का ही सदस्य मानते हैं—

---

१. 'दादूदयाल की वाणी' अंगवधूसटीक, सं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पद २४० पृ० ४५४-४५५।

२. 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४४६।

३. 'दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० २४५।

सूर्य-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित-प्रचारित साहित्यिक पुस्तकें

आलोचना

१. हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्याङ्कन ४०-००

सम्पादक : डा० यश गुलाटी

आदिकाल से आधुनिक काल तक के हिन्दी के ५२ श्रेष्ठ काव्यों की आलोचना प्रस्तुत ग्रंथ में है। सभी निबन्ध हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक, कॉलिज के प्राध्यापक एवं उच्चकोटि के विद्वानों से जो अपने विषय के विशेषज्ञ भी हैं, लिखवाए गए हैं। प्रत्येक निबन्ध पर बहु-विस्तृत आलोचना है। अनेक विद्वानों के विचारों का मंथन है। तर्क संगत विचार हैं।

२. हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों की गद्य-शैलियाँ ८-००

कमलेश्वर भट्ट एम० ए०

प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाब राय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. देवराज एवं आलोचक-प्रवर डा. नगेन्द्र की गद्य-शैलियों का विस्तृत विवेचन है। प्रारम्भ में समालोचना का उद्भव और विकास एवं गद्य-शैलियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

३. काव्य-शास्त्र की रूप-रेखा १०-००

डॉ० रामदत्त भारद्वाज

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

प्रस्तुत संस्करण डा. भारद्वाज ने पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन के साथ प्रस्तुत किया है। समय के साथ-साथ विद्वानों की विचारधारा और मान्यताओं के परिवर्तन की झलक पूर्णतः इस ग्रन्थ में दिखाई देती है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय अंश का पर्याप्त विस्तार कर उसे और स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

मानवतावादी दादू दयाल की व्यापक भावना का प्रसार पशु-पक्षियों तक हुआ है, वे वहीं मरने की इच्छा करते हैं जहाँ उनका शरीर पशु-पक्षियों के भोजन के काम आ सके। उन्होंने अपने मत का सार बताते हुए कहा है कि "तन-मन के विकारों का त्याग कर एक सच्चे साधक के अनुसार निर्लोभिता, निर्वैरता, सहनशीलता, श्रद्धा एवं विश्वास होना चाहिए—

साई सत सन्तोष दे, भाव भगति वेसासा।
सिदक सबूरी साच दे, मांगै दादू दासा॥

(दादू दयाल की वाणी, मंगलदास, पृ० ३४६)

भाषा

'दादू-वाणी' में न केवल राजस्थानी और गुजराती में अपने विचार प्रकट किए गए हैं, अपितु, ब्रज, मराठी, पंजाबी, सिन्धी भाषाओं में भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि दादू जी की मुख्य काव्य-भाषा राजस्थानी ही है क्योंकि अधिकांशतः राजस्थानी शब्द-भण्डार, कारक-चिन्हों तथा क्रिया पदों का प्रयोग ही 'दादू-वाणी' में उपलब्ध होता है। राजस्थानी भाषा और साहित्य को दादू जी की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अतः यह तो स्पष्ट है कि दादू जी का लक्ष्य सीधे-सादे शब्दों में अपने विचारों एवं अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करना था। अपनी भाषाओं को अलंकृत एवं साज-सज्जित करने का न तो उन्हें अवकाश ही था और न आवश्यकता। दादू जी की भाषा भी भावानुरूप है। सच तो यह है कि उन्होंने भाषा को भावों के सांचे में ढाल दिया है। जहाँ प्रेम की अनुभूति का वर्णन किया गया वहाँ भाषा भी सहज एवं मधुर बन पड़ी है।

अलंकार 'दादू-वाणी' में सहज रूप में ही आ गए हैं। दादू जी ने सायास अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। सन्त-काव्य में भाषा अलंकार एवं छन्द-सौष्ठव का कम ध्यान दिया गया है। 'दादू-वाणी' में समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा, उपमा, रूपक, विभावनी, विनोक्ति, कारण-माला आदि का प्रयोग स्वतः ही हो गया है। आग्रहपूर्वक अलंकार प्रयोग अथवा भाषा चमत्कार की प्रवृत्ति सन्तों के स्वभाव तथा स्तर के भी अनुरूप नहीं थी। दादू जी के काव्य में भी यही प्रवृत्ति निरपवाद रूप से सुरक्षित है।

"दादू-वाणी" में प्रतीक अपना विशेष महत्व रखते हैं। दादू जी ने सन्त परम्परा में प्रचलित प्रसिद्ध प्रतीकों का ही प्रयोग किया है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि एक प्रतीक विविध बिम्ब और वस्तुएँ प्रस्तुत करता है। एक ही प्रतीक शब्द कहीं 'जीव' के लिए है और कहीं 'माया' के लिए है। इसका कारण यह है कि वे शब्द-चयन की अपेक्षा भाव-प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान देते हैं।

४. तुलसीदास और उनके काव्य १२-५०

डॉ० रामदत्त भारद्वाज

तुलसीदास जी के ग्रंथों पर प्रमुख आलोचकों के निष्कर्ष लेते हुए स्वतन्त्र रूप से विवेचन। भूमिका रूप में तुलसी के जीवन पर विशद चर्चा भी।

५. हिन्दी-साहित्य का विकास ६-००

डॉ० वासुदेव शर्मा

द्वितीय संशोधित संस्करण

उच्च-परीक्षाओं के लिए हिन्दी-साहित्य का इतिहास। पूर्णतः परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण। विभिन्न आलोचकों के मतों पर तर्कसंगत विचार। इतिहास का अद्यतन ज्ञान।

६. हिन्दी-साहित्य की रूप-रेखा २-००

डॉ० रामचन्द्र वर्मा

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण से सरल भाषा में सरल इतिहास। हिन्दी-साहित्य की सामान्य जानकारी देने के लिए श्रेष्ठ इतिहास।

७. हिंदी-साहित्य का सरल इतिहास १-६०

तनसुखराम गुप्त

पंचम संशोधित संस्करण।

हिंदी-साहित्य के सामान्य ज्ञान के लिए एक उत्तम इतिहास। इन्टर, हायर-सेकेण्ड्री हाई स्कूल के छात्रों के लिए विशेष उपयोगी। पुस्तक के अन्त में हिन्दी-साहित्य संबंधी जानकारी के लिए अनेक परिशिष्ट।

८. साहित्य-समालोचन २-५०

सत्यप्रकाश मिलिन्द

साहित्य के विभिन्न-अंग उपयोगों पर विवेचनात्मक अध्ययन।

शोध-प्रबन्ध (प्रचारित)

९. नन्ददास : जीवन और काव्य २५-००

डॉ० सावित्री अवस्थी

दिल्ली-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

निष्कर्ष यह है कि 'दादू-वाणी' का महत्व केवल आध्यात्मिक उपदेशों अथवा सिद्धान्तों के वर्णन में ही नहीं है, अपितु सुकोमल भावों, गम्भीर अनुभूतियों, सरस-संगीत और शब्दार्थ की चमत्कृति की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व है। केवल भक्त-जन ही नहीं, साहित्यिक-समाज और संगीत-प्रेमी वर्ग के लिए भी 'दादू-वाणी' में बहुत कुछ है। सिद्धान्त-प्रतिपादन, भावमयता, एवं कला-सौष्ठव सभी दृष्टियों से 'वाणी' का स्थान सन्त-साहित्य में बहुत ऊँचा है। 'दादू-वाणी' सन्त-काव्य-धारा की एक अपरिहार्य एवं महत्त्वपूर्ण रचना है।

---

१०. हिंदी काव्य-शास्त्र में शृंगार-रस विवेचन २०-००

डॉ० रामलाल वर्मा

दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

११. बीभत्स रस और हिंदी-साहित्य २०-००

डॉ० कृष्णदेव झारी

पंजाब-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

१२. सन्त पलटूदास और पलटूपंथ १५-००

डॉ० राधाकृष्ण सिंह

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

१३. पृथ्वीराज रासो (लघुसंस्करण) १५-००

डॉ० बी० पी० शर्मा

पंजाब-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

निबन्ध—साहित्य

१४. निबन्ध-प्रभाकर ६-००

सम्पादक : डॉ० भोलानाथ तिवारी एम० ए०, डी० फिल्०

(पंचम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित उच्चकोटि के साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक निबन्धों का संग्रह।

१५. निबन्ध-सुषमा ३-५०

डॉ० मनमोहन गौतम एम० ए०, पी-एच० डी०

(दशम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

इन्टर, हायर-सेकेण्डरी स्कूल स्तर के निबन्ध एवं पत्र।

१६. प्रबन्ध-पराग १-८०

तनसुखराम गुप्त

(ग्यारहवां संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

सरल भाषा में निबन्ध, पत्र, लोकोक्तियाँ-मुहावरे, कहानी-लेखन आदि छात्रोपयोगी सामग्री।

१७. निबन्ध-चन्द्रिका ४-००

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त एम० ए०, डी० लिट्

प्रसिद्ध साहित्यकारों के ज्ञानवर्धक, जीवनोपयोगी एवं साहित्यिक लेखों का संग्रह।

का बहुत बड़ा महत्व है। 'जायसी ग्रंथावली' की लंबी भूमिका में आचार्य शुक्ल ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से 'पदमावत' का अध्ययन उपस्थित किया है। यहाँ और एक बात हम नहीं भूल सकते कि श्री शिरेफ़ ने पूरी किताब का अनुवाद अंग्रेजी में किया और इस अनुवाद ने 'पदमावत' के पठन-पाठन तथा अध्ययन में बहुत अधिक सहायता पहुँचाई।

'पदमावत' का अध्ययन उपस्थित करने के पहले जायसी के संबंध में थोड़ी-सी जानकारी प्राप्त कर लेना समीचीन होगा। जायसी का असली नाम मुहम्मद था। उन्होंने जायस नगर को अपना धर्म-स्थान बतलाया है इसलिये उनके नाम के साथ जायसी जुड़ गया है। उनके नाम के पहले मलिक लगा हुआ है इसलिये कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि उनके पूर्वज अरब थे और किसी समय आकर भारतवर्ष में बस गए थे। जायसी के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है उससे पता चलता है कि वे एक सिद्ध फ़कीर थे तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। और जिस प्रकार फ़कीरों के नाम के साथ बहुत-सी चमत्कार की कहानियाँ जुड़ जाती हैं उसी प्रकार जायसी के नाम के साथ भी जुड़ गई हैं। इन कहानियों से जायसी की लोकप्रियता और महत्ता का अनुमान लगाना तो कठिन नहीं है लेकिन उनके जीवन सम्बन्धी प्रामाणिक तथ्यों तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। जायसी की मृत्यु अमेठी में हुई जहाँ वे अमेठी के राजा की प्रार्थना स्वीकार कर रहने लगे थे।

जायसी की जन्म तथा मृत्यु तिथि को लेकर बहुत मतभेद है लेकिन उन मतभेदों के व्योरे में जाना प्रस्तुत निबंध में संभव नहीं। मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका' में इसकी चर्चा की है। मेरे मत से जायसी का जन्म ८७० हिजरी (सन् १४६४ ई०) तथा मृत्यु तिथि ४ रिजब ९४९ हिजरी (अर्थात् सन् १५४२ ई०) मानी जानी चाहिए। जायसी के जीवन की अन्य घटनाओं से इन तिथियों की संगति बैठ जाती है। इसके अनुसार 'पदमावत' की समाप्ति के समय जायसी की उम्र ७७ वर्ष की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी माना है। कुछ अन्य विद्वान् भी शुक्ल जी के मत से सहमत हैं लेकिन जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी मानना कठिन है। इसके कई कारणों में केवल एक का संकेत यहाँ किया जा रहा है। मनेरशरीफ में प्रो० हसन अस्करी को 'अखरावट' की जो हस्तलिखित प्रति मिली है वह शाहजहाँ कालीन है और उसकी पुष्पिका में 'जुम्मा ८ जुल्काद, ९११ हिजरी' लिखा हुआ है। इसका मतलब यह है कि अखरावट की रचना ९११ हिजरी में या उसके पहले हो चुकी थी। अगर जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा की अखरावट जैसी सिद्धान्तपरक प्रौढ़ रचना का प्रणयन जायसी ने ११ वर्ष या उससे कम उम्र में ही किया था। यह बात मन में नहीं आती अतएव जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी स्वीकार करना हास्यकर हो जायगा।

१८ गद्यांजली ४-००

श्री बांकेविहारी भटनागर

हिंदी के प्रमुख गद्यकारों की शैली-सूचक निबन्धों का संकलन।

जीवनी एवं संस्मरण साहित्य

१६. नाथू-ला के शहीद कैप्टेन पृथ्वीसिंह डागर २-००

तनसुखराम गुप्त

सितम्बर १९६७ में चीनी भिड़न्त में देश-रक्षा हेतु अपने २५ वर्षीय जीवन पुष्प को उत्सर्ग करने वाले वीर कैप्टेन की जीवन गाथा।

२०. पं० दीनदयाल उपाध्याय : महाप्रस्थान २-२०

तनसुखराम गुप्त

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

विस्तृत जीवन परिचय। मृत्यु विवरण। हत्या-स्थल से अन्त्येष्टि तक शव-यात्रा का मार्मिक एवं प्रामाणिक चित्रण। अस्थि-कलश-यात्रा एवं प्रयाग में अस्थि-विसर्जन तक का वर्णन। श्रद्धांजलियाँ। सूक्तियाँ। दीनदयाल जी के अन्तिम दो लेख। चित्रावली।

२१. लालबहादुर शास्त्री : महाप्रयाण ३-००

तनसुखराम गुप्त

शास्त्री जी के अन्तिम जीवन का विशद् एवं प्रामाणिक विवरण। नेताओं की मार्मिक श्रद्धाँजलियाँ।

२२. विस्मृति के भय से ३-००

तनसुखराम गुप्त

'विस्मृति के भय से' तनसुखराम जी के परिपक्व विचारों और प्रौढ़ चिन्तन का प्रतिफलन है। एक सामान्यवर्गीय जीवन में जो कुछ अनुभूति हुई, बिना अलंकरण के, किन्तु साहित्यिक भाषा में उसे प्रकट कर दिया है।

२३. जीवन के कुछ क्षणों में २-००

तनसुखराम गुप्त

द्वितीय संशोधित संस्करण

हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों एवं पत्रों द्वारा प्रशंसित संस्मरणात्मक पुस्तक। संस्मरण मध्यवर्गीय जीवन की सच्चाई स्वमेव कहते जाते हैं।

२४. भारतीय-महापुरुष ४-००

तनसुखराम गुप्त

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

१३ भारतीय महापुरुषों के जीवन-परिचय एवं उनके विचारों का विशद् विवेचन।

अपनी रानी नागमती का संदेश पा वह बहुमूल्य दहेज़ के साथ पद्मावती को लेकर चित्तौड़ के लिये प्रस्थान करता है। समुद्र के पास आकर वह अपने लोभ का परिचय देता है। परिणाम यह होता है कि जब वह अभी आधे समुद्र में भी नहीं पहुँचता कि अंधड़ आ जाता है और उसका बोहित टुकड़े-टुकड़े होकर डूब जाता है और रत्नसेन तथा पद्मावती बहते हुए अलग-अलग जा लगते हैं। समुद्र की लड़की लक्ष्मी के प्रयत्न से दोनों का मिलन होता है। समुद्र उसे पाँच रत्न देता है। राजा अपार धनराशि लेकर पद्मावती सहित चित्तौड़ पहुँचता है। राजा के प्रयत्न से पद्मावती और नागमती दोनों सौतों में मेल होता है और उन दोनों के साथ राजा सुख से दिन बिताने लगता है। यहाँ आकर कहानी ने एक नया मोड़ लिया है। राघव चेतन नामक एक पंडित जो नाना प्रकार की विद्याओं का जानकार है राजा के दरबार में स्थान पाता है। राजा का वह कृपापात्र बन जाता है। अपनी विद्या के बल पर अमावस्या को दूज का चन्द्रमा दिखलाकर दूसरे पंडितों को पराजित करता है। लेकिन जब यह भेद खुल जाता है तब राजा रुष्ट होकर उसे देसनिकाले की सजा देता है। पद्मावती को भय होता है कि कहीं वह राजा का कोई अनिष्ट न कर दे इसलिये उसे प्रसन्न करने के लिये झरोखे से वह अपना बहुमूल्य कंगन गिराकर उसे उपहार देती है। राघव चेतन उसके रूप को देखकर अचेत हो जाता है। वहाँ से वह दिल्ली चला जाता है और अलाउ ीन से पदमावती के रूप का वर्णन करता है। अलाउद्दीन पदमावती की मांग करता हुआ सरजा के हाथों रत्नसेन के पास एक पत्र भेजता है। राजा के इन्कार करने पर अलाउद्दीन क्रुद्ध होकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर देता है, लेकिन राजा को पराजित करने में असफल रहता है। चतुराई से सरजा बादशाह और रत्नसेन में मेल कराता है और रत्नसेन बादशाह को गढ़ के भीतर भोज के लिये निमंत्रित करता है। राजा और शाह शतरंज खेलते हैं इसी बीच शाह दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखकर बेहोश हो जाता है। छल से वह राजा को बंदी बनाकर दिल्ली ले जाता है। गोरा-बादल के कौशल और वीरता से राजा बंदीगृह से मुक्त होकर चित्तौड़ आता है। वहाँ लौट कर पद्मावती को छलने के लिए वह कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजे जाने की बात सुनता है। क्रुद्ध होकर रत्नसेन देवपाल से युद्ध करता है। देवपाल मारा जाता है। रत्नसेन की भी मृत्यु होती है। नागमती और पद्मावती सती हो जाती हैं। अलाउद्दीन फिर चित्तौड़ पर चढ़ आता है लेकिन ढ़ में जाकर राख के सिवा कुछ नहीं पाता।

अध्येताओं ने इसके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के ही मत को दुहराया है। इसकीथोड़ी-सी चर्चा यहाँ अपेक्षित है। सबसे पहली बात यह है कि मसनवी कहते ही उसे प्रेमाख्यानक काव्य समझ लेना ग़लत होगा। मसनवी वास्तव में फारसी का एक छन्द है जिसका उपयोग लम्बे-लम्बे काव्यों की रचना में किया गया है। वह वर्णन पन्द्रह पंक्तियों का भी हो सकता है अथवा पूरा एक काव्य-ग्रंथ। मसनवी छन्दों का उपयोग प्रकृति की सुन्दरता के वर्णन के लिए अथवा किसी धार्मिक विषय या प्रेमाख्यानक काव्य के लिये किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि फ़ारसी की बहुत-सी मसनवियों में जिस काव्य-रूढ़ि का सहारा लिया गया है उसका बहुत दूर तक पदमावत की काव्य-रूढ़ि से साम्य है, लेक़िन यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। एक तो यह कि सभी फारसी की मसनवियों में यह काव्य-रूढ़ि देखने को नहीं मिलती अर्थात् बहुत-सी फारसी की मसनवियाँ हैं जिनमें परमात्मा का स्मरण, पैग़म्बर का गुणानुवाद आदि देखने को नहीं मिलते और कथा का प्रारम्भ सीधे हो गया है और दूसरी यह है कि पदमावत की काव्य-रूढ़ि के साथ तुलना कर देखें तो कई बातों में दोनों में अन्तर पड़ जाता है जैसे (क) सन् ईसवी की सोलहवीं शताब्दी के पहले की किसी भी फारसी की मसनवी में गुरु-परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता (ख) किसी भी फारसी की मसनवी में पहले के काव्य-ग्रंथों अथवा कवियों का उल्लेख नहीं मिलता (ग) फारसी की जिन मसनवियों में यह काव्य-रूढ़ि देखने को मिलती है उनमें परमात्मा के गुणानुवाद, हज़रत मुहम्मद का स्मरण तथा पैग़म्बर के मीराज की चर्चा अवश्य रहती है, लेकिन मीराज की चर्चा ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी तक के हिन्दी के प्रेमाख्यानों में नहीं मिलती। पदमावत की काव्य-रूढ़ियों तथा कथानक-रूढ़ियों की तुलना अगर प्राकृत तथा अपभ्रंश के चरित काव्यों की उन रूढ़ियों से करें तो उनमें बहुत कुछ समानता पाई जाती है। वातावरण, शैली, छन्द तथा अलंकारों की योजना सभी दृष्टियों से पदमावत भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा में पड़ता है। कवि जिनहर्षगणि (ईसवी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) रचित 'रयणसेहरी कहा' को देखने से लगता है, जैसे जायसी ने पदमावत की कथा आदि की प्रेरणा वहीं से ली है। जिस काल में सूफी प्रेमाख्यानक काव्य लिखे जाते रहे उसी काल के हिन्दी असूफी प्रेमाख्यानक काव्यों को देखने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, लेकिन ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के सूफी कवियों को फारसी की मसनवियों से परिचय नहीं था। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। पदमावत में जिन कथानक-रूढ़ियों को हम पाते हैं वे भारतीय कथा-साहित्य की अत्यन्त सुपरिचित ... हैं, जैसे हीरामन सुग्गे का प्रसंग, सिंहल की राजकुमारी के लिये नायक

यहाँ एक दो बातों का संकेत कर ही हमें संतोष कर लेना पड़ेगा। सबसे पहली बात जो सूफी साधना में ध्यान देने की है वह यह है कि सूफी 'अहं' के विनाश के बिना साधना की सफलता नहीं मानते। वे यह भी मानते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति तभी सम्भव है जब प्रेम के द्वारा अपने 'अहं' पर विजय प्राप्त कर साधक उस परम प्रियतम के प्रेम में बेसुध हो जाय। सूफी काव्य में परमात्मा को प्रियतमा और साधक को प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। किसी भी सूफी काव्य के अध्ययन में इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि सूफी साधना के केन्द्र में परमात्मा है और प्रेम के द्वारा ही सूफी उसे प्राप्त करने की बात कहते हैं। इस दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियों का अगर विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि उनमें बहुत-सी असंगतियाँ हैं।

ऊपर की पंक्तियों में राजा को मन और पदमावती को बुद्धि कहा गया है। अगर इस प्रतीक को स्वीकार करें तो उन कई स्थलों की संगति कैसे बिठा सकते हैं जहाँ पदमावती के मुँह से राजा रत्नसेन का परम तत्व के रूप में वर्णन कराया गया है। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कथा के पूर्वार्ध में साधारणतः पदमावती का चित्रण परम सत्ता, परम सौन्दर्य के रूप में किया गया है और राजा रत्नसेन का साधक के रूप में। इसके बाद भी और कठिनाइयाँ आती हैं। नागमती को 'दुनिया धन्धा' कहा गया है। अगर इसे स्वीकार कर लिया जाय तो साधक रत्नसेन परम सत्ता पदमावती को पाकर फिर 'दुनिया धन्धा' की ओर क्यों आकृष्ट होता है। केवल इतना ही नहीं दोनों में मेल-मिलाप कराकर वह उनके साथ रहने लगता है। 'पदमावत को अगर पूरी तरह अन्योक्ति मानें तो पदमावत के अधिकांश पात्रों गंधर्वसेन, गोरा, बादल, देवपाल, लक्ष्मी, दूती आदि का कौन-सा अर्थ लेना होगा। अतएव संपूर्ण काव्य को अन्योक्ति मानने का कोई अर्थ नहीं होता। वैसे इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्वार्ध में जायसी ने कथा की योजना कुछ इस प्रकार से की है कि उस अंश को बहुत दूर तक अन्योक्ति माना जा सकता है। जायसी ने कथा के पूर्वार्ध में नाथपंथी जोगियों, सहजयानियों की साधनाओं के साथ सूफी साधना को बड़े सुन्दर ढंग से पिरो दिया है।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से भी 'पदमावत' का अध्ययन किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में इसे प्रबन्ध काव्य कहकर जो अध्ययन उपस्थित किया है उसके सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए। प्रबन्ध काव्य की चर्चा करते हुए संस्कृत के आलंकारिकों ने उसके दो भेद किए हैं।
प[illegible]ों ने पद्यात्मक श्रव्य प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य और इसे ही प्रबन्ध काव्य कहा है। दूसरी ओर गद्यात्मक श्रव्य प्रबन्ध उन्होंने कथा-आख्यायिका आदि को रखा है। इसकी विशद विवे- नहीं लेकिन ऊपर की बातों से यह समझने में कठिनाई नहीं

पदमावत की प्रबन्धात्मकता की चर्चा करते समय हमारा ध्यान सहज ही जायसी के चरित्र-चित्रण की विशेषताओं की ओर चला जाता है। पदमावत के पात्रों का चरित्र-चित्रण जायसी ने कुछ इस प्रकार से किया है कि उससे उन पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताएँ हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं करतीं। जिस उद्देश्य से कथा की योजना की गई है उसकी सिद्धि में ये पात्र साधन मात्र ही हैं। जायसी को इन पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को चित्रित नहीं करना था बल्कि मुख्य रूप से अपनी साधना के रहस्यों का उद्घाटन करना था अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मुख्य पात्रों में न हमें व्यक्तिगत विलक्षणता देखने को मिलती है न वर्गगत ही। वास्तव में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'पदमावत' पर विचार करना बहुत काम की बात नहीं होगी।

जायसी ने 'पदमावत' में सात चौपाइयों के बाद दोहे का क्रम रखा है। जहाँ तक दोहों का प्रश्न है सब समय पदमावत में दोहों की मात्राओं का नियम ठीक नहीं रखा गया है। दोहे के प्रथम और तीसरे चरणों में तेरह-तेरह तथा द्वितीय और चौथे चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। पदमावत में ऐसे भी दोहे मिलते हैं जिनमें इस नियम में व्यतिक्रम हुआ है। फारसी मसनवियों की छन्द-योजना पद्मावत आदि हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों से भिन्न है। अपभ्रंश के चरित काव्यों में जो छन्द-योजना देखने को मिलती है उसी से इन काव्यों ने प्रेरणा ग्रहण की है।

हम अभी तक 'पदमावत' के कलापक्ष की ही चर्चा करते रहे हैं लेकिन हम पहले कह चुके हैं कि पदमावत एक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है अतएव इसके अध्यात्म-पक्ष से परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है। हम पहले कह आए हैं कि पदमावत में हठयोगियों, सहजयानी सिद्धों तथा नाथजोगियों की साधना के साथ सूफी चिन्तनधारा का सुन्दर समन्वय हुआ है। विस्तार में जाने का यहाँ अवकाश नहीं अतएव संक्षेप में ही इस प्रेमाख्यान के अध्यात्म-पक्ष पर हम प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

सूफी साधना का चरम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति, परमात्मा के साथ 'एकमेक' होना माना गया है। सूफियों का कहना है कि परमात्मा जो परम-ज्योति है उसकी एक रश्मि की तरह आत्मा है। मनुष्य जब तक अविद्या के वश में रहता है तब तक उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। यही उसकी वियोगावस्था है अर्थात् वह अपने उद्गम-स्थल से बिछुड़ा हुआ रहता है। सूफी कहते हैं कि 'मनुष्य के भीतर जो ईश्वरीय अंश है और जो उस विशुद्ध सत्ता की एक चिनगारी जैसा है वह जाने या अनजाने इस बात की सतत चेष्टा में लगा रहता है कि वह अपने उसी उद्गम-स्थल को लौट कर उसके साथ एक हो जाय लेकिन जब तक उसका यह अ-सत् तत्त्व

दादू कुल हमारे केशवा सगात सिरजनहार।
जाति हमारी जगत गुरु परमेश्वर परिवार ॥[1]

कबीर के समान दादू भी तीर्थों की महत्ता को स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि लोग कितने मूर्ख हैं जो अन्तर्यामी ईश्वर को ढूंढने द्वारिका, काशी और मथुरा जाते हैं—

दादू केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जांहि।
केई मथुरा कौं चले, साहिब घर ही मांहि ॥[2]

बाह्याचरों का खण्डन करने में भी वे पीछे नहीं रहे—

जोगी जगम से वड़े, बोध संन्यासी सेख।
षट दर्शन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष ॥[3]

इस प्रकार के सब पाखण्डों को छोड़, गर्व, अहं एवं भ्रम तथा अभिमान को छोड़ना ही अपने व्यक्तित्व का ध्येय समझते थे—

झूठा गर्व गुमान तजि, तजि आपा अभिमान।
दादू दीन गरीब ह्वै, पाया पद निर्वाण ॥[4]

तभी तो मानव निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। दादू जी स्वयं एक उच्च-कोटि के साधक थे, कर्मयोगी थे। वह लोगों को यही उपदेश देते हैं कि मनुष्य को अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए भी लौकिक कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। निष्काम भाव से किया गया कोई भी उद्यम साधना में बाधक नहीं होता—

दादू उदिम औगुण को नहीं, जै करि जाणै कोइ।
उदिम में आनन्द है, जे सांई सेती होइ ॥[5]

धार्मिक एकता का प्रतिपादन करते हुए 'दादू-वाणी' में अपने अन्वेषण के विषय में दादू जी कहते हैं कि उन्होंने हम सब को परख लिया है, इसमें आत्मा के सिवाय और कोई नहीं रहता चाहे वह हिन्दू है या मुसलमान—

सब हम देख्या सोधि कर, दूजा नांही आन।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मुसलमान ॥

(दादू दयाल की वाणी, मंगलदास, पृ० ४२१)

---

१. 'दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० १७६।
पुनरावृत्ति लेख 'धर्म की एकता या एकाकारता', आचार्य क्षितिमोहन सेन, 'श्री दादू चतुरशताब्दी निबन्धमाला से उद्धृत, पृ० ३।

२. दादूदयाल की वाणी', सं० मंगलदास, पृ० ४३३।

३. देखिए वही , पृ० २८७।

४. लेख 'युग प्रवर्तक महात्मा दादू', रामदेव चौखानी, श्री दादू चतुरशताब्दी निबन्धमाला से उद्धृत, पृ० २२।

५. 'दादूदयाल की वाणी' सं० मंगलदास, पृ० ३३६।

उस समय वह समझ जाता है कि इस 'मैं' के कारण ही उस परम प्रियतम और उसके बीच इतना बड़ा व्यवधान था। इस ज्ञान के साथ वह उसी का हो जाता है। वह यह समझ जाता है कि अपने को वह जो कुछ भी समझ रहा था वह केवल भ्रम मात्र था क्योंकि नचाने वाला तो वही परम-प्रियतम है। साधक (रत्नसेन) गुरु (पदमावती) को लक्ष्य कर कहता है :

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा। कोटि अँतरपट बिच हुत दीन्हा॥
जौ चीन्हा तौ और न कोई। तन मन जिउ जोबन सब सोई॥
हौं, हौं कहत धोख अंतराहीं। जौं भा सिद्ध कहाँ परछाहीं॥

(२४ : २४५)

एक स्थल पर जायसी ने 'मैं' और 'तू' के द्वैतभाव के मिटने की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है :

हौं हौं कहत मंत सब कोई। जौं तू नाहि आहि सब सोई॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला॥

(२२ : २१६)

सूफी साधक प्रेम के द्वारा 'अहं' पर विजय प्राप्त कर जब उस परम प्रियतम का ज्ञान लाभ करता है तब उसके प्रेम की व्याकुलता चरम पर पहुँच जाती है। इस प्रेम में एक ओर विरह की वेदना और दूसरी ओर प्रेम का आनन्द बराबर बने रहते हैं। सूफियों के 'प्रेम की पीर' यही है। यह विरह और पीर सूफी साधकों का संबल है। जायसी कहते हैं :

पेमहि माहँ बिरह औ रसा। मैन के घर मधु अंब्रित बसा॥

उस विराट्, अनन्त-सौन्दर्य के प्रेम में सारी सृष्टि निमग्न है। उस प्रेम को पाने के लिये विश्व-ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु लालायित है अतएव उसके वियोग से सभी व्याकुल हैं। उस परम सौन्दर्य के विरह की अग्नि से सूर्य रात-दिन जल रहा है और थोड़ी देर के लिये भी स्थिर नहीं होता।

बिरह की आगि सूर नहिं टिका। रातिहुँ दिवस जरा औ धिका॥
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा। थिर न रहै तेहि आग अपारा॥

(१६ : १०)

इस साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिये जायसी ने जहाँ एक ओर सूफी साधना का उल्लेख किया है वहाँ दूसरी ओर सिद्धों और नाथजोगियों का जिक्र

सूफी मार्ग की चार मंजिलों की ओर संकेत करते हुए जायसी कहते हैं :
.ि वसेरें सों चढ़ै सत सौं चढ़ै जो पार'। (पदमावत २ : ४१)

कबीर के समान दादू जी ने उलटबासियों का प्रयोग तो किया है किन्तु 'दादू-वाणी' में उलटबासियों की संख्या अधिक नहीं है। सम्भवतः युग के प्रभाव के कारण उन्हें भी कभी इनका प्रयोग करना पड़ा है अन्यथा उलटबासियों जैसी प्रवृत्ति उनके सहज-स्वभाव के विरुद्ध थी। इसी कारण दादू जी की वाणी में थोड़ी सी उलट-बासियां ही मिलती हैं जो सहज ही समझ में आ जाने योग्य होती हैं।

'दादू वाणी' में सर्वप्रिय छन्द दोहा अथवा साखी का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। पर दादू जी ने इन छन्दों की लय पर ही अधिक ध्यान दिया है, मात्रा-पूर्ति पर कम। इनकी 'वाणी' में कहीं वर्ण की कृपणता है, तो कहीं मात्राओं की अत्यधिक उदारता, 'दोहा' का विपरीत छन्द 'सोरठा' भी 'दादू-वाणी' में उपलब्ध है। 'वाणी' के अन्त में दी गई आरती के अन्तर्गत कवित्त, सवैया का भी प्रयोग ढूंढा जा सकता है। पर 'दादू-वाणी' का अधिकांश भाग दोहा अथवा साखी के रूप में ही है।

साखियों के अतिरिक्त शब्द का प्रयोग 'दादू-वाणी' में किया गया है जिसका अधिकांश भाग गेय है। दादू जी से पूर्व पद-परम्परा चल रही थी। 'दादू-वाणी' के पदों में भी आत्मानुभूति, संगीतात्मकता, रसमयता, तन्मयता, मार्मिकता एवं भाव-माधुर्य पाया जाता है, जिसके कारण पद हृदयग्राही बन गए हैं—

सजनी रजनी घटती जाइ।
पल-पल छीजै अवधि दिन आवै, अपना लाल मनाइ ॥टेक॥
अतिगति नींद कहा सुषि सोवे, यहु औसर चलि जाइ।
यहु तन विछुरे बहुरि कहाँ पावै, फिरि पाछै पछिताइ ॥१॥
प्रान पति जागै सुन्दरी कहा, सोवे उठि आतुर गहि पाइ।
कोमल वचन करुना करि आगै, नष सष रहु लपटाइ ॥२॥
सषी सुहाग सेज सुष पावे, प्रीतम प्रेम बढ़ाइ।
दादू भागी बड़े पीव पावैं, सकल सिरोमनि राइ ॥३॥[1]

उक्त पद में गेयता अपनी चरम सीमा पर है, शृंगार रस का सम्यक् परिपाक हुआ है जिनसे रसात्मकता की सृष्टि हुई है। इसी कारण इन पदों में संगीत की चारुता ने इनको संगीत प्रेमियों का कण्ठहार बना दिया है। दादू जी स्वयं संगीत के ज्ञाता नहीं थे, तो भी सहज ही संगीत का प्रवेश उनकी 'वाणी' में हो गया है। कुछ भी हो संगीत के विधान से 'दादू-वाणी' की महत्ता पर्याप्त सीमा तक बढ़ी है, यह निश्चित है।

---

१. 'दादूदयाल ग्रंथावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पद १६, पृ० ३६२।

है। यहीं पहुँचना योगी का लक्ष्य होता है लेकिन यहाँ पहुँचना कठिन है। योग की क्रियाओं द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है। यहाँ तक पहुँचने का पथ जानना अत्यन्त कठिन है। इस ज्ञान को प्राप्त कर ही साधक सिद्धि पाता है। जायसी कहते हैं:

जस मरजिया समुँद धँसि मारैं हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेहि ओहि सरग दुवारी औ चढ़ु सिंघल दीप॥ (२२ : २१५)

जायसी ने हठयोगियों के चाँद और सूरज के प्रतीक को ग्रहण किया है। शिव और शक्ति को सूरज और चाँद कहा गया है और फिर इन दोनों के योग से परम पद की प्राप्ति की बात कही गई है। इन दोनों के मिलन को महासुख कहा गया है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है और यह सामरस्य ही परम आनन्द है। सहस्रार चक्र का महासुख यही है जहाँ पहुँचने पर जन्म-मरण का चक्कर नहीं रह जाता। यहाँ संसार के सभी बंधनों से मुक्ति प्राप्त होती है और उस मुक्ति के आनन्द का उपभोग होता है। इन प्रतीकों को जायसी ने पूर्ण रूप से अपनाया है। जायसी ने इसीलिये रत्नसेन को सूरज और पदमावती को शक्ति कहा है और फिर इन दोनों के प्रेम और विवाह का वर्णन किया है:

सुरुज पुरुस चाँद तुम्ह रानी। अस बर देव मिलावा आनी।
चाँद सुरुज सिउँ होइ बिआहू। बारि बिधाँ सब बेधब राहू॥
(२० : १९८)

अत्यन्त संक्षेप में पदमावत के कला क्ष तथा अध्यात्म पक्ष से परिचय पाने का हमने प्रयत्न किया है। पदमावत के अध्ययन की भिन्न-भिन्न दिशाओं को उपस्थित करना इस छोटे से प्रबन्ध में सम्भव नहीं। इसमें उसका अध्ययन एक नई दृष्टि से किया गया है।

६

पदमावत

डा० रामपूजन तिवारी

मलिक मुहम्मद जायसी की सुप्रसिद्ध कृति 'पद्मावत' हिन्दी के अभी तक के उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में निस्सन्देह श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता कवि-कर्म की कुशलता में जिस प्रकार देखने को मिलती है उसी प्रकार विचारों की प्रौढ़ता तथा कथा की योजना में भी देखने को मिलती है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस काव्य को लोगों ने बहुत पहले ही बड़े आग्रह से अपनाया। फ़ारसी तथा नागरी लिपि में इस काव्य की बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानों में पाई गई हैं। केवल इतना ही नहीं इस काव्य ने ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के बंगाली कवि अलाओल का ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने बंगला में इसका अनुवाद किया। वैसे यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बंगला का यह अनुवाद अलाओल की काव्य-प्रतिमा और मौलिकता का भी परिचय देता है। अलाओल ने बहुत स्थलों पर स्वतन्त्रता से काम लिया है। इस काव्य का फ़ारसी अनुवाद ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। इसके फ़ारसी के अनुवादक मुल्ला अब्दुश्शकूर बज्मी ने इसे जहाँगीर को समर्पित किया था।

लेकिन सबसे आश्चर्य की बात यह है कि अवधी भाषा में लिखे इस सुन्दर काव्य को हिन्दी-जगत् प्रायः भूल चुका था। इस काव्य की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट करने का सबसे अधिक श्रेय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी और जार्ज ग्रियर्सन को है। सुधाकर द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी है लेकिन वे इस काम को पूरा नहीं कर सके। उनकी टीका सहित इस ग्रन्थ के केवल पच्चीस खंड ही प्रकाशित हुए। जार्ज ग्रियर्सन ने अंग्रेजी में इसकी भूमिका लिखी है। इस भूमिका तथा द्विवेदी जी की टीका ने इस ग्रंथ की विशेषताओं को सुन्दर ढंग से उद्घाटित किया है। वैसे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि द्विवेदी जी के सामने पद्मावत की जो प्रति थी उसका पाठ अत्यन्त भ्रष्ट था अतएव उनकी व्याख्या में भूलों का होना बिल्कुल स्वाभाविक था। इस संस्करण के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित संस्करण

काव्यों की रचना की।[1] मृगावती, पदमावत, चित्ररेखा और मधुमालती आदि की कथाएँ इसी कोटि की हैं। अतएव यह निष्कर्ष निकाल लेना उचित ही प्रतीत होता है कि जायसी ने मधुमालती की पूर्व-प्रचलित लोक-कथा का ही संकेत किया है न कि मंझन की मधुमालती का।

जहाँ तक मंझन का सम्बन्ध है उसने इस विषय में दो विरोधी बातें कही हैं। एक स्थान पर वह कहता है कि यह कथा उसके चित्त में उत्पन्न हुई :—

कथा एक चित्त दइयं उपानी। सुनहु कान दे कहौं बखानी।[2]

परन्तु एक अन्य स्थल पर वह इसे द्वापर से ही प्रचलित घोषित करता है।

आदि कथा द्वापर चलि आई। कलिजुग महं भाखा कै गाई।[3]

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए इसे मंझन द्वारा कल्पित कथा मानना कठिन है और इसे लोक-प्रचलित ही स्वीकार करना होगा।

मंझन की मधुमालती सूफी सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से विशेष महत्व की अधिकारिणी है। जायसी की अपेक्षा मंझन ने पारमार्थिक संकेत भले ही कम सन्निविष्ट किए हों, परन्तु सूफ़ी-दर्शन में 'वुजूदिया' मत का जैसा स्वप्न और निर्भ्रम प्रतिपादन मधुमालती में हुआ है, वैसा पदमावत ही नहीं किसी अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यान में भी नहीं दीख पड़ता। वस्तुतः जायसी, नूरमुहम्मद आदि अधिकांश कवियों का व्यक्तित्व समाहारवादी है और उन्होंने परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को एक साथ स्वीकार कर लिया है जबकि एकाध स्थल को छोड़कर मंझन ने बहुत ही सुलझे हुए दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

अध्यात्म-निरूपण ब्रह्म

मंझन के परमतत्त्व निरूपण के विषय में डा० माताप्रसाद गुप्त ने यह मत प्रकट किया है कि मंझन इस्लाम से लगाव रखते हुए भी भारतीय अद्वैतवाद के खुले समर्थक थे।[4] उन्होंने यह भी लिखा है कि भारतीय अद्वैतवाद जिसके लिए मंसूर हल्लाज ने अपनी वलि दी थी, सूफ़ी-धर्म से बहुत कुछ बहिष्कृत हो गया था।[5] डा० गुप्त के यह दोनों निष्कर्ष भ्रांतिजनक हैं। सर्वप्रथम वायजीद अल विस्तामी (मृ० ८७४-७५ ई०) नामक सूफ़ी की विचारधारा पर भारतीय अद्वैतवाद का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। उसके बाद मंसूर हल्लाज (मृ० ८५८—९२२) ने अपनी क्रांतिकारी धारणाओं के लिए आत्म-बलिदान किया था, परन्तु इसका जैसा सुन्दर

---

१. द्रष्टव्य (क) मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोकतान्त्रिक अध्ययन—डा० सत्येन्द्र पृ० २९०।

(ख) हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्त्व—डा० रवीन्द्र भ्रमर, पृ० ७२

२. मधुमालती—डा० माताप्रसाद गुप्त, छन्द ४०।

३. वही, छन्द ४४।

४. मधुमालती—भूमिका, पृ० २१।

५. वही, पृ० २०।

जायसी की गुरु परंपरा को लेकर भी नाना प्रकार के मत उपस्थित किए गए हैं। उनकी चर्चा करने का यहाँ अवकाश नहीं। जायसी सम्बन्धी अपनी नई पुस्तक में मैंने दिखलाया है कि जायसी के गुरु शेख बुरहान महदवी थे। 'गुरु मोहदी' के आधार पर जायसी के गुरु का नाम मुहिउद्दीन बतलाने का प्रयास किया गया है जो गलत है। यहाँ 'मोहदी' का अर्थ 'महदी का अनुयायी' है। महदी के अनुयायियों में अपने नाम के साथ महदी या महदवी लगाने के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती को सब समय पीर कहकर और शेख बुरहान को सब समय गुरु कहकर जायसी ने स्मरण किया है। सैयद अशरफ उनके अत्यन्त प्रिय पीर थे। उनके प्रति जायसी की अगाध श्रद्धा थी। चिश्तियों की परंपरा की जिन्हें जानकारी है उनके लिये गुरु और पीर के रहस्य को समझना बिल्कुल कठिन नहीं।

पदमावत की रचना का प्रारंभ ९२७ हिजरी में हुआ और समाप्ति एक लंबे अरसे के बाद किसी समय हुई। शेरशाह वाला अंश निश्चित रूप से उस काल में जोड़ा गया है जब शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर आसीन था। पदमावत के रचनाकाल को लेकर जो बहुत से मत उपस्थित किए गए हैं उनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना संभव नहीं। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहकर संतोष कर लेता हूं कि पदमावत में आए हुए 'नौ सै सताइस' पाठ को 'नौ सै सैंतालिस' पढ़ लेने की भूल की गई है।

'पदमावत' की अधिकांश और अच्छी प्रतियों में खंडों का विभाजन नहीं किया गया है। शुक्ल जी के संस्करण में खंडों का विभाग किया हुआ है तथा विभागों के शीर्षक दिए हुए हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने ऐसा नहीं किया है क्योंकि उन्हें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है।

'पदमावत' के प्रारंभ में सृष्टिकर्ता का स्मरण किया गया है तथा हजरत मुहम्मद, चार खलीफ़ों और तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शेरशाह का गुणानुवाद किया गया है। जायसी ने इसके बाद अपनी गुरु-परंपरा तथा अपने चार मित्रों का जिक्र किया है। इस प्रसंग को समाप्त करते हुए कवि ने विनम्रता प्रदर्शित की है और पदमावत का कथासार दिया है। कथा संक्षेप में यों है : चित्तौड़ का राजा रत्नसेन सिंहल की राजकुमारी पदमावती के रूप-गुण की चर्चा सुन उसे प्राप्त करने के लिये अपने साथियों सहित जोगी होकर निकल पड़ता है। उसका मार्गदर्शक हीरामन सुग्गा है। रास्ते में नाना प्रकार की कठिनाइयों को झेलते हुए रत्नसेन सिंहल पहुँचता है। वहाँ भी उसे विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, लेकिन अंत में वह पद्मावती को प्राप्त करता है और उसके साथ उसका विवाह संपन्न होता है। सुख-आनंद का उपभोग करता हुआ राजा कुछ समय सिंहल में बिता देता है। चित्तौड़ से

होते हुए भी समस्त स्थानों में प्रकट है और किसी रूप का न होते हुए भी अनेक रूप वाला है।[1] ब्रह्म आदि का भी आदि और अंत का भी अंत है। वह एक ही अर्थ है पर उसके जो रूप हैं वे अनन्त हैं।[2] तीनों लोकों को आपूर्ण करने वाली एक ज्योति सर्वत्र है, उस ज्योति की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ हैं और उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं।[3] मंझन के परमतत्त्व सम्बन्धी दृष्टिकोण का यही मुख्य रूप है।

इसके अतिरिक्त कतिपय पंक्तियों में उसने ब्रह्म का जो रूप वर्णित किया है, वह कुरान में वर्णित अल्लाह के रूप से भी मिल जाता है। कुरान में खुदा को जगत् का कर्ता, हर्ता और पालक बताया गया है। उसे दयालु भी कहा गया है।[4] मधुमालती में भी इस धारणा का अनुसरण किया गया है।[5] अधिकांश सूफ़ी ब्रह्म को सर्वगत और सर्वातीत दोनों मानते हैं। उनके अनुसार जगत् तो ईश्वर है परन्तु ईश्वर जगत् ही नहीं। इसे ईश्वराधिकत्ववाद कहा जाता है।[6] मंझन ने एकाध स्थल पर 'सरब लीन पै आपु निनारा' कहकर इसे स्वीकार किया है।[7] भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने ब्रह्म का विभिन्न प्रकार से निरूपण किया है, परन्तु जब वह असमर्थ हो गए हैं तो उन्होंने उसे अनिर्वचनीय बताया है। यही स्थिति प्रसिद्ध सूफी कवि रूमी की है। उसके ब्रह्म-निरूपण में सभी मतों के तत्त्व खोजे जा सकते हैं, परन्तु उसका प्रधान स्वर यह है कि सांसारिक शब्दावली ब्रह्म-वर्णन में असमर्थ और अक्षम है।[8] मंझन भी कहते हैं कि देवता, मनुष्य, नाग सभी यदि करोड़ों वर्ष तक उसकी स्तुति भी करें तो वे कहें कि जैसा तू है, वैसा हम किसी को नहीं जानते। करोड़ों वर्षों तक यदि भ्रमण कर आए तो भी बेचारी बुद्धि उसे कहाँ पा सकती है।[9]

हिन्दी सूफ़ी कवियों द्वारा 'यत्पिंडे तत्ब्रह्मांडे' का सिद्धान्त स्वीकृत देखकर कुछ आलोचकों ने इसमें भारतीय प्रयोग-दर्शन का प्रभाव खोजने का प्रयत्न किया है। परन्तु डॉ० एनामुलहक इसे वुजूदी विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं।[10] इसका मूल चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह निश्चित है कि यह सूफ़ीमत में

---

१. मधुमालती छन्द २।
२. वही, छन्द ६।
३. वही, छन्द २।
४. देखिए कुरान १३/१६, २/२६३; तथा तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत—पं० चन्द्रबली पांडे, पृ० ६५।
५. मधुमालती, छन्द ३, २४०।
६. सूफ़ी-इज़्म एण्ड वेदान्त—डा० रोमा चौधरी, भाग १, पृ० ६-१०।
७. मधुमालती, छन्द ४।
८. सूफ़ी-इज़्म एण्ड वेदान्त, पृ० १०।
९. मधुमालती, छन्द ३।
१०. इन्डो इरानिका, वर्ष ३, संख्या ३, पृ० २८।

चित्तौड़ की पद्मिनी का अन्य स्त्रियों के साथ जौहर ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, लेकिन यह समझ लेना गलत होगा कि जायसी ने संपूर्ण रूप से इतिहास को अपने काव्य का आश्रय बनाया है। वास्तव में इस अंश में कुछ इतिहास, कुछ अनुश्रुतियाँ तथा कुछ कवि की कल्पना का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख है भले ही वे ऐतिहासिक हों, भले ही अलाउद्दीन ऐतिहासिक पुरुष हो लेकिन जायसी ने अपने ढंग से उनका उपयोग किया है। भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों को नायक बनाया गया है लेकिन उन्हें लेकर जिन कथाओं की सृष्टि की गई है वे कवि-कल्पित हैं या लोक-प्रचलित कथाओं पर आधारित हैं। 'पदमावत' के कथानक को भी इसी दृष्टि से देखना समीचीन होगा।

इतिहास की दृष्टि से 'पदमावत' में कई असंगतियों की ओर आचार्य गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि रत्नसिंह चित्तौड़ की गद्दी पर एक वर्ष से अधिक नहीं था जब कि पदमावत में अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आठ वर्षों तक घेरा डालने की बात कही गई है। इसी प्रकार उसके दो बार चढ़ाई करने की बात कवि की कल्पना मात्र है। अलाउद्दीन से लड़ाई करते-करते ही रत्नसिंह मारा गया और पद्मिनी जौहर की अग्नि में जल मरी थी। कवि ने इसे दूसरा ही रूप दिया है। रत्नसेन का बंदी बनाकर दिल्ली ले जाया जाना, दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखना, गोरा-बादल की लड़ाई, राघवचेतन की कल्पना आदि का समर्थन इतिहास से नहीं होता। अलाउद्दीन को लेकर बहुत-से काव्य लिखे गए हैं जिनमें उसकी रोमानी प्रवृत्ति को बहुत रस लेकर चित्रित किया गया है। वास्तव में जायसी ने लोक-प्रचलित कथाओं और परंपराओं को सुन्दर ढंग से अपनी रचना में पिरोया है। इसी प्रकार सिंहल तथा रत्नसेन की सिंहल-यात्रा के समय जिन स्थानों के नाम कवि ने लिए हैं उनकी भौगोलिक स्थिति को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। वास्तव में यह एक कथानक-रूढ़ि हो गई थी। तत्कालीन अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों के अध्ययन से बात यह स्पष्ट हो जाती है। साधन के 'मैनासंत' बीसलदेव रास आदि में भी इसी तरह स्थानों के नाम लिए गए हैं। सिंहल यात्रा भी एक सुप्रसिद्ध कथानक-रूढ़ि हो गई थी। अपभ्रंश के काव्यों में सिंहल यात्रा, नौका डूबी तथा सिंहल की राजकुमारी के वर्णन प्रायः ही देखने को मिलते हैं।

पदमावत के प्रारम्भ में जिन काव्य-रूढ़ियों (जैसे परमात्मा का स्मरण, पैगम्बर का गुणानुवाद, गुरु-परम्परा आदि) को जायसी ने अपनाया है उनका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इन काव्य-रूढ़ियों को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बतलाया है कि पदमावत की रचना 'भारतीय चरित्र-काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है।'[1] बाद के

जगत

यह कहा जा चुका है कि अनेक सूफ़ी यह मानते हैं कि परमात्मा ने सर्वप्रथम अपनी ज्योति से नुरुल मुहम्मदिया का निर्माण किया। इस प्रथम ज्योति का साक्षात्कार कर परमात्मा मुग्ध हो गया और उसी के लिए इस सृष्टि की रचना हुई। वह ज्योति ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है।[१] इसके साथ ही वे इस सृष्टि का प्रथम-प्राकट्य प्रेम को मानते हैं।[२] मंझन ने भी यह कहा है कि इस सृष्टि का मूल प्रेम है। प्रेम के लिए ही ब्रह्म ने संसार को प्रकट किया और प्रेम को ग्रहण कर ही वह प्रकट हुआ।

प्रेम लागि संसार उपावा, पेम गहा विधि परगट आवा।[३]

मंझन की मुहम्मद सम्बन्धी धारणा का विवेचन करते हुए यह संकेत किया जा चुका है कि उन्होंने भी मुहम्मद को सृष्टि का निमित्त, उपादान और आदिकारण स्वीकार किया है।

कुरान में सृष्टि की उत्पत्ति कुन (होजा) से बताई गई है।[४] उदार सूफ़ी इसका अर्थ यह कहते हैं कि कुन कहने से आलमे-अम्र (आध्यात्मिक-जगत्) की सृष्टि हुई।[५] मंझन ने अपने काव्य में कतिपय स्थलों पर वचन की महत्ता का वर्णन किया है। उन उक्तियों में सूफ़ियों की इस धारणा का अनुसरण किया गया है :

प्रथमैं आदि सिस्टिहु के पारा। हरि मुख बचन लीन्ह ओतारा।
एकै वचन आदि उंकारा। भल मंद होइ व्यापा सयंसारा।[६]

इसके अतिरिक्त सूफ़ी कुरान को ईश्वर का सच्चा वचन भी मानते हैं और पूर्ण मानव (इन्सानै-कामिल) को शब्द भी। सर्वश्रेष्ठ कलिमः (वचन) मुहम्मद या उनकी वास्तविकता को माना गया है।[७] मंझन ने 'परथम मानुस होइ औतरिया' में वचन के रूप में मुहम्मद की वास्तविकता और 'बचन सरग सेंते भुइं आवा। औ विधनै जग बचन पठावा।[८] में कुरान की ओर संकेत किया है।

जीव

की समुद्रयात्रा, यात्रा की विपत्तियाँ, नौका-डूबी, कुटनी प्रसंग, नायक नायिका का शिव मन्दिर में साक्षात्कार आदि।

'पदमावत' का अध्ययन करते समय यह भी प्रश्न उठाया गया है कि यह अन्योक्ति है। बहुत से अध्येताओं ने उसे अन्योक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है "वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिए। पदमावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है। केवल बीच-बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है।" वास्तव में अनेक स्थलों पर प्रस्तुत के वर्णन द्वारा जायसी ने आध्यात्मिक संकेत किए हैं। एक, दो उदाहरण नीचे उद्धत किए जा रहे हैं। सिंहल द्वीप के वर्णन में कवि ने प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत की ओर ही संकेत किया है अर्थात् कवि ने समासोक्ति पद्धति का सहारा लिया है।

थि जौं पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा॥

इसी प्रकार नागमती के प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियाँ भी अप्रस्तुत का ही संकेत करती हैं:

मान मते हौं गरब जो कीन्हा। कन्त तुम्हार मरम मैं चीन्हा॥
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगन करहु बिनहा॥

जिन अध्येताओं ने इसे अन्योक्ति सिद्ध करना चाहा है वे जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करते है:

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदहं भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुस के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुवा जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

वैज्ञानिक प्रणाली से जिन अध्येताओं ने पदमावत का पाठ निर्धारण किया है वे उपर्युक्त पंक्तियों को प्रक्षिप्त मानते हैं। इन पंक्तियों को वे जायसी लिखित नही मानते। वैसे इन पंक्तियों की जायसी लिखित अगर स्वीकार भी कर लिया जाय और यह मान भी लिया जाय कि कथा के प्रतीकों के समझने की ये पंक्तियाँ कुञ्जी हैं फिर भी बात नहीं बनती। इसके सम्बन्ध में

कुरान में आदि-मानव (आदम) के स्वर्ग से निष्कासन की कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है।[1] मंझन ने भी इसकी ओर संकेत किया है :

तब हम भएउ दोस कर बासा। जब रे पितै छाड़ेउ कविलासा।[2]

इस्लाम में पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार नहीं किया गया। इस दृष्टि से मंझन भारतीय विचारधारा का अनुसरण करते हुए इसमें आस्था प्रकट करते हैं।[3]

शैतान और माया

डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि सूफ़ीमत में माया तो नहीं है पर शैतान अवश्य है, परन्तु जायसी ने शैतान और माया दोनों की ओर संकेत किया है।[4] वस्तुतः यह विशेषता हिन्दी के अनेक सूफ़ी काव्यों में दीख पड़ती है। चित्रावली, इन्द्रावती, हंसजवाहिर आदि अनेक काव्यों में शैतान और माया को एक ही साथ स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन में माया की विस्तार से व्याख्या मिलती है। उसमें साधारणतया माया के दो भेद किए गए हैं—विद्या माया और अविद्या माया।[5] वेदान्त में इसका अर्थ किया गया है अविद्या के कारण अनेक की भ्रांति होना[6] सन्तों ने भी वेदान्त की भाँति इसे भावमय भ्रांति माना है। उनका विश्वास है कि यह माया ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक है।[7] हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने इस सम्बन्ध में सन्तों की धारणा का ही अनुसरण किया है। मधुमालती की एकडला प्रति में दो छन्दों में इसी माया की विस्तार से निंदा की गई है :

यह खोटी जो नागिन कारी, त्रिभुअन मोहनी बिष कुमारी।
जगत जन्मि जहाँ लगु आये, ते सब मोहि भोरै येइ खाये।
येह कलि बारी बहुते चाही, वरि-वरि गये न काहू ब्याही।
येइ पापिनि संसार भोरावा, लोभ बिगूचे मूल न पावा।[8]

कुरान में शैतान का विस्तार से वर्णन हुआ है। अनेक साधकों और मनीषिय ने उसके विषय में विचार प्रकट किए हैं। प्रचलित धारणानुसार शैतान वह शक्ति जो मानवों के हृदय में परमात्मा का विरोध करती है। यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति एक शैतान और फरिश्ते से घिरा है जो कि बुरा अथवा अच्छा काम

---

१. कुरान सूरे—आराफ़।
२. मधुमालती, छन्द ४२।
३. वही, छन्द १०७।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, १९५७, पृ० २००।
५. दि डॉक्ट्राइन आव माया—डा०प्रभुदत्त शास्त्री, पृ० ३०।
६. एनसाइकलोपीडिया आव रिलीजन ऐंड एथिकस, भाग ८, पृ० ५०३।
७. द्रष्टव्य हिन्दी सन्त साहित्य—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० १७१-७२।
८. मधुमालती—डा० शिवगोपाल मिश्र, पृ० १३।

होगी कि आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य कहकर अपने वक्तव्य को अस्पष्ट ही रखा है। इन पंक्तियों के लेखक का विचार है कि कालक्रम से गद्यात्मक श्रव्य प्रबन्ध काव्य के स्वरूप तथा लक्षणों में परिवर्तन आया। बाद में अपभ्रंश में कथा पद्य में भी लिखी जाने लगी। मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि अपभ्रंश के चरित काव्य तथा हिन्दी के सूफी तथा अ-सूफी काव्य प्रबन्ध काव्य की कथा-आख्यायिका वाली परम्परा में पड़ते हैं। महाकाव्य समझकर पदमावत का अध्ययन करते समय इसीलिये पद-पद पर कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। कथा-आख्यायिका के लक्षणों और कालक्रम से होने वाले उनमें परिवर्तनों को ध्यान में रखकर ही हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों का अध्ययन होना चाहिए। चाहे वे सूफी काव्य हों या अ-सूफी।

जायसी ने पदमावत के प्रणयन के दो उद्देश्य बतलाए हैं, (१) 'प्रेम की पीर' का अनुभव कराना (२) यश की प्राप्ति। कथा की समाप्ति पर कवि ने इसकी ओर संकेत किया है। पदमावत में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये जायसी ने बहुत दूर तक प्रेमाख्यान लिखने वाले अपभ्रंश के जैन कवियों का अनुसरण किया है। जैन प्रबन्ध-काव्यों में नखशिख वर्णन, सुंदरियों के साथ भोग-विलास के प्रसंग प्रचुरता से मिलते हैं। विरह-वर्णन के लिये उन काव्यों में ऋतुओं का सहारा पूर्ण रूप से लिया गया है वैसे कथा का पर्यवसान सब समय शांत रस में होता है। पदमावत में भी यह बात हम पाते हैं, लेकिन जैन प्रबन्ध-काव्यों में उपदेशात्मकता प्रधान हो उठी है जबकि जायसी ने अपनी काव्य-कुशलता के द्वारा कलात्मकता की रक्षा की है।

पदमावत में नगर वर्णन, नखशिख वर्णन, युद्ध वर्णन, भोज वर्णन तथा संयोग और विप्रलंभ शृंगार वर्णन जायसी के कवि कर्म की कुशलता का परिचय देते हैं वैसे इन वर्णनों में तत्कालीन काव्य-रूढ़ियों और परम्पराओं का पालन भी देखने को मिलता है। पदमावत में संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगारों का वर्णन है लेकिन सम्पूर्ण काव्य में विप्रलंभ शृंगार का ही प्राधान्य है। संयोग शृंगार के वर्णन के लिये जायसी ने षड्ऋतु-वर्णन का सहारा लिया है और विप्रलंभ के लिये बारहमासे का। जायसी का वियोग-वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। 'पदमावत' में दो स्थलों पर वियोग का जमकर वर्णन किया गया है : (१) नागमती का वियोग और (२) पद्मावती-नागमती का विलाप। नागमती वियोग खण्ड तथा नागमती संदेश खण्ड विप्रलंभ शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में विरह-वर्णन के ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं। नागमती के विरह-वर्णन में जायसी जैसे अपनी आध्यात्मिकता को भूल गए हैं। नागमती आदर्श पत्नी है। उसकी करुण-दशा का मर्मस्पर्शी वर्णन कवि ने किया है।

लिए दिव्य-ज्ञान की आवश्यकता होती है। क्योंकि दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का अन्तर नहीं रह जाता। वे कहते हैं कि जब हृदय में ज्ञान पैदा हो जाता है तब वह जहाँ भी देखता है अपने आत्मा को देखता है। उसके लिए कहीं भी द्वन्द्व नहीं रह जाता और वह जहाँ भी देखता है, उसके लिए आदि आनन्द ही होता है।[1]

साधना

सूफ़ी मानते हैं कि अभेद की प्राप्ति के लिए मानव को प्रयत्न करना होगा। यह प्रयत्न उनमें एक विशिष्ट साधना-पद्धति के रूप में स्वीकृत है। सूफ़ी-साधना पर विचार करते हुए पाँच तत्त्वों का विवेचन अपेक्षित है—ज्ञान की स्थिति, प्रेम का स्थान, गुरु की स्थिति, साधना के सोपान और साधना का क्रिया पक्ष। इसके अतिरिक्त हिन्दी सूफ़ी कविता का विवेचन करते हुए साधना-पद्धति पर भारतीय प्रभाव का विवेचन कर लेना भी आवश्यक है।

ज्ञान

सूफ़ी साधना में मारिफ़त (दैवी-ज्ञान) को बहुत महत्त्व प्राप्त है। इसको न केवल साधना की एक आवश्यक मंज़िल स्वीकार किया गया है बल्कि बहुत से साधकों ने इसे परम लक्ष्य का पद भी प्रदान किया है। यह ऐसा ज्ञान है जो द्वैत के मायिक आवरण को चीरकर विषय-विषयी के भेद से परे पहुँच जाता है। सूफ़ी सांसारिक ज्ञान (इल्म) और दैवी-ज्ञान (मारिफ़त) में भेद करते हैं। बुद्धि-जनित साधारण ज्ञान को वे निन्द्य और हेय तथा हृदय से प्राप्त दैवी-ज्ञान को श्रेय और वरेण्य मानते हैं।[2] मंझन का काव्य प्रेम-निरूपण से आप्लावित है। इसलिए यह भ्रांति होना स्वाभाविक है कि उसने ज्ञान को अधिक महत्त्व नहीं दिया। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि मंझन ने प्रेम को साधक और ज्ञान को साध्य माना है। वे कहते हैं कि जिस हृदय में प्रेम पैदा हो जाता है वह सर्वत्र अदृश्य परमात्मा को देखता है। फिर ज्ञान की उत्पत्ति से वह जहाँ भी देखता है अपने आप को देखता है। तत्पश्चात् जो ज्ञान-वृक्ष फल देता है तो उसके मन में द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और वह आदि आनंद ही देखता है।[3] मंझन ज्ञान को महारस मानते हैं।[4] इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि मधुमालती की नगरी का नाम महारस बताया गया है। इससे यह

---

१. मधुमालती, छन्द ३०।
२. इस्लाम के सूफ़ी साधक, पृ० ६१।
३. मधुमालती, छन्द ३०।
४. ग्यान महारस अंमित पिया। वही छन्द २१।

मानते हैं कि प्रेम के द्वारा ही अपने 'अहं' पर विजय प्राप्त करना संभव होता है, वैसे यह प्रेम का खेल अत्यन्त कठिन है। जायसी कहते हैं :

भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला।

पद्मावत (६ : ६८)

इस प्रेम के पथ पर चलने वाले साधक के भाग्य की सराहना जायसी ने की है और बतलाया है कि इस प्रेम के द्वारा उस स्थल पर पहुँचा जा सकता है जहाँ शाश्वत आनन्द है। वहाँ पहुँचने पर इस माया ,मोह वाले जगत् में लौटना नहीं होता।

चढ़े वेगि औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पँथ खेले॥
तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु सदा सुख बासू॥
पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ॥

पदमावत (१४ : १४६)

सूफी परमात्मा को परम प्रियतम और परम सौन्दर्य मानते हैं। सूफी कहते हैं कि मनुष्य को जब परमात्मा के सौन्दर्य और विभूति का ज्ञान होता है तब वह उससे प्रेम किए बिना नहीं रह सकता। जायसी ने बहुत स्थलों पर पदमावती का चित्रण परम-सत्ता के रूप में किया है अतएव उसके रूप का वर्णन करते जायसी का साधक हृदय कभी तृप्त नहीं होता। सूफी मानते हैं कि एकमात्र सत्ता, परमात्मा की ही है और यह दृश्यमान जगत् उसकी सत्ता से सत्तावाला है। जायसी उस परम सत्ता, परम सौन्दर्य का वर्णन पदमावती के बहाने करते हैं :

भा निरमर तेन्ह पायन परसें। पावा रूप रूप कें दरसें॥

× × ×

पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे॥ (४ : ६५)

अथवा

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति-जोति ओहि भई॥
रबि ससि नखत दीन्ह ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती॥

(१० : १०७)

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं इस पदमावती रूपी परम सौन्दर्य की प्राप्ति उसे ही होती है जो अपने 'अहं' का विनाश करता है :

हौं रानी पदुमावती सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें प्रथम जो आपुहि नास॥ (२३ : २३३)

साधक प्रेम करता हुआ जब उस परम प्रियतम को जान पाता है तब उसका 'अहं' भाव नष्ट हो जाता है। उसके लिये 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रह जाता।

हुए कहते हैं कि इस निधि की प्राप्ति शास्त्रादि के पढ़ने से नहीं होती, जिसको दयालु ईश्वर दया करके देता है, उसे ही यह प्राप्त होती है।[1]

सूफ़ी-साधना का प्रेम-तत्त्व बहुत कुछ सूफ़ियों की सौंदर्यानुभूति पर आधारित है। सुहरवर्दी ने प्रेम की परिभाषा ही यह की है कि सौंदर्य के गहरे चिन्तन के लिए हृदय का झुकाव ही प्रेम है।[2] मंझन कहते हैं कि जिस दिन विधाता का सौंदर्य व्यक्त हुआ, उसी दिन जीव के मन में प्रेम की पीड़ा उत्पन्न हुई।[3]

सूफ़ियों का प्रेम अश्रुओं से स्नात और पीड़ाओं से परिपूरित है परन्तु वे मार्ग की कठिनाइयों और विरह की व्यथा और कसक को प्रियतम से आया जान उसे ग्राह्य और वरेण्य समझते हैं। फारिज का कहना है 'प्रेम की प्रत्येक पीड़ा जो तुम से उद्भूत होती है, उसके लिए मैं शिकायत करने के स्थान पर आभारी होता हूँ'।[4] मंझन ने बहुत विस्तार से विरह-वर्णन किया है। वे विरह की कठोरता से परिचित हैं और कहते हैं कि यह मरण से भी अधिक कष्टदायक है क्योंकि मरण का कष्ट तो एक क्षण होता है पर विरह में तिल-तिल कर सौ बार मरण होता है।[5] परन्तु प्रेम में विरह अनिवार्य है। जिसके शरीर में विरह का दुःख नहीं वह प्रेम की बात कैसे समझ सकता है।[6] यह विरह बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। उसका जीवन धन्य है जो इस पर न्यौछावर हो जाता है। आकाश की समस्त बूंदें मोती नहीं बनतीं, रत्न क्या प्रत्येक सागर में होते हैं और गज-मुक्ता क्या हर गज में होती है। इसी प्रकार विरह भी क्या प्रत्येक शरीर में होता है। करोड़ों में बिरला ही इसे प्राप्त करने का सौभाग्य पाता है।[7] वास्तव में विरह को दुःख करके नहीं मानना चाहिए क्योंकि उसी के द्वारा जगत् में सुख आया। परमात्मा जिसे विरह-दुःख देता है उसे तीनों लोकों का राजा बना देता है। जो इस जीवन में विरह पा लेता है वह युग-युग के लिए अमर हो जाता है और काल उसके पास नहीं आता।[8]

वे सृष्टि का मूल विरह को मानते हैं[9] और सारी सृष्टि में इसे व्याप्त बताते हैं:

मैं न जरिऊं एक सर तेहि आगी। कौन सो जग जेहि जीय न लागी।[10]

---

१. मधुमालती, छन्द २९।
२. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान—डा० श्याममनोहर पांडेय, पृ० १३ पर उद्धृत।
३. मधुमालती, छन्द ३१९।
४. स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीज़्म, पृ० २०४।
५. मधुमालती, छन्द १३७।
६. वही, छन्द ११६।
७. वही, २३२।
८. वही, छन्द २७।
९. वही, छन्द २३६।
१०. वही, छन्द ३०१।

ये चार मंजिलें शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत की हैं। पहली मंजिल शरीअत की है जिसमें साधक धर्म ग्रंथ में बताए कायदे-कानूनों की पाबन्दियों को मानता है। इसमें उसकी प्रकृत अवस्था बनी रहती है जिसे सूफी 'नासूत' कहते हैं। दूसरी मंजिल 'तरीकत' में साधक भौतिक जगत् की तुच्छताओं और आवर्जनाओं से ऊपर उठ पवित्रता का सहारा लेता है और उसमें देवदूतों के गुण आ जाते हैं। यह अवस्था 'मलकूत' की है। तीसरी मंजिल 'मारिफत' (ईश्वरीय ज्ञान) की है। इसमें साधक राग-विराग से अतीत हो जाता है और उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस मंजिल में परमात्मा के मिलन के मार्ग की सारी बाधाएं दूर हो जाती हैं। साधक की यह अवस्था 'जबरूत' की है। चौथी तथा अन्तिम मंजिल 'हकीकत' की है। हकीक से मतलब परम-सत्य से है। यह अवस्था 'लाहूत' की है। इसमें साधक परमात्मा के साथ 'एकमेक' हो जाता है। कितने सूफी संप्रदाय सूफी मार्ग की सात मंजिलें मानते हैं। सात समुद्र खण्ड में जायसी ने उनकी ओर संकेत किया है।

जायसी ने सूफी साधना और भारतीय चिन्ताधारा जैसे हठयोगियों नाथपंथियों, तथा सहजयानियों की साधनाओं का सुन्दर समन्वय किया है। यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह समन्वय बौद्धिक नहीं है, बल्कि जायसी की साधना का अंग है। उपर्युक्त भारतीय साधनाओं में यह स्वीकार किया गया है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में है और यह ब्रह्माण्ड पर शिव का ही रूपान्तर है। सूफी साधना में भी यह स्वीकार किया गया है कि यह जगत् उसी परम-सत्ता का प्रतिबिम्ब है इसकी अपनी अलग कोई सत्ता नहीं है। सूफियों का कहना है कि मनुष्य परमात्मा की एक विशिष्ट सृष्टि है। वह परमात्मा के सभी गुणों और नामों को अभिव्यक्त करता है। मानव रूप में वह क्षुद्र जगत् (आलमे शुग्र) है तथा समस्त वृहत् जगत् (आलमे कुब्र) को अपने में धारण किए हुए है। जायसी कहते हैं :

गढ़ जस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया ॥

(२२ : २१५)

अन्यत्र इसकी चर्चा करते हुए जायसी ने कहा है :

नव पँवरी बाँकी नव खंडा। नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मण्डा। (२ : ४०)

इस रहस्य को और भी स्पष्ट करते हुए जायसी कहते हैं :

दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांकी ॥
भेदो कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चांटी ॥

(२२ : २१५)

कहा गया है कि कान, नाक, आँख, मुख, मल-मूत्र के स्थान आदि नौ इन्द्रियाँ, नौ दरवाजे हैं इनके ऊपर दसवाँ ब्रह्मरंध्र है जहाँ परम शिव और शक्ति का आवास

इसका एक कारण तो यह रहा है कि इनके विषय में सूफ़ी-साधना में इतनी मत-विभिन्नता मिलती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किस के आधार पर इन मंजिलों का अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त लोक-प्रचलित कथा को आध्यात्मिक संकेत का माध्यम बनाने वाले कवि की कुछ सीमा होती है। इन काव्यों की तुलना कवि-कल्पित कथा पर आश्रित अत्तार की 'मन्तिकु तैर' से नहीं की जा सकती। परन्तु फिर भी इनमें सूफ़ी साधना की मंजिलों को दिखाया जा सकता है। भारतीय सूफ़ियों द्वारा स्वीकृत चार सोपान शरीयत, तरीक़त, मारिफ़त और हक़ीक़त हैं। इनमें शरीयत का आदि अब्द (दासत्व) है और अंत इश्क (प्रेम) है। हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में पहली मंजिल का विशेष अंकन नहीं हुआ। वस्तुतः विद्वानों का विचार है कि सूफ़ियों की वास्तविक साधना का प्रारम्भ तरीक़त से होता है।[1] तरीक़त का प्रारम्भ इश्क (प्रेम) से होता है, इसका मध्य ज़ुहद (वैराग्य) और अन्त मारिफ़त है। मधु-मालती में मनोहर-मधुमालती साक्षात्कार से प्रेम का उद्भव होता है। ज़ुहद का चित्रण वहाँ हुआ है जबकि मनोहर कंथा, मेखली और चिरकुटा संभाल कर वैराग्य पथ पर अग्रसर होता है।[2] मारिफ़त मकाम का चित्रण करते हुए मंझन ने दिखाया है कि प्रेमा से मधुमालती के विषय में जानकर मनोहर उल्लास से भर उठता है। यह गुरु से प्राप्त दिव्य-ज्ञान की मंज़िल है।[3] मारिफ़त की मंज़िल के अन्तर्गत वज्द (भावाविष्टावस्था)[4] और हक़ीक (सत्य-प्राप्ति)[5] और हक़ीकत के अन्तर्गत वस्ल (मिलन)[6] और फ़ना (विलय)[7] का अंकन भी मधुमालती में हुआ है।

क्रिया-पक्ष

सूफ़ियों द्वारा साधना-मार्ग की कुछ पद्धतियाँ भी स्वीकृत हैं। इनमें ज़िक्र (स्मरण) बहुत विख्यात है। इसके साथ ही बहुत सी प्राणायाम और शारीरिक-साधना की क्रियाएँ भी जुड़ी हैं। इसके अतिरिक्त मुराक़बा (ध्यान), फ़िक्र (चिन्तन) और मुजाहदा (स्व-पीड़न) को भी आवश्यक माना गया है। मंझन ने भी इनका संकेत कुछ स्थलों पर किया है।[8]

---

१. ग्लॉसरी आव पंजाब ट्राइब्स एंड कास्ट्स—एच० ए० रोज़, भाग १, पृ० ५१८।
२. मधुमालती, छन्द १७२-१७३।
३. वही, छन्द ३५२।
४. वही, छन्द ३१६।
५. वही, छन्द ३२७।
६. वही, छन्द ३३३।
७. वही, छन्द ४४८।
८. वही, छन्द २१, १७३, १८१, १८२।

६

मधुमालती

डॉ० यश गुलाटी

हिन्दी में प्रेमाख्यानों की एक दीर्घ परम्परा है। मुल्लादाऊद के चंदायन[1] से लेकर नसीर के प्रेम-दर्पण[2] तक अनेक सूफ़ी प्रेमाख्यानों का प्रणयन हुआ। सूफ़ी काव्यधारा के विकास में मंझन की मधुमालती का महत्व निर्विवाद है, परन्तु जायसी के पदमावत ने हिन्दी के आलोचकों को इतना अभिभूत कर रखा है कि इस सुन्दर काव्य-कृति का सम्यक् विवेचन करने की दिशा में बहुत कम प्रयास हुआ है। कुछ वर्ष पूर्व तक तो यह भी निश्चित नहीं किया जा सका था कि यह पदमावत से पूर्व-रचित रचना है अथवा परवर्ती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पदमावत की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। इनमें जिन प्रेमी-युग्मों का उल्लेख हुआ है, उनमें राजकुंवर-मृगावती और मनोहर मधुमालती भी हैं। इसमें राजकुंवर और मृगावती की कथा पर आधारित मृगावती प्रेमाख्यान पदमावत से पूर्व रचित काव्य सिद्ध हो चुका है। 'मधुमालती' काव्य भी प्राप्त हो चुका था। अतएव आचार्य शुक्ल ने यह अनुमान लगाया कि यह भी पदमावत की पूर्ववर्ती रचना है।[3] परन्तु अब यह निश्चित हो चुका है कि मधुमालती की रचना ९५२ हि० (१५४५ ई०) में हुई।[4] अतएव इसे पदमावत से पहले हुई रचना मानने का कोई आधार नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि पदमावत की पंक्तियों में जिन प्रेम-कथाओं का उल्लेख हुआ है, वे लोक प्रचलित रही होंगी और जायसी ने विशिष्ट काव्य-कृतियों का उल्लेख नहीं किया है। आधुनिक शोधों से यह ज्ञात हुआ है कि सूफियों द्वारा गृहीत अनेक कथाएँ जनता में बहुत कुछ इसी रूप में प्रचलित रही हैं और उनके आधार पर ही इन कवियों ने अपने

१. रचनाकाल १३७९ ई०, चाँदायन, सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृष्ठ ४।
२. रचनाकाल १९१७ ई०, साहित्य, पटना, अप्रैल १९५८, पृ० ७९-८०।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संवत् २००७, पृ० ९८-९९।
४. (क) मधुमालती—सम्पादक डा० शिवगोपाल मिश्र, भूमिका पृ० १५।
(ख) मधुमालती—सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० १३।

इसका एक कारण तो यह रहा है कि इनके विषय में सूफ़ी-साधना में इतनी मत-विभिन्नता मिलती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किस के आधार पर इन मंजिलों का अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त लोक-प्रचलित कथा को आध्यात्मिक संकेत का माध्यम बनाने वाले कवि की कुछ सीमा होती है। इन काव्यों की तुलना कवि-कल्पित कथा पर आश्रित अत्तार की 'मन्तिकु तैर' से नहीं की जा सकती। परन्तु फिर भी इनमें सूफ़ी साधना की मंजिलों को दिखाया जा सकता है। भारतीय सूफ़ियों द्वारा स्वीकृत चार सोपान शरीयत, तरीक़त, मारिफ़त और हक़ीक़त हैं। इनमें शरीयत का आदि अब्द (दासत्व) है और अंत इश्क (प्रेम) है। हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में पहली मंजिल का विशेष अंकन नहीं हुआ। वस्तुतः विद्वानों का विचार है कि सूफ़ियों की वास्तविक साधना का प्रारम्भ तरीक़त से होता है।[1] तरीक़त का प्रारम्भ इश्क (प्रेम) से होता है, इसका मध्य ज़ुहद (वैराग्य) और अन्त मारिफ़त है। मधुमालती में मनोहर-मधुमालती साक्षात्कार से प्रेम का उद्‌भव होता है। ज़ुहद का चित्रण वहाँ हुआ है जबकि मनोहर कंथा, मेखली और चिरकुटा संभाल कर वैराग्य पथ पर अग्रसर होता है।[2] मारिफ़त मकाम का चित्रण करते हुए मंझन ने दिखाया है कि प्रेमा से मधुमालती के विषय में जानकर मनोहर उल्लास से भर उठता है। यह गुरु से प्राप्त दिव्य-ज्ञान की मंज़िल है।[3] मारिफ़त की मंज़िल के अन्तर्गत वज्द (भावाविष्टावस्था)[4] और हक़ीक (सत्य-प्राप्ति)[5] और हक़ीकत के अन्तर्गत वस्ल (मिलन)[6] और फ़ना (विलय)[7] का अंकन भी मधुमालती में हुआ है।

क्रिया-पक्ष

सूफ़ियों द्वारा साधना-मार्ग की कुछ पद्धतियाँ भी स्वीकृत हैं। इनमें ज़िक्र (स्मरण) बहुत विख्यात है। इसके साथ ही बहुत सी प्राणायाम और शारीरिक-साधना की क्रियाएँ भी जुड़ी हैं। इसके अतिरिक्त मुराकबा (ध्यान), फ़िक्र (चिन्तन) और मुज़ाहदा (स्व-पीड़न) को भी आवश्यक माना गया है। मंझन ने भी इनका संकेत कुछ स्थलों पर किया है।[8]

---

१. ग्लॉसरी आव पंजाब ट्राइब्स एंड कास्ट्स—एच० ए० रोज़, भाग १, पृ० ५१८।
२. मधुमालती, छन्द १७२-१७३।
३. वही, छन्द ३५२।
४. वही, छन्द ३१६।
५. वही, छन्द ३२७।
६. वही, छन्द ३३३।
७. वही, छन्द ४४८।
८. वही, छन्द २१, १७३, १८१, १८२।

निरूपण इब्नुल अरबी (११६५—१२४० ई०) ने किया, वमा पूर्ववर्ती दो साधकों द्वारा नहीं किया जा सका। इब्नुल अरबी ने केवल वुजूदिया मत का विस्तार से प्रतिपादन किया बल्कि ग़जाली (मृ० ११११ ई०) द्वारा पुरातन पंथी इस्लाम और सूफ़ी मत में करवाए गए समझौते को दृष्टि में रखते हुए यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि यह सिद्धान्त ही वस्तुतः इस्लाम का सार है।[1] इब्नुल अरबी द्वारा निरूपित 'वुजूदी' मत अद्वैतवादी विचारधारा के पूर्णतया अनुकूल है। इसका सक्षप में विवेचन कर लेना असमीचीन नहीं होगा। अरबी का कहना था कि परमात्मा के सिवाय जगत् में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, अथवा जो कुछ है, सब परमात्मा ही है। इस सम्बन्ध में फ़ुतूहात मक्किया में उसने एक दृष्टान्त दिया है। वह लिखता है कि धागे में यदि गांठें लगा दी जाती हैं तो उनका अस्तित्व धागे से पृथक् प्रतीत होता है, परन्तु धागे के सिवाय कोई फ़ालतू वस्तु नहीं है, केवल रूप बदल गया है।[2] इब्नुल अरबी न केवल ब्रह्म और जगत् में द्वैत स्वीकार नहीं करता बल्कि वह तो परमसत्ता मे विषय-विषयी अथवा ज्ञेय-ज्ञाता के स्वगत भेद भी नहीं मानता।[3] उसके अनुसार केवल अल्लाह ही सत्य (असल) है और यह जगत् उसकी छाया (ज़िल्ल) है परन्तु यह छाया परम सत्य का ही वाह्य, दृश्यमान अथवा अभिव्यक्त रूप है अतएव सृष्टि और अल्लाह में अभेद है।[4]

मंझन शजारी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और शजारी सम्प्रदाय के संत इब्नुल अरबी से बड़े प्रभावित थे।[5] शजारी सम्प्रदाय में मैं ही मैं (खुदा) हूँ और मेरा कोई अंश नहीं है के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[6] इसलिए मंझन के परमतत्त्व-निरूपण का मूल स्रोत इब्नुल अरबी की वुजूदिया विचारधारा और शजारी दृष्टिकोण को स्वीकार करना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

मंझन के अनुसार एक रूप परमात्मा ही अनेक रूपों में प्रकट होता है।[7] सृष्टि से पूर्व यह रूप प्रच्छन्न था और अब सारी सृष्टि में समाया हुआ है। यही रूप शक्ति और शिव के रूप में दिखाई देता है। यही रूप त्रिभुवन का प्राण है और यही पृथ्वी, पाताल, आकाश में विलस रहा है।[8] वह निर्गुण और एक ओंकार है। वह गुप्त रूप

---

१. दि मुजद्दिदज कन्सेपशन आव तौहीद—डा० बुरहान अहमद फ़ारूकी, पृ० ८०।
२. तारीख मशायखे चिश्त, डा० खलीक अहमद निजामी (उर्दू) पृ० ११२।
३. देखिए दि मिस्टीकल फ़िलासफ़ी आव मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी—ए० ई० अफ़ीफ़ी, पृ० ४, २३, ३०, ४८, ४९।
४. दि मुजद्दिदज कन्सेपशन आव तौहीद, पृ० ९२-९४।
५. सूफ़ी-काव्य-विमर्श—डा० श्याममनोहर पांडेय, पृ० १५६।
६. वही, पृ० १५७।
७. अलख निरंजन करता एक रूप बहु भेस।
कतहुँ दान भिखारी, कतहुँ आदि नरेस।—मधुमालती छन्द ३।
८. वही, छन्द ११९।

का अध्ययन करते हुए पंजाबी के विद्वानों ने यह कहा है कि इसका आधार अलिफ़-लैला की एक कथा है और इस नाम की रचना फ़ारसी गद्य में हो चुकी थी। अतएव इस बात की आवश्यकता बनी हुई है कि सैफुलमुलूक की कथा के वास्तविक स्रोत की खोज की जाए, तभी मधुमालती के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ कहा जा सकेगा।

हिन्दी के अधिकांश सूफ़ी प्रेमाख्यानों की अपेक्षा मधुमालती की कथा अधिक जटिल है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल का विचार है कि मधुमालती के कथा-शिल्प प कथा-सरित्सागर और हितोपदेश के कथा-शिल्प का प्रभाव है। उनमें मूल-कथा के विकार के साथ-साथ तमाम अन्तर्कथाएँ और उपकथाएं उससे फूटती रहती हैं और इन कथाओं की चरम परिणति मूल कथाओं में ही होती है।[1] प्रेमा-ताराचन्द की प्रासंगिक कथ को जो महत्त्व मधुमालती में मिला है वह इसके कथा-शिल्प को अन्य प्रेमाख्यानों से भिन्नकोटि का सिद्ध करता है।

अन्य अनेक बातों में इसकी मुख्य कथा का संगठन कहीं-कहीं अपनी विशिष्टता लिए हुए भी सामान्य विशेषताओं का अनुकरण करता है। सूफ़ी कवियों का उद्देश्य प्रेम-साधना को अंकित करना था, इसलिए उन काव्यों में सम्पूर्ण कथानक का केन्द्र-बिन्दु प्रेम है। उसके उदय, विकास और परिणति का रूप बहुत कुछ समान है। रूप-गुण श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन अथवा प्रत्यक्ष-दर्शन से यह प्रेम उदित होता है। मधुमालती में प्रेम प्रत्यक्ष-दर्शन से उद्भूत होता हुआ दिखाया गया है। विवेच्य-काव्य में प्रेम का विकास, योगी बनकर निकल जाना, प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिए लम्बी यात्रा करना आदि का रूप अन्य काव्यों के तद्विषयक रूप से बहुत भिन्न नहीं है। अन्त की दृष्टि से यह पदमावत, मृगावती और इन्द्रावती से भिन्न है और चित्रावली, भाषा प्रेम रस और अनुराग बांसुरी के समान सुखान्त है। इसकी कथा में चमत्कार पूर्ण अप्राकृतिक और अति प्राकृतिक अंशों का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। भयानक राक्षस और अप्सराएं मनुष्यों के साथ-साथ ही विचरते दृष्टिगत होते हैं। जादू-टोने होते हैं, मनुष्य पक्षी बन जाते हैं और फिर अपने प्राकृतिक रूप को प्राप्त कर लेते हैं। सामन्त-युग के ऐश्वर्य और सम्पदा का विशाल पिटारा खोलकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाता है और हम मध्यकाल के कल्पित रमणीय लोक में पहुंच जाते हैं। कथानक के प्रारम्भ में ईश्वर, उसके नबी, चार खलीफ़ाओं, शाह-ए-वक्त, पीर और आश्रयदाता के गुण-गान भी अधिकांश प्रेमाख्यानकों के समान मधुमालती में समाविष्ट हुए हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त मंझन को एक सतर्क कवि मानते हैं जो अनावश्यक कथनों और विस्तारों से बचना चाहता है। इसी प्रकार उसने पुनरावृत्तियों से बचने का प्रयास भी किया है। किसी विषय का वर्णन यदि दो स्थलों पर आने वाला है तो

---

१. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० ३०।

स्वीकृत हो चुका था और हिन्दी के कवियों का मूल-स्रोत सूफ़ीमत ही है। मंझन भी ब्रह्म को घट-घट में विलसता पाते हैं।[3]

सूफ़ी विचारधारा में ब्रह्म को परम-ज्योति और परम-सौंदर्य माना गया है। प्रारम्भ में, इस सम्बन्ध में, अलग-अलग सम्प्रदाय थे परन्तु भारत में आकर परमसत्ता को परम-ज्योति और परम-सौंदर्य के रूप में देखने की भावना का एकीकरण हो जाता है।[2] मंझन ब्रह्म को एक ऐसी ज्योति मानते हैं जो तीनों भुवनों में समस्त स्थानों पर आपूर्ण रूप से पूरित हो रही है।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रह्म को परम सुन्दर भी कहा है। मधुमालती के सौंदर्य की समता कोई नहीं कर सकता। उसके सौंदर्य के सम्मुख सूर्य-चन्द्र का रूप भी छिप जाता है। उसका रूप समुद्र के समान है, जिसका अंत नहीं सूझता। कवि (अथवा प्रेम) की जिह्वा बेचारी बिना हाथों के कैसे उसका संतरण कर सकती है।[4] उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह मत बना लेना उचित ही होगा कि मंझन ने वुजूदी-विचारधारा का ही अधिक अनुसरण किया है और उनके अद्वैतवाद का मूल भी सूफ़ी-मत में है।

मुहम्मद

सूफ़ी-दर्शन में मुहम्मद का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। सूफ़ियों का कहना है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम अपनी ज्योति से नुरुल-मुहम्मदिया का निर्माण किया। यह ज्योति जिसे हकीकतुल-मुहम्मदिया भी कहा जाता है सारी सृष्टि का आदिकारण, निमित्त और उपादान-कारण, केन्द्र तथा चालक प्रेरक तत्त्व है। वह सारी वस्तुओं की आत्मा तथा जीवन है। उसकी स्थिति बहुत कुछ सगुण ब्रह्म से मिलती है। इसके अतिरिक्त मुहम्मद को सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव भी माना गया है। इस दार्शनिक मान्यता में उन्होंने ऐतिहासिक मुहम्मद की धारणा को भी मिला दिया है। परम्परागत इस्लामी दृष्टिकोण में मुहम्मद को दैवी-करुणा का माध्यम मध्यस्थ और तारक स्वीकार किया जाता है। सूफ़ियों में दोनों विचार एक हो गए हैं।[5] मधुमालती के कवि ने भी हज़रत मुहम्मद और हकीकतुल-मुहम्मदिया को एक माना है। मुहम्मद के लिए ही ब्रह्म ने सृष्टि उत्पन्न की और प्रेम की दुन्दुभी संसार में बज उठी। वह त्रिभुवन का राजा है। वह मूल है और सारा संसार उसकी शाखा है, वह शरीर है और सारा जगत् उसकी छाया। गुप्त विधाता का ही प्रकट रूप मुहम्मद है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुहम्मद की मध्यस्थता और तारक-शक्ति का भी वर्णन किया है।[6]

---

१. मधुमालती, छन्द १।
२. इन्डो इरानिका, वर्ष ३, संख्या ३, पृ० १३-१४।
३. मधुमालती, छन्द ३।
४. वही, छन्द ६९, ७१, ७२, २४६।
५. (क) दि आइडिया आव पर्सनेलिटी इन सूफ़ीज़्म, निकलसन, पृ० ५९।
(ख) तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, पृ० १४२।
६. मधुमालती छन्द ७, ८, ४२६।

वायवीपन मिश्रित से प्रतीत होते हैं।

भाषा—मंझन की अवधी भाषा भावानुसारी है। भाषा का जैसा ठेठ और मर्मस्पर्शी माधुर्य मंझन में मिलता है, वैसा जायसी के अतिरिक्त किसी अन्य कवि में दिखाई नहीं देता। कवि का वर्ण्य प्रेम होने के कारण उसमें सर्वत्र माधुर्य का गुण ही दीख पड़ता है, एकाध स्थल को छोड़कर ओज का समावेश नहीं हुआ। वे मुहावरों और कहावतों का भी खूब प्रयोग करते हैं। इनसे उनकी भाषा की व्यंजनाशक्ति का विकास हुआ है और संप्रेषणीयता में वृद्धि हुई है।

अलंकार—मधुमालती के कवि में अलंकरण की रुचि भी पर्याप्त है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के अनेक सफल प्रयोग उन्होंने किए हैं। कहीं-कहीं चमत्कार-प्रियता भी है। उनका अप्रस्तुत-विधान प्रायः भारतीय परम्परा से ही ग्रहण किया हुआ है परन्तु उनका चयन करते हुए कवि ने अपनी सूझ-बूझ और कौशल का परिचय अवश्य दिया है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, उल्लेख, दृष्टान्त आदि का प्रयोग हुआ है और शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक का। उत्प्रेक्षा उनका सर्वाधिक प्रिय अर्थालंकार है और मधुमालती का सौंदर्य-वर्णन करते हुए इसका ही अधिक उपयोग हुआ है। अलंकार-योजना के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

जोबन ओनंत करहिं रस केली। उठत कोंप उर जेउं बल वेली। (उपमा)
(छन्द ४४३)

लोचन दुवौ पूरि जल भरे सीपि फूटि जनु मोति ढरे। (उत्प्रेक्षा)
(छन्द २१८)

दुख कराल तनु तरनि ज भागा। सुक्ख मंजूर सिखर चढ़ि गाजा। (रूपक)
(छन्द ३६१)

मिरिग सजग भइ दहुं दिसि हेरइ। चीन्हि के सीह सेंदुर अहेरइ।
(अतिशयोक्ति)
(छन्द १००)

इहै रूप परगट बहु रूपा, इहै रूप बहु भाव अनूपा।
इहै रूप सभ नैनन्ह जोति, इहै रूप सब साचर मोती। (उल्लेख)
(छन्द १२०)

मंझन एहि कलि दुक्ख बिन सुख मति चाहै कोइ।
प्रथमहिं तरु पतझार कर तौ नौ पल्लौ होइ। (दृष्टान्त)
(छन्द २०२)

बरुनि बान नावक कर लेखा। (अनुप्रास)
(छन्द ४८०)

हरि नैंनी हरि बैनी हरि बदनी हरि लंक। (यमक)
(छन्द १६३)

ढंग से प्रतिपादित करते हुए कहा है कि परमात्मा मानव नहीं बनता और मानव परमात्मा नहीं होता। वे सदा अभिन्न हैं।[1] रूमी का कहना है कि जीवात्मा अरचित, दैवी और सत्य है। उसका ब्रह्म से कोई वास्तविक भेद नहीं है।[2] मंझन भी कहते हैं कि समस्त सृष्टि में तुम्हीं प्रकट हो। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं। तीनों भुवनों में तुम्हीं प्रकाश होकर व्याप्त हो।[3] इससे स्पष्ट है कि मधुमालती में कवि का दृष्टिकोण पूर्णाद्वैतवादी है। परन्तु डा० श्याममनोहर पांडेय ने मंझन द्वारा परमतत्व और उसके विभिन्न रूपों के निरूपण में अंशांशी भाव बताया है।[4] डा० पांडेय ने मंझन द्वारा समुद्र-लहर, सूर्य-किरण[5] के प्रतीक प्रयोगों के आधार पर यह मत बनाया है। परन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। समुद्र-लहर, पानी-बुलबुला के प्रतीक अद्वैतवादी कबीर ने भी प्रयुक्त किए हैं। निराला ने हिमालय-गंगा और उच्छ्वास-कविता[6] तथा महादेवी ने बीन-रागिनी, अधर-मुस्कान[7] के प्रतीकों द्वारा अद्वैतवादी दर्शन का ही प्रतिपादन किया है। वस्तुतः इसके द्वारा मंझन यही कहना चाहते हैं कि ब्रह्म और जीव में कोई पारमार्थिक अथवा मौलिक भेद नहीं है। इसी प्रकार मनोहर मधुमालती से अपने सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कहता है तू और मैं एक संग रहते थे। तुम और मैं दोनों एक शरीर थे। एक जल दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। एक अग्नि दो स्थानों में जल रही है। एक ही ज्योति है, एक ही रूप है, एक ही प्राण है, एक ही देह है।[8] मनोहर के इन उद्गारों की तुलना हल्लाज के उद्गारों[9] और मुण्डकोपनिषद्[10] की पंक्तियों से करने पर हमारा मत और भी उचित जान पड़ता है। मंझन के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह उदार सूफ़ियों के मत की परम्परा में है। केवल एकाध स्थल पर उन्होंने कुरान में वर्णित मानव का आधार ग्रहण किया है।

---

१. दि फ़िलॉसफ़ी आव इब्न अरबी—रोम लंदायु, पृ० ३३।
२. दि मैटाफ़िज़िक्स आव रूमी—डा० ख़लीफ़ा अब्दुल हकीम, पृ०
३. मधुमालती, छन्द ३१।
४. सूफ़ी काव्य-विमर्श, पृ० १६४-६५।
५. मधुमालती, छन्द ११८।
६. अपरा—निराला, पृ० ६८।
७. आधुनिक कवि—महादेवी वर्मा, पृ० ५४।
८. मधुमालती, छन्द ११७।
९. मैं वह हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ, और वह मैं है जिसे मैं प्यार करता हूँ। हम एक ही शरीर में रहने वाली दो आत्माएँ हैं। यदि तुम मुझे देखते हो तो तुम उसे देखते हो। और यदि तुम उसे देखते हो तो तुम हम दोनों को देखते हो। दि लॉगेसी आव इस्लाम, पृ० २१८।
१०. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—मुण्डकोपनिषद् ३/१/१

विजय पाए बिना मनुष्य अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता और प्रेमा उस गुरु का प्रतीक है जो इस पर विजय पाने के लिए प्रबोधित करता और उचित ज्ञान देता है। मधुमालती की महारस नगरी दैवी-ज्ञान का प्रतीक है जहाँ पहुँच कर ही जीव अपना लक्ष्य प्राप्त करता है।

मंझन के काव्य में साकी के सन्दर्भ में मदिरा-प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है। एकाध स्थल पर प्रेम-सुरा (छन्द १६१) आदि का संकेत किया गया है। इसी प्रकार योग-साधना के चन्द्र-सूर्य प्रतीक भी कहीं-कहीं दीख पड़ते हैं परन्तु पदमावत के समान उनका विधान लक्षित नहीं होता।

हिन्दी सूफ़ी काव्यों के विषय में एक और भ्रांत धारणा प्रचलित हो गई है कि उसमें प्रतीक का अर्थ सदैव एक ही रहता है। वस्तुतः प्रतीक अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण संदर्भानुसार अपने अर्थ का ध्वनन करता है। इसलिए नायक साधक और नायिका साध्य का प्रतीक होने पर भी यत्र-तत्र अपने अर्थ में परिवर्तन कर लेते हैं। मधुमालती के मनोहर के स्वदेश-गमन के समय मनोहर (परमात्मा अथवा मृत्यु) तथा मधुमालती (जीव) के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीक ही हैं।[1] इसी प्रकार नैहर इहलोक और ससुराल परलोक के प्रतीकार्थ की व्यंजना करते हैं :

पुनि अस दाउं कहां हम पाउब, बहुरि कि नैहर झुलइ आउब।[2]

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि हिन्दी सूफ़ी कविता की परम्परा में मधुमालती एक बहुमूल्य कृति है। इसका कवि पुनर्जन्म और माया के वर्णन के अतिरिक्त प्रायः सूफ़ीमत में स्वीकृत अध्यात्म-दर्शन और साधना-पद्धति का ही अनुसरण करता है। हिन्दी सूफ़ी काव्य में पदमावत का महत्त्व निर्विवाद है परन्तु मधुमालती अपने दर्शन, प्रेम-तत्व-निरूपण और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण कृति तो अवश्य है कि विद्वान् इसके समुचित मूल्यांकन की ओर आकर्षित हों। तुलसी को लेकर समस्त राम-काव्य से मुख मोड़ लेना जहाँ अक्षम्य-अपराध है वहाँ जायसी को इतना महत्त्व दे देना कि अन्य कृतियाँ आँख से ओझल हो जाएं भी कोई स्तुत्य और प्रशंसनीय कार्य नहीं समझा जा सकता।

करने के लिए प्रेरित करते हैं।[1] मंझन ने कहीं पर भी शैतान का नाम नहीं लिया परन्तु प्रेमा को कैद करने वाले राक्षस के स्वरूप पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो उसका रूप बहुत कुछ शैतान का माना जा सकता है। उस पर विजय प्राप्त करके ही मनोहर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

परम लक्ष्य

अधिकांश सूफ़ियों का विचार है कि मानव परमात्मा से बिछुड़ा हुआ है और इस संसार की भुल-भुलैयों में खोया हुआ है। उसे परमात्मा से पुनः एकत्व (तौहीद) प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] परन्तु अरबी जैसे अद्वैतवादी जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। उनके अनुसार अभेद का अनुभव (ज्ञान-प्राप्ति) ही साधक का लक्ष्य है।[3] सूफ़ी लोग इसके लिए फ़ना और बक़ा दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। सामान्यतया फ़ना की अन्तिम स्थिति अहं के पूर्ण रूप से लोप को बक़ा (परमात्मा में सतत निवास) का आरम्भ माना जाता है।[4] डॉ० एनामुलहक फ़ना को भी मिलन की अवस्था मानते हैं परन्तु जहाँ फ़ना अस्थायी होती है वहाँ बक़ा स्थायी। बक़ा की व्याख्या नहीं हो सकती। केवल साधकों की रहस्योक्तियों के आधार पर इसका अनुमान लगाया जा सकता है।[5]

मंझन ने परमात्मा से अभेद-प्राप्ति को ही जीव का परम लक्ष्य माना है। वे कहते हैं कि मैं परमात्मा से परमात्मा को ही चाहता हूँ।[6] इसके लिए 'मरजीवा' होना पड़ता है तभी वह 'मानिक' प्राप्त होता है।[7] जब तक अहं का पूर्ण-लोप नहीं हो जाता, लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती।[8] अभेद का वर्णन उन्होंने मनोहर-मधुमालती समागम के माध्यम से भी किया है।[9] वे इसका भेद खोलना भी उचित नहीं समझते क्योंकि इसी कारण मंसूर हल्लाज को सूलि पर चढ़ना पड़ा था।[10] परम लक्ष्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को मंझन ने एक अन्य छंद में बहुत स्पष्टता से अंकित किया है। उनका लक्ष्य आदि आनंदावस्था को प्राप्त करना है जबकि जीव और ब्रह्म में अभेद था। इसके

१. एनसाइकलोपीडिया आव इस्लाम, भाग ४, पृ० २८६।
२. सूफ़ी-इज़्म एंड वेदान्त, भाग २, पृ० ४३-४४।
३. दि फिलासफ़ी आव इब्न अरबी, पृ० ३२-३३।
४. इस्लाम के सूफ़ी साधक—निकलसन, अनुवादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ० १४१।
५. इन्डो इरानिका, भाग ३, संख्या ३, पृ० ३३।
६. करता किधुमन इच्छा मोही, तोही सेतें पै चाहौं तोही। मधुमालती, छन्द ५।
७. वही, छन्द २३४।
८. तोर खोज खोजत सो पावै, जो आपुन सब खोज हेरावै। वही, छन्द ६।
९. वही, छन्द ४४८।
१०. वही, छन्द ४५४।

शुक्ल के अनुसार 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि भारत-हृदय भारतीय-कंठ-चूड़ामणि तुलसीदास।' मिश्रबन्धु कहते हैं कि 'तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि हमारी जानकारी में कभी किसी की भाषा में, संसार भर में, कहीं नहीं हुआ।' इस युग के महापुरुष महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी के शब्द हैं, 'मुझे और कोई वस्तु इतना प्रसन्न नहीं करती जितना कि गीता का संगीत और तुलसीदास का रामचरितमानस'।

विदेशियों ने भी गोस्वामी तुलसीदास और उनके रामचरितमानस की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। मुगल इतिहास के प्रसिद्ध लेखक विंसेंट ए० स्मिथ की सम्मति है कि तुलसीदास जी भारत में अपने युग के महत्तम मानव थे, स्वयं अकबर से भी महत्तर। सर जॉर्ज आर्थर की समझ में उत्तरी भारत का धर्म दो पदों से विशिष्ट है, अर्थात् बौद्ध धर्म से और उसके दो सहस्त्र वर्ष पश्चात् तुलसीदास के उपदेश से। बौद्ध शिक्षा का परिणाम था मानव या विश्व भ्रातृत्व में विश्वास, जो अखिल भारत को स्वीकृत था; तुलसीदास ने इस विश्वास में ईश्वर के विश्व-पितृत्व की वृद्धि की। ग्रिफिथ के मतानुसार 'इंगलैंड में बाइबिल जितनी आदृत है और लोकप्रिय है, पश्चिमोत्तर प्रदेशों में तुलसीकृत रामायण उससे भी अधिक'। ए० ए० मैंडोनल का मत है कि 'धर्म और पवित्रता' के आदर्श-मान से समन्वित रामचरितमानस उत्तरी भारत के करोड़ों लोगों के लिये एक प्रकार की बाइबिल है'। एफ० ई० के० की मान्यता है कि 'रामायण निःसन्देह ऐसी रचना है जिसकी गणना विश्व साहित्य के महान् आभिजत्य तथा परमोत्कृष्ट साहित्य में होने योग्य है'।

यूनेस्को ने भी रामचरितमानस को संसार के उत्कृष्ट ग्रन्थों में मान्यता प्रदान की है। वास्तव में मानस है भी महान्। उस पर इतनी टीकाएं लिखी गई हैं जितनी कदाचित् 'बिहारी सतसई' को छोड़कर और किसी ग्रन्थ पर नहीं। भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद हुए हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में उनकी रचना का विशेष अध्ययन होता है और उन पर बहुत से शोध ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं।

महाकाव्यत्व

रामचरितमानस महाकाव्य है क्योंकि इसमें महाकाव्य के बहुत से लक्षण घटते हैं। इसमें सात काण्ड हैं। अपभ्रंश के महाकाव्यों में सर्गों के बदले संधि, कड़वक आदि नामों का प्रयोग होता था। मानस में सर्गों को काण्ड कहा गया है। परम्परा के अनुसार इन काण्डों की संख्या आठ होनी चाहिएं थी, यद्यपि पश्चिमी काव्य शास्त्रीय पद्धति में इस प्रकार की संख्या का कोई प्रतिबन्ध नहीं। मानस के आरम्भ

स्पष्ट हो जाता है कि मंझन जीव का लक्ष्य ज्ञान रूपी महारस की प्राप्ति को ही मानते हैं। उनका ज्ञान हृदय द्वारा प्राप्य है, और इसकी समकक्षता सैकड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते :

हिय अंजोर नहि पटतर पावै कोटि सूर परगास।[1]

मंझन ने अनेक स्थलों पर बुद्धि-जन्य ज्ञान की निन्दा की है और कहा है कि दैवी-ज्ञान की प्राप्ति पर सांसारिक-चेतना भस्मीभूत हो जाती है।[2]

प्रेम

सूफ़ी-साधना में प्रेम को इतना महत्त्व दिया गया है कि सामान्य व्यक्ति के लिए सूफ़ीमत और प्रेम पर्यायवाची शब्द जैसे हो गए हैं। सूफ़ियों ने प्रेम के आविर्भाव के सम्बन्ध में विभिन्न बातें कहीं हैं। सूफ़ी प्रेम को सृष्टि का मूल कहते हैं और समस्त सृष्टि को प्रेम-मय स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि मानव परमात्मा से रोज़े-अज़ल (सृष्टि-प्रारम्भ) से वियुक्त है और प्रेम एकत्व प्राप्ति की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[3] वे कुरान के एक प्रसंग का उल्लेख भी करते हैं जिसमें परमात्मा ने अशरीरी आत्माओं से पूछा था कि क्या मैं तुम्हारा प्रभु नहीं हूं। प्रत्येक आत्मा ने 'हाँ' कहा था। सूफ़ी इस आदि-पहचान को ही ब्रह्म विषयक प्रेम का मूल बताते हैं।[4] इसके साथ ही कुरान की एक अन्य कथा में भी आध्यात्मिक अर्थ खोजा गया है। कुरान में एक थाती का उल्लेख है जिसे पृथ्वी-आकाश सभी ने वहन करने से इन्कार कर दिया था, केवल मनुष्य ने इसे उठाना मान लिया।[5] सूफ़ी इस थाती का अर्थ प्रेम करते हैं। मंझन की मधुमालती में ये सभी मत स्वीकृत दिखाई देते हैं।[6] वे प्रेम को सृष्टि का मूल और सृष्टि में सर्वत्र-व्याप्त कहते हैं। उनका यह भी कहना है कि जीव पहले दिन से ही परमात्मा से वियुक्त है। आदि पहचान का संकेत भी उन्होंने कई स्थलों पर किया है।[7] इसके अतिरिक्त प्रेम को वहन करने के लिए केवल मानव की तत्परता का भी वर्णन उन्होंने किया है।[8] सूफ़ी मानते हैं कि जब तक भगवत्कृपा नहीं होती, साधक के हृदय में प्रेम नहीं होता।[9] मंझन भी इसी का अनुसरण करते

---

१. मधुमालती, छन्द २०।
२. वही, छन्द १११, १६५।
३. इण्डो इरानिका, भाग ३, संख्या ३, पृ० ३३-३४।
४. हिन्दी सूफ़ी काव्य की भूमिका—डा० रामपूजन तिवारी, पृ० २२७-२८।
५. कुरान ३३/७२।
६. मधुमालती, छन्द ८।
७. वही, छन्द ११३।
८. वही, छन्द ११६।
९. सूफ़ीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३१४।

के रूप में उपस्थित किया गया है और उन्होंने भक्तों को सुख देने के लिये लीलाएँ भी की हैं, तथापि यह उनका दिखावा मात्र है, क्योंकि तुलसीदास स्वयं कहते हैं कि : 'नट इव कपट चरित कर नाना, सदा स्वतन्त्र एक भगवाना।' गरुड़ ने भी काक-भुशुण्डि से ऐसा ही कहा था।

श्री कृष्णलाल जी मानस को पुराण-काव्य मानते हैं, महाकाव्य नहीं। वायु-पुराण और पद्म-पुराण के आधार पर उनकी धारणा है कि पुराण काव्य वह होता है जिसमें पूर्वकाल की परम्परा कही गई हो और मानस में यह परम्परा वर्णित है, क्योंकि भगवान् शिव ने इस चरित को बनाया और उमा को सुनाया और उसी चरित को काकभुशुण्डि को प्रदान किया; काकभुशुण्डि ने उसे याज्ञवल्क्य को, और याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज को सुनाया; और उसी को तुलसीदास जी ने, सूकरक्षेत्र में, गुरु नृसिंह से सुना और श्रोताओं के लिये उपस्थित किया।

डॉ० लाल की धारणा है कि मानस का उद्देश्य था भक्ति मार्ग का स्थापन, तथा बौद्ध धर्म एवं ज्ञान मार्ग का उन्मूलन। मानस में, आख्यान और प्रतीक के रूप में, अथवा कथा या उपाख्यान के माध्यम से, प्रतीक और प्रहेलिका के रूप में, ईश्वर जीव, सर्ग और सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में परम्परागत मत और विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

तुलसीदास जी ने मानस को स्वान्तः सुख के लिये लिखा था, पर डॉ० लाल के अनुसार इस रचना का वास्तविक उद्देश्य ऐसा न था; यह उद्देश्य प्रमुखतः रामभक्ति-प्रचार का ही था। इस कारण राम कथा को आरम्भ करने से पूर्व अति विस्तृत भूमिका दी गई तथा सती-मोह, पार्वती-जन्म, पार्वती-विवाह आदि प्रसंगों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त प्रधान कथा के बीच-बीच में छोटे-बड़े संवाद मिलते हैं, यथा: लक्ष्मण-राम का भक्ति-परक संवाद, शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश, नारद से संत-लक्षणों का वर्णन, बाल्मीकि का रामनिकेतों का कथन, पुरवासियों को राम का भक्ति-परक उपदेश। ये सब प्रसंग पौराणिक भावना से ओत-प्रोत हैं। परस्पर प्रशंसा करने की प्रवृत्ति, घुमा-फिराकर बातें कहने का ढंग, अवान्तर प्रसंगों की अव-तारणा, संवादों के भीतर अन्य संवादों का अधिकतर विस्तार—ये सब पौराणिक शैली के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। "बात-बात में आगम-निगम की दुहाई देना; स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय दिखाना; सुर, सिद्ध और मुनियों से दुंदुभी-वादन और पुष्प वृष्टि कराना तथा बीच-बीच में आकाशवाणी का सहारा लेना ये सब पौराणिक शैली की ही घोषणा करते हैं"। "प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित और प्रतिष्ठित काव्यकला का समावेश रामचरितमानस में पूर्ण मात्रा में हुआ है। वाणी और शब्द की सभी शक्तियाँ अपनी सहज स्वाभाविक गति, संगीत और सौन्दर्य के साथ मानस में बिखरी पड़ी हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना; प्रसाद, ओज और माधुर्य; रस, रीति और अलंकार—सबका समुचित [illegible] कर मानसकार ने काव्यकला का

हिन्दी सूफ़ी काव्यों में साध्य की प्रतीक नायिका की कठोरता की भ्रांत-धारणा प्रचलित हो गई है।[१] हमने अन्यत्र यह दिखाया है कि केवल मृगावती को छोड़कर यह कहीं चित्रित नहीं हुई। वस्तुतः सूफीमत में साध्य को कठोर नहीं माना गया। फ़ारसी प्रेमाख्यानों में इस रूप का अंकन अवश्य हुआ है परन्तु रूमी और बायज़ीद विस्तामी आदि द्वारा परमात्मा को भी जीव से अभेद प्राप्ति का इच्छुक बताया गया है। बायज़ीद विस्तामी ने तो यहाँ तक कहा है कि मैं समझता था कि मैं ही परमात्मा से प्रेम करता हूँ पर ग़ौर करने पर देखा कि मेरे प्रेम करने से पहले ही वह मुझसे प्रेम करता है।[२] हिन्दी के अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की तरह मधुमालती में भी प्रेम को सम-भाव रूप से अंकित किया गया है। नायिका भी नायक की प्राप्ति के लिए आकुल और विह्वल अंकित की गई है। मंझन के अनुसार यह खड्ग दोनों दिशाओं में धार वाली होने के कारण एक ही को नहीं मारती।[३]

निष्कर्ष यह कि मंझन ने प्रेम-तत्त्व का बहुत ही सुष्ठु और विशद अंकन किया है। उनके विषय में डा० माताप्रसाद गुप्त ने उचित ही कहा है कि किसी अन्य सूफ़ी कवि ने इतनी पूर्णता के साथ प्रेम-दर्शन को विवृत करने का प्रयत्न नहीं किया।[४]

सूफ़ी मत में गुरु का विशेष महत्त्व है। सूफ़ी मत में यह विचार प्रकट किया गया है कि गुरु की सहायता के बिना जो पथ-पार करने की चेष्टा करता है, उसका मार्ग निर्देशक शैतान होता है।[५] मंझन ने अपने गुरु मुहम्मद ग़ौस की बड़ी प्रशंसा की है और सब ऊहापोह छोड़कर गुरु की शरण ग्रहण करने के लिए कहा है।[६] मधुमालती की कथा का रूप कुछ इस प्रकार का था कि मंझन प्रतीक-पात्र के रूप में 'गुरु' का अंकन स्पष्टता से नहीं कर सके। परन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो 'प्रेमा' के द्वारा इसे संकेतित अवश्य कर दिया गया है। प्रेमा ही मनोहर को प्रबोधित करती है और राक्षस को मारने के लिए अस्त्र देती और विजय-प्राप्ति के लिए विधि सुझाती है। राक्षस शैतान अथवा निम्नात्मा (नफ़्स) का प्रतीक है जो गुरु द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक-चेतना (अस्त्रों) द्वारा ही मारा जा सकता है।[७]

साधना-सोपान

मधुमालती पदमावत के विषय में डा० श्याममनोहर पांडेय ने यह मत प्रकट किया है कि इसमें हम आध्यात्मिक मंजिलों को स्पष्टतया नहीं दिखा सकते।

१. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, पृ० १५४।
२. सूफ़ीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३१५ पर उद्धत।
३. मधुमालती, छन्द १४४।
४. मधुमालती, भूमिका पृ० २२।
५. इस्लाम के सूफ़ी साधक, पृ० २६-२७।
६. मधुमालती, छन्द १४-२१।
७. मध्य युगीन प्रेमाख्यान, पृ० १३६।

चरितमानस है। कुछ विद्वान् इसकी भाषा को अवधी मानते हैं, परन्तु वास्तव में उसे व्रजावधी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में रामचरितमानस के आदि, मध्य और अन्त के निम्नलिखित उद्धरण, स्थाली-पुलाक-न्याय से, प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस का प्रारम्भ व्रजावधी से किया और व्रजावधी से ही समापन :

जो सुमिरत सिधि होइ, गन नायक करिवर वदन,
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।

रा० १, १।

वंदौ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि,
महामोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।

× × × ×

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा, तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।

× × × ×

कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू, कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू।
सकौं तोर अरि अमरउ मारी, काह कीट बपुरे नर नारी।

रा० २, २५, १-२।

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही, जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही।

रा० ३, १२, ३।

पठए बालि होंहि मन मैला, भागौं तुरत तजौं यह सैला।

रा० ४, ०, ५।

मैं जानौं तुम्हारि सब रीती, अति निय निपुन न भाव अनीती।

रा० ५, ४५, ६।

इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो, राम समीप सपदि सो आयो।

रा० ६, ७३, १०।

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम,
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।

रा० ७, १३०।

तुलसीदास जी की भाषा मूलतः व्रजावधी थी। उन्होंने उसका प्रयोग कभी तो व्रजभाषा-परक और कभी अवधी-परक किया है। उनकी दोहा-चौपाई वाली रचनाएं उनके चचेरे भाई नन्ददास, भतीजे कृष्णदास और पत्नी रत्नावली की भाषा से, जायसी की भाषा की अपेक्षा, अधिक मेल खाती हैं। सोरों के परवर्ती कवि मुरलीधर चतुर्वेद की भाषा भी शुद्ध व्रजभाषा नहीं। भाषा-सम्बन्धी धारणा बनाते समय, यह बात स्मरणीय है कि सूकरक्षेत्र (सोरों), अवध और व्रज के बीच, उस स्थान पर है

भारतीय-प्रभाव—हिन्दी की सूफ़ी कविता में चित्रित साधना-मार्ग में हठयोग और सहज-साधना आदि के संकेत देखकर कुछ आलोचकों ने इन्हें भारतीय योग-मार्ग की परम्परा में समझ लिया है। इसका मूल कारण यह रहा है कि वे न केवल अभारतीय सूफ़ी-साधना के स्वरूप से ही अनभिज्ञ रहे हैं, भारतीय परिवेश में विकसित होने वाले सूफ़ीमत के सम्बन्ध में भी उनका ज्ञान अधकचरा होने के कारण यह भ्रांतिजनक धारणा प्रसारित की जा रही है। भारतीय योग का प्रभाव विदेशी सूफ़ी-साधना पर भी पड़ गया था, यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं। भारतीय सूफ़ियों ने तो हठयोग की अनेक क्रियाएँ स्वीकार कर ली थीं अतएव हिन्दी सूफ़ी कवियों के काय-साधन का मूल स्रोत भारतीय सूफ़ीमत है न कि प्रत्यक्ष हठयोगी सम्प्रदाय। मंझन शचारी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उन्होंने प्राणायाम और हठयोग आदि को स्वीकार कर लिया था।[1] इसी दृष्टिकोण के अनुकूल उन्होंने योग की क्रियाओं का उपदेश दिया है। वे यह कहते हैं कि यदि प्राणायाम के द्वारा शरीर की शुद्धि की जाए और तत्पश्चात् अनाहत नाद में स्थित होने पर कैलास (शिवलोक) का आनन्द मिलता है।[2] मंझन भाव-साधन और काम-साधन में समन्वय भी करते हैं। शरीर-शुद्धि के लिए प्राणायाम और तन-मन जलाने के लिए (फ़ना) विरह को उसने स्वीकार किया है।[3] परन्तु वे शारीरिक-साधना को कष्ट-साध्य और कुछेक व्यक्तियों के लिए ही सम्भव भी कहते हैं।[4]

कला

कथा-शिल्प—मधुमालती की कथा का वास्तविक स्रोत क्या था, इसके विषय में अन्यत्र कहा जा चुका है कि अनेक अन्य सूफ़ी कवियों की भांति मंझन ने भी अपनी कथा-वस्तु लोक प्रचलित कथाओं से गृहीत की। डा० रवीन्द्र भ्रमर ने इसके अप्राकृतिक, अति-प्राकृतिक तत्वों और कथानक-रूढ़ियों का विवेचन करते हुए कहा है कि इसका कथानक-परिधान एकदम लौकिक है।[5] परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि मधुमालती की कथा लोक-मानस की उपज है अथवा कोई विदेशी कथा लोक-प्रचलित हो गई थी और लोक-मानस ने धीरे-धीरे इसे वर्तमान रूप प्रदान कर दिया। दक्खिनी के कवि ग़वासी सैफ़ुलमुलूक व बदीउल जमाल (रचना काल १६१९ ई०) और पंजाबी के कवि मुहम्मद बख्श के (सैफ़ुलमुलूक १८६४ ई०) की प्रासंगिक कथाओं का प्रेमा सम्बन्धी कथानक से गहरा साम्य है। मुख्य कथा के कतिपय अंश भी समान हैं। सैफ़ुलमुलूक

---

१. सूफ़ी काव्य-विमर्श, पृ० १५६।
२. मधुमालती, छन्द ३२।
३. वही, छन्द १७४।
४. वही, छन्द ३२।
५. हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्त्व, पृ० ७१।

राम यश मानसिक रोगों को शमन करता है। मानसरोवर का जल निर्मल है, उसी प्रकार सगुण की लीला मानसिक स्वच्छता-प्रद है, जैसे इस सरोवर का जल मधुर और शीतल है उसी प्रकार प्रेम-भक्ति मधुर है। जल से धान को लाभ पहुँचता है, राम यश के श्रवण से भक्त-हित होता है; वर्षा का जल पृथ्वी पर बरस कर मानसरोवर में भर जाता है, वैसे ही वह यश बुद्धिगम्य होकर हृदयंगम हो जाता है।

मानसरोवर के चार घाट हैं, मानस में चार संवाद हैं। मानसरोवर में सीढ़ियाँ हैं, रामचरितमानस में सात काण्ड हैं। सीताराम का यश मानस का अमृतोपम जल है, उपमाएं तरंगें हैं, चौपाइयाँ कमल हैं, और युक्ति मुक्ता-शुक्ति है। मानस के छंद सोरठे और दोहे मानसरोवर के रंगीन कमल हैं, जिनमें अर्थ तो पराग है, भाव मकरन्द है, कविता सुगंध है, भक्तजन भ्रमर है, और ज्ञान-वैराग्य हंस हैं। मानस की ध्वनि और वक्रोक्ति मानसरोवर की मनोहर मछलियाँ हैं; गुण और छन्द छोटी-बड़ी मछलियाँ हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, विज्ञान, विचार, नवरस, जप, तप, योग और वैराग्य—ये सब सरोवर के जलचर हैं। पुण्यात्मा और साधुओं के नाम विचित्र जल-पक्षी हैं। सन्तसभा आम्र-राजियाँ हैं; और श्रद्धा वसन्त ऋतु है (रा० १,३५-३६)।

(ख) **काव्य-रूपक**। हृदय तो समुद्र है, मति शुक्ता है, और सरस्वती स्वाति नक्षत्र है। स्वाति नक्षत्र रूपी शारदा से उत्पन्न जो विचार-जल है उससे काव्य रूपी सुन्दर मोती उत्पन्न होते हैं। कविता रूपी मुक्तामणियों को, युक्ति से बेधकर, और रामचरित रूपी तागे में इन मणियों को पोहकर, सन्तजन अपने हृदय-रूपी वक्षस्थल पर धारण करते हैं। इस रूपक में शारदा है प्रतिभा, मति है कल्पना अथवा बुद्धि और युक्ति है शैली (रा० १,१०-११)।

(ग) **विजय-रथ**। लंका काण्ड में विजय-रथ की कल्पना की गई है। इस रथ के दो पहिये हैं शूरता और धीरता। सत्य-शील इसकी ध्वजा-पताकाएँ हैं। इसमें चार घोड़े हैं—बल, विवेक, दम और परहित। ये घोड़े क्षमा, दया, और ममता रूपी रस्सियों से जुते हुए हैं। इसमें सारथी है भगवद्भजन, वैराग्य है ढाल, संतोष है कृपाण, दान है फरसा, बुद्धि है प्रचण्ड शक्ति और विज्ञान है धनुष, जिसके बाण हैं संयम और नियम, तरकस है स्थिर मन, और कवच है विप्रपद-पूजन। धर्म-रथ का यह स्वरूप विजय के निमित्त है (रा० ६,७८,५-११)।

संवाद वैविध्य

रामचरितमानस में अनेक सरस संवादों की सृष्टि हुई है, यथा लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, भरत-सभा-संवाद, जनक-सभा-संवाद, अंगद-रावण-संवाद, रावण-हनुमान-संवाद, कैकेयी-मंथरा-संवाद, राम-सीता-संवाद इत्यादि। रामचरितमानस रूपी मानसरोवर के चार घाटों पर चार संवादों की कल्पना की गई है—भरद्वाज-

भारतीय-प्रभाव—हिन्दी की सूफ़ी कविता में चित्रित साधना-मार्ग में हठयोग और सहज-साधना आदि के संकेत देखकर कुछ आलोचकों ने इन्हें भारतीय योग-मार्ग की परम्परा में समझ लिया है। इसका मूल कारण यह रहा है कि वे न केवल अभारतीय सूफ़ी-साधना के स्वरूप से ही अनभिज्ञ रहे हैं, भारतीय परिवेश में विकसित होने वाले सूफ़ीमत के सम्बन्ध में भी उनका ज्ञान अधकचरा होने के कारण यह भ्रांतिजनक धारणा प्रसारित की जा रही है। भारतीय योग का प्रभाव विदेशी सूफ़ी-साधना पर भी पड़ गया था, यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं। भारतीय सूफ़ियों ने तो हठयोग की अनेक क्रियाएँ स्वीकार कर ली थीं अतएव हिन्दी सूफ़ी कवियों के काय-साधन का मूल स्रोत भारतीय सूफ़ीमत है न कि प्रत्यक्ष हठयोगी सम्प्रदाय। मंझन शत्तारी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उन्होंने प्राणायाम और हठयोग आदि को स्वीकार कर लिया था।[1] इसी दृष्टिकोण के अनुकूल उन्होंने योग की क्रियाओं का उपदेश दिया है। वे यह कहते हैं कि यदि प्राणायाम के द्वारा शरीर की शुद्धि की जाए और तत्पश्चात् अनाहत नाद में स्थित होने पर कैलास (शिवलोक) का आनन्द मिलता है।[2] मंझन भाव-साधन और काम-साधन में समन्वय भी करते हैं। शरीर-शुद्धि के लिए प्राणायाम और तन-मन जलाने के लिए (फ़ना) विरह को उसने स्वीकार किया है।[3] परन्तु वे शारीरिक-साधना को कष्ट-साध्य और कुछेक व्यक्तियों के लिए ही सम्भव भी कहते हैं।[4]

कला

कथा-शिल्प—मधुमालती की कथा का वास्तविक स्रोत क्या था, इसके विषय में अन्यत्र कहा जा चुका है कि अनेक अन्य सूफ़ी कवियों की भांति मंझन ने भी अपनी कथा-वस्तु लोक प्रचलित कथाओं से गृहीत की। डा० रवीन्द्र भ्रमर ने इसके अप्राकृतिक, अति-प्राकृतिक तत्वों और कथानक-रूढ़ियों का विवेचन करते हुए कहा है कि इसका कथानक-परिधान एकदम लौकिक है।[5] परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि मधुमालती की कथा लोक-मानस की उपज है अथवा कोई विदेशी कथा लोक-प्रचलित हो गई थी और लोक-मानस ने धीरे-धीरे इसे वर्तमान रूप प्रदान कर दिया। दक्खिनी के कवि ग़वासी सैफ़ुलमुलूक व बदीउल जमाल(रचना काल १६१९ ई०) और पंजाबी के कवि मुहम्मद बख्श के(सैफ़ुलमुलूक १८६४ ई०) की प्रासंगिक कथाओं का प्रेमा सम्बन्धी कथानक से गहरा साम्य है। मुख्य कथा के कतिपय अंश भी समान हैं। सैफ़ुलमुलूक

---

१. सूफ़ी काव्य-विमर्श, पृ० १५६।
२. मधुमालती, छन्द ३२।
३. वही, छन्द १७४।
४. वही, छन्द ३२।
५. हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्त्व, पृ० ७१।

१-२) वीर रस पूर्ण हैं। ज्यों ही जनक जी ने कहा कि 'वीर विहीन मही मैं जानी' और ज्यों ही चित्रकूट में कामद् गिरि पर भरत का आगमन सुना त्यों ही लक्ष्मण जी के क्रोध का पारा चढ़ गया और रौद्र रस का आविर्भाव हुआ :

माखे लखन कुटिल भई भौंहें, रदपट फरकत नयन रिसौंहें।

(रा० १,२५२-५३)

आइ बना भल सकल समाजू, प्रकट करौं रिस पाछिल आजू।

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।

तैसेहि भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातौं खेता।

(रा० २,२२६,३-४)

लक्ष्मण के क्रोध का फल हुआ भय, जिसके कारण पृथ्वी, दिग्गज डगमगाये और राजा लोग डरे, हाथी चिंघाड़ने लगे (रा० १,२५३,१-२,२,२२६,१)। राम ने रावण पर क्रोध किया जिसके कारण मन्दोदरी, कमठ, भूधर डगमगाने लगे। खर-दूषण और त्रिशिरा की सेना का विध्वंस होने पर भूत, प्रेत, गिद्ध, शृगाल आदि को उत्सव का (और कवियों को वीभत्स रस के आस्वाद का) अवसर मिला (रा० ३,१९ ख, २० क)। दशरथ-मृत्यु, सीता-हरण, राम-मूर्च्छा, मन्दोदरी-शोक आदि के वर्णनों में करुणरस की कुशल अभिव्यक्ति है। रामचरितमानस के बालकांड में राम के तोतले वचन, पीत झगुलिया, ठुमक-ठुमक कर चलने में, वात्सल्य की अभिव्यक्ति है। कुछ तो शान्तरस को और कुछ भक्तिरस को अंगिरस मानते हैं क्योंकि गोस्वामी जी ने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की चर्चा बार-बार की है। इस कारण निर्वेद एवं तत्सम्बन्धी संचारिभाव-विभाव के उत्पादन से शान्तरस की निष्पत्ति होती है। हनुमान् और विभीषण का प्रथम मिलन शान्तरस का उत्पादक है। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य परक एक उक्ति इस प्रकार है :

मन तें सकल वासना भागी, केवल राम चरण अनुरागी।

देह धरे का यह फल भाई, भजिय राम सब काम बिहाई।

दार्शनिक विचार

तुलसीदास जी के अनुसार परात्पर सत्ता भगवान् राम हैं, जो न केवल दशरथ के पुत्र और विष्णु के अवतार हैं अपितु ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नचाने वाले भी हैं क्योंकि ये तीनों उनके अंश से उत्पन्न हुए हैं :

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना, उपजहिं जासु अंसते नाना।

(रा० १, १४३, ६)

राम परमार्थ रूप हैं (रा० २, ९३, ७) और परम स्वतन्त्र हैं जिनके सिर पर और कोई नहीं (रा० १, १३६, १)। किन्तु राम से है बड़ा राम नाम भी :

कहहुँ नाम बड़ राम ते, निज बिचार अनुसार। (रा० १, २३)

वह यत्न करता है कि एक ही बार आए।[1] इस बात में सन्देह नहीं है कि मंझन सजग-कलाकार थे और उन्होंने पुनरावृत्तियों से बचने का प्रयत्न किया है। नायिका और नायक के प्रथम साक्षात्कार के अनन्तर निद्रा की अनुभूतियों को मिथ्या और जाग्रतावस्था की अनुभूतियों से हीनतर बताते हुए जब मंझन को यह स्मरण हो आता है तो वह पछताते हुए अपने विषय पर लौट आता है। इस सम्बन्ध में हमें केवल यह कहना है कि यह भी कथा-वर्णन की एक प्रणाली थी जिसके द्वारा कवि पाठकों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे। फ़ारसी काव्यों में भी यह प्रणाली दीख पड़ती है। पंजाबी के कवि मुहम्मद बख्श के सैफ़ुलमुलूक में तो इसका अनेक स्थलों पर उपयोग हुआ है।[2]

इसी प्रकार डा० गुप्त को मंझन के काव्य में शालीनता की मर्यादाओं का ध्यान भी प्रतीत हुआ है। कवि ने नायिका के नख-शिख का वर्णन करते हुए गुरुजनों की लज्जा के कारण गुह्यांग का वर्णन नहीं किया।[3] उपर्युक्त निष्कर्ष भी उचित नहीं प्रतीत होता। मंझन ने ही नहीं, किसी अन्य सूफ़ी-कवि ने भी मदन-भंडार का वर्णन नहीं किया। मधुमालती का कवि जंघाओं, नितम्ब, कुच सभी का खुलकर वर्णन करता है।[4] यही नहीं मनोहर की पलकों के मिलने की उत्प्रेक्षा उसे रति-संगम में ही मिलती है[5] और ललाट तथा चिकुर पट्टिका की नीचे-ऊपर की स्थिति की समानता शशि और निशा की विपरीत-रति में ही पाता है।[6]

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मधुमालती कोई महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है। वस्तुतः उसके चरित्र एकांगी हैं और पात्रों के बहुमुखी व्यक्तित्व का अंकन करने का कोई प्रयास उनमें लक्षित नहीं होता। कवि के उद्देश्य को देखते हुए उससे यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी।

वर्णन—धुमालती में गढ़-वर्णन, नख-शिख वर्णन, बारात और दहेज-वर्णन आदि कतिपय वर्णन ही उपलब्ध होते हैं। इनमें मंझन ने पर्याप्त संयम और संकोच से काम लिया है और अनावश्यक विस्तार देने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई विशिष्टता भी प्रतीत नहीं होती जिससे उसकी कला का कोई सुष्ठु-रूप दिखाया जा सके। नख-शिख वर्णन उसका अवश्य उच्चकोटि का है। वह न केवल नायिका के रूप का एक मनमोहक आकार खड़ा करने में सफल हुआ है, उसके सौंदर्य की लोकोत्तर व्यंजना में भी कवि को अद्भुत सफलता मिली है। अंग-प्रत्यंग का ांसल वर्णन भी कुछ ऐसे रेशमी तन्तुओं से बुना गया है कि उसमें मांसलता और

१. मधुमालती, भूमिका पृ० १७।
२. सैफ़ुल-मूलूक, मुहम्मद बख्श (पंजाबी), पृ० ३२१।
३. मधुमालती, भूमिका पृ० १७।
४. वही, छन्द ६५, ६६, ६७।
५. वही, छन्द ६५।
६. वही, छन्द ८१।

वास्तव में जीव अविनाशी नित्य चेतन, सुखराशि और अमल है :

ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।

(रा० ७, ११७, १)

परन्तु माया के प्रभाव से वह अभिमानी, जड़ और परिच्छिन्न हो जाता है, अतएव उसे सुखी-दुःखी, मानी-अभिमानी भी कहा जाता है। भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का 'अंश' समझा गया है, यद्यपि शंकराचार्य जी उसे 'अंश इव' समझते हैं। गोस्वामी जी जीव की तीन अवस्थाओं, चौरासी लक्ष योनियों और उसके पुनर्जन्म में विश्वास करते और मानव शरीर की महिमा को मानते हैं, रा० ७, २०७, ५-६।

भवचक्र से मुक्त होने के लिये गोस्वामी जी ने सायुज्य और कैवल्य की चर्चा की है किन्तु उन्होंने भक्ति की ओर अधिक झुकाव प्रकट किया है। यद्यपि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं तथापि भक्त तो मोक्ष चाहता ही नहीं, क्योंकि भक्ति की सिद्धि होने पर ज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाता है :

भगतिहि ग्यानिहि नहि कुछ भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

रा० ७, ११३, ७।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं, तिन कहं राम भगति निज देहीं।

रा० ५, १३८, ४।

राम भजति सोइ मुकति गोसाईं, अनइच्छति आवइ बरिआई।

रा० ७, २०३, २।

ज्ञान दीपक बड़े यत्नों से प्रज्वलित किया जाता है किन्तु कामादि झंझावात से वह तुरन्त बुझ भी सकता है, जबकि भक्तिमणि का प्रकाश सदैव एकसा रहता है। ज्ञान मार्ग पर चलना मानो असि-धारा पर चलना है। अतएव तुलसीदास जी भक्ति की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं और कर्म-मार्ग को इतना प्रशस्त नहीं समझते। वे प्रपत्ति के द्वारा राम प्रसाद की कामना करते हैं।

वर्णाश्रमधर्म में तुलसी की आस्था थी। उन्होंने रामचरितमानस के उत्तर-काण्ड में एषणाओं एवं मूल प्रवृत्तियों का अच्छा वर्णन किया है। वे आधुनिक मनो-विज्ञान के अधिक निकट हैं।

गोस्वामी जी किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी न थे। वे द्वैतवादी न थे, अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद में भी वे शंकराचार्य और वल्लभाचार्य के मध्यस्थ हैं; किन्तु वल्लभाचार्य जी के कुछ अधिक निकट। उन्होंने प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रायः गणेश, शारदा, शिव-पार्वती की स्तुति की है। वे स्मार्त वैष्णव थे उनके इष्ट देव थे राम।

आचार दर्शन

तुलसीदास जी के अनुसार आचार का स्रोत माया है और माया ब्रह्म पर आधृत सत्ता है। ईश्वर कार्य करने में परम स्वतन्त्र है, किन्तु जीव पंजरस्थ शुक और

प्रतीक—एक सूफ़ी-कवि की कला का विवेचन करते हुए प्रतीक-विधान पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होता है क्योंकि वह आध्यात्मिक-पथ का पथिक होता है और अपनी लोकोत्तर अनुभूति को यत्किंचित् संप्रेषित करने के लिए उसके पास प्रतीक से अधिक उपयुक्त साधन और कोई नहीं हो सकता। मंझन ने हिन्दी के अधिकांश सूफ़ी कवियों के समान नायिका को परम-सौंदर्य का प्रतीक बनाया है और नायक को साधक का। नायिका के सौंदर्य का अंकन करते हुए सूफ़ी-मत में अंग-प्रत्यंग द्वारा भी प्रतीकार्थ की व्यंजना की गई है।

इनकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ज़ुल्फ (कुन्तल) परम ऐश्वर्य के सर्वशक्तिमान रूप की अभिव्यक्ति, परम सत्य को छिपाने वाला दृश्यमान पर्दा है। खाल (तिल) वास्तविक एकत्व का केन्द्र-बिन्दु है जो ओट में है। चश्म (आँख) का तात्पर्य परमात्मा का अपने दासों और उनके रुझान को देखना और लब (अधर) का अर्थ परमात्मा की जिलाने वाली शक्ति है।[1]

मंझन ने मधुमालती के चिकुरों विषय में इस प्रकार कहा है :

चिकुर संकेलहु बाला दिनयर उदै कराइ।
लोयन जरे बियोग के पियहि सरूप अघाइ।[2]

मधुमालती की ये पंक्तियाँ हाफ़िज़ की पंक्तियों से तुलनीय हैं। हाफ़िज़ कहता है, अपने मुख पर से अलकों को हटा ले जिससे रूप-सुधा पीकर संसार चकित हो जाए और प्रेम से मतवाला हो जाए।[3] अन्य अंगों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इनकी व्याख्या स्वीकृत प्रतीकार्थों के आलोक में की जा सकती है :

नैन और अधर : नैन सोहागिनी बिस बसै अधरन्ह अंब्रित बासु।
नैन कटाछैं जो मरै बिहसि जियावहु तासु।[4]

तिल : तिल जो परा मुख ऊपर आई। बरनि न गा किछु उपमा लाई।
जाइ कुंवर चखु रूप लोभाने। हिलगे बहुरि न आवहिं आने।[5]

इन प्रतीकों के अतिरिक्त नायक की यात्रा और मार्ग की बाधाओं का भी मधुमालती में विस्तार से अंकन किया गया है। इस सम्बन्ध में यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि यह यात्रा ऊपरी दृष्टि से बाह्य दिखाई देने पर भी मूलतः आन्तरिक है। ये बाधायें वे आकर्षण हैं जो मनुष्य को परम लक्ष्य से भ्रमित कर देती हैं।

अन्यत्र यह दिखाया जा चुका है कि राक्षस शैतान का प्रतीक है जिस पर

---

१. सूफ़ीमत—साधना और साहित्य, पृ० ५२४।
२. मधुमालती, छन्द ३२५।
३. ईरान के सूफ़ी कवि, श्री बाँकेबिहारी, श्री कन्हैया लाल, पृ० ३४८-४९।
४. मधुमालती, छन्द १३२।
५. वही, छन्द ८९।

वास्तव में जीव अविनाशी नित्य चेतन, सुखराशि और अमल है :

ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।

(रा० ७, ११७, १)

परन्तु माया के प्रभाव से वह अभिमानी, जड़ और परिच्छिन्न हो जाता है, अतएव उसे सुखी-दुःखी, मानी-अभिमानी भी कहा जाता है। भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का 'अंश' समझा गया है, यद्यपि शंकराचार्य जी उसे 'अंश इव' समझते हैं। गोस्वामी जी जीव की तीन अवस्थाओं, चौरासी लक्ष योनियों और उसके पुनर्जन्म में विश्वास करते और मानव शरीर की महिमा को मानते हैं, रा० ७, २०७, ५-६।

भवचक्र से मुक्त होने के लिये गोस्वामी जी ने सायुज्य और कैवल्य की चर्चा की है किन्तु उन्होंने भक्ति की ओर अधिक झुकाव प्रकट किया है। यद्यपि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं तथापि भक्त तो मोक्ष चाहता ही नहीं, क्योंकि भक्ति की सिद्धि होने पर ज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाता है :

भगतिहि ग्यानिहि नहि कुछ भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

रा० ७, ११३, ७।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं, तिन कहं राम भगति निज देहीं।

रा० ५, १३८, ४।

राम भजति सोइ मुकति गोसाईं, अनइच्छति आवइ बरिआईं।

रा० ७, २०३, २।

ज्ञान दीपक बड़े यत्नों से प्रज्वलित किया जाता है किन्तु कामादि झंझावात से वह तुरन्त बुझ भी सकता है, जबकि भक्तिमणि का प्रकाश सदैव एकसा रहता है। ज्ञान मार्ग पर चलना मानो असि-धारा पर चलना है। अतएव तुलसीदास जी भक्ति की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं और कर्म-मार्ग को इतना प्रशस्त नहीं समझते। वे प्रपत्ति के द्वारा राम प्रसाद की कामना करते हैं।

वर्णाश्रमधर्म में तुलसी की आस्था थी। उन्होंने रामचरितमानस के उत्तर-काण्ड में एषणाओं एवं मूल प्रवृत्तियों का अच्छा वर्णन किया है। वे आधुनिक मनो-विज्ञान के अधिक निकट हैं।

गोस्वामी जी किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी न थे। वे द्वैतवादी न थे, अद्वैतवादी थे। अद्वैतवाद में भी वे शंकराचार्य और वल्लभाचार्य के मध्यस्थ हैं; किन्तु वल्लभाचार्य जी के कुछ अधिक निकट। उन्होंने प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रायः गणेश, शारदा, शिव-पार्वती की स्तुति की है। वे स्मार्त वैष्णव थे उनके इष्ट देव थे राम।

आचार दर्शन

तुलसीदास जी के अनुसार आचार का स्रोत माया है और माया ब्रह्म पर आधृत सत्ता है। ईश्वर कार्य करने में परम स्वतन्त्र है, किन्तु जीव पंजरस्थ शुक और

७

रामचरितमानस

डा० रामदत्त भारद्वाज

रामचरितमानस की रचना लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन है, किन्तु उसकी महत्ता अभी तक अक्षुण्ण है। हिन्दी में उसके जोड़ का कोई और रामकाव्य विद्यमान नहीं। जनभाषा में लिखे जाने के कारण यह, इतना पुराना होता हुआ भी, उस काल के अन्य काव्यों को देखते हुए, सुगम और सुबोध है। इस काव्य के पात्रों को आदर्श रूप में उपस्थित किया गया है। राम तो दिव्य हैं ही, भरत जैसा निःस्वार्थ भाई, लक्ष्मण जैसा कठिन व्रतधारी भ्रातृसेवी, हनुमान जैसे निःस्वार्थ सेवक, सुग्रीव जैसे मित्र, यहाँ तक कि रावण जैसे शत्रु भी संसार में अन्यत्र दुर्लभ हैं। दशरथ सत्यवादी थे और पुत्र स्नेही भी; उन्होंने पुत्र वियोग में अपने प्राण त्याग दिये थे। यह ग्रन्थ पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भ्राता-मित्र, सेव्य-सेवक सभी के आदर्शों को अत्यन्त उत्कृष्ट एवं मनोरम रूप में उपस्थित करता है। इस ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त ललित एवं प्रभावशालिनी है और इसके विचार भव्य और उच्च हैं। इसके पठन-पाठन से सभी वर्ग के मानव लाभान्वित होते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सभी इसके श्रवण-मनन से आनन्दित होते हैं। जो काव्य-रसिक हैं उनके लिये इसमें सभी रसों का समावेश है। गोस्वामी तुलसीदास आदर्शवादी थे। अतएव उनकी शृंगारिक अभिव्यक्ति मर्यादित रही है, तथापि इसमें संयोग और विप्रलम्भ शृंगार का जो अभिव्यंजन हुआ है वह अत्यन्त उत्कृष्ट और मनोरम है। इसकी सूक्तियाँ और मुहावरे इतने आकर्षक हैं कि वे पाठक और श्रोताओं के वार्तालापों में प्रकट होते रहते हैं।

रामचरितमानस का कलापक्ष कलाकारों को मंत्रमुग्ध करता है। किन्तु इसका आन्तरिक मूल्य और आकर्षण और भी अधिक है, जिसके कारण उत्तर भारत में इसका पारायण प्रायः प्रत्येक घर में होता है। प्राचीन भावना से प्रभावित नरनारी तो इसका नित्य प्रति पूजन भी करते हैं; किन्तु नवयुगीन मानसों में भी मानस का अत्यन्त आदर है। यद्यपि डॉ० श्यामसुन्दरदास को सूर और तुलसी 'इन दोनों महाकवियों में कौन सा बड़ा है यह निश्चय पूर्वक कह देना सरल नहीं'; तथापि आचार्य रामचन्द्र

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई, यदपि मृषा छूटत कठिनई।
जब ते जीव भयेउ संसारी, छूटि न ग्रन्थि न होइ सुखारी।
श्रुति पुरान वहु कहेउ उपाई, छूटि न अधिक अधिक अरुझाई।

ग्रन्थियों के कारण शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। आधियों का मूल कारण मोह अथवा अज्ञान है। काम वात है, लोभ कफ है और क्रोध पित्त है। ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली, हर्ष-विषाद गठिया, पर-सुख-द्रोह क्षय, कुटिलता कोढ़, अहंकार डमरू, तृष्णा जलोदर, एषणा तिजारी, मत्सर और अविवेक ज्वर हैं। इनमें से एक ही रोग से मनुष्य मर जाते हैं :

मोह सकल व्याधिन कर मूला···सो किमि लहै समाधि।

रोग निवारण के लिये अनेक उपाय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी रेचन के महत्त्व से परिचित थे। उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा ने गाली को अमृत और विष के निचोड़ से रचा है। इसलिए गाली प्रेम और वैर दोनों ही की जननी है; किन्तु इस रहस्य को विद्वान् ही समझते हैं, गवाँर नहीं। विवाह आदि के अवसर पर गोस्वामी जी स्त्रियों से गाली गवाना नहीं भूले हैं।

आधि-व्याधि की शान्ति निदान-ज्ञान से हो सकती है; किन्तु ऐसे ज्ञान का भी सीमित महत्त्व है। गोस्वामी जी कहते हैं : जाने ते छीजहीं कछु पापी। रोग नाश के लिये दो नुस्खे बताये गये हैं। पहला है समता का, जिसमें विनय, विवेक और विराग तीन तत्त्व हैं। यह मनोविश्लेषणात्मक योग है। दूसरा योग है रामभक्ति का। यह अति-मनोवैज्ञानिक योग है और अचूक भी।

राजनीति

तुलसी का राजनीतिक आदर्श था रामराज्य जो लोकतन्त्रात्मक था। इस राज्य में प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति पूर्णरूप से स्वतन्त्र था। राम के वनवास पर साधारण स्त्री-पुरुषों ने रानी कैकेयी की कटु आलोचना बिना किसी संकोच के की थी (रा० २, ५०, ३)। प्रजा राम को प्रेम करती थी, और उनके वनगमन पर वह ऐसी विकल थी जैसे जलहीन मछली (रा० २, ८३, ३)। राम भी प्रजा से स्नेह करते थे। राम-राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य न था; उसमें लोक-वेद के अनुसार कार्य-संचालन होता था (रा० ७, २०)। राजा ईश्वर का अंश और ऐश्वर्यवान् होता है (रा० १, २७, ८)। ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी था (रा० २, ६, ७)।

राजा को शक्ति, नीति और ऐश्वर्य से सम्पन्न होना आवश्यक है (रा० १, १२६, ३)। वह धर्मात्मा, प्रतापी और शीलवान् होता है और प्रजा का संरक्षण और शासन वेद-विधि से करता है (रा० १, १५२-१५३)। ब्राह्मण को संतुष्ट रखना भी राजा का कर्त्तव्य है, क्योंकि जिस राजा के राज्य में यति-मुनि कष्ट पाते हैं वह अग्नि के विना भी भस्म हो जाता है। जिसकी प्रजा दुखी रहती है, उसको नरक मिलता है

में वाणी, विनायक, भवानीशंकर, कवीश्वर-कपीश्वर, सीता और राम की वन्दना संस्कृत श्लोकों में, तदनन्तर विष्णु, गुरु नृसिंह आदि की वन्दना हिन्दी में की गई है। इस महाकाव्य के नायक हैं भगवान् रामचन्द्र जो धीरोदात्त कुलीन क्षत्रिय हैं। इसमें सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा भी की गई है। यद्यपि इस काव्य में करुण, रौद्र, अद्भुत, वीर, वात्सल्य, शृंगार आदि रसों की निष्पत्ति यथा स्थान हुई है, तथापि इसमें शान्त रस (कुछ के अनुसार भक्ति रस) की प्रधानता है। परम्परा के अनुसार नगर, वन, पर्वत, ऋतु, विवाह, युद्ध, संयोग-वियोग, जनकपुरी, अयोध्या, लंका आदि स्थानों के, तथा वर्षा और शरद् ऋतुओं के मनोरम दृश्य उपस्थित किये गये हैं।

छन्द का प्रयोग भी परम्परागत है। यद्यपि मुख्यतः दोहों और चौपाई का प्रयोग हुआ है तथापि सोरठा, हरिगीतिका, तोटक, नाराच, भुजंगप्रयात, आदि अनेक छन्द दृष्टिगोचर होते हैं। महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा है, इनमें से तुलसीदास को धर्म अथवा लोक-धर्म अभीष्ट रहा है।

मानस में पंचसंधियों का निर्वाह है। बालकाण्ड के आरम्भ में यह उल्लेख है कि राक्षसों के अत्याचार से पीड़ित होकर पृथ्वी और देवगण ब्रह्माजी के पास गये और विष्णु जी ने आकाशवाणी के द्वारा उन्हें सान्त्वना प्रदान की। काव्य के इस स्थल में मुखसंधि है। प्रतिमुख संधि उस स्थल में निहित है जब राम ने वन में निवास किया और सीता का हरण हुआ। राम-सुग्रीव की मित्रता, सीता की खोज, लंका से हनुमान् जी का प्रत्यागमन आदि में गर्भसंधि है। युद्ध के निमित्त अभियान, सेतुनिर्माण आदि में विमर्श संधि है। रावण-वध से अयोध्या में रामराज्य की स्थापना तक जो वर्णन है उसमें निर्वहण संधि है। उक्त आधारों पर विद्वानों ने रामचरित-मानस को बहुमत से महाकाव्य बताया है।

परन्तु कुछ विद्वान् रामचरितमानस को महाकाव्य मानने में आनाकानी करते हैं। डॉ० श्री कृष्णलाल की समझ से मानस में मुख्य लक्षणों का नितान्त अभाव है, यद्यपि इसमें महाकाव्य के बाह्य लक्षण पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं, यथाः सर्ग संख्या, छन्द क्रम, आशीर्वचन, मंगलाचरण, खलनिन्दा, सज्जन प्रशंसा, प्रकृति, मृगया, विवाह-वर्णन, पंचसंधि, अंगीरस। श्री कृष्णलाल जी का तर्क है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार महाकाव्य का नायक वही व्यक्ति हो सकता है जो उदार और महत्त्वशील मानव हो; और साहित्यदर्पण के अनुसार भी नायक उदात्त गुण समन्वित होता है। किन्तु रामचरितमानस का नायक न देवता है और न मानव, वह तो इन दोनों से परे, वह परात्पर सत्ता है जो अद्वैत, अविनाशी, परमेश्वर और परब्रह्म है और जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नचाने वाला है। राम के परब्रह्मत्व का प्रदर्शन और निरूपण मानस का प्रतिपाद्य है। यद्यपि राम को सर्व-गुणों से युक्त, धीर और उदात्त क्षत्रिय कुमार

८

विनय-पत्रिका

डा० हरवंशलाल शर्मा

कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जितने समर्थ प्रबन्ध काव्यकार हैं, उतने ही समर्थ गीतिकाव्य-कार भी हैं। आलोचकों की दृष्टि में उनकी 'विनय-पत्रिका' गीति-सम्बन्धी तीनों रचनाओं में विशिष्टतम कृति है। उसे केवल कला की दृष्टि से ही महत्त्व प्राप्त नहीं बल्कि भक्ति तथा दर्शन-चेतना के क्षेत्र में भी वह 'रामचरितमानस' के समकक्ष ही है। इसमें कला, भक्ति और दर्शन की त्रिवेणी सतत् प्रवहमान है : विनय-पत्रिका के अध्येताओं में से लगभग प्रत्येक ने इसके गीतितत्त्व, भक्ति-वैशिष्टय और दार्शनिक विवेचन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

श्री वियोगीहरि 'विनय-पत्रिका' को भक्ति-कांड की परमोत्कृष्ट रचना बतलाते हैं। उनके अनुसार यह अनुराग-महोदधि का दिव्यरत्न और भक्तों के सरस हृदय का सर्वस्व है। इसमें भक्तिपंथ का सांगोपांग विवेचन हुआ है तथा यह सुरसिक जौहरी के लिए अपरिहार्य प्रेमरत्न-मंजूषा है।[१] डा० माताप्रसाद गुप्त के कथनानुसार 'विनय-पत्रिका' को विश्व के आत्म-निवेदन साहित्य में अत्यन्त उच्च काव्यकृति का स्थान प्राप्त है।[२] शिवसिंह सेंगर ने इसे महाविचित्र भक्तिरूपी प्रज्ञानन्द-सागर और गीतिकाव्य का अद्भुत ग्रंथ बतलाया है।[३] पं० रामनरेश त्रिपाठी का विचार है कि 'विनय-पत्रिका' पद-ग्रंथों के क्षेत्र में तुलसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। आदि से लेकर अन्त तक कवि की रसधारा एक-सी प्रवाहित हुई है। ज्ञान का प्राचुर्य, अनुभव की गम्भीरता, भाव एवं भाषा पर कवि का अबाध अधिकार और रोचक इतिहास आदि सभी अनुपम विशेषताएं 'विनय-पत्रिका' में उपलब्ध हो जाती हैं।[४] अतः स्पष्ट है कि इन विशेषताओं के कारण विनय-पत्रिका का अध्ययन हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

१. विनय-पत्रिका की टीका, पृ० ३२।
२. तुलसीदास, पृ० ३७५।
३. शिवसिंह सरोज (तृतीय संस्करण) पृ० ४२६।
४. तुलसी और उनका काव्य, पृ० २३३।

अद्भुत चमत्कार किया है।" तथापि डॉ० लाल को उसमें 'रसों की अपेक्षा रसाभास ही अधिक मिलते हैं', और कवित्वपूर्ण रूपक अधिक नहीं।

डॉ० लाल ने मानस की कथा-शिथिलता की ओर ध्यान आकृष्ट कर अच्छा ही किया। किन्तु उनका यह कथन कि 'वेद में सगुण ब्रह्म की चर्चा भी नहीं है' अत्यन्त अस्पष्ट है। 'सगुण' से उनका क्या तात्पर्य है? ऋग्वेद और यजुर्वेद के 'पुरुष सूक्त' में सगुण ब्रह्म की चर्चा है। पुराण शैली का आभास प्राप्त होने पर भी रामचरितमानस को पुराण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें पुराण के सभी लक्षण नहीं घटते। पुराण के विषय हैं: सृष्टि, लय, मन्वन्तरों, प्राचीन ऋषि-मुनियों, राजवंशों तथा चरितों का वर्णन होता है; परन्तु रामचरितमानस में इन विषयों में से अनेक का अभाव है। उसकी प्रवृत्ति महाकाव्य की ओर अधिक है। "रामचरितमानस ही संसार का ऐसा अकेला महाकाव्य है जिसका, करोड़ों व्यक्तियों के बीच, धर्म ग्रन्थ और काव्य दोनों ही रूपों में, आदर है; और अकेले इस ग्रन्थ ने ही लोक जीवन को जितनी गहराई तक प्रभावित किया है उतना संसार के किसी महाकाव्य ने शायद हा कभी किया हो"।

भाषा

गोस्वामी जी ने संस्कृत में और हिन्दी की तीन बोलियों में (अर्थात् ब्रजी, ब्रजावधी और अवधी में) रचना की। संस्कृत में जो लिखा वह अधिक नहीं। मानस के काण्डों में संस्कृत रचना मिलती है; उनके संस्कृत छन्द ललित और मनोहर हैं, यद्यपि उनमें यत्र-तत्र व्याकरण की भूलें भी हैं। तुलसी पुराणों के विशेषज्ञ और कथावाचक थे। बचपन में उन्होंने व्याकरण अवश्य पढ़ा होगा, क्योंकि उनका व्याकरण-ज्ञान इस पंक्ति से प्रकट होता है: 'सरिस स्वान, मघवान जुवानू।' विनय-पत्रिका के कुछ पद संस्कृत-निष्ठ हैं, और कुछ पद हिन्दी-संस्कृत में तिल-चावली भाषा के सुन्दर उदाहरण हैं। गोस्वामी जी को संस्कृत लिखने की इच्छा विशेष न थी। उनका मत था कि विचारों को जनभाषा में ही प्रकट करना चाहिए। वे 'तुलसी सतसई' में लिखते हैं: 'क्या भाषा, क्या संस्कृत; वास्तव में विचार रूपी ऐश्वर्य आवश्यक है; यदि कम्बल से काम चल जाय तो रेशमी दुशाले की क्या आवश्यकता?' अतएव उन्होंने रामचरित को गाने के लिये रामचरितमानस में जनभाषा का ही प्रयोग किया:

गिरा ग्राम्य सियरामजस गावहिं सुनहिं सुजान।

रा० १, १० ख।

कवितावली और विशेषकर गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका की भाषा शुद्ध ब्रजी है। पार्वती मंगल और जानकी मंगल और रामलला नहछू क्रमशः उत्तरोत्तर अवधी रूप ग्रहण करते गये हैं। तुलसीदास जी का लोकप्रिय ग्रन्थ राम-

कथावस्तु

विनय-पत्रिका के गीतात्मक काव्य के सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया गया है। यह विनय की चिट्ठी या प्रार्थना-पत्र, आर्त्त भक्त के हृदय की गलदश्रुभावुकता का साकार रूप है। तुलसी उसके माध्यम हैं। वह उन सभी भक्तों के प्रतिनिधि हैं जो राम से अपनी भक्ति पर 'सही' कराने के लिए आतुर हैं। विनय-पत्रिका मुग़ल कालीन कृति है। अतः इसमें उस समय के राजदरबार में प्रार्थनापत्र-देने के तौर-तरीकों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। उससे पूर्व इस तरह की परम्परा का एकान्त अभाव था; ऐसा मानना ऐतिहासिक दृष्ट से संभव नहीं है। राजदरबार किसी मुग़ल बादशाह का हो या चन्द्रगुप्त आदि किसी प्राचीन भारतीय सम्राट् का, सभी में तौर-तरीके प्रायः एक से ही बरते जाते हैं। तुलसी का सम्बन्ध किसी राज-दरबार से दूर का भी कभी रहा हो, ऐसा साक्ष्य नहीं है किन्तु कृति के आधार पर कहा जा सकता है कि वह राजदरबारी तौर-तरीकों से भली-भाँति परिचित थे। उन्हें पता था कि किसी विशिष्ट साध्य की सिद्धि के लिए राजसभा के आम कर्मचारियों और दरबार के मान्य सदस्यों की राय अपने पक्ष में बना लेना परमावश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। राजदरबार की कृपा प्राप्त करने के लिए बेगम, सगे भाई एवं नज़दीकी सेवकों को प्रसन्न करना तथा उन्हें अपने कार्य के औचित्य के प्रति कायल करना आवश्यक हो जाता है। ये ही राजा की आँखें और कान होते हैं। तुलसी ने मनोवैज्ञानिक तथ्य का सही पालन किया है। स्तोत्र शैली में रचना करने की प्रेरणा उन्होंने कहीं से भी प्राप्त की हो लेकिन भगवान् राम तक पत्रिका पहुँचाने की उनकी यह विधि उस युग के चलन के ही अनुकूल है। युग-चलन की उपेक्षा न कर वह अधिक सफल रहे हैं।

उस युग के राजदरबारी साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि तत्कालीन शासक प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों के बारे में अपने सभासदों से परामर्श कर लिया करते थे या कम-से-कम निर्णय से पूर्व उनकी इच्छा को जान लेना अच्छा समझते थे। राजदरबारी सदस्यों द्वारा अनुकूल सम्मति प्राप्त हो जाने के बाद अभ्यर्थी का काम हो गया समझ लिया जाता था। उस समय की दस्तावेज़ों तथा अभ्यर्थना-पत्रों से पता चलता है कि प्रार्थी आवेदन-पत्रों में प्रायः दो अनुच्छेद रखा करते थे। पहले में राजा की प्रशस्ति, उसके पराक्रम एवं यशः विस्तार का वर्णन हुआ करता था। दूसरे में अभ्यर्थी की स्वयं की विपत्ति या दैन्य-स्थिति की सविस्तार चर्चा रहती थी। प्रारम्भ में बादशाह को एक मात्र समर्थशील के रूप में स्थापित कर उसे द्रवित करने का प्रयास किया जाता था। तदोपरान्त दीनता-पूर्वक अपनी अभ्यर्थना की स्वीकृति की याचना की जाती थी। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में अक्षरशः इसी पद्धति का अनुसरण किया है। वे अपने सभी दोषों और मानवीय कमज़ोरियों को मुक्त कण्ठ से स्वीकारते

जहाँ न शुद्ध अवधी और न शुद्ध ब्रजी ही बोली जाती है। सोरों में, जोकि प्राचीन काल से महत्त्वपूर्ण तीर्थ रहा है, आज भी राजपूताना, ब्रज और अवध के यात्री आते रहते हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में होने के कारण, सोरों मुसलमानी भाषाओं से भी प्रभावित रहा है। अतः तुलसीदास जी की रचना में अरबी, फारसी, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रजी, अवधी आदि के अनेक शब्द देखने को मिलते हैं। 'डॉ० जुलियस ब्लॉख के मत से अवधी और पश्चिमी भाषाओं का पार्थक्य, आधुनिक युग में, सर जॉर्ज आर्थर ग्रियर्सन ने किया है।'

सूक्ति-मुहावरे

मानस की जनभाषा में अनेक मुहावरे अंगूठी में नग के समान यत्र-तत्र जड़े पड़े हैं। तुलसी की पवित्र लेखनी से जो सूक्तियाँ विसृत हुईं वे कम पढ़ी-लिखी जनता की जिह्वा पर भी सदा विद्यमान रहती हैं। उनका विषय है : सत्संग महिमा, कुसंगदोष, गुरु महिमा, पितृभक्ति, भ्रातृस्नेह, भाग्य-भवितव्यता, पुरुषार्थ-प्रशंसा, परोपकार, असत्यनिंदा, आदि। गोस्वामी जी ने अलंकारों का प्रयोग अपने काव्य-कौशल की अभिव्यक्ति के निमित्त नहीं किया, तथापि उनका काव्य यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास आदि शब्दालंकारों से, तथा उपमा, रूपक, प्रतीप, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विरोधाभास आदि अनेक अलंकारों से सम्पन्न है।

रूपक-योजना

तुलसीदास जी की कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान उनके रूपकों में मिलती है जिसके कारण उन्हें 'रूपकों का बादशाह' कहा गया है। रामचरितमानस में अनेक सांगरूपक विद्यमान हैं, यथा: मानस का मानसरोवर (१,३५), काव्य रूप (१,५६), संतसमाज प्रयाग (१,६,४), रंगमंच पर रामरवि (१,२५४), पिनाक पोत (१,२६१), कैकेयी सर्पिणी, (२,३३) प्रयागराज, नगरबन, भरत माहात्म्य जल, भरत का विवेक-वराह, भरत-पयोधि, भरत-कीर्त्ति-ज्योत्स्ना, वन-सुराज, जनकागम-नदीसिंधुसंगम, विजयरथ, ज्ञानदीपक, भक्तिमणि, मानस-रोग। इनमें से तीन रूपकों की विशेष चर्चा कदाचित् अरुचिकर न होगी जो इस प्रकार है :

(क) **मानस का मानसरोवर**। इस रूपक में रामचरितमानस की तुलना मानसरोवर से हुई है। इसमें बुद्धि स्थल है, हृदय गहराई है, वेद-पुराण समुद्र, और साधुजन बादल हैं। जिस प्रकार समुद्र से जल लेकर मेघ मानसरोवर को भर देते हैं, उसी प्रकार वेद-पुराणों का सार लेकर साधुजन भक्तों के हृदय को आपूर्ण कर देते हैं, और जिस प्रकार मेघजल शरीर के लिये पुष्टिकारक होता है, उसी प्रकार

पत्रिका का 'असली मज़मून' आरम्भ होता है। यह क्रम २७६वें पद तक चलता है। अपने बारे में औचित्य की सीमा में जितना और जो कुछ वह कह सकते थे, विस्तार सहित कह गए हैं। फ़रयाद वही व्यक्ति करता है जिसे किसी ने सताया हो और पीड़ित पीड़क की शक्ति के सामने असहाय होकर ही सबल की शरण में जाता है। इसी कारण 'विनय-पत्रिका' के इन पदों में तुलसी का आत्म-कैंकर्य, और उनकी असहायावस्था की करुण-अभिव्यक्ति सर्वत्र मिलती है।

तुलसीदास ने आर्त्त वाणी में राम को पुकारा है और उनका आर्त्तभाव माया-जनित संसार के उत्तापों को जान लेने के कारण जन्मा है। अतः विनय-पत्रिका उनकी आत्म-ज्ञान की उत्कण्ठा की वाणी है। जीवात्मा अपने ऊपर माया के कठोर आवरण का कसाव अनुभव कर रही है। वह यह भी महसूस करती है कि प्रभु की कृपा के बिना इसका परिहार संभव नहीं है। प्रभु-कृपा भक्ति का अनिवार्य तत्त्व है क्योंकि माया का फंदा भगवदनुकम्पा के बिना काटा नहीं जा सकता। भगवत्स्वरूप का ज्ञान, अज्ञान रूपी तम के लिए सूर्य है। अथवा अज्ञान-वन के लिए दावानल है किंवा अभिमान-सिन्धु को सोख लेने के लिए अगस्त्य है। भगवान् भक्त की वह कामधेनु है जो उसके सम्पूर्ण मनोरथों की तत्क्षण पूर्ति करती है। भगवद् गुणानुवाद ज्ञाता को ज्ञेय बनाता है। इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी कम नहीं है। अपनी स्तुति का श्रवण कर किसे खुशी नहीं मिलती और कौन औढ़र होकर हमारी त्रुटियों की गणना किए बिना ही हमारी अभ्यर्थना पर सही नहीं कर देता। प्रभु की उदारता अपार है। प्रेम से उन्हें जिस किसी ने स्मरण किया उसी हालत में वह अपने भक्त के पास नंगे पाँव दौड़े चले आते हैं। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में राम की महानता और अपनी लघुता के सूचक पदों द्वारा इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है। तुलसी की जीवात्मा स्वयं जागकर दूसरों को जगा रही है।[1] तुलसी गीति काव्य की रचना कर रहे थे। अतः उनकी यह साहित्यिक विशेषता पाठक के साधारणी-करण में विशेष सहायक होती है।

गोस्वामी तुलसीदास 'विनय-पत्रिका' में सूर के, 'प्रभु हौं सब पतितन को टीको' से भी आगे बढ़ गए हैं। परिपाटी के अनुसार पहले वह राम को लगभग उन सभी पापियों के नाम गिनाते हैं, जिनका प्रभु-कृपा से निस्तार हो चुका है। वे अपने पाप को उन्हीं की श्रेणी में सम्मिलित ही नहीं कर लेते अपितु सबसे बढ़-चढ़ कर बताते हैं। भगवान् के समक्ष दुराव कैसा? इसी कारण तुलसी अपने अन्तस् की सारी दुर्बलताओं को भगवान् के सम्मुख निरावरण करते हैं। पत्रिका में 'अहं' का लेश

---

१. जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़तानुराग श्रीहरे॥
वि० पत्रि०, पद ७४।

याज्ञवल्क्य, गरुड़-काकभुशुण्ड, शिव-पार्वती, तुलसीदास-भक्तजन, जो टीकाकारों के अनुसार क्रमशः कर्मकांड, ज्ञानकाण्ड, भक्तिकांड और दैन्य के प्रतिपादक हैं। हनुमद्रावण-संवाद में हनुमान् जी की उक्ति निर्भीक और प्रभावशालिनी है। भरत-राम-संवाद में भ्रातृ-प्रेम मूर्तिमान है। कैकेयी-दशरथ-संवाद में स्वार्थपरता की उग्रता है। लक्ष्मण-राम-संवाद में लक्ष्मण के रजोगुण और भ्रातृस्नेह का उभार है। नारद-विष्णु-संवाद में क्रोध एवं विनयशीलता की ऊष्मा और शीतलता है। कैकेयी-मंथरा-संवाद में व्यंग्य और मानव वृत्ति की अभिव्यक्ति है। सीता-राम-संवाद में पतिपरायणता की निर्मलता है। अंगद-रावण-संवाद भले ही राजस्तर से नीचे हो, यह बालक और साधारण मानव को बड़ा रुचिकर है। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में विभिन्न स्वभावों का चित्र कुशलतापूर्वक उपस्थित किया गया है। संवादों के कारण गोस्वामी जी के वर्णनों में नाटकीयता का और उसके कारण सरसता का बड़ा सुन्दर पुट है।

सरसता

गोस्वामी जी की रसात्मक उक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। अभिव्यक्ति संयत होने के कारण शिष्ट, अतएव आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी के लिये उपयोगी है। शील और मर्यादा के पोषक गोस्वामी जी ने शिव पार्वती एवं सीता-राम के शृंगार का वर्णन इसलिये नहीं किया कि उनके प्रति उनकी असीम श्रद्धा और भक्ति थी। तथापि उन्होंने सीता की छवि का निर्देश तो किया ही है। 'कंकन किंकनी नूपुर' की ध्वनि को सुनकर (रा० १,२६२,१-७) पुष्पवाटिका में दिव्य प्रणय का सूत्रपात हुआ है। राम-लक्ष्मण की कमनीयता भी अलौकिक थी :

सोभा सींव सुभग दोउ बीरा, नील पीत जलजात सरीरा।

इत्यादि। रामचन्द्र जी सीता जी से अयोध्या में रहने के लिये कहते हैं पर वे वन में चलना चाहती हैं और कहती है :

मोहि मग चलत न होइहि हारी।

(रा० २,६६,१-८)।

ग्रामवधुओं ने सीता जी से डरते-डरते पूछा कि ये गोर-स्याम राजकुमार तुम्हारे क्या लगते हैं ? यहाँ वर्णन-चातुर्य की पराकाष्ठा है :

सहज सुभाय सुभगतन गोरे, नाम लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौं करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सियसयननि।

(रा० २,११६-११७)।

हास्यरस के उदाहरण, नारद-मोह-प्रसंग और लक्ष्मण-परशुराम-संवाद तथा केवट-संवाद हैं। खर-दूषण के कटक पर भगवान् राम का आक्रमण (रा० ३,१९ ख, १-१३)। राम-रावण-युद्ध के समय ऋक्ष-वानरों का पराक्रम (रा० ६,८० ग, छन्द

द्वारा विश्व के हित के लिए भूलोक में अवतरित होते हैं।[1] यही नारायण का नर भाव में प्रकट होना बतलाया गया है। गीता, भागवत पुराण आदि में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। तुलसी ने उनकी लीला का अर्थ अव्यवस्था और अत्याचार से निर्द्वन्द्व परित्राण किया है। तुलसी साहित्य की यह मूलभूत विशेषता है। दोहावली एवं 'उत्तर रामचरितमानस' में तुलसी ने इसी भाव को दुहराया है।[2] इसी तरह 'कृष्ण-गीतावली' में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को सत्य मानकर भक्तों के हित के लिए अवतार धारण करने वाले शास्त्रीय सिद्धान्त को व्याख्यात किया गया है।[3] 'विनय-पत्रिका' में पुराणों की स्तोत्र शैली द्वारा बार-बार राम के निर्गुण एवं सगुण स्वरूप के सिद्धान्त को गीतिबद्ध किया गया है। राम अजेय हैं। वे निरुपाधि एवं इन्द्रिय-जनित ज्ञान से अतीत हैं: अव्यक्त सत्ता हैं। वे अजन्मा और परमात्मा होकर भी नर रूप में प्रकट होते हैं। उन्हें अविनाशी, ममता रहित, ज्ञान-स्वरूप एवं सत्-चित्-आनन्द का मूल बतलाया गया है। वे स्वयं ही स्रष्टा और सृष्टि दोनों हैं अर्थात् निर्गुण भी और सगुण भी वे आप ही हैं।[4] उन्हें नित्य, अविद्या से मुक्त, दिव्यगुणों

---

१. नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। देवानां कार्यं सिद्ध्यर्थमाविर्भवतिसा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

— मार्कण्डेय पुराण, ८१/४७-४८।

जयति सच्चिदानन्द पर ब्रह्म पद विग्रह-व्यक्त-लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध, संकोच वश विमल गुण-गेह-नर-देहधारी॥

वि० पत्रि०, पद ४३।

२. ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

दोहावली, २५१।

जय सगुन निर्गुन रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने।
अवतार नरसंहार भार बिभंजि दारुन दुःख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥

रामचरितमानस (गीता प्रेस) पृ० ८८२।

है निर्गुण सारी वारिक, वलि धरौ करौं, हम जोही।
तुलसी ये नागरिन्ह जोगपट, जिन्हहि आजु सब सोही॥

कृष्ण-गीतावली, ४१।

अजित निरुपाधि गोतीतमव्यक्त विभुमेकमन वद्यमजमद्वितीयं।
प्राकृतं प्रकट परमात्मा परमहित प्रेरकानंद वंदे तुरीयं॥

× × × ×

पूर्नानंद संदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुन सन्निपातं।
वचन मन कर्मगत सरन तुलसीदास, त्रास पाथोदधि इव कुंभ जातं॥

वि० पत्रि०, पद ५३।

राम ने कतिपय व्यक्तियों का उद्धार किया किन्तु रामनाम ने असंख्य प्राणियों का उद्धार किया है। निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं। भक्त-प्रेम के कारण निर्गुण इस प्रकार सगुण बन जाता है जिस प्रकार शीत के कारण पानी बर्फ हो जाता है :

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सोइ होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।

रा० १, ११५, १-३।

जल-उपल 'अविकृत परिणामवाद' का उदाहरण है किन्तु दूध-दही का उदाहरण 'परिणामवाद' का माना जाता है। पहला वाद महाप्रभु वल्लभाचार्य को और दूसरा श्री रामानुजाचार्य को मान्य है अतएव तुलसीदास वल्लभाचार्य के अधिक निकट हैं। रजत शुक्ता, भानु-करि-वारि, स्वप्न आदि की उपमाएं यह स्पष्ट करने के लिए दी गई हैं कि जगत् मिथ्या है (रा० १, ११७, १-२)। माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। 'अविद्या' से मनुष्य प्रपंच में लिप्त होता और कष्ट पाता है किन्तु विद्या से वह सांसारिक बन्धन से छूटता और सुख पाता है। भगवद्भक्त को विद्या व्यापती है अविद्या नहीं। माया परब्रह्म की रचनात्मक शक्ति है, जिसने प्रपंच और चराचर का निर्माण किया है :

मम माया संभव संसारा, जीव चराचर विविध प्रकारा।

रा० ७, ८५ ख, ८।

गगन समीर अनल जल धरनी······तव प्रेरित माया उपजाये।

रा० ५, ५८, २-३।

मानव दृष्टिकोण से मैं-तू, मुझे-तुझे अथवा मेरे-तेरे माया के रूप हैं (रा० ३, १४, २)। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, द्वेष, शोक, धन, शक्ति, चिन्ता, इच्छा, एषणाएं ये सभी माया के रूप हैं। माया की सेना विशाल है और यह ईश्वर के अधीन रहती है।

ब्राह्मण, ऋषि, मुनि, देव आदि की रक्षा करने और वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना के लिये भगवान् अवतार लेते और भक्त-हित के लिये अपनी इच्छा से मनुष्य का शरीर धारण करते हैं : धरहिं भगत हित मनुज सरीरा, रा० ७, ११३ ख, १२। अवतार का शरीर 'इच्छा' का बनता है और वह त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दमय होता है (रा० १,१९२; २, १२६, ५)। भगवान् दल-बल के साथ अवतार लेते हैं, अकेले नहीं। रामावतार के समय लक्ष्मी जी सीता, शेषनाग जी लक्ष्मण, चक्र भरत, शंख शत्रुघ्न और देवता लोग ऋक्ष-वानर बने थे, (रा० ६, ५३, ४; ११३, १-८)।

होकर वह अपने यथार्थ स्वरूप (उत्स) को भूल जाती है। यही भ्रम उसके त्रिविध-ताप का हेतु है।[1] जीव अविनाशी है क्योंकि वह ईश्वर का अंश है। वह शुद्ध स्वरूप में चेतन, निर्मल, एवं सुख की राशि है परन्तु उसने अपने आप को कीट और मर्कट की तरह बन्धनों में डाल रखा है। प्रभु की माया से प्रेरित जीव अपने आप को परमात्मा से पृथक् जीवरूप में अनुभव करने लगता है। तुलसीदास ने जीव-सिद्धान्त का रामचरितमानस में अच्छा स्पष्टीकरण किया है। 'विनय-पत्रिका' में उसी सिद्धान्त को दुहराया गया है।

माया का सिद्धान्त—शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी अद्वैतवादी माया के सिद्धान्त को जिस रूप में स्वीकार करते हैं तुलसी का माया का सिद्धान्त वैसा नहीं है। शांकर अद्वैतवादियों ने माया को अनिर्वचनीय-शक्ति का अभिधान प्रदान कर भावी चर्चा का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया है। इससे अधिक वे कह भी नहीं सकते थे। तुलसी ने भागवताचार्यों के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए माया को परमात्मा की विशेष शक्ति माना है। व सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करते हुए शक्ति एवं शक्तिमान् में किसी तरह का भेद नहीं मानते। उन्होंने 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदौं सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न'[2] द्वारा अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है। वे 'मेरा' 'तेरा' को माया कहते हैं। सभी संसारी जीवों को इसी प्रभु की माया के वश बतलाते हुए उन्होंने इन्द्रियों और मन के व्यापक क्षेत्र पर माया के अधिकार की चर्चा की है। जीव भवकूप में पड़ा, माया के प्रभाव का शिकार है। तुलसी ने माया के विद्या और अविद्या दो भेद किए हैं। अविद्या माया शुद्ध माया नहीं है। यह सृष्टि जिस माया का स्वरूप है वह शुद्ध माया या विद्या माया है। इसी कारण सीता को राम की माया बतलाया गया है। विद्या माया द्वारा इस ब्रह्माण्ड का सर्जन एवं प्रलय सम्पादित होते हैं। वही भगवत्प्रेरणा से ब्रह्माण्ड की रचना करती है। भागवतों ने माया के इसी स्वरूप को अपनी-अपनी शैली द्वारा विस्तार सहित वर्णित किया है। अविद्या माया का कार्य दूसरा है। वह जीव में 'मैं' और 'मेरा', 'तू' और 'तेरा' के रूप में 'अहंभाव' पैदा करती है। सारी सृष्टि को भ्रम में डालना और भटकाते रहना इसी माया का कार्य है।[3]

---

१. जिय जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो॥
माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

वि० पत्रि०, पद १३६।

२. रा० च० मा० अरण्यकाण्ड दो० सं० १५।

३. हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम माया पति, हौं बस माया॥ तथा
नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम शक्ति समेत अवतरिहौं॥

रा०च०म० मा० कां० दो० १८ तथा वही दोहा १५१।

रस्सी से बंधे हुए बन्दर के समान है। व्यक्ति का कार्यक्रम भगवान् की इच्छा के अनुसार पूर्व-नियत है, और उस कार्यक्रम का कुछ आभास ज्योतिष, आकृति और शकुन के द्वारा मिल सकता है। हरीच्छा वा व्यावहारिक रूप कर्म का सिद्धान्त है, जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। जीव में विवेक शक्ति है। अतएव वह अपने कार्य के लिये उत्तरदायी है, यद्यपि अपने अल्प ज्ञान के कारण कभी-कभी ऐसा भान होता है कि कर्त्ता कोई है, भोक्ता कोई अन्य है। सत्कार्यों का करना उचित है, क्योंकि वे सुखदायी होते हैं। सत्संग वांछनीय है। राम नाम के जप के द्वारा परमार्थ (अर्थात् कैवल्य, ब्रह्मभाव अथवा जन्म-मरण से मोक्ष) सरल हो जाता है।

कर्म-सिद्धान्त सबके लिए लागू है। यह नियत है और टाला नहीं जा सकता। जो जैसा करता है वैसा भरता है। पाप की निवृत्ति अथवा शान्ति के लिए कर्मों की आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि उपायों के द्वारा पापों की निवृत्ति हो ही जाय।

आधिभौतिक दृष्टिकोण से सत्य धर्म और असत्य अधर्म है; किन्तु आचार के दृष्टिकोण से पुण्य दो प्रकार का होता है अहिंसा और परहित। पुण्य का अभावात्मक रूप अहिंसा है और भावात्मक रूप परहित है। पाप भी द्विविध है; उसका सूक्ष्म रूप स्वार्थ और विशाल तथा सामाजिक रूप परपीड़न है। प्रत्येक व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना और नारी-पाश से बचना चाहिए।

नारी के प्रति दृष्टिकोण

रामचरितमानस में महासागर के मुख से कहलाया गया है:

ढोल गवांर सूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।

इस उक्ति से कुछ नर-नारियों को कष्ट होता है। तुलसीदास के और भी वचन हैं जिनको यहाँ उद्धृत करना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। परन्तु इस विषय में गोस्वामी जी को दोष देना उनके साथ अन्याय करना है, क्योंकि गोस्वामी जी ने उक्त चौपाई गर्गसंहिता के आधार पर लिखी थी। उन दिनों का वातावरण ही ऐसा था। क्या भारत और क्या विलायत, सर्वत्र नारी के प्रति भावना ऐसी ही थी। जॉन टेलर टवाटर पोइट (१५८०—१६५४ ई०) की प्रसिद्ध उक्ति है:

ए वुमन ए स्पेनिअल एण्ड ए वॉलनट ट्री।
दि मोर यू बीट दैम दि बैटर दे बी॥

मनोविज्ञान

हिन्दी में सर्वप्रथम मनोवज्ञानिक चर्चा करने वाले तुलसीदास हैं। उन्होंने मानव की चार अवस्थाओं, मूल प्रवृत्तियों, एषणात्रय, वंशानुक्रम और परिस्थिति, संवेग आदि अनेक तत्त्वों की चर्चा की है। उन्होंने काम की प्रबलता और ग्रन्थियों पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थियों के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। उनको जितना सुलझाया जाता है उतना ही वे उलझती हैं:

इस खटोले के तीन पाए हैं। तीन पाटियाँ प्रकृति, महत्तत्व और अहंकार हैं। विषय वासनाएँ पुराने बांस हैं। पंचभूत निर्मित होने के कारण यह नश्वर है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इसके तीन कोने हैं। कर्मेन्द्रियों के कहार इसे उठाए हुए हैं। संसार का मार्ग ऊबड़-खाबड़ है। राह अनन्त है और ध्येय का पता नहीं; सत्कर्म के पाथेय के अभाव में जीवात्मा भटक रही है। ऐसी स्थिति में जीव के पास एक ही उपाय है; राम के नाम के स्मरण का। तुलसी ने राम की अनुकम्पा के अभाव में जीव की यात्रा को निष्फल बतलाया है। तुलसी द्वारा वर्णित संसार का यह रूप अविद्या माया के ही स्वरूप का आलंकारिक वर्णन है।[१]

परब्रह्म राम की माया अनिर्वचनीय है। तुलसी उसे इस लिए अनिर्वचनीय नहीं बतलाते क्योंकि उसकी सत्ता ही नहीं है वल्कि वह अनिर्वचनीय केवल इस लिए है कि जिसकी वह शक्ति है वही वाङ्, मनस्-अगोचर होने के कारण वाणी का विषय नहीं बन सकता। परमात्मा की शक्ति से ही अंश-जीव-अविद्या माया के जाल में भटक रहे हैं; इसीलिए तो वे जीव हैं। यही हरि से विलग होने का भाव है। जो जीव भटकता है वह अपनी देह को ही अपना गेह मानने के कारण।[२] सही मार्ग न मिल सकने के कारण सभी भटक रहे हैं। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में बद्ध-जीव के इसी स्वरूप का वर्णन किया है।

साधना पक्ष

गोस्वामी तुलसीदास के समय कई मतमतान्तर उठ खड़े हुए थे। 'निगमागम पुराण सम्मत मत के विरोधी सम्प्रदायों एवं मतों के विचारों का परित्याग कर भारतीय समाज के सम्मुख श्रुति-स्मृति प्रतिपादित साधना मार्ग को फिर से दृढ़ बनाने में तुलसी को विशेष श्रेय प्राप्त है। अतः उन्होंने अपने निर्वाचित पथ के बाहर के सभी मार्गों को वाम मार्ग मान लिया है। वाम मार्ग के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारतीय धरोहर को समेटते

---

१. बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
× × × × × ×
मंद विलंद अभेरा दलकन, पाइय दुख झकझोरे रे।
× × × × × ×
तुलसी दास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥
वि० पत्रि०, पद १८९।

२. मोहि परम अधिकारी जानी।
लोग करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।
अकल अनीत अनाद अरूपा। अनुभवगम्य अखण्ड अनूपा।
मनगोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी।
सो तैं तोहि ताहि नहीं भेद। वारि वीचि इव गावहिं वेदा॥

रस्सी से बंधे हुए बन्दर के समान है। व्यक्ति का कार्यक्रम भगवान् की इच्छा के अनुसार पूर्व-नियत है, और उस कार्यक्रम का कुछ आभास ज्योतिष, आकृति और शकुन के द्वारा मिल सकता है। हरीच्छा या व्यावहारिक रूप कर्म का सिद्धान्त है, जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। जीव में विवेक शक्ति है। अतएव वह अपने कार्य के लिये उत्तरदायी है, यद्यपि अपने अल्प ज्ञान के कारण कभी-कभी ऐसा भान होता है कि कर्त्ता कोई है, भोक्ता कोई अन्य है। सत्कार्यों का करना उचित है, क्योंकि वे सुखदायी होते हैं। सत्संग वांछनीय है। राम नाम के जप के द्वारा परमार्थ (अर्थात् कैवल्य, ब्रह्मभाव अथवा जन्म-मरण से मोक्ष) सरल हो जाता है।

कर्म-सिद्धान्त सबके लिए लागू है। यह नियत है और टाला नहीं जा सकता। जो जैसा करता है वैसा भरता है। पाप की निवृत्ति अथवा शान्ति के लिए कर्मों की आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि उपायों के द्वारा पापों की निवृत्ति हो ही जाय।

आधिभौतिक दृष्टिकोण से सत्य धर्म और असत्य अधर्म है; किन्तु आचार के दृष्टिकोण से पुण्य दो प्रकार का होता है अहिंसा और परहित। पुण्य का अभावात्मक रूप अहिंसा है और भावात्मक रूप परहित है। पाप भी द्विविध है; उसका सूक्ष्म रूप स्वार्थ और विशाल तथा सामाजिक रूप परपीड़न है। प्रत्येक व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना और नारी-पाश से बचना चाहिए।

नारी के प्रति दृष्टिकोण

रामचरितमानस में महासागर के मुख से कहलाया गया है :

ढोल गवांर सूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।

इस उक्ति से कुछ नर-नारियों को कष्ट होता है। तुलसीदास के और भी वचन हैं जिनको यहाँ उद्धृत करना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। परन्तु इस विषय में गोस्वामी जी को दोष देना उनके साथ अन्याय करना है, क्योंकि गोस्वामी जी ने उक्त चौपाई गर्गसंहिता के आधार पर लिखी थी। उन दिनों का वातावरण ही ऐसा था। क्या भारत और क्या विलायत, सर्वत्र नारी के प्रति भावना ऐसी ही थी। जॉन टेलर टवाटर पोइट (१५८०—१६५४ ई०) की प्रसिद्ध उक्ति है :

ए वुमन ए स्पेनिअल एण्ड ए वॉलनट ट्री।
दि मोर यू बीट दैम दि बैटर दे बी॥

मनोविज्ञान

हिन्दी में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक चर्चा करने वाले तुलसीदास हैं। उन्होंने मानव की चार अवस्थाओं, मूल प्रवृत्तियों, एषणात्रय, वंशानुक्रम और परिस्थिति, संवेग आदि अनेक तत्त्वों की चर्चा की है। उन्होंने काम की प्रबलता और ग्रन्थियों पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थियों के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। उनको जितना सुलझाया जाता है उतना ही वे उलझती हैं :

इस खटोले के तीन पाए हैं। तीन पाटियाँ प्रकृति, महत्तत्व और अहंकार हैं। विषय वासनाएँ पुराने वांस हैं। पंचभूत निर्मित होने के कारण यह नश्वर है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इसके तीन कोने हैं। कर्मेन्द्रियों के कहार इसे उठाए हुए हैं। संसार का मार्ग ऊबड़-खाबड़ है। राह अनन्त है और ध्येय का पता नहीं, सत्कर्म के पाथेय के अभाव में जीवात्मा भटक रही है। ऐसी स्थिति में जीव के पास एक ही उपाय है, राम के नाम के स्मरण का। तुलसी ने राम की अनुकम्पा के अभाव में जीव की यात्रा को निष्फल बतलाया है। तुलसी द्वारा वर्णित संसार का यह रूप अविद्या माया के ही स्वरूप का आलंकारिक वर्णन है।[1]

परब्रह्म राम की माया अनिर्वचनीय है। तुलसी उसे इस लिए अनिर्वचनीय नहीं बतलाते क्योंकि उसकी सत्ता ही नहीं है बल्कि वह अनिर्वचनीय केवल इस लिए है कि जिसकी वह शक्ति है वही वाङ्, मनस्-अगोचर होने के कारण वाणी का विषय नहीं बन सकता। परमात्मा की शक्ति से ही अंश-जीव-अविद्या माया के जाल में भटक रहे हैं; इसीलिए तो वे जीव हैं। यही हरि से विलग होने का भाव है। जो जीव भटकता है वह अपनी देह को ही अपना गेह मानने के कारण।[2] सही मार्ग न मिल सकने के कारण सभी भटक रहे हैं। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में बद्ध-जीव के इसी स्वरूप का वर्णन किया है।

साधना पक्ष

गोस्वामी तुलसीदास के समय कई मतमतान्तर उठ खड़े हुए थे। 'निगमागम पुराण सम्मत मत के विरोधी सम्प्रदायों एवं मतों के विचारों का परित्याग कर भारतीय समाज के सम्मुख श्रुति-स्मृति प्रतिपादित साधना मार्ग को फिर से दृढ़ बनाने में तुलसी को विशेष श्रेय प्राप्त है। अतः उन्होंने अपने निर्वाचित पथ के बाहर के सभी मार्गों को वाम मार्ग मान लिया है। वाम मार्ग के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारतीय धरोहर को समेटते

---

१. बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
× × × × × ×
मंद विलंद अभेरा दलकन, पाइय दुख झकझोरे रे।
× × × × × ×
तुलसी दास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥

वि० पत्रि०, पद १८९।

२. मोहि परम अधिकारी जानी।
लोग करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।
अकल अनीत अनाद अरूपा। अनुभवगम्य अखण्ड अनूपा।
मनगोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी।
सो तैं तोहि ताहि नहीं भेद। वारि वीचि इव गावहिं वेदा॥

(रा० २, १२५, ३-४; ५, ७०, ६)। वन जाते समय रामचन्द्र जी भरत के लिये संदेश छोड़ गये थे कि तुम राजा होकर नीति को न भूलना, किन्तु मन, वाणी और कर्म से प्रजा का हित करते रहना (रा० २, १५१, ३-४)। राजा नीति के बिना सफल नहीं होता, वह कुमंत्र से नष्ट हो जाता है (रा० ३, २०-२१)। तुलसी का उपदेश है:

रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिअ न ताहु।

(रा० १, १७०)

राजा को सतर्क रहना चाहिये। शस्त्री, मर्मज्ञ, शठ, धनी, वैद्य, स्वामी, कवि, वन्दी और सूपकार से विरोध करना उचित नहीं (रा० ३, २५, ४)। शास्त्र का मनन बार-बार होना चाहिए (रा० ३, ३६, ८)। जब मंत्री, वैद्य और गुरु भी भय अथवा आशा से मीठा बोलने लगें, तो समझ लेना चाहिए कि राज्य, स्वास्थ्य और धर्म का नाश शीघ्र होने वाला है (रा० ३, ३७)। अपरिचित व्यक्ति को अपना नाम नहीं बताना चाहिए। शत्रु, योद्धा तथा राजा के साथ व्यवहार में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि ये लोग छल बल से अपना काम बना लेते हैं (रा० १, १५६ ख, ६)। सबसे बड़ी बात है राजा का राजमद से बचना, क्योंकि इस दोष से विरले ही बच पाते हैं (रा० २, २३०, ६-७)। यथा-योग्य व्यवहार होना उचित है, भय बिना प्रीति नहीं होती। नीच व्यक्ति विनय से नहीं मानता, वह तो डाटने से नम्र होता है (रा० ५, ६०-६१)। अपमान को सहते नहीं रहना चाहिए (रा० २, २२९)। अधिकारियों का विश्वास अधिक नहीं करना चाहिए; उनसे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि अच्छे अधिकारी भी अवसर पाकर बुरे व्यवहार के द्वारा राजा को हानि पहुँचा देते हैं।

सिंहासन, छत्र, राजवस्त्र, चमर, कोष, रानी, पुत्र, वंदी, दुर्ग, सेना और प्रजा —राजा के ये आडम्बर हैं (रा० २, १०४-५)। अयोध्या-काण्ड में चित्रकूट और प्रयाग के जो रूपक बांधे गये हैं वे राजनीतिक दृष्टिकोण से सुन्दर हैं। गोस्वामी जी ने राजप्रथाओं, राजधानी के वैभव, नगर की सज्जा, राजा राम के नित्य और नैमित्तिक कर्म, नागरिकों की सम्पन्नता तथा रामराज्य के गौरव का विस्तृत और विशद वर्णन किया है।[1]

---

१. विशेष अध्ययन

(क) डॉ० रामदत्त भारद्वाज : गोस्वामी तुलसीदास : व्यक्तित्व दर्शन, साहित्य।

(ख) डॉ० रामदत्त भारद्वाज : तुलसीदास और उनके काव्य।

नहीं है जबकि नारायण और राम में परब्रह्म और वासुदेव में किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना गया। यह दर्शन आपाततः विचित्र प्रतीत होता है परन्तु चलते-चलते वहीं पहुँचना पड़ता है जहां मतवाद के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। तुलसी ने जगत् को 'सियाराममय' माना है, माया को उनकी शक्ति बतला कर जीवों की मुक्ति का एकमात्र उपाय राम की भक्ति, उनके नाम का 'सिमरन' और गुणों का कीर्तन स्वीकार किया है। इसलिए स्पष्ट है कि तुलसी का मार्ग 'भक्ति-मार्ग' है। ज्ञान एवं कर्म को उन्होंने भक्ति के साधन के रूप में ही ग्रहण किया है।

शरणागति और प्रपत्ति—भागवत आचार्यों एवं सगुण भक्तों ने शरण और प्रपत्ति शब्द को एक-दूसरे के पर्याय शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है। दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति गम्लृ (गतौ) एवं पद् (गतौ) धातु की सहायता से की जाती है। एक से शरणागति और दूसरी से प्रपत्ति शब्द की सिद्धि होती है। प्रपत्ति का भाव है भगवान् को साध्य एवं उपाय दोनों मानकर इसकी अनन्य आराधना करना। शरणागत किसी के पास जाता है। वह किसी से पीड़ित होता है और किसी की शरण में अपनी रक्षा की याचना करता है। गीता में 'सर्वान् धर्मान् परितज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' द्वारा इसी आस्था और विश्वास को दृढ़ किया गया है। तुलसी का प्रपत्ति भाव इसी कोटि का है। वे बार-बार अन्य उपायों का परित्याग कर भगवान् राम की शरण ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। अनन्य भक्त इच्छाओं की मृगतृष्णा के पीछे नहीं दौड़ता बल्कि वह अपनी सम्पूर्ण एषणाओं को भगवान् में ही समाहित कर देता है। 'विनय-पत्रिका' में तुलसी प्रपन्न भक्त हैं।[1]

भक्ति एवं प्रपत्ति में अन्तर—प्रपत्ति पूर्ण स्वात्मार्पण भाव है, इसमें भक्त भगवान् को उपाय एवं साध्य दोनों मानता है। राम तुलसी के उपाय भी हैं और उपेय भी। भक्ति एक साधन है, प्रपत्ति को इसका साध्य मान सकते हैं। भक्ति में बाह्यानुष्ठान को स्वीकार किया जाता है जबकि बाह्यानुष्ठानों का विरोध न करते हुए भी प्रपत्ति में आदि और अन्त में केवल भगवान् ही भगवान् हैं। प्रपन्न का प्रत्येक कर्म लौकिक आसक्तियों से बचने के लिए होता है। 'विनय-पत्रिका' में प्रपत्ति के सम्पूर्ण अंगों का निर्वाह भली भाँति हुआ है। पंचरात्र संहिताएं प्रपत्ति के मुख्य छः अंगों का प्रतिपादन करती हैं। यथा—(क) आनुकूल्य का संकल्प। (ख) प्रातिकूल्य का परि-

---

१. विश्वास एक राम नाम को।
सब दिन सब लायक भयो गायक रघुनायक गुन ग्राम को।
बैठे नाम काम तरुवर जमपुर को सुरपुर धाम को।
को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर धाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥

वि० पत्रि०, पद १५५।

तुलसीरचित अतिरिक्त पदों (जिनका उल्लेख विनय-पत्रिका में नहीं हुआ है) को यदि शामिल न किया जाए और केवल उपलब्ध मुद्रित प्रतियों को सामने रखें तो 'विनय-पत्रिका' में दिए गए पदों की संख्या २७६ ठहरती है। गीतिकाव्य की संक्षिप्त परिभाषा के अनुसार उसे 'ताल एवं लय से समन्वित सक्षिप्त आत्मोद्गार' कहा जा सकता है। तुलसी की तीन कृतियाँ गीति-काव्य की परिसीमाओं में आती हैं—विनय-पत्रिका, गीतावली और कृष्ण-गीतावली। इन में हमें संगीत और काव्य का सम्यक् संयोग मिलता है। सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने उपर्युक्त तीनों रचनाओं को तुलसीदास का गीतिकाव्य-साहित्य माना है। वह लिखते हैं, "तुलसी ने गीतावली, विनय-पत्रिका और कृष्ण-गीतावली की रचना पद शैली में की है। उन्हीं के अन्तर्गत उन्होने अपनी प्रगीतात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। कवि की व्यक्तिगत वेदना की आंशिक अभिव्यंजना 'हनुमानबाहुक' में हुई है जो शैली की समानता के कारण 'कवितावली' का ही अंश भी मान ली गई है। इस प्रकार गीतावली में भी कुछ आत्मकथात्मक अंश पाए जाते हैं। दोहावली के कुछ दोहों में गीति-तत्त्व अवश्य पाया जाता है किन्तु शैली और प्रकार के भेद के कारण उसे गीत की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अतएव तुलसीदास के गीतिकाव्य का विवेचन करने के लिए उपर्युक्त तीनों ग्रंथों का ही आधार ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'विनय-पत्रिका' शैली की दृष्टि से 'गीतिकाव्य' है और इस विधा में इसे तुलसी की उत्कृष्ट रचना कहा जा सकता है।

रचना काल

तुलसी 'विनय-पत्रिका' के संगीत में इतने अधिक लीन हुए जान पड़ते हैं कि कहीं भी उन्होंने इसके रचनाकाल की ओर संकेत नहीं किया है, जबकि उनकी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। इस कारण 'विनय-पत्रिका' के प्रणयन काल के निर्धारण की समस्या अधिक पेचीदा हो गई है। विद्वान् आलोचकों ने अन्यत्र उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न किए हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रचना 'तुलसीदास और उनकी कविता' में विनय-पत्रिका का रचना-काल सं० १६६८ के आस-पास माना है। उनका कहना है कि तुलसीदास अनुमानतः सं० १६४५ में व्रज गए थे। विनय-पत्रिका के पदों की रचना उन्होंने वहाँ से वापिस आने के उपरान्त ही की होगी। अतः सम्भवतः सं० १६६८ के लगभग 'विनय-पत्रिका' का प्रणयन हुआ होगा। यद्यपि यह मत भी अनुमान पर ही आधारित है तथापि अपेक्षाकृत अधिक सत्य के निकट प्रतीत होता है। इस तरह विनय-पत्रिका का रचना-काल सं० १६६८ के आस-पास ही मान लेना पड़ता है।

---

१. माताप्रसाद : तुलसीदास, पृ० ३००—३०१।

के कल्याण के फलों की प्राप्ति की पूर्ण आशा है। वे अच्छे हैं परन्तु राम नाम के सावन की हरियाली के, इसलिए घर-घर की पत्तल चाटने की वृत्ति से विमुख हो गए हैं। सारी सृष्टि राम और राम की शक्ति का ही रूप है। 'रा' को वे अपनी 'माँ' और 'म' को पिता मानते हैं। उन्होंने राम के नाम के स्मरण में ही लोक और परलोक के हित को मान लिया है। राम की शरण में आ जाने के बाद उनका ध्यान कहीं किसी दूसरी ओर जाता ही नहीं है।[1] राम की शरण में पूर्ण विश्वास के साथ जाना तुलसी की 'रक्षिष्यति' की भावना के लिए सबल सहारा है। 'विनय-पत्रिका' भक्ति की इस भावना के रंग से रंजित है।

गोप्तृत्व-वरण—संसार के अथाह और व्यापक जलधि में डूबता-उतराता जीव भटक रहा है। जीव कोशिश करने पर भी अपने कर्मों के ही सहारे संसार-सागर का संतरण नहीं कर सकता। वैष्णव भक्ति में भक्त इसी कारण भगवान् का गोप्ता के रूप में वरण करता है। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में बार-बार इस साधन की चर्चा की है। वे राम के गोप्ता भाव की चर्चा करते हुए उन्हें प्रह्लाद, द्रौपदी, तथा अन्य आर्त भक्तों की रक्षा का स्मरण दिलाते हैं। उसके बाद अपने शत्रुओं (काम, क्रोध आदि) का उल्लेख कर उनसे अपनी रक्षा की याचना करते हैं। उन्होंने एक स्थल पर लोभ को ग्राह, क्रोध को हिरण्यकश्यप और कामदेव को दुःशासन कहकर उनके द्वारा अपने सताए जाने का उल्लेख किया है। प्रपन्न भक्त अपने आपको भगवान् के हवाले कर देता है। उसे इस बात का पूरा भरोसा है कि भगवान् अवश्य उसकी रक्षा करेंगे। 'अहम्' का 'कर्मस्वातन्त्र्य' के अभिमान को विगलित करने का मात्र यही उपाय नारदी भक्ति की विशेषता है। बार-बार भगवान् को स्मरण करवाया जाता है कि अभी तक मेरा कार्य नहीं हुआ है। भक्त न तो अपने आपको कर्ता मानता है और न ही इस बात का दावा ही करता है कि वह अपना हित स्वयं सम्पादित करने में समर्थ है।[2]

आत्म-निक्षेप—'आत्म-निक्षेप' भाव के अन्तर्गत भक्त बिना किसी शर्त के ही अपने आपको प्रभु के हाथों में बेच डालता है। तुलसी ने राम को ही अपना एक मात्र भरोसा बतला कर प्रभु के चरणों में अपने आपको अर्पित कर दिया है। वे राम के अनन्य भक्त हैं। उनका स्वामी एक राम ही है। वे राम की शरण त्याग कर किसी दूसरे से माँगने नहीं जाते। 'लेने' और 'देने' का सौदा वे नहीं करते। उन्हें इस सत्य पर पूर्ण विश्वास और अटूट भरोसा है कि राम का नाम शरणागत का रक्षक है। वे इसी भरोसे के बल पर ही प्रभु के हाथों बिक जाना चाहते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। अनन्यानुरक्ति में भेदोपभेदों के लिए अवकाश ही नहीं है। भक्त प्रपत्तिभाव में अपने आप

---

१. विनय-पत्रिका, पद २५६।
२. वही, पद ९४।

हैं और प्रभु के सामने अपनी अर्जी पेश करते हैं कि वह उन्हें अपनी शरण में ले लें। उसी समय पूर्व योजना के अनुसार प्रभु (राम) को तुलसी के पक्ष में चारों ओर से समर्थन प्राप्त होता है, वह शरणागत की अभ्यर्थना पर 'सही' कर देते हैं।

'विनय-पत्रिका' की कथावस्तु का समारम्भ विघ्नविनाशक एकदन्त विनायक की स्तुति से होता है। तदनन्तर सभी प्रमुख देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए उनसे राम की अनन्यभक्ति की वर-प्राप्ति की याचना की गई है। अपने मार्ग को निर्विघ्न बनाने के लिए तुलसी राम के अनन्य सेवक पवनसुत हनुमान् को भी अपने पक्ष में कर लेते हैं। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की स्तुतियों द्वारा उनके सम्भावित विरोध की आशंका का परिहार हो जाता है। इसके बाद पूर्ण भावोन्मेष में जगन्माता महारानी सीता की स्तुति की गई है। इस प्रकार राजदरबार से सम्बन्धित एवं परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी अभ्यर्थना का औचित्य बतलाने और उनके समर्थन की आशा का बल प्राप्त कर तुलसी ने समझदार आवेदक एवं विनीतभक्त के आदर्श का निर्वाह किया है। सभी को अनुकूल कर लेने के प्रयत्नों के उपरान्त भी तुलसी एकदम निःशंक नहीं हो पाए हैं। वे जानते हैं कि सभी कुछ अनुकूल होने के पश्चात् मालिक की मनःस्थिति ही यदि अनुकूल न हो तो सारी कोशिशें विफल होते देर नहीं लगती। सम्भवतः इसी कारण तुलसी ने सीता से विनय की है कि वह अनुकूल समय में उन की करुण-कथा की चर्चा चला कर राम को उनकी सुधि दिला दें।[1] तुलसी अपनी ओर से सम्पूर्ण उपायों की योजना बना लेने के बाद पाप और पाप-पुंज के हरण करने वाले सीतारमण राम से उन्हें अविलम्ब शरण में ले लेने की याचना करते हैं।[2]

सेवक अथवा अभ्यर्थी की स्वार्थपरता की आशंका का बीजारोपण होते ही स्वामी के अनुकम्पा-भाव में अवरोह शुरू हो जाता है। इसी स्थिति को बचाने के लिए राम के महत्त्व और उनकी स्तुति को चतुर तुलसी कहीं भी नहीं भूलते। 'विनय-पत्रिका' में इसी उद्देश्य का निर्वाह ४५वें पद से आरम्भ कर ६३वें पद तक किया गया है। भगवान् राम के विभिन्न रूपों और उनके ऐश्वर्य एवं शक्ति आदि का जम कर गुणगान किया गया है। तुलसी का अटूट विश्वास है कि प्रभु की अनुकम्पा के बिना न तो संसार से विरक्ति मिल सकती है और न ही प्रभु की अनपायिनी भक्ति की उपलब्धि ही। इस क्रम के उपरान्त 'विनयपत्रिका' के ६४वें पद से तुलसी की

१. कबहुँक अंब अवसर पाइ, मेरिऔ सुधिद्याइबी कछु करुण-कथा चलाइ॥

वि० पत्रि०, पद ४१।

२. जयति वैराग्य-विज्ञान-वारांनिधे, नमत नर्मद पाप-ताप हर्त्ता।
तुलसीदास चरण शरण संशय-हरण, देहि अवलंब वैदेही भर्त्ता॥

वि० पत्रि०, पद ४४।

छन्द चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं : (१) वैदिक-स्वर-वृत्त, (२) वर्ण वृत्त, (३) मात्रा-वृत्त, और (४) ताल-वृत्त। सुमित्रानन्दन पन्त ने कविता और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा है, "कविता हमारे प्राणों का संगीत है। छन्द हृत्कम्पन है। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं,—जिसके बिना अपनी ही बन्धन हीनता में वह अपना प्रवाह खो बैठती है. इसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जाती हैं। वे तालयुक्त हो जाती हैं; उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती है। राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बन्ध जातीं हैं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोह-चूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं। उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती है। उनके स्पर्श से प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती हैं'।[1]

'विनय-पत्रिका' में १५२ पद टेक वाले हैं। और १२७ बिना टेक के। इनकी शैली गेय है। मात्राओं और वर्णों का विधान संगीत की विद्या की दृष्टि से किया गया है। टेक से रहित पदों में भी गेयता और छन्दःशास्त्र की तालपद्धति का अनुसरण मिलता है। 'टेक' गीत का अनिवार्य तत्त्व है। उसके द्वारा भाव को केन्द्रित किया जाता है। अतः टेक की गागर में सारे गीत के भाव का सागर एक ही पंक्ति में समेट लिया जाता है। 'विनय-पत्रिका' में कहीं-कहीं टेक का विधान गीत के माध्यम में भी हुआ हैं। कुछेक पदों में वर्णों को भी पदों का आधार बनाया गया है। परन्तु अधिकांशतः उनका आधार मात्राएँ ही हैं। संगीत-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की दृष्टि से यही उपयुक्त भी लगता है। मात्राओं के प्रयोग से कभी-कभी एक गुरु के स्थान पर दो लघु रखकर ध्वनि विस्तार के माधुर्य को प्राप्त किया जाता है। इसी कारण गीत योजना को गीति-काव्य का महत्त्वपूर्ण कलापक्ष माना गया है।

छन्द शास्त्रियों ने 'तुक' को छन्द का अन्त्यानुप्रास माना है। भावों के गुम्फन और छन्दों के निर्माण के लिए तुक अनिवार्य विधान तो नहीं है परन्तु माधुरी के उपकरण की दृष्टि से तुक के निर्वाह को सराहनीय अवश्य माना जाता है। श्री विश्वमोहन कुमारसिंह का विचार है कि तुक छन्द कला का महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे व्यर्थ एवं अनावश्यक भाव और विचार फटक कर अलग-अलग कर दिये जाते हैं और संगमरमर सा ठोस एवं चमकता हुआ भाव उस पंक्ति में उभर आता है।[2]

१. पल्लव ; भूमिका : पृ० २१।

२. काव्य और कवि ; पृ० ३४।

भी नहीं रहना चाहिए। यही आत्मसमर्पण है जिसका पूर्ण निश्छल और निष्कपट होना अनिवार्य है।[1]

तुलसी सिद्धहस्त कवि तो हैं ही साथ ही राम के अनन्य भक्त भी हैं। अनुकूल अवसर को वह खूब पहचानते हैं। इसीलिए एक बार फिर वह पवन-पुत्र हनुमान्, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को पूर्वनिवेदित बातों का स्मरण कराते हैं। निर्दोष व्यक्ति राजा के सामने निर्द्वन्द्व आचरण करता है परन्तु पापी या अपराधी के पास दीनता के सिवाय और होता ही क्या है? कदाचित् इसी हेतु भरत, लक्ष्मण एवं हनुमान् आदि से प्रार्थना की है कि यदि वे उन्हें राम की शरण दिला देंगे तो इस भले कार्य का यश उन्हें भी मिलेगा। भगवान् सहज अनुकम्पाकारी हैं। मात्र स्मरण दिलाने ही से वह डर जाते हैं। इच्छित पृष्ठभूमि बना लेने के अनन्तर तुलसी ने भगवान् राम के दरबार का वर्णन किया है। राम जगज्जननी सीता सहित सिंहासनासीन हैं। लक्ष्मण बड़े भाई के साथ खुलकर बात कर लेते हैं। हनुमान् और लक्ष्मण एवं भरत की इच्छा को उन्होंने पहले ही भाँप लिया है। अन्तर्यामी राम लक्ष्मण द्वारा की गई तुलसी की सिफ़ारिश पर मुस्करा उठते हैं और सीता से तुलसी की चर्चा चलाने के बाद आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर कर देते हैं।[2] तुलसी की 'विनय-पत्रिका' कानूनी दस्तावेज़ बन जाती है—यह वह दस्तावेज़ है जिसे प्रत्येक भक्तात्मा परात्पर भगवान् के सर्वोच्च न्यायालय में प्रभु का भक्त होने के प्रमाण के रूप में पेश कर सकता है।

सैद्धान्तिक पक्ष

ब्रह्म का स्वरूप—तुलसी राम के सगुणोपासक भक्त हैं। उन्होंने कबीर की भाँति निर्गुण राम के ही सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। भगवान् राम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। वे सर्वव्यापक निर्गुण तत्त्व हैं। लीलार्थ समय-समय पर अवतार भी धारण करते हैं। तुलसी 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्' की स्थापना कर चुके थे। वेदों, पुराणों और स्मृतियों आदि में सृष्टि रचना (सर्ग) एवं प्रलय (प्रतिसर्ग) के जिस सिद्धान्त का विवेचन हुआ है उसी को तुलसी ने राम के स्वरूप विवेचन में स्वीकार किया है। राम यथार्थतः निर्गुण हैं परन्तु अपनी शक्ति और ऐश्वर्य द्वारा अथवा माया

---

१. राम राम! बिनु रावरे मेरे को हितु साँचो?......
'विनय पत्रिका' दीन की बापु आपुही बाँचो॥

वि० पत्रि०, पद २७७।

२. मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी $\frac{\text{रघुनाथ}}{\text{रघुनाथ हाथ}}$ सही है॥

अमूर्त भावों एवं विचारों को प्रेष्य बनाने में काफी सहयोग दिया है। कालिदास की उपमाओं की भांति तुलसीदास की उत्प्रेक्षाएं एवं रूपक योजनाएँ विशेष सफल हैं।

आचार्य शुक्ल ने भावों का उत्कर्ष दिखलाने और वस्तुओं के रूप गुण एवं क्रिया की तीव्रानुभूति के लिए उपयोगी काव्योपायों को अलंकार स्वीकार किया है। इन विशेषताओं को अभिव्यक्त करने वाले अलंकार 'विनय पत्रिका' में कई स्थानों पर उपलब्ध हो जाते हैं। तुलसी ने विनय-पत्रिका में अपने कथ्य के स्पष्टीकरण के लिए प्राकृतिक, परंपरित, लौकिक, काल्पनिक, पौराणिक एवं शास्त्रीय सभी प्रकार के उपमानों द्वारा सहायता ली है। प्रकृति सम्बन्धी उपमानों के लिए विनय-पत्रिका पद संख्या ४५, ४६, ५०, ५१, ३६, २, २२, १० का, लौकिक उपमानों के लिए पद संख्या १५३, १५८, १८६ और ६२ का, काल्पनिक उपमानों के लिए पद संख्या ६२, एवं पौराणिक उपमानों के लिए ५३, १०८, १२८ १४६, १७६ और १८१ का, और शास्त्रीय उपमानों के लिए पद संख्या ८३ का उल्लेख किया जा सकता है।

भाषा—भाषा को भावों एवं अनुभूतियों को प्रेषणीय बनाने वाली कवि की दिव्य विभूति एवं सम्पदा बतलाया गया है। तुलसी अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं बल्कि अनुकूल भाषा का निर्माण करने वाले भी हैं। उनके व्यापक शब्द-ज्ञान और शब्दों के प्रयोग-वैविध्य की शक्ति को देख उनके सफल कवि कर्म की सराहना करनी पड़ती है। अवधी और ब्रज को काव्य की समर्थ भाषा का श्रेय प्राप्त होना तुलसी की साधना का फल है। 'विनय-पत्रिका' की भाषा में उन्होंने तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग ब्रज भाषा की प्रकृति के साँचे में सफलतापूर्वक ढाल कर किया है। आवश्यक स्थलों पर भाषा के साभिप्राय प्रयोगों के लिए लक्षणा और व्यंजना शक्तियों की सहायता ली गई है। इसी प्रकार प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों का निर्वाह विषय की अनुकूलता की दृष्टि से हुआ है। 'विनय-पत्रिका' को प्रसाद गुण की रचना कहा जाता है। संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण यद्यपि साधारण पाठक के लिए उसमें प्रसादात्मकता की उपलब्धि नहीं होती है।

उपसंहार

'विनय-पत्रिका' भक्त कवि तुलसी की आर्त्त वाणी है। उसका रूपविधान गीतिकाव्यात्मक है। तुलना की दृष्टि से तुलसी विद्यापति के समान सफल गीतिकाव्यकार हैं। इस दृष्टि से विद्यापित और तुलसी के स्तुतिपरक एवं आत्माकुलता वाले एवं भक्त्यात्मक उद्‌गारों के गीत कई बातों में समानता रखते हैं। समानताओं के होते हुए भी दोनों के काव्य में अन्तर यह है कि विद्यापति को अभी तक भक्त कवि मानने के बारे में सन्देह प्रकट किया जाता है जबकि तुलसी आदि से अन्त तक अनन्य भक्त हैं। एक दूसरा भेद यह है कि विद्यापति ने लोक-मर्यादा को अपनी रचना से दूर रखा है परन्तु तुलसी मर्यादा से इंच भर भटकने की बात सोच भी नहीं सकते। तुलसी

के अधिष्ठान, मायात्मक गुणों से अतीत, बतलाया गया है।[1] उन्हें अपनी शक्ति द्वारा और मूल रूप में निर्गुण बतलाकर सकल सृष्टि रूप, सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न, सारे विश्व द्वारा नमस्कृत सच्चिदानन्द स्वरूप रूप में वर्णित किया है। इससे स्पष्ट है कि तुलसी के विचार के अनुसार सम्पूर्ण देवता राम के ही व्यक्त स्वरूप हैं। शिव का द्रोही इसी कारण राम का भक्त कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। शिव और कृष्ण ही नहीं, सभी अवतार परब्रह्म के ही अवतार हैं। इसलिए वे अव्यक्त ब्रह्म से अभिन्न हैं।[2] उनके राम के स्वरूप के विवेचन में भागवत सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत-वाद के सिद्धान्त के प्रति अनुकूल झुकाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पुराणों में अपने-अपने उपास्य को परब्रह्म बतलाकर दूसरे देवताओं एवं अवतारों को उसी के अभिव्यक्त भिन्न-स्वरूप बतलाने की परम्परा का पालन तुलसी ने भी किया है। यह वर्णन स्पष्ट इसलिए नहीं है क्योंकि तुलसी समन्वयवादी थे। धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से वे परस्पर विरोधों को दूर करना चाहते थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी प्रकार का देवतावाद एक ही प्रकार से अपनी कार्य-सरणि का अनुगामी है।

जीवात्मा का स्वरूप—पुराण, गीता, उपनिषद् और वेदों तक सभी में सृष्टि-विद्या को प्रमुख समस्या के रूप में ग्रहण किया गया है। कालिदास ने रघुवंश (२/२) में 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' का जो उल्लेख किया है वही भारतीय दर्शन और धर्म का आधार है। ऋग्वेद (१/१६४/१) में जीवन के तीन तत्त्व माने गए हैं। अस्यवामीय सूक्त का यह त्रयी सिद्धान्त त्रयी-विद्या का प्रतीक है जिसके माध्यम से सारे ब्रह्माण्ड और उसके बीच के चैतन्य-तत्त्व का उल्लेख हुआ है। माता-पिता और पुत्र यही सृष्टि का सिद्धान्त है। इसे पुराणों ने अलंकरण-शैली में प्रतिपादित किया है। विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के निष्कर्ष से तुलसी ने परमात्मा को जीवात्मा का नियामक बतलाया है।[3] उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा हरि का ही स्वरूप है। उसे परमात्मा से भिन्न नहीं माना जा सकता।[4] एक समय जीवात्मा परमात्मा से अलग हो जाती है, और तब से स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को अपना आलय मान बैठती है। माया-वश

---

१. नित्य निर्मुक्त संयुक्त गुण निर्गुनानंत भगवन्त नियामक नियन्ता।
विश्व पोषन भरन विश्वकारन करन सरन तुलसीदास त्रास हंत॥

वि० पत्रि०, पद ५५।

२. सिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न भावा॥
× × × ×
ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
तुलसीदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंतधारी॥

वि० पत्रि०, पद ९८।

३. वि० पत्रिका, पद १३५।
४. वही, पद १३६।

६

सूरसागर

डॉ० मनमोहन गौतम

महात्मा सूरदास जी के सम्बन्ध में निम्न प्रशस्तियां सदा के लिए जन-वाणी में अमर हो गई हैं:—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की तान।
किधौं सूर को पद लग्यौ, सिर धुनि छाड़त प्रान॥
तत्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही और कही सब झूठि॥
सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

काव्य-संगीत-संपृक्त भक्ति भावना का जो सरस रूप उन्होंने अपने पदों में प्रस्तुत किया उसके कारण वे अपने सहृदय पाठकों के समक्ष समादृत हुए। साहित्य के क्षेत्र में अक्षय कीर्ति का अचल स्तम्भ उनका ग्रन्थ-रत्न सूरसागर ही है। उनकी अन्य रचनाएँ सारावली और साहित्यलहरी यदि न होतीं तो भी सूरदास जी का महत्त्व ज्यों का त्यों रहता। क्योंकि आज तक सामान्य पाठकों का परिचय इन पुस्तकों से नहीं है और सूर-साहित्य के विशेषज्ञ इनकी प्रामाणिकता में आज तक एकमत नहीं हो सके हैं।

स्वरूप और रचना-परिमाण

सूरसागर एक विशाल काव्य है, इसे महाकाव्य भले न कह सकें क्योंकि अपनी रूढ़िगत विशिष्टताओं के कारण 'महा' शब्द सीमित हो गया है किन्तु जिस महाकाव्य के कारण वह अपने रचयिता को महाकवित्व देने की क्षमता रखता है वह सामर्थ्य सूरसागर में सुलभ है। 'सहस्रावधि' पदों की अनन्त रस-राशि अमूल्य रत्नों से आपूरित 'सागर' में अक्षरशः चरितार्थ हो गई है। रत्नाकर के अपार विस्तार की भाँति पद-रचना का इतना बड़ा परिमाण भी ग्रन्थ के बड़प्पन का द्योतक है। आज का वैज्ञानिक

तुलसीदास विद्या माया को सुखरूपिणी और अविद्या माया को दुःख रूपिणी बतलाते हैं। जीव-जगत् (प्रकृति) राम का विग्रह है। इस प्रकार का ज्ञान ही शुद्ध माया है। यह तत्वज्ञानी का साध्य है। इस से सारी सृष्टि ही भगवान् की सत्ता और प्रेरणा से सत्तावान् सिद्ध होती है। तुलसीदास जब सीता के सम्मुख नतमस्तक होते हैं तब वह उन्हें विद्या माया के ही रूप में वर्णित करते हैं। उन्होंने रामचरितमानस में माया का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है वही 'विनय-पत्रिका' में भी है। मानस में उत्तरकाण्ड में तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि यह सारा दृश्य नाम रूपात्मक सृष्टि माया से अलग कुछ भी नहीं है।[1] यही भाव 'विनय-पत्रिका' में भी दुहराया गया है।[2] अतः स्पष्ट है कि सीता विद्या माया हैं या परब्रह्म की विद्या माया ही इस लोक में इन्हीं के साथ सीता रूप में रूपायित हो रही है। जगत् या संसार का अर्थ ही तुलसी की दृष्टि में दूसरा है। वह 'विनय-पत्रिका' में संसार को कपट का घर बतलाते हैं और भगवान् की शक्ति के बल पर उसे ललकारते भी हैं। वह संसार को असार घोषित करते हुए उसे ऐसे वृक्ष के समान बतलाते हैं जिस के ऊपर के छिलके को देख कर भीतर गूदे के विद्यमान रहने का भ्रम होता है। जिस समय यह छिलका उतार दिया जाए, उस वृक्ष की निस्सारता की असलीयत स्पष्ट हो जाती है। उसी तरह जब संसार के इस भ्रमात्मक स्वरूप का असली रूप पता चल जाता है, तब वह सार शून्य भासित होने लगता है। अतः स्पष्ट है कि संसार की सत्ता या गूदा, वही प्रभु या प्रभु की शक्ति है। जिसे विद्या माया कहा है। इस सिद्धान्त की दृष्टि में भगवान् अपनी शक्ति के प्राणों का संचार इस सृष्टि में किए हुए हैं।[3] यह संसार उसी के लिए बन्धन का हेतु है जिसे राम की अनुकम्पा का कवच प्राप्त नहीं हुआ। सच्चा भक्त भगवान् के भरोसे पर संसार से कदापि डर अनुभव नहीं करता। तुसलीदास ने कर्म को बढ़ई का रूपक देकर सारी स्थिति हमारे सम्मुख स्पष्ट कर दी है। वह लिखते हैं कि कर्म रूपी बढ़ई ने हमें जबरदस्ती शरीर का खटोला प्रदान किया है। तीन गुण—सत्, रज और तम,

---

१. गो गोचर जहाँ लग मन जाई। सो माया जानेहु भाई

अरण्यकाण्ड (दो० १५वाँ।

२. असन, वसन, वसु वस्तु विविध विधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर अचर लोक बहु वसत मध्य मन तैसे।
विटिप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुक विनहि वनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए।

३. मैं तोहिं जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार॥
× × × × × ×
महा मोह मृग जल सरिता महँ बोरयो हौं बारहि-बार॥

वि० पत्रि०, पद १८८।

दूसरी बात यह भी है कि सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में संवत् १५६७ में आये थे। महाप्रभु का गोलोकवास १५८७ में हुआ था। इन बीस वर्षों की अवधि में यदि सूरदास जी ने सहस्रावधि पदों की रचना कर ली थी तो आजीवन कीर्तन के क्रम में रचना करने वाले सूरदास जी के शेष पद किस गणना में आयेंगे ? एक सहस्र पदों की संख्या सूर-रचित विभिन्न लीलाओं की पद-गणना के लिए अत्यल्प है। केवल भ्रमरगीत प्रसंग में ही १०३२ पद उपलब्ध होते हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्ध में ४१६० पद हैं। विनय के २२३ पदों में से अधिकांश को प्रामाणिक मानना ही होगा। ऐसी अवस्था में यदि भागवत पर आधारित अन्य अवतारों से सम्बन्धित पदों को छोड़ भी दिया जाय और सूरदास जी की विचार-धारा और शैली को कसौटी मानकर पूर्ण वैज्ञानिक रीति से उपर्युक्त पदों को परखा जाय तो भी एक सहस्र पदों और संग्रहात्मक सूरसागर की परिधि कदापि पर्याप्त नहीं हो सकती। साथ ही यह भी अवधारणीय है कि सूरसागर के प्रत्येक स्कन्ध में सूरदास जी ने इस प्रकार के कथन किये हैं :—

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

(प्रथम स्कन्ध पद २२५)

जैसे सुक नृप को समझायौ।
सूरदास त्यों ही कहि गायौ॥

(दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध पद २)

जब तक पाठानुसन्धान की वैज्ञानिक प्रक्रिया से इन पंक्तियों की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती इन्हें सूर-कृत होने में अविश्वास करना कहाँ तक युक्ति-युक्त होगा ? और स्वयं सूरदास के साक्ष्य के वर्तमान होने पर द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर को अप्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ?

सूरदास जी अपनी कलात्मक कृति और सरस पदावली में बेजोड़ हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नीरस पदावली उनकी लेखनी से निकली ही नहीं। सच तो यह है कि सूर जैसे अन्धे कवि के लिए अपनी रचनाओं का संशोधन-परिमार्जन करना और कविवर बिहारीलाल की भांति केवल श्रेष्ठ पदों को अवशिष्ट रहने देना सम्भव भी नहीं था। उन्होंने अपने गुरु के आदेशानुसार भागवतानुसार वर्णित प्रभु की लीलाओं का स्फुट पदों में विस्तृत वर्णन किया जिसमें कहीं अत्यन्त गम्भीर और सरस स्थल हैं तो कहीं नितान्त साधारण। रसिक भक्तों ने स्वरुचि के अनुसार सूर के पदों के विभिन्न संग्रह कर लिये थे। यही कारण है कि सूरसागर की विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित सूरसागर के अंश नये ग्रन्थ के रूप में प्रचलित हो गये थे। नागरी प्रचा-

हुए वे मानस मन्थन द्वारा रामचरितमानस की रचना करने में सफल हुए हैं। इसी कारण उन्हें भारतीय-संस्कृति का संरक्षक माना जाता है। तुलसीदास ज्ञान, कर्म और भक्ति में से किसी को हेय या अनावश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि अधिकारी भेद की है। ज्ञानमार्ग परम-अधिकारी का साधना मार्ग है। कर्म को उन्होंने बुरा नहीं बतलाया लेकिन भक्ति के पक्ष में वे हैं और उसे जीवन का साधन एवं साध्य मानते हैं। तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए विद्वान् उनकी अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते रहे हैं। पं० गिरिधर शर्मा ने उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध किया है तो डा० राजपति दीक्षित ने उन्हें वेदान्त दर्शन के बहुत ही नजदीक बतलाया है। इस के ठीक विपरीत डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का विचार है कि भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास को अद्वैतवादी नहीं माना जा सकता। डा० श्यामसुन्दर दास भी इसी प्रकार से सोचते हैं। उनका कहना है कि तुलसी ने सृष्टि-रचना के बारे में जो विचार दिए हैं उन्हें सम्मुख रखते हुए शांकर मायावाद तुलसी का मायावाद नहीं है। तुलसी ने शंकर की भांति जगत् को मिथ्या एवं असत्य नहीं माना है। तुलसी विनय-पत्रिका में एक स्थान पर कहते हैं कि केशव की रचना विचित्र है। उसने शून्य में अनेकरूपता के रंगों वाला चित्र (यह नाम रूपात्मक सृष्टि) खींच दिया है। परब्रह्म अपनी माया की शक्ति से अनेक जीवों की सृष्टि करता है। चित्रकार स्वयं निराकार है परन्तु उसके बनाए हुए चित्र को शुभ कर्मों के बल से धोकर मिटाया नहीं जा सकता। यह चित्र जड़ नहीं है। काल का कठोर शासन सर्वत्र अपनी शक्ति प्रदर्शित कर रहा है। वास्तविकता से गुमराह जीव मृगतृष्णा के जल में तृप्ति खोजने के लिए भटक रहा है। काल बिना मुख के ही सभी को लील रहा है। कोई इस चित्र को सत्य और कोई मिथ्या, कोई सत्यासत्य का आभास मानता है। तीनों विचार जीव की बुद्धि को भ्रम में डाले हुए हैं। यह झगड़ा व्यर्थ है। जो इस प्रकार के मतवाद से ऊपर उठकर प्रेम के सम्बन्ध को पहचान लेता है, वह भवसागर से पार उतर जाता है।[1] भारतीय देवतावाद में किसी तरह का झगड़ा नहीं है। पुराणों में वर्णित सृष्टि-क्रम में परात्पर सत्ता को निराकार और निर्गुण माना गया है। वही अपने आप को अपनी शक्ति से द्विधा विभक्त करता है। उसके उपरान्त उसकी शक्ति सारी सृष्टि के रूप में अपना कार्य करती रहती है। तुलसी ने 'मायावस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान' एवं 'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि' का उल्लेख कर अपना दार्शनिक झुकाव स्पष्ट कर दिया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे विशिष्टाद्वैतवादी ही ठहराए जा सकते हैं यद्यपि राम की अनन्य, अनपायिनी भक्ति ही उनका साधन एवं साध्य है। भक्ति के सिद्धान्त में शांकर अद्वैत को स्थान

१. कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ युगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

वि० पत्रि०, पद १११।

का प्रेम-भाव मर्यादा की परिधि में संकुचित हो गया। राम की बाल्यावस्था में भी उनका ईश्वरत्व प्रमुख रूप में प्रतिष्ठित रहा। राम-रावण के युद्ध में रावण जैसे वीर का उपहासात्मक चित्रण हुआ। प्रतिद्वन्द्वी की विकरालता और उदात्तता के अभाव में वीर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ। पद-पद पर राम का ईश्वरत्व प्रतिपादित करने से काव्य में धार्मिक वातावरण की प्रधानता बनती गई है। बीच-बीच में दार्शनिक मत मतान्तर और उपदेशादि की भरमार भी मिलती जाती है। इसलिए तुलसी-साहित्य में भी काव्य का पुट मात्र ही उपलब्ध होता है। सूरदास जी ने सूरसागर की रचना भागवतानुसार की, फिर भी उसमें धार्मिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल नहीं हो सका। कृष्णावतार सम्बन्धी पद-रचना ही सूरसागर का प्रमुख अंश है। इसमें कृष्ण के ईश्वरत्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी उन्होंने उनके लीला रूप को प्राथमिकता दी है। प्रयत्नपूर्वक उनके ईश्वरीय क्रिया-व्यापारों के प्रभाव को क्षण भर में विलीन करते गये हैं। कृष्ण सामान्य मानव की भांति गोप गोपिकाओं के बीच बिहार करते हैं। बाल और यौवन काल की सभी मनोहारी लीलाओं में सामान्य जन-जीवन के सभी रूपों के दर्शन होते हैं। सख्य-भक्ति के कारण सूरदास कृष्ण के ईश्वरत्व से आतंकित नहीं होते। कृष्ण का बाल रूप सामान्य जन-जीवन के अधिकाधिक स्वाभविक रूप में पूर्ण विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है। राधा और गोपिकाओं से सम्बन्धित प्रणय की विस्तृत रंगस्थली में कवि मुक्तकंठ से निस्संकोच रस-धारा प्रवाहित करता रहा है। वात्सल्य, शृंगार, विप्रलम्भ, वीर, भयानक और शान्त रसों का चित्रण शुद्ध काव्य की भाव-भूमि में होता गया है फिर भी काव्यानन्द में ब्रह्मानन्द की पुनीत आभा झलकती रहती है। काव्यानन्द से आपूरित पद की समाप्ति होते-होते कवि की भक्ति-भावना अन्तिम चरण में प्रकाशित हो जाती है और सहृदय के अन्तर-तल पर अंकित लौकिक कल्मष धुल कर शुभ्र हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पद द्रष्टव्य है :—

मो सौं कहा दुरावति राधा।
कहाँ मिली नंदनंदन कौं, जिन पुरई मन साधा॥
व्याकुल भई फिरति ही अबहीं, काम विथा तनु बाधा।
पुलकित रोम-रोम गदगद अब, अंग-अंग रूप अगाधा॥
नहिं पावत जो रस जोगी जन, जप तप करत समाधा।
सुनहु सूर तिहिं रस परिपूरन, दूरि कियो तनु राधा॥

उपर्युक्त पद में राधा के प्रति सखी के वचनों में शुद्ध लौकिक शृंगार का प्रतिफलन है। 'पुरई मन की साधा', 'काम विथा तनु बाधा', 'पुलकित रोम-रोम गदगद' से संयोग सुख की अनुभूति स्पष्ट है किन्तु अन्तिम दो पंक्तियों में रसानन्द का समाहार ब्रह्मानन्द में किया गया है। इस प्रकार समस्त पद में भक्ति-भाव प्रकाशमान हो जाता

हुए वे मानस मन्थन द्वारा रामचरितमानस की रचना करने में सफल हुए हैं। इसी कारण उन्हें भारतीय-संस्कृति का संरक्षक माना जाता है। तुलसीदास ज्ञान, कर्म और भक्ति में से किसी को हेय या अनावश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि अधिकारी भेद की है। ज्ञानमार्ग परम-अधिकारी का साधना मार्ग है। कर्म को उन्होंने बुरा नहीं बतलाया लेकिन भक्ति के पक्ष में वे हैं और उसे जीवन का साधन एवं साध्य मानते हैं। तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए विद्वान् उनको अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते रहे हैं। पं० गिरिधर शर्मा ने उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध किया है तो डा० राजपति दीक्षित ने उन्हें वेदान्त दर्शन के बहुत ही नजदीक बतलाया है। इस के ठीक विपरीत डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का विचार है कि भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास को अद्वैतवादी नहीं माना जा सकता। डा० श्यामसुन्दर दास भी इसी प्रकार से सोचते हैं। उनका कहना है कि तुलसी ने सृष्टि-रचना के बारे में जो विचार दिए हैं उन्हें सम्मुख रखते हुए शांकर मायावाद तुलसी का मायावाद नहीं है। तुलसी ने शंकर की भांति जगत् को मिथ्या एवं असत्य नहीं माना है। तुलसी विनय-पत्रिका में एक स्थान पर कहते हैं कि केशव की रचना विचित्र है। उसने शून्य में अनेकरूपता के रंगों वाला चित्र (यह नाम रूपात्मक सृष्टि) खींच दिया है। परब्रह्म अपनी माया की शक्ति से अनेक जीवों की सृष्टि करता है। चित्रकार स्वयं निराकार है परन्तु उसके बनाए हुए चित्र को शुभ कर्मों के बल से धोकर मिटाया नहीं जा सकता। यह चित्र जड़ नहीं है। काल का कठोर शासन सर्वत्र अपनी शक्ति प्रदर्शित कर रहा है। वास्तविकता से गुमराह जीव मृगतृष्णा के जल में तृप्ति खोजने के लिए भटक रहा है। काल बिना मुख के ही सभी को लील रहा है। कोई इस चित्र को सत्य और कोई मिथ्या, कोई सत्यासत्य का आभास मानता है। तीनों विचार जीव की बुद्धि को भ्रम में डाले हुए हैं। यह झगड़ा व्यर्थ है। जो इस प्रकार के मतवाद से ऊपर उठकर प्रेम के सम्बन्ध को पहचान लेता है, वह भवसागर से पार उतर जाता है।[1] भारतीय देवतावाद में किसी तरह का झगड़ा नहीं है। पुराणों में वर्णित सृष्टि-क्रम में परात्पर सत्ता को निराकार और निर्गुण माना गया है। वही अपने आप को अपनी शक्ति से द्विधा विभक्त करता है। उसके उपरान्त उसकी शक्ति सारी सृष्टि के रूप में अपना कार्य करती रहती है। तुलसी ने 'मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान' एवं 'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि' का उल्लेख कर अपना दार्शनिक झुकाव स्पष्ट कर दिया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे विशिष्टाद्वैतवादी ही ठहराए जा सकते हैं यद्यपि राम की अनन्य, अनपायिनी भक्ति ही उनका साधन एवं साध्य है। भक्ति के सिद्धान्त में शांकर अद्वैत को स्थान

---

१. कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ युगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

वि० पत्रि०, पद १११।

कृष्ण का प्रणयानन्द सामान्य प्रेम से कहीं अधिक उच्च भाव-भूमि पर पहुँच जाता है और पाठक में उद्बुद्ध काम-भावना का वेग स्वतः शान्त हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि सूरदास जी प्रत्येक प्रणय-लीला के आरम्भ या अन्त में प्रभु की लीला के मर्म का सीधा और सरल भाषा में व्याख्यान भी कर देते हैं जिसके कारण आलम्बन रूप कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व में ईश्वरत्व की स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए सूरसागर का खंडिता प्रकरण देखा जा सकता है। यह प्रकरण अनेक गम्भीर विद्वानों की आलोचना का विषय भी रहा है। इस प्रकरण में कृष्ण का बहुनायकत्व प्रस्तुत किया गया है; जिसमें ललिता, मुदिता, सुषमा, चन्द्रावली, वृंदा और राधा के भवनों में बारी-बारी से प्रातःकाल पधारते हैं। उनकी वेशभूषा में नायिका के महावर से उनकी पगड़ी रँगी होती है, अरुण अलसाये हुए नयन, कपोलों पर चन्दन, अधरों पर काजल और बिना गुन की माला हृदय पर अंकित होती है।[1] इस प्रकार के सम्भोग सम्बन्धी विवरण अनेक बार दिये जाते हैं जिनमें उद्दाम काम-वासना की दुर्गन्धि स्वाभाविक है। किन्तु प्रकरण के आरम्भ में सूरदास जी बहु-नायकत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार की भूमिका प्रस्तुत करते हैं :—

बहु नायक ह्वै बिलसत आपु। जाको शिव पावत नहिं जापु ॥[2]

इस भूमिका से आरम्भ में ही एक दैवी वातावरण बन जाता है। प्रकरण के बीच में जब उस वातावरण का भक्ति पक्ष विलीन होने लगता है तब कवि पुनः एक संकेत देता है :—

राधिका गेहि हरि देह वासी। और तिय घरनि घर तनु प्रकासी ॥
ब्रह्म पूरन द्वितिय नहि कोऊ। राधिका सबै हरि सबै कोऊ ॥
दीप सौं दीप जैसे उजारी। तैसे ही ब्रह्म घर घर बिहारी ॥[3]

इस व्याख्या के उपरान्त उद्घाटित काम-कल्मष प्रशान्त हो जाता है और लौकिक धरातल पर वर्णित विलास से भक्ति भावना का स्रोत फूट पड़ता है। यही कारण है कि विवरण और विस्तार में कहीं अधिक मुखर होने पर भी सूर का शृंगार

१. ऐसी कहां रंगीले लाल।
जावक सौं कहँ पाग रँगाई, रँगरेजिनी मिली कोउ बाल।
चंदन रंग कपोल दीन्हौं, अरुन अधर भए स्याम रसाल ॥
माला कहाँ मिली बिन गुन की, उर छत देखि भई बेहाल।
सूर स्याम छवि सबै बिराजौ, यहै देखि मोकौ जंजाल ॥
सूरसागर, पद ३१०३।

२. सूरसागर, पद ३०९३।
३. सूरसागर, पद ३११३।

त्याग। (ग) रक्षिष्यति का विश्वास। (घ) गोप्तृत्व का वरण। (ङ) आत्मनिक्षेप, और (च) कार्पण्य।

आनुकूल्य का संकल्प— तुलसी को अतीत में किए हुए विपरीत आचरण के बारे में पश्चात्ताप है। वे भविष्य में अपना समय ऐसे कार्यों में नष्ट न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। उनका कर्मों की ओर किया गया संकेत प्रपत्ति भाव के विरोधी कर्मों से है। उन्हें राम की अनुकम्पा प्राप्त हो चुकी है अतः अंधकार की रात बीत गई है। वह अब जाग उठे हैं और सांसारिक प्रवृत्तियों की ओर न भागने की प्रतिज्ञा करते हैं। राम नाम की चिन्तामणि प्राप्त हो जाने के बाद वे उसे गँवाने की मूर्खता कभी नहीं करेंगे। राम की कृपा से उन्होंने अपनी इन्द्रियों और मन को अपने वश में कर लिया है। उनका मन रूपी भ्रमर राम के चरण कमलों में नियोजित हो चुका है। उनका दृढ़ निश्चय अटल है।[1]

प्रातिकूल्य का वर्जन—आनुकूल्य का संकल्प प्रातिकूल्य के परित्याग के अभाव में निष्फल है। इसी कारण भक्त प्रपत्ति-मार्ग की सम्पूर्ण अवरोधक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है—वह प्रतिकूल अवरोधों से विमुख हो जाता है। तुलसीदास राम के अनन्य भक्त हैं। वे राम को ही सारी सृष्टि में मूर्तिमान् देखते हैं। इस रूप में वे किसी दूसरे देवी-देवता के पास माँगने के लिए नहीं जाते, जहाँ कहीं उन्होंने ऐसा किया है केवल राम के चरणों में भक्ति की याचना के लिए ही। उनकी आतुरता सर्वत्र राम के चरणों में अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को नियोजित कर देने में अभिव्यक्त हुई है।[2] इन्होंने राम की भक्ति से विमुख परम स्नेही-जनों को वैरी समझकर त्याग दिया है। उनका मित्र वह है जो राम का भक्त है और शत्रु वह है जिसने राम में भक्ति भाव का परित्याग किया हुआ है। यही तुलसी का प्रातिकूल्य वर्जन है। उन्होंने ऐसे अंजन को व्यर्थ बतलाया है जो आँख ही फोड़ दे। राम से जिसे स्नेह है, वही उनका मित्र है।[3]

रक्षिष्यति के सिद्धान्त में विश्वास—तुलसी ने राम को सुन्दर एवं शीलवान् ही नहीं, शक्ति का प्रतीक भी बतलाया है। वह साधुजनों की रक्षा और धर्म व्यवस्था की स्थापना के लिए अनेक रूप धारण करते हुए बतलाए गए हैं। आर्त्तों और अनाथों की रक्षा करने में उनकी शक्ति का साकार रूप स्पष्ट हुआ है। हर प्रकार से समर्थ राम द्वारा अपनी रक्षा किए जाने के बारे में तुलसी का विश्वास अडिग है। तुलसी को उनकी शक्ति का कवच प्राप्त है। राम के नाम के कल्पवृक्ष से उन्हें प्रत्येक प्रकार

---

१. वि० पत्रि०, पद १०५।
२. वही, पद १०४।
३. वही, पद १७४।

नवम	,,	२४	,,	९६३	,,	१७४	,,
दशम	,, पूर्वार्द्ध	४९	,,	१९३५	,,	४१६०	,,
	,, उत्तरार्द्ध	४१	,,	१५१६	,,	१४९	,,
एकादश	,,	३१	,,	१३७४	,,	४	,,
द्वादश	,,	१३	,,	५५३	,,	५	,,

सूरसागर की पदसंख्या और भागवत की श्लोक संख्या का इतना बड़ा अन्तर स्पष्ट करता है कि किसी प्रकार भी सूरसागर के पदों में भागवत की विषय वस्तु की तालिका भी नहीं दी जा सकती। सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के ३४३ पदों में विनय के २२३ पद सर्वथा मौलिक हैं। इनका भागवतीय कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो भक्ति के वे स्फुट पद हैं जिन्हें वे अपने प्रभु के श्री चरणों में प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करते हैं। इसके उपरान्त भागवतीय कथावृत्त चौपाई में बँधे छन्दात्मक पदों में आरंभ होता है। भागवत के उपक्रम-रूप में शुकदेव और व्यास के जन्म, भागवत-अवतरण का कारण बतलाया है किन्तु मुख्य सन्दर्भ हैं नाम माहात्म्य, विदुर-गृह-भोजन, द्रौपदी-सहाय, भीष्म-प्रतिज्ञा, परीक्षित-आत्मग्लानि और चितवृत्ति-संवाद। इन सन्दर्भों में ही अधिकांश पद रचे गये हैं और ये सब सर्वथा मौलिक हैं। भागवत में इनको स्थल नहीं मिलता। भागवत का माहात्म्य, परीक्षित की लम्बी कथा आदि भागवतीय कथा को सूरसागर में सर्वथा गौण स्थान दिया गया है। द्वितीय स्कन्ध में केवल तीन पदों में चौबीस अवतारों की नामावली, ब्रह्मा-उत्पत्ति और चतुःश्लोकी भागवत को छोड़कर भागवत से कोई समानता नहीं दिखाई पड़ती। नाम-महिमा, अनन्य भक्ति महिमा, हरि विमुख निन्दा, सत्संग महिमा, भक्ति साधन, वैराग्य, आत्मज्ञान, विराट-रूप, आरती और नृप-विचार सम्बन्धी शेष ३५ पद सर्वथा मौलिक हैं। तृतीय स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध के परशुराम अवतार तक, तथा दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश में भागवतीय अवतारों की कथा संक्षेप में गाई गई है। भागवत के सृष्टि विस्तार और राजाओं की वंशावली तथा विभिन्न प्रकार के धर्मोपदेश सूरसागर में नहीं हैं। सूरसागर, वास्तव में हरि-कथा है। इसीलिए कई स्कन्धों में उन्होंने हरि-कथा का ही माहात्म्य इस प्रकार गाया है :—

हरिहरि हरिहरि सुमिरन करो। हरि चरनारविंद उर धरो।
हरि की कथा होइ जब जहाँ। गंगाहू चलि आवै वहाँ।
सिंधु सर[illegible] आवैं। गोदावरी विलम्ब न लावैं।
[illegible] क[illegible] । सूर हरि कथा होवै जहां॥

सूर[illegible] त के तत्त्व रूप हरि-कथा को ही स्वीकार [illegible] सूक्ष्म कथा मात्र को ग्रहण किया है।

को भगवदर्पित कर देता है। विनय-पत्रिका के पदों के अध्ययन से स्पष्ट है कि तुलसी एक ही पद में कई बातें एक साथ कह जाते हैं। वे आचार्य न होकर भक्त हैं। अतः अपने भावों की अभिव्यक्ति के समय वे इस बात के लिए विशेष सतर्क नहीं रहते कि वे भक्ति का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन कर रहे हैं। तुलसी की विनय की पाती आर्तभक्त की विह्वल वाणी है। वे दृप्त भक्त कदापि नहीं हैं। वे भगवान् राम की शरण में जाने के लिए ही सारा उपक्रम बनाते हैं। उन्हें राम से इस बात पर सही करवानी है कि उन्हें उन्होंने (राम ने) अपनी शरण में ले लिया है। विनय-पत्रिका में विनय की सम्पूर्ण भूमियाँ स्वाभाविक रूप में विद्यमान हैं। वह दीनता और मानमर्षता का भावात्मक उद्गार है। भयदर्शन और भर्त्सना के उपरान्त आश्वासन की सुखद छाया की शीतलता सर्वत्र व्याप्त है। मनोराज्य और विचारणा के पक्ष की कमी भी नहीं है परन्तु भाव प्रपत्तिका है।[1] इसलिए 'विनय-पत्रिका' को प्रपत्ति मार्ग का सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है।

काव्य-पक्ष

गीति काव्य—विनय-पत्रिका गीति काव्य-रचना है। संगीत में मन को स्थिर रखने और अपनी ओर उन्मुख करने की सामर्थ्य के प्रभाव को सभी आचार्य एवं रसिक स्वीकार करते हैं। संगीत का प्रभाव ऐसे लोगों के हृदय पर भी पड़ता है जो काव्य के शब्दों के अर्थ तक को नहीं समझ पाते। केवल नाद के बल पर भी रस संचार संभव हो सकता है। गीतात्मक रचना में शब्द माधुरी के साथ ही स्वर का ज्ञान भी आवश्यक तत्त्व है। विनय-पत्रिका के गीतों से पता चलता है कि तुलसी कवि होने के साथ ही संगीतज्ञ भी अवश्य रहे होंगे। गीति काव्य राग-योजना और ताल-पद्धति के तत्त्वों से निर्मित काव्य माना जाता है। राग शब्द का अर्थ 'प्रसन्न करना' है। चित्त को प्रसन्न करने वाली स्वर तथा वर्ण की अनुकूल योजना 'राग' कहलाती है। जिस प्रकार विशिष्ट छन्द ही विशिष्ट भाव के अनुकूल माना जाता है, इसी तरह विशिष्ट राग द्वारा विशिष्ट भाव को प्रभावशाली बनने में सहायता मिलती है। 'विनय-पत्रिका' में प्रयुक्त रागों की संख्या बीस है। इस रचना के रागों के प्रभावों को सम्मुख रखते हुए यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तुलसी को भावानुकूल राग योजना, ताल-युक्त शब्द योजना और माधुर्य गुण युक्त वर्ण-विधान में सिद्धि प्राप्त है। 'विनय-पत्रिका' को इस दृष्टि से सफल रचना कह सकते हैं।

छन्द योजना—तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में ताल-वृत्तों का प्रयोग किया है।

---

१. दीनता के लिए देखिए वि० पत्रिका, पद १४१, १५३, १५९, १७७, १८६, २३३, २६१। मानमर्षता—वि० पत्रिका, पद ९४, ९५, ९६। भयदर्शन—पद १८९। भर्त्सना—पद १२६। आश्वासन—पद ७१, ८३, १२६।

तथा :—

मैं निरबल वित-बल नहीं जो और गढ़ाऊं।
मो कुटुंब याही लग्यो, ऐसी कहं पाऊं॥
× × ×
नेरे ही जल थाह है चलौ तुम्हें बताऊं।
सूरदास की वीनती नीकै पहुंचाऊं॥[1]

पुरवधू प्रश्न शीर्षक से तीन पद सूरसागर में मिलते हैं। इनमें भी केवट प्रसंग की भांति ही ऐसी रोचकता है जिसे कदाचित् गोस्वामी तुलसीदास जी ने ग्रहण कर अत्यन्त मनोरंजक स्थल बना दिया है। ग्राम-वधुओं के साथ सीता का वार्तालाप बड़ा ही मनोरंजक और मौलिक है। पुरवधुओं के प्रश्न के उत्तर में सीता जो संक्षेप में अपना परिचय देती हैं और वन-गमन का कारण बताती हैं :—

सासु की सौति सुहागिनि जो सखि अति ही पिय की प्यारी।
अपने सुत कों राज दिखायौ, हमकौं देस निकारी॥[2]

पुरवधुएं पहले तो अत्यन्त दुःखी होती हैं किन्तु बाद में वे कौतूहलवश पूछती हैं कि इन दो में से तुम्हारा पति कौन है :—

इनमें को पति आहि तिहारे पुरजनि पूछहिं धाइ।
राजिव नैन मैन की मूरति सैननि दियौ बताइ॥[3]

साधारणतया रामावतार के पद वर्णनात्मक हैं फिर भी कहीं-कहीं मौलिक रोचक पद हैं। उदाहरण के लिए लक्ष्मण-प्रतिज्ञा मिलती है जिस पर भीष्म-प्रतिज्ञा 'आजु जौ हरिहिं न अस्त्र गहाऊं' की छाया प्रतीत होती है :—

रघुपति जो न इन्द्रजित मारौं।
तौ न होउं चरनन कौ चेरौ जो न प्रतिज्ञा पारौं॥[4]

इसी प्रकार सीता की अग्नि-परीक्षा सूरसागर में सर्वथा नये रूप में वर्णित है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इसमें स्वाभाविकता अधिक है। रामचरित मानस की भांति अकारण राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा नहीं की। सूरसागर के अनुसार विजय के उपरान्त लक्ष्मण जब सीता जी से मिलने गये तो वे अत्यन्त दीन-मलीन थीं। जामवंत, सुग्रीव, विभीषण के बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने त्रिजटा के द्वारा शृंगार करा लिया और आभूषण धारण कर लिए। जब वे राम के समक्ष आईं और

१. सूरसागर, नवम स्कंध, पद ४२।
२. वही, पद ४४।
३. वही, पद ४५।
४. वही, पद १४७।

'पिंगलसूत्रम्' में यति का लक्षण 'यतिर्विच्छेदः' किया गया है। छन्दः शास्त्र में यति का विधान उच्चारण के सौन्दर्य की अनुकूलता के लिए माना गया है। 'विनय-पत्रिका' में भरत के 'नाट्यशास्त्र' द्वारा प्रतिपादित यति के सम्पूर्ण नियमों का सफल निर्वाह हुआ है। इसी तरह गति के विधान में विनय-पत्रिका की सफलता स्पष्ट है। गीति 'गीत का प्रवाह' है। 'विनय-पत्रिका' सफल गीतात्मक रचना है। इसमें उन सभी नियमों का निर्वाह सफलतापूर्वक किया गया है जिसके कारण गीति काव्य सफल काव्य कहला सकता है। तुलसी अपनी पूर्ववर्ती काव्य विधान की सम्पूर्ण परम्पराओं को अवश्य जानते होंगे, यह बात उनके साहित्य के रूप-विधान के वैविध्य से स्पष्ट है।

रस—विनय-पत्रिका भक्ति रस की गीति काव्यात्मक रचना है। आचार्य मम्मट ने देवादि विषयक रति को 'भावध्वनि' का आधार बतलाते हुए यह कहा है कि इस प्रकार की रति से रस की उत्पत्ति या निष्पत्ति नहीं हो सकती। आचार्य विश्वनाथ ने भी भक्ति की रस के रूप में चर्चा नहीं की। लेकिन आचार्य मम्मट की रस की परिभाषा को आधार बनाकर रूप गोस्वामी ने 'श्री हरि भक्ति रसामृतसिन्धु' में भक्ति को रस माना है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने उनके भक्ति रस के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनका कहना है कि शान्त रस में भक्ति का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। भक्ति में अनुराग है और शान्त रस का स्थायी भाव वैराग्य स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से विनय-पत्रिका की गणना भक्ति रस की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय और डॉ० रामकुमार वर्मा ने परम्परा का अनुसरण करते हुए 'विनय-पत्रिका' को शान्त रस की रचना बतलाया है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता। विनय-पत्रिका के १६२वें पद में भक्ति रस का "विभावानुभावसंचरिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" लक्षण भली भाँति घटाया जा सकता है। इसमें भगवान् राम आलम्बन हैं। आश्रय भक्त हृदय एवं भगवान् की सहज कृपा, दयालुता आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष एवं पुलक आदि संचारी भाव माने जा सकते हैं (यद्यपि वे ध्वनित ही होते हैं), इस प्रकार इस पद में भक्ति रस का परिपूर्ण परिपाक देखा जा सकता है।

ध्वनि—आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। उन्होंने रस, वस्तु और अलंकार आदि का ध्वनि में ही अध्याहार कर लेने पर बल दिया है। तुलसी कृत 'विनय-पत्रिका' आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से भी उत्तम ध्वनि काव्य की कोटि की रचना है।

अलंकार—कविवर कालिदास ने मधुराकृति को प्रसाधन की सामग्री के बिना भी सौन्दर्य का आगार स्वीकार किया है। परन्तु कथन की सफाई या वाक्चातुरी के लिए अलंकारों का प्रयोग स्वर्ण में सुगन्ध के समान है। भावों के प्रवाह के लिए काव्य में अलंकारों की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। विनय-पत्रिका में सायास [illegible]ार योजना तो नहीं परन्तु उस में अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग की छटा ने

श्रौर यदि संयोगवश लोग चकित हो जाते हैं तो कृष्ण जी अपनी वचन-ठगोरी से उनका यह भाव अपवारित कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकटासुर वध का पद द्रष्टव्य है :—

किलकि किलकित हंसत, वाल सोभा लसत, जानि यह कपट रिपु आयो भोरै।
नेकु फटको लात, सबद भयो आघात, गिरयो गहरात सकटा संहारयो।

सकटासुर मारा गया और किसी व्रजवासी ने जाना भी नहीं।

उन व्रजवासिन बात न जानी समझे सूर सकट पग ठेलत।

ऐसे भी अवसर हैं जब व्रजवासी कृष्ण का अद्भुत पराक्रम देखकर स्तंभित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में कृष्ण प्रयत्नपूर्वक उनके विस्मय को दूर करते हैं और पूर्व-स्थिति में उन्हें लाकर क्रीड़न का नैरंतर्य चलाते रहते हैं। उदाहरण के लिये ग्वाल-बालों ने देखा कि कृष्ण बकासुर के मुख में प्रविष्ट हो गये और अपने शरीर-विस्तार के द्वारा उसकी चोंच को फाड़ डाला। यह देखकर सब बालक व्याकुल हो गये। यह देख कर कृष्ण कहते हैं :—

चोंच फारि बका संहारो, तुमहु करहु सहाय।

इतना कहना था कि ग्वाल-बालों का विस्मय जाता रहा।

इसी प्रकार गोवर्धन-धारण के समय सभी ग्वालबाल विस्मय में पड़ जाते हैं, कृष्ण के चरणों में पड़ जाते हैं। कृष्ण एक हाथ से पहाड़ को संभालते हैं और दूसरे से सखाओं को सँभाल करके कहते हैं कि तुम भी अपने लकुट पहाड़ में लगा दो। उनके वचन सुनकर सभी ग्वाल अपने लकुट लगा देते हैं :—

वाम करज टेक्यो गिरिराज।

× × ×

चकृत भए देखि यह लीला, परत सबै हरि चरनन धाइ।
गिरिवर टेकि रहे बाएं कर, दच्छिन कर लियो सखन उठाइ।

× × ×

सूरदास प्रभु कहत सबनि ते, तुमहूं मिलि टेको गिरि आइ॥

सूरसागर में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो भागवत में नहीं मिलते जैसे श्रीधर अंगभंग, कागासुर वध, पांडे आगमन, कालीदमन लीला में कंस द्वारा नंद से कमल पुष्प मांगना, कालीदमन से पूर्व कृष्ण का गेंद खेलना और श्रीदामा का गेंद के लिए आग्रह करना, पनघट लीला, राधा-कृष्ण-मिलन, राधा-कृष्ण विवाह, मुरली और गोपियों का वार्तालाप, राधा-कृष्ण-अनुराग-लीला। सच तो यह है कि सूरसागर में ऐसा कोई प्रसंग नहीं है जिसमें सूरदास जी ने संशोधन-परिवर्धन न किया हो। कृष्ण की क्रीड़ाओं और लीला सम्बन्धी आनन्द का ही बोलबाला सर्वत्र रहता है, प्रभु की ईश्वरत्व-लीला सर्वत्र अन्तर्हित रहती है। सारांश यह कि भागवत में प्रभु के

और कबीर के गीति-काव्य को भी समान स्तर पर रखा जा सकता है। अन्तर यह है कि तुलसी ने दाशरथि राम के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित किया है और कबीर ने निराकार राम को अपनी भावनाओं की गीतात्मक श्रद्धांजलियां अर्पित की हैं। तुलसी और सूर दोनों का गीतिकाव्य भक्ति काव्य की अमर विभूति बन गया है। भावों की व्यापकता के क्षेत्र में सूर का स्थान पहला है परन्तु गीतिकाव्य के शास्त्रीय विवेचन के पक्ष की दृष्टि से तुलसी और सूर को समान का स्थान और महत्त्व प्राप्त है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि 'विनय-पत्रिका' तुलसी की अनन्य भक्ति भावना का सफल गीतिकाव्यात्मक उद्गार है।

होता है। विचार और कल्पना काव्य के अनिवार्य अंग हैं किन्तु भावतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। विचार काव्य का अस्थिपंजर निर्मित करते हैं, कल्पना स्वरूप देती है तो भाव उसकी प्राणप्रतिष्ठा करते हैं। लोकहित, श्रेष्ठ विचार और दार्शनिकता काव्य को गरिमा देते हैं, कल्पना उसमें कलात्मकता और चित्रांकनता भरती है, किन्तु रागात्मक तत्त्व के अभाव में विचार-प्रधान रचना इतनी बोझिल हो जाती है कि उसे काव्य कहने में संकोच होता है। कल्पना की अनुपम कलाकृति भी भावमयता के बिना अपने कौशल में चमत्कारी होते हुए भी हृदयसंवेद्य नहीं होती, अतः उसका काव्यात्मक मूल्य न्यून हो जाता है। सूरसागर में ज्ञान, भक्ति, दर्शन, लोकजीवन और लोक संस्कृति के तथ्य खोजे गये हैं फिर भी इन तथ्यों की प्रमुखता उसमें नहीं है। ये तत्त्व आनुषंगिक रूप में ही उपलब्ध हो गये हैं। परम भक्त होते हुए और भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए भी सूरदास जी कहीं भी उपदेशात्मक रूप ग्रहण नहीं करते। लोक जीवन के व्यावहारिक पक्ष की ओर सूरदास जी ने ध्यान नहीं दिया। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति उन्होंने जन-जीवन के प्रत्येक पक्ष पर निर्णयात्मक पंक्तियाँ नहीं लिखीं। जीवन के सीमित क्षेत्र में ही घिर कर उन्होंने रसानंद का सागर लहरा दिया। इस सीमित क्षेत्र में उन्होंने विषय का इतना विस्तार प्रस्तुत किया है कि उससे आगे और विस्तार की संभावना ही नहीं है। भावुकता में निमग्न कवि ने न केवल भाव क्षेत्र के विस्तार की ओर दृष्टि रखी है वरन् उन भावों में तीव्रता की चरम सीमा भी भर दी है। पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द में अपूर्व भावावेश और गहराई झलकती है। मर्मस्पर्शिता इतनी अधिक है कि पाठक या स्रोता अपने को भूलकर कवि की भावधारा में वह उठता है। कवि में सूक्ष्म-सरल भावों को पहिचानने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है। उसी के बल पर वह मनोभावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करता है।

सूरसागर में भावुकता के सरस स्थान वे हैं जिन्हें कवि के मौलिक प्रसंग कह सकते हैं। ये हैं— *कृष्ण की बाललीला, माखनचोरी, दानलीला, मानलीला, राधा-कृष्ण-विहार-लीला* और *भ्रमरगीत*। इन संदर्भों में कवि द्वारा प्रस्तुत विषय-विस्तार तथा भावों की तीव्रता और सूक्ष्मता द्रष्टव्य है। कृष्ण के व्रज पहुँचते ही नन्द-यशोदा तथा व्रजवासियों में हर्षोल्लास का एक सागर लहरा उठता है। नन्द-द्वार पर बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो जाती है। सखियाँ वस्त्राभूषण आदि को विस्मृत कर दूध-दधि रोचन आदि से भरी कंचन थारी लेकर नन्द-द्वार पर पहुँचती हैं। नन्द-द्वार पर निशान बजते हैं। अनन्त दान आरम्भ होता है। बधाई गान की तुमुल ध्वनि गुंजायमान होती है। गोपी-ग्वाल ताल बजा-बजा कर नाचने लगते हैं। बाल-वृद्ध, नर-नारी और प्रकृति सब में अपार हर्षोल्लास दृष्टिगोचर होता है। आनन्द सागर की उत्ताल तरंगें आकाश चूमने लगती हैं। कृष्ण का पालने में शयन करना, घुटुरुनों चलना, पावों चलना क्रमशः आनन्द का वर्धन करता है। बाल-छवि का बहुत विस्तृत, मनोहारी और

दृष्टिकोण 'सहस्रावधि', 'लक्षावधि' या 'सवालाख' पदों की स्थूल गणना में विश्वास नहीं रखता, इसलिए सूरसागर की पद संख्या और स्वरूप पर प्रश्न चिह्न लगाये गये। हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियों के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं--द्वादश-स्कंधात्मक और संग्रहात्मक। द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर पहले वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से बाबू राधा-कृष्णदास के सम्पादकत्व में छपा था और बाद में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री केशवप्रसाद मिश्र और श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी के द्वारा सम्पादित हुआ। काशी वाले सूरसागर में ४६३६ पद प्रामाणिक, २०३ पद अर्ध-प्रामाणिक, ६७ पद संदिग्ध, कुल योग ५२०६ पद हैं। दोनों प्रकार के सूरसागरों में इतना महान् अन्तर देखकर आलोचक सशंकित हुए। सर्वप्रथम डा० मोतीलाल मेनारिया ने एक लेख प्रकाशित करके व्यक्त किया कि सूरदास जी के 'सहस्रावधि' पदों का अर्थ 'सहस्र है अवधि जिसकी' है इस प्रकार पदों की संख्या एक हज़ार के अन्तर्गत ही है। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर की पद संख्या इस दृष्टि से उचित देखकर उनका विश्वास हुआ कि यही सूरदास जी की असली रचना है। स्कन्धात्मक सूरसागर में भागवत के अनुसार भगवान् के दशावतारों का गुणगान है, इससे उनका क्या सरोकार? भागवत पर आधारित कथा पर लम्बे छन्दात्मक पद नीरस और काव्य-सौष्ठव विहीन भी हैं। इसके विना भी सूरदास जी के काव्य-यश में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मेनारिया जी का समर्थन ब्रजभाषी श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी जी ने 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' में अपने विस्तृत लेख के द्वारा किया। उनका मत है कि प्राचीनतम उपलब्ध हस्तलिखित प्रति संग्रहात्मक सूरसागर की ही है। सूरदास जी श्रीनाथ जी के कीर्त्तनकार नियुक्त हुए थे, उन्होंने कीर्त्तन के क्रम में जन्म, बधाई, बाल-लीला, माखन-चोरी, गोचारण, गोवर्धन-लीला, दान-लीला, मान-लीला, मुरली-लीला, रास-लीला, अनुराग-लीला और भ्रमरगीत के क्रम में पद रचना की थी। इन्हीं के संग्रह को ही महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने उसमें प्राप्त अपार रस-गाम्भीर्य को लक्ष्य कर, इन्हें 'सूरसागर' नाम दिया था, उनका ध्यान पद संख्या की विशालता की ओर न गया होगा। इस प्रकार इन दोनों विद्वानों की दृष्टि में द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर और उसकी विस्तृत पद-रचना अप्रामाणिक है।

उपर्युक्त अभिमत का परीक्षण भी प्रयोजनीय है। डा० मेनारिया ने वार्ता-साहित्य में प्राप्त 'सहस्रावधि' शब्द का मनमाना अर्थ लगाया है। इसका सामान्य अर्थ 'सहस्रों की अवधि' है। इससे कई सहस्र पदों में प्राप्त द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर ही की सिद्धि होती है। फिर जिस सूरदास की वार्ता संख्या में 'सहस्रावधि' शब्द का उल्लेख मिलता है, उसी की वार्ता संख्या ११ में 'लक्षावधि' भी मिलता है। अनेक विद्वान् 'वार्ता साहित्य' को पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते। किन्तु यदि 'सहस्रावधि' को प्रामा-णिक मानेंगे तो 'लक्षावधि' को भी प्रामाणिक मानना होगा।

विभोर हो जाता है कि वह राधा-कृष्ण के वय-क्रम को नितान्त विस्मृत कर देता है। प्रणय की उन सभी अवस्थाओं का वर्णन प्राप्त होता है जो रस शास्त्र या काम-शास्त्र में मिलती हैं। नायिका-भेद के सभी रूप देखने को मिल जाते हैं। इस प्रेम-लीला के विस्तार में उन्होंने लोक-वेद की कोई परवाह न की। विरह की चार अवस्थाओं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से अन्तिम को छोड़कर सभी का यथास्थान सांगोपांग चित्रण मिलता है। मान प्रसंग में मीठी कसक भरी वेदना प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। भ्रमरगीत में प्रवास-विरह बहुत विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। सूरदास का भ्रमरगीत हिन्दी साहित्य के विरह-काव्य का अनुपम रत्न है। इसमें विरह की ग्यारह दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, गुणकथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण में से अन्तिम को छोड़कर शेष सभी के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं।[1] इसी प्रकार विरह की दस स्थितियों—असौष्ठव, मलिनता, सन्ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, विवशता, तन्मयता और उन्माद के लिए पर्याप्त उद्धरण खोजे जा सकते हैं। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन शास्त्रीय है। यद्यपि काव्य-शास्त्रीय दृष्टि को लक्ष्य करके सूरदास जी ने पद-रचना नहीं की तथापि विरह-पदों के विस्तार में रीतिकालीन कवि भी सूर की समता नहीं कर सकते।

भाषा

सूरसागर ब्रजभाषा का प्रथम प्रतिष्ठित श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है यद्यपि ब्रजभाषा का प्रयोग लोकभाषा और साहित्य में बहुत पहिले से होने लगा था।[2] सूरदास से पूर्व ब्रजभाषा-काव्य की कोई स्थिर परंपरा नहीं बनी थी और कदाचित् काव्य-भाषा के टकसाली रूप का निर्माण भी नहीं हुआ था। सूरसागर के माध्यम से सूरदास जी ने जिस प्रचुर-साहित्य का योगदान किया उससे भाषा का स्वतः परिमार्जन होते-होते काव्य-भाषा का स्वरूप-निर्माण हो गया। सूरसागर में ही भाषा के विविध रूप उपलब्ध होते हैं। भाषा का कोरा अनगढ़ बोलचाल का रूप भी उसमें मिल जाता है और रस-अलंकारों में सुनियोजित रूप भी। विषयानुरूप भाषा स्वतः ढलती गई है। उसमें कबीर और दादू जैसे सन्तों की पदावली जैसे विनयपद मिलते हैं, भागवतीय कथाओं पर आधारित द्वितीय से लेकर नवमस्कंध तक में लचर और असाहित्यिक भाषा के दर्शन होते हैं। ऐसे अनेक पद दशमस्कंध में भी मिल जाते हैं जिनमें भाषा का अनगढ़त्व और लोकभाषा का अपरिमार्जन दिखाई पड़ता है। सागर में सर्वत्र मोतियों का भण्डार नहीं है, उसमें शंख, घोंघे और सीपियाँ भी प्रभूत मात्रा में हैं। विषयानुरूप भाषा में परिवर्तन मिलता है। सरस लीलाओं को पाते ही भाषा में सौरस्य आता गया है। न केवल रस-अलंकार का सौन्दर्य उनमें उभरा है वरन् भाषा का परिष्कार भी होता गया है। इस प्रक्रिया में सूरसागर में ब्रजभाषा का वह स्थिर और टकसाली रूप स्वतः सिद्ध हो गया जो परवर्ती ब्रजभाषा-काव्य के लिए आदर्श बन गया।

---

१. देखिए लेखक की 'सूर-भ्रमरगीत का काव्य-वैभव'—प्रकाशक रीगल बुक डिपो, दिल्ली।

२. देखिए—सूर पूर्व ब्रजभाषा—लेखक डा० शिवप्रसाद सिंह।

रिणी सभा की रिपोर्टों में सूर कृत पच्चीस ग्रन्थ उल्लिखित हैं, जैसे—सूर के विनय पद, सूर रामायण, सूर बालकृष्ण, राधा रस केलि कौतुक, मान-लीला, दान-लीला आदि। सूक्ष्म दृष्टि से परिशीलन करने पर सिद्ध हुआ कि ये सब सूरसागर के अंश मात्र ही हैं। संग्रहात्मक सूरसागर भी इसी प्रकार का एक संग्रह है, जो संक्षिप्त सूर-सागर कहा जा सकता है। विद्वानों का ऐसा अनुमान भी है कि आरम्भ में सूरदास जी ने कीर्तन के क्रम में कृष्ण लीलाओं पर पद-रचना की थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के जीवन काल तक यही रूप मूल सूरसागर के रूप में प्रतिष्ठित हुआ किन्तु बाद में सूरदास जी ने उसी को भागवतानुसार बनाने के प्रयोजन से नये रूप में रचा और पूर्व लिखित पदों को यथाक्रम उसमें समाहित किया। यह मत सर्वथा समीचीन जान पड़ता है। इस प्रकार प्राप्त सूरसागर जिसमें लगभग पाँच सहस्र पद हैं सूर-रचित ही है और इतने अधिक पदों की रचना एक जन्मान्ध कवि के लिए अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है।

धर्म और काव्य का समन्वय

वेद, उपनिषद् और भागवत आदि पुराण ग्रन्थों में भी काव्य के अवयव खोजे जा सकते हैं किन्तु लोकैषणा के स्थान पर परलोकैषणा ही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। जीवन के प्रति विराग उत्पन्न करने और परमेश्वर की ओर उन्मुख करने का प्रधान लक्ष्य इन ग्रन्थों में है, इसीलिए इन्हें धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है। जिस ब्रह्मानन्द की सिद्धि इनमें होती है वह अपने सहोदर काव्यानन्द से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत साहित्य में धर्म और काव्य की स्वतन्त्र धाराएं थीं। हिन्दी के भक्ति काल के कवियों ने धर्म और काव्य का संगम कराया। चारों काव्य धाराओं के कवियों का मुख्य लक्ष्य माया जाल से बंधे दुःखी मानव का त्राण ही था। कबीरदास आदि सन्तों ने ज्ञानोपदेश और खंडन-मंडन की प्रत्यक्ष नीति अपनाई। इसीलिए सन्तों का साहित्य धार्मिक स्वरूप से विशेष अभिभूत है। उसमें काव्यात्मकता स्वल्प मात्रा में पाई जाती है। मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफियों ने प्रेम कहानी के माध्यम से ईश्वरोन्मुख अलौकिक प्रेम के संकेत प्रस्तुत किये। इनके रहस्यात्मक आध्यात्मिक संकेत लौकिक कथा के ताने-बाने में इतने ओझल रहे हैं कि इनका धार्मिक स्वरूप उभर न पाया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़ी सफलता के साथ धर्म और काव्य का समन्वय किया। उन्होंने भागवतीय धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया और काव्य के रस-रीति-अलंकार आदि सर्वांग निरूपण की पद्धति भी अपनाई। फिर भी गोस्वामी जी की दास्य भक्ति-भावना के कारण काव्य-पक्ष सर्वत्र दबा ही रहा। भक्ति भाव इतना प्रमुख हो गया कि शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, वात्सल्य आदि का पूर्ण प्रकाशन न हो पाया। भक्ति अंगी और अन्य रस अंग बनकर आये। राम-सीता

वर्णयोजना—मनोरम वर्ण-योजना काव्य में आकर्षण उत्पन्न करती है। भाव और चित्र के अनुरूप वर्णों का संकलन आवश्यक हो जाता है। उपयुक्त वर्ण-योजना एक-एक वर्ण-संगीत की उत्पत्ति करती है जो स्वतः पदगत अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होती है। उदाहरण के लिए सूर का निम्न पद द्रष्टव्य है :—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि नारिगन सुख देत।
कबहुं चलत सुघंग गति सों कबहुं उघटत बैन।
लोल कुंडल गंड मंडल चपल नैननि सैन।

इन पंक्तियों में 'क' 'ट' 'ड' और 'ल' वर्णों की संयुक्त ध्वनियाँ नृत्य का ताल देती हैं। ऐसा लगता है मानों वर्ण ही घुंघरू बनकर स्वर उत्पन्न कर रहे हैं। कवि जिस नृत्य का वर्णन कर रहा है उसी का प्रत्यक्ष रूप उसके वर्ण भी उपस्थित कर रहे हैं।

सूरदास जी जब मधुर वर्णों की लड़ी प्रस्तुत करने लग जाते हैं तो मजाल क्या कि परुष वर्ण उसमें झांक सकें। वर्ण-वर्ण से मधुर रस टपकता प्रतीत होता है। उदाहरण :—

मानो माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि ॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि।
सुन्दर ससि गुन रूप राग निधि, अंग अंग अभिरामिनि ॥

किन्तु जब उनकी वीणा विषम स्वरों में ओज प्रधान वीर और भयानक रसों पर गान करती है तो शब्दावली की ध्वनि उसके अर्थ को गुंजायमान करने लगती है। जैसे दावानल प्रसंग का निम्न पद :—

भहरात झहरात दावा (नल) आयौ।
घेरि चहुं ओर करि सोर अंदोर बन, धरनि अकास चहुं पास छायो।
डरत वन वास, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है मांस अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायो।
अति अगिन भार झंझार भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंकार छायो।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु भटा धरनी गिरायो।

पद में झ ह र भ (दग्धाक्षरों) और ट (परुष वर्ण) जैसी कर्कश ध्वनियों की बहुलता है। कोमल ध्वनियाँ भी कठोर हो गई हैं। अनुस्वार की मिठास ताण्डव के स्वर उत्पन्न कर रही है। फिर भी वर्ण-योजना मात्र अनुप्रास अलंकार के कृत्रिम सौन्दर्य को उत्पन्न नहीं करती, पद-विषयक भाव को प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। शब्दावली, तुक और स्वर दावानल के स्वरूप, उसकी भयंकर गति, शोर और विनाशकारी कृत्यों को मूर्तिमान करने वाले हैं।

है। सूर की भक्ति-भावना की एक विशेषता यह भी है कि उसमें रहस्यात्मक प्रतीक-वाद नहीं है। दान-लीला, चीर-हरण लीला और मुरली-लीला तक में रहस्यवादिता नहीं है, लीला का प्रकृत रूप स्पष्ट है। शृंगार भाव ही बड़ी सहजता के साथ भक्ति में परिणत हो जाता है। सूरसागर में भक्ति का उपदेशात्मक रूप देखने को नहीं मिलता। भक्ति भावना में पगी गोपियां कृष्ण के ईश्वरत्व तक को स्वीकार नहीं करतीं :—

को माता को पिता हमारें।
कब जनियत हमकों तुम देख्यौ हँसियत वचन तुम्हारें॥
कब माखन चोरी करि खायौ, कब बांधे महतारी।
दुहन कौन को गैया चारन बात कही यह भारी॥
तुम जानत मोहि नंद ढुटौना, नंद कहां ते आये।
मैं पूरन अविगत अविनासी, माया सबनि भुलाए॥
यह सुनि ग्वालि सबै मुसुक्यानी, ऐसे गुन हौ जानत।
सूर स्याम जो निदरयौ सबहीं, मात-पिता नहिं मानत॥

स्वयं कृष्ण स्पष्ट रूप से अपने ईश्वरत्व का उद्घाटन कर रहे हैं, अपने को अनादि, अगोचर, अविगत और अविनाशी बता रहे हैं ? किन्तु गोपियां उसे स्वीकार नहीं करतीं। भ्रमरगीत में उद्धव जी कृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु गोपियां उनके नंदनंदन और रसिक सिरोमनि रूप के आगे और कुछ सुनने को तैयार नहीं होतीं।

तात्पर्य यह कि सूरसागर में गूढ़ रहस्य जैसी उलझन देखने को नहीं मिलती। दर्शन और धर्म के तथ्यों की प्रधानता कृष्ण लीला के विवरणों को बोझिल नहीं करती। कृष्ण राधा की अनुराग लीलाओं का निरूपण शास्त्रीय शृंगार रस के अधिकाधिक विस्तार के साथ वे करते जाते हैं। इतना होने पर भी उसमें लौकिक शृंगार और उद्दाम-काम वासना का उभार नहीं होता। महाकवि विद्यापति और रीतिकालीन श्रेष्ठ कवि बिहारी, देव और मतिराम आदि ने भी राधा-कृष्ण की उन्हीं लीलाओं का वर्णन किया है जिनका सूरदास जी ने, किन्तु इन कवियों के पदों में राधा-कृष्ण का उल्लेख होते हुए भी उनमें ईश्वरत्व की आभा नहीं दीख पड़ती, वे शुद्ध नायक और नायिका के रूप में सहृदय के समक्ष मूर्तिमान होते हैं। सूर-वर्णित लीलाओं में भी यही स्थिति आ जाती है किन्तु उन्होंने बड़े चातुर्य से इस समस्या का समाधान किया है। एक तो प्रत्येक पद की अन्तिम पंक्ति में वे अपने स्वामी और स्वामिनी की प्रतिष्ठा करते हैं और प्राप्त रसानन्द पर लोकोत्तर आनन्द की छाप डाल देते हैं। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'मो सौं कहा दुरावति राधा' पद में राधा-

पर्याय ध्वनि—सूर-शब्दावली की व्यंजना शक्ति का कौशल उनमें समानार्थक संज्ञा शब्दों के विशिष्ट प्रयोगों में मिलता है। पर्यायवाची शब्द समानार्थक होते हुए भी अपने-अपने विशिष्ट अर्थ के कारण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। कवि समानार्थक अनेक शब्दों में से प्रसंगानुकूल शब्द का चयन करता है और उससे अपने पद के अर्थ-सौरस्य को चमत्कृत कर लेता है। सूरसागर में कृष्ण के अनेक पर्यायवाची शब्द द्रष्टव्य हैं[1]—कृष्ण, कान्ह, स्याम, हरि, गोपाल, माधव, मोहन, मनमोहन, मदनगुपाल, नवलकिसोर, नंदनंदन, देवकीनंदन, घनश्याम आदि।

कृष्ण के उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दों में विशिष्ट अर्थ प्राप्त होते हैं और इस प्रकार इन शब्दों का प्रयोग मनोहारी हो जाता है।

चित्रांकनता—महाकवि सूर चित्रण-कला में प्रवीण थे। सूरसागर में कृष्ण-लीला की विविध झांकियां चित्रित हैं। चित्रों को पूर्णता देने के लिए प्रायः एक प्रसंग पर अनेक रूपों में चित्र मिलते हैं। एक में रेखाचित्र होता है तो दूसरे में रंग उभरे होते हैं। तीसरे चित्र में कल्पना की कमनीयता के दर्शन होते हैं। कृष्ण की बाल छवि, उसका नखशिख, उनके अलग-अलग अंगों के आलंकारिक चित्र सम्बन्धी बहुत से पद मिलते हैं। सूरदास जी चित्र देते जाते हैं और उनकी अतृप्ति बनी रहती है। माखन-चोरी संदर्भ में कितने ही चित्र बड़े ही मार्मिक हैं। सबसे लोकप्रिय 'मैया मैं नाहिं माखन खायो' वाला पद है। सच तो यह है कि प्रत्येक लीला में सूरदास जी सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। सूरसागर के पदों की लोकप्रियता का एक कारण उनकी चित्रोपमता भी है। भ्रमरगीत में विरहिणी राधा के ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गये हैं कि पाठक के नेत्रों के सामने उसका मर्मस्पर्शी चित्र झूलने लगता है :—

छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बलहीन।
कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि सम्भारि भट ज्यों परम साहस कीन।
सूर हरि के दरस कारन रही आसा लीन।

अप्रस्तुत योजना—सूरदास की रचना-शैली का लक्ष्य उनकी सीमित रसानुभूति को अधिकाधिक रमणीय रूप में प्रस्तुत करना था। सूरसागर में वर्ण्य-विषय संकुचित है किन्तु प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के लिए उन्होंने अप्रस्तुत के अगणित रूपों को प्रस्तुत किया है। कालिदास की भाँति सूरदास जी की उपमाएं अनूठी हैं। उपमा और रूपक और उत्प्रेक्षाओं के निर्माण में सूरदास जी ने अभूतपूर्व चमत्कार प्रदर्शित किये हैं। सूरदास की अलंकार योजना केवल सादृश्य तक सीमित नहीं रहती वह भावोत्कर्ष में अभिवृद्धि

१. देखिए—लेखक की—सूर की काव्यकला।

भक्ति के सागर में समाहित हो जाता है। तात्पर्य यह कि सूरसागर भक्ति-काव्य का ऐसा अनूठा ग्रन्थ है जिसमें धर्म और दर्शन के तथ्य उसके काव्यत्व का गला नहीं घोंटते। यद्यपि धर्म तथा दर्शन के सभी तत्त्व उसमें विद्यमान होते हैं और उनकी प्रतीति सरस लीलाओं के माध्यम से अनायास होती रहती है।

मौलिकता

सूरदास जी ने अपने गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए अपने समस्त कृतित्व का श्रेय उन्हीं को समर्पित किया है।[1] किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उन्होंने अपने गुरु से संकेत मात्र ही प्राप्त किया। वार्ता में उल्लेख है कि महाप्रभु जी ने केवल एक रात्रि के सान्निध्य में ही सूरदास जी को लीला-पारंगत कर दिया। सूरदास जी ने सूरसागर की रचना में जिस विषय-वस्तु और शैली का उपयोग किया उसका अधिकांश उनका निजी था। अन्त: तथा बाह्य साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि सूरदास जी ने सूरसागर की रचना में भागवत को मूल आधार बनाया फिर भी जब हम सूरसागर और भागवत का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने भागवत का आधार भी बहुत कम लिया है। सूरसागर न तो भागवत का अनुवाद है और न भावानुवाद। भागवत और सूरसागर के विभिन्न स्कन्धों की स्थूल रूपरेखा ही इस तथ्य का प्रमाण है :—

	भागवत		सूरसागर (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
प्रथम स्कन्ध	१९ अध्याय १६६२ श्लोक		विनय पद २२३, प्रथम स्कन्ध १२०, कुल ३४३ पद
द्वितीय ,,	१० अध्याय	३९२५ श्लोक	३८ पद
तृतीय ,,	३३ ,,	१५०२ ,,	१३ ,,
चतुर्थ ,,	३१ ,,	१४०७ ,,	१३ ,,
पंचम ,,	२६ ,,	६६६ ,,	४ ,,
षष्ठ ,,	१९ ,,	८५१ ,,	८ ,,
सप्तम ,,	१५ ,,	७५० ,,	८ ,,
अष्टम ,,	२४ ,,	९३१ ,,	१७ ,,

१. (क) भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।
(स्फुट पद)।

(ख) श्रीवल्लभ गुरु तत्व बतायो लीला भेद बतायौ।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
सूरसारावली।

में वह स्वर-वैभव का योग करता जाता है। स्वर-साधना में शक्ति होती है। शब्दों के प्रयोग के बिना भी भावानुभूति का प्रकाशन हो जाता है। इसलिए ज्ञान के माध्यम से प्रस्तुत भावों का शब्दीकरण विशेष प्रभावशाली हो जाता है। संगीत-निष्णात कवि के लिए गीत का निर्माण गद्य-रचना से भी अधिक सुगम हो जाता है यही कारण है कि संगीतज्ञ कवि सूरदास जी ने जो कुछ लिखा सब गीत के स्वरों में बंधा है। सारा भागवत प्रसंग जो एक प्रकार से भावानुवाद रूप है और जिसमें न कवि की भावानुभूति के दर्शन होते हैं और न श्रेष्ठ काव्य-कला के। एक प्रकार से यह गद्यात्मक छन्दोबद्ध रचना ही कही जायगी, किन्तु यह भी संगीत की राग-रागिनियों में निबद्ध है। इसी प्रकार साहित्य-लहरी तथा सूरसागर के अनेक दृष्टिकूट पद शब्द-साधना के व्यायाम होने पर भी संगीत के शुद्ध स्वरों में बंधे हैं। सम्पूर्ण सूरसागर गेयत्व के कारण ही गीतिकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। गीतिकाव्य में कवि मात्र आत्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष रूप से करता है, वह किसी चरितनायक, जगत या समाज की कथा न कहकर आत्म-विज्ञापन ही करता है। किन्तु सूरसागर के विनय पदों को छोड़कर शेष बृहत् कलेवर में वे प्रभु की लीलाओं का गान करते हैं। गीतों में कृष्ण लीला का यथाक्रम वर्णन मिलता है। इस प्रकार सूरसागर गीतों में लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य बना हुआ है।

सूरसागर न तो शुद्ध प्रबन्ध काव्य है, न मुक्तक और न शुद्ध गीति-काव्य। उसमें तीनों का समन्वित रूप मिलता है। विषय-वस्तु और कथा-क्रम होते हुए भी सूरसागर के पद पूर्वापर सम्बन्ध से बंधे नहीं हैं। स्वतंत्र रूप में भी उनका अर्थ जाना जा सकता है। प्रत्येक पद अपने में पूर्ण रहता है। चाहे वह दस पंक्तियों का हो चाहे पचास, उसमें एक पूरी लीला मिलती है। लीलाएं समाप्त होकर अगले पद में नये सिरे से आरम्भ हो जाती हैं। इस प्रकार कथा-शृंखला की दृष्टि से इति से अथ पर पहुँचती हुई कथा का प्रबन्धात्मक मूल्य नहीं रह जाता। प्रसंगों की इतनी पुनरुक्ति होती है कि शिल्प-सौन्दर्य के होते हुए भी पाठक नीरसता से क्षुब्ध हो जाता है। प्रबन्ध में नीरस-गतिशीलता से बचने के लिए मर्मस्पर्शी अवान्तर सन्दर्भ रखे जाते हैं और कथानक की नीरसता को हटा कर कथा आगे बढ़ती है। सूरसागर में कथा को अग्रसर करने की कोई चेष्टा ही नहीं प्रतीत होती। प्रस्तुत रसमय प्रसंग, भाव या दृश्य को अधिकाधिक विस्तार देना ही कवि का अभिप्रेत होता है। साथ ही प्रबन्ध काव्य में प्रधानतया जीवन का वाह्य रूप चित्रित किया जाता है। उसमें कवि जन-जीवन की मनोरम झांकी प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसमें लोकरंजन का तत्त्व अपेक्षा-कृत कम और आदर्श, लोकहित आदि के तत्व अधिक होते हैं। सूरसागर में आत्मपरक दृष्टिकोण ही प्रमुख है। सूरसागर में कृष्ण-चरित का विविध रूप नहीं मिलता। इसमें कृष्ण न तो भागवत के भूभार उतारन और असुर निकंदन हैं, न गीता के

रामावतार और कृष्णावतार के लीला गान में सूरदास जी ने पर्याप्त मौलिकता प्रस्तुत की है। इन लीलाओं में उन्होंने भागवत का आश्रय नहीं लिया। राम-जन्म के अवसर पर अयोध्या में जिस उल्लास और बधाई का वर्णन सूरदास जी ने किया है उसका संकेत भी भागवत में नहीं मिलता। विस्तार में कम होते हुए भी सूरसागर के राम-जन्म-विवरण पर सूरसागर में विस्तार से वर्णित कृष्ण-जन्म की छाया दृष्टिगत होती है, जैसे :—

आजु दशरथ के आँगन भीर।
फूले फिरत अयोध्या वासी, गनत न त्यागत चीर।
परिरंभन हंसि देत परसपर आनंद नैनन नीर ॥[1]

और :—

अजोध्या बाजत आज बधाई।
गर्भ मुच्यौ कौसिल्या माता रामचंद्र निधि आई ॥[2]

तथा :—

रघुकुल प्रगटे हैं रघुवीर।
× × ×
मागध बंदी सूत लुटाये गौ गयंद हय चीर ॥
देत असीस सूर चिरजीवौ रामचन्द्र रनधीर ॥[3]

अन्य प्रसंगों में भी भागवत की अपेक्षा सूरसागर में विस्तार है। रामचरित के प्रत्येक प्रसंग पर पद मिलते हैं। इन पदों में कुछ प्रकरण सर्वथा मौलिक हैं और इतनी रोचकता उनमें है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने उन्हीं का पल्लवन रामचरित-मानस और कवितावली में किया है। सूरसागर में केवट-विनय सम्बन्धी दो पद ऐसे ही हैं :—

नौका हौं नाहीं लै आऊं।
प्रगट प्रताप चरन को देखौं, ताहि कहां पुनि पाऊं ॥
× × ×
जो यह वधू होइ काहू की दारु-स्वरूप धरे।
छूटै देह जाइ सरिता तजि, पग सौं परस करे ॥
मेरी सकल जीविका यामें, रघुपति मुक्त न कीजै।
सूरदास चढ़ौ प्रभु पाछैं, रेनु पखारन दीजै ॥[4]

---

१. सूरसागर नवम स्कंध, पद १६।
२. वही, पद १७।
३. वही, पद १८।
४. वही, पद ४१।

है। फिर भी सूरसागर निर्विवाद रूप में श्रेष्ठ भक्तिकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। ग्रंथ में लोकादर्श, लोक-मर्यादा और लोकहित का व्यापक दृष्टिकोण प्रमुख नहीं है। उसमें श्रीकृष्ण की रासलीलाएं मुक्त हृदय से गाई गई हैं। धार्मिकता की अधिक प्रधानता न होने के कारण ग्रंथ का काव्यात्मक स्वरूप अधिक उभर आया है। भक्ति की अन्तर्मुखी स्थिति ग्रंथ में प्रस्तुत अनियंत्रित शृंगार रस को पुनीतता देने में समर्थ होती है और शुद्ध काव्यत्व को पूर्ण क्षेत्र उपलब्ध होता है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की भाँति धार्मिक भाव और भक्ति के शिकंजे में पड़कर शृंगार, वीर, करुण, वात्सल्य, रौद्र आदि रसों को संकुचित नहीं होना पड़ता। काव्य में भक्ति का संदेश व्यंजित तो होता है किन्तु कहीं भी उपदेशात्मक वृत्ति मुखर नहीं होती। काव्य की रसात्मक पद्धति प्रमुख रहती है और ग्रंथ काव्य कसौटी पर खरा उतरता है।

सूरसागर भक्ति काव्य होते हुए भी हिन्दी काव्य में आगे पल्लवित होने वाली रीति काव्यधारा का स्रोत है। सूरसागर की रचना भले ही कीर्तन के क्रम में हुई हो किन्तु उसमें नायिकाओं, शृंगार रस के सभी अनुभाव-विभाव-संचारीभाव, अलंकार-विधान आदि के सुन्दरतम उदाहरण उपलब्ध होते हैं। विद्वानों ने सूरसागर का अध्ययन रीति काव्य की दृष्टि से भी किया है और उसमें उनका सांगोपांग विवरण प्राप्त किया है। देव, विहारी, मतिराम, रसखान और घनानंद आदि रीति-कालीन कवियों ने राधा-कृष्ण की शृंगार लीलाओं में सूर की छाया ग्रहण की। यह और वात है कि सूरदास जी की भक्ति सम्बन्धी पुनीतता रीतिकालीन कवियों की वाणी में आभासित न हो सकी। इस प्रकार रीतिकालीन कवियों के द्वारा ब्रजभाषा की जो कलात्मक परिणति हुई और रस-रीति पर प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गई उस सबका बीज-वपन सूरसागर में ही हो चुका था। सूरसागर में वात्सल्य तथा संयोग एवं वियोग शृंगार का सबसे गंभीर और सबसे अधिक मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। हिन्दी साहित्य का कोई भी ग्रंथ सूरसागर की समता इन क्षेत्रों में नहीं कर सकता। गोस्वामी तुलसीदास जी का रामचरित हिन्दी का मूर्धन्य काव्य है। लोकहित, दर्शन और महाकाव्य की दृष्टि से उसका महत्त्व निर्विवाद है, किन्तु वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में रामचरितमानस सूरसागर की समता में वहुत पीछे रह जाता है।

सूरसागर का काव्य-परम्परा के निर्माण में बड़ा ही प्रभविष्णु योग रहा है। हिन्दी में संगीत प्रधान गीतिकाव्य की पुष्ट परम्परा के निर्माण में सूरसागर ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सूरसागर में प्रस्तुत भ्रमरगीत ने हिन्दी-काव्य में भ्रमर-गीत की एक परम्परा ही चला डाली। कृष्ण-भक्ति धारा का जो स्वरूप निर्माण सूरसागर के द्वारा हुआ वही शताब्दियों तक हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से चलता रहा। गोस्वामी तुलसीदास जैसा मर्यादावादी कवि भी सूरदास की भावधारा

उन्होंने सीता का यह रूप देखा तो उन्होंने मुँह मोड़ लिया, लक्ष्मण के द्वारा चिता बनवाई। उसमें सीता जी प्रविष्ट हो गईं तब अग्नि ने गोद में लेकर उन्हें निष्कलंक घोषित किया :—

लछिमन सीता देखी जाय।
अति कृष दीन छीन तन प्रभु बिनु नैननि नीर वहाइ।
जामवंत सुग्रीव विभीषण करी दंडवत आइ।
आभूपन बहु चोल पटंबर पहिरो मातु बनाइ।
बिनु रघुनाथ मोंहि सब फीके आज्ञा मेटि न जाइ।
पुहुप विमान बैठी वैदेही, त्रिजटी सब पहिराइ।
देखत दरस राम मुख मोरयौ, सिया परी मुरझाइ।
सूरदास स्वामी तिहुं पुर के, जन उपहास डराइ ॥[1]

लछिमन रचौ हुतासन भाई।
यह सुनि हनूमान दुख पायौ मोपै लख्यौ न जाई ॥
आसन एक हुतासन बैठी ज्यों कुन्दन अरुनाई।
लै उछंग उपसंग हुतासन 'निहकलंक रघुराई' ॥[2]

कृष्णावतार का लीलागान भागवत पर आधारित अवश्य है किन्तु सूरदास जी ने प्रत्येक लीला में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। भागवत में कृष्ण अवतारी हैं, भूभार का उतारना, लोक का उद्धार करना, असुरों को दलना उनका मुख्य लक्ष्य है। सांसारिक लीलाओं में भागवतकार पद-पद पर उनके ईश्वरत्व का उद्‌घाटन करते जाते हैं। सूरदास जी ने कृष्ण के ईश्वरत्व को अविकल रखते हुए भी प्रयत्न किया है कि उनका लीलारूप ही प्रमुख रहे, ईश्वरत्व यथासम्भव ओझल हो। कृष्ण-जन्म के अवसर पर जहाँ भागवत में प्रभु का प्राकट्य और उसके औद्‌भुत्य को प्राथमिकता दी गई है वहाँ सूरसागर में बधाई, मंगल, दान उल्लास और हर्षानन्द को प्रमुखता दी है। लगता है कि समस्त व्रज में आनन्द सागर की उत्ताल तरंगें प्रवाहित हो रही हैं। पद-पद पर कवि लिखता जाता है। भागवत की कथात्मता सर्वथा गौण है, बिना किसी क्रम के ब्रजोल्लास का वर्णन है। भागवत में वर्णित पूतनावध, बकासुर, अघासुर, तृणावर्त आदि राक्षसों के निपात की कथाओं में भी परिवर्तन है। ये राक्षस किस प्रकार कंस के द्वारा भेजे जाते हैं और इनके निपात में संहार-लीला की भयंकरता और अद्‌भुतता का जो समावेश भागवत में है, सूरसागर में देखने को नहीं मिलता। कृष्ण की सौन्दर्य-वर्णन या क्रीड़न लीला चलती रहती है और एकाएक प्रभु इनका निपात इस प्रकार कर देते हैं कि किसी को चमत्कृत होने का अवसर ही नहीं आता।

---

१. सूरसार, नवम स्कंध, पद १६१।
२. वही, पद १६२।

परमानंद सागर

डा० गोवर्धननाथ शुक्ल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्य-युग अथवा भक्ति-काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। दिव्य शृंगार और उसकी अभिव्यक्ति को सगुण भक्ति के पवित्र प्राचीर में सुरक्षित रखने का श्रेय जितना कृष्ण-भक्त कवियों को है उतना अन्य मर्यादा-वादी भक्त कवियों को नहीं। इस युग के कृष्ण-भक्त कवियों का सरस साहित्य विश्व-साहित्य में समादरणीय है। उनमें भी अष्टछाप के कवियों का साहित्य तो अनुपम है। लगभग संवत् १५५५ से संवत् १६४२ तक का लभगभ ८७ वर्षों का युग एक ऐसे विशाल भाव रत्नार्णव का सर्जन कर गया जिसे हिन्दी साहित्य के मध्य-युग की दैवी घटना अथवा चमत्कार ही समझना चाहिए। वस्तुतः इसके मूल में आचार्य चरण महाप्रभु वल्लभ का ही दिव्य व्यक्तित्व रहा है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पृथ्वी पर्यटन करते हुए जब पुष्टि सम्प्रदाय का प्रचार किया और दैवी जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते हुए भगवत्सेवा मार्ग का विधान किया तब श्री गिरिराज से प्रकट हुए श्रीनाथ जी के स्वयंभू स्वरूप की संगीत-सेवा अपने प्रमुख चार शिष्यों—सूरदास, परमानन्द दास, कुंभनदास, और कृष्णदास को सौंपी थी। संवत् १५८७ में उनके नित्य-लीला प्रवेश के उपरान्त उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने संप्रदाय का भार संभाला तब श्रीनाथ जी की सेवा में और भी अधिक सुव्यवस्था हुई। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी में भगवत्सेवा के प्रति बड़ी लगन और रुचि थी। संप्रदाय में उनके विषय में प्रसिद्ध है :—

सेवा की यह अद्भुत रीत।
श्री विट्ठलेश सौं राखैं प्रीति॥

अतः उन्होंने भगवान् की नित्य सेवा के तीन अंग किये :—

१. राग
२. भोग

ईश्वरत्व का उद्घाटन मुख्य है वहाँ सूरसागर में ईश्वरत्व को यथासंभव आच्छादित रखकर उनकी लीलाओं और क्रीड़ाओं के लिए उपयुक्त वातावरण की अवस्थिति की है।

निष्कर्ष यह कि जन्मान्ध होने के कारण सूरदास जी को शिक्षा और अध्ययन के अवसर प्राप्त न हुए थे। वे दिव्यदृष्टिधारी और ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने जो कुछ ज्ञान बाहर से पाया वह केवल महाप्रभु वल्लभाचार्य से। महाप्रभु ने ही उन्हें भागवत का आधार भी सुलभ कराया था। सूरदास जी ने सदा ही महाप्रभु और भागवत के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन भी किया किन्तु वास्तविकता यह है कि उन्होंने महाप्रभु वल्लभ और भागवत से सूत्र मात्र ही प्राप्त किये। उन सूत्रों का पल्लवन और विस्तार उन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर बिल्कुल नये ढंग से किया। इसीलिए सूरसागर की समस्त लीलाएं पूर्णतया मौलिक हैं। महाप्रभु जी ने अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों को लेकर समस्त भारत में दिग्विजय किया किन्तु सूरदास जी ने इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक पक्ष ही कृष्ण लीला के माध्यम से प्रस्तुत किया। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ सूरदास जी के प्रशंसक थे। उन्हें 'पुष्टिमार्ग का जहाज' इसीलिए अभिहित किया था। सूरदास जी ने लोक-भाषा को काव्य-भाषा का गौरव प्रदान किया। ब्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि ने इतने बड़े आकार वाले महाग्रन्थ की रचना की जिसका काव्य-सौन्दर्य समस्त ब्रजभाषा-काव्य-माला का सुमेरु है। सूर की विचारधारा, सूर की भाषा और सूर की काव्य-शैली का मूलस्रोत वस्तुतः उनकी अपनी ही प्रतिभा, दिव्य-दृष्टि या आत्मा को मानना चाहिये। उन्होंने महाप्रभु वल्लभ या भागवत से अग्नि की चिनगारी मात्र प्राप्त की, उसे सुलगा कर ऐसी महाज्वाला जगाई कि चार सहस्र वर्षों तक ब्रजभाषा-कृष्ण-काव्य समस्त भारतवर्ष में प्रकाशमान रही और ब्रजभाषा राष्ट्रभाषा के गौरव से समादृत रही। गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी के श्रेष्ठ कवि हुए हैं किन्तु उन्होंने स्वयं व्यक्त किया है कि :—

'नानापुराण निगमागम सम्मतं यत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।'

यह उनका नम्र-निवेदन मात्र नहीं है। गोस्वामी जी की विषय-वस्तु के स्रोतों पर सम्यक् विचार हुआ है और सिद्ध भी यही हुआ है कि उसमें गोस्वामी जी का प्रस्तुतीकरण मात्र ही उनका था, शेष सब कुछ पुराण, शास्त्र और संस्कृत काव्य की सामग्री थी। सूरदास जी की स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। उनके काव्य में बाह्य आधार नाममात्र का था, अधिकांश उनकी निजी उद्भावना का परिणाम था।

रसानुभूति

रसानुभूति का सहज और कलात्मक चित्रण काव्यात्मा की प्रतिष्ठा करता है। काव्य का मूल्यांकन उसमें प्रस्तुत रसानुभूति के प्रतिफलन पर ही अवलम्बित

१०

परमानंद सागर

डा० गोवर्धननाथ शुक्ल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्य-युग अथवा भक्ति-काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। दिव्य शृंगार और उसकी अभिव्यक्ति को सगुण भक्ति के पवित्र प्राचीर में सुरक्षित रखने का श्रेय जितना कृष्ण-भक्त कवियों को है उतना अन्य मर्यादा-वादी भक्त कवियों को नहीं। इस युग के कृष्ण-भक्त कवियों का सरस साहित्य विश्व-साहित्य में समादरणीय है। उनमें भी अष्टछाप के कवियों का साहित्य तो अनुपम है। लगभग संवत् १५५५ से संवत् १६४२ तक का लगभग ८७ वर्षों का युग एक ऐसे विशाल भाव रत्नार्णव का सर्जन कर गया जिसे हिन्दी साहित्य के मध्य-युग की दैवी घटना अथवा चमत्कार ही समझना चाहिए। वस्तुतः इसके मूल में आचार्य चरण महाप्रभु वल्लभ का ही दिव्य व्यक्तित्व रहा है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पृथ्वी पर्यटन करते हुए जब पुष्टि सम्प्रदाय का प्रचार किया और दैवी जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते हुए भगवत्सेवा मार्ग का विधान किया तब श्री गिरिराज से प्रकट हुए श्रीनाथ जी के स्वयंभू स्वरूप की संगीत-सेवा अपने प्रमुख चार शिष्यों—सूरदास, परमानन्द दास, कुंभनदास, और कृष्णदास को सौंपी थी। संवत् १५८७ में उनके नित्य-लीला प्रवेश के उपरान्त उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने संप्रदाय का भार संभाला तब श्रीनाथ जी की सेवा में और भी अधिक सुव्यवस्था हुई। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी में भगवत्सेवा के प्रति बड़ी लगन और रुचि थी। संप्रदाय में उनके विषय में प्रसिद्ध है :—

सेवा की यह अद्भुत रीत।
श्री विट्ठलेश सौं राखें प्रीति॥

अतः उन्होंने भगवान् की नित्य सेवा के तीन अंग किये :—

१. राग
२. भोग
३. शृंगार

आलंकारिक वर्णन सूरदास प्रस्तुत करते हैं। नन्द-यशोदा के वात्सल्य-चित्रण को अधिकाधिक विस्तार मिला है। माँ अपने लाल के बड़े होने की, उससे माँ कहलवाने की, तोतली वाणी सुनने और आँचल पकड़ कर हठ करने की अभिलाषायें करती है। इसी क्रम में पूतना, तृणावर्त, शकटासुर आदि का निपात भी हो जाता है। माँ यशोदा का मातृ-हृदय भय से त्रस्त हो जाता है। माखन-चोरी संदर्भ में कृष्ण-रूप की प्यासी गोपियाँ अभिलाषा करती हैं कि कभी कृष्ण हमारे घर माखन चोरी करने आवें।[1] उनकी मनोकामना पूरी करने के लिए जब कृष्ण उनके घर चोरी करते हैं तो वे छिपकर उनका दर्शन-लाभ करती हैं और बाहर जाकर फूली-फूली फिरती हैं।[2] इस आनन्द की प्रतिक्रिया घर-घर में होती है और उसी की पुनरावृत्ति प्रत्येक गोपी के यहाँ होती है। उसके उपरान्त उसका व्यापक रूप बढ़ता है। गोपियाँ उपालंभ लेकर आती हैं। यशोदा और गोपियों की नोक-झोंक, कृष्ण की बालसुलभ वक्रोक्तियाँ, प्रेम ठगोरी, उत्तर-प्रत्युत्तर, यशोदा की खीझ, ऊखल-बन्धन, गोपियों की प्रत्यालोचना, यशोदा की ग्लानि आदि संदर्भों में आनन्द उमड़ता जाता है। इस प्रकार लगभग ७०० पदों में वात्सल्य का बड़ा ही विस्तृत चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है। वत्सल स्थायी भाव तो सर्वत्र है ही, हर्ष, औत्सुक्य, गर्व, उत्साह, अमर्ष, क्षोभ, ग्लानि, शंका, चिन्ता, त्रास, विषाद, मति, दैन्य, उन्माद, निर्वेद, विकलता, मोह, अपस्मार आदि संचारी भाव भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं।

वात्सल्य के पश्चात् सूर की भावानुभूति के मनोरम दर्शन शृंगार में होते हैं। सूर की कलाकृति का सबसे बड़ा भाग शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग में उपलब्ध होता है। श्री कृष्ण का सौन्दर्य-निरूपण, राधा-कृष्ण-मिलन, सुख विलास, चीर-हरण, मुरलीलीला, रासलीला, जलक्रीड़ा, नैन और आँख सम्बन्धी पद, मान-लीला, दम्पति विहार, राधामान, झूलन, वसन्त लीला, संयोग के अन्तर्गत और गोपी-विरह वर्णन तथा भ्रमर-गीत वियोग में आते हैं।

शृंगार लीला में विस्तार की अति हो जाती है। सूरदास जी स्वयं अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। सात वर्ष की अवस्था के उल्लेख के साथ ही राधा-कृष्ण का बाल-स्नेह यौवन-सम्पन्न परकीया-प्रणय में परिवर्तित मिलता है। राधा-कृष्ण का सुरति-विलास वे निस्संकोच उपस्थित करते हैं। कवि कल्पना में इतना

---

१. ब्रज जुवती इक पाछैं ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन मन कहति कबहुं अपने घर, देखौं माखन खात॥

सूरसागर, पद ८८२।

२. फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
पुलकत रोम रोम गद्‌गद् मुख बानी कहत न आवै।
ऐसी कहा आहि सो सखि री, हमको क्यों न सुनावै॥

सूरसागर, पद ८८४।

इन सखाओं को साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत बड़ा महत्व एवं गौरव प्राप्त है। नरगिरा ब्रजभाषा को भगवद् गुणगान के माध्यम से सुरगिरा के सदृश समादरणीय सिंहासन पर समासीन कराने वाले इन महानुभावों ने वर्ण्य की चिंता की, वर्णन की नहीं; वस्तु को देखा शैली को नहीं। अतः शारदा वाग्वश्या भार्या की भाँति बद्ध-कर होकर किंवा दारूयोषित् की भाँति सूत्र-बद्ध होकर इनके अंगुलि निर्देश पर नृत्य करती रही। सम्प्रदाय के मूर्द्धन्य दो सखा—सूर और परमानन्द तो साक्षात् 'लीला सागर' ही थे। जिनकी प्रशंसा स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने श्रीमुख से की है। और तथ्य यह है कि वात्सल्य एवं शृंगार के मुक्तक गेय पदों के क्षेत्र में इनके टक्कर का कोई अन्य कवि हो भी नहीं सका।

लगभग सभी अष्टछापी महानुभावों के भाव जगत् की कोमलता, रमणीयता और तन्मयता एक दिव्य लोक की सृष्टि करने वाली होती थी। जिसका आनन्द उनके साहित्य का अनुशीलन करने वाला श्रद्धालु स्वाध्यायी ही जान सकता है।

अष्टसखाओं में दूसरे सागर परमानन्ददास जी को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने लीला-सागर की उपाधि *दी थी अतः इन्हें सूर के समकक्ष माना गया है*। कवि के पद अथवा कीर्तन जो उसकी सत्ता अथवा व्यक्तित्व के प्रमाण स्वरूप हैं, 'परमानन्द सागर' अथवा "परमानन्द दास जी कौ पद" कहे जाते हैं। कवि मुख्य रूप से कीर्तन-कार था, अतः एक कीर्तनिये की भाँति उसका परिग्रह केवल एक तानपूरा ही था, लेखनी मसिपात्रादि नहीं। अतः श्रुति परम्परा से भगवन्मन्दिरों में गाए जाने वाले पद जो परमानन्द सागर के नाम से उसके भक्त एवं अन्य सम्प्रदायी भक्तों ने लिपिबद्ध कर लिये वही उसकी साक्षी देने वाले हैं। उसके पदों के संग्रह को 'परमानन्द सागर' नाम देने वाले सम्प्रदाय के भक्त ही हैं। वह स्वयं नहीं। क्योंकि गोस्वामी विट्ठल-नाथ जी ने उसे 'लीला सागर' पुकारा था।

परमानन्ददास को रचनाएं :—

दीक्षा से पूर्व कवि भगवद्-विरहपरक पद बनाकर गाया करता था। महाप्रभु वल्लभ की शरण में आने के उपरान्त उन्होंने भागवत के दशमस्कंध की लीला को स्वरचित पदों में निबद्ध करके कीर्तन गान आरंभ किया था। उनके अधिकांश पद सुबोधिनी पर आधारित हैं। निम्नांकित ग्रंथ उनके कहे जाते हैं।

१. दान लीला।
२. उद्धव लीला।
३. ध्रुव चरित्र।
४. दधि लीला।
५. संस्कृतरत्न माला।

ब्रजभाषा में जो काव्यगत विशेषतायें आगे चलकर विशेष रूप से पल्लवित हुईं उन सबका सूत्र सूरसागर में मिल जाता है।

सूरसागर की भाषा-समृद्धि उसकी एक विशेषता है। कवि ने उत्तम भावाभि-व्यक्ति के लिए चारों ओर से शब्द ग्रहण किये। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग स्वाभाविक है। अप्रस्तुतयोजना, भागवतीय प्रकरणों, सिद्धान्त निरूपण और स्तुतिपरक पदों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग प्रभूत मात्रा में हुआ है। किन्तु कवि की रुचि शब्दों में परिवर्तन करके भाषा-रूप देने की अधिक थी, इसीलिए तद्भव शब्दावली का प्रयोग तत्सम की अपेक्षा कहीं अधिक है। परिवर्तन कभी-कभी ऐसे विलक्षण भी हो गये हैं कि उनकी व्युत्पत्ति का पता लगाना तक कठिन हो जाता है। ग्राम्य शब्दावली का भी धड़ल्ले से प्रयोग मिलता है। ब्रजबोली की सामान्य मधुरता को प्राथमिकता दी गई है। शब्दावली पर भाषा की ऐसी रंगत मिलती है कि तत्सम के आधिक्य होने पर भी संस्कृतता के स्थान पर भाषा की मिठास का ही प्राधान्य हो जाता है। विदेशी शब्दों का प्रयोग सूरसागर में पर्याप्त मात्रा में हुआ था। सूर-काल में अरबी-फ़ारसी और तुर्की के अनेक शब्द पच-पचा कर भाषा के सहज अंग बन चुके थे। इन शब्दों के आने से भाषा में नागरता आई और बोली को साहित्यिक बनाने में सहायता मिली। फिर भी सूरदास जी ने विदेशी शब्दों को अविकल ग्रहण नहीं किया उन्होंने फारसी-अरबी शब्दावली पर अपनी छैनी चलाई और काट-छांट कर उन्हें ब्रजभाषा के अनुरूप ऐसा सरल और मृदु बनाया कि ब्रज-शब्दावली के बीच उनकी पहिचान भी कठिनाई से होती है। ऐसा करने से ब्रजभाषा सर्वथा समृद्ध हो गई। उसका शब्दकोष व्यापक हो गया। परिणाम यह हुआ कि इसकी भाषा बड़ी लचीली हो गई और भाव-प्रकाशन में अर्थ-सौरस्य की अभिवृद्धि हो गई।

सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का सम्यक् प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। इससे भाषा की व्यंजकता बढ़ी और प्रवाह में अपूर्व वृद्धि हुई। व्याकरण के रूपों में साहित्यिक दृष्टिकोण रखा गया है। बोली में प्राप्त विकल्पों में से अपेक्षाकृत काव्यो-चित रूपों को ही लिया गया है फिर भी उन्हें किसी प्रकार के दृढ़ बंधन से जकड़ा नहीं गया है। भाषा में माधुर्य की ओर विशेष ध्यान था। ब्रज माधुरी की लोकप्रियता का मर्म सूर का निजी योगदान ही था। भाषा की प्रकृति की हानि न करते हुए उसे विशेष रूप से संवारा गया है। सूरसागर की भाषा ही आगे चलकर ब्रजभाषा की आदर्श बन गई।

अभिव्यंजना-कौशल

सूरदास जी एक कुशल काव्य-शिल्पी थे। काव्य-शिल्प के मुख्य उपकरण हैं—१. वर्णयोजना, २. शब्दगत अर्थ-सौन्दर्य, ३. अप्रस्तुत-योजना, ४. उक्ति-वैचित्र्य, ५. चित्रांकनता, और ६. पद-रचना। सूर सागर की अभिव्यक्ति-कला के विवेचन के लिए इन सभी का सूक्ष्म विवेचन आवश्यक है।

की अनित्यता, जीव की बंधन-ग्रस्तता, भक्ति की स्वात्म-निर्भरता, माया की विषमता आदि का भी वे यथा-स्थान प्रसंग उठाते चलते हैं। अतः उनके काव्य में दार्शनिक प्रसंग अनायास ही आ जाते हैं। परमानन्ददास जी भी मुख्य रूप से सगुण लीला गायक होते हुए यथा-स्थान शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुकूल दार्शनिक तत्व चिंता कर बैठते हैं। उन्होंने पूर्ण-ब्रह्म, अक्षर-ब्रह्म, जीव, माया, जगत्, संसार, मोक्ष अथवा मुक्ति एवं निरोध की चर्चा की है। परन्तु ये सब चर्चा गौण अथवा प्रसंगवश ही है। इनको मुख्यता कहीं भी नहीं दी गई है। शुद्धाद्वैत नाम सिद्धान्त मार्ग का है। इसका व्यवहार पक्ष पुष्टि है। पुष्टि का स्वरूप—'कृष्णानुग्रह रूपाहि पुष्टिः'—सर्वत्र प्रतिपाद्य रहा है। आचार्य जी का मत है :—

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते।
ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा। अणुभाष्य—३।३।२९
तद्रहितानपिस्वरूप वलेन स्व प्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।

तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपादि करने से मोक्ष तो होता है किन्तु ये साधन-मोक्ष अथवा मर्यादा-मुक्ति के साधन हैं। इन साधनों से मुक्ति प्राप्त करना मर्यादा है। परन्तु जहाँ ये साधन नहीं गिने जाते और इन साधनों से भी श्रेष्ठ भगवत्स्वरूप बल से ही प्रभु प्राप्ति होती है उसे ही पुष्टि कहते हैं। सभी अष्टछापी भक्तों का यही आदर्श था। अतः उन्होंने पुष्टि मार्ग के दार्शनिक पक्ष के निरूपण करने अथवा उसे अधिक महत्ता देने की चेष्टा नहीं की। पुष्टि भक्ति ही उनका लक्ष्य था। वही प्रतिपाद्य था। अतः दार्शनिक चर्चा में उलझना उन्हें अभीष्ट नहीं लगा, फिर भी प्रसंगवश जहाँ उन्हें पूर्ण-ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष, निरोधादि की चर्चा उठानी पड़ी है वहाँ वे आचार्य वल्लभ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तानुकूल ही चले हैं।

परमानन्ददास जी ने आचार्य के मतानुसार ब्रह्म को सर्वधर्मोपेतश्च के अनुसार सर्वधर्ममय माना है। उसमें विरुद्ध धर्माश्रयत्व स्थापित किया है, उसे आनन्द रूप, रस रूप, निस्सीम, परिपूर्ण रसमय, नित्य धर्ममय कहा है। वह न्यायोपबृंहित, सर्व वेदान्त प्रतिपाद्य, निखिल धर्ममय, अनवगाह्य माहात्म्य एवं सर्व भवन समर्थ है। जब उसका इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, तब उसके प्रति निस्सीम भक्ति की प्राप्ति होती है।

अक्षर ब्रह्म :—

परमानन्ददास जी ने अक्षर ब्रह्म की चर्चा विस्तृत रूप से न करके अनादि, सनातन, अनुपम, अव्यक्त, निर्गुण ब्रह्म को लीला हेतु सगुण माना है।

शब्द शक्ति—शब्द की तीनों शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अपना-अपना महत्त्व है। अभिधा की पकड़ सीधी होती है। किसी प्रकार की वक्रता या बुद्धि-वैभव का सहारा लिये बिना वह सीधे हृदय तक पहुँचती है। अभिधा का यह ऋजुमार्ग चित्त को प्रभावित करने का अनूठा ढंग है। हृदय को स्पर्श करने की अनुपम शक्ति उसमें होती है। बिना किसी अलंकरण और अतिशयता के यह स्वाभाविक वर्णन सहृदय के मन का रंजन करता है। सूरसागर में इसके जितने सुन्दर उदाहरण मिलते हैं कदाचित् ही कहीं मिलें। बाललीला में अति प्रसिद्ध संदर्भ है माँ यशोदा का कृष्ण को दूध पिलाना :—

कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़े।

इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं :—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

इस प्रकार के अनेक प्रसंग बाललीला में मिलते हैं जहाँ कवि ने अलंकारों और व्यंजनाओं से भरपूर भाषा का प्रयोग नहीं किया है। स्वभावोक्ति का ही सर्वत्र बोल-बाला है। भाषा अत्यन्त सरल प्रसाद-गुण युक्त है किन्तु लोकप्रियता और रसात्मकता की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अद्वितीय हैं।

अन्य संदर्भों में लक्षणा और व्यंजना की करामातें देखने को मिलती हैं। माखनचोरी, अनुरागलीला और भ्रमर-गीत में लक्षणा और व्यंजना के अनुपम भंडार भरे हैं। नेत्रों के सम्बन्ध में लिखे हुए अनेक पदों में से निम्न पंक्तियाँ उद्धरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

नैना हरि अंग लुब्धे री माई।
नैना कह्यो न मानैं मेरो।
ढीठ भए ए डोलत हैं।
नैना भए बजाइ गुलाम।
हरि दरसन कौं तरसति अंखियाँ।

भ्रमरगीत की पंक्ति-पंक्ति में विपरीत लक्षणाएं और व्यंजनाएं भरी पड़ी हैं। जिस कुब्जा के प्रति उनके हृदय में भयंकर घृणा, असूया और कोप विद्यमान हैं, उसके लिए वे कहते हैं :—

वरु उन कुब्जि भलौ कियौ।
सुनि-सुनि समाचार ये मधुकर अधिक जुड़ात हियौ।
जिनके तन मन प्रान रूप गुन हरयौ सु फिरि न दियौ।
तिन अपनो मन हरत न जान्यौ हंसि-हंसि लोग जियौ।

२. दूसरी अविद्या अथवा व्यामोहिका माया है।

ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः ॥

भाग० २।६।३३।

परमानन्ददास जी ने अविद्या माया की बलवत्ता की खूब चर्चा की है। उसका प्रभाव ब्रह्मा और मार्कण्डेय पर तक बताया है :—

वच्छहरण अपराधते कीनौहतौ अपमान ।
मारकंड ते को बड़ो मुनि ज्ञान प्रबीन ॥
माया उदधि ता संग मैं कीने मति लीन ॥ आदि

यदि भगवत्कृपा से भगवद् भक्ति का रंग चढ़ जाता है और देहाध्यास छूट जाता है, तो इस माया से छुटकारा मिल जाता है।

लगै जो स्री वृन्दावन रंग।
देह अभिमान सबै मिटि जैहै अरु विषयन को संग ॥

इस प्रकार परमानन्ददास जी ने भगवच्छरण और नाम-स्मरण इन दो अमोघ यत्नों से माया की व्यामोहिका शक्ति से जीव की मुक्ति बताई है।

मुक्ति :—

परमानन्ददास जी ने मुक्ति के नाम पर स्वरूपानन्द को ही मुक्ति बताया है। सांख्यादि में जहां साधक को ज्ञान द्वारा देहाध्यास, अन्तःकरणाध्यासों से मुक्ति बताई है वहां भक्ति-पथ के पथिकों के लिए भजनानन्द में मग्न रहकर सम्प्रदाय ने स्वरूपानन्द को ही मुक्ति बताया है। भक्त के लिए गोलोक लीला का आनंदानुभव ही सब कुछ है। परमानन्ददास जी स्पष्ट कहते हैं :—

मुक्ति देहु संन्यासिन कौं हरि, कामिन देहु काम की रास।

इसी कारण योग प्राप्ति को परमानन्द की गोपियां अपराध के अन्तर्गत गिनती हैं :—

किहि अपराध जोग लिखि पठयो,
प्रेम भजन ते करत उदासी।
परमानन्द वैसी को विरहिन,
मांगे मुक्ति पुनरासी ॥

इसलिए परमानन्द मोक्ष अथवा वैकुंठादि-गमन की वासना भी नहीं रखते :

कहा करूं वैकुंठहि जाय।

करती है। उदाहरण के लिए दो पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :—

दूध दांत दुति कहि न जाइ कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हंसत दुरति प्रगटति मनु घन में विज्जु छटाई।।

जिस प्रकार बादलों के बीच बिजली के चमकने से बादलों की श्यामता तथा बिजली की स्वर्णिम आभा बार-बार प्रकट होती रहती है, उसी प्रकार कृष्ण के किलकने और हंसने से उनके दूध के दाँत बार-बार प्रकट होते और छिपते रहते हैं। इस क्रियाकलाप में उनकी मृदु-मुस्कान से मुखमंडल इस प्रकार प्रकाशित हो उठता है जिस प्रकार बिजली की आभा से समस्त नभ-मंडल। एक सांग रूपक का उदाहरण देना प्रयोजनीय होगा :—

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत मगन होहि मन नागर।।
तन अति स्याम अगाध अंबुनिधि कटि पट पीत तरंग।
× × ×
देखि सरूप सकल गोपी जन रहीं निहारि-निहारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा रही प्रेम पचि हारि।।

सागर और कृष्ण-रूप की क्या समानता? दोनों में न सादृश्य है और न साधर्म्य। जल, तरंग, मीन, ग्राह, मकर आदि के लिए उपमान जुटाना वास्तव में औपम्य का मुख्य आधार नहीं है। आधार है वह प्रभाव जो गोपी-हृदय पर पड़ा है। सागर की भाँति कृष्ण छवि अपार है। उसे देख-देख कर गोपियों की बुद्धि-विवेक सब समाप्त हो जाते हैं, उस सौन्दर्य के सम्मुख वे हार जाती हैं, उन्हें उसी में डूबना पड़ता है। इस प्रकार रूपक के भीतर उपमानों की जोड़-गांठ निर्जीव न होकर रसात्मकता को बढ़ाने वाली होती है।

भ्रमरगीत में विरहानुभूति को साकार रूप में रूपकों ने बड़ा योग दिया है। कृष्ण-विरह में वर्षा ऋतु गोपियों को भयावनी लगती है। इसीलिए वर्षा के आगमन पर घटाओं का घिरना, पक्षियों की आवाज, बिजली की चमक, बूंदों की झड़ी, मेढ़क की टर्र और झिल्ली की झनकार शत्रु सेना के रूप में प्रस्तुत की गई है। वर्षा का यह रूपक भय का वातावरण साक्षात् कर देता है। लगता है कि अबला बालाओं पर आततायी आ चढ़ा है। भ्रमरगीत का तो सम्पूर्ण वर्ण्य-वृत्त ही रूपक है। उद्धव और कृष्ण पर भ्रमर के नाम से समस्त फबतियां रूपक पर ही आधृत हैं। यही कारण है कि भ्रमरगीत के पद भाव-प्रेरित वक्रोक्तियों के अनुपम भंडार बन गये हैं।

पद-रचना—सूरदास जी प्रतिभासम्पन्न संगीतकार थे। संगीतज्ञ कवि स्वरों के चमत्कार द्वारा भाव-प्रकाशन को पुष्ट करता है। अपने अंतस्थल की भावना के शब्दीकरण

इसी भक्ति के विकसित रूप को लेकर परवर्ती उपासकों ने भारतीय साहित्य को भावापन्न बना दिया और साहित्य को 'सहित' का भाव दे दिया। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक और बाद के श्रुति स्मृति पुराणादि सभी ने भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन एक स्वर से किया है। भागवत जो सबसे अंतिम और विकसिततम पुराण है इसी कारण भक्तिमय है। उसका लक्ष्य नितान्त रूप से भक्ति प्रतिपादन करना है, अतः आचार्य वल्लभ ने उसे 'समाधि भाषा' के नाम से अभिहित किया है। उनका सम्पूर्ण पुष्टि मार्ग भागवत पर ही आधारित है। भागवत को आधार मानकर चलने वाले निखिल भारतीय भागवत-धर्म भक्ति तत्त्व प्रधान हैं। भक्ति के आगे वे जप, तप, तीर्थाटन, आचार, विचार, व्यवहारादि को कुछ नहीं समझते। केवल निष्केवल प्रेम स्वरूपा भक्ति को महत्ता देते हैं। इसके दो रूप हैं :—

१. वैधी भक्ति।

२. प्रेम-लक्षणा, रागानुगा भक्ति।

वैधी भक्ति के अंतर्गत नवधा भक्ति आती है और प्रेम-लक्षणा अथवा रागानुगा भक्ति के अंतर्गत 'गोपीभाव' का समावेश है।

परमानन्ददास जी ने 'ताते नवधा भक्ति भली' कहकर वैधी भक्ति का सम्मान किया अवश्य है किन्तु उनका लक्ष्य रागानुगा प्रेम-लक्षणा भक्ति ही था। उसी की प्राप्ति के लिए उनका चरम उद्योग था। आचार्य ने उसे ही एकमात्र प्राप्य बताया है और उसकी अधिकारिणी गोपियों को अपना 'गुरु' बताया है। 'गोपी भाव' वाले विरले भक्त जनों को उन्होंने पुष्टिपुष्ट जीवों की अन्यतम कोटि में रखकर अन्य सभी प्रवाही मर्यादामार्गी, पुष्टि जीवों को उनसे निम्न भूमि पर स्थित बतलाया है। ऐसा ही भक्त "प्रियतम संगम संजात हास्य रूप सलिल" में अवगाहन करता है और प्रिय के चर्वित तांबूल का अधिकारी बनकर "करुणाकूतस्मितावलोक" का भाजन बन जाता है। परमाराध्य के चरणों में उसकी निस्सीम प्रणति और प्रकृष्ट दैन्य ही उसकी संध्यादि उपासना है। रस ही इस भक्त का जीवन, रस ही अंग और रस ही इसकी संपत्ति है। इसी की स्थिति को लक्ष्य कर भागवतकार ने कहा है :—

"त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम्"

परमानन्ददास जी ने जहां वैधी भक्ति की चर्चा की है वहां गोपीभाव की भी चर्चा की है। "अन्यपूर्वा" गोपी इसी कोटि की भावुक भक्ताएं हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर परमानंददास जी कहते हैं :—

"परमानन्द स्वामी मन मोहन, श्रुति मर्यादा पेली।"

यहां लोक वेद से परे प्रेम-लक्षणा भक्ति निरोध रूपा है। इसी गोपी प्रेम की प्रशंसा ज्ञानी भक्त शुक और व्यास जैसे भक्त किया करते हैं।

योगिराज हैं और न महाभारत के राजनीति-विशारद और धर्म-संस्थापक। सूरसागर के कृष्ण तो नंदनंदन, व्रजजनरंजन, माखनचोर, मनमोहन, मुरलीमनोहर, नटवर, राधावल्लभ और रसिक शिरोमणि हैं। लोकादर्श, मर्यादा और लोकरक्षा के स्थान पर रसावतार कृष्ण की रसलीला का अनिर्वचनीय आत्मानंद ही कवि का साध्य है। इस प्रकार द्वादश स्कंधों में बंधा सूरसागर का बाह्याकार प्रबन्धात्मकता से बहुत भिन्न नहीं है। फिर भी उसकी आत्मा प्रबन्ध के अनुरूप न होकर गीत के अनुरूप ही है। संगीतात्मक पद-रचना ने अपने शिल्प-विधान के योग से उसे गीतिकाव्य ही बना दिया है। गीतिकाव्य के प्रमुख तत्त्व आत्माभिव्यंजना की प्रमुखता, रागात्मक अन्विति और गेयत्व उसमें है ही, इसीलिए सूरसागर को गीतिकाव्य की परिधि के अन्दर ही समझा जाता है। सूरसागर में जो गीत मिलते हैं उनमें अनेक छन्दों का भी विधान मिलता है। सूरदास के पूर्व काव्य में दोहा, छप्पय, दण्डक और चौपाई का विशेष प्रयोग होता था। सूरसागर में भी दोहा, घनाक्षरी, दण्डक, चौपाई, रोला, हरिगीतिका, सार, विष्णुपद, लावनी, कुंडल, समान सवैया छन्दों का प्रयोग मिलता है।[1] इन छन्दों के ऊपर टेक लगा कर सूरदास जी ने उन्हें राग-रागिनियों में बांध रखा है। रागों में छन्दों का रूप विकृत नहीं हुआ है। प्राचीन छन्दों के आधार पर सूरदास जी ने नये छन्दों की सफल रचना भी की है। छन्दों में यति-भंग, गति-भंग दोष यत्र-तत्र अवश्य मिलते हैं, किन्तु गीत की दृष्टि से वे निर्दोष हैं। इस प्रकार सूर की पद-रचना सर्वथा मौलिक है। उसमें संगीत, छन्द और लोकगीतों के गुणों को ऐसा संगठित किया गया है कि उसका एक चिर नवीन रूप प्रतिष्ठित हो गया है। संगीत के पद-बन्द, छन्द-विधान और लोकधुनों की गरिमा से साहित्यिक सांचे में ढल गये हैं और छन्दों में विशिष्ट नाद-सौन्दर्य का आविर्भाव हो गया है।

मूल्यांकन

सूरसागर के मूल्यांकन के लिए विचारणीय है कि यह ग्रंथ काव्य-ग्रंथ मात्र नहीं है। इसका दृष्टिकोण धार्मिक भी है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि सूरसागर में कवि का वही दृष्टिकोण था जो श्रीमद्भागवत की रचना में था। इसीलिए सूरदास जी ने अनेक बार इस तथ्य को दोहराया है कि जिस प्रकार शुकदेव जी ने परीक्षित को भागवत सुनाया उसी प्रकार मैं भी हरिलीला का गान कर रहा हूँ। कदाचित् भागवत को व्रजभाषा में प्रस्तुत करने का भी उनका उद्देश्य रहा हो। यदि यह ग्रंथ का उद्देश्य था तो इसमें कवि को आशातीत सफलता नहीं मिली। सूरसागर भागवत या तुलसीकृत रामचरितमानस की भाँति धार्मिक ग्रंथ बनने का श्रेय न पा सका। श्रेष्ठ रसात्मक लीलाग्रंथ होने पर भी इस ग्रंथ को लोकमानस में उतना प्रचार न मिला जितना भागवत या रामचरितमानस को प्राप्त

१. देखिए, सूर की काव्यकला—पद रचना प्रकरण।

इसी भक्ति के विकसित रूप को लेकर परवर्ती उपासकों ने भारतीय साहित्य को भावापन्न बना दिया और साहित्य को 'सहित' का भाव दे दिया। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक और बाद के श्रुति स्मृति पुराणादि सभी ने भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन एक स्वर से किया है। भागवत जो सबसे अन्तिम और विकसिततम पुराण है इसी कारण भक्तिमय है। उसका लक्ष्य नितान्त रूप से भक्ति प्रतिपादन करना है, अतः आचार्य वल्लभ ने उसे 'समाधि भाषा' के नाम से अभिहित किया है। उनका सम्पूर्ण पुष्टि मार्ग भागवत पर ही आधारित है। भागवत को आधार मानकर चलने वाले निखिल भारतीय भागवत-धर्म भक्ति तत्त्व प्रधान हैं। भक्ति के आगे वे जप, तप, तीर्थाटन, आचार, विचार, व्यवहारादि को कुछ नहीं समझते। केवल निष्केवल प्रेम स्वरूपा भक्ति को महत्ता देते हैं। इसके दो रूप हैं :—

१. वैधी भक्ति।

२. प्रेम-लक्षणा, रागानुगा भक्ति।

वैधी भक्ति के अंतर्गत नवधा भक्ति आती है और प्रेम-लक्षणा अथवा रागानुगा भक्ति के अंतर्गत 'गोपीभाव' का समावेश है।

परमानन्ददास जी ने 'तातें नवधा भक्ति भली' कहकर वैधी भक्ति का सम्मान किया अवश्य है किन्तु उनका लक्ष्य रागानुगा प्रेम-लक्षणा भक्ति ही था। उसी की प्राप्ति के लिए उनका चरम उद्योग था। आचार्य ने उसे ही एकमात्र प्राप्य बताया है और उसकी अधिकारिणी गोपियों को अपना 'गुरु' बताया है। 'गोपी भाव' वाले विरले भक्त जनों को उन्होंने पुष्टिपुष्ट जीवों की अन्यतम कोटि में रखकर अन्य सभी प्रवाही मर्यादामार्गी, पुष्टि जीवों को उनसे निम्न भूमि पर स्थित बतलाया है। ऐसा ही भक्त "प्रियतम संगम संजात हास्य रूप सलिल" में अवगाहन करता है और प्रिय के चर्वित तांबूल का अधिकारी बनकर "करुणाकूतस्मितावलोक" का भाजन बन जाता है। परमाराध्य के चरणों में उसकी निस्सीम प्रणति और प्रकृष्ट दैन्य ही उसकी संध्यादि उपासना है। रस ही इस भक्त का जीवन, रस ही अंग और रस ही इसकी संपत्ति है। इसी की स्थिति को लक्ष्य कर भागवतकार ने कहा है :—

"त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम्"

परमानन्ददास जी ने जहां वैधी भक्ति की चर्चा की है वहां गोपीभाव की भी चर्चा की है। "अन्यपूर्वा" गोपी इसी कोटि की भावुक भक्ताएं हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर परमानंददास जी कहते हैं :—

"परमानन्द स्वामी मन मोहन, श्रुति मर्यादा पेली।"

यहां लोक वेद से परे प्रेम-लक्षणा भक्ति निरोध रूपा है। इसी गोपी प्रेम की प्रशंसा ज्ञानी भक्त शुक और व्यास जैसे भक्त किया करते हैं।

में बहुत परिलक्षित होता है क्योंकि 'श्रीकृष्ण गीतावली' ग्रंथ के भाव और भाषा-शैली दोनों में सूरसागर का अनुसरण दृष्टिगोचर होता है। गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में जो रामभक्ति शाखा आगे बढ़ी उसमें गोस्वामी तुलसीदास का मर्यादावादी दृष्टिकोण नगण्य ही हो गया। किन्तु रामभक्ति में भी रसिक सम्प्रदाय के नाम से जो प्रभूत साहित्य रचा गया उस पर सूरसागर का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी का शृंगार प्रधान रीति-काव्य तो है ही सूरसागर का ऋणी। सारांश यह कि परवर्ती हिन्दी काव्य पर सूरसागर का प्रभाव सर्वाधिक है।

सूरसागर ब्रजभाषा का प्रथम विशालकाय काव्य-ग्रंथ है। इसने ब्रजभाषा को काव्य-भाषा बनने का गौरव प्रदान किया और एक ऐसी पुष्ट परम्परा का सूत्रपात किया कि शताब्दियों तक समस्त उत्तर भारत में सब प्रकार के भेद-भाव दूर कर कविगण ब्रजभाषा में ही ब्रजपति की सरस लीलाओं के गान से जन-मन रंजन करते रहे। यह मान्य है कि सूरसागर में जिस प्रकार सरस और गंभीर स्थल अनेक हैं उसी प्रकार नीरस और काव्यगुण-विहीन पदावलियों की भी कमी नहीं है। फिर भी सूरसागर कृष्ण भक्ति काव्य-माला का सुमेरु है और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाग्रंथों में अत्यन्त प्रतिष्ठित है।

इसी भक्ति के विकसित रूप को लेकर परवर्ती उपासकों ने भारतीय साहित्य को भावापन्न बना दिया और साहित्य को 'सहित' का भाव दे दिया। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक और बाद के श्रुति स्मृति पुराणादि सभी ने भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन एक स्वर से किया है। भागवत जो सबसे अन्तिम और विकसिततम पुराण है इसी कारण भक्तिमय है। उसका लक्ष्य नितान्त रूप से भक्ति प्रतिपादन करना है, अतः आचार्य वल्लभ ने उसे 'समाधि भाषा' के नाम से अभिहित किया है। उनका सम्पूर्ण पुष्टि मार्ग भागवत पर ही आधारित है। भागवत को आधार मानकर चलने वाले निखिल भारतीय भागवत-धर्म भक्ति तत्त्व प्रधान हैं। भक्ति के आगे वे जप, तप, तीर्थाटन, आचार, विचार, व्यवहारादि को कुछ नहीं समझते। केवल निष्केवल प्रेम स्वरूपा भक्ति को महत्ता देते हैं। इसके दो रूप हैं :—

१. वैधी भक्ति।

२. प्रेम-लक्षणा, रागानुगा भक्ति।

वैधी भक्ति के अंतर्गत नवधा भक्ति आती है और प्रेम-लक्षणा अथवा रागानुगा भक्ति के अंतर्गत 'गोपीभाव' का समावेश है।

परमानन्ददास जी ने 'तातें नवधा भक्ति भली' कहकर वैधी भक्ति का सम्मान किया अवश्य है किन्तु उनका लक्ष्य रागानुगा प्रेम-लक्षणा भक्ति ही था। उसी की प्राप्ति के लिए उनका चरम उद्योग था। आचार्य ने उसे ही एकमात्र प्राप्य बताया है और उसकी अधिकारिणी गोपियों को अपना 'गुरु' बताया है। 'गोपी भाव' वाले विरले भक्त जनों को उन्होंने पुष्टिपुष्ट जीवों की अन्यतम कोटि में रखकर अन्य सभी प्रवाही मर्यादामार्गी, पुष्टि जीवों को उनसे निम्न भूमि पर स्थित बतलाया है। ऐसा ही भक्त "प्रियतम संगम संजात हास्य रूप सलिल" में अवगाहन करता है और प्रिय के चर्वित तांबूल का अधिकारी बनकर "करुणाकृतस्मितावलोक" का भाजन बन जाता है। परमाराध्य के चरणों में उसकी निस्सीम प्रणति और प्रकृष्ट दैन्य ही उसकी संध्यादि उपासना है। रस ही इस भक्त का जीवन, रस ही अंग और रस ही इसकी संपत्ति है। इसी की स्थिति को लक्ष्य कर भागवतकार ने कहा है :—

"त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम्"

परमानन्ददास जी ने जहां वैधी भक्ति की चर्चा की है वहां गोपीभाव की भी चर्चा की है। "अन्यपूर्वा" गोपी इसी कोटि की भावुक भक्ताएं हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर परमानंददास जी कहते हैं :—

"परमानन्द स्वामी मन मोहन, श्रुति मर्यादा पेली।"

यहां लोक वेद से परे प्रेम-लक्षणा भक्ति निरोध रूपा है। इसी गोपी प्रेम की प्रशंसा ज्ञानी भक्त शुक और व्यास जैसे भक्त किया करते हैं।

इनमें राग अथवा संगीत की सेवा के लिए अपने पूज्य पिता के चार शिष्यों और चार अपने शिष्यों को सम्मिलित कर अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के यही आठ कवि महानुभाव सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' अथवा 'अष्टकीर्तन वारे' अथवा 'अष्टकाव्य बारे' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्ट-छाप शब्द का कहीं भी व्यवहार नहीं किया। सम्प्रदाय में ही उन्हें लगभग १६८६ तक 'अष्टकाव्यबारे' पुकारा जाता रहा है। संवत् १६९७ की प्राचीन-वार्ता प्रति में सर्व प्रथम अष्टछाप शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः अनुमान किया जाता है कि सर्व-प्रथम इस शब्द को लिखित रूप प्रभु चरण गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने दिया और इस प्रकार यह शब्द सम्प्रदाय द्वारा ही प्रचलित किया गया।

अष्टछाप के ये कवि-गण जिन्हें भगवान् के प्रति सख्यासक्ति के कारण अष्ट-सखा कहा जाता रहा है, मुख्य रूप से भक्त (उपासक) कवि, संगीतज्ञ एवं कीर्तनकार थे। ये लोग भगवल्लीला-गान को अपना लक्ष्य मानकर भगवत्प्रेम की शाश्वत भावना में निश्चिन्त, एक ऐसे दिव्य भाव-लोक में विचरण किया करते थे जो केवल अनुभव-गम्य है। इनके पदों के आध्यात्मिक प्रभाव ने धर्म, साहित्य और कला की त्रिवेणी से आर्यावर्त में पद-पद पर प्रयाग की सृष्टि कर दी है।

साम्प्रदायिक महत्त्व की दृष्टि से अष्टछाप के आठों ही कवि भगवान् श्री गोवर्धन नाथ जी के नित्य-सखा एवं उनकी नित्य-लीला के सहचर हैं और रात्रि में वे ही श्री स्वामिनी जी की सखियाँ हैं। इन सब की इस भावनात्मक महत्ता की चर्चा सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ वार्ता-साहित्य पर लिखे गए हरिराय जी के टिप्पण-भावप्रकाश में मिलती है। वार्ता-साहित्य सम्प्रदाय के विशाल बौद्धिक प्रासाद की आधारशिला है। जिसके आद्य-प्रणेता स्वयं आचार्य वल्लभ, वक्ता श्री दामोदरदास हरसानी, विकास-कर्त्ता गोस्वामी विट्ठलनाथ जी, प्रचारक गोवर्धनदास, लेखबद्ध करने वाले श्रीकृष्ण भट्ट एवं चौरासी तथा दो सौ बावन की संख्याओं में वर्गीकृत करके उनको वर्तमान विशद रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रभु चरण गोस्वामी श्री गोकुलनाथ जी और इन समग्र वार्ताओं पर भावात्मक टिप्पण देने वाले सम्प्रदाय के एकमात्र मर्मज्ञ प्रभु चरण हरिराय जी हैं। उनमें अष्टसखाओं की चर्चा बडे आदर और सम्मान के साथ की गई है। उन्हें श्री गोवर्धननाथ जी के नित्य सहचर होने का गौरव प्राप्त है। श्री गिरि-राज उनकी नित्य लीला भूमि है। श्री गिरिराज स्वयं श्रीकृष्ण का ही पर्वत रूप है। श्री गिरिराज के नित्य निकुञ्ज के आठ द्वारों पर ये आठ सखा स्थित रहकर भगवान् की नित्य सेवा में तत्पर रहते हैं। इन सखाओं की चर्चा भागवत में इस प्रकार आई है:—

श्री दामा नाम गोपालो केशवयोः सखा।
सुबल स्तोक कृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥

भाग० १०॥ १५।

कल्पना भी है जिसमें भगवन्माहात्म्य, भक्त की दीनता, भगवान् की अतुलित सामर्थ्य और कृपावत्सलता की चर्चा है। इस प्रकार कहीं तो कवि ने तत्परता के साथ भागवत का अनुसरण किया है और कहीं वह स्वतंत्र हो गया है। राधा की चर्चा के अतिरिक्त उद्धव प्रसंगादि में कुछ ऐसे प्रकरण हैं जो नितान्त भागवत-निरपेक्ष हैं।

परमानंद सागर में कृष्ण, राधा, गोपियाँ और रास :—

परमानंददास जी का संपूर्ण काव्य पुष्टि संप्रदाय की चरम मर्यादा लिए हुए है। आचार्य वल्लभ से आत्म निवेदन करने के उपरान्त वे संप्रदाय से इतने अभिभूत हो गये थे कि उसके राजमार्ग को छोड़कर वे एक इंच भी इधर-उधर नहीं भटके। अतः कृष्ण, राधा, गोपी, रास, मुरली आदि सभी विषयों में उनकी सम्प्रदायानुकूल मान्यताएं उपलब्ध होती हैं।

कृष्ण :—

परमानंददास जी के कृष्ण, सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुकूल रसात्मा, रसेश, भावनिधि, परमकारुणिक ब्रह्म हैं जो निकुञ्ज-लीला-नायक हैं जिनके विषय में श्रीमद्भागवत का कथन है—एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। इधर परमानन्ददास जी भी कहते हैं :—

वसुधा भार उतारन कारन प्रगट ब्रह्म बैकुण्ठ निवासी।

अतः वह भुवन-चतुर्दश-नायक लीलावतारी निकुञ्ज नायक हैं।

राधा :—

परमानन्ददास जी ने कृष्ण की भांति राधा की भी बधाई गाई है और राधा को कृष्ण की प्रिया, स्वामिनी, स्वकीया एवं ह्लादिनी शक्ति माना है। राधा तत्त्व उन्होंने आचार्य चरण से ही ग्रहण किया है। भागवत के 'अनयाराधितोनूनम्' में राधा की खींचतान है। राधा की चर्चा श्रीमद्भागवत को छोड़कर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, भविष्य पुराण, पद्म पुराण, स्कंध पुराण, देवीभागवत, नारद पांचरात्र, निर्वाण तंत्र, राधा तंत्र आदि में मिलती है। इनमें बहुत से ग्रंथ आचार्य वल्लभ के पूर्व के हैं। अतः आचार्य ने 'गोपीभाव' को श्रीमद्भागवत से तथा राधातत्त्व अन्यान्य पुराणों से लिया है। राधा विषयक आचार्य का प्रभाव उनके दोनों शिष्यों अथवा 'सागरों' पर भी स्पष्ट है। 'राधा तत्त्व' इतना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है कि परिवृढ़ाष्टक में आचार्य ने एक 'पशुपजा' अथवा गोपकन्या की चर्चा की है। वह अन्य कोई नहीं, भगवान् कृष्ण की आद्याशक्ति राधा ही है। परमानन्ददास जी ने राधा को भी कृष्ण की भांति रसेश्वरी एवं रासेश्वरी माना है।

इनमें राग अथवा संगीत की सेवा के लिए अपने पूज्य पिता के चार शिष्यों और चार अपने शिष्यों को सम्मिलित कर अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के यही आठ कवि महानुभाव सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' अथवा 'अष्टकीर्तन वारे' अथवा 'अष्टकाव्य वारे' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्ट-छाप शब्द का कहीं भी व्यवहार नहीं किया। सम्प्रदाय में ही उन्हें लगभग १६८६ तक 'अष्टकाव्यवारे' पुकारा जाता रहा है। संवत् १६६७ की प्राचीन-वार्ता प्रति में सर्व प्रथम अष्टछाप शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः अनुमान किया जाता है कि सर्व-प्रथम इस शब्द को लिखित रूप प्रभु चरण गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने दिया और इस प्रकार यह शब्द सम्प्रदाय द्वारा ही प्रचलित किया गया।

अष्टछाप के ये कवि-गण जिन्हें भगवान् के प्रति सख्यासक्ति के कारण अष्ट-सखा कहा जाता रहा है, मुख्य रूप से भक्त (उपासक) कवि, संगीतज्ञ एवं कीर्तनकार थे। ये लोग भगवल्लीला-गान को अपना लक्ष्य मानकर भगवत्प्रेम की शाश्वत भावना में निश्चिन्त, एक ऐसे दिव्य भाव-लोक में विचरण किया करते थे जो केवल अनुभव-गम्य है। इनके पदों के आध्यात्मिक प्रभाव ने धर्म, साहित्य और कला की त्रिवेणी से आर्यावर्त में पद-पद पर प्रयाग की सृष्टि कर दी है।

साम्प्रदायिक महत्त्व की दृष्टि से अष्टछाप के आठों ही कवि भगवान् श्री गोवर्धन नाथ जी के नित्य-सखा एवं उनकी नित्य-लीला के सहचर हैं और रात्रि में वे ही श्री स्वामिनी जी की सखियाँ हैं। इन सब की इस भावनात्मक महत्ता की चर्चा सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ वार्ता-साहित्य पर लिखे गए हरिराय जी के टिप्पण-भावप्रकाश में मिलती है। वार्ता-साहित्य सम्प्रदाय के विशाल बौद्धिक प्रासाद की आधारशिला है। जिसके आद्य-प्रणेता स्वयं आचार्य वल्लभ, वक्ता श्री दामोदरदास हरसानी, विकास-कर्ता गोस्वामी विट्ठलनाथ जी, प्रचारक गोवर्धनदास, लेखबद्ध करने वाले श्रीकृष्ण भट्ट एवं चौरासी तथा दो सौ बावन की संख्याओं में वर्गीकृत करके उनको वर्तमान विशद रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रभु चरण गोस्वामी श्री गोकुलनाथ जी और इन समग्र वार्ताओं पर भावात्मक टिप्पण देने वाले सम्प्रदाय के एकमात्र मर्मज्ञ प्रभु चरण हरिराय जी हैं। उनमें अष्टसखाओं की चर्चा बड़े आदर और सम्मान के साथ की गई है। उन्हें श्री गोवर्धननाथ जी के नित्य सहचर होने का गौरव प्राप्त है। श्री गिरि-राज उनकी नित्य लीला भूमि है। श्री गिरिराज स्वयं श्रीकृष्ण का ही पर्वत रूप है। श्री गिरिराज के नित्य निकुञ्ज के आठ द्वारों पर ये आठ सखा स्थित रहकर भगवान् की नित्य सेवा में तत्पर रहते हैं। इन सखाओं की चर्चा भागवत में इस प्रकार आई है :—

श्री दामा नाम गोपालो केशवयोः सखा ।
सुबल स्तोक कृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥

भाग० १०॥१५।

कल्पना भी है जिसमें भगवन्माहात्म्य, भक्त की दीनता, भगवान् की अतुलित सामर्थ्य और कृपावत्सलता की चर्चा है। इस प्रकार कहीं तो कवि ने तत्परता के साथ भागवत का अनुसरण किया है और कहीं वह स्वतंत्र हो गया है। राधा की चर्चा के अतिरिक्त उद्धव प्रसंगादि में कुछ ऐसे प्रकरण हैं जो *नितान्त भागवत-निरपेक्ष हैं।*

परमानंद सागर में कृष्ण, राधा, गोपियाँ और रास :—

परमानंददास जी का संपूर्ण काव्य पुष्टि संप्रदाय की चरम मर्यादा लिए हुए है। आचार्य वल्लभ से आत्म निवेदन करने के उपरान्त वे संप्रदाय से इतने अभिभूत हो गये थे कि उसके राजमार्ग को छोड़कर वे एक इंच भी इधर-उधर नहीं भटके। अतः कृष्ण, राधा, गोपी, रास, मुरली आदि सभी विषयों में उनकी सम्प्रदायानुकूल मान्यताएं उपलब्ध होती हैं।

कृष्ण :—

परमानंददास जी के कृष्ण, सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुकूल रसात्मा, रसेश, भावनिधि, परमकारुणिक ब्रह्म हैं जो निकुञ्ज-लीला-नायक हैं जिनके विषय में श्रीमद्भागवत का कथन है—एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। इधर परमानन्ददास जी भी कहते हैं :—

वसुधा भार उतारन कारन प्रगट ब्रह्म बैकुण्ठ निवासी।

अतः वह भुवन-चतुर्दश-नायक लीलावतारी निकुञ्ज नायक हैं।

राधा :—

परमानन्ददास जी ने कृष्ण की भाँति राधा की भी बधाई गाई है और राधा को कृष्ण की प्रिया, स्वामिनी, स्वकीया एवं ह्लादिनी शक्ति माना है। राधा तत्त्व उन्होंने आचार्य चरण से ही ग्रहण किया है। भागवत के 'अनयाराधितोनूनम्' में राधा की खींचतान है। राधा की चर्चा श्रीमद्भागवत को छोड़कर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, भविष्य पुराण, पद्म पुराण, स्कंध पुराण, देवीभागवत, नारद पांचरात्र, निर्वाण तंत्र, राधा तंत्र आदि में मिलती है। इनमें बहुत से ग्रंथ आचार्य वल्लभ के पूर्व के हैं। अतः आचार्य ने 'गोपीभाव' को श्रीमद्भागवत से तथा राधातत्त्व अन्यान्य पुराणों से लिया है। राधा विषयक आचार्य का प्रभाव उनके दोनों शिष्यों अथवा 'सागरों' पर भी स्पष्ट है। 'राधा तत्त्व' इतना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है कि परिवृढ़ाष्टक में आचार्य ने एक 'पशुपजा' अथवा गोपकन्या की चर्चा की है। वह अन्य कोई नहीं, भगवान् कृष्ण की आद्याशक्ति राधा ही है। परमानन्ददास जी ने राधा को भी कृष्ण की भाँति रसेश्वरी एवं रासेश्वरी माना है।

६. परमानन्द दास जी कौ पद ।

७. परमानन्द सागर ।

उपर्युक्त ग्रंथों में पहले ५ ग्रंथ अनुपलब्ध हैं । छठा ग्रंथ सातवें का ही अंग है । परमानन्द सागर जो उनके भक्तों द्वारा उनके पदों के संग्रह के लिए दिया हुआ नाम है, उनकी सर्वमान्य रचना ठहरती है । संभव है पहले चार ग्रंथ 'सागर' के ही अंश रहे हों, बाद में उन्हें 'सागर' से पृथक् करके अलग से ग्रंथ का रूप दिया गया हो ।

दीर्घकाल तक कवि का काव्य मौखिक परम्परा की सीमा में ही आबद्ध रहा । परमानन्द सागर में कवि ने मुख्यतः दशमस्कंध की निरोध लीला का ही गान किया है । उसमें भी वह पूर्वार्ध तक ही सीमित रहा है । लगभग ६५ विषयों पर कवि के १५०० से ऊपर पद कहे जाते हैं ।

उनके पदों के विषय मुख्य रूप से बाल, पौगंड एवं किशोर लीला, गोपी भाव, युगल लीला, आदि ही हैं । भगवान् कृष्ण की रसमयी भावात्मक लीलाओं के अतिरिक्त अन्य विषयों पर उन्होंने पद रचना नहीं की ।

उनके पदों के तीन क्रम मिलते हैं :—

१. वर्षोत्सव क्रम ।

२. नित्यलीला क्रम ।

३. भागवत के प्रसंगानुकूल पद एवं विनय आदि के प्रकीर्ण पद ।

कवि की रुचि मुख्यतः भगवान् कृष्ण के बाल, पौगण्ड और किशोर लीलाओं में ही थी । अतः इन्हीं तीन लीलाओं के सर्वाधिक पद उपलब्ध होते हैं । कवि का बहुत सा साहित्य काल के कराल गाल में समाविष्ट हो गया । वह भी सूरदास जी की भांति गोवर्धननाथ जी के मन्दिर का कीर्तनिया था । अतः कीर्तन सेवा के ७०-७२ वर्षों में उसने लाखों पदों की रचना की होगी, परन्तु अब तो पद संख्या कुल मिलाकर लगभग १४००-१५०० तक ही पहुँचती है ।

दार्शनिक विचार :—

अष्टछाप के कवियों का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण नहीं था, वे अहर्निश कीर्तन सेवा में आसक्त रहने के कारण भगवान् के लीला गान को ही महत्त्व देते थे । उनके प्रभु जन-ताप निवारणार्थ ही इस भूलोक में अवतीर्ण होते हैं और विविध मानवीय लीला करते हुए भक्तों के चित्तों को अनुरंजित करते हुए दुष्ट दलन भी करते हैं और इस प्रकार भक्त-मन-रंजन-कारिणी-लीला के साथ लोकानुग्रहरूप अवतार हेतु की सिद्धि करते हैं । भक्तों का उद्देश्य था कि भगवान् का महत्त्व सांसारिक जनों द्वारा विस्मृत न कर दिया जाए इसलिये बीच-बीच में ये भक्त-गण उनका पूर्ण पुरुषोत्तमत्व अथवा पूर्णब्रह्मत्व भी प्रतिपादित करते चलते हैं । ...ार

रास :—

भागवत में रास लीला प्रसंग पर पाँच अध्याय हैं। इस 'चारु क्रीड़ा' का एक आध्यात्मिक रहस्य है। परमानन्ददास जी ने रास क्रीड़ा का वर्णन भागवत के आधार पर किया है। अतः रास के अलौकिकत्व का उन्होंने संकेत दिया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि परमानन्ददास जी के लीला विषयक पद मुख्यतः श्रीमद्भागवत के आधार पर हैं। उन्होंने भगवान् कृष्ण की बाल, पौगंड और किशोर लीला का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है। अपने लीला विषयक पदों में से वे अपनी स्वाभाविक कल्पना, मौलिकता के साथ आचार्यकृत सुबोधिनी पर समाश्रित हैं।

महारास में उन्होंने अन्यपूर्वा अनन्यपूर्वा दोनों ही प्रकार की गोपिकाओं का समावेश किया है। सभी गोपियाँ 'कान्ताभाव' में लीन हैं। उस 'चारु क्रीड़ा' को देखकर नभ में देवगण भी अपने विमान संचालन को भूल गए हैं—

'सूर विमान सब कौतुक भूले कृष्ण केलि परमानन्ददास।'

गोपिकाएँ लोक वेद की कानी भुलाकर महारास में सम्मिलित हुई हैं। भागवतकार कहते हैं कि जो लोग इस कृष्ण क्रीड़ा का गान करेंगे उन्हें पराभक्ति की प्राप्ति होगी। परमानन्ददास जी ने भी रास-वर्णन पराभक्ति के प्राप्त करने की दृष्टि से ही लिखा है। उनके दो ही प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—रासक्रीड़ा तथा गोवर्धनधारण। रसात्मा, रसेश श्रीकृष्ण की यह 'चारु क्रीड़ा' उन्होंने कहीं भागवत सापेक्ष और कहीं भागवत निरपेक्ष लिखी है। ललिता, चन्द्रावली, राधादि सहचारियों की चर्चा उन्होंने भागवत से पूर्ण स्वतन्त्र होकर की है। उनका रास-लीला वर्णन दिव्य है। इसमें कृष्ण की काम पर पूर्णतः विजय है—

'चंदन मिटत सरस उर चंदन देखत मदन महीपति भूलो।

संक्षेप में वे भागवतकार के मूल भावों की सुरक्षा के साथ अपनी मौलिकता नहीं भूले हैं।

काव्य-पक्ष :—

अष्टछापी भक्त कवियों का मुख्य उद्देश्य कविता करना नहीं अपितु भगवल्लीला-गायन द्वारा कीर्तन सेवा करना था। अतः वे मुख्य रूप से भक्त एवं कीर्तनकार हैं, कवि नहीं। फिर भी सहस्रावधि गेय पदों की रचना करने से उनका कवि रूप स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। भगवान् की लोकपावनी लीला गान के कारण उनका कवि रूप 'सहज संभाव्य' हो गया था। काव्य वस्तु के माधुर्य के कारण वे भक्त,

जीव :—

परमानन्ददास जी ने ब्रह्मवाद के अनुकूल जीव के अंशांशी भाव के अनुसार बड़ी सुन्दर चर्चा की है। वे जीव की स्थिति भक्ति के लिये ही मानते हैं अन्यथा जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं।

चरण-कमल हित प्रीति करि सेवा निरबाहीं।
× × ×
जीव ब्रह्म अन्तर नहीं, मणि कंचन जैसे।
जल तरंग, प्रतिमा शिला, कहिबे को ऐसे ॥

जीव ब्रह्म में मणिकंचन की भाँति कोई अन्तर नहीं है। जल और उसकी तरंग तत्वतः एक है, केवल षडैश्वर्यादि का अभाव अथवा आनंदांश के तिरोहित हो जाने के कारण उसकी संज्ञा जीव हुई। नाम रूप का भेद मात्र है। जीव अविद्या-ग्रस्त है।

परमानन्द भजन विन साधै बंध्यो अविद्या कूटै।

अविद्या से ही यह जीव माया, ममता में फंसा हुआ आत्म-स्वरूप किंवा भगवत्स्वरूप को भूला हुआ है। अन्यथा तत्वतः है ब्रह्म ही।

जगत् :—

जगत् ब्रह्मवाद में ब्रह्म का कार्य-रूप है।
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान्साक्षात् प्रधान-पुरुषेश्वरः ॥ भाग०

परमानन्ददास जी ने उसे 'मोहन रूप जगत केरो' कहा है। संसार को उन्होंने जगत् से पृथक् माना है। जहाँ जगत् 'हरिस्वरूप ठहरात' है वहाँ संसार मोह-सागर है जिसमें जीव वेठिकाने बहा जा रहा है।

बह्यो जात मोहि राखि लियो है।
पिय संग हाथ गहायो ॥

इस प्रकार भवसागर से तरने के लिए गुरु के पादपद्म ही पोत स्वरूप हैं।

गुरु को निहारि पोत पद अम्बुज भव सागर तरिबे के हेत।

अतः संसार जगत् से पृथक्, दुखों का मूल, ममता अहंता अज्ञान स्वरूप और क्लेशदायक है जबकि जगत् कार्य में ब्रह्म का स्वरूप ही है।

माया :—

इसके दो स्वरूप हैं :—

१. या जगत्कारणभूताभगवच्छक्तिः सा योगमाया।

यह योगमाया ऐश्वर्यादि षड्धर्मों से युक्त है किन्तु :—

गेय पदों में प्रस्तुत करने का प्रधान कारण था—आचार्य का कीर्तन सेवा का आदेश। भगवान् गोवर्धननाथ जी के समक्ष राग सेवा करते हुए लीलात्मक अनंत पद इनके मुख से निस्सृत होते थे, उन्हें स्वान्तःसुखाय से पहले भगवत्सुखाय गान करना ही इनका लक्ष्य था। साहित्यिक दृष्टिकोण अथवा भगवच्चरित वर्णन परंपरा को आगे न बढ़ाकर इन्हें कीर्तन परंपरा को ही आगे बढ़ाना था। दूसरे, ये लोग सख्य-भाव के उपासक थे। तीसरे, कृष्ण चरित जितना मुक्तक गेय शैली के अनुकूल पड़ता है उतना प्रबन्ध शैली के लिए नहीं। इसलिए ये दोनों 'सागर' भागवतप्रसंगों को स्वतन्त्र मुक्तक पदों में निबद्ध कर संगीतात्मकता के साथ श्रीनाथ जी के चरणों में विनियोग कर दिया करते थे।

पदों का भाव-पक्ष :—

कवि मुख्यतः शृंगार रस के दोनों पक्ष—संयोग एवं विप्रलंभ—का ही कवि है। परन्तु भगवान् की बाल लीला एवं पौगण्ड लीलाएं भी उसके प्रिय विषय रही हैं। अतः उसके पदों में वात्सल्य भाव का भी उच्चकोटि का चित्रण हुआ है। बाल चेष्टा, बाल स्वभाव के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम चित्रण द्वारा उसने वात्सल्य-भाव को रस कोटि तक पहुँचा दिया है। बाल-दशा के वर्णन में कवि की उच्चकोटि की चित्रोपमता सूर की कोटि की है। बाल-मनोविज्ञान में वह सूर की भाँति पंडित है। प्रत्येक वर्णन में उच्चकोटि की सजीवता, मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता के साथ पाठक को तन्मय कर देने की क्षमता है। यदि अंतिम पंक्ति में से कवि का नाम हटा दिया जाय तो पदों में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। साथ ही कवि ने पाँच से सात वर्ष तक की अवस्था के इतने मनोहर मधुर सरस चित्रोपम प्रसंग प्रस्तुत किये हैं कि पाठक रसमय होकर एक निराले भाव-लोक में विचरने लगता है। माता की ममता के इतने सरस, मधुर चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं।

रस व्यंजना :—

परमानन्ददास जी ने विशेषकर शृंगार के उभय पक्षों को लिया है। भगवान् की किशोर लीला, राधा के साथ प्रथम परिचय तदुपरान्त अनुदिन व वृद्धिगत प्रेम के क्रमिक विकास का जो मोहक चित्र कवि ने दिया है वह साहित्य की अनुपम निधि तो है ही, रसमय अनुभूतियों की पराकाष्ठा भी है। प्रेम के विविध रूपों एवं अनुभूतियों के नाना मार्मिक पक्षों के उद्घाटन में कवि की वृत्ति जितनी रमी है उतनी अन्य किसी रस में नहीं। संयोग के सुरतान्त वर्णन के उपरान्त मान और प्रवास-जनित सभी प्रकार के विरह वर्णन में कवि ने मानों हृदय निकालकर रख दिया है। यहाँ रसराज शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

इसी स्वरूपानन्द में उन्हें 'निरोध' की प्राप्ति होती है।

निरोधः—

आचार्य वल्लभ ने अपने निरोध-लक्षण ग्रन्थ में "भगवद्विरहानुभूति" को निरोध-स्थिति बतलाया है। अन्ततोगत्वा उनके निरोध की परिभाषा पातंजल योग सूत्रकार की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से मेल खा जाती है क्योंकि प्रेम की चरमानुभूति में निखिल चित्तवृत्तियों का लगाव प्राणाधिक प्रियतम में हो जाता है और इस प्रकार पातंजल योग सूत्र की परिभाषा भी वहां सही बैठ जाती है परन्तु भागवत धर्म का अवलम्बन लेने वाले भक्तों का निरोध साधन-मार्ग की रुक्षता, क्लिष्टता से भिन्न सौंदर्य माधुर्य प्रेमानुभूतियों से तन्मय संयोग वियोगों की दशाओं से परिपूर्ण होता है।

कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता मुक्ता भवंति ।—निबंध

भक्त-प्रवर परमानन्ददास जी ने साम्प्रदायिक निरोध तत्व को ही अंगीकार किया है। उन्होंने भगवल्लीला शक्ति को ही निरोध स्थिति माना है। आचार्य द्वारा दशमस्कंध की अनुक्रमणिका श्रवण कर उसी के अनुचिंतन में रत होकर अपनी मानस-भूमि को कृष्ण-लीलामय ही देखा करते थे और उसी स्थिति में वे बाह्य जगत् से उपरत होकर मनोराज्य में विचरण करते हुए कभी प्यारे कृष्ण के साथ मिलन सुख का अनुभव करते थे और कभी प्रियतम कृष्ण के वियोग में 'क्वाऽसि क्वाऽसि' चिल्ला उठते थे। "हरि तेरी लीला की सुधि आवे" में उनका वही मन्तव्य है जो आचार्य का 'निरोध-लक्षण' में "यच्च दुःखं यशोदायाः"—के कथन करने में है। एक प्रकार से भगवल्लीला ही निरोध-रूपा है। यही आचार्य के शिष्य सूरदास और परमानन्ददास आदि के लीलागान का लक्ष्य था। इसीलिए दशमस्कंध का विषय 'निरोध' अथवा जीव का लय रखा है। इसी को आचार्य ने अपने इन दो शिष्यों के हृदय में स्थापित किया था। भगवान् की बाल-लीला निरोध-कारिणी है। बाल-लीला में मन बड़ी शीघ्रता के साथ लय होता है। यह स्वरूपासक्ति है। परमानन्ददास जी में स्वरूपासक्ति-जन्य निरोध, लीला-परक निरोध, और विप्रयोग-जन्य निरोध तीनों प्रकार की निरोध स्थिति के उदाहरण मिल जाते हैं।

परमानन्ददास जी की भक्ति :—

परमानन्ददास जी भक्त पहले हैं, कवि एवं गायक अथवा कीर्तनकार पीछे। उन्होंने भारतीय तत्त्व-चिंता के अन्तर्गत भक्ति-मार्ग की सुगम व्यावहारिकता को ही पसन्द किया और उसे ही अपनाया है।

भारतीय साधना-क्षेत्र में प्रेम-साधना या भक्ति-साधना उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव स्वयम्। आर्य सभ्यता का उषःकाल भक्ति-साधना की ही अरुणिमा से ही रक्ताभ था वही रक्तिमा ज्ञान, कर्म और उपासना सभी के लिए प्रेरणादात्री बनी। अतः भक्ति-साधना उतनी ही पुरातन है जितनी कि मानव की अन्य भावनाएं।

"परमानन्ददास गोपिन की प्रेम कथा शुक व्यास कही री।"

यही उज्ज्वल भक्ति है :—

जो रस निगम नेति भाख्यौ।
ताकौं तैं अधरामृत चाख्यौ।।

अतः गोपिकाएं प्रेम के क्षेत्र में सर्वोच्च हैं :—

"गोपी प्रेम की धुजा"

भक्ति के दोनों रूप वैधी एवं रागानुगा के अतिरिक्त परमानन्ददास जी में षड्विधा शरणागति, द्विविध आसक्तियां—स्वरूपासक्ति एवं लीलासक्ति के भी दर्शन होते हैं। भक्ति की सातों भूमिकाएं, दीनता, मानमर्पिता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा सभी के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार तीनों प्रकार की प्रपत्तियां :—

१. भगवान् द्वारा भक्त का स्वीकार।

२. भक्तकृत भगवान् का स्वीकार।

३. भक्त और भगवान् दोनों का परस्पर स्वीकार आदि सभी उदाहरण उनमें मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षयिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्म निक्षेपमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।।

आदि सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

परमानन्ददास जी के काव्य में भक्ति, प्रपत्ति के सभी स्वरूपों के अतिरिक्त नारदीय भक्ति सूत्रोक्त एकादश आसक्तियों के भी दर्शन होते हैं। यद्यपि स्वरूपासक्ति एक तथा अखण्ड हैं तथापि गुण माहात्म्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति आदि सभी के उदाहरण उनके काव्य में मौजूद हैं।

भक्ति तत्व के निरूपण में कवि ने उसके सभी पोषक अंगों को यथा-स्थान समाविष्ट किया है। अतः नाम-माहात्म्य, गुरु-महिमा, अनन्यता, सम्प्रदाय के प्रति चरम आस्था, गुरुमंत्र में अगाध विश्वास, सत्संग और षडंग-सेवा-साधना, सभी को परमानन्ददास जी ने मुख्यता दी है। उन्होंने भगवन्नाम को सर्वोपरि, सर्व समर्थ, सर्व-कल्मपापह माना है।

"काम धेनु हरि नाम लियो।" आदि में यही भावना है। भक्ति की पोषिका वा को भी कवि भूला नहीं। उसने सेवा को बड़ा महत्त्व दिया है। स्वयं वह श्री-

उनके काव्य में चित्रोपम, मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य वर्णन, सूक्ष्म निरीक्षण पद-पद पर मिलते हैं। प्रकृति चित्रण में व्रज के निसर्ग रमणीय स्थानों की चर्चा में वन, वृक्ष, लता, पुष्प, सरोवर, यमुना, पुलिन, कछार, शैलराज गिरिराज, चंद्र-ज्योत्स्ना आदि से समन्वित प्रकृति के सुन्दरतम अंक में रसराज, रसेश, श्री कृष्ण की लोक रंजक लीलाओं की रमणीय भूमि व्रज का कवि ने अत्यन्त नयनाभिराम वर्णन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पशु विज्ञान के सूक्ष्म निरीक्षण में कवि का पांडित्य दर्शनीय है। गौओं की विशिष्ट चेष्टाएँ और गोप-वृन्द के गो-चारण के प्रसंग कवि के प्रिय विषय रहे हैं। उसी प्रकार रास क्रीड़ा और उत्फुल्ल मल्लिका वाली शारदीय ज्योत्स्नामयी राका के सौन्दर्य को लेकर कवि ने बड़े दिव्य वातावरण की सजीव सृष्टि करने की भरपूर चेष्टा की है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उनकी प्रकृति के चित्र आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही विभावों के अन्तर्गत मिल जाते हैं। वे शृंगार और प्रेम के भावुक कवि हैं अतः प्रकृति चित्रण उद्दीपन विभाव के रूप में भी पर्याप्त रूप से आया है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत उन्होंने अपनी समसामयिक परम्परा का निर्वाह किया है। कवि ने लीला-गान का लक्ष्य ही मुख्य रखा है अतः प्रकृति चित्रण को अन्य कवियों की अपेक्षा कम महत्त्व दिया है। परमानन्ददास जी का प्रकृति चित्रण अतिरंजित नहीं हुआ है। भावोद्रेक, स्वरूप बोधन तथा रस परिपाक की दृष्टि से बाह्य प्रकृति का उपयोग परम्परागत उपमानों के लिए भी कवि ने किया है।

कला पक्ष :—

परमानन्ददास जी के पदों में वस्तु का भाव-गांभीर्य एवं भाव-सौन्दर्य जहाँ सूर के टक्कर का विद्यमान है वहाँ उनका कलापक्ष भी उतना ही उत्कृष्ट है। कलापक्ष में हम उनके अलंकार विधान, छन्द विधान और भाषा सौष्ठव की चर्चा करते हैं। भावानुभूति की स्थिति में यद्यपि इन भक्त कवियों ने अलंकार, छन्द, गुण दोषादि की परवाह नहीं की है तथापि इनकी रचना में ये सब अनायास ही आए हैं। बरबस नहीं ठूंसे गए। शब्दालंकार के कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं—

अनुप्रास—१. बंदो सुखद श्री बल्लभ चरन,
अमल कमल हू ते कोमल कलिमल हरन।

२. तरनि-तनया तट बंसीबट निकट वृन्दावन बीथिन बहायो।

वीप्सा—परम सनेह बढ़ावत मातनि रबकि रबकि बैठत चढ़ि गोद।

यमक—तिलभर संग तजत नहीं निजजन गान करत मनमोहन जस को,
तिल तिल भोग भरत मन भावत परमानंद सुख लै यह रस को।

श्लेष—ह्वांतो कोऊ हरि की भांति बजावत गोरी।

"परमानन्ददास गोपिन की प्रेम कथा शुक व्यास कही री।"

यही उष्ण भक्ति है :—

जो रस निगम नेति भाख्यो।
ताकौं तैं अधरामृत चाख्यो॥

अतः गोपिकाएं प्रेम के क्षेत्र में सर्वोच्च हैं :—

"गोपी प्रेम की धुजा"

भक्ति के दोनों रूप वैधी एवं रागानुगा के अतिरिक्त परमानन्ददास जी में षड्विधा शरणागति, द्विविध आसक्तियां—स्वरूपासक्ति एवं लीलासक्ति के भी दर्शन होते हैं। भक्ति की सातों भूमिकाएं, दीनता, मानमर्पिता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा सभी के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार तीनों प्रकार की प्रपत्तियां :—

१. भगवान् द्वारा भक्त का स्वीकार।

२. भक्तकृत भगवान् का स्वीकार।

३. भक्त और भगवान् दोनों का परस्पर स्वीकार आदि सभी उदाहरण उनमें मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षयिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्म निक्षेपमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥

आदि सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

परमानन्ददास जी के काव्य में भक्ति, प्रपत्ति के सभी स्वरूपों के अतिरिक्त नारदीय भक्ति सूत्रोक्त एकादश आसक्तियों के भी दर्शन होते हैं। यद्यपि स्वरूपासक्ति एक तथा अखण्ड हैं तथापि गुण माहात्म्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति आदि सभी के उदाहरण उनके काव्य में मौजूद हैं।

भक्ति तत्व के निरूपण में कवि ने उसके सभी पोषक अंगों को यथा-स्थान समाविष्ट किया है। अतः नाम-माहात्म्य, गुरु-महिमा, अनन्यता, सम्प्रदाय के प्रति चरम आस्था, गुरुमंत्र में अगाध विश्वास, सत्संग और षडंग-सेवा-साधना, सभी को परमानन्ददास जी ने मुख्यता दी है। उन्होंने भगवन्नाम को सर्वोपरि, सर्व समर्थ, सर्व-कल्मषापह माना है।

"काम धेनु हरि नाम लियो।" आदि में यही भावना है। भक्ति की पोषिका 'सेवा' को भी कवि भूला नहीं। उसने सेवा को बड़ा महत्त्व दिया है। स्वयं वह श्री-

काव्यार्थापत्ति—राधा माधौ बिनु क्यों रहै।

काव्यलिंग— श्रवनन कुसुम जराऊ राजै लर द्वै द्वै दुहुं ओर।
चल दल पत्र प्रवाल व्रज सो कौधन कंपित जोर।

अर्थान्तरन्यास—बदरिया तू कित व्रज पर घोरी।
परमानन्द प्रभु सो जीवै जाकी बिछुरी जोरी।

पर्यायोक्ति— सो को जो न करी बस अपने जा तन में कहसि चितैया।
परमानंद प्रभु कुंवर लाड़िलो अबहि कछु भींजत मसिया॥

अन्योक्ति— सरिता सिंधु मिली परमानन्द एक टक बरस्यो नेह।

अतिशयोक्ति— कमल नयन के एक रोम पर वारौं कोटि मनोज।

लोकोक्ति— माधौं सों कत तोरिए।
काजै प्रीति स्याम सुन्दर सों बैठे सिंह न रोरिये।

स्वभावोक्ति— लाल अंगूठा गहि कमल पानि मेलत मुख मांहि।
अपनो प्रतिबिंब देखि मुसुकाहीं॥

छन्द

यति, गति, और लयादि के नियमित बंधन का ही नाम छन्द-विधान है। अपने गेय पदों को परमानन्ददास जी ने अनेक छन्दों में बांधा है। प्रसंगों के अनुकूल ही छन्दों का विधान किया गया है। उनकी रचना में कुकुभ, विष्णु-पद, शंकर, सिंह, सार, ताटंक, चवपैया, प्रिय, रोला, विलास, हरिगीतिका, झूलना, चौपाई, दोहे, रोला, रूपमाला, समान चवपैया, लावनी, सखी, हंसाल, विजया आदि छंद मिलते हैं। कवि पर विदेशी छंद शैली का प्रभाव है। छंदों में मात्राओं की अपेक्षा गति और संगीतात्मकता का ही विशेष ध्यान रखा गया है। संगीत के बंधन में कभी-कभी यति-भंग, मात्रा-भंग की चिंता नहीं की गई है। फिर भी सब कुछ अद्वितीय है। कवि ने अपने समय में प्रचलित सभी सम-विषम मात्रिक छंदों के प्रयोग किए हैं, छंदों में मात्राओं की अपेक्षा उन्होंने गति और संगीतात्मकता का ही विशेष ध्यान रखा है। रसिए, लावनी, चौबोले आदि व्रज के प्रसिद्ध गाए जाने वाले पदों को ही वे अधिक पसंद करते हैं। वे समसामयिक वैष्णव भक्त जैसे सूरदास, कृष्णदास, कुम्भनदास आदि का भी पूरा-पूरा प्रभाव ग्रहण किए हुए हैं। कहीं-कहीं वे उर्दू-फारसी छंद शैली को भी अपनाए हुए हैं।

संगीत तत्त्व

भक्ति अथवा उपासना का संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध है। मानव की उपास्य की भावना के साथ ही उसका भाव-सागर स्तुति में संगीतात्मक होकर उद्वेलित हो उठा। उस उपास्य के अप्रत्यक्ष होने पर भी वह भाव-दशा में लयात्मक

"परमानन्ददास गोपिन की प्रेम कथा शुक व्यास कही री।"

यही उष्ण भक्ति है :—

जो रस निगम नेति भाख्यौ।
ताकौं तैं अधरामृत चाख्यौ॥

अतः गोपिकाएं प्रेम के क्षेत्र में सर्वोच्च हैं :—

"गोपी प्रेम की धुजा"

भक्ति के दोनों रूप वैधी एवं रागानुगा के अतिरिक्त परमानन्ददास जी में षड्विधा शरणागति, द्विविध आसक्तियां—स्वरूपासक्ति एवं लीलासक्ति के भी दर्शन होते हैं। भक्ति की सातों भूमिकाएं, दीनता, मानमर्षिता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा सभी के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार तीनों प्रकार की प्रपत्तियां :—

१. भगवान् द्वारा भक्त का स्वीकार।

२. भक्तकृत भगवान् का स्वीकार।

३. भक्त और भगवान् दोनों का परस्पर स्वीकार आदि सभी उदाहरण उनमें मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षयिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्म निक्षेपमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥

आदि सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

परमानन्ददास जी के काव्य में भक्ति, प्रपत्ति के सभी स्वरूपों के अतिरि नारदीय भक्ति सूत्रोक्त एकादश आसक्तियों के भी दर्शन होते हैं। यद्यपि स्वरूपास एक तथा अखण्ड हैं तथापि गुण माहात्म्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आर निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति आदि सभी के उदाहरण उनके क... में मौजूद हैं।

भक्ति तत्व के निरूपण में कवि ने उसके सभी पोषक अंगों को यथा-स्थान समाविष्ट किया है। अतः नाम-माहात्म्य, गुरु-महिमा, अनन्यता, सम्प्रदाय के प्रति चरम आस्था, गुरुमंत्र में अगाध विश्वास, सत्संग और षडंग-सेवा-साधना, सभी को परमानन्ददास जी ने मुख्यता दी है। उन्होंने भगवन्नाम को सर्वोपरि, सर्व समर्थ, सर्व-कल्मषापह माना है।

"काम धेनु हरि नाम लियो।" आदि में यही भावना है। भक्ति की पोषिका 'सेवा' को भी कवि भूला नहीं। उसने सेवा को बड़ा महत्त्व दिया है। स्वयं वह श्री-

संस्कृति, प्रादेशिक-संस्कृति आदि। पुष्टि संप्रदाय का केन्द्र स्थल भगवान् श्रीकृष्ण की लीला भूमि—व्रज प्रदेश रहा है। अतः सभी अष्टछापी महात्माओं के अमर काव्य में व्रज-संस्कृति का आनुषंगिक चित्रण हुआ है। इन व्रज-भक्तों की काव्य-साधना में व्रज-संस्कृति स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है।

जैसा कहा जा चुका है संस्कृति सामाजिक परम्परागत व्यवहार है और समाज व्यक्तियों से निर्मित होता है अतः समाज की सर्वमान्य परम्परागत मान्यताओं के अनुगामी होने के लिए व्यक्ति भी बाध्य है। अतः व्रज भक्तों का अमर काव्य स्वांतः सुखाय होते हुए भी लोक-बाह्य नहीं है। न उसे नितान्त ऐकान्तिक कहा जा सकता है। मर्यादामय एक भावुक समाज की दिव्य परम्पराओं का अनुकथन है, जिसमें हमें उसके आचार, विचार, व्यवहार, संस्कार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पर्व, उत्सव, कला-कौशल, दर्शन, विज्ञान और उपासना आदि सभी का संश्लिष्ट चित्रण मिल जाता है।

विशाल भारत में आर्यावर्त [के अन्तगर्त ब्रह्मावर्त प्रदेश के गंगा यमुना के मध्य के भू-भाग को अन्तर्वेद पुकारा जाता था। उसी की पश्चिमी संस्कृति का नाम व्रज-संस्कृति है। यह आर्यों का सनातन देश रहा है। इसी में पूर्ण पुरुषोत्तम—मर्यादा पुरुषोत्तम और लीला पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के अवतार हुए हैं।

इसी प्रदेश के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और धर्म तथा कला-कौशल आदि ने सभ्य मानव की विकसिततम अवस्था का प्रतिनिधित्व किया है और इसी को विश्व-गुरुत्व का गौरवपूर्ण आसन प्रदान किया गया है। इसी मानव संस्कृति ने अरण्यों में जन्म लेकर भी बड़े-बड़े विशाल राष्ट्रों की चरम नागरिकता को चुनौती दी थी।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि से दीप्त मुक्त गगन के नीचे और निसर्ग रमणीय लता वृक्षादि से संकुल शस्य श्यामला उर्वरा वसुन्धरा के वक्ष पर शैल सरिताओं से आवृत्त व्रज प्रदेश में प्राकृतिक जीवनयापन करते हुए, भूतदया का दिव्यतम आदर्श लिए हुए गोप सभ्यता में पले भगवान् श्री कृष्ण द्वारा आचरित संस्कृति का मूलमंत्र लोक कल्याण और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' था। सुरसरि की जीवन धारा की भाँति यही निर्मलतम संस्कृति समूचे विश्व की सिरमौर संस्कृतियों में समझी जाती थी।

रागानुगा भक्ति के परम पोषक आचार्य वल्लभ ने गोप सभ्यता में पली व्रज गोपांगनाओं को ही अपना आदर्श माना था, और इन्हीं की प्रभु भक्ति को एकमात्र आदर्श मानकर इन्हीं की संस्कृति को अपनाया था। अतः अष्ट सखाओं को भी यही संस्कृति मान्य थी। इसी की संपूर्ण झलक उनके काव्य में सर्वत्र पाई जाती है। इसी

'रसिकिनी राधा पलना झूले' से लेकर 'घन घन लाड़िली के चरन, 'नन्द सुत मन मोदकारी सुरत सागर तरन' तक उन्होंने राधा कृष्ण की युगल-लीला के शताधिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन सब के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी राधा स्वकीया है। राधा की प्रीति अलौकिक है। वे साक्षात् आद्याशक्ति और लक्ष्मी का अवतार हैं। अवस्था में वे कृष्ण से दो वर्ष बड़ी हैं। वे अतिशय कष्ट-सहिष्णु, मौन, रूपमुग्धा, मानवती, विदग्धा एवं सुरत-लब्धा हैं। उनका प्रणय क्रम-क्रम से विकसित होकर परिणय में पर्यवसित हुआ है।

गोपी :—

परमानन्ददास जी ने 'गोपीभाव' अथवा गोपी-तत्त्व श्रीमद्भागवत, तत्पश्चात् आचार्य वल्लभ से पाया। यह गोपीभाव भागवतोक्त भक्ति का लक्ष्य है। परमानन्द दास जी ने गोपियों को 'प्रेम की धुजा' कह कर स्मरण किया। 'गोपीभाव' एक भाव है, यह प्रेम की उच्चतम स्थिति का ही नाम है जो लोक-वेद मर्यादा से परे है। यों तो परमानन्ददास जी ने सभी प्रकार की गोपियों की चर्चा की है किन्तु उनका, प्रतिपाद्य 'गोपीभाव' 'अन्यपूर्वा गोपीभाव' है। इसी को स्त्री-भाव या 'गूढ़भाव' पुकारा गया है।

मुरली :—

इसका मूल स्रोत भी अन्य प्रसंगों के मूल स्रोत की भाँति भागवत का वेणु गीत है। यह वेणु प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रतीक स्वरूप है। परमानन्ददास जी ने इसमें आधिदैविकत्व का आरोप किया है। मुरली-रव में समाधि दात्री शक्ति की चर्चा की गई है। मुरली स्वभाव से रस स्वरूपा है। कोई-कोई गोपी अपने को उसकी 'चेरी' बताती है—

'हौं तो या बेनउ की चेरी'

परमानन्ददास जी ने उसे भगवान् की दिव्य-शक्ति (संयोगात्मिका) माना है। भक्तों का उससे निरोध होता है। इसका अद्भुत प्रभाव चराचर पर व्याप्त है।

यमुना :—

संप्रदाय में यमुना का बड़ा महत्त्व है। वे कृष्ण की 'तुर्यप्रिया' हैं। उनके दो रूप हैं। स्त्री रूप में वे चतुर्थ यूथ की स्वामिनी हैं और यह उनका आधिदैविक रूप है। दूसरा उनका जल प्रवाह रूप है, यह उनका आधिभौतिक रूप है। परमानन्द-दास जी ने यमुना विषयक अनेक पद लिखे हैं जिनमें उन्होंने यमुना का साम्प्रदायिक रूप अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार यमुना के आधिदैविक एवं आधिभौतिक दोनों ही रूपों की भावना की है। यह माहात्म्य उन्होंने जगद्गुरु वल्लभाचार्य से पाया है—

'तीर्थ माहात्म्य जगतगुरु सौं परमानन्ददास लही।'

संस्कृति, प्रादेशिक-संस्कृति आदि। पुष्टि संप्रदाय का केन्द्र स्थल भगवान् श्रीकृष्ण की लीला भूमि—व्रज प्रदेश रहा है। अतः सभी अष्टछापी महात्माओं के अमर काव्य में व्रज-संस्कृति का आनुषंगिक चित्रण हुआ है। इन व्रज-भक्तों की काव्य-साधना में व्रज-संस्कृति स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है।

जैसा कहा जा चुका है संस्कृति सामाजिक परम्परागत व्यवहार है और समाज व्यक्तियों से निर्मित होता है अतः समाज की सर्वमान्य परम्परागत मान्यताओं के अनुगामी होने के लिए व्यक्ति भी बाध्य है। अतः व्रज भक्तों का अमर काव्य स्वांतः सुखाय होते हुए भी लोक-बाह्य नहीं है। न उसे नितान्त ऐकान्तिक कहा जा सकता है। मर्यादामय एक भावुक समाज की दिव्य परम्पराओं का अनुकथन है, जिसमें हमें उसके आचार, विचार, व्यवहार, संस्कार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पर्व, उत्सव, कला-कौशल, दर्शन, विज्ञान और उपासना आदि सभी का संश्लिष्ट चित्रण मिल जाता है।

विशाल भारत में आर्यावर्त के अन्तर्गत ब्रह्मावर्त प्रदेश के गंगा यमुना के मध्य के भू-भाग को अन्तर्वेद पुकारा जाता था। उसी की पश्चिमी संस्कृति का नाम व्रज-संस्कृति है। यह आर्यों का सनातन देश रहा है। इसी में पूर्ण पुरुषोत्तम—मर्यादा पुरुषोत्तम और लीला पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के अवतार हुए हैं।

इसी प्रदेश के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और धर्म तथा कला-कौशल आदि ने सभ्य मानव की विकसिततम अवस्था का प्रतिनिधित्व किया है और इसी को विश्व-गुरुत्व का गौरवपूर्ण आसन प्रदान किया गया है। इसी मानव संस्कृति ने अरण्यों में जन्म लेकर भी बड़े-बड़े विशाल राष्ट्रों की चरम नागरिकता को चुनौती दी थी।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि से दीप्त मुक्त गगन के नीचे और निसर्ग रमणीय लता वृक्षादि से संकुल शस्य श्यामला उर्वरा वसुन्धरा के वक्ष पर शैल सरिताओं से आवृत्त व्रज प्रदेश में प्राकृतिक जीवनयापन करते हुए, भूतदया का दिव्यतम आदर्श लिए हुए गोप सभ्यता में पले भगवान् श्री कृष्ण द्वारा आचरित संस्कृति का मूलमंत्र लोक कल्याण और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' था। सुरसरि की जीवन धारा की भाँति यही निर्मलतम संस्कृति समूचे विश्व की सिरमौर संस्कृतियों में समझी जाती थी।

रागानुगा भक्ति के परम पोषक आचार्य वल्लभ ने गोप सभ्यता में पली व्रज गोपांगनाओं को ही अपना आदर्श माना था, और इन्हीं की प्रभु भक्ति को एकमात्र आदर्श मानकर इन्हीं की संस्कृति को अपनाया था। अतः अष्ट सखाओं को भी यही संस्कृति मान्य थी। इसी की संपूर्ण झलक उनके काव्य में सर्वत्र पाई जाती है। इसी

'रसिकिनी राधा पलना भूले' से लेकर 'धन धन लाड़िली के चरन, 'नन्द सुत मन मोदकारी सुरत सागर तरन' तक उन्होंने राधा कृष्ण की युगल-लीला के शताधिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन सब के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी राधा स्वकीया है। राधा की प्रीति अलौकिक है। वे साक्षात् आद्याशक्ति और लक्ष्मी का अवतार हैं। अवस्था में वे कृष्ण से दो वर्ष बड़ी हैं। वे अतिशय कष्ट-सहिष्णु, मौन, रूपमुग्धा, मानवती, विदग्धा एवं सुरत-लब्धा हैं। उनका प्रणय क्रम-क्रम से विकसित होकर परिणय में पर्यवसित हुआ है।

गोपी :—

परमानन्ददास जी ने 'गोपीभाव' अथवा गोपी-तत्त्व श्रीमद्भागवत, तत्पश्चात् आचार्य वल्लभ से पाया। यह गोपीभाव भागवतोक्त भक्ति का लक्ष्य है। परमानन्द दास जी ने गोपियों को 'प्रेम की धुजा' कह कर स्मरण किया। 'गोपीभाव' एक भाव है, यह प्रेम की उच्चतम स्थिति का ही नाम है जो लोक-वेद मर्यादा से परे है। यों तो परमानन्ददास जी ने सभी प्रकार की गोपियों की चर्चा की है किन्तु उनका, प्रतिपाद्य 'गोपीभाव' 'अन्यपूर्वा गोपीभाव' है। इसी को स्त्री-भाव या 'गूढ़भाव' पुकारा गया है।

मुरली :—

इसका मूल स्रोत भी अन्य प्रसंगों के मूल स्रोत की भांति भागवत का वेणु गीत है। यह वेणु प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रतीक स्वरूप है। परमानन्ददास जी ने इसमें आधिदैविकत्व का आरोप किया है। मुरली-रव में समाधि दात्री शक्ति की चर्चा की गई है। मुरली स्वभाव से रस स्वरूपा है। कोई-कोई गोपी अपने को उसकी 'चेरी' बताती है—

'हौं तो या वेनउ की चेरी'

परमानन्ददास जी ने उसे भगवान् की दिव्य-शक्ति (संयोगात्मिका) माना है। भक्तों का उससे निरोध होता है। इसका अद्भुत प्रभाव चराचर पर व्याप्त है।

यमुना :—

संप्रदाय में यमुना का बड़ा महत्त्व है। वे कृष्ण की 'तुर्यप्रिया' हैं। उनके दो रूप हैं। स्त्री रूप में वे चतुर्थ यूथ की स्वामिनी हैं और यह उनका आधिदैविक रूप है। दूसरा उनका जल प्रवाह रूप है, यह उनका आधिभौतिक रूप है। परमानन्ददास जी ने यमुना विषयक अनेक पद लिखे हैं जिनमें उन्होंने यमुना का साम्प्रदायिक रूप अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार यमुना के आधिदैविक एवं आधिभौतिक दोनों ही रूपों की भावना की है। यह माहात्म्य उन्होंने जगद्गुरु वल्लभाचार्य से पाया है—

'तीर्थ माहात्म्य जगतगुरु सौं परमानन्ददास लही।'

शब्द-चित्र प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत क्षमता है। अष्टछाप में सूर के उपरान्त यदि किसी को भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से महत्ता दी जा सकती है तो परमानन्ददासजी को ही। अन्य अष्टछापियों की अपेक्षा खड़ीबोली सर्वाधिक रूप में सुप्रयुक्त उनमें ही पाई जाती है। उन्हें खड़ी बोली का बैतालिक कहा जा सकता है। भक्ति और दर्शन परक पदों में उनकी भाषा उच्चकोटि की सुसंस्कृत हो गई है।

कवि की बहुज्ञता और उनकी हिन्दी साहित्य को देन

परमानन्ददास जी के काव्य का गंभीर अनुशीलन करने पर हम दो तथ्यों पर पहुँचते हैं—

१. कवि का उद्देश्य, कविता न होकर लीलागान द्वारा भक्ति-रस का आस्वादन और भगवन्माहात्म्य का प्रतिपादन करना था।

२. कवि उच्चकोटि का विद्वान्, काव्य-मर्मज्ञ, संगीतज्ञ एवं बहुज्ञ था।

उसके दार्शनिक सिद्धान्त आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तानुकूल थे। अतः वह दार्शनिक सिद्धान्तों के पचड़े में अधिक नहीं पड़ा। उसके गुरु ने उसे कृष्ण भजन का सीधा सा राजमार्ग बता दिया था जिस पर वह आजीवन चलता रहा। भक्ति-भावना की निष्पत्ति के लिए उसने गुरु-वचन में असीम आस्था रखकर भागवत का मनन, अनुशीलन एवं सुबोधिनी का श्रवण किया और उसी के अनुसार भगवल्लीला के रहस्यों को वह अपने पदों में निबद्ध करता रहा। भगवल्लीला-गान में ही उसकी सम्पूर्ण रसिकता, कवि सुलभ कोमलता, भावुकता और संगीत की कलात्मकता का समावेश हो गया है। उसी काव्य-सागर में उसकी बहुज्ञता के दर्शन भी हो जाते हैं।

कवि ने ज्योतिष, न्याय, संगीत, पाकशास्त्र आदि के ज्ञान का अनेक स्थलों पर परिचय दिया है। वेशभूषादि की भी अनेक स्थलों पर चर्चा की है।

परमानन्ददास जी का पौराणिक ज्ञान भी अच्छा था। उनके अनेक पदों में अनेक पौराणिक आख्यानों की चर्चा है। भागवत और पद्मपुराण की तो स्पष्ट चर्चा की है, पद्मपुराण भागवत के उपरान्त सबसे अधिक भक्ति प्रतिपादक ग्रंथ है। भागवत माहात्म्य के प्रारम्भिक ६ अध्याय, पद्मपुराण से उसने यमुनादि तीर्थों का माहात्म्य और जगद्गुरु वल्लभाचार्य से भागवत को श्रवण किया और भागवत के बीज भाव—गोपी भाव की यावज्जीवन साधना करता रहा।

राधा-कृष्ण की सरस प्रणय लीला सुरसरि के भगीरथ भक्तवर परमानन्ददास जी मुख्यतः विप्रलंभ की अपेक्षा संयोग-शृंगार के ही गायक हैं। उनके काव्य में भगवान् की त्रिविध लीला—बाल, पौगंड, और किशोर के ही दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त रागानुगा-प्रेम लक्षणा भक्ति का जो दिव्य चित्रण उन्होंने किया है वह अन्य व्रज-भक्त कवियों में तो क्या अष्टछापी महात्माओं में भी दुर्लभ है।

संगीतज्ञ एवं कवि तीनों ही रूपों में पाठकों के समक्ष आते हैं। जहाँ उनकी भक्ति का स्वरूप उनके लीलापरक पदों से प्रकट होता है, वहाँ उनका कवि-रूप भी उनके पदों से झलकता है। अष्टछाप के सभी कवि महानुभाव मुक्तक गेय शैली के कवि हैं। इस शैली में स्वभावतः भावों का उद्गार, वर्णन की संक्षिप्तता, संगीत की मधुरता, कोमलकांत पदावली एवं सरस, भावपूर्ण, कोमल प्रसंगों की योजना रहती है। भगवान् कृष्ण की ब्रज लीलाएं मुक्तक गेय पद शैली के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त हैं। सभी अष्टछापी कवियों ने इसी गेय शैली को भगवल्लीला गान के लिए अपनाया है। इस शैली में परमानंद दास जी ने निम्नांकित भगवल्लीला का गान किया है :—

श्री कृष्ण स्तुति, बधाई, छठी, पलना, करवट, उलूखन, देहली उल्लंघन, बाल लीला, मृत्तिका भक्षण, विश्वदर्शन, राधाजन्म बधाई, गोदोहन, गोचारण, माखन चोरी, गोपियों का उपालम्भ, यशोदा का प्रत्युत्तर, राधा कृष्ण की परस्पर आसक्ति, मिलन, गोपी प्रेम, बन-लीला, दान लीला, पनघट, गोपियों की स्वरूपासक्ति, गोवर्धनलीला, गोपाष्टमी, वन से प्रत्यागमन, गोपियों की उत्कंठा, राधा-मान, कृष्ण का दूती कार्य, राधा-कृष्ण-सौन्दर्य-वर्णन, रास निकुंज लीला, मुरली, राधा कृष्ण की युगल लीला, वन विहार, सुरतान्त शृंगार के पद, खंडिता के पद, गोपियों का उपालंभ, बसन्त, होली, चांचर, धमार, फूलडोल, कृष्ण का मथुरा गमन, गोपियों का विरह, उद्धव का ब्रज में आगमन, भंवर गीत, ब्रज माहात्म्य, ब्रज भक्तों का माहात्म्य, श्री यमुना जी का माहात्म्य, गंगा जी का माहात्म्य, भगवान् और भगवन्नाम का माहात्म्य, भक्ति का माहात्म्य, गुरु महिमा, स्वसमर्पण, दैन्य; विनय, आत्म प्रबोध, महाप्रभु वल्लभाचार्य, गोस्वामी विट्ठलनाथ जी तथा उनके सात पुत्रों की बधाई, नृसिंह जयन्ती, वामन जयन्ती, रामनवमी आदि। इन प्रसंगों के अन्तर्गत वर्ष भर के उत्सव तथा नित्य सेवा में गाये जाने वाले पद आदि सभी का समावेश है। इसका तात्पर्य यही है कि परमानन्ददास जी का काव्य-विषय दशमस्कंध और वह भी विशेपकर पूर्वार्द्ध तक ही है। इन्हीं सरस, कोमल, रमणीय प्रसंगों को लेकर कवि अपने काव्य जगत् में रमता है। इन प्रसंगों में उसकी गेय शैली में जिस उच्चकोटि की भावुकता अवतीर्ण हुई है, उसके कारण वह सूर की टक्कर का कहा जाता है। गेय शैली की लम्बी परंपरा इन अष्टछापी कवियों में विशेपकर सूर और परमानंद में जितनी निखरी उतनी न इनसे पूर्व न पश्चात्। परमानन्ददास जी में दोनों शैलियों—कथात्मक गेय पद शैली, प्रसंगात्मक गेय पद शैली के दर्शन होते हैं। इन्हीं में कवि ने कृष्ण लीला के लोक मंगल और लोक-रंजक दोनों ही पक्षों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

गेय शैली की इस प्रधानता के कारण यह न समझना चाहिए कि इन कवियों में प्रवन्ध काव्य लिखने की भावना या क्षमता ही नहीं थी। कृष्ण लीला को मुक्तक

११

रास-पंचाध्यायी

डॉ० प्रेमनारायण टंडन

अष्टछाप के आठ कवियों में चार महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार श्री विट्ठलनाथ जी के। इस द्वितीय वर्ग के शिष्यों में नंददास कवि के रूप में सबसे प्रसिद्ध हैं। इनके रचे ग्यारह ग्रन्थ मान्य हैं—अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी, नाममाला, रास-पंचाध्यायी, रुक्मिणी मंगल, दशम स्कन्ध, भँवरगीत, विरहमंजरी, रस-मंजरी, रूपमंजरी, श्यामसगाई और सिद्धान्तमंजरी। इनमें से 'भँवरगीत' और 'रास-पंचाध्यायी' विशेष प्रसिद्ध हैं। यहाँ 'रास-पंचाध्यायी' की चर्चा ही करनी है।

नामकरण और आधार

'श्रीमद्भागवत' में श्रीकृष्ण की रास लीला पाँच अध्यायों में—२९ से ३३ तक—वर्णित है। नंददास की 'रास-पंचाध्यायी' में भी पाँच ही अध्याय हैं और इसी कारण काव्य का नामकरण 'पंचाध्यायी' हुआ है। 'भागवत' के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए और अपने ग्रन्थ के लिए उसी के वर्णन को आधार बनाते हुए भी कविवर नंददास ने, रससिद्ध कवियों के समान, उसका शाब्दिक अनुवाद नहीं किया है। 'श्रीमद्भागवत' के कुछ प्रसंगों को अपने काव्य में नंददास ने संक्षिप्त कर दिया है, कुछ को छोड़ दिया है, कुछ को विस्तार दिया है और कुछ नये विषयों का भी समावेश किया है। अतएव 'रास-पंचाध्यायी' का मूलाधार 'श्रीमद्भागवत' को मानते हुए भी उसको इसका, अधिक से अधिक 'स्वच्छंद भावानुवाद' कह सकते हैं।

विषय

'रास-पंचाध्यायी' में श्रीकृष्ण की रास लीला का वर्णन है। 'रास' से तात्पर्य स्त्री-पुरुषों के सहगान, और सहविलास-युक्त उस नृत्य से है जिसमें वे गोल सा घेरा बाँधकर अपार माधुर्य और आनन्द से संलग्न होते हैं। 'लीला' का सामान्य अर्थ है विनोद के लिए की गई क्रीड़ा और विशेष अर्थ है भूलोक में अवतरित होकर भगवान्

संयोग पक्ष :—

मदन गोपाल ब्लैया लैहौं ।
वृन्दाविपिन तरनितनया तट चलि व्रज नाथ अलिगन दैहों ।
सघन निकुंज सुखद रति आलय नव कुसुमनि की सेज बिछैहों ।
त्रिगुण समीर पंथ जब बोलहुगे तब छाँड़ि अकेली एहों ।
परमानन्द प्रभु चारु बदन को उचित उगार मुदित ह्वै खैहों ।

तात्पर्य यह है कि प्रेम की संयोगावस्था के जितने भी चित्र सम्भव हो सकते थे परमानन्ददास जी ने बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किये हैं । उनकी प्रेम व्यंजना अत्यन्त अकृत्रिम व्यावहारिक और मोहक है । लोक मर्यादा की चिन्ता ने कवि के हृदय की स्वाभाविक उमंग को दबाया नहीं है । प्रेम के गहन लवणार्णव में लोक-लाज, मर्यादा, गुरुजन-संकोच और वेद-मर्यादा आदि सभी गल चुके हैं । केवल प्रेम तत्त्व की ही प्रधानता रह गई है ।

वियोग पक्ष :—

१. चलत न देखत पाए लाल ।
नीके करि न बिलोक्यौ हरिमुख इतनोई रह्यौ जिय साल ॥

२. जिय की साध जिय ही रही री ।
बहुरी गोपाल देख नहि पाए बिलपति कुंज अहीरी ॥

वात्सल्य-वियोग और विप्रलंभ शृंगार दोनों ही के मार्मिक चित्रण के अतिरिक्त उनके काव्य में रौद्र, वीर, अद्भुत का भी सफल समावेश मिलता है । भयानक तथा वीभत्स के उदाहरण परमानन्ददास जी के उपलब्ध पदों में नहीं मिलते । वे विशेषकर कोमल-सरस भावों के कवि थे । अतः उनमें इन रसों का अभाव प्रतीत होता है ।

परमानन्ददास जी के भक्ति और दैन्य परक पदों में शांत रस ओत-प्रोत है । संसार की असारता, जीवन की नश्वरता के साथ भक्ति की एकमात्र सत्यता उनमें पदे-पदे छलकती है—

गई न आस पापिनी जैहै ।
तजि सेवा वैकुण्ठनाथ की नीच लोग संग रहै है । आदि

इस प्रकार शृंगार (संयोग-वियोग) (विप्रलंभ) हास्य, करुण, वीर आदि सभी रसों के उदाहरण उनके काव्य में मिल जाते हैं । आत्मनिवेदन एवं भक्ति के अन्तर्गत शान्त रस की प्रधानता हो गई है । शृंगार का रसराजत्व कवि के द्वारा अच्छा निरूपित हुआ है । युगल-क्रीड़ा में कवि ने सुरतांत वर्णन में संकोचन नहीं किया है । इसी कारण उनमें नायिका-भेद के अन्तर्गत आने वाली सभी प्रकार की नायिकाओं का वर्णन मिल जाता है । कवि की उच्चकोटि की रस व्यंजना के कारण उसका स्थान हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियों में निस्संकोच निर्धारित किया जा सकता है ।

सात्विक और आत्मिक रहती है। प्रेम की प्रधानता के कारण इस प्रकार के भक्ति-भाव को 'प्रेमाभक्ति' कहा गया है। 'शरीर' की सारी आसक्ति और शारीरिक सम्बन्धों का सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान भुला देने पर ही प्राणी 'प्रेमाभक्ति' करने का अधिकारी बनता है। जिसमें यह भाव नहीं है, वह 'रास लीला' जैसे प्रसंगों को मात्र लौकिक ही समझते हैं और उनकी अलौकिकता के अनुभव से भी वंचित रहते हैं।

वस्तुतः भू-लोक में अवतार धारण करने पर परब्रह्म श्रीकृष्ण अलौकिक होते हुए भी लौकिक मानव के समान लीलाचरण करते हैं। अतएव 'रास लीला' आदि उनकी लीलाएँ भी अर्थ तो अलौकिक या आध्यात्मिक रखती हैं, परन्तु वर्णन उनका लौकिक रीति से—या रूप में—ही किया गया है। जिन पाठकों में मात्र लौकिक दृष्टि है, वे उनका केवल वैसा ही अर्थ समझते हैं; परन्तु जिनमें सैद्धान्तिक बुद्धि है, प्रेमा-भक्ति का मर्म जिन्होंने हृदयंगम किया है, उनके लिए उसके सभी व्यापारों में आध्यात्मिक या अलौकिक भाव निहित हैं। स्वयं कवि ने स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत भी कर दिये हैं जिनसे सभी पाठक उसके आध्यात्मिक पक्ष को हृदयंगम करने के सूत्र पा सकें। उदाहरण के लिए काव्यारंभ में ही श्रीकृष्ण को परम प्रभु, राधा को उनकी प्रधान शक्ति और गोपियों को ब्रह्म के प्रति अनन्य प्रेमभाव रखने वाली जीवात्माओं के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीकृष्ण का परिचय देते हुए कवि उन्हें प्रथम अध्याय में ही परब्रह्म बताता है—

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छवि ताकी,
अखिल अंड-व्यापी जु ब्रह्म आभा है वाकी।२१।
परमातम परब्रह्म सबन के अंतर्जामी,
नारायन भगवान धर्मकर सबके स्वामी।
बाल-कुमार-पौगंड धर्म-रुचि लिए ललित तन,
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सबको मन।२२।

श्रीकृष्ण जब गोपियों के अनन्य प्रेम-भाव से संतुष्ट होकर उनके साथ रमण और विहार करने लगते हैं, तब भी नंददास उनको 'आत्माराम' कहकर उनके व्यक्तित्व की अलौकिकता की ओर इंगित करते हैं—

जदपि आत्माराम, रमत भए परम प्रेम-बस।५६।

श्रीकृष्ण की अलौकिकता सूचित करने का तीसरा संकेत भी प्रथम अध्याय में ही है। चर-अचर प्राणी ही नहीं, ऋषि, मुनि और देवराज तक को नचाने वाला कामदेव जब श्रीकृष्ण को गोपियों के साथ विहार-विलास-रत देखता है, तब विश्व-विजयोन्माद में आकर उन्हें भी जीतने के उपक्रम का दुस्साहस करता है; परन्तु

अर्थालंकारों के कतिपय उदाहरण—

उपमा— घन घन लाड़िली के चरन।
अति ही मृदुल सुगंध सीतल कमल के से बरन॥

उदाहरण— घन में छिपी रही ज्यों दामिनी।
नंद कुमार के पीछे ठाढ़ी सोहत राधा भामिनी।

प्रतीप—१. सुन्दर बदन कमल दल लोचन देखत चंद लजाया है।
—२. कमन करत तब हंस लजावत अरक धरक धुनि न्यारी।

रूपक—

सांग— सोहे शीश सुहावनो दिन दूल्हे तेरे।
मणि मोतिन को सेहरा सोहै बसियो मन मेरे॥
मुख पून्यो को चंदा है मुक्तादल तारे।
उनके नयन चकोर हैं सब देखन हारे।

निरंग— आज मदन महोत्सव राधा।
मन्मथ राज सिंहासन बैठे तिलक पितामह दीन्हों।
छत्र चंवर तूणीर शंखधुनि विकट चाप कर लीन्हों।

व्यस्त— गोपी प्रेम की धुजा।

परंपरित— तरुण तमाल नंद के नंदन प्रियाकनक की वेलि।

स्मरण— यमुना जल खेवत है हरि नाव।
वेगि चलो वृखभान नंदिनी अब खेलन को दाव।
नीर गम्भीर देख कालिंदी पुन पुन सुरत करावैं।
बार बार तुव पंथ निहारत नैनन में अकुलावैं।

उत्प्रेक्षा— अरुण अधर धुत मधुर मुरलिका तैसिए चंदन तिलक निकाई।
मनो द्वितियादिन उदित अर्धससि निकसि जलद में देत दिखा

दृष्टान्त— मेरो भाई माधो सौं मन मान्यो।
अब क्यों मित्र होय मेरी सजनी मिल्यो दूध अरु पान्यो।

प्रतिवस्तूपमा—मेरी हरि गंगा को सो पान्यो।
पांच बरस को शुद्ध सांवरो तैं क्यों विषई जान्यो।

व्यतिरेक— झूलत नवल किशोर किशोरी।
नीलांबर फरकत उपमा घन दामिनी छबि थोरी॥

परिकर— नैनहि नैन मिले मन उरझ्यो यह नागरि वह नागर।

परिकरांकुर— सुन्दर मुख की वलि जाऊं।
तामें मुस्काय हरत मन न्याय कहत कवि मोहन नाऊं।

विषम— तवकी प्रीति अबकी रूखाई फिरि पाछे बूझत नहिं बाल।

'पंचभूतों' से निर्मित नारियों से भिन्न शुद्ध प्रेममय और 'जगत की ज्योति-सी' उजियारी कहा है—

शुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतनि तैं न्यारी।
तिन्हैं कहा कोउ कहै, ज्योति-सी जगत उजियारी ।३१।

गोपियों की प्रीति की अलौकिकता सिद्ध होती है श्रीकृष्ण से उनके प्रथम संवाद में। श्रीकृष्ण उनसे नारियों के लौकिक धर्म, कर्म आदि का बखान करते हैं जैसे वे जानना चाहते हों कि सांसारिक सम्बन्धों की मोह-ममता उनमें शेष है या नहीं। गोपियाँ जब समस्त भौतिक विषयों की वासना, भावना और आसक्ति का परित्याग करके केवल परब्रह्म के प्रति अपनी प्रीति व्यंजित करती हैं, तभी श्रीकृष्ण संतुष्ट होकर उन्हें अपनाते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का अंतर्धान होना और गोपियों की विरह-विकलता देखकर पुनः प्रकट हो जाना सूचित करता है, अलौकिक परब्रह्म लौकिक दृष्टि से रहता तो अलक्षित ही है, उसके प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य-प्रीति और पूर्ण समर्पण-भाव रखने पर ही होते हैं। पुनः प्रकट होने पर श्रीकृष्ण गोपियों के बिछाये वसन पर बैठे बताये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो परब्रह्म कठिनतम साधना से भी प्राप्त नहीं होता, वही गोपियों की प्रेमा-भक्ति से संतुष्ट होने पर सदा के लिए उनके प्रेम-बन्धन में बंध जाता है। ज्ञान, योग आदि की साधना से अनन्य प्रेमा-भक्ति की श्रेष्ठता दिखाना, इस प्रसंग से, कवि का उद्देश्य है।

राधा के सामीप्य से श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने का कारण है उसका गर्व। संकेत यह है कि गर्व का लौकिक भाव इतना प्रबल होता है कि परब्रह्म की प्रत्यक्ष प्रकृति अथवा उसकी आह्लादिनी शक्ति तक उसके वशीभूत हो जाती है और अपने परम-प्राप्य को पाकर भी खो बैठती है। पश्चात्ताप के आँसू बहाते हुए अपराध की सार्वजनिक स्वीकृति उस करुणामय को पुनः प्रकट कर देती है।

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान और प्रत्यक्ष होने के सम्बन्ध में दो बातें और उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि आरम्भ में जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान होते हैं, तब राधा उनके साथ रहती है और कालान्तर में कारणवश वे राधा को यदि बिलखता छोड़ जाते हैं, इसका संकेतार्थ यह है कि सृष्टि की जीवात्माएँ स्व-रूपिणी गोपियों की दृष्टि से जब परब्रह्म अलक्षित होता है, तब भी उसकी आह्लादिनी शक्ति या प्रकृति उसके साथ रहती है। परन्तु इस परम-शक्ति की शक्ति भी सीमित है और वह अपनी इच्छा से परब्रह्म के साथ सर्वत्र नहीं जा सकती—माया से मायापति ही तो परे रह सकता है।

दूसरी बात यह कि विरह-व्यथिता गोपिकाएँ तो वृंदावन के लता-द्रुम आदि से अलक्षित प्रियतम का पता पूछती दिखाई देती हैं, परन्तु राधा के साथ सारी प्रकृति

अर्थालंकारों के कतिपय उदाहरण—

उपमा— घन घन लाड़िली के चरन ।
अति ही मृदुल सुगंध सीतल कमल के से बरन ॥

उदाहरण— घन में छिपी रही ज्यौं दामिनी ।
नंद कुमार के पीछे ठाड़ी सोहत राधा भामिनी ।

प्रतीप—१. सुन्दर बदन कमल दल लोचन देखत चंद लजाया है ।
—२. कमन करत तब हंस लजावत अरक घरक धुनि न्यारी ।

रूपक—

सांग— सोहे शीश सुहावनो दिन दूल्हे तेरे ।
मणि मोतिन को सेहरा सोहै बसियो मन मेरे ॥
सुख पून्यो को चंदा है मुक्तादल तारे ।
उनके नयन चकोर हैं सब देखन हारे ।

निरंग— आज मदन महोत्सव राधा ।
मन्मथ राज सिंहासन बैठे तिलक पितामह दीन्हों ।
छत्र चंवर तूणीर शंखधुनि विकट चाप कर लीन्हों ।

व्यस्त— गोपी प्रेम की धुजा ।

परंपरित— तरुण तमाल नंद के नंदन प्रियाकनक की बेलि ।

स्मरण— यमुना जल खेवत है हरि नाव ।
बेगि चलौ वृखभान नंदिनी अब खेलन को दाव ।
नीर गम्भीर देख कालिंदी पुन पुन सुरत करावै ।
बार बार तुव पंथ निहारत नैनन में अकुलावै ।

उत्प्रेक्षा— अरुण अधर धुत मधुर मुरलिका तैसिए चंदन तिलक नकाइ ।
मनो द्वितियादिन उदित अर्धससि निकसि जलद में देत दिखाई ।

दृष्टान्त— मेरो भाई माधौ सौं मन मान्यौ ।
अब क्यों मित्र होय मेरी सजनी मिल्यो दूध अस पान्यौ ।

प्रतिवस्तूपमा— मेरी हरि गंगा को सो पान्यौ ।
पांच बरस कौ शुद्ध सांवरौ तै क्यों विषई जान्यौ ।

व्यतिरेक— झूलत नवल किशोर किशोरी ।
नीलांवर फरकत उपमा घन दामिनी छवि थोरी ॥

परिकर— नैनहि नैन मिले मन उरझ्यो यह नागरि वह नागर ।

परिकरांकुर— सुन्दर मुख की बलि जाऊं ।
तामें मुस्काय हरत मन न्याय कहत कवि मोहन नाऊं ।

विषम— तबकी प्रीति अबकी रूखाई फिरि पाछे बूझत नहिं बात ।

रस

पीछे कहा गया है कि 'रास-लीला' परब्रह्म और उसकी आह्लादिनी शक्ति (राधा) तथा परब्रह्म एवं जीवात्माओं का निरन्तर नृत्य-निरत रहना है। यह नृत्य-भाव—प्रेमा-भक्ति और उसका आनन्द—सर्वथा अलौकिक और अनुभवगम्य है। लौकिक प्राणियों को उसका अनुभव कराने के लिए 'रास-पंचाध्यायी'-कार ने उसका वर्णन सांसारिक रीति से किया है। अतएव वह काव्य शृंगार रस प्रधान है। शृंगार रस के देवता विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण इसके नायक हैं।

शृंगार रस : संयोग पक्ष—ब्रजबालाओं की कामना है श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की और इसके लिए वे निरन्तर साधना करती हैं। शरत्पूर्णिमा की रात्रि को रास लीला के लिए मुरली द्वारा उनका आह्वान करके श्रीकृष्ण उनकी कामना पूर्ण करते हैं। मुरली का मन्द-मधुर स्वर उनके मन में काम-भाव जाग्रत करता है और प्रेम-मयी ब्रजबालाएं सुत-पति का मोह त्यागकर श्रीकृष्ण के समीप पहुंचती हैं। पल्लवित-पुष्पित कुंजों से युक्त यमुना-तट की ज्योत्स्ना-स्नात रमणीक वनस्थली उनकी कामना को उद्दीप्त करती है। निकट आती हुई गोपियों के नूपुर-नाद से श्रीकृष्ण को उनके आगमन की सूचना मिल जाती है। प्रेम और उत्सुकता से उनके मन और नयन सिमटकर जैसे श्रवणमय हो जाते हैं। प्रियतमाएँ जब प्रियतम की दृष्टि-परिधि में पहुँच जाती हैं तब उनके सभी अंग नयनमय हो जाते हैं—

> जिनके नूपुर-नाद सुनत जब परम सुहाए,
> तब हरि के मन नयन सिमिटि सब स्रवननि आए।
> रुनुक-झुनुक पुनि भली भाँति सौं प्रगट भई जब,
> पिय के अंग-अंग सिमटि मिले हैं रसिक नयन तब। १-४१।

प्रियतमाओं को निकट पाकर श्रीकृष्ण को विनोद सूझा। मन ही मन मुस्कराते हुए उन्होंने कुछ 'वक्रवचन' कहे, क्योंकि अन्य मनोभावों से प्रेम या मधुर भाव की यही विशिष्टता है कि प्रिय और प्रिया, दोनों को तभी उसमें विशेष आनन्द मिलता है जब चाह में, कथन में, अर्थात् सभी व्यापारों में कुछ 'बांकापन' हो—

> उज्ज्वल रस को यह स्वभाव बाँकी छवि पावै,
> बंक चहन अरु कहन बंक अति रसहिं बढ़ावै। १-४२।

पश्चात् श्रीकृष्ण ने गोपियों को नारी-धर्म की शिक्षा दी और उनसे घर लौट जाने को कहा। गोपियों ने इस पर उनके प्रति अपने प्रेम-भाव को अनन्य बताते हुए निवेदन किया कि तुम्हारे दिव्य रूप पर हम अत्यन्त मुग्ध हैं और यदि तुम हमें अंगीकार

होकर आदि सृष्टि के उषःकाल में गा उठा था—'कस्मै देवाय हविषा विधेम।' अतः भक्ति और संगीत का परस्पर गाढ़ सम्बन्ध है। सगुण भक्ति में तो कीर्तन-भक्ति का दूसरा स्थान है। अतः सभी भक्तों ने कीर्तन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इस भक्ति के दो स्वरूप पाये जाते हैं।

१. नाम-कीर्तन अथवा ध्वनि-गान।

२. पद-संकीर्तन अथवा लीला-गान।

पुष्टि सम्प्रदाय में दोनों ही प्रकार के कीर्तन प्रचलित हैं। अष्टछापी भक्तगण मुख्यतः लीला-गायक हैं अतः इन भक्तों में संगीत की उच्चकोटि का साधना मिलती है। भगवान् गोवर्धननाथ जी के समक्ष जब कीर्तन की नियमित व्यवस्था हुई तो रागों की शास्त्रीयता को भी पूरा-पूरा महत्त्व दिया जाने लगा और इस प्रकार सम्प्रदाय में शुद्ध शास्त्रीय संगीत की परम्परा प्रारम्भ हुई। परम्परा को चरम विकास भी इन अष्टछापी कवियों द्वारा अपनी विशिष्ट कीर्तन पद्धति द्वारा दिया गया जिसमें सम्प्रदाय के कतिपय अपने विधि-निषेध भी स्वीकृत हुए। उन सब विधि विधानों के साथ आज भी सम्प्रदाय में कीर्तन पद्धति प्रचलित है और उन्हीं अष्ट सखाओं के कीर्तन सम्प्रदाय के भगवन्मन्दिरों में आज तक गाए जाते हैं।

परमानन्ददास जी उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। उनमें भारत की पुरातन शास्त्रीय शैली ध्रुपद धमार के दर्शन होते हैं। सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही वे उच्चकोटि के गायक थे। दीक्षित होने के उपरान्त वे श्री नवनीत प्रिय जी के समक्ष कीर्तन करते थे। ब्रज में आने के उपरान्त और श्री गिरिराज पर गोवर्धन जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा ग्रहण करने पर तो वे अहर्निश भगवद् गुणगान में ही रत रहते थे, परन्तु उनका विशिष्ट समय अथवा 'ओसरा' मंगला, राजभोग उत्थापन, और भोग था। कवि इन समयों पर तो प्रभु के समक्ष कीर्तन सेवा करता ही था, वैसे भी वह अहर्निश कीर्तन गान में रत रहता था। आज भी उनके पदों को विशेष अवसरों पर, विशिष्ट पर्वों पर गाया जाता है। अतः संप्रदाय में उनके पद वैदिक मंत्रों की सी मान्यता प्राप्त किए हुए हैं। वे पद विशिष्ट अवसरों पर नैत्यिक अथवा वार्षिक उत्सवों पर गाये जाते हैं। परमानन्ददास जी ने लगभग ४० रागों में पदरचना की है। परन्तु प्रकृति से वैराग्य प्रधान होने से उनको मध्याह्न का राग 'सारंग' विशेष प्रिय था इसीसे उनकी छाप भी सारंग हुई। उन्होंने गायन-वादन, एवं नृत्यों की विविध भाव-मुद्राओं और उत्तरी भारत की संगीत शैली की भी चर्चा की है।

ब्रज-संस्कृति का चित्रण

लोक जीवन की सर्वमान्य, सर्वाभ्यस्त एवं परिमार्जित परम्पराओं को 'संस्कृति' का नाम दिया जाता है। इसके कई रूप हैं—राष्ट्रीय-संस्कृति, सामाजिक-

ताहि साँवरो कुँवर रीझि हँसि लेत भुजनि भर,
चुंबन करि सुख-सदन बदन तें देत मोल ठरि। ५-१३।

नृत्य और संगीत के साथ-साथ हास-विलास का क्रम भी चलता रहता है और प्रेमी-प्रेमिकाएँ सुरति-रस सागर में निमग्न हो जाती हैं। उनके हार, हारों से; बाँहें, बाँहों से; और नीले-पीले वस्त्र परस्पर उलझकर वेसरि और नथों ये उलझ जाते हैं (छन्द ५-२२)। कुंज-सदन में बहुत समय तक नृत्य और हास-विलास करके श्रीकृष्ण, ब्रजबालाओं के साथ, जल-विहार के लिए जाते हैं। उस समय भी उनके नयन रस-भरे हैं और गंडस्थल पर रति-श्रम के कण झलक रहे हैं (छन्द ५-२५)। इस प्रकार नंददास ने शृंगार के संयोग पक्ष का इतना स्वस्थ और सरस वर्णन किया है कि 'पंचाध्यायी' की सरसता पाठक को भी रससिक्त कर देती है।

शृंगार रस : वियोग पक्ष—रास-नृत्य का प्रथम चरण समाप्त होते-होते गोपिकाओं को अपने परम सौभाग्य पर अभिमान होने लगता है। गर्वहारी श्रीकृष्ण इसको लक्ष्य करके अकस्मात् अन्तर्धान हो जाते हैं। शृंगार रस के वियोग पक्ष का क्रम यहीं से आरम्भ होता है। 'वियोग' का प्रेमा-भक्ति में बहुत महत्त्व है। लौकिक प्रेम की शुद्धताकी कसौटी भी विरह ही है। जब केवल शरीर-सुख की कामना को 'प्रेम' का नाम दिया जाता है, तब विरह का प्रसंग आते ही वह डगमगाने लगता है और यदि विरहविधि कुछ दीर्घ हुई तो उसकी समाप्ति तक हो जाती है। प्रेमा-भक्ति की शुद्धता और निष्कामता की परख के लिए भी 'वियोग' का सहारा लिया जाता है; क्योंकि उसके सहयोग से शुद्ध प्रेम उसी प्रकार चटकीला हो जाता है जिस प्रकार कटु, अम्ल आदि पदार्थों से मधुर खाद्य का स्वाद बढ़ जाता है अथवा वस्त्र पर पुट-विशेष के दे देने पर चढ़ाया जाने वाला रंग और चटक हो जाता है—

मधुर वस्तु जो खाय निरन्तर सुख तौ भारी,
बीच-बीच कटु, अम्ल, कटुक लिए अति रुचिकारी।
ज्यौं पट पुट के दिए निपट अति रसहि चढ़ै रँग,
तैसेहि रंचक विरह प्रेम के पुंज बढ़ै अँग। २-१।

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर विरहिणी ब्रजबालाओं की जो करुणा दशा हो जाती है, उसका चित्रण नंददास ने 'पंचाध्यायी' के द्वितीय और तृतीय अध्यायों में किया है। विरह की अधिकता के कारण विरही की स्थिति उन्मत्त-जैसी हो जाती है; वह जड़ और चेतन, सभी की कृपा का अपने को पात्र समझता है और सभी से करुणा की याचना करता है। नंददास ने भी कहा है कि विरही में जड़-चेतन का अन्तर समझने की बुद्धि नहीं रह जाती—

प्रदेश के आचार-विचार व्यवहार और संस्कारों का वर्णन उनके काव्य में मिलता है। परमानन्ददास जी ने भी लोक जीवन का कोई ऐसा अंग अछूता नहीं रखा है जिसमें ब्रज-संस्कृति के दर्शन नहीं हो जाते। कृष्ण लीला गान के मिस से जन्म, छठी, नामकरण, से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कार ब्रज की रीतियाँ, वेष भूषा, ज्योतिष सम्बन्धी विचार, धार्मिक परम्पराएं, व्रत, उत्सव, पर्व, खेल, क्रीड़ा, खान-पान, भोजन की विविध सामग्री एवं पकवान आदि से लेकर राजनीति राजस्व की चर्चा करके धार्मिक परम्परा मूर्ति पूजादि सब की चर्चा की है। इस प्रकार ब्रज संस्कृति और ब्रज प्रदेश की महत्ता को उन्होंने अपने काव्य में यत्रतत्र चित्रित किया है। यही प्रदेश उन्हें अपनी साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी जान पड़ा और इसी के प्रेम में अभिभूत होकर वे बैकुण्ठ तक को तुच्छ समझते हैं 'कहा करूं वैकुण्ठहिं जाय।'

भाषा

परमानन्ददास जी ब्रज भाषा के रस सिद्ध कवि हैं। उनकी भाषा के सौष्ठव, माधुर्य एवं वैभव को देखकर पाठक न केवल आनन्द विभोर हो जाता है, अपितु विस्मय विमुग्ध होकर आश्चर्य सागर में गोते खाने लगता है। अभिव्यक्ति की कुशलता, ध्वनि की मधुरता, चमत्कृति की चारुता, चित्रोपमता, आलंकारिक सजीवता के साथ-साथ समन्वय की साधना परमानन्ददास जी की विशेषता थी। परमानन्ददास जी कन्नौज निवासी थे। अतः उनकी भाषा कन्नौजीपन को लिए हुए है। कन्नौजी स्वयं ब्रज भाषा का एक परिवर्तित रूप है। अतः उनकी भाषा पुष्ट, प्रांजल, सबल ब्रजभाषा है। जिसमें तत्सम, तद्भव, देशज शब्दों के प्रयोगों के साथ-साथ लोकोक्तियों, वाग्धाराओं, (मुहावरों) के उपयोगों के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय शब्दों का सुष्ठु प्रयोग मिल जाता है। उनकी भाषा में पाठकों को भावमग्न और रसनिमज्जित करने की अपूर्व क्षमता है। उनकी भाषा में उच्चकोटि की व्यंजकता, लाक्षणिक-वक्रता तथा संक्षिप्तता है। उसमें माध्यकालीन ब्रजभाषा का चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होने के साथ-साथ खड़ी बोली के युगारम्भ होने का आभास भी मिल जाता है। बुंदेली के शब्दों एवं क्रियापदों के प्रयोगों के साथ राजस्थानी, मालवी के भी प्रयोग मिल जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संस्कृत तत्सम शब्द की प्रयोग बहुलता के साथ समासान्त पदावलियों के अनायास प्रयोग और श्रुति-मधुर शब्दावलियों के साथ नाद-सौन्दर्य और संगीतात्मकता के पुष्कल उदाहरण भी उनकी भाषा में मिल जाते हैं। तद्भव देशज, ठेठ ब्रज के शब्दों के साथ मुहावरों का प्रयोग देखते ही बनता है। संक्षेप में उनका उच्चकोटि का भाषा-वैभव उन्हें महात्मा सूर के समकक्ष स्थापित कर देता है।

उनकी भाषा के सम्बन्ध में इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:—

१. उनकी भाषा में ब्रजभाषा का विकसिततम रूप मिल जाता है।

२. उनकी ब्रजभाषा शुद्ध, पुष्ट, प्रांजल, और संस्कृतमय है।

(क) गोरे तन की जोति छूटि छबि छाय रही घर,
मानौं ठाढ़ी सुभग कुँवरि कंचन अवनी पर। २-२४।

(ख) नीर निचोरत जुवतिनि देखि अधीर भये मनु,
तन बिछुरनि की पीर चीर रोवत अँसुवन जनु। ५-३१।

प्रकृति-चित्रण

'रास-पंचाध्यायी' में प्रकृति-चित्रण के प्रमुख पाँच रूप मिलते हैं : नाम-संग्रह, दृश्य-चित्रण, उद्दीपन रूप, अलंकार-रूप और संवेदनशील चेतन-रूप। 'नाम-संग्रह' के उदाहरण काव्य के प्रथम और द्वितीय अध्यायों में मिलते हैं। प्रथम अध्याय में वृंदावन का वर्णन करते हुए कवि ने मालती, चंपक, मंदार, लवंग, एलची, कुरबक, केवरा, केतकी, तुलसी, कमोद आदि पुष्पों और लताओं के नाम गिनाए हैं और द्वितीय अध्याय में मालती, जूथिका, केतकी, बेल, मंदार, करबीर, चंदन, चंपक, कदंब, निंब, अंब, अशोक, पनस, कमल, तुलसी आदि के जिनसे गोपियाँ अपने प्रियतम का पता पूछती हैं।

प्रकृति के सामान्य रूप का चित्रण 'रास-पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में विशेष रूप से मिलता है जहाँ कवि ने वृंदावन की लीला-भूमि और श्रीकृष्ण के कमलासन का वर्णन किया है (छन्द १२ से १६)। उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रण प्रथम और अन्तिम अध्याय में वन-विहार और रास-लीला प्रसंग में मिलता है। इसके दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

(क) ताही छिन उडुराज उदित रसराज-सहायक,
कुमकुम-मंडित प्रिया बदनु जनु नागर नायक।
कोमल किरननि अरुन मनो बन व्यापि रही यौं,
मनसिज खेल्यो फागु घुमरि घुरि रहो गुलाल ज्यौं। १-२५।

(ख) वृंदावन की त्रिविधि पवन बिजना जु बिलोलैं,
जहँ-जहँ सुमित विलोकत तहँ-तहँ रस भरि डोलैं।
बड़े अरुन पट-बसन सु मंडल मंडित ऐसे,
मनहुँ सुघन अनुराग घटा घन घुमड़त जैसे। ५-१६।

वर्ण्य-विषय की स्पष्टता के लिए प्रकृति के विविध उपादानों को लेकर रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना काव्य में करना कवियों को सदा से प्रिय रहा है। नंददास के इस प्रकार के प्रयोगों को, स्थूल रूप से, तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें प्रकृति से अंग, वस्त्र, आभूषण या उपकरण-विशेष के लिए उपमान चुने गये हैं;

प्रदेश के आचार-विचार व्यवहार और संस्कारों का वर्णन उनके काव्य में मिलता है। परमानन्ददास जी ने भी लोक जीवन का कोई ऐसा अंग अछूता नहीं रखा है जिसमें ब्रज-संस्कृति के दर्शन नहीं हो जाते। कृष्ण लीला गान के मिस से जन्म, छठी, नामकरण, से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कार ब्रज की रीतियाँ, वेष भूषा, ज्योतिष सम्बन्धी विचार, धार्मिक परम्पराएं, व्रत, उत्सव, पर्व, खेल, क्रीड़ा, खान-पान, भोजन की विविध सामग्री एवं पकवान आदि से लेकर राजनीति राजस्व की चर्चा करके धार्मिक परम्परा मूर्ति पूजादि सब की चर्चा की है। इस प्रकार ब्रज संस्कृति और ब्रज प्रदेश की महत्ता को उन्होंने अपने काव्य में यत्रतत्र चित्रित किया है। यही प्रदेश उन्हें अपनी साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी जान पड़ा और इसी के प्रेम में अभिभूत होकर वे बैकुण्ठ तक को तुच्छ समझते हैं 'कहा करूं बैकुण्ठहिं जाय।'

भाषा

परमानन्ददास जी ब्रज भाषा के रस सिद्ध कवि हैं। उनकी भाषा के सौष्ठव, माधुर्य एवं वैभव को देखकर पाठक न केवल आनन्द विभोर हो जाता है, अपितु विस्मय विमुग्ध होकर आश्चर्य सागर में गोते खाने लगता है। अभिव्यक्ति की कुशलता, ध्वनि की मधुरता, चमत्कृति की चारुता, चित्रोपमता, आलंकारिक सजीवता के साथ-साथ समन्वय की साधना परमानन्ददास जी की विशेषता थी। परमानन्ददास जी कन्नौज निवासी थे। अतः उनकी भाषा कन्नौजीपन को लिए हुए है। कन्नौजी स्वयं ब्रज भाषा का एक परिवर्तित रूप है। अतः उनकी भाषा पुष्ट, प्रांजल, सबल ब्रजभाषा है। जिसमें तत्सम, तद्भव, देशज शब्दों के प्रयोगों के साथ-साथ लोकोक्तियों, वाग्धाराओं, (मुहावरों) के उपयोगों के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय शब्दों का सुष्ठु प्रयोग मिल जाता है। उनकी भाषा में पाठकों को भावमग्न और रसनिमज्जित करने की अपूर्व क्षमता है। उनकी भाषा में उच्चकोटि की व्यंजकता, लाक्षणिक-वक्रता तथा संक्षिप्तता है। उसमें माध्यकालीन ब्रजभाषा का चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होने के साथ-साथ खड़ी बोली के युगारम्भ होने का आभास भी मिल जाता है। बुंदेली के शब्दों एवं क्रियापदों के प्रयोगों के साथ राजस्थानी, मालवी के भी प्रयोग मिल जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संस्कृत तत्सम शब्द की प्रयोग बहुलता के साथ समासान्त पदावलियों के अनायास प्रयोग और श्रुति-मधुर शब्दावलियों के साथ नाद-सौन्दर्य और संगीतात्मकता के पुष्कल उदाहरण भी उनकी भाषा में मिल जाते हैं। तद्भव देशज, ठेठ ब्रज के शब्दों के साथ मुहावरों का प्रयोग देखते ही बनता है। संक्षेप में उनका उच्चकोटि का भाषा-वैभव उन्हें महात्मा सूर के समकक्ष स्थापित कर देता है।

उनकी भाषा के सम्बन्ध में इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:—

१. उनकी भाषा में ब्रजभाषा का विकसिततम रूप मिल जाता है।

२. उनकी ब्रजभाषा शुद्ध, पुष्ट, प्रांजल, और संस्कृतमय है।

(क) गोरे तन की जोति छूटि छबि छाय रही घर,
मानौं ठाढ़ी सुभग कुँवरि कंचन अवनी पर। २-२४।

(ख) नीर निचोरत जुवतिनि देखि अधीर भये मनु,
तन बिछुरनि की पीर चीर रोवत अँसुवन जनु। ५-३१।

प्रकृति-चित्रण

'रास-पंचाध्यायी' में प्रकृति-चित्रण के प्रमुख पाँच रूप मिलते हैं : नाम-संग्रह, दृश्य-चित्रण, उद्दीपन रूप, अलंकार-रूप और संवेदनशील चेतन-रूप। 'नाम-संग्रह' के उदाहरण काव्य के प्रथम और द्वितीय अध्यायों में मिलते हैं। प्रथम अध्याय में वृंदावन का वर्णन करते हुए कवि ने मालती, चंपक, मंदार, लवंग, एलची, कुरगक, केवरा, केतकी, तुलसी, कमोद आदि पुष्पों और लताओं के नाम गिनाए हैं और द्वितीय अध्याय में मालती, जूथिका, केतकी, बेल, मंदार, करबीर, चंदन, चंपक, कदंब, निंब, अंब, अशोक, पनस, कमल, तुलसी आदि के जिनसे गोपियाँ अपने प्रियतम का पता पूछती हैं।

प्रकृति के सामान्य रूप का चित्रण 'रास-पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में विशेष रूप से मिलता है जहाँ कवि ने वृंदावन की लीला-भूमि और श्रीकृष्ण के कमलासन का वर्णन किया है (छन्द १२ से १६)। उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रण प्रथम और अन्तिम अध्याय में वन-विहार और रास-लीला प्रसंग में मिलता है। इसके दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

(क) ताही छिन उडुराज उदित रसराज-सहायक,
कुमकुम-मंडित प्रिया बदनु जनु नागर नायक।
कोमल किरननि अरुन मनो बन व्यापि रही यौं,
मनसिज खेल्यो फागु घुमरि घुरि रह्यो गुलाल ज्यौं। १-२५।

(ख) वृंदाबन की त्रिविधि पवन बिजना जु बिलोलैं,
जहँ-जहँ सुमित बिलोकत तहँ-तहँ रस भरि डोलैं।
बड़े अरुन पट-बसन सु मंडल मंडित ऐसे,
मनहुँ सुघन अनुराग घटा घन घुमड़त जैसे। ५-१६।

वर्ण्य-विषय की स्पष्टता के लिए प्रकृति के विविध उपादानों को लेकर रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना काव्य में करना कवियों को सदा से प्रिय रहा है। नंददास के इस प्रकार के प्रयोगों को, स्थूल रूप से, तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें प्रकृति से अंग, वस्त्र, आभूषण या उपकरण-विशेष के लिए उपमान चुने गये हैं; जैसे—

पुष्टिमार्ग की निखिल मान्यताओं को सरलता और सुगमता के साथ अपने काव्य में लाकर साम्प्रदायिक मर्यादाओं के स्वरूप स्पष्ट करने में अतुलनीय है। आचार्य महाप्रभु के शिष्य और सुबोधिनी के कट्टर उपासक होने के नाते वे सुबोधिनी के गहन रहस्यों को अपने मधुर संक्षिप्त पदों में संक्षिप्त रूप से व्यक्त कर देने में अत्यन्त कुशल हैं। उनके पदों को यदि सुबोधिनी का भाष्य कहा जाए तो अनुचित न होगा। लीलावतारी भगवान् की प्रणय लीलाओं को इतनी पवित्रता के साथ हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत करने वाला उनके अतिरिक्त कोई कवि नहीं। भगवान के माहात्म्य का ज्ञान कराकर अपने पदों के माध्यम से जन-मन को सांसारिकता से खींचकर भगवच्चरणारविंद में लगा देने में उनकी सफलता अपूर्व है। परमानन्ददास जी से अधिक भागवत का अनुसरण करने वाला शायद ही कोई अन्य कवि हो। सूर के उपरान्त ब्रज-संस्कृति का पूरा-पूरा चित्र उनके पदों में मिल जाता है।

संक्षेप में वे निर्गुण-प्रीति के अमर गायक, भाव-क्षेत्र के अद्वितीय कवि हैं। उनका सूक्ष्म-निरीक्षण, भाव-प्रवणता, कल्पना अनुभूति, संगीतात्मकता, तथा भाषा की सजीवता, मधुरता, सरलता, सुबोधता एवं रसात्मकता सभी कुछ हिन्दी-साहित्य की अमर सम्पत्ति है।

अद्भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि,
सिला सलिल ह्वै चलीं, सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि,
रीझि सरद की रात्रि न जानैं केतिक बाढ़ी,
बिलसत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति गाढ़ी। ५-२४।

सारांश यह कि संक्षिप्त कथानक वाले अपने काव्य में नंददास ने प्रकृति-वर्णन के अनेक रूपों का समावेश किया है जिसमें उनको सफलता भी मिली है।

भाषा

'रास-पंचाध्यायी' 'रोला' छन्द में लिखी गई व्रजभाषा की एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें मधुर और कोमल ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनमें कुछ तत्सम और कुछ व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप तद्भव रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण मुख्य रूप से रूप-चित्रण और दृश्य-वर्णन प्रधान स्थलों में अधिक मिलते हैं। उनकी भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाला रूप निम्नलिखित छन्द में देखा जा सकता है—

जदपि परम सुख-धाम स्याम पिय को लीला-रस,
तदपि तिनहिं अवलोकन बिन अकुलात गईं अस।
ज्यौं चंदन, चंद्रमा तपन सब सीतल करहीं,
पिय-बिरही जे लोग तिनहिं लगि आगि बितरहीं। ३-८।

उक्त छन्द में संस्कृत के कोमलध्वनि वाले छोटे-छोटे शब्द हैं और समास भी सरल ही हैं। तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों का विषयानुसार प्रयोग है और सभी प्रकार के प्रयोगों में व्रजभाषा की प्रकृति का ध्यान रखा गया है।

अरबी-फ़ारसी के विदेशी शब्दों का प्रयोग 'पंचाध्यायी' में अपवाद-स्वरूप ही मिलता है। अवधी के कुछ क्रिया-प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाते हैं; जैसे निम्नलिखित उदाहरणों में 'आहि'—संस्कृत के 'अस्ति' का अवधी रूप—प्रयुक्त हुआ है—

(क) निपट ठगौरी आहि मंद मुसकानि मृदु हांसी। १-५३।
(ख) निपट निकट घट मैं जो अंतरजामी आही। ५-३७।

मुहावरों के प्रयोग 'पंचाध्यायी' के कुछ ही छन्दों में दिखाई देते हैं; जैसे—

(क) नंदनंदन की मंद मुसुकि तुम्हरे मन मूसे। २-५।
(ख) नंदनंदन जग वंदन पिय जहँ लाडि लडाई। २-२८।
(ग) मानौ करतल फ़िरत देखि नट लट्टू होत पिय। ५-१०।
(घ) प्रकृति-वाम की छाति अजहूँ धरकति जिनतें जरि। ५-३२।

का ऐसे कार्य करना जिनसे प्रत्यक्ष में तो भक्तों के प्रति उनकी दया सूचित हो, परन्तु हों वे ऐसे रहस्यपूर्ण कि उनका मर्म सर्वज्ञात न हो। ऐसी 'लीला' का 'दर्शन, वर्णन, गान, श्रवण आदि अपूर्व आनन्द देने के साथ-साथ मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन बनता है। पुष्टिमार्गीय भक्त मोक्ष या कैवल्य को अपना परम-काम्य नहीं मानता। उसकी दृष्टि में अपार सौन्दर्ययुक्त लीला-रत भगवान् के मधुर दर्शनों का आनन्द लोक-परलोक के समस्त सुखों की सम्मिलित राशि से भी कहीं अधिक है। वस्तुतः यह आनंद सभी प्रकार से अलौकिक होता है और इसकी प्राप्ति की पात्रता किसी प्राणी में तब तक नहीं आती जब तक उसमें लौकिक-भाव का लेश भी रहता है। स्व और पर सम्बन्धी समस्त विधि-निबन्धों की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो जाने पर ही वह उस अलौकिक आनन्द अथवा रस का आस्वादन कर सकता है।

'रास' का रहस्य

'रास' मंडल में मध्य में राधा के साथ श्रीकृष्ण नृत्य करते हैं और चारों ओर प्रति गोपी के साथ श्रीकृष्ण-रूप के नृत्य का क्रम चलता है। इसका प्रतीकार्थ है परम पुरुष के साथ प्रकृति अथवा माया का नर्तन। माया के विद्या और अविद्या, दो रूप हैं। श्रीकृष्ण हैं परब्रह्म या परमपुरुष, राधा है प्रकृति अथवा विद्या-माया या उनकी परम आह्लादिनी शक्ति और गोपियाँ हैं, अविद्या-माया या तज्जनित सृष्टि अथवा भक्तात्माएँ। केन्द्रस्थ होकर परब्रह्म और उनकी आह्लादिनी शक्ति का नृत्य निरन्तर चलता रहता है और सारी सृष्टि उनके आकर्षण की प्रेरणा से उनका अनुकरण करके अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है। सांसारिक प्रकृति—शारदीय चंद्रिका, पुष्पित कुंजें, कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी आदि की सुगंध से सुरभित वातावरण, रम्य सिकता के तट को रससिक्त करती और कल-कल के मधुर नाद से बहती यमुना आदि—इस लीला में सेविकावत् योग देती हैं।

लौकिक अर्थ में रास लीला श्रीकृष्ण और गोपियों की सामान्य विलास-लीला समझी जाती है, परन्तु वैष्णव भक्त कवियों ने उसका वर्णन परमात्मा और आत्मा की संयोग-लीला के रूप में किया है। विज्ञान के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति अणु-अणु में आकर्षण शक्ति के उदय के फलस्वरूप उनके संवेग नर्तन से होती है। यही भाव लेकर केन्द्रस्थ नृत्य-लीन प्रकृति-पुरुष के चारों ओर सारी सृष्टि के नर्तन का रास-रूप में वर्णन किया गया है। इस लीला में भाग लेने का अद्भुत आनन्द वैष्णव भक्त कवियों का परम काम्य है और यह प्राप्त उसी को होता है जो गोपी-भाव से परब्रह्म श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रीति रखता हो। लौकिक प्रेम में शारीरिकता की भावना प्रधान होती है और वासना-पूर्ति के लिए 'शरीर' की कामना की जाती है; परन्तु गोपी-भाव की प्रीति में वासना-भाव का लेश नहीं होता, वह शुद्ध और निष्काम,

परब्रह्म रूप हरि, कवि के शब्दों में, 'उलटे उसका ही मन मथ डालते हैं' (छन्द ६३-६४-६५)।

चौथे अध्याय में कवि ने कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में परमप्रभु श्रीकृष्ण की ठकुराई बताई है—

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जदपि एकहि ठकुराई।१०।

और पाँचवें में श्रीकृष्ण की पद-रज की 'छाहीं' में कोटि कल्पतरुओं के बसने की और उनकी चरण-रज में कोटि-कोटि कामधेनुओं के लोटने की बात कही है। (छंद २)।

दार्शनिकों ने माया को ब्रह्म की आज्ञाकारिणी शक्ति माना है जो सारे विश्व को अपने वश में करने के लिए यत्नशील रहती है। नंददास के श्रीकृष्ण भी चौथे अध्याय में कहते हैं कि विश्व को मोहने के कार्य में संलग्न माया मेरी ही शक्ति है—

सकल बिस्व अप-बस करि मो माया सोहति।१५।

काव्यारंभ में वृंदावन का वर्णन परब्रह्म के परम धाम के रूप में किया गया है। परब्रह्म जिस प्रकार काल और गुण से अतीत है, उसी प्रकार उनके विहारस्थल पर भी काल, गुण आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वृंदावन के पशु-पक्षियों में द्वंद्व या विरोध का सर्वथा अभाव है। वहाँ सदा वसंत रहता है, भाँति-भाँति के पुष्पों की सुगंध से वह वन सदा सुरभित रहता है। वहाँ के वृक्ष कामना-पूर्ति की शक्ति से सम्पन्न हैं। वृन्दावन में एक कल्पवृक्ष है जिसमें हीरे-मोती के पत्र-पुष्प हैं। वन की भूमि कनकमद है जिस पर वृक्षादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि नंददास ने वृंदावन का वर्णन प्रकृति-शोभा-सम्पन्न सामान्य वन-खंड के रूप में न करके उसकी अद्भुत शोभा, अमित रमणीयता और दिव्य श्री-संपन्नता की चर्चा करके उसे अलौकिकता प्रदान की है।

ब्रज में बहुत समय तक रहते हुए भी गोपियों को रासलीला में भाग लेने का सौभाग्य तभी मिलता है जब श्रीकृष्ण उनकी अनन्य प्रीति से संतुष्ट होकर वेणु बजाकर उनका आह्वान करते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार 'वेणु' या 'मुरली' ब्रह्म का शब्द या नाद स्वरूप है। परब्रह्म की इस विश्वमोहिनी शक्ति की ध्वनि का सम्मोहन केवल गोपियों को ही नहीं, समस्त जड़-चेतन प्रकृति को विमोहित करने में समर्थ है। श्रीकृष्ण की वेणु या मुरली का यह अलौकिक प्रभाव सूचित करने के लिए ही 'पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में नंददास ने उसे 'अघटित घटना—चतुर जोगमाया' कहा है (छन्द २८)।

'पंचाध्यायी' की गोपियां भी साधारण नारियाँ नहीं हैं और श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम भी वासना-जनित नहीं है। इसी कारण प्रथम अध्याय में नंददास ने उन्हें

१२

भँवरगीत

डॉ ओमप्रकाश सिंहल

किसी कृतिकार की सर्जनात्मक प्रतिभा रचना के आकार-प्रकार पर नहीं उसकी गुणवत्ता पर आधृत होती है। यही कारण है कि महान् कलाकार अपनी संक्षिप्ताकार रचनाओं के माध्यम से भी इतनी अधिक ख्याति अर्जित कर लेते हैं कि अन्य कलाकार उससे पांच, सात या दस गुनी बड़ी रचनाओं का प्रणयन करके भी प्राप्त नहीं कर पाते। नन्ददास हिन्दी के ऐसे ही प्रतिभासम्पन्न कवि कलाकरों में से एक हैं जिन्होंने ७५ छन्दों में निबद्ध भँवरगीत नाम्नी कृति के माध्यम से पर्याप्त यश अर्जित किया है।

हिन्दी की भँवरगीत विषयक सभी रचनाओं का मूल आधार श्रीमद्भागवत के ४६वें तथा ४७वें अध्यायों में आया हुआ वह प्रकरण है जिसमें श्रीकृष्ण ब्रज की स्मृति आने पर गोकुलनिवासियों को सान्त्वना देने के लिए अपने प्रिय सखा उद्धव को गोकुल भेज देते हैं। गोकुल पहुँचने पर उद्धव नन्द यशोदा से मिलते हैं तथा प्रातः काल के समय गोपियाँ नन्द के द्वार पर स्वर्ण रथ को खड़ा देखकर परस्पर एक दूसरी से यह पूछने लगती हैं कि वह रथ किसका हो सकता है। किसी को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः वह रथ अक्रूर का होगा किन्तु अन्य गोपियों का कथन है कि अब उसका क्या काम ? क्या अब वह हमें ले जाकर कंस का पिंडदान करना चाहता है ? इस प्रकार के विचार-विनिमय में लीन उन गोपियों को उद्धव आते हुए दिखाई देते हैं। उद्धव का रूपाकार तथा पीताम्बर, कानों में मणि-जटित कुण्डल, कमल दल के समान नयनाभिराम नेत्र, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ आदि को देखकर उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे इस आगन्तुक अतिथि का परिचय प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठती हैं। जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि आगन्तुक अतिथि कृष्ण के प्रिय सखा उद्धव हैं तब तो वे उनका भरपूर आदर सत्कार करती हैं और कृष्ण का कुशल समाचार पूछने लगती हैं। तदनन्तर गोपियां अपने हृदय की व्यथा व्यक्त करने लगती हैं। अपनी मनोव्यथा व्यक्त करती हुई वे उद्धव से यह कहती हैं

भी विकल होकर आंसू बहाती है। राधा का परम-शक्ति-स्वरूप होना इससे भी व्यंजित है।

लौकिक सुख-विलास में संलग्न नायक-नायिका का 'समय' पर कोई अधिकार नहीं रहता और इसी कारण सुख-भोग के क्षण बहुत शीघ्र बीत जाते हैं। परन्तु रासलीला के अवसर पर चंद्र-सूर्य आदि भी थकित होकर स्तब्ध रह जाते हैं जिससे समय आगे नहीं बढ़ता और निरन्तर रात्रि ही बनी रहती है। इसका स्पष्ट संकेत है कि काल या समय भी परब्रह्म का वशवर्ती है और उन्हीं के संकेत से संचालित होता है।

रासलीला के अन्त में श्रीकृष्ण के साथ राधा और गोपियों की जल-क्रीड़ा की चर्चा है जिसके अनन्तर लौकिक वस्त्राभूषणों का परित्याग कर, श्रीकृष्ण की आज्ञा से एक वृक्ष द्वारा प्रदत्त दिव्य या अलौकिक वस्त्राभूषण वे ब्रजबालाएँ धारण करती हैं। इससे कवि यह सूचित करता है कि इस प्रकार रस-स्नान के द्वारा परब्रह्म श्रीकृष्ण गोपियों के लौकिक भाव का सारा कल्मष दूर करके, उन्हें सर्वथा शुद्ध करके, मात्र प्रेमाभक्ति-स्वरूप प्रदान करते हैं।

'पंचाध्यायी' के अन्त में नंददास ने रास लीला के आनन्द को 'अद्‌भुत' बता कर उसकी भी अलौकिकता प्रतिपादित की है। कवि की सम्मति में, इस लीला का वर्णन शेष भी नहीं कर सकता, उसका अनुभव शिव को केवल ध्यान में ही होता है एवं सनक, सनंदन, नारद, शारदा आदि भी उसकी कामना करते हैं (छन्द ३५)। जो कमला निशि-दिन परब्रह्म के पद-कमलों की सेवा करती है, उसे भी रास-रस का अनुभव करने का सौभाग्य कभी स्वप्न में भी नहीं मिल सका है—

जदपि यह पद-कमल जु कमला सेवन निसि-दिन,
तदपि यह रस सपने कबहूँ नहिं पायौ तिन। ३६।

भौतिक-भावों, वस्तुओं और प्राणियों का प्रधान गुण है नश्वरता; परन्तु नंददास ने 'पंचाध्यायी' के पाँचवें अध्याय में, वेदों के अनुसार, श्रीकृष्ण और ब्रज-बालाओं के साथ-साथ रास-रस को भी नित्य अथवा शाश्वत बताकर सबकी निर्विवाद अलौकिकता सिद्ध की है।

सारांश यह है कि 'रास-पंचाध्यायी' में वर्णित रास लीला लौकिक विलास-प्रसंग नहीं है। वह परब्रह्म और उसकी प्रकृति के साथ शुद्ध प्रेमात्माओं की दिव्य और लोकातीत प्रेम-क्रीड़ा है। लीला में भाग लेने वाले जब अलौकिक व्यक्तित्व रखते हैं, तब स्वभावत: उनका सारा व्यापार भी लोकातीत होना ही चाहिए। वर्णन उसका लौकिक विलासवत् इसलिए किया गया है कि रचयिता और उसके सभी पाठक लौकिक नर-नारी हैं।

उन विषयों का चिन्तन करने वाले मन और इन्द्रियों को रोक ले और मानों सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत् के स्वाप्निक विषयों को त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे। जिस प्रकार सभी नदियां घूम-फिरकर समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार मनस्वी पुरुषों का वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रिय-संयम और सत्य आदि समस्त धर्म, मेरी प्राप्ति में ही समाप्त होते हैं। सब का सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार क्योंकि वे सब मन को निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचते हैं'।

'गोपियो। इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुवतारा हूं, तुम्हारा जीवन सर्वस्व हूँ, किन्तु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है। वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीर से दूर रहने पर भी मन से तुम मेरी सन्निधि का अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रक्खो। क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियों का चित्त अपने परदेसी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता है उतना आँखों के सामने पास रहने वाले प्रियतम में नहीं लगता। इस प्रकार जब तुम लोग मेरे ही स्मरण-चिन्तन में मग्न हो जाओगी तब तुम्हारे चित्त की वृत्तियां कहीं नहीं जायेंगी, सारी शान्त हो जायेंगी। तब तुम्हारा पूरा मन मुझ में प्रवेश कर जायेगा और तुम लोग नित्य निरन्तर मेरे अनुस्मरण में मग्न रहकर शीघ्र से शीघ्र मुझे सदा के लिए पा लोगी। तब फिर मेरा और तुम्हारा वियोग कभी न होगा। तुम तो जानती ही हो, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कल्याणियो! जिस समय मैंने वृन्दावन में शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में रास-क्रीड़ा की थीं उस समय जो गोपियाँ स्वजनों के रोक लेने से व्रज में ही रह गईं—मेरे साथ रास-विहार में सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गई थीं। तुम्हें भी मैं मिलूंगा जरूर, निराश होने की कोई बात नहीं है।"[1]

यह सन्देश सुनकर गोपियां बहुत अधिक आनन्दित होती हैं और उन्हें श्रीकृष्ण की लीलाएं याद आने लगती हैं। सहसा एक गोपी उद्धव से यह पूछती है कि हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण को क्या कभी हम गंवारिनों की याद भी आती है। फिर एक गोपी कह उठती है कि अब उन्हें हमारी याद क्यों आएगी? अब तो वह बड़े-बड़े नरपतियों की कुमारियों से विवाह करेंगे और हम गंवारिनों के पास क्यों आवेंगे। तदनन्तर वे उद्धव से इस बात का निवेदन करतीं हैं कि किस प्रकार उन्हें कृष्ण की हंस की चाल, उन्मुक्त हास्य, विलासपूर्ण चितवन आदि भुलाए नहीं भूलती। वे कृष्ण से लौटने तथा अपनी रक्षा का निवेदन करने लगती हैं। गोपियों की विरह-व्यथा को दूर करने के लिए उद्धव कई महीने तक व्रज में रहते हैं और इस बीच गोपियों की प्रेम-विकलता एवम् तन्मयता देखकर प्रेम तथा आनन्द से भर उठते हैं। वह वृन्दावनधाम की कोई

---

१. श्री भद्भागवत के संस्करण (प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर) से उद्धृत।

न करोगे तो विरह-पावक में हम अपने शरीर भस्म कर देंगी—

जो न देउ यह अधरामृत तो सुन सुन्दर हरि,
करिहैं यह तन भस्म बिरह-पावक में गिरि परि। १-५४।

श्रीकृष्ण ने गोपियों की परीक्षा ली और वे उसमें पूर्णतया सफल हुईं। अपनी प्रियतमाओं की दृढ़ प्रीति देखकर और उनके प्रेम-वचन सुनकर श्रीकृष्ण का कोमल हृदय नवनीत के समान पिघल गया। तदनन्तर विविध वाद्यों के सम्मिलित स्वर के साथ नृत्य-विलास आरम्भ हो जाता है। श्रीकृष्ण संयोग शृंगार के लौकिक व्यापारों द्वारा गोपिकाओं की कामना पूर्ण करते हैं—

परिरम्भन, चुंबन क्रूर-नख नीवी कुच परसत,
सरसत प्रेम अनंग-रंग नव घन ज्यों बरसत। १-६३।

श्रीकृष्ण कुछ समय को अन्तर्धान होकर जब पुनः प्रकट होते हैं, तब अत्यन्त प्रेमावेश में कोई गोपी उनके उर-वर से जा लिपटी, कोई गले से यह कहकर जा लिपटी कि तुम बड़े 'कपटी' हो, कोई बड़े लाड़ से प्रियतम की भुजाओं से लिपटकर मटकने लगी, तो किसी ने उनके पद कमल अपने कुचों के बीच रख लिए—

(क) कोऊ चटपट सों झपटि जाइ उर-वर सौं लपटी,
कोउ गर लपटी कहति, भले जू कान्हा कपटी। ४-२।

(ख) कोऊ पिय-भुज सों लटकि, मटकि रहि नारि नवेली,
... ...
कोउ कोमल पद-कमल, कुचन बिच राखि रही यौं। ४-५।

प्रियतमाओं के ऐसे प्रेम-व्यापारों से श्रीकृष्ण के मुख पर कहीं काजल लग गया, कहीं कुमकुम और कहीं उनके अंगों पर पीक-लीक झलकने लगी—

कहुँ काजर कहुँ कुमकुम, कहुँ इक पीक-लीक वर। ४-७।

प्रियतम श्रीकृष्ण जब सब प्रकार से अनुकूल हो गये तब उन्होंने प्रियतमाओं को संयोग का चरम सुख प्रदान करने के लिए कमल-चक्र पर अद्भुत सुरास आरम्भ किया। नटनागर के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-भंगिमा का अनुकरणात्मक अभिनय करने के साथ एक ब्रजबाला उनका यशोगान करने लगी जिसे देख-सुनकर स्वयं नंदलाल भी चकित हो गये (छन्द ५-११)। दूसरी ने मुरली की मधुर ध्वनि में अपने स्वर की मधुरिमा मिलाकर संगीत का माधुर्य बढ़ा दिया तो तीसरी उसकी ध्वनि का अतिक्रमण कर अत्यन्त अद्भुत स्वर में गाने लगी (छन्द ५-१२)। उसके संगीत-कौशल पर रीझकर मुरली मनोहर ने उसे भुजाओं में भर लिया और उसके चुंबन लेकर जैसे उसे पुरस्कृत कर दिया—

हैं कि वे कृष्ण का सन्देश देने के लिए बहुत देर से एकान्त स्थल की खोज में थे। नन्ददास की गोपियां जिस समय कृष्ण का सन्देश सुनती हैं तो विह्वल होकर अचेत हो जाती हैं। उद्धव जल के छींटे देकर उनकी चेतना वापिस लाने का प्रयास करते हैं। श्रीमद्भागवत में इस प्रसंग का कहीं पर भी वर्णन नहीं है। इसी प्रकार से श्रीमद्भागवत में उद्धव कृष्ण का जो सन्देश गोपियों को देते हैं उसमें ज्ञानयोग, भक्ति तथा सगुण-निर्गुण विषयक कोई वाद-विवाद ही नहीं है। वहां पर तो उद्धव गोपियों को मनोनिग्रह का उपदेश देते हैं और गोपियाँ भी उसे सिर माथे रख लेती है—वहां पर ज्ञान के खण्डन का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि गोपियाँ बोलती तक नहीं। लेकिन मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में इस प्रसंग का रूप ही बदल गया है। इस युग के कृष्ण भक्त कवियों ने तो ज्ञान मार्ग तथा निर्गुण का खण्डन करके प्रेम लक्षणा भक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित किया है। इन कवियों की गोपियां इतना बोलती हैं कि ज्ञान के प्रतीक उद्धव की बोलती बन्द कर देती हैं। सम्भवतः यह सब सामयिक प्रभाव का परिणाम है। वह युग एक ऐसा युग था जिसमें सगुण और निर्गुण के सम्बन्ध में पर्याप्त वाद-विवाद छिड़ा हुआ था। नन्ददास भी अपने आपको उस वादविवाद से विमुख नहीं रख पाये हैं, इसीलिए भँवरगीत में नन्ददास की गोपियां ज्ञानगर्व से मण्डित उद्धव की सिट्टी-पिट्टी गुम कर देती हैं और उद्धव को पराजित होकर उनके सामने घुटने टेक देने पड़ते हैं—वह प्रेम मार्ग में दीक्षित हो जाते हैं तथा मन ही मन उन क्षणों की याद करके बहुत लज्जित होते हैं जब वह भावावेश में आकर गोपियों से वाद-विवद में उलझ पड़े थे। वह यह सोचने लगते हैं कि किस प्रकार से वन्दना-योग्य इन गोपियों की चरणधूलि को अपने मस्तक पर लगाया जाए तथा इन गोपियों को रिझा कर प्रेमा-भक्ति को प्राप्त किया जाये जिससे उनके अपने मन का द्विधा-ज्ञान मिट सके और कृष्ण की प्रेमा भक्ति प्राप्त हो सके। उद्धव के इस प्रकार के विचारों में लीन रहते हुए ही एक भँवरा उड़ता हुआ आ जाता है और गोपियों के चरणस्पर्श का प्रयत्न करने लगता है। सम्भवतः यह मधुप उद्धव का मन ही था जो गोपियों के चरणस्पर्श के लिए बाहर आ गया था। भ्रमर-प्रवेश की यह कल्पना नन्ददास की मौलिक सूझ-बूझ का परिचय देती है क्योंकि श्रीमद्भागवत में यह प्रकरण इस रूप में नहीं आया है। श्रीमद्भागवत में तो गोपियाँ उद्धव से बातचीत करते-करते आत्मविस्मृत हो उठती हैं तथा फूट-फूट कर रोने लगती हैं। इस विलाप के बाद भ्रमर-प्रवेश होता है तथा गोपियाँ अपने विरहोद्गारों को उपालम्भ तथा व्यंग्य के द्वारा व्यक्त कर देता हैं। भँवरगीत प्रसंग के अन्तर्गत ही कृष्ण के विविध अवतारों का उल्लेख और उनकी निष्ठुरता का वर्णन किया गया है। लेकिन नन्ददास ने अपने भँवरगीत में कृष्ण के विविध अवतारों तथा निष्ठुरता का वर्णन भ्रमर के आगमन से पूर्व किया है। इतना ही नहीं नन्ददास ने हिरण्यकश्यप तथा प्रह्लाद, परशुराम की माता का वध और क्षत्रिय

को जड़ को चैतन्य, कछू न जानत बिरही मन । २-४ ।

वृंदावन के विविध तरुवर, लता, पुष्प, पवन, यमुना, अवनी आदि से गोपियों ने अपने प्रियतम का पता पूछा (छन्द २ से ११) । उनसे उत्तर न मिलने और खोज के सारे प्रयत्न करके भी असफल रहने पर गोपियों की विरह-व्यथा इतनी बढ़ जाती है कि उन्हें उन्माद-सा हो जाता है । प्रियतम का ध्यान करते-करते वे पूर्ण तन्मय हो जाती हैं; उनकी सारी वृत्तियां उन्हीं में रम जाती हैं और उन्हें यह ध्यान ही नहीं रह जाता कि हम कौन हैं, क्या हैं और कहां हैं—

केवल तन्मय भईं कछु न जानैं हम को हैं । २-१३ ।

तन्मयता का यह भाव क्रमशः इतना बढ़ जाता है कि गोपिकाएँ स्वयं को उसी प्रकार प्रियतम का रूप समझने लगती हैं जैसे भृंगी-कीड़ा भृंग का ध्यान करते-करते उसी का रूप धारण कर लेता है (छन्द २-१६) । तदनन्तर वे मोहनलाल की मनभाई विविध लीलाएँ करने लगीं । उनके चलने, देखने, गैयाँ घेरने, टेरने, पट फेरने, दावानल से वृंदावनवासियों की रक्षा करने आदि कार्य-व्यापारों का इस प्रकार अनुकरण करना आरम्भ किया जैसे वे स्वयं कृष्ण हों (छन्द २-१४ और १५) । काव्य की दृष्टि से तो यह प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है ही, प्रेमा-भक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है । कवि इस प्रसंग के द्वारा सूचित करता है कि विरह की तीव्राग्नि में गोपियों के समस्त लौकिक भाव क्रमशः भस्म हो जाते हैं और प्रेम की नितांत निर्मलावस्था में वे कृष्णमय हो जाती हैं ।

प्रियतम की खोज में व्यस्त गोपियों की भेंट अकस्मात् राधा से होती है जिसकी दयनीय दशा का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है (छन्द २-२४ से २६) । राधा भी सखियों से अपने गर्व की बात स्वीकार करके पश्चात्ताप के आँसू बहाती है । उसका विरह-विलाप सुनकर 'खग-मृग-वेली' भी रोने लगते हैं—

महा बिरह की धुनि सुनि रोवत खग-मृग-ब्रेली । २-२६ ।

अंत में करुणामय श्रीकृष्ण गोपियों की अपराध-स्वीकारोक्ति से संतुष्ट और करुण क्रंदन से द्रवित होकर उन्हें पुनः दर्शन देकर विरह-जन्य दुःख दूर करते हैं । इस प्रकार नंददास का वियोग-वर्णन मार्मिक होने के साथ-साथ शास्त्रीय दशाओं और संचारियों के निर्वाह की दृष्टि से भी सफल है ।

अर्थालंकार

'पंचाध्यायी' में यों तो उपमा, रूपक (छन्द १-७ और ८), अनन्वय (छन्द १-१५), सन्देह (छन्द २-२५) आदि के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, परन्तु इसमें सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है उत्प्रेक्षा अलंकार जिसके दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत विषयक रचना लिखने वालों में सूरदास का नाम अग्रगण्य है। अतः यह देखना समीचीन प्रतीत होता है कि नन्ददास ने सूर की भ्रमरगीत विषयक रचनाओं से कितना कुछ उधार लिया है और कितना अपना जोड़ा है। सूरदास ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की है। इनमें से एक तो अत्यन्त विस्तृत है और श्रीमद्भागवत का अविकल अनुवाद है। दोहा-चौपाई की शैली में लिखे गए इस भ्रमरगीत का साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दूसरा भ्रमरगीत दोहा तथा रोला मिश्रित छन्द में लिखा गया है। नन्ददास ने इसी भ्रमरगीत का अनुकरण किया है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना नितान्त अनुचित होगा कि नन्ददास ने इस भ्रमरगीत के आख्यान को ज्यों का त्यों ले लिया है। वस्तुतः नन्ददास तथा सूरदास की इन दोनों रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहते कि इन दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। यह वैषम्य प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियाँ एक रत्नजड़ित रथ को आता हुआ देखती हैं और यह रथ उसी मार्ग से जा रहा था जिस मार्ग से कृष्ण मथुरा को गये थे। गोपियाँ दौड़कर आदरपूर्वक उद्धव को बुला लाती हैं और कृष्ण का कुशल समाचार पूछने लगती हैं। उद्धव गोपियों के इस प्रेम को देखर अत्यन्त प्रभावित होते हैं और यह सोचने लगते हैं कि क्या कृष्ण ने ब्रजवासियों के इसी प्रेम को भुलाकर यह सन्देश प्रेषित किया है। तदनन्तर वह गोपियों को कृष्ण द्वारा भेजा गया पत्र दे देते हैं। प्रेम-विह्वल गोपियां उस पत्र को पढ़ नहीं पातीं और उनके इस प्रेममय रूप को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो जाता है। लेकिन इतना होने पर भी उद्धव योग का उपदेश देना प्रारम्भ कर देते हैं और फिर उद्धव-गोपी वाद-विवाद का श्रीगणेश हो जाता है। अन्ततः उद्धव गोपियों को अपना गुरु मान लेते हैं और उनका गुणगान करते हुए ब्रज में घूमते है। कृष्ण के पास भी वे गोप का वेश धारण करके ही जाते हैं और उनसे यह अनुरोध करते हैं कि ब्रज में जाकर सबको अपना दर्शन अवश्य दें। उद्धव पृथ्वी पर गिरकर अपने नेत्रों में अश्रुजल भरकर कृष्ण के चरण कमलों को पकड़े बिना भी नहीं रह पाते। उसी समय कृष्ण उद्धव को उठा लेते हैं और अपने पीताम्बर से उनके आँसुओं को पोंछते हुए अत्यन्त परिहासपूर्ण स्वर में यह कहते हैं कि अच्छा योग सिखा आये हो। नन्ददास ने इस सारे कथानक को एक दूसरे ही रूप में रखा है। उदाहरण के लिए उनके यहाँ न तो उद्धव के रथारूढ़ होकर ब्रजागमन की कथा ही है, और न पत्र-प्रसंग ही। इसी प्रकार से सूरदास ने जहाँ अपने पदों में राधा और कुब्जा का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है वहाँ नन्ददास के यहां कुब्जा का उल्लेख तो है किन्तु राधा का कोई जिक्र ही नहीं आया है। नन्ददास की गोपियां सूर की गोपियों से अधिक वाचाल और तर्क-प्रवीणा प्रतीत होती हैं तथा उद्धव भी आसानी से हार

सुंदर उदर उदार रोमावलि राजति भारी,
हिय-सरवर रस-भरी चली मनु उमँगि पनारी । १-५ ।
ता रस की कुंडिका नाभि-सोभित अस गारी,
त्रिबली तामैं ललित भाँति जनु उपजति लहरी । १-६ ।

आलंकारिक रूप में प्रकृति-चित्रण के दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कार्य-व्यापार की स्पष्टता के लिए प्रकृति के परिचित दृश्यों की ओर इंगित किया जाता है; जैसे—

सबके मुख अवलोकत पिय के नैन बने यौं,
स्वच्छ सुघर ससि माँझ अरबरे हैं चकोर ज्यौं ।
अति आदर कर लई, भरे, चहुँ दिसि ठाढ़ी मनु,
छटा छवीली छेंकि रही मृदु घन मूरति जनु । १-४२ ।

प्रकृति के आलंकारिक प्रयोग के तीसरे प्रकार के उदाहरण उन स्थलों पर मिलते हैं जहाँ कार्य या व्यापार-सम्बन्धी स्पष्टता के लिए उन असंभावित प्राकृतिक दृश्यों की कल्पना की जाती है, जो कभी दिखाई नहीं देते, मात्र कवि की कल्पना की देन होते हैं; जैसे—

(क) कोउ नागर-नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी,
ज्यौं नवघन तैं सटकि दामिनी दामिनि अटकी । ४-४ ।
(ख) तिय-गन-तन झलमलत बदन तहँ अति छवि छाये,
फूलि रहे जनु जमुन कनक के कमल सुहाये । ५-२६ ।

प्रकृति के संवेदनशील चेतन रूप-वर्णन से तात्पर्य है उसके विविध अंगों में मानवीय भावों का आरोप करना । 'पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में 'शरच्चंद' का मंद-मंद चलकर रमा-रमण का कौतुक देखने आना कहा गया है । इसके मूल में कवि का प्रयास प्रकृति के उस अंग को मानवीय चेतनता प्रदान करने का ही है—

मंद-मंद चलि चारु चंद्रमा अति छवि छाई,
झलकत है जनु रमा-रमन-पिय कौतुक आई। १-२७ ।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण और गोपियों की रास लीला देखकर और गीत सुनकर पवन, शशि, उडुमंडल, रवि और शरद् रात्रि के रीझने तथा स्तब्ध रह जाने एवं शिलाओं के जलवत् प्रवाहित होने लगने और जल के हिमवत् जम जाने में भी प्रकृति के इन अंगों की चेतन-शीलता की ओर संकेत है—

पवन थक्यो, ससि थक्यो, थक्यो उडुमंडल सगरो,
पाछे रवि-रथ थक्यो, चल्यों नहिं आगे डगरो । ५-२१ ।

× × ×

हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत विषयक रचना लिखने वालों में सूरदास का नाम अग्रगण्य है। अतः यह देखना समीचीन प्रतीत होता है कि नन्ददास ने सूर की भ्रमरगीत विषयक रचनाओं से कितना कुछ उधार लिया है और कितना अपना जोड़ा है। सूरदास ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की है। इनमें से एक तो अत्यन्त विस्तृत है और श्रीमद्भागवत का अविकल अनुवाद है। दोहा-चौपाई की शैली में लिखे गए इस भ्रमरगीत का साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दूसरा भ्रमरगीत दोहा तथा रोला मिश्रित छन्द में लिखा गया है। नन्ददास ने इसी भ्रमरगीत का अनुकरण किया है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना नितान्त अनुचित होगा कि नन्ददास ने इस भ्रमरगीत के आख्यान को ज्यों का त्यों ले लिया है। वस्तुतः नन्ददास तथा सूरदास की इन दोनों रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहते कि इन दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। यह वैषम्य प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियाँ एक रत्नजड़ित रथ को आता हुआ देखती हैं और यह रथ उसी मार्ग से जा रहा था जिस मार्ग से कृष्ण मथुरा को गये थे। गोपियाँ दौड़कर आदरपूर्वक उद्धव को बुला लाती हैं और कृष्ण का कुशल समाचार पूछने लगती हैं। उद्धव गोपियों के इस प्रेम को देखर अत्यन्त प्रभावित होते हैं और यह सोचने लगते हैं कि क्या कृष्ण ने ब्रजवासियों के इसी प्रेम को भुलाकर यह सन्देश प्रेषित किया है। तदनन्तर वह गोपियों को कृष्ण द्वारा भेजा गया पत्र दे देते हैं। प्रेम-विह्वल गोपियां उस पत्र को पढ़ नहीं पातीं और उनके इस प्रेममय रूप को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो जाता है। लेकिन इतना होने पर भी उद्धव योग का उपदेश देना प्रारम्भ कर देते हैं और फिर उद्धव-गोपी वाद-विवाद का श्रीगणेश हो जाता है। अन्ततः उद्धव गोपियों को अपना गुरु मान लेते हैं और उनका गुणगान करते हुए ब्रज में घूमते है। कृष्ण के पास भी वे गोप का वेश धारण करके ही जाते हैं और उनसे यह अनुरोध करते हैं कि ब्रज में जाकर सबको अपना दर्शन अवश्य दें। उद्धव पृथ्वी पर गिरकर अपने नेत्रों में अश्रुजल भरकर कृष्ण के चरण कमलों को पकड़े बिना भी नहीं रह पाते। उसी समय कृष्ण उद्धव को उठा लेते हैं और अपने पीताम्बर से उनके आँसुओं को पोंछते हुए अत्यन्त परिहासपूर्ण स्वर में यह कहते हैं कि अच्छा योग सिखा आये हो। नन्ददास ने इस सारे कथानक को एक दूसरे ही रूप में रखा है। उदाहरण के लिए उनके यहाँ न तो उद्धव के रथारूढ़ होकर ब्रजागमन की कथा ही है, और न पत्र-प्रसंग ही। इसी प्रकार से सूरदास ने जहाँ अपने पदों में राधा और कुब्जा का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है वहाँ नन्ददास के यहां कुब्जा का उल्लेख तो है किन्तु राधा का कोई जिक्र ही नहीं आया है। नन्ददास की गोपियां सूर की गोपियों से अधिक वाचाल और तर्क-प्रवीणा प्रतीत होती हैं तथा उद्धव भी आसानी से हार

सुंदर उदर उदार रोमावलि राजति भारी,
हिय-सरवर रस-भरी चली मनु उमँगि पनारी। १-५।
ता रस की कुंडिका नाभि-सोभित अस गारी,
त्रिबली तामैं ललित भाँति जनु उपजति लहरी। १-६।

आलंकारिक रूप में प्रकृति-चित्रण के दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कार्य-व्यापार की स्पष्टता के लिए प्रकृति के परिचित दृश्यों की ओर इंगित किया जाता है; जैसे—

सबके मुख अवलोकत पिय के नैन बने यों,
स्वच्छ सुघर ससि माँझ अरबरे हैं चकोर ज्यों।
अति आदर कर लई, भरे, चहुँ दिसि ठाढ़ी मनु,
छटा छबीली छेंकि रही मृदु घन मूरति जनु। १-४२।

प्रकृति के आलंकारिक प्रयोग के तीसरे प्रकार के उदाहरण उन स्थलों पर मिलते हैं जहाँ कार्य या व्यापार-सम्बन्धी स्पष्टता के लिए उन असंभावित प्राकृतिक दृश्यों की कल्पना की जाती है, जो कभी दिखाई नहीं देते, मात्र कवि की कल्पना की देन होते हैं; जैसे—

(क) कोउ नागर-नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी,
ज्यों नवघन तें सटकि दामिनी दामिनि अटकी। ४-४।
(ख) तिय-गन-तन झलमलत बदन तहँ अति छबि छाये,
फूलि रहे जनु जमुन कनक के कमल सुहाये। ५-२६।

प्रकृति के संवेदनशील चेतन रूप-वर्णन से तात्पर्य है उसके विविध अंगों में मानवीय भावों का आरोप करना। 'पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में 'शरच्चंद' का मंद-मंद चलकर रमा-रमण का कौतुक देखने आना कहा गया है। इसके मूल में कवि का प्रयास प्रकृति के उस अंग को मानवीय चेतनता प्रदान करने का ही है—

मंद-मंद चलि चारु चंद्रमा अति छबि छाई,
झलकत है जनु रमा-रमन-पिय कौतुक आई। १-२७।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण और गोपियों की रास लीला देखकर और गीत सुनकर पवन, शशि, उडुमंडल, रवि और शरद् रात्रि के रीझने तथा स्तब्ध रह जाने एवं शिलाओं के जलवत् प्रवाहित होने लगने और जल के हिमवत् जम जाने में भी प्रकृति के इन अंगों की चेतन-शीलता की ओर संकेत है—

पवन थक्यो, ससि थक्यो, थक्यो उडुमंडल सगरो,
पाछे रवि-रथ थक्यो, चल्यों नहिं आगे डगरो। ५-२१।

× × ×

अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी बना ली है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि कथा एक आनुपातिक ढांचे में बँध नहीं पाई है।

रस काव्य की आत्मा है। अतएव प्रत्येक श्रेष्ठ काव्य का रसात्मक होना स्वाभाविक ही है। नन्ददास विरचित भँवरगीत भी एक अत्यन्त रसपूर्ण काव्य है। गोपियों के एकनिष्ठ तथा निश्छल प्रेम की इस काव्य में अत्यन्त हृदयग्राही व्यंजना हुई है। लेकिन यह ध्यातव्य है कि इस काव्य में गोपियों के संयोग-सुख के स्थान पर वियोगाग्नि को ही उभारा गया है। दूसरे शब्दों में यह विप्रलम्भ शृंगार की रचना है। रसेश्वर परब्रह्म श्रीकृष्ण आलम्बन हैं, उनका मथुरा प्रवास गोपियों के विरह का आधारभूत कारण है, उद्धव का योग सन्देश तथा निर्गुण ब्रह्म की बारम्बार वकालत करना उद्दीपन विभाव है। गोपियों के हृदय में स्थित स्थायी भाव रति की व्यंजना नाना प्रकार से की गई है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त सफल नियोजन हुआ है।

साहित्यशास्त्र में विरह के चार प्रकार स्वीकृत हैं—(क) पूर्वराग, (ख) मान, (ग) प्रवास, और (घ) करुण विप्रलम्भ। भँवरगीत में इनमें से प्रवास विरह का निरूपण हुआ है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के अनन्तर गोपियों की कैसी दारुण अवस्था हो जाती है इसका सर्वप्रथम दर्शन भँवरगीत में उस समय देखने को मिलता है जब वे सन्देशवाहक उद्धव से अपने प्रियतम कृष्ण का नाम सुनकर ही सुध-बुध खो बैठती हैं। उनके हृदय का स्थायी भाव रति उद्दीप्त हो उठता है और कवि उनके रोमांच, अश्रु, स्वर-भंग आदि सात्विक भावों का निरूपण इस प्रकार कर बैठता है—

सुनत स्याम को नाम, ग्राम-ग्रह की सुधि भूली।
भरि आनन्द-रस हृदय, प्रेम-बेलि द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
विवस्था प्रेम की॥ ३॥

इधर तो गोपियों की यह अवस्था है कि वे प्रियतम का नाम सुनते ही सुध-बुध खो बैठती हैं, उधर उद्धव यह उपदेश देते हैं कि व्याकुल होने की कोई बात नहीं। कृष्ण थोड़े ही दिनों में अवश्य आ मिलेंगे, 'मिलिहैं थोरे द्यौस में, जनि जिय होहु अधीर।' यह सुनने पर गोपियों के अन्तर्मन में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की झाँकी घूम जाती है और वे प्रेमावेश के फलस्वरूप मूर्च्छित हो जाती हैं—

सुनि मोहन-संदेश रूप सुमिरन ह्वै आयो।
पुलकित आनन कमल, अंग आवेस जनायो॥

शब्द-प्रयोग के गुण-विशेष के कारण अन्य कवियों को 'गढ़िया' और नंददास को 'जड़िया' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शब्दों के चयन और उनके प्रयोग में नंददास ने सर्वत्र बहुत सावधानी से काम लिया है। वर्ण-मैत्री, शब्द-गठन और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से 'पंचाध्यायी' की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(क) हे चंदन ! दुःख-दंदन सबकी जरनि जड़ावहु,
नंदनंदन जगवंदन चंदन हमहिं बतावहु। २-६।

(ख) नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल, मंजुल मुरली,
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकै सुरजुरली।
मृदुल मधुर टंकार, ताल, झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि। ५-७।

उक्त पंक्तियों में शब्द-चयन-कौशल के कारण भाव-व्यंजना के अनुरूप नाद-सौन्दर्य का, शब्द-संगीत का गुण अनायास आ गया है। ऐसे स्थलों पर अनुप्रास की छटा भी दर्शनीय है। कहीं-कहीं यमक की योजना भी भाषा के नाद-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हुई है; जैसे—

(क) सब रितु सन्त बसन्त रहत जहँ दिनमनि ओभा। १-१३।
(ख) मंद-मंद मुसिकांत निपट मनमथ के मन-मथे। ४-२१।

सारांश

'रास-पंचाध्यायी' कविवर नंददास की सबसे लोकप्रिय रचना है। यह काव्य जहाँ भाव और कला-पक्ष के सुंदर समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त सफल है, वहाँ लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम की दृष्टि से भी। इसकी मनोरम उक्तियाँ जहाँ काव्य-प्रेमियों को मुग्ध करती हैं, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखने वाला भी इसका अध्ययन करते समय भाव-विभोर हो जाता है। काव्य के अन्त में कवि ने लीला-कृति को 'मनहरनी', 'सुन्दर प्रेम-वितरनी' और 'मंगल करनी' कहकर नित्य अपने कंठ में उसके बसे रहने की कामना की है। 'पंचाध्यायी' का पाठक भी उसका अध्ययन करके वैसी ही कामना करने लगता है। प्रस्तुत काव्य की रचना में नंददास की सबसे बड़ी सफलता यही है।

हम कौं पिय तुम एक हों, तुम कौं हम सी कोरि।
बहुमत पाइ के रावरे प्रीति न डारी तोरि ॥
एक ही बार यों ॥ २१४ ॥

तदनन्तर उपालम्भ का क्रम प्रारम्भ हो जाता है और एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद वह निरन्तर वृद्धि पाता चला जाता है। गोपियाँ पहले तो कृष्ण के विभिन्न अवतारों को लेकर नाना प्रकार के व्यंग्य कसती हैं और फिर भ्रमर-प्रवेश के अनन्तर उसके माध्यम से अनेक प्रकार के व्यंग्य बाण छोड़ती हैं। इन व्यंग्य-बाणों में सर्वाधिक मर्मस्पर्शी तो वह बन पड़ा है जहाँ उन्होंने कुब्जा को लक्ष्य कर कृष्ण की खबर ली है—

कोउ कहै रे मधुप तुम्हें लज्जा नाहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम, कूबरी-नाथ कहावै ॥
यहाँ ऊँची पदवी हुती, गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठनपाय ॥
मरत कह बोलकै ॥ ४७ ॥

इस अवतरण में गोपियों के असूया भाव की भी अच्छी व्यंजना हुई है।

विरह के अन्तर्गत एकादश दशाओं का भी उल्लेख किया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण। यद्यपि भँवरगीत एक संक्षिप्ताकार रचना है और इसमें इन विभिन्न अवस्थाओं के अंकन के लिए अधिक अवकाश नहीं था किन्तु फिर भी कवि ने इनकी नितान्त उपेक्षा नहीं की है। यही कारण है कि भँवरगीत में इन विभिन्न अवस्थाओं के चित्र भी देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रलाप की अवस्था को रूपायित करने वाला निम्नलिखित अवतरण देखिए—

कोउ कहै ये निठुर इन्हें पातक नाहिं व्यापै।
पाप-पुण्य के करनहार ये ही हैं आपै ॥
इनके निर्दय रूप में नाहिन कोउ चित्र।
पय प्यावत प्रानन हरे पूतना बाल चरित्र ॥
मित्र ये कौन के ॥ ३५ ॥

चरित्र-चित्रण के लिए जितना अधिक अवकाश प्रबन्ध-काव्य में होता है उतना मुक्तक काव्य में नहीं होता। भँवरगीत में प्रबन्ध-काव्य के कतिपय गुण यथा कथात्मकता, रसात्मकता आदि अवश्य मिलते हैं और इनके आधार पर बहुत से विद्वान् इसे एक प्रबन्ध-रचना मानकर खण्डकाव्य नामक उपभेद के अन्तर्गत स्थान देते हैं किन्तु इसके कथासूत्र इतने क्षीण हैं तथा पात्रों की चारित्रिक रेखाएँ इतनी अधिक धूमिल हैं कि इसे मुक्तक काव्य मानना ही समीचीन प्रतीत होता है। वस्तुतः

कि आपके स्वामी श्रीकृष्ण ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए ही यहां भेजा है अन्यथा अब नन्दगांव में—गौओं के रहने की जगह—कोई स्मरणीय वस्तु दिखलाई नहीं देती। सगे-सम्बन्धियों का बन्धन इतना कठोर होता है कि ऋषि-मुनि तक उसे आसानी से नहीं छोड़ पाते। दूसरों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह तो किसी न किसी स्वार्थ की पूर्ति के हेतु ही हुआ करता है। भौरों का पुष्पों से तथा पुरुषों का स्त्रियों से ऐसा ही स्वार्थपूर्ण प्रेम-सम्बन्ध होता है। संसार में इसी प्रकार के स्वार्थपूरित सम्बन्धों का बोलबाला है। इस प्रकार की बातें कहते-कहते गोपियां श्रीकृष्ण के बाल्यजीवन से लेकर किशोरावस्था तक की लीलाओं का वर्णन कर डालती हैं। वे इतनी अधिक आत्मविस्मृत हो जाती हैं कि उन्हें स्त्रियोचित लज्जा का भी ध्यान नहीं रहता और वे फूट-फूट कर रोना प्रारम्भ कर देती हैं! किसी गोपी को उस समय भगवान् श्रीकृष्ण के मिलन का स्मरण हो आता है। सहसा वह एक भौंरें को गुंजार करती हुई देखती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो श्रीकृष्ण ने उसे रूठी हुई समझ कर मनाने के लिए दूत भेजा हो। बस फिर क्या था, वह भौंरे को लक्ष्य कर श्रीकृष्ण के पूर्व जन्म के अवतारों का उल्लेख करती हुई उनकी निष्ठुरता पर व्यंग्य कसने लगती है। लेकिन इसके साथ ही वह यह भी कह देती है कि जिसे एक बार उसका चस्का लग जाता है वह उसे छोड़ नहीं सकता और इस प्रकार वे भी कृष्ण को छोड़ने में असमर्थ हैं। गोपियों के इस अटूट प्रेम को देखकर उद्धव प्रभावित हो उठते हैं और उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहते। वह उन्हें सान्त्वना देते हैं और यह कहते हैं कि तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने तुम लोगों को परम सुख देने के लिए यह सन्देश भेजा है, भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'मैं सब का उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूं, सबमें अनुगत हूं, इसलिए मुझ से कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार की सभी वस्तुओं में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पांचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएं बनी हैं और यही उन वस्तुओं के रूप में हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूं। वे मुझ में हैं, मैं उनमें हूं और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूं। मैं ही अपनी माया के द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में होकर उनका आश्रय बन जाता हूं तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने आपको ही रचता हूं, और समेट लेता हूं। आत्मा माया और माया के कार्यों से पृथक् है। वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप जड़-प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदों से रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। माया की तीन वृत्तियां हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत। इसके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ तो कभी तैजस् और कभी विश्व रूप से प्रतीत होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह समझे कि स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों के समान ही जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं। इसीलिए

हुए भी सविशेष तथा सगुण है, प्राकृत धर्मों से रहित होने पर भी सधर्मक है तथा मन एवम् वाणी से अगम अगोचर होते हुए भी साधना तथा भक्ति के वशीभूत हो जाता है और स्वेच्छानुसार गम्य तथा गोचर रूप धारण कर लेता है। शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म से इतर जीव और जगत्. असत् और भ्रम-मूलक है। लेकिन वल्लभाचार्य ने जड़ जगत् तथा जीव सृष्टि को सच्चिदानन्द का अंश स्वीकार किया तथा परिणामतः इन्हें सत्य माना है। उनकी मान्यता है कि जगत् में सत् अंश तो विद्यमान रहता है किन्तु चित् तथा आनन्द का तिरोभाव होता है। इसके विपरीत जीव में सत् और चित् धर्म विद्यमान रहते हैं तथा आनन्द का तिरोभाव। आनन्द के तिरोभाव के कारण ही जीव में ब्रह्म के छः गुण—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य भी नहीं होते। भगवद् अनुग्रह के फलस्वरूप जीव आनन्द अंश को प्राप्त कर लेता है और उसे सांसारिक दुःखों से निस्तार प्राप्त हो जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय में श्री कृष्ण को ही मूल ब्रह्म माना गया है। जब वे अपने आनन्द के लिए लीला करना चाहते हैं तब उनकी शक्तियाँ भी उनके साथ विलास करती हैं। इन शक्तियों की संख्या बारह मानी गई है। ये शक्तियाँ भी श्रीस्वामिनी राधा के रूप में विभिन्न नामों से व्यक्त होती हैं। इन्हीं से फिर अनन्त भाव प्रकट होते हैं जो सखी सहचरी आदि के रूप में उनके साथ रहते हैं। पुरुषोत्तम ब्रह्म इन शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही अपने में से श्रीवृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, यमुना, कुंज-निकुंज आदि को भी प्रकट करता है। यद्यपि ये सब ब्रह्म के ऐश्वर्य रूप होने के फलस्वरूप आनन्दमय चेतन रूप हैं किन्तु कृष्णलीला के हेतु जड़ रूप धारण कर लेते हैं।

कि आपके स्वामी श्रीकृष्ण ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए ही यहां भेजा है अन्यथा अब नन्दगांव में—गौओं के रहने की जगह—कोई स्मरणीय वस्तु दिखलाई नहीं देती। सगे-सम्बन्धियों का बन्धन इतना कठोर होता है कि ऋषि-मुनि तक उसे आसानी से नहीं छोड़ पाते। दूसरों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह तो किसी न किसी स्वार्थ की पूर्ति के हेतु ही हुआ करता है। भौरों का पुष्पों से तथा पुरुषों का स्त्रियों से ऐसा ही स्वार्थपूर्ण प्रेम-सम्बन्ध होता है। संसार में इसी प्रकार के स्वार्थपूरित सम्बन्धों का बोलबाला है। इस प्रकार की बातें कहते-कहते गोपियां श्रीकृष्ण के बाल्यजीवन से लेकर किशोरावस्था तक की लीलाओं का वर्णन कर डालती हैं। वे इतनी अधिक आत्मविस्मृत हो जाती हैं कि उन्हें स्त्रियोचित लज्जा का भी ध्यान नहीं रहता और वे फूट-फूट कर रोना प्रारम्भ कर देती हैं। किसी गोपी को उस समय भगवान् श्रीकृष्ण के मिलन का स्मरण हो आता है। सहसा वह एक भौंरें को गुंजार करती हुई देखती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो श्रीकृष्ण ने उसे रूठी हुई समझ कर मनाने के लिए दूत भेजा हो। बस फिर क्या था, वह भौंरे को लक्ष्य कर श्रीकृष्ण के पूर्व जन्म के अवतारों का उल्लेख करती हुई उनकी निष्ठुरता पर व्यंग्य कसने लगती है। लेकिन इसके साथ ही वह यह भी कह देती है कि जिसे एक बार उसका चस्का लग जाता है वह उसे छोड़ नहीं सकता और इस प्रकार वे भी कृष्ण को छोड़ने में असमर्थ हैं। गोपियों के इस अटूट प्रेम को देखकर उद्धव प्रभावित हो उठते हैं और उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहते। वह उन्हें सान्त्वना देते हैं और यह कहते हैं कि तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने तुम लोगों को परम सुख देने के लिए यह सन्देश भेजा है, भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'मैं सब का उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूं, सबमें अनुगत हूं, इसलिए मुझ से कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार की सभी वस्तुओं में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पांचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएं बनी हैं और यही उन वस्तुओं के रूप में हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूं। वे मुझ में हैं, मैं उनमें हूं और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूं। मैं ही अपनी माया के द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में होकर उनका आश्रय बन जाता हूं तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने आपको ही रचता हूं, और समेट लेता हूं। आत्मा माया और माया के कार्यों से पृथक् है। वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप जड़-प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदों से रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। माया की तीन वृत्तियां हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत। इसके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ तो कभी तेजस् और कभी विश्व रूप से प्रतीत होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह समझे कि स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों के समान ही जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं। इसीलिए

हुए भी सविशेष तथा सगुण है, प्राकृत धर्मों से रहित होने पर भी सधर्मक है तथा मन एवम् वाणी से अगम अगोचर होते हुए भी साधना तथा भक्ति के वशीभूत हो जाता है और स्वेच्छानुसार गम्य तथा गोचर रूप धारण कर लेता है। शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म से इतर जीव और जगत्. असत् और भ्रम-मूलक है। लेकिन वल्लभाचार्य ने जड़ जगत् तथा जीव सृष्टि को सच्चिदानन्द का अंश स्वीकार किया तथा परिणामतः इन्हें सत्य माना है। उनकी मान्यता है कि जगत् में सत् अंश तो विद्यमान रहता है किन्तु चित् तथा आनन्द का तिरोभाव होता है। इसके विपरीत जीव में सत् और चित् धर्म विद्यमान रहते हैं तथा आनन्द का तिरोभाव। आनन्द के तिरोभाव के कारण ही जीव में ब्रह्म के छः गुण—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य भी नहीं होते। भगवद् अनुग्रह के फलस्वरूप जीव आनन्द अंश को प्राप्त कर लेता है और उसे सांसारिक दुःखों से निस्तार प्राप्त हो जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय में श्री कृष्ण को ही मूल ब्रह्म माना गया है। जब वे अपने आनन्द के लिए लीला करना चाहते हैं तब उनकी शक्तियाँ भी उनके साथ विलास करती हैं। इन शक्तियों की संख्या बारह मानी गई है। ये शक्तियाँ भी श्रीस्वामिनी राधा के रूप में विभिन्न नामों से व्यक्त होती हैं। इन्हीं से फिर अनन्त भाव प्रकट होते हैं जो सखी सहचरी आदि के रूप में उनके साथ रहते हैं। पुरुषोत्तम ब्रह्म इन शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही अपने में से श्रीवृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, यमुना, कुंज-निकुंज आदि को भी प्रकट करता है। यद्यपि ये सब ब्रह्म के ऐश्वर्य रूप होने के फलस्वरूप आनन्दमय चेतन रूप हैं किन्तु कृष्णलीला के हेतु जड़ रूप धारण कर लेते हैं।

ब्रह्म के दो स्वरूप स्वीकार किये गये हैं जिनमें एक तो धर्म संस्थापक का है और दूसरा रसात्मक। ब्रज में दुष्टों का संहार तथा मथुरा, द्वारिका और कुरुक्षेत्र में अपनी लीलाओं को दिखलाने वाले कृष्ण का रूप उनका धर्म-संस्थापक का रूप माना जाता है जबकि अपने बालरूप में नन्द-यशोदा को आनन्द देने वाले ग्वालबालों के साथ गोचारण करने तथा गोपियों के साथ रास रचाने वाले रूप को रसात्मक माना गया है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के इसी रसात्मक रूप को वरेण्य माना है। ब्रह्म के इसी रूप पर सब कुछ समर्पित कर देने को पुष्टि भक्ति कहते हैं।

भँवरगीत में ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप का खण्डन किया गया है तथा सगुण साकार रूप की प्रतिष्ठा की गई है। ब्रह्म प्राप्ति का सर्वसुलभ तथा हृदय-ग्राही साधन भक्ति को माना गया है न कि ज्ञान और योग को। इस रचना में उद्धव निर्गुण मतानुयायी हैं तथा गोपियाँ ब्रह्म के सगुण रूप की उपासिका हैं। उद्धव नाना प्रकार से गोपियों को ज्ञान द्वारा ब्रह्म प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हैं किन्तु गोपियाँ प्रेममार्ग को छोड़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं अपनाना चाहतीं। उद्धव उन्हें

झाड़ी, गुल्म, लता आदि बनने की कामना करने लगते हैं जिससे उन्हें व्रजांगनाओं की चरण-धूलि सुलभ हो सके। कई महीनों तक व्रज में रहने के बाद वह नन्द बाबा, गोपगणों आदि की भेंट लेकर मथुरा लौट आते हैं। मथुरा लौटकर उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया तथा व्रजवासियों की भक्ति का जैसा उद्रेक स्वयं देखा था वह कह सुनाया और भेंट की जो-जो सामग्री मिली थी वह दे दी।

श्रीमद्भागवत का यही प्रसंग हिन्दी के भ्रमरगीत साहित्य का मूल आधार बना है और नन्ददास ने भी इसी प्रसंग को आधारभूत सामग्री के रूप में ग्रहण किया है।

यद्यपि यह सत्य है कि नन्ददास ने श्रीमद्भागवत में आये हुए आख्यान को ही भँवरगीत का मूल आधार बनाया है किन्तु उसके साथ यह भी सत्य है कि उन्होंने श्रीमद्भागवत में वर्णित कथा-प्रसंग का अनुवाद भर नहीं कर दिया है। सच तो यह है, नन्ददास ने श्रीमद्भागवत के आख्यान में से मनोनुकूल प्रसंगों को ही चुना है और जो प्रसंग उन्हें अपनी रुचि के अनुकूल प्रतीत नहीं हुए, उन्हें छोड़ दिया गया है। उदाहरणार्थ श्रीमद्भागवत के ४६वें अध्याय में आये हुए कथा-प्रसंगों का भँवरगीत में तनिक भी उपयोग नहीं किया गया है। श्रीकृष्ण का व्रज की स्मृति आना, अपने सखा उद्धव को व्रज में इसलिए भेजना कि गोपियों को सान्त्वना दी जा सके, उद्धव का कृष्ण का सन्देश लेकर सान्ध्य-वेला में नन्द बाबा के यहाँ पहुंचना, उद्धव-नन्द-यशोदा-मिलन, प्रातःकाल होने पर गोपियों का नन्द बाबा के द्वार पर सोने का रथ खड़े हुए देखना और परस्पर बातचीत करना, गोपियों को विचार-विनिमय करते समय सहसा नित्य-कर्म से निवृत्त होकर आते हुए उद्धव का दिखाई दे जाना आदि सारे प्रसंगों का नन्ददास के भँवरगीत में नितान्त अभाव है। नन्ददास ने तो अपने काव्य में केवल ४७वें अध्याय में आई हुई कथा को ही आधार बनाया है, लेकिन भँवरगीत ४७वें अध्याय में वर्णित कथा पर भी आवृत नहीं है। भँवरगील तथा श्रीमद्भागवत के ४७ वें अध्याय में वर्णित कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। पहला अन्तर तो यही है कि भागवत की गोपियां कृष्ण के सदृश वेश-भूषा धारण किये उद्धव को देखकर उनका परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठती हैं और जब उन्हें यह पता चलता है कि वह उनके प्रिय श्रीकृष्ण के सखा उद्धव हैं तथा श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर आये हैं तो एकान्त आसन पर बिठाकर उनका आदर सत्कार करते हुए वार्तालाप करने लगती हैं। लेकिन नन्ददास की गोपियां उद्धव-आगमन से परिचित ही नहीं हैं और न वे उन्हें किसी एकान्त स्थान में ले जाती हैं। यहां तो उद्धव ही गोपियों का आह्वान करते हुए दिखलाई देते हैं और वे ही इस बात का उल्लेख करते

गोपियों की मान्यता है कि इसी प्रेम के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

उद्धव ने यह कहा था कि ब्रह्म निर्गुण है और हमें उसके जो गुण दृष्टिगत होते हैं वे सब नश्वर हैं। ब्रह्म तो इन्द्रिय तथा दृष्टिजन्य विकारों से रहित है—वह तो अच्युत वासुदेव है, उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है —

जो गुन आवैं दृष्टि मांहि नस्वर हैं सारे।
इन सबहिन तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि विकार तें रहित अधोछज-जोति।
सुद्ध सरूपी ग्यान की प्रापति तिनको होति॥
सुनौं ब्रजनागरी ॥२७॥

लेकिन गोपियाँ उद्धव के इस कथन का सहज ही खण्डन कर देती हैं। वे कहती हैं कि अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म को लौकिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उसको देखने के लिए तो दिव्य दृष्टि की अपेक्षा है। यह दिव्य दृष्टि कर्म-वादियों के पास कहाँ—

तरनि अकास प्रकास जाहि में रह्यौ दुराई।
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई॥
जिनकें वे आँखें नहीं देखैं क्यों वह रूप।
क्यों उपजे विस्वास जे परें कर्म के कूप॥
सखा सुनि

जब उद्धव ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप की उपस्थापना कर
हैं कि यदि ब्रह्म निर्गुण निराकार नहीं है तो वेद उपनिषदों में
नेति-नेति क्यों कहा जाता—

संहार तथा शिशुपाल-विवाह नामक प्रसंगों को भी जोड़ दिया है। एक अन्य ध्यातव्य बात यह है कि भागवत की गोपियाँ उपालम्भ देते समय जहां यह कहती हैं, 'मृगमुखि कपीन्द्र विव्यधे लुब्धधर्मा' अर्थात् जब वे राम बने थे तब उन्होंने कपिराज बाली को व्याध के समान छिप कर बहुत निष्ठुरता से मार डाला था वहां नन्ददास की गोपियों ने इस प्रसंग को लिया ही नहीं है। यहां तो ताड़का-वध के माध्यम से कृष्ण की निष्ठुरता को व्यक्त किया गया है। इसका एक अत्यन्त स्वाभाविक कारण है और वह यह कि जब नारी नारी के प्रति की गई निष्ठुरता को ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करती है तब व्यंग्य अधिक प्रखर हो उठता है। श्रीमद्भागवत तथा नन्ददास की गोपियों द्वारा दिये गये उपालम्भों में एक अन्तर यह भी है कि श्रीमद्भागवत में कुब्जा का उल्लेख भ्रमरगीत के प्रसंग के अन्तर्गत नहीं किया गया है, लेकिन नन्ददास की गोपियाँ व्यंग्य बाण छोड़ते समय कुब्जा और उसके कूबड़ को लक्ष्य बनाये बिना नहीं रह पातीं।

श्रीमद्भागवत में उद्धव गोपियों की वियोगाग्नि का शमन करने के लिये कुछ महीने ब्रज में ही निवास करते हैं। कृष्ण का सन्देश सुना देने के बाद उन्हें न तो किसी प्रकार की आत्मग्लानि होती है और न किसी प्रकार की हीनता का ही अनुभव होता है, लेकिन भँवरगीत में उद्धव को अपने उपदेश की व्यर्थता का आभास हुए बिना नहीं रह पाता और इसके परिणामस्वरूप वह अपने आपको कोसे बिना नहीं रहते।

श्रीमद्भागवत में उद्धव के मथुरा वापिस लौटने के प्रसंग का जो वर्णन आया है उसमें केवल इसी बात का उल्लेख है कि जब वह नन्द-यशोदा और गोपियों से मिलकर मथुरा वापिस पहुँचे तो उन्होंने उन सबका हाल कृष्ण को कह सुनाया और ब्रजवासियों ने जो भेंट दी थी वह भी कृष्ण को दे दी। लेकिन भँवरगीत में उद्धव के मथुरा लौटने का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। गोपियों के सान्निध्य का उनपर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि वह कृष्ण को भूलकर गोपियों का गुणगान करने लगते हैं—इतना ही नहीं वह मथुरा पहुँचकर कृष्ण को उनकी निष्ठुरता के सम्बन्ध में उपालम्भ देते हैं तथा ब्रज लौट जाने का निवेदन करते हैं। श्रीमद्भागवत में इस प्रसंग का उल्लेख नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नन्ददास ने श्रीमद्भागवत में वर्णित कथा को आधार तो अवश्य बनाया है किन्तु उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं कर लिया है—कतिपय प्रसंग एकदम छोड़ दिये गये हैं, कहीं उनमें परिवर्तन कर दिया गया है, कभी क्रम-नियोजन भिन्न रीति से हुआ है और कभी सर्वथा नूतन प्रसंगों को जोड़ दिया गया है।

गोपियों की मान्यता है कि इसी प्रेम के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

उद्धव ने यह कहा था कि ब्रह्म निर्गुण है और हमें उसके जो गुण दृष्टिगत होते हैं वे सब नश्वर हैं। ब्रह्म तो इन्द्रिय तथा दृष्टिजन्य विकारों से रहित है—वह तो अच्युत वासुदेव है, उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है —

जो गुन आवैं दृष्टि मांहि नस्वर हैं सारे।
इन सबहिन तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि विकार तें रहित अधोछज-जोति।
सुद्ध सरूपी ग्यान की प्रापति तिनको होति॥
सुनौं ब्रजनागरी ॥२०॥

लेकिन गोपियाँ उद्धव के इस कथन का सहज ही खण्डन कर देती हैं। वे कहती हैं कि अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म को लौकिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उसको देखने के लिए तो दिव्य दृष्टि की अपेक्षा है। यह दिव्य दृष्टि कर्म-वादियों के पास कहाँ—

तरनि अकास प्रकास जाहि में रह्यौ दुराई।
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई॥
जिनकें वे आँखें नहीं देखैं क्यों वह रूप।
क्यों उपजे बिस्वास जे परे कर्म के कूप॥
सखा सुनि स्याम के ॥२४॥

जब उद्धव ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप की उपस्थापना करते हुए यह कहते हैं कि यदि ब्रह्म निर्गुण निराकार नहीं है तो वेद उपनिषदों में उसके सम्बन्ध में नेति-नेति क्यों कहा जाता—

जो हरि के गुन होंहि वेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुखमानै॥
वेद पुराननि खोजि कै नाहिं पायौ गुन एक।
गुन ही के जो होंहि गुन कहि अकास किहि टेक?
सुनौं ब्रजनागरी ॥१६॥

तो गोपियाँ उसका खण्डन करती हुई कहती हैं कि यदि उनके गुण नहीं हैं तो फिर गुण कहाँ से आये। भला यह बताओ तो सही कि बीज के बिना वृक्ष कैसे हो सकता है। वस्तुतः यह सारा संसार उसके गुणों की परछाहीं है। अन्तर है तो केवल इतना कि माया के विकार के फलस्वरूप ब्रह्म तथा संसार के गुणों में पार्थक्य प्रतीत होता है—

मान लेने वाले प्राणी नहीं हैं। नन्ददास के भँवरगीत का अन्त भी भिन्न रूप में हुआ है। जब उद्धव कृष्ण को ब्रज लौटने का अनुरोध करते तथा उनकी निष्ठुरता पर उपालम्भ देते हैं तो कृष्ण को अपना वास्तविक स्वरूप व्यक्त कर अपनी तथा गोपियों की अद्वैतता प्रत्यक्ष कर देनी पड़ती है।

भँवरगीत के वस्तु-विधान की समीक्षा करते समय यह विवेचन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यह रचना आद्यन्त एक निश्चित कथासूत्र को समेटे हुए है अथवा इसमें विभिन्न मुक्तकों का संग्रह भर दिया गया है। मेरा अपना विचार यह है कि यह एक संग्रह ग्रन्थ तो नहीं है तथा कवि ने सम्पूर्ण रचना एक निश्चित योजना के अनुसार लिखी होगी किन्तु इसमें कथा को प्रधानता नहीं दी गई है। कथा को प्रधानता न देने के कारण ही इस रचना में प्रस्तावना, प्रासंगिक कथाओं और उपसंहार की निश्चित योजना परिलक्षित नहीं होती। यहाँ तो उद्धव सीधे उपदेश देते हुए आ धमकते हैं और कुशल समाचार देने में भी बड़ी कंजूसी बरतते हैं। ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति के सम्बन्ध में वाद-विवाद होने में भी कोई विशेष देर नहीं लगती, फिर सहसा पट-परिवर्तन हो जाता है और कवि कृष्णोपालम्भ तथा भ्रमरोपालम्भ के प्रकरण प्रारम्भ कर देता है। उद्धव के मनोभावों के परिवर्तन में भी विशेष समय नहीं लगता। सच तो यह है कि इस रचना का कथाबन्ध अत्यन्त शिथिल है। अट्ठाइसवें पद तक गोपी-उद्धव संवाद चलता है, तदनन्तर गोपियाँ स्वागत करने लगती हैं तथा उद्धव मुंह ताकते रह जाते हैं। गोपियों की यह निजोक्ति बयालीसवें पद तक चलती है। फिर भ्रमर-प्रवेश और गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित कर उपालम्भ देना प्रारम्भ कर देती हैं। उद्धव ब्रज से किस समय चल देते हैं। इसकी कोई सूचना नहीं दी गई। केवल एक स्थल पर इतना उल्लेख हुआ है, 'ऐसे मग अभिलाप करत मथुरा फिरि आयो।' कथा-विधान की ओर कोई ध्यान न देने के कारण ही भँवरगीत में पृष्ठभूमि और वातावरण का कोई नियोजन नहीं किया गया है। पृष्ठभूमि के नाम पर कवि ने केवल निम्नलिखित चार पंक्तियाँ लिखकर ही काम चला लिया है:

कहन स्याम संदेश एक मैं तुम पै आयो
कहन समय संकेत कहूं औसर नहिं पायो
सोचत ही मन में रह्यो कब पाऊँ इक ठाऊँ
कहि संदेश नंदलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ

सुनो ब्रजनागरी।

इतना ही नहीं गोपियों और उद्धव के सगुण-निर्गुण सम्बन्धी वाद-विवाद, कृष्णोपालम्भ तथा भ्रमरोपालम्भ ने न केवल बहुत अधिक स्थान घेर लिया है अपितु

जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहौ कहाँ तें ॥२०॥

वल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार माया के दो रूप हैं—(क) विद्या माया, (ख) अविद्या माया। ब्रह्म ने इस जगत् की रचना विद्या माया से की है तथा अविद्या माया के कारण ही जीव संसार में बँध जाता है। नन्ददास ने अपने भँवरगीत में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने यह माना है कि ब्रह्म से निर्गत जीव प्रारम्भ में उसी प्रकार शुद्ध रहता है जिस प्रकार बादल से आने वाला जल अपने प्रारम्भिक रूप में स्वच्छ हुआ करता है, किन्तु जिस प्रकार से वह जल कीचड़ में मिल जाने से अपना शुद्ध रूप खो बैठता है उसी प्रकार से अविद्या माया रूपी कीचड़ में सम्पृक्त हो जाने के बाद जीव के स्वाभाविक गुणों का भी लोप हो जाता है—

वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भयैं अमल वारि मिलि कीच ॥२०॥

आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु उन्होंने अपने इन सिद्धान्तों को सामान्य जीवों के लिए सुगम रूप भी प्रदान किया था। उन्होंने इस तथ्य की उपस्थापना की थी कि मस्तिष्क प्रधान जीव जहाँ ज्ञान-साधना की ओर प्रवृत्त होने के अनन्तर मुक्ति पा सकता है वहाँ भावना प्रधान व्यक्ति प्रेम के द्वारा। अपने इस भक्तिमार्ग को उन्होंने पुष्टिमार्ग के नाम से सम्बोधित किया है। अपने इस नामकरण की प्रेरणा उन्हें भागवतपुराण के इस श्लोक 'पोषणं तदनुग्रहः'[1] से प्राप्त हुई। इसमें यह कहा है कि जीव का वास्तविक पोषण भगवद् अनुग्रह के द्वारा ही होता है। इस प्रकार की भक्ति का मूलमन्त्र है भगवान् के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर देना। आचार्य वल्लभ की मान्यता है कि पुष्टि मार्ग की भक्ति का अवलम्ब ग्रहण करने वाले व्यक्ति को इस संसार में नहीं आना पड़ता।

पुष्टि मार्ग के अन्तर्गत प्रेमाभक्ति को सर्वाधिक प्रमुखता प्राप्त हुई है। नन्ददास ने भी भँवरगीत में प्रेमाभक्ति को ही प्रधानता प्रदान की है। गोपियों की प्रेम-भावना को देखकर अन्ततः उद्धव भी उसी मार्ग के अनुयायी हो जाते हैं। उद्धव की प्रेम-व्यवस्था का अत्यन्त मार्मिक रूपांकन निम्नोद्धृत पंक्तियों में हुआ है—

प्रेम विवस्था देखि सुद्ध यौं भक्ति प्रकासी।
दुविधा ज्ञान गलानि मन्दता सगरी नासी ॥
कहत भयो निहचै यहै, हरि रस को निज पात्र ॥
हौं तो कृतकृत ह्वै गयौ इनके दरसन मात्र ॥
मेटि मल ग्यान को ॥६२॥

१. भागवतपुराण, २।१०।४।

मान लेने वाले प्राणी नहीं हैं। नन्ददास के भँवरगीत का अन्त भी भिन्न रूप में हुआ है। जब उद्धव कृष्ण को ब्रज लौटने का अनुरोध करते तथा उनकी निष्ठुरता पर उपालम्भ देते हैं तो कृष्ण को अपना वास्तविक स्वरूप व्यक्त कर अपनी तथा गोपियों की अद्वैतता प्रत्यक्ष कर देनी पड़ती है।

भँवरगीत के वस्तु-विधान की समीक्षा करते समय यह विवेचन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यह रचना आद्यन्त एक निश्चित कथासूत्र को समेटे हुए है अथवा इसमें विभिन्न मुक्तकों का संग्रह भर दिया गया है। मेरा अपना विचार यह है कि यह एक संग्रह ग्रन्थ तो नहीं है तथा कवि ने सम्पूर्ण रचना एक निश्चित योजना के अनुसार लिखी होगी किन्तु इसमें कथा को प्रधानता नहीं दी गई है। कथा को प्रधानता न देने के कारण ही इस रचना में प्रस्तावना, प्रासंगिक कथाओं और उपसंहार की निश्चित योजना परिलक्षित नहीं होती। यहाँ तो उद्धव सीधे उपदेश देते हुए आ धमकते हैं और कुशल समाचार देने में भी बड़ी कंजूसी बरतते हैं। ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति के सम्बन्ध में वाद-विवाद होने में भी कोई विशेष देर नहीं लगती, फिर सहसा पट-परिवर्तन हो जाता है और कवि कृष्णोपालम्भ तथा भ्रमरोपालम्भ के प्रकरण प्रारम्भ कर देता है। उद्धव के मनोभावों के परिवर्तन में भी विशेष समय नहीं लगता। सच तो यह है कि इस रचना का कथाबन्ध अत्यन्त शिथिल है। अट्ठाइसवें पद तक गोपी-उद्धव संवाद चलता है, तदनन्तर गोपियाँ स्वागत करने लगती हैं तथा उद्धव मुंह ताकते रह जाते हैं। गोपियों की यह निजोक्ति बयालीसवें पद तक चलती है। फिर भ्रमर-प्रवेश और गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित कर उपालम्भ देना प्रारम्भ कर देती हैं। उद्धव ब्रज से किस समय चल देते हैं। इसकी कोई सूचना नहीं दी गई। केवल एक स्थल पर इतना उल्लेख हुआ है, 'ऐसे मग अभिलाप करत मथुरा फिरि आयो।' कथा-विधान की ओर कोई ध्यान न देने के कारण ही भँवरगीत में पृष्ठभूमि और वातावरण का कोई नियोजन नहीं किया गया है। पृष्ठभूमि के नाम पर कवि ने केवल निम्नलिखित चार पंक्तियाँ लिखकर ही काम चला लिया है:

कहन स्याम संदेश एक मैं तुम पै आयो
कहन समय संकेत कहूं औसर नहिं पायो
सोचत ही मन में रह्यो कब पाऊँ इक ठाऊँ
कहि संदेश नंदलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ

सुनो ब्रजनागरी।

इतना ही नहीं गोपियों और उद्धव के सगुण-निर्गुण सम्बन्धी वाद-विवाद, कृष्णोपालम्भ तथा भ्रमरोपालम्भ ने न केवल बहुत अधिक स्थान घेर लिया है अपितु

हिन्दी साहित्य के इतिहास में नन्ददास भाषा के कलात्मक प्रयोग के लिए भी प्रख्यात हैं। भाषा पर उनका कितना अचूक अधिकार था इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उनके सम्बन्ध में यह उक्ति ही प्रसिद्ध है, 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।' सूक्तिकार ने इस उक्ति के माध्यम से इस बात पर बल देना चाहा है कि अन्य कवि जहां शब्दों को गढ़ कर ही छोड़ देते हैं वहां नन्ददास अपने काव्य में प्रत्येक शब्द को नगीने की तरह जड़ देते हैं—और यह बात पूर्णतः सत्य भी है। नन्ददास की काव्यभाषा का सब से बड़ा गुण यही है कि वह भावानुसारिणी है। डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है, 'भाव-प्रवाह और वाक्य-प्रवाह दोनों के साथ भाषा का प्रवाह चलता है।' भँवरगीत भी इसका अपवाद नहीं है। कवि ने तर्कपूर्ण स्थलों पर तार्किक तथा पाण्डित्यपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है, उपालम्भ विषयक स्थलों पर वाग्वैदग्ध्यपूर्ण भाषा का तो गोपियों की विरहाकुल वेदना को रूपायित करते समय भाषा भावप्रवाहिनी हो गई है। कवि तर्कपूर्ण अवसरों पर जिस तार्किक भाषा का प्रयोग करता है उसके नमूने यों तो भँवरगीत में अनेक स्थलों पर बिखरे पड़े हैं किन्तु निम्नलिखित अवतरणों की छटा तो देखते ही बनती है—

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहां तें।
बीज बिना तरु जमैं, मोहिं तुम कहो कहां तें ॥२०॥

अथवा

माया के गुन और, और हरि के गुन जानो।
वा गुन कों इन माँझ, आनि काहे कों सानो ॥२१॥

भँवरगीत मूलतः एक उपालम्भ काव्य है। उपालम्भ देते समय भाषा की अभिधा शक्ति बहुत सहायक नहीं होती—वहां तो लक्षणा शक्ति ही काम देती है। नन्ददास इस तथ्य से पूर्णतः परिचित प्रतीत होते हैं। इसीलिए उन्होंने उपालम्भ विषयक स्थलों पर अत्यन्त सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग किये हैं। उदाहरणार्थ अधोलिखित उदाहरण ही लीजिए जिसमें कृष्ण के छलिया रूप पर अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य किया गया है—

कोउ कहै री कहा, दोष सिसुपाल नरेसै।
व्याह करन कौ गयौ, नृपति भीषम के देसै ॥
दल-बल जोरि बरात कौं, ठाढ़ौ हो छवि बाढ़ि।
इन छल करि दुल्ही हरी, छुधित ग्रास मुख काढ़ि ॥
आपने स्वारथी ॥४१॥

इस उद्धरण की 'छुधित ग्रास मुख काढ़ि' नाम्नी पंक्ति में कवि ने जो लाक्षणिक प्रयोग किया है वह देखते ही बनता है। इसी प्रकार का एक अन्य व्यंग्यपूर्ण स्थल वह है जहां गोपियों ने कृष्ण और कुब्जा की जोड़ी पर फब्ती कसी है :

विह्वल ह्वै धरती पारी, ब्रजबनिता मुरझाइ।
दे जल-छींट प्रबोधहीं, ऊधौ बात बनाइ॥
सुनो ब्रजनागरी॥ ६॥

लेकिन ज्ञानी उद्धव गोपियों की यह अवस्था देखकर भी प्रेम की मधुमयी चर्चा नहीं करते बल्कि अपना ज्ञान बघारते हुए ब्रह्म की सर्वव्यापकता का उपदेश देने लगते हैं—

वे तुम तैं नहिं दूरि, ग्यान की आंखिनी देखौ।
अखिल बिस्व भरपूरि, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ॥
लौह, दारु, पाषान में, जल-थल माहिं अकास॥
रुचर, अचर बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास॥
सुनो ब्रजनागरी॥ ७॥

इसी उपदेश चर्चा से सगुण-निर्गुण विषयक वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है और गोपियाँ सहसा प्राणप्रिय कृष्ण के साथ काल्पनिक संयोग का अनुभव करने लगती हैं। इस स्थल पर पहुँचकर कवि ने वियोग में संयोग की अवस्था का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। कवि का कथन है—

ऐसे में नंदलाल रूप, नैनन के आगे।
आइ गये छवि छाइ, बने बीरे अरु बागे॥
ऊधौ सौं मुख मोरि के, तिन ही सौं कहैं बात।
प्रेम-अमृत मुख तें स्रवत, अम्बुज नैन चुवात॥
तरक रसरीति की॥ २६॥

इस अवस्था में पहुँचकर गोपियाँ सर्वप्रथम तो अपनी दीनता और कातरता को व्यक्त करते हुए प्रियतम कृष्ण से निष्ठुरता छोड़कर अवलम्ब देने की प्रार्थना करती हैं—

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसाईं।
नंद-नंदन बिडराति फिरति, तुम बिनु बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु॥
दुख-जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलम्बन देहु।
निठुर ह्वै कहँ रहे॥ ३०॥

और फिर अपनी विवशता व्यक्त करती हुई उन्हें यह उपालम्भ देने लगती हैं कि उन्होंने प्रेम की रीति को एक ही बार में यों तोड़कर अच्छा नहीं किया। यह ठीक है कि प्रियतम कृष्ण के लिए उन जैसी करोड़ों नारियाँ उपलब्ध हैं किन्तु प्रेम का बन्धन इस प्रकार से तोड़ देना न्यायसंगत नहीं है—

है कि कवि की अभिरुचि तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर ही रही है। ब्रह्म, गृह, प्रेम, श्रुति, नासिका, दृष्टि, भक्ति, अच्युत, प्रभुता, अनल, व्याल, विषज्वाल, कंचुकी, पद्मासन, गुल्म लता, विषमता, षट्पद, कपटी, कुटिल आदि सैंकड़ों शब्द ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों संस्कृत से ले लिए गए हैं। वस्तुतः भँवरगीत की प्रांजलता तथा परिमार्जित भाषा के निर्माण में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बहुत अधिक योग रहा है। तत्सम शब्दों के प्रयोग से ही कवि दार्शनिक भावों के सम्यक् निरूपण में सफल हो सका है।

भँवरगीत में केवल तत्सम शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया गया है अपितु बहुत से अर्ध तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अर्ध तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा में माधुर्य गुण का सहज ही समावेश हो जाता है। अर्ध तत्सम शब्द भाषा में लय तथा संगीतात्मकता का संचार करने में भी सहायक होते हैं। ऊधो, सील, लावन्य, स्याम, परिकर्मा, सुद्ध, निर्गुन, विस्वास, करम, परमान, तरक, क्रपाल, मरम, भरम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो भँवरगीत में यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं।

मुख-सुख तथा प्रयत्न-लाघव के फलस्वरूप तत्सम रूप तद्भव के रूप में बदल जाते हैं। परिस्थिति तथा वातावरण के फलस्वरूप भी अनेक तद्भव शब्द निर्मित हो जाते हैं। भँवरगीत में भी बहुत से स्थल ऐसे हैं जहाँ पर कवि ने तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। गोपियों की विरहावस्था को रूपायित करते समय तद्भव शब्द ही अधिक सहायक रहे हैं। सुमरन, पाउ, बैन, मूठी, नीके, थोरे, इतराह, नेम, मेला ऐसे ही शब्द हैं जिन्होंने गोपियों की विरह-भावना को सशक्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

जब किसी देश में विभिन्न संस्कृतियों में मेल स्थापित होता है तब विदेशी शब्द समूह अनायास ही घर कर लेते हैं। नन्ददास ने जिस समय काव्य रचना की थी उस समय मुसलमानों का शासन-काल था। उस युग में फारसी को राजभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में उस युग के काव्यों में उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयुक्त हो जाना स्वाभाविक ही था; लेकिन नन्ददास के काव्य में विदेशी शब्दों का प्रयोग नगण्य ही है। इस सम्बन्ध में पण्डित उमाशंकर शुक्ल ने लिखा है: "नन्ददास की भाषा में विदेशी शब्दावली का एक प्रकार से पूर्ण बहिष्कार मिलता है। फारसी तथा अरबी के बहुत थोड़े तद्भव शब्द प्रयत्नपूर्वक खोजने पर ही कवि की कृतियों से निकाले जा सकते हैं और वे भी ऐसे रूप में प्रयुक्त हुए हैं कि उनकी व्युत्पत्ति से अपरिचित पाठक को उनके विदेशी होने का भान नहीं होता।"[1]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली (सम्पादक पं० उमाशंकर शुक्ल), पृष्ठ ११३।

एक मुक्तक रचना होने के कारण ही इसमें न तो कथा का समुचित निर्वाह हो पाया है और न पात्रों का चारित्रिक विकास ही सम्भव हो सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य के प्रणयन के समय कवि के मन में चरित्र-चित्रण की ओर कोई ध्यान ही नहीं था अन्यथा नन्द, यशोदा तथा राधा जैसे महत्त्वपूर्ण पात्रों को सर्वथा विस्मृत न कर दिया जाता। इतना ही क्यों, कृष्ण, उद्धव, गोपियों और कुब्जा के सम्बन्ध में जो थोड़े-बहुत संकेत दिए गए हैं वे भी एक स्पष्ट चित्र निर्मित करने में पूर्णतः सक्षम नहीं हैं।

नन्ददास विरचित भँवरगीत दार्शनिक निष्पत्तियों से भी परिपूर्ण है। ७५ छन्दों की इस संक्षिप्ताकार रचना के पूर्वार्ध में दार्शनिक निष्पत्तियों की ही प्रधानता है। भारतीय दर्शन में श्री शंकराचार्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य के रूप में स्वीकार किया है तथा जगत् को मिथ्या माना है। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण एवम् निराकार है तथा माया के भ्रम के फलस्वरूप ही सगुण सा प्रतीत होता है। निराकार ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उन्होंने ज्ञान तथा योग का विधान किया। लेकिन शंकराचार्य की इस मान्यता को सभी व्यक्तियों ने स्वीकार नहीं किया। दक्षिण के चार आचार्यों श्री रामानुजाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य, श्री माध्वाचार्य तथा श्री विष्णुस्वामी ने इस मत का खण्डन किया तथा ब्रह्म को निर्गुण के स्थान पर सगुण तथा जगत् को मिथ्या के स्थान पर भगवान् का सत् स्वरूप स्वीकार किया। इन चारों आचार्यों अर्थात् श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य तथा श्री विष्णुस्वामी ने अपने मतों के पोषण के लिए पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों की भी स्थापना की जो क्रमशः श्री सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय, ब्राह्म सम्प्रदाय तथा रुद्र सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन सम्प्रदायों ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की वह क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत तथा शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुए। आचार्य वल्लभ ने विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय का प्रचार किया। नन्ददास वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। परिणामतः इन्होंने भी शुद्धाद्वैतवाद को ही स्वीकार किया। आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद को ब्रह्मवाद अथवा अविकृत परिणामवाद भी कहते हैं।

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् का आधारभूत कारण स्वीकार किया गया है तथा उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा अविनाशी माना गया है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप स्वीकार किया गया है तथा उसमें आविर्भाव तथा तिरोभाव की शक्ति मानी गई है जिससे वह एक से अनेक तथा अनेक से एक होता है। यद्यपि वह अविभक्त माना गया है किन्तु यह भी स्वीकार किया गया है कि उसमें अपनी इच्छामात्र से विभक्त होने की क्षमता है। वह निर्विशेष तथा निर्गुण होते

है कि कवि की अभिरुचि तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर ही रही है। ब्रह्म, गृह, प्रेम, श्रुति, नासिका, दृष्टि, भक्ति, अच्युत, प्रभुता, अनल, व्याल, विषज्वाल, कंचुकी, पद्मासन, गुल्म लता, विषमता, षट्पद, कपटी, कुटिल आदि सैंकड़ों शब्द ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों संस्कृत से ले लिए गए हैं। वस्तुतः भँवरगीत की प्रांजलता तथा परिमार्जित भाषा के निर्माण में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बहुत अधिक योग रहा है। तत्सम शब्दों के प्रयोग से ही कवि दार्शनिक भावों के सम्यक् निरूपण में सफल हो सका है।

भँवरगीत में केवल तत्सम शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया गया है अपितु बहुत से अर्ध तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अर्ध तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा में माधुर्य गुण का सहज ही समावेश हो जाता है। अर्ध तत्सम शब्द भाषा में लय तथा संगीतात्मकता का संचार करने में भी सहायक होते हैं। ऊधो, सील, लावन्य, स्याम, परिकर्मा, सुद्ध, निर्गुन, बिस्वास, करम, परमान, तरक, क्रपाल, मरम, भरम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो भँवरगीत में यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं।

मुख-सुख तथा प्रयत्न लाघव के फलस्वरूप तत्सम रूप तद्भव के रूप में बदल जाते हैं। परिस्थिति तथा वातावरण के फलस्वरूप भी अनेक तद्भव शब्द निर्मित हो जाते हैं। भँवरगीत में भी बहुत से स्थल ऐसे हैं जहाँ पर कवि ने तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। गोपियों की विरहावस्था को रूपायित करते समय तद्भव शब्द ही अधिक सहायक रहे हैं। सुमरन, पाउ, बैन, मूठी, नीके, थोरे, इतराह, नेम, मेला ऐसे ही शब्द हैं जिन्होंने गोपियों की विरह-भावना को सशक्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

जब किसी देश में विभिन्न संस्कृतियों में मेल स्थापित होता है तब विदेशी शब्द समूह अनायास ही घर कर लेते हैं। नन्ददास ने जिस समय काव्य रचना की थी उस समय मुसलमानों का शासन-काल था। उस युग में फारसी को राजभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में उस युग के काव्यों में उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयुक्त हो जाना स्वाभाविक ही था; लेकिन नन्ददास के काव्य में विदेशी शब्दों का प्रयोग नगण्य ही है। इस सम्बन्ध में पण्डित उमाशंकर शुक्ल ने लिखा है: "नन्ददास की भाषा में विदेशी शब्दावली का एक प्रकार से पूर्ण बहिष्कार मिलता है। फारसी तथा अरबी के बहुत थोड़े तद्भव शब्द प्रयत्नपूर्वक खोजने पर ही कवि की कृतियों से निकाले जा सकते हैं और वे भी ऐसे रूप में प्रयुक्त हुए हैं कि उनकी व्युत्पत्ति से अपरिचित पाठक को उनके विदेशी होने का भान नहीं होता।"[1]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली (सम्पादक पं० उमाशंकर शुक्ल), पृष्ठ ११३।

यह समझाते हैं कि कर्म ही सद्गति को देने वाला है, उसी से उत्पत्ति होती है और उसी से नाश। इतना ही नहीं मुक्ति तथा परब्रह्म की प्राप्ति भी कर्म के द्वारा ही हो सकती है—

कर्महि निंदौ कहा कर्म ते सद्गति होई।
कर्म रूप तैं बली नाहि त्रिभुवन में कोई॥
कर्महि तैं उत्पत्ति है कर्महि तैं सब नास।
कर्म किए तैं मुक्ति होई पारब्रह्म पुर बास॥

सुनौं ब्रजनागरी ॥१५॥

वे उन्हें समझाते हैं कि इस जगत् में कर्म से कोई मुक्त नहीं है। यहाँ तक कि भक्ति भी कर्म से ही उत्पन्न होती है—

जब करिये नित कर्म भक्ति हू यामें आई।
कर्म रूप तैं कहौ कौन पै छूटी जाई॥२५॥

लेकिन नन्ददास की गोपियाँ उद्धव की इस ज्ञान चर्चा को सुनी-अनसुनी ही नहीं कर देतीं बल्कि वे उसका खण्डन करती हैं तथा प्रेममार्ग की प्रतिष्ठा करती हैं। उनका कहना है कि निष्काम कर्म करना सम्भव ही नहीं है—कर्म के साथ-साथ फल-प्राप्ति की इच्छा भी मन में लगी रहती है। इतना ही नहीं कर्म तो एक प्रकार का बन्धन है और बन्धन तो बन्धन ही होता है—भले ही वह लोहे का हो या सोने का। वैसे भी कर्मों की स्थिति उसी समय तक है जब तक हृदय में हरि का निवास नहीं हो जाता। सच तो यह है कि प्रेम के अभाव में किसी का महत्त्व नहीं—सब कुछ धूल के समान है या यों कहें कर्म धूल ही है और प्रेम अमृत—

कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी।
पायन बंधन दोउ, कोउ मानो बहुतेरी॥
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग।
प्रेम बिना सब पचि मुए, विषय वासना रोग॥

सखा सुनि स्याम के ॥१६॥

ज्ञान तथा कर्म का खण्डन करने के अनन्तर गोपियाँ प्रेम पक्ष का पोषण करती हैं। वे स्पष्टरूपेण कहती हैं—

कौन ब्रह्म की जोति ? ज्ञान कासौं कहै ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ॥८॥

× × ×

कर्म मध्य ढूंढै सबै, कितहु न पायौ देख।
कर्मरहित ही पाइये, तातैं प्रेम बिसेख॥२१॥

में भी कवि को अनुप्रास सम्भवतः अधिक प्रिय है। इसीलिए भँवरगीत में अनुप्रासालंकार का बाहुल्य मिलता है। अनुप्रासों में भी छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास के प्रयोग में कवि की वृत्ति विशेष रूप से रमी है। शब्दालंकारों के अत्यधिक प्रयोग ने भाषा को संगीतात्मक तथा प्रवाहपूर्ण बना दिया है। नन्ददास ने कतिपय अर्थालंकारों का भी प्रयोग किया है। इस वर्ग के अलंकारों में कवि को रूपक विशेष रूप से प्रिय रहा है। रूपक अलंकार में भी कवि की रुचि निरंग रूपक की ओर अधिक रही है। रूपक के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, परिकर, परिकरांकुर, दृष्टान्त, सम आदि अलंकारों का प्रयोग परिलक्षित होता है। भँवरगीत की अलंकार-योजना से सम्बद्ध कतिपय उदाहरण अधोद्धृत हैं।

छेकानुप्रास— सुनत स्याम, छवि छाय, जोगी जोतिहिं, बीज बिना, प्रेम पियूषै।

वृत्यनुप्रास— कपटी कुटिल कठोर, लोगनि लज्जा लोपि, पय प्यावत प्रानन।

यमक— ताहि बतावहु जोग जोग ऊधो जेहि पावो।

निरंग रूपक— भरि आनंद रस हृदय प्रेम-बेली द्रुम फूली।

अर्थान्तरन्यास—मुनि कहै सब तैं साधुसंग उत्तम है भाई।
पारस परसैं लोह तुरत कंचन ह्वै जाई॥
गोपी प्रेम प्रसाद सौं हौं ही सीख्यौ आय।

परिकरांकुर— ऊधो ते मधुकर भयो दुविधा जोग मिटाय॥
पाय रस प्रेम कौं।

दृष्टान्त— जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहां ते॥

सम— मदन त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि।

काव्यकला के विधायक उपकरणों की दृष्टि से भँवरगीत की समीक्षा करने के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत आख्यान का संकलन करने पर भी कवि ने उसमें यथास्थान मौलिक तत्त्वों का नियोजन किया है और समूचे कथानक को अत्यन्त रसात्मक रीति से व्यक्त किया है। रसात्मकता के साथ-साथ इसमें दार्शनिक निष्पत्तियों के भी दर्शन होते हैं और कवि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक निरूपण कर सका है, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि इस दार्शनिक निरूपण ने काव्य को बोझिल तथा नीरस नहीं बनाया है। कवि की सफलता इस बात में भी है कि उसमें अपनी कल्पना को भावानुरूप शब्दों, छन्दों तथा अलंकारों के माध्यम से व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है। ये कुछ ऐसे कारण हैं जिन्होंने भँवरगीत को हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिला दिया है।

यह समझाते हैं कि कर्म ही सद्गति को देने वाला है, उसी से उत्पत्ति होती है और उसी से नाश। इतना ही नहीं मुक्ति तथा परब्रह्म की प्राप्ति भी कर्म के द्वारा ही हो सकती है—

कर्महि निंदो कहा कर्म ते सद्गति होई।
कर्म रूप तैं बली नाहि त्रिभुवन में कोई॥
कर्महि तैं उत्पत्ति है कर्महि तैं सब नास।
कर्म किए तैं मुक्ति होई पारब्रह्म पुर बास॥

सुनौ ब्रजनागरी ॥१५॥

वे उन्हें समझाते हैं कि इस जगत् में कर्म से कोई मुक्त नहीं है। यहाँ तक कि भक्ति भी कर्म से ही उत्पन्न होती है —

जब करिये नित कर्म भक्ति हू यामें आई।
कर्म रूप तैं कहो कौन पै छूटो जाई॥२५॥

लेकिन नन्ददास की गोपियाँ उद्धव की इस ज्ञान चर्चा को सुनी-अनसुनी ही नहीं कर देतीं बल्कि वे उसका खण्डन करती हैं तथा प्रेममार्ग की प्रतिष्ठा करती हैं। उनका कहना है कि निष्काम कर्म करना सम्भव ही नहीं है—कर्म के साथ-साथ फल-प्राप्ति की इच्छा भी मन में लगी रहती है। इतना ही नहीं कर्म तो एक प्रकार का बन्धन है और बन्धन तो बन्धन ही होता है—भले ही वह लोहे का हो या सोने का। वैसे भी कर्मों की स्थिति उसी समय तक है जब तक हृदय में हरि का निवास नहीं हो जाता। सच तो यह है कि प्रेम के अभाव में किसी का महत्त्व नहीं—सब कुछ धूल के समान है या यों कहें कर्म धूल ही है और प्रेम अमृत—

कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी।
पायन बंधन दोउ, कोउ मानो बहुतेरी॥
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग।
प्रेम बिना सब पचि मुए, विषय वासना रोग॥

सखा सुनि स्याम के ॥१६॥

ज्ञान तथा कर्म का खण्डन करने के अनन्तर गोपियाँ प्रेम पक्ष का पोषण करती हैं। वे स्पष्टरूपेण कहती हैं —

कौन ब्रह्म की जोति ? ज्ञान कासों कहै ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ ॥८॥

× × ×

कर्म मध्य ढूंढै सबै, कितहु न पायो देख।
कर्मरहित ही पाइये, तातें प्रेम विसेख ॥२१॥

में भी कवि को अनुप्रास सम्भवतः अधिक प्रिय है। इसीलिए भँवरगीत में अनुप्रासालंकार का बाहुल्य मिलता है। अनुप्रासों में भी छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास के प्रयोग में कवि की वृत्ति विशेष रूप से रमी है। शब्दालंकारों के अत्यधिक प्रयोग ने भाषा को संगीतात्मक तथा प्रवाहपूर्ण बना दिया है। नन्ददास ने कतिपय अर्थालंकारों का भी प्रयोग किया है। इस वर्ग के अलंकारों में कवि को रूपक विशेष रूप से प्रिय रहा है। रूपक अलंकार में भी कवि की रुचि निरंग रूपक की ओर अधिक रही है। रूपक के अतिरिक्त अर्थान्तिरन्यास, परिकर, परिकरांकुर, दृष्टान्त, सम आदि अलंकारों का प्रयोग परिलक्षित होता है। भँवरगीत की अलंकार-योजना से सम्बद्ध कतिपय उदाहरण अधोद्धृत हैं।

छेकानुप्रास— सुनत स्याम, छवि छाय, जोगी जोतिहिं, बीज बिना, प्रेम पियूषै।

वृत्यनुप्रास— कपटी कुटिल कठोर, लोगनि लज्जा लोपि, पय प्यावत प्रानन।

यमक— ताहि बतावहु जोग जोग ऊधौ जेहि पावौ।

निरंग रूपक— भरि आनंद रस हृदय प्रेम-बेली द्रुम फूली।

अर्थान्तरन्यास—मुनि कहै सब तैं साधुसंग उत्तम है भाई।
पारस परसैं लोह तुरत कंचन ह्वै जाई॥
गोपी प्रेम प्रसाद सौं हौं ही सीख्यौ आय।

परिकरांकुर— ऊधौ ते मधुकर भयौ दुविधा जोग मिटाय॥
पाय रस प्रेम कौं।

दृष्टान्त— जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहौ कहां ते॥

सम— मदन त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि।

काव्यकला के विधायक उपकरणों की दृष्टि से भँवरगीत की समीक्षा करने के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत आख्यान का संकलन करने पर भी कवि ने उसमें यथास्थान मौलिक तत्त्वों का नियोजन किया है और समूचे कथानक को अत्यन्त रसात्मक रीति से व्यक्त किया है। रसात्मकता के साथ-साथ इसमें दार्शनिक निष्पत्तियों के भी दर्शन होते हैं और कवि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक निरूपण कर सका है, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि इस दार्शनिक निरूपण ने काव्य को बोझिल तथा नीरस नहीं बनाया है। कवि की सफलता इस बात में भी है कि उसमें अपनी कल्पना को भावानुरूप शब्दों, छन्दों तथा अलंकारों के माध्यम से व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है। ये कुछ ऐसे कारण हैं जिन्होंने भँवरगीत को हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिला दिया है।

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ तें।
बीज़ बिना तरु जमैं, मोहिं तुम कहौ कहाँ तें ॥
वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन तैं गुन न्यारे नहीं अमल वारि मिलि कीच ॥
सखा सुनि स्याम के ॥२०॥

इस प्रकार गोपियाँ अन्ततः ब्रह्म के सगुण साकार रूप की स्थापना करने में सफ़ल हो जाती हैं और उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो जाता है—वह प्रेम-मार्ग के पथिक बन जाते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार जीव तथा ब्रह्म में अंश अंशी सम्बन्ध है अर्थात् जीव अंश है तथा ब्रह्म अंशी। आनन्द के तिरोधान से पूर्व जीव शुद्धावस्था में होता है और आनन्द का तिरोधान हो जाने के अनन्तर वह संसारी बन जाता है। नन्ददास के भँवरगीत में जीव तथा ब्रह्म के अद्वैत भाव का ही निरूपण किया गया है। ज्ञान गर्व से मण्डित उद्धव जब गोपियों से परास्त होकर तथा उनके अनन्य प्रेम को देखकर एक भक्त के रूप में मथुरा लौट आते हैं और कृष्ण से गोपियों के पास लौट जाने का अनुरोध करते हैं तब कृष्ण अपने शरीर के रोम प्रति-रोम में गोपियाँ दिखाकर उनके साथ अपनी अद्वैतता व्यक्त कर देते हैं—

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर साँवरो ब्रजबनिता भई पात ॥७३॥

इतना ही नहीं कृष्ण अगले ही पद में अपने और गोपियों के अद्वैत सम्बन्ध को तरंग और वारि के पारस्परिक सम्बन्ध से स्पष्ट कर देते हैं—

उनमें मोमैं है सखा छिन भरि अंतर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मों माहि वे हीं हूँ उनहीं माहि ॥
तरंगिनि बारि ज्यों ॥७५॥

वस्तुतः हमें जीव तथा ब्रह्म में इसलिए अन्तर प्रतीत होता है क्योंकि जीव तो इस संसार में आकर माया रूपी कीचड़ में मिल जाता है और ब्रह्म निर्विकार रहता है अन्यथा इन दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

शंकराचार्य ने यह माना था कि ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत् मिथ्या है, लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय तो यह मानता है कि जगत् ब्रह्म का ही सद् अंश है और परिणामतः सत्य है। दूसरे शब्दों में यह जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। आचार्य वल्लभ के अनुसार यदि हम सोने को कुण्डल आदि आभूषणों में परिवर्तित कर दें तो भी सोने में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता और वह गलाने पर पुनः सोने के रूप में बदल जाता है। उसी प्रकार से यह जगत् भी शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम है तथा लय होने पर शुद्ध ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। भँवरगीत में इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार की गई है —

आधारित हैं तथा कुछ के भाषा से अनभिज्ञ संपादकों ने, संपादन एवं शोधन के नाम पर, मीराँ के पदों को अशुद्ध एवं विकृत रूप प्रदान कर दिया है। अतः मीरांबाई के काव्य का अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। हमारे देखने में अब तक जो संस्करण आये हैं उनमें श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं प्रो० नरोत्तम दास स्वामी के द्वारा संपादित संस्करण ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत लेख भी मुख्यतः परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'मीराँ की पदावली' पर आधारित है।

'पदावली' की सामान्य पृष्ठभूमि

किसी भी रचना के सर्जनात्मक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विकासवादी दृष्टिकोण[1] के अनुसार मुख्यतः इन तीन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है—(१) पूर्वपरम्परा (२) तत्कालीन वातावरण, एवं (३) रचयिता का व्यक्तित्व। यहाँ 'पदावली' के सर्जन-पक्ष की व्याख्या के लिए भी इन तीनों पर क्रमशः विचार करते हुए सर्वप्रथम उसकी पूर्ववर्ती परम्परा पर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि मीराँ के जीवन-काल के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव है फिर भी सामान्यतः संवत् १५५५ से १६०३ वि० का समय इसके लिये स्वीकार किया जाता है :[2] इस दृष्टि से वे कबीर-रैदास की परवर्ती एवं सूर-तुलसी की पूर्ववर्ती सिद्ध होती हैं। पदों या गीतों की परम्परा का सूत्रपात हिन्दी में चौदहवीं शताब्दी ईस्वी से भी पूर्व हो चुका था। इस परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में ढूँढा जा सकता है, उन्होंने कदाचित् लोक-गीतों के आधार पर इसे प्रतिष्ठित करते हुए स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। तदनन्तर नाथ-पंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत नामदेव (१२७०-१३५० ई०) ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी पदों की रचना की तथा आगे चलकर हिन्दी के विभिन्न संत-कवियों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस परम्परा को विकसित किया। कबीर ने अन्य शैलियों के साथ-साथ पद-शैली में भी काव्य-रचना की। मीराँ के धर्म-गुरु रैदास भी कबीर के समकालीन माने जाते हैं तथा उन्होंने भी पद-शैली में काव्य-रचना की थी। स्वयं मीराँ ने अपने गुरु के रूप में रैदास का नाम बार-बार अमित श्रद्धापूर्वक लिया है—अतः कहा जा सकता है कि पद-शैली प्रत्यक्ष रूप में मीराँ को अपने गुरु रैदास से ही मिली थी। मीराँ के पदों की न केवल शैली, अपितु विषय-वस्तु एवं भाव-व्यंजना भी संतों के प्रभाव से युक्त है, अतः 'मीराँ की पदावली' को संतों की पद-परम्परा का ही नव-विकसित रूप मानना उचित होगा। 'नव विकसित'—विशेषण का प्रयोग हम

१. द्रष्टव्य – 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त।
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० माहेश्वरी।

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ तैं।
बीज बिना तरु जमैं, मोहिं तुम कहौ कहाँ तैं॥
वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन तैं गुन न्यारे नहीं अमल वारि मिलि कीच॥
सखा सुनि स्याम के॥२०॥

इस प्रकार गोपियाँ अन्ततः ब्रह्म के सगुण साकार रूप की स्थापना करने में सफल हो जाती हैं और उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो जाता है—वह प्रेम-मार्ग के पथिक बन जाते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार जीव तथा ब्रह्म में अंश अंशी सम्बन्ध है अर्थात् जीव अंश है तथा ब्रह्म अंशी। आनन्द के तिरोधान से पूर्व जीव शुद्धावस्था में होता है और आनन्द का तिरोधान हो जाने के अनन्तर वह संसारी बन जाता है। नन्ददास के भँवरगीत में जीव तथा ब्रह्म के अद्वैत भाव का ही निरूपण किया गया है। ज्ञान-गर्व से मण्डित उद्धव जब गोपियों से परास्त होकर तथा उनके अनन्य प्रेम को देखकर एक भक्त के रूप में मथुरा लौट आते हैं और कृष्ण से गोपियों के पास लौट जाने का अनुरोध करते हैं तब कृष्ण अपने शरीर के रोम प्रति-रोम में गोपियाँ दिखाकर उनके साथ अपनी अद्वैतता व्यक्त कर देते हैं—

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर साँवरो ब्रजवनिता भईं पात॥७३॥

इतना ही नहीं कृष्ण अगले ही पद में अपने और गोपियों के अद्वैत सम्बन्ध को तरंग और वारि के पारस्परिक सम्बन्ध से स्पष्ट कर देते हैं—

उनमें मोमैं है सखा छिन भरि अंतर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मों मांहि वें हौं हूँ उनहीं माहिं॥
तरंगिनि वारि ज्यों॥७५॥

वस्तुतः हमें जीव तथा ब्रह्म में इसलिए अन्तर प्रतीत होता है क्योंकि जीव तो इस संसार में आकर माया रूपी कीचड़ में मिल जाता है और ब्रह्म निर्विकार रहता है अन्यथा इन दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

शंकराचार्य ने यह माना था कि ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत् मिथ्या है, लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय तो यह मानता है कि जगत् ब्रह्म का ही सद् अंश है और परिणामतः सत्य है। दूसरे शब्दों में यह जगत ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। आचार्य वल्लभ के अनुसार यदि हम सोने को कुण्डल आदि आभूषणों में परिवर्तित कर दें तो भी सोने में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता और वह गलाने पर पुनः सोने के रूप में बदल जाता है। उसी प्रकार से यह जगत् भी शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम है तथा लय होने पर शुद्ध ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। भँवरगीत में इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार की गई है—

सगुण की मधुरता का मेल, खंडन-मंडन की तार्किकता के स्थान पर हृदय के माधुर्य की प्रतिष्ठा एवं दुरूह प्रतीकों एवं अस्पष्ट शब्दावली के स्थान पर सहज स्वाभाविक शैली का प्रयोग—इस बात का सूचक है कि मीरां ने अपने काव्य में पूर्ववर्ती संतों की उपलब्धियों एवं परवर्ती भक्तों की संभावनाओं के सामंजस्य को प्रस्तुत किया है। उनका 'युग-बोध' 'सीमित युग-बोध' न होकर अतीत और भविष्य से संपुष्ट है। वस्तुतः साहित्यकार की विकसित चेतना ही ऐसा व्यापक बोध प्रस्तुत कर सकती है।

जहाँ तक मीरां के व्यक्तित्व की बात है—उनमें हम अद्भुत साहस, अद्भुत धैर्य्य एवं अद्भुत सहजता पाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतनी अधिक आस्थावान एवं दृढ हैं कि विषपान तक की स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर पाती। पारिवारिक विरोध, सामाजिक भर्त्सना एवं लोक-निन्दा भी नहीं छू पाती। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा की आवाज़ को, अपने हृदय के क्रन्दन को, अपने मन के उल्लास को, अपनी भावनाओं के आवेग को और अपनी अनुभूतियों के प्रवाह को निर्बाध रूप में व्यक्त कर पाईं। नारी का नारीत्व उन्हें कृत्रिमता के आवरण को धारण करने के लिए गांभीर्य एवं ऐश्वर्य के अनावश्यक भार को ढोने के लिए मजबूर नहीं कर पाता। वे एक ऐसी नारी का आदर्श प्रस्तुत करती हैं जो पारिवारिक रूढ़ियों एवं सामाजिक सीमाओं का उच्छेदन करते समय एक अदभुत शक्तिशालिनी विद्रोहिनी का रूप धारण कर लेती हैं जब कि अपने सांवरिया की आराधना के समय, उसके सम्मुख आत्म-निवेदन करते समय, प्रेम से विभोर, लाज से गद्गद्, कोमलता से ओत-प्रोत एवं दैन्य से द्रवित हो उठती हैं। वे एक ओर समाज को चुनौती देती हुई कहती हैं—

पग घुंघरु बाँध मीरां नाची रे...........
मीरां नाची।

या

माई री मैं तो लियो गोबिन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई चौड़े, लियो री बजंता ढोल।

तो दूसरी ओर वे यह भी स्पष्ट रूप में घोषित करती हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।

अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि मीरां के व्यक्तित्व की सबलता शक्तिमत्ता एवं स्पष्टवादिता ने उनकी वाणी को पर्याप्त शक्ति एवं सहजता प्रदान की है—इसी के बल पर वे अपनी अनुभूतियों को यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकी हैं तथा यही यथार्थता उनकी अभिव्यक्ति का चरम सौन्दर्य है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीरां का काव्य परम्परा से पुष्ट होते हुए भी उसकी रूढ़ियों से जकड़ा हुआ नहीं है, युगीन वातावरण पर आधारित होते हुए भी उसकी सीमाओं से आबद्ध नहीं है तथा उनका व्यक्तित्व राज-भवनों में पला हुआ होते हुए भी उसकी औपचारिकताओं

वल्लभ सम्प्रदाय में तन्मयता से परिपूर्ण प्रेमासक्ति को ही भक्ति का सर्वश्रेष्ठ आदर्श स्वीकार किया गया है। गोपियों को 'हरिरस को निज पात्र' माना गया है और नन्ददास के उद्धव ने भी इस कथन की पुष्टि की है। पुष्टिमार्ग में यह स्वीकार किया गया है कि जो भक्त लोक-लाज, कुल-धर्म आदि को तिलांजलि देकर कृष्ण के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है वही प्रेम के सच्चे महत्त्व से परिचित होता है। नन्ददास की गोपियों में यह गुण पूर्णरूपेण विद्यमान है। वे लोक-मर्यादा की तनिक भी चिन्ता नहीं करतीं और कुल-लाज आदि का लोप करके कृष्ण का ध्यान करती हैं। उद्धव उनके इसी रूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

हौं कह निज मरजाद की ग्यान रु कर्म निरूपि।
ये सब प्रेमासक्त होइ रहीं लाज कुल लोपि॥
धन्य ये गोपिका ॥६३॥

× × ×

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन को ध्यावें।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावें ॥६४॥

बतलाया जा चुका है कि पुष्टिमार्ग में भगवदनुग्रह का अत्यधिक महत्त्व है तथा पुष्टिमार्ग का नामकरण ही भागवतपुराण के 'पोषणं तदनुग्रहः' श्लोक की प्रेरणा-स्वरूप हुआ है। नन्ददास के भँवरगीत में उद्धव गोपियों की प्रेमाभक्ति को देखकर इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि उनके मन में भी वैसी ही भक्ति प्राप्त करने की लालसा उत्पन्न हो उठती है। वे यह सोचते हैं कि यदि उनसे प्रसन्न होकर कृष्ण उन्हें कोई वर देंगे तो वे वृन्दावन के द्रुम, गुल्म, लता आदि बन जाने का ही वर माँगेंगे—

कै ह्वै रहौं द्रुम-गुल्म लता वेली बनमांही।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं॥
सोऊ मेरे वस नहीं जो कुछ करौं उपाय।
मोहन होंहि प्रसन्न जो, यह बर मांगी जाय॥
कृपा करि देहिं ओ ॥६७॥

पुष्टिमार्ग में पुष्टि जीव को भगवान् से अभिन्न स्वीकार किया गया है। मथुरा लौटने के बाद जब उद्धव गोपियों के अनन्य प्रेम की कथा कहते हैं और कृष्ण को निष्ठुर कह उन्हें उलाहना देते हैं तो कृष्ण भी विह्वल हो जाते हैं—उनके शरीर के रोम प्रति रोम में गोपियां ही मूर्तिमान हो जाती हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानों कृष्ण का शरीर कामतरु हो तथा व्रज वनिताएं उसकी पातें—

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गईं सांवरे गात।
काम तरोवर सांवरो व्रजबनिता हीं पात॥
उलहि अंग अंग तें ॥७२॥

या किसी ऐसी निकटस्थ सम्बन्धिनी का सूचक हो जिसके माध्यम से मीरां का भी रैदास जी से संपर्क हो गया हो। अतः यह सम्भव है कि मीरां को आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि गुरु रैदास से ही हुई हो। मीरां के काव्य पर सन्त-मत के प्रभाव को सूचित करने वाले और भी कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। एक तो उन्होंने अनेक पदों में अपने गुरु को "जोगी" रूप में सम्बोधित करते हुए उसके प्रति गहरी आसक्ति व्यक्त की है ; यथा—'जोगियो जी आवो ने या देस', 'म्हारा सतगुरु वेगा आज्यो जी', 'अरज करै मीरां दासी जी', 'गुरुपद-रज की मैं प्यासी जी', 'सतगुरु म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी' आदि। इन पदों में कहीं-कहीं गुरु को ही आराध्यदेव या परमात्मा के समरूप मान लिया गया है। गुरुदेव के लिए जोगी (योगी) विशेषण का प्रयोग किसी नाथ-पंथी योगी की ओर भी संकेत करता है किन्तु इसके आधार पर यह कहना कठिन है कि उनका नाथ-पंथियों से सम्बन्ध रहा है। नाथ-पंथी के अनेक यौगिक शब्द—त्रिकुटी, शून्य, सुरत, सुषुम्ना, घट आदि—भी उनके पदों में आये हैं किन्तु उनका अर्थ योग-परक न लेते हुए प्रेम-परक किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ-पंथ का यह प्रभाव मीरां पर सन्त-मत के माध्यम से ही पड़ा है। सन्तों ने भी नाथ-पंथियों की यौगिक शब्दावली का प्रयोग नूतन अर्थ में किया है; उन्होंने हठ योग के स्थान पर प्रेम के सहज योग की प्रतिष्ठा की है। यही बात मीरां में मिलती है। दूसरे, अनेक स्थलों पर मीरां ने ईश्वर के निर्गुण-निराकार एवं निरंजन रूप को मान्यता देते हुए आत्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। एक ओर वे कहती हैं—'जा को नाम निरंजण कहिए ताको ध्यान धरूँगी' तो दूसरी ओर वे स्वयं को आराध्य से अभिन्न भी मानती हैं—'तुम विच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा।' गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान की चर्चा करती हुई वे सर्वत्र आत्मा के दर्शन की बात कहती हैं—

सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम की किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा, सबही सूँ न्यारी हो॥
दीपक जोऊँ ग्यान का, चढ़ूँ अगम अटारी हो॥
मीरां दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥

मीरां की साधना एवं उपासना-पद्धति में भी सन्तों की परंपरा के अनुरूप प्रणय और विरह की मात्रा पर्याप्त है—अतः यह कहा जा सकता है कि मीरां पर सन्त-मत की मान्यताओं का प्रभाव कम नहीं है। यह प्रभाव उन पर—सन्त रैदास का जीवन-काल मीरां से थोड़ा पीछे पड़ता हो तो—किसी रैदासी सन्त (अर्थात् रैदास जी की शिष्य-परंपरा का कोई सन्त) माना जा सकता है।

मीरां पर सन्त-मत का प्रभाव स्वीकार करते हुए भी हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार के क्षेत्र में मीरां कट्टर नहीं थीं—वस्तुतः उनकी विचारधारा भावधारा से भिन्न नहीं थी। वे निर्गुण की महत्ता स्वीकार करती हुई भी अपने बचपन

गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि।
मदन त्रिभंगी आप हैं, करी त्रिभंगी नारि ॥५६॥

कवि ने जिन स्थलों पर भावावेशपूर्ण स्थिति का वर्णन किया है वहां की भाषा भी अपना चोला बदल लेती है। उदाहरणार्थ गोपियों की विह्वलता को रूपायित करने वाले निम्नोद्धृत अवतरण को लिया जा सकता है —

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसाईं।
नन्द-नन्दन बिडराति फिरति, तुम बिन बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु।
दुख-जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलम्बन देहु॥
निठुर ह्वै कहं रहे ॥३०॥

भंवरगीत की भाषा में चित्रात्मकता तथा संगीतात्मकता के गुण भी विद्यमान हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में गोपियों के जिस भाव-विभोर रूप को रूपायित किया गया है उससे पाठकों के नेत्रों के समक्ष एक चित्र सा अंकित हो जाता है —

विह्वल ह्वै धरनी परी ब्रजवनिता मुरझाइ।
दै जल छींट प्रबोध ही उधौ बात बनाई॥
सुनौं ब्रजनागरी ॥६॥

इसी प्रकार से कवि ने संगीतात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता का भी पूर्ण ध्यान रखा है। 'स्याम पीत गुंजार वेनु किंकिनि झनकारयो' में ध्वन्यात्मकता की जैसी चारु व्यंजना हुई है वह अत्यन्त मनोहारिणी है।

मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में अद्भुत निखार आ जाता है। नन्ददास इस बात से अपरिचित नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने भंवरगीत में नानाविध मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। 'कौन समेटै धूरि', 'ग्यान की आंखि न देखौ', 'गांठि की खोइ कै', 'इन्द्रिन को मारैं', 'काहे को सानैं', 'प्रेम ठगोरी लाइ', 'छुधित ग्रास मुख काढ़ि कै', 'हिय लोन लगावो', 'कृत-कृत ह्वै गयो', 'लोभ की नाव पै', 'फाटि हियरो चल्यो', 'हीरा आगे कांच', 'सरवस लियो चुराइ', 'गाहक तुमरो नाहिं', 'प्रेम को मारग सूधो', 'बांधी मूठी', 'सब पचि मुये' आदि अनेक मुहावरे भंवरगीत में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। मुहावरों की तुलना में लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है पर जो लोकोक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं वे अत्यन्त सटीक बन पड़ी हैं। 'घर आयौ नाग न पूजहीं, बांबी पूजन जाहिं', 'पारस परसैं लोह तुरत कंचन ह्वै जाई' ऐसी ही लोकोक्तियाँ हैं।

किसी भी कवि के भाषा-प्रयोग का अध्ययन-अनुशीलन करते समय यह देखना भी आवश्यक होता है कि उसने तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव तथा देशज शब्दों का कितना प्रयोग किया है। इस दृष्टि से भंवरगीत की समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता

माधुर्य-भाव—मीरां अपने आराध्य देव को अपने प्रेमी ही नहीं अपितु पति के रूप में स्मरण करती हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

× × ×

मैं तो गिरधर घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥

यहाँ गिरधर गोपाल के प्रति मीरां ने पूर्ण अनन्यता का भाव व्यक्त किया है—लौकिक दृष्टि से उनके पति कोई और ही थे, किन्तु मीरां उसका स्पष्ट निषेध करती हैं। लौकिक सम्बन्ध एवं लौकिक पति मिथ्या हैं—उसके वास्तविक पति—'सांचो प्रीतम'—तो गिरिधर ही हैं। इसीलिए वह निःसंकोच उन्हें बार-बार 'पिया' या पति के रूप में सम्बोधित करती हैं—

पिया बिनि रह्योइ न जाइ।

× × ×

पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावे।

× × ×

होली पिया बिन लागै खारी......।

यद्यपि यहाँ प्रयुक्त 'पिया' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से केवल प्रिय का सूचक है किन्तु राजस्थानी भाषा में वह पति के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः मीरां का कृष्ण से प्रेयसी-प्रियतम का नहीं, अपितु पत्नी-पति का सम्बन्ध मानना चाहिए।

पति-पत्नी का सम्बन्ध कुछ औपचारिकताओं की अपेक्षा रखता है किन्तु मीरां के सामने यह समस्या नहीं है। उनके विश्वास के अनुसार वे जन्म-जन्म से कृष्ण की ही प्रेयसी व पत्नी रही हैं, अतः इस जन्म में भी वे उसी सम्बन्ध का पालन करती हैं—

मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिनि पल न रहाऊँ।

× × ×

पूरब जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।

× × ×

पूरब जनम की प्रीत हमारी अब नहीं जात निवारी।

इसी प्रकार एक अन्य पद में वे अपने आराध्य को 'पूर्व जन्म" का साथी' मानती हुई अपने सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला मानती हैं। सम्भवतः मीरां की उपासना का लक्ष्य न तो स्वर्ग है और न ही मुक्ति, वे केवल अपने प्रियतम का सान्निध्य एवं तादात्म्य ही जन्म-जन्मान्तरों तक चाहती हैं।

भँवरगीत की भाषा के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि इस रचना में कतिपय शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग परम्परागत अर्थ में नहीं हुआ है, उदाहरण के लिए 'तिनके भूत भविष्य को जानत कौन दुराय' नामक पंक्ति में 'दुराय' शब्द का प्रयोग 'दूसरे' के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार से 'गांठ काटत वेकारी में' वेकारी शब्द 'व्यर्थ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन यह ज्ञातव्य है कि ऐसे प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं रही है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि भंवरगीत की भाषा भावाभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ है। कवि ने जहाँ एक ओर व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं की है वहाँ दूसरी ओर उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता भी नहीं आने दी है। इसीलिए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी नन्ददास की काव्य-भाषा की प्रशंसा करनी पड़ी है।[1]

नन्ददास ने अपने भावों को सशक्त रीति से रूपायित करने के लिए नूतन छन्द विधान का आश्रय लिया है। यह नूतन छन्द-विधान एक मिश्रित-छन्द है जिसका प्रयोग कवि ने इस प्रकार किया है—सर्वप्रथम रोला छन्द, तदनन्तर दोहे का मिश्रण और फिर अन्त में दस मात्राओं की टेक। डॉ० रामकुमार वर्मा ने नन्ददास के इस नूतन छन्द-विधान की महत्ता का उद्‌घाटन करते हुए लिखा है, "भंवरगीत का छन्द रोला और दोहा के मिश्रण से बनाया हुआ एक नवीन छन्द है। इस छन्द के अन्त में १० मात्रा की एक छोटी सी पंक्ति है जिससे भावपूर्ति के साथ छन्द की संगीत-पूर्ति भी होती है।"[2] लेकिन यह विवाद का विषय है कि इस छन्द को कवि की मौलिक उद्‌भावना माना जाए अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह विचार है कि इस छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग सूरदास ने दानलीला वर्णन के अन्तर्गत किया है।[3] पण्डित उमाशंकर शुक्ल का भी यही विचार है। उनके अपने शब्दों में, "कदाचित् इस अपूर्व छन्द का प्रयोग सर्वप्रथम सूरसागर में हुआ है और उसी के अनुकरण में कवि ने इस छन्द की रचना की। किन्तु यह कहना पड़ेगा कि उसके प्रयोग में भी उसने रोला के समान ही अद्वितीय सफलता पाई है। इस छन्द के अन्त में आने वाली दस मात्राओं की भिन्नार्थी टेक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती है। उसमें कवि दोहे और रोले के भावों का निचोड़ रख देता है।"[4]

अलंकार-नियोजन की दृष्टि से भँवरगीत का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि कवि को अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार अधिक प्रिय रहे हैं। शब्दालंकारों

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ १५३।
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डॉ० रामकुमार वर्मा), पृष्ठ ५६१।
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (डॉ० दीनदयालु गुप्त), पृष्ठ ८८६।
४. नन्ददास ग्रन्थावली (पं० उमाशंकर शुक्ल), पृष्ठ ११४।

करता है, तथा वे स्वयं भी चाहती हैं कि दुनियां उन्हें ऐसा न कहे, परन्तु इससे क्या होता है। वे अपने वश में नहीं हैं, उनके प्राण गिरिधर के हाथ बिक चुके हैं, उनके शब्दों में—

मैं ठाडी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ।
बदन चंद परकासत हेली, मंद-मंद मुस्काइ।
लोक कुटंबी गरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाइ।
चंचल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाइ॥

जो किसी दूसरे के हाथ बिक चुके हैं, उनके लिए कुटुम्ब, परिवार, समाज और लोक के सारे विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं। लोग अच्छा बतायें या बुरा—यह महत्त्वशून्य हो जाता है—

भली को कोई बुरी कौ मैं संग लई सीसि चढ़ाइ।
मीरां कहे प्रभु गिरधर के बिनि, पल भरि रह्यो न जाइ।

मीरां यहाँ लोक-मत का तिरस्कार नहीं करतीं, उसकी उपेक्षा भी नहीं करतीं अपितु सब कुछ शिरोधार्य कर लेती हैं। फिर भी वह लोक-मत के अनुसार चल नहीं पातीं—इसलिये कि चलना उनके वश की बात नहीं है। भला जिस प्रभु के बिना एक क्षण भर भी नहीं रहा जाता उसे वह सदा के लिये कैसे भुला सकती हैं। वस्तुतः मीरां की इन उक्तियों में व्यक्तिगत दंभ या अहंकार अथवा साधना का गर्व नहीं है अपितु प्रणय की गंभीरतम अनुभूतियों से उद्वेलित सहृदयता, विनम्रता एवं विवशता दृष्टिगोचर होती है।

माधुर्यभाव की प्रगाढ़ता—मीरां के इस माधुर्यभाव की प्रगाढ़ता का परिचय उनकी विभिन्न भावानुभूतियों या संचारी भावों में मिलता है। वे अपनी प्रणय-वेदना को शत-शत पदों में व्यक्त करती हैं जिनसे उनकी अनुभूति की तीव्रता एवं गंभीरता का पता चलता है, यथा—

रमैया बिन नींद न आवै,
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच डुलावे।
× × ×
होली पिया बिन लागै खारी
सूनो गांव देस सब सूना, सूनी सेज अटारी।

यहां नींद न आना एवं सर्वत्र शून्यता की प्रतीति होना—ऐसे अनुभाव हैं जो प्रणयानुभूतियों की गंभीरता के द्योतक हैं। यह गंभीरता और भी गंभीर हो उठती है जब कि पपीहे का मीठा स्वर भी उसके हृदय के घाव पर नमक का काम करता

१२

मीराँबाई की पदावली

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

यद्यपि हिन्दी की सर्वोच्च महिला कवयित्री—मीराँबाई के नाम से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचना 'मीराँबाई की पदावली' ही है।[1] इस 'पदावली' का भी कोई एक प्रामाणिक रूप या संस्करण नहीं मिलता। विभिन्न संकलन-कर्त्ताओं एवं संपादकों ने अपने-अपने ढंग से 'पदावली' का पाठ निर्धारित किया है। इतना ही नहीं, 'पदावली' के विभिन्न संस्करणों के पदों की संख्या एवं नाम में भी परस्पर गहरा अंतर मिलता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि स्वयं मीराँ ने अपने विभिन्न पदों को संगृहीत करके कोई संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु परवर्ती संकलन-कर्त्ताओं ने ही अपने-अपने संकलनों को विभिन्न संज्ञाएं प्रदान की हैं। यही कारण है कि मीराँ की पदावली के अनेक संग्रह अलग-अलग नामों से प्रचलित हैं जिनमें से कुछ ये हैं[2]—(१) 'मीराँबाई के भजन'—पं० ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र द्वारा संकलित, सन् १८६८। (२) 'मीराँबाई की शब्दावली'—बलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित। (३) 'मीराँबाई की पदावली'—सं० परशुराम चतुर्वेदी। (४) 'मीराँ-माधुरी'—ब्रजरत्नदास। (५) 'मीराँ और उनकी प्रेमवाणी'—ज्ञान चंद जैन। (६) 'मीराँ की प्रेमवाणी'—रामलोचन शर्मा 'कंटक'। (७) 'मीराँ-मंदाकिनी'—नरोत्तमदास स्वामी। (८) 'मीराँ-दर्शन'—मुरलीधर श्रीवास्तव। (९) 'मीराँ-पदावली'—विष्णुकुमारी 'मंजु'। (१०) 'मीराँ-वृहत् पद-संग्रह'—पद्मावती 'शबनम'। (११) 'मीराँ-सुधा-सिंधु'—स्वामी आनन्दस्वरूप। इनमें से अनेक संग्रह एक-दूसरे पर

१. मीराँ की अन्य उपलब्ध रचनाएँ—
   १. गीत-गोविन्द की टीका
   २. नरसी रो मायेरो
   ३. सत्यभामा जी नों रूसणो
   ४. राग सोरठ
   ५. राग गोविन्द आदि।

२. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० ३२६।

बचन तुम्हार तुमहीं बिसरे, मन मेरो हर लियो।
'मीरां' कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनि फाटत हियो ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता नहीं है, अपितु अपनी वेदना की अभिव्यंजना सहज स्वाभाविक रूप में है। 'तुम बिन फाटत हियो' में यह वेदना साकार हो उठती है।

मीरां ने विभिन्न पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं, पत्रिका, संदेश आदि विभिन्न अवसरों व माध्यमों के आश्रय से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन सबको प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी अनुभूतिया सर्वत्र सहज स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनके माधुर्य भाव के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप में पाँच बातें कही जा सकती हैं—(१) उनका यह संबंध जन्म-जन्मान्तरों के प्रणय की—पिछले जन्म की प्रीति के विश्वास पर आधारित है। (२) उनका लक्ष्य मिलन है, स्वर्ग और मोक्ष नहीं। (३) उसमें आराध्य को पति-रूप में ग्रहण करते हुए स्वकीया भाव को स्थान दिया गया है। (४) उसकी उत्पत्ति सौन्दर्याकर्षण व रूपासक्ति जन्य है। (५) उसमें स्थूल शारीरिकता व संयोग का अभाव है, विरहानुभूति की ही प्रमुखता है।

काव्य-रूप एवं शैली-पक्ष

काव्य-रूप की दृष्टि से 'मीरां की पदावली' रीति-काव्य के अन्तर्गत आती है। जब हृदय में भावों का ज्वार उमड़ता है तो उसकी अभिव्यक्ति गीति के रूप में होती है। काव्य के अन्य रूपों—प्रबन्ध और मुक्तक में भी भावात्मकता रहती है किन्तु उनमें वस्तु, पात्र, विचार आदि तत्त्वों का भी समावेश रहता है इससे उनमें भावात्मकता का वह तीव्र आवेग नहीं रहता जो गीति-काव्य में संभव है। मीरां के पास आत्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—न वे कोई कहानी कहना चाहती थीं, और न ही किसी की महिमा का गान करना उनका लक्ष्य था। किसी मत, सिद्धान्त या संदेश का निरूपण करना भी उनका लक्ष्य नहीं था। वे चाहती थीं केवल अपने घायल हृदय की पीड़ा को व्यक्त करना या अपने साँवलिया से प्रेम-मनुहार-रोष-उपालंभ भरे दो-चार शब्द कहना। इसके लिए सर्वोत्कृष्ट माध्यम गीति का ही हो सकता था, जिसे अपनाकर मीरां ने अपनी सहजता का परिचय दिया। वस्तुतः मीरां ने गीति का माध्यम अपनाया नहीं; अपितु कहना चाहिए कि उनकी विरह-वेदना स्वतः ही गीतों के रूप में फूट पड़ी। आधुनिक कवि पंत का यह कथन—'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।—मीरां पर भली-भाँति चरितार्थ होता है। उनके गीत उनकी 'आह' से ही प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं।

गीति-काव्य के लिए अपेक्षित तत्त्वों में भावानुभूति, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता एवं शैली की कोमलता की गणना की जाती है। मीरां के पदों

१३

मीराँबाई की पदावली

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

यद्यपि हिन्दी की सर्वोच्च महिला कवयित्री—मीराँबाई के नाम से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचना 'मीराँबाई की पदावली' ही है।[1] इस 'पदावली' का भी कोई एक प्रामाणिक रूप या संस्करण नहीं मिलता। विभिन्न संकलन-कर्त्ताओं एवं संपादकों ने अपने-अपने ढंग से 'पदावली' का पाठ निर्धारित किया है। इतना ही नहीं, 'पदावली' के विभिन्न संस्करणों के पदों की संख्या एवं नाम में भी परस्पर गहरा अंतर मिलता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि स्वयं मीराँ ने अपने विभिन्न पदों को संगृहीत करके कोई संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु परवर्ती संकलन-कर्त्ताओं ने ही अपने-अपने संकलनों को विभिन्न संज्ञाएं प्रदान की हैं। यही कारण है कि मीराँ की पदावली के अनेक संग्रह अलग-अलग नामों से प्रचलित हैं जिनमें से कुछ ये हैं[2]—(१) 'मीराँबाई के भजन'—पं० ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र द्वारा संकलित, सन् १८९८। (२) 'मीराँबाई की शब्दावली'—बलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित। (३) 'मीराँबाई की पदावली'—सं० परशुराम चतुर्वेदी। (४) 'मीराँ-माधुरी'—व्रजरत्नदास। (५) 'मीराँ और उनकी प्रेमवाणी'—ज्ञान चंद जैन। (६) 'मीराँ की प्रेमवाणी'—रामलोचन शर्मा 'कंटक'। (७) 'मीराँ-मंदाकिनी'—नरोत्तमदास स्वामी। (८) 'मीराँ-दर्शन'—मुरलीधर श्रीवास्तव। (९) 'मीराँ-पदावली'—विष्णुकुमारी 'मंजु'। (१०) 'मीराँ-बृहत् पद-संग्रह'—पद्मावती 'शबनम'। (११) 'मीराँ-सुधा-सिंधु'—स्वामी आनन्दस्वरूप। इनमें से अनेक संग्रह एक-दूसरे पर

१. मीराँ की अन्य उपलब्ध रचनाएँ—
   १. गीत-गोविन्द की टीका
   २. नरसी रो मायेरो
   ३. सत्यभामा जी नों रूसणो
   ४. राग सोरठ
   ५. राग गोविन्द आदि।

२. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० ३२६।

(अ) तुलनात्मक संयोजन :

'पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहें पिंड रोग।'
'घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री, म्हारी बिथा न बूझै कोइ'

× × ×

'जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।'

× × ×

'सूनी सेज जहर ज्यूँ..................'

(आ) आरोपण-मूलक संयोजन :

मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई'

(इ) तादात्म्य मूलक संयोजन :

'विरह-व्यथा लागी उर-अन्तर सो तुम बुझावो हो।'
'असुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम वेलि बोई।'
'विरहणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।'

उपर्युक्त उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मीरां ने अपनी अनुभूति-प्रेरित कल्पना-शक्ति के बल पर प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का मेल (संयोजन) अत्यन्त सुन्दर रूप में किया है।

(ख) विश्लेषणात्मक रूप-विधान—विश्लेषणात्मक रूप-विधान की भाँति मूल विषय के साथ वाह्य तत्त्वों का मेल नहीं होता अपितु मूल विषय से ही विभिन्न कर दिया जाता है जिससे उसमें आकर्षण की उद्दीप्ति हो जाती है। मीराँ के काव्य में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

'मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहैं।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहैं॥
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।

× × ×

कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।

× × ×

सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विसेषा

यहाँ नख-शिख के विभिन्न अवयवों का चित्रण विश्लेषणात्मक शैली में किया गया है जिससे पाठक को विषय की अनुभूति प्रत्यक्ष बिम्ब-रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ग) विस्थापनात्मक रूप-विधान—इसमें प्रस्तुत या कथ्य-विषय के स्थान पर अप्रस्तुत या अन्य विषय की स्थापना की जाती है। इसी पद्धति को परम्परागत काव्य-

जान-बूझ कर कर रहे हैं। वह इस बात का सूचक है कि मीरां ने पूर्ववर्ती संतों का अंधानुकरण नहीं किया अपितु विचार, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पूर्व-परम्परा को नया मोड़ भी दिया है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जायगा। मीरां संतों की शिष्या होती हुई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार सगुण के भक्तों के अधिक समीप पड़ती हैं तथा उनका भाव-पक्ष सन्तों की अपेक्षा अधिक अनुभूतिपूर्ण एवं गंभीर है। उनकी शैली में भी अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सरलता एवं तरलता दृष्टिगोचर होती है। अतः कहा जा सकता है कि मीरां ने पद-शैली के रूप में पूर्व-परम्परा से जो कुछ ग्रहण किया उसे नई वस्तु, नई अनुभूति एवं शैली के नूतन तत्त्वों द्वारा अधिक संपन्न एवं परिष्कृत किया है। दूसरे शब्दों में, 'मीरां की पदावली' अपनी पूर्व-परम्परा के नूतन विकास की, व्यक्तित्व की सशक्तता एवं सबलता का प्रमाण है।

तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से 'मीरां की पदावली' पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मीरां उस युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित है जबकि भक्ति-आन्दोलन अपने उत्थान की ओर अग्रसर था। यह वही समय था जबकि नामदेव, कबीर एवं रैदास जैसे संत धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांप्रदायिक भेद-भावों, वर्ण और जाति के स्तरों की चिन्ता एवं बाह्याचारों व कृत्रिम विधि-विधानों की निरर्थकता घोषित कर चुके थे, किन्तु अभी तक सूर-तुलसी की सगुण-लीलाओं के गुण-गान का माधुर्य प्रवाहित नहीं हुआ था। मीरां इन दोनों स्थितियों के मध्य में स्थित हैं—न केवल काल की दृष्टि से अपितु अपनी बौद्धिकता, भावना एवं क्रिया-कलापों की दृष्टि से भी जिसे हम 'युग-बोध' कहते हैं, वह प्रायः अतीत से कटा हुआ एवं भविष्य से सटा हुआ होता है—उसमें अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का बोध ही अधिक रहता है किन्तु ऐसा युग-बोध व्यक्ति के दृष्टिकोण को सीमित एवं संकीर्ण बना देता है। वह अतीत से ग्रहण नहीं कर पाता, भविष्य को कुछ दे नहीं पाता। ऐसे 'युग-बोध' की दुहाई देकर हम भले ही अपनी सीमाओं की संकीर्णता एवं अभावों की दुर्बलता को छिपा लें किन्तु सच्ची प्रतिभा एवं व्यापक दृष्टि का प्रमाण तो उसी बोध में माना जा सकता है जो अतीत की उपलब्धियों, वर्तमान की गति-विधियों एवं भविष्य की संभावनाओं पर आधारित हो। इस प्रकार के व्यापक बोध का प्रमाण मीरां की काव्य-दृष्टि में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन उच्च सामंत वर्ग में पोषित राजकुमारी होती हुई भी उन्होंने चर्मकार रैदास की शिष्या बनने में कोई संकोच नहीं किया—महलों और राज-भवनों की सुदृढ़ दीवारें भी उन्हें संतों की कुटिया में जाने से नहीं रोक सकीं—यह तथ्य उनके व्यक्तित्व की सबलता का द्योतक है। राज-भवनों की अट्टालिकाओं में रहने वाली राजकुमारी का शूद्र जाति के संतों के साथ निस्संकोच रूप में मिलना-जुलना सांस्कृतिक परिस्थितियों के एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है। दूसरी ओर संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ भक्तों के

(अ) तुलनात्मक संयोजन :

'पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहें पिंड रोग।'
'घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री, म्हारी बिथा न बूझै कोइ'
× × ×
'जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।'
× × ×
'सूनी सेज जहर ज्यूँ......................'

(आ) आरोपण-मूलक संयोजन :

मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई'

(इ) तादात्म्य मूलक संयोजन :

'विरह-व्यथा लागी उर-अन्तर सो तुम बुझावो हो।'
'असुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम वेलि बोई।'
'विरहणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।'

उपर्युक्त उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मीरां ने अपनी अनुभूति-प्रेरित कल्पना-शक्ति के बल पर प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का मेल (संयोजन) अत्यन्त सुन्दर रूप में किया है।

(ख) विश्लेषणात्मक रूप-विधान—विश्लेषणात्मक रूप-विधान की भाँति मूल विषय के साथ बाह्य तत्त्वों का मेल नहीं होता अपितु मूल विषय से ही विभिन्न कर दिया जाता है जिससे उसमें आकर्षण की उद्दीप्ति हो जाती है। मीरां के काव्य में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

'मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहैं।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहैं।।
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
× × ×
कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टोना।
× × ×
सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विसेषा

यहाँ नख-शिख के विभिन्न अवयवों का चित्रण विश्लेषणात्मक शैली में किया गया है जिससे पाठक को विषय की अनुभूति प्रत्यक्ष बिम्ब-रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ग) विस्थापनात्मक रूप-विधान—इसमें प्रस्तुत या कथ्य-विषय के स्थान पर अप्रस्तुत या अन्य विषय की स्थापना की जाती है। इसी पद्धति को परम्परागत काव्य-

जान-बूझ कर कर रहे हैं। वह इस बात का सूचक है कि मीरां ने पूर्ववर्ती संतों का अंधानुकरण नहीं किया अपितु विचार, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पूर्व-परम्परा को नया मोड़ भी दिया है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जायगा। मीरां संतों की शिष्या होती हुई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार सगुण के भक्तों के अधिक समीप पड़ती हैं तथा उनका भाव-पक्ष सन्तों की अपेक्षा अधिक अनुभूतिपूर्ण एवं गंभीर है। उनकी शैली में भी अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सरलता एवं तरलता दृष्टिगोचर होती है। अतः कहा जा सकता है कि मीरां ने पद-शैली के रूप में पूर्व-परम्परा से जो कुछ ग्रहण किया उसे नई वस्तु, नई अनुभूति एवं शैली के नूतन तत्त्वों द्वारा अधिक संपन्न एवं परिष्कृत किया है। दूसरे शब्दों में, 'मीरां की पदावली' अपनी पूर्व-परम्परा के नूतन विकास की, व्यक्तित्व की सशक्तता एवं सबलता का प्रमाण है।

तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से 'मीरां की पदावली' पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मीरां उस युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित है जबकि भक्ति-आन्दोलन अपने उत्थान की ओर अग्रसर था। यह वही समय था जबकि नामदेव, कबीर एवं रैदास जैसे संत धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांप्रदायिक भेद-भावों, वर्ण और जाति के स्तरों की चिन्ता एवं बाह्याचारों व कृत्रिम विधि-विधानों की निरर्थकता घोषित कर चुके थे, किन्तु अभी तक सूर-तुलसी की सगुण-लीलाओं के गुण-गान का माधुर्य प्रवाहित नहीं हुआ था। मीरां इन दोनों स्थितियों के मध्य में स्थित हैं—न केवल काल की दृष्टि से अपितु अपनी बौद्धिकता, भावना एवं क्रिया-कलापों की दृष्टि से भी जिसे हम 'युग-बोध' कहते हैं, वह प्रायः अतीत से कटा हुआ एवं भविष्य से सटा हुआ होता है—उसमें अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का बोध ही अधिक रहता है किन्तु ऐसा युग-बोध व्यक्ति के दृष्टिकोण को सीमित एवं संकीर्ण बना देता है। वह अतीत से ग्रहण नहीं कर पाता, भविष्य को कुछ दे नहीं पाता। ऐसे 'युग-बोध' की दुहाई देकर हम भले ही अपनी सीमाओं की संकीर्णता एवं अभावों की दुर्बलता को छिपा लें किन्तु सच्ची प्रतिभा एवं व्यापक दृष्टि का प्रमाण तो उसी बोध में माना जा सकता है जो अतीत की उपलब्धियों, वर्तमान की गति-विधियों एवं भविष्य की संभावनाओं पर आधारित हो। इस प्रकार के व्यापक बोध का प्रमाण मीरां की काव्य-दृष्टि में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन उच्च सामंत वर्ग में पोषित राजकुमारी होती हुई भी उन्होंने चर्मकार रैदास की शिष्या बनने में कोई संकोच नहीं किया—महलों और राज-भवनों की सुदृढ़ दीवारें भी उन्हें संतों की कुटिया में जाने से नहीं रोक सकीं—यह तथ्य उनके व्यक्तित्व की सबलता का द्योतक है। राज-भवनों की अट्टालिकाओं में रहने वाली राजकुमारी का शूद्र जाति के संतों के साथ निस्संकोच रूप में मिलना-जुलना सांस्कृतिक परिस्थितियों के एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है। दूसरी ओर संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ भक्तों के

शैली के उपर्युक्त भेदों के साथ-साथ छंद-वैविध्य की दृष्टि से भी मीराँ का काव्य संपन्न है। जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीराँ की पदावली' की भूमिका में स्पष्ट किया है, मीराँ ने सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा शोभन, ताटंक, कुण्डल, चान्द्रयण, आदि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा मुख्यतः राजस्थानी है किन्तु उनके कतिपय पद गुजराती एवं ब्रज भाषा में भी मिलते हैं। राजस्थानी से अनभिज्ञ संपादकों ने मीराँ की भाषा को तोड़-मरोड़ दिया है, पर इसके लिए मीराँ को दोष नहीं दिया जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार 'मीराँ की पदावली' के विभिन्न पक्षों पर विचार कर लेने के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय-गीति-परम्परा में 'मीराँ की पदावली' एक विशिष्ट स्थिति की सूचक है—वह विशिष्ट स्थिति है जबकि एक नारी-हृदय से प्रणय-वेदना के दिव्य उद्गार सहज स्वाभाविक रूप में फूट पड़े। पुरुष के ओजस्वी स्वर भी गीति के क्षेत्र में जाकर कोमल-कान्त पदावली में परिणत हो जाते हैं, फिर नारी के विरह-व्यथित करुण स्वरों की कोमलता का तो कहना ही क्या। हिन्दी की काव्य-परम्परा में मीराँ के स्वरों का उद्घोष एक सर्वथा नूतन घटना का द्योतक है जबकि एक विद्रोहिणी नारी कुल, परिवार, समाज और देश की कृत्रिम दीवारों और मिथ्या-विश्वासों के बंधनों को तोड़ती हुई अपने पवित्र लक्ष्य दिव्य-प्रेम की घोषणा डंके की चोट, पुकार-पुकार कर करती है: भक्ति काव्य के क्षेत्र में मीराँ सगुण और निर्गुण, भक्ति और रहस्यवाद, श्रद्धा और प्रेम के अन्तर की खाइयों को पाटती हुई माधुर्य भाव के उज्ज्वल मधुर क्षेत्र का अनुसंधान करती हैं। वे संतों और भक्तों की साधना का सर्वत्र ग्रहण करती हुई भी किसी भी संप्रदाय की सीमाओं में बँधना अस्वीकार कर देती हैं। उन्हें न राणा के द्वारा भेजे गये विष के प्यालों की परवाह है, न पुष्टिसंप्रदाय के अर्थ-संग्राहक द्वारा ठुकराई गई भेंट की चिन्ता और न ही वे समाज की फब्तियों और निन्दकों की उक्तियों से त्रस्त होती हैं: वे तो केवल अपने साँवरिया के ध्यान में, उसके सम्मुख नृत्य करने में और उसे अपने हृदय की रागिनी सुनाने में लीन हैं, तन्मय हैं: वे कविता नहीं लिखतीं, पद नहीं जोड़ती और छंदों को नहीं गिनतीं; यह सब कुछ तो स्वतः ही हो जाता है: जिस प्रकार वायु के अथाह कम्पनों से वन-वीथिका के वंश-समूह स्वतः ही निनादित हो उठते हैं, कुछ उसी प्रकार प्रणयानुभूतियों से द्रवित, विरहानुभूतियों से उच्छ्वसित एवं आनन्दानुभूतियों से तरंगित होकर उनके स्वर विभिन्न राग-रागिनियों में फूट पड़े हैं जिन्हें हम लोग कविता, पद या गीति की संज्ञा देते हैं। अस्तु, मीराँ की इन सहज स्वाभाविक दिव्य अनुभूतियों के साथ किसी से क्या तुलना?

एवं कृत्रिमताओं से मुक्त है। वस्तुतः मीरां की काव्यानुभूति, परम्परा युग एवं व्यक्तित्व के सुन्दर सम्मिश्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह परम्परा का एक नया मोड़, युग का एक व्यापक बोध एवं व्यक्तित्व की एक नूतन सहजता का आदर्श प्रस्तुत करता है जो समग्र रूप में कवि-प्रतिभा की विकासोन्मुखता का परिचायक है।

बौद्धिक पक्ष

'पदावली' के बौद्धिक पक्ष पर विचार करने के लिये हमें सर्वप्रथम यह देखना होगा कि मीरां किस धर्म-सम्प्रदाय व दार्शनिक मत की अनुयायिनी थीं। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। उनके गीतों में विभिन्न धर्म-संप्रदायों एवं दर्शनों का प्रभाव मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होता है, अतः उन्हें किसी एक संप्रदाय से सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता। उनके माता-पिता सगुण के उपासक थे तथा इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि मीरां बाल्यकाल में ही कृष्ण की मूर्त्ति की पूजा करने लग गई थीं—इससे वे सगुण की आराधिका सिद्ध होती हैं। उनके पदों में प्रायः कृष्ण के प्रति ही आत्म-निवेदन किया गया है, इससे भी वे कृष्ण-भक्तों की परंपरा में आती हैं। किन्तु कृष्ण-भक्त मान लेने पर भी एक प्रश्न यह उठता है कि वे कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध किस संप्रदाय की अनुयायिनी थीं? कुछ विद्वान् उन्हें वल्लभ-संप्रदाय से सम्बद्ध कराना चाहते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। अवश्य ही वल्लभ-सम्प्रदाय से मीरां का थोड़ा संपर्क रहा था, किन्तु उन्होंने इसकी दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। वार्ता के अनुसार वल्लभ-संप्रदाय के प्रतिनिधि गोविन्द दुबे मीरां के यहां गये थे किन्तु वे मीरां से अप्रसन्न होकर लौट आये थे तथा मीरां की दी हुई भेंट को अस्वीकार करते हुए कहा था—'तू तो श्री आचार्य महाप्रभून की नहीं होत ताते तेरी भेंट हाथ से छूवेगी नहो।' एक अन्य उल्लेख के अनुसार मीरां स्वयं भी वृन्दावन आई थीं किन्तु वे यहां नहीं ठहरीं। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि वल्लभ संप्रदाय के अनुयायियों ने मीरां को अपने मत की दीक्षा देने का प्रयास किया था किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

स्वयं मीरां की पदावली में गुरु के रूप में सन्त रैदास का स्मरण बार-बार श्रद्धापूर्वक किया है, यथा—

गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।
चोट लगी निज नाम हरि की, म्हांरे हिवड़े खटकी॥[1]

दूसरी ओर सन्त रैदास की उपलब्ध जीवनियों में भी उनकी शिष्याओं में "चित्तौड़ की झाली रानी" का उल्लेख मिलता है—यद्यपि यह "झाली रानी" स्वयं मीरां का विशेषण नहीं माना जाता—पर सम्भव है कि यह मीरां की माता, चाची

---

1. 'मीरां की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी)—पदसंख्या—२४, २६, १६६।

खोज-रिपोर्टों में हितहरिवंशजी रचित "हित चौरासी" की अनेक हस्तलिखित प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना है जो पहले मृषावाद का स्वयं खंडन कर देती है। लेखक ने स्वयं वृन्दावन में तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जो तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं और अपने स्वरूप, आकार-प्रकार, वर्ण-विन्यास, कागज आदि के बाह्याकार से ही पुरानी प्रतीत होती हैं।

साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना के कारण कुछ लोगों ने हित चौरासी को सूरदास की रचना सिद्ध करने का भी प्रयास किया है जिसे समस्त ऐतिह्य की अवहेलना करने वाला मिथ्या प्रयास ही समझना चाहिए। सरस्वती पत्रिका में पटना-निवासी एक गोस्वामी महोदय ने कल्पित नाम से "हित चौरासी और सूरदास" शीर्षक लेख लिखकर पाँच पदों का ज्यों का त्यों सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति) से उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनके रचयिता सूरदास जी थे। अपने पक्ष में युक्ति देते हुए लिखा कि हितहरिवंशजी की मातृभाषा या बोलचाल की भाषा ब्रज नहीं थी। वे देवबन्द (सहारनपुर) के रहने वाले थे। परिपक्व आयु में वृन्दावन आकर इतनी प्रांजल भाषा लिखना उनके लिए सुगम न था। अतः हित चौरासी के पद सूरदास प्रणीत हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय वालों ने जबरदस्ती उन्हें अपनाकर हित-चौरासी नाम दे दिया है। किन्तु उन्होंने न तो ऐतिहासिक प्रमाणों की छानबीन की चेष्टा की और न किसी परम्परा का अनुसंधान किया। साम्प्रदायिक तथा साहित्यिक दोनों परम्पराओं में हितहरिवंश रचित "हित चौरासी" ग्रंथ हितजी के समय से ही प्रसिद्ध हुआ चला आ रहा है। इस ग्रंथ को उपजीव्य मानकर सेवकजी, व्यासजी, ध्रुवदास जी ने उसके सिद्धान्तों का भाष्य, टीका, वृत्ति आदि लिखी थी। यदि चौरासी के पद उस समय से ही प्रसिद्ध न होते तो इन महानुभावों को उसके अनुगमन का आश्रय कैसे मिलता।

एक और प्रबल तर्क यह है कि 'हित चौरासी' नाम संख्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। अर्थात् यह चौरासी पदों का ही संग्रह हो सकता है। सूरदास के पदों की संख्या अद्यावधि निश्चित नहीं है। यदि वे पाँच या छः पद चौरासी के न होकर सूरदास के माने जायें तो ग्रंथ के नाम की सार्थकता नहीं रहती। अतः हित चौरासी में जो पद संकलित हैं वे तो प्रारम्भ से इसी रूप में चले आ रहे हैं। पक्षपात या प्रमादवश लिपिकारों ने इन पदों को सूर की रचनाओं में 'छाप-परिवर्तन' करके समाविष्ट कर दिया है। यथार्थ में वे हितहरिवंशजी की ही रचना है।

हित चौरासी का प्रतिपाद्य

हित चौरासी एक मुक्तक पद-रचना है जिसमें भाववस्तु का कोई व्यक्त कोटि-क्रम नहीं है। समय-प्रबन्ध की दृष्टि से कुछ महानुभावों ने कालक्रम निर्धारित करने की चेष्टा की है जो अनिवार्य रूप से मान्य नहीं कही जा सकती। श्री रूपलाल गोस्वामी ने हित चौरासी के पदों को समय-प्रबन्ध में इस प्रकार वर्गीकृत किया है—

के आराध्य कृष्ण को नहीं भूल पाईं—उन पर बाल्यकालीन संस्कार इतने गहरे थे कि वे अपना प्रणय-निवेदन 'मोर मुकुटधारी गिरिधर' को ही करती हैं—निराकार ब्रह्म को नहीं। उनमें सगुण की आस्था और निर्गुण का ज्ञान—दोनों मिश्रित हो गये हैं। सच पूछा जाय तो उनका निर्गुण ब्रह्म सगुण कृष्ण से भिन्न नहीं है। उनकी भावानुभूति की प्रबल-धारा में सगुण एवं निर्गुण का भेद तिरोहित हो जाता है, अतः दर्शन और तर्क की कसौटियाँ उनके लिये व्यर्थ हैं।

भाव-पक्ष

'पदावली' में मुख्यतः कृष्ण के प्रति प्रणय-निवेदन किया गया है, जिसे लौकिक दृष्टि से शृंगार-रस में स्थान दिया जा सकता था किन्तु मीरां का आलम्बन अलौकिक है—अतः यह प्रश्न उठता है कि उसे 'भक्ति' भाव में स्थान दिया जाय या रहस्यवाद के अन्तर्गत। 'भक्ति' मूलतः श्रद्धा और प्रेम से समन्वित होती है, उसमें आलम्बन को उच्च एवं महान् तथा स्वयं को दीन व हीन माना जाता है, जब कि मीरां में समता पर आधारित प्रणय की अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से मीरां सगुण भक्तों की अपेक्षा निर्गुण-सन्तों के अधिक समीप पड़ती हैं। सन्तों के दिव्य-प्रेम को 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी जाती है तथा अनेक आलोचकों ने मीरां को भी रहस्य-वादिनी बताया है किन्तु हमें इसमें एक आपत्ति है—मीरां का आराध्य सगुण कृष्ण है जबकि रहस्यवाद निर्गुण की मान्यता पर आधारित होता है। अतः मीरां न तो पूर्णतः भक्तों की श्रेणी में आती हैं और न ही सन्तों की श्रेणी में—उनकी भावना भक्ति और रहस्यवाद के बीच में पड़ती है। रूपगोस्वामी ने भक्ति के विभिन्न भेदोपभेद करते हुए भक्ति के एक ऐसे भेद की भी प्रतिष्ठा की है, जिसमें आराध्य के प्रति विशुद्ध प्रणय की भावना रहती है; इसे माधुर्यभाव की भक्ति कहा गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का यह भेद भक्ति के मूल क्षेत्र की सीमाओं से दूर पड़ता है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसे स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इसे हम माधुर्य-भाव की भक्ति न कहकर माधुर्य-भाव की उपासना कहना पसन्द करेंगे तथा इसे भक्ति का भेद न मानकर, उससे पृथक् उपासना-पद्धति के रूप में स्वीकार करेंगे। भावना के आधार पर उपासनाओं के निम्नांकित तीन भेद माने जा सकते हैं—

निर्गुण — प्रणय = रहस्यवाद
सगुण— श्रद्धा — प्रणय = भक्ति-भाव
सगुण — प्रणय = माधुर्य-भाव

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार मीरां की भावना को माधुर्य-भाव की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः व्यावहारिक क्षेत्र में पहले से ही मीरां की अनुभूतियों को 'माधुर्य-भाव' के नाम से स्मरण करने की परंपरा चली आ रही है, अतः इस दृष्टि से भी यह उचित हैं।

ज्यौं नादहि मन दिये कुरंगनि प्रकट पारधी मारै ॥
हितहरिवंश हिलग सारंग ज्यों शलभ शरीरहि जारै ॥
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै ॥

—हित चौरासी, पद सं० ४२।

सच्चे और निरवद्य प्रेम की पहचान यही है कि प्रेमी के हृदय में जब अपने आराध्य के प्रति दृढ़-आसक्ति उदय होती है तब उसे उचित-अनुचित का विचार-विवेक नहीं रहता। अपने प्रेमास्पद के लिए प्रेमपरवश हो जो कुछ भी करता है, ठीक ही करता है। लोक, वेद, शास्त्र सब मर्यादायें उसके लिए प्रेमी के आगे तुच्छ और हेय प्रतीत होती हैं। गोपियों के प्रेम का वर्णन इसी कोटि में आता है। वे श्याम की मुरली-ध्वनि सुनकर सब प्रकार की मर्यादाओं का उल्लंघन कर भाग खड़ी हुईं, 'सुधिबुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय।' इसी प्रेम को माधुर्यभक्ति का प्राण माना गया है।

प्रेम-राज्य में मान-सम्मान, पद-मर्यादा, छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। सकल लोक चूड़ामणि श्रीकृष्ण प्रेम के राज्य में प्रविष्ट होते ही अपने अस्तित्व को अकिंचन जैसा मानते हैं। प्रेम में दैन्य और कार्पण्य ही शोभा देता है। इस प्रेम की महिमा बताते हुए कहा है—

प्रीति की रीति रंगीलोई जानै।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै ॥
जमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै।
निपट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहिं न आनै॥
नस्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सौं बानै।
हितहरिवंश चतुर सोई लालहिं छाड़ि मेंड पहिचानैं ॥

—हित चौरासी, पद सं० ४१।

इस पद में रंगीले श्याम को प्रीति का पारखी तत्त्ववेत्ता ठहराया गया है किन्तु अन्तिम चरण में, 'चतुर सोई लालहिं छाड़ि मेंड पहिचानैं', कहकर प्रेम की स्थिति को ऊपर उठाने वाला सिद्धान्त झलक रहा है। इस चरण में स्पष्ट संकेत है कि हितहरिवंशजी के मत में 'उपास्य तत्त्व केवल परात्पर प्रेम तत्त्व' ही है। प्रिया-प्रियतम (राधाकृष्ण) इसी प्रेमोपासना के अन्तर्गत रहते हैं इसलिए 'मेंड पहिचानना' अर्थात् प्रेम की यथार्थ मर्यादा को समझने वाला ही प्रेमी हो सकता है। कृष्ण को प्रेम करने मात्र से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती वरन् उससे भी आगे प्रेम को समझना अनिवार्य है, यही प्रच्छन्न भाव इस पद में तात्त्विक शैली से रखा गया है।

नित्यविहार-वर्णन

नित्यविहार का वर्णन करने वाले आचार्यों में श्री हरिवंशजी का स्थान मूर्धन्य पर है। आपने ही सबसे पहले नित्यविहार की सैद्धान्तिक रूप से स्थापना की

रूपासक्तिजन्य माधुर्य-भाव—श्रद्धा या भक्ति का उन्मेष गुणों के चिंतन के आधार पर होता है जबकि प्रणय की उत्पत्ति मुख्यतः सौन्दर्याकर्षण या रूपासक्ति के कारण होती है। अन्य कारणों से भी प्रणय उत्पन्न हो सकता है किन्तु रूप का प्रभाव उसमें गौण नहीं रहता। प्रणय का प्रथम अंकुर तो रूपजन्य प्रभाव से ही प्रस्फुटित होता है, प्रिय के अन्य गुण उस अंकुर को पल्लवित एवं पुष्पित करने में योग भले ही देते हों। मीरां का माधुर्य भाव भी आराध्य के सौन्दर्याकर्षण पर आधारित है। स्वयं कवयित्री के शब्दों में—

या मोहन के मैं रूप लुभानी,
सुन्दर वदन कँवल-दल-लोचन, बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
× × ×
जब से मोहिं नंदनंदन दृष्टि पड़यो माई।
तब से परलोक लोक कछु न सोहाई।
× × ×
आली रे मेरे नैणा बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी।।
कैसे प्राण प्रिय बिनि राखूँ जीवन मूर जड़ी।
मीरां गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी।।

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का आख्यान करते समय मीरां ने न केवल उनके नख-विशिष्टता का संकेत किया है अपितु उनकी शृंगारी-चेष्टाओं (हाव-भाव), बाँकी चितवन, मंद मुस्कुराहट आदि—का भी निरूपण पूर्ण सरसता से किया है जो मीरां की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का परिचायक है। शृंगारी-साहित्य में नारी के नख-शिख की व्यंजना तो प्रायः अपेक्षित रही है। पुरुष सौन्दर्य की अनुभूति के लिए नारी की आँखें अपेक्षित होती हैं—मीरां के पास ये थीं, इसीलिए वे अपने पदों में स्थान-स्थान पर कृष्ण के सौन्दर्य का निरूपण अत्यन्त शिष्ट एवं शालीन किन्तु अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कर सकीं।

मीरां का माधुर्य भाव प्रथम-दृष्टि-जन्य प्रणय (Love at first sight) के अनुरूप है; इसीलिए वे कहती हैं—'जब से मुझे नंद-नंदन दिखाई पड़ा है, तब से लोक-परलोक में कुछ भी नहीं सुहाता।' लौकिक प्रणय की भाँति ही वे अपने माधुर्य भाव को लोभी नेत्रों की विवशता के रूप में स्वीकार करती हैं। उनकी रूपासक्ति ज्यों-ज्यों तीव्र एवं गंभीर होती जाती है त्यों-त्यों उनकी प्रणय-वेदना भी बढ़ती जाती है, पर फिर भी वे जिस पथ पर आगे बढ़ गई हैं उससे लौट नहीं पातीं। परिवार और समाज उन्हें इसके लिए लांछित करता है, उन्हें कलंकित और कुलटा घोषित

इस पद में सूक्ष्म मान का वर्णन है—रति-क्रीड़ा-परायण मिथुन, मनोहर भुजबंधन में आबद्ध हुए थे कि सहसा राधा की दृष्टि प्रियतम के हृदय-मुकुर पर चली गई और उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें भ्रम हुआ कि कृष्ण के हृदय में तो कोई और स्त्री घर किये हुए है। बस इसी भ्रमवश वह मानवती हो गई। तब कृष्ण ने उनके चिबुक को स्पर्श करके प्रेमपूर्वक वस्तुस्थिति का बोध कराया। ललिता आदि सखियाँ इस विहार-रस को निकुंजरंध्रों से देखकर अपना जीवन सार्थक कर रही हैं।

राधा का रूप-चित्रण

रूप-सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से हित-चौरासी के पद भक्तिकालीन कवियों में श्रेष्ठतम कहे जा सकते हैं। यद्यपि नखशिख-वर्णन भक्ति-काव्य का प्रतिपाद्य विषय नहीं है फिर भी उपास्य का विग्रह मूर्तिमन्त करने के लिए आनुषंगिक रूप से नखशिख-वर्णन का प्रसंग भक्ति-काव्य में आ ही जाता है। सूरदास ने तो राधा और कृष्ण दोनों का सांगोपांग रूप-चित्रण किया है तथा नखशिख की शास्त्रीय परिपाटी का भी निर्वाह कर दिखाया है। हितहरिवंशजी की रचना बहुत सीमित है अतः ब्यौरेवार चित्रण का इसमें न्यून ही अवकाश है फिर भी थोड़े शब्दों में अति सशक्त, व्यापक और सर्वांगपूर्ण चित्रण देखकर आश्चर्य होता है। नखशिख का आभास देता हुआ राधाकृष्ण का सुन्दर रूप निम्नलिखित पद में प्रस्फुटित हो रहा है—

ब्रजनवतरुणि कदम्ब, मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।
नखशिख लों अंग-अंग माधुरी मोहे श्याम धनी॥
यों राजत कबरी गूंथित कच, कनक कंज वदनी।
चिकुर चंद्रकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी॥
सौभग रस शिर श्रवत पनारी, पिय सीमन्त ठनी।
भृकुटि काम कोदंड, नैन रस, कज्जल रेख अनी॥
तरल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव प्रीतम मन शमनी॥
चिबुक मध्य अति चारु सहज सखि सांवल विन्दु कनी।
प्रीतम प्राण रतन संपुट कुच कंचुकि कसवि तनी॥
भुज मृनाल वल हरत वलय जुत परस सरस श्रवनी।
श्याम शीश तरुमनी मिडवारी रची रुचिर रवनी॥
नाभि गंभीर, मीन मोहन मग खेलन कौं हृदनी।
कृश कटि,पशु नितम्ब किंकिणि व्रत,कदली खंभ जघनी॥
पद अम्बुज जावक जुत, भूपन प्रीतम उर अवनी।
नव-नव भाय विलोभि भाम इभ विहरत वर करनी॥
हित हरिवंश प्रशंसित श्यामा कीरत विशद घनी!
गावत श्रवनन सुनत सुखाकर विश्व दुरित दमनी॥

—हित चौरासी, पद सं० २६।

हुआ प्रतीत होता है; लगता है कि पपीहा 'पिव। पिव' कहकर विरहिणी को प्रिय की याद दिलाता हुआ उसके दग्ध हृदय पर नमक छिड़क रहा है—

रे पपइया प्यारे कब को वैर चितारयो।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकारयो।
दाह्या उपर लूण लगायो, हिवड़े करवत सारयो॥

विरह-वेदना की चरम-स्थिति तो वह है जब स्वयं विरहिणी अनुभव करने लगती है कि वह असह्य व्यथा के कारण पागल हो गई है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी होइ,
दरद न जाणै मेरो कोइ।
घायल की गति घायल जाणै
कि जिण लाई होइ॥

प्रायः प्रणय-वेदना के पीड़ितों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे अपनी पीड़ा को बांट नहीं पाते। उनकी पीड़ा को समझने एवं बांटने वाले लोग इस धरती पर उत्पन्न नहीं होते। इसीलिए मीरां ने कहा है कि घायल की दशा को घायल ही समझ सकता है, कोई अन्य नहीं। यही बात प्रेम-मार्ग के अन्य पथिकों ने भी कही है—

कहिबे को बिथा, सुनिबे को हंसी, को दया सुनिके उर आनतु है।
अरु पीर घटे तजि धीर सखि। दुःख को नहीं कापै बखानतु है॥
कवि 'बोधा' कहे में स्वाद कहा; को हमारी कही पुनी मानतु है।
हमें पूरी लगी के अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है॥

—बोधा।

का कहिए, किहि सों कहिए, तन छीजत है पै न छीजनु है।

—ठाकुर।

मारग प्रेम को को समुझै हरिचन्द यथारथ होत यथा है।
लाभ कछु न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है॥
जानत है जिय मेरो भली बिधि और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं बृज के सगरे, मोंहि नाहक पूछत कौन बिथा है॥

—भारतेन्दु।

प्रणय-वेदना की अभिव्यक्ति कई बार प्रिय के प्रति आत्म-निवेदन एवं उपालंभों के रूप में भी की जाती है। मीरां भी इस पद्धति का अनुसरण करती हुई कहती हैं—

देखो सइयां हरि मन काठ कियो।
आवन कह गयो अजूं न आयो, करि करि बचन गयो।
खान-पान सुध-बुध सब बिसरी, कैसे करि मैं जियो॥

विविध लीला रचित, रहसि हरिवंश हित, रसिक सिरमौर राधारमन जोरी।
भृकुटि निर्जित मदन, मंद सस्मित वदन, किये रस विवस घनस्याम पिय गोरी।
—हित चौरासी, पद सं० ६७।

रूप-चित्रण में नेत्रों का वर्णन हित चौरासी में सबसे अधिक हुआ है। नेत्रों का सौन्दर्य, प्रभाव, मोहकता, आकर्षण आदि विविध भावों को नेत्र सम्बन्धी पदों में व्यक्त किया गया है। हम नेत्र-सम्बन्धी समस्त पदों को उद्धृत न करके केवल दो-तीन पदों के सौन्दर्य की ओर रसिकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं—

खंजन, मीन, मृगज, मद मेटत कहा कहौं नेनन की बातें।
सुनि सुन्दरी कहा लौं सिखई मोहन वसीकरन की घातें।।
वंक, निशंक, चपल, अनियारे, अरुण श्याम सित रचे कहांतें।
डरत न हरत परायो सर्वसु मृदु मधु मिव मादिक दृग पातें।।
नैंक प्रसन्न दृष्टि पूरण करि नहीं मो तन चितयो प्रमदा तें।
हित हरिवंश हंस कल गामिनि भावै सो करहु प्रेम के नाते।।
—हित चौरासी, पद सं० ७३।

राधा के नेत्र समस्त उपमानों को तिरस्कृत करने वाले हैं—खंजन, मीन, मृगछौना सबका नेत्र-विषयक सौंदर्य-मद राधा के नेत्र चूर-चूर कर देते हैं। मोहन-वशीकरण की विद्या में राधा के नेत्र प्रवीण हैं। नेत्र-सौन्दर्य के लिए जो विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं उनकी सार्थकता सराहनीय है—ंक, तिरछे, निडर, चंचल और नुकीले नेत्र तीनों वर्णों से (अरुण, स्याम, सित) संयुक्त हैं। दूसरों का सर्वस्व (मन)-हरण करने में इन नेत्रों को तनिक भी भय नहीं लगता—मीठी मादक चोट करके केवल दृष्टिपात से ही सबको मुग्ध कर लेते हैं। ऐसे आकर्षक नेत्रों की एक नजर के लिए श्रीकृष्ण भी लालायित हो उठे हैं और एक दृष्टि का वरदान मांगते हैं। परवर्ती कवियों ने इस पद के भाव को कई रूपों में अपने काव्य में स्थान दिया है।

एक अन्य पद में श्रीकृष्ण के रूप-रसपान-लोभी नेत्रों का वर्णन है। श्रीकृष्ण के नेत्र-रूपी भ्रमर राधा के मुख-कमल के रस में अटक कर अन्यत्र कहीं जाना ही नहीं चाहते। जब कभी पलक-सम्पुट में अलक-लट के बीच में आ जाने से अन्तराय होता है तभी व्याकुल हो जाते हैं। एक पल का अदर्शन इन्हें शतकल्प के समान प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण के नेत्र राधा के कानों में कमल, आँखों में अंजन, कुचों में मृगमद बनकर भी शान्ति नहीं पाते। अर्थात् उनमें रूप और प्रेम की तृषा निरन्तर बढ़ती रहती है। इसलिए श्रीकृष्ण के नेत्र राधा के नाभि-सरोवर की मीन बनने की कामना करते हैं ताकि निरन्तर वहीं रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

में ये सभी तत्त्व सहज स्वाभाविक रूप में विद्यमान हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, भावानुभूति तो उनके गीतों की प्रमुख विशेषता है। भावों में भी प्रेम और प्रेम में भी विरह सर्वाधिक कोमल एवं मधुर माना गया है—मीरां के काव्य में इसी की प्रमुखता है। मीरां अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए न तो जायसी की भाँति नागमती का माध्यम अपनाती हैं और न ही सूरदास की भाँति गोपियों का आश्रय ग्रहण करती हैं—अपितु वे स्वयं ही प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन के रूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करती हैं; अतः उनकी अभिव्यक्ति में वैयक्तिकता भी सर्वत्र विद्यमान है। उनके गीत संगीत की राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं तथा उनमें संक्षिप्तता एवं कोमलता भी यथोचित रूप में दृष्टिगोचर होती है, अतः कहा जा सकता है कि मीरां के काव्य में गीति-काव्य के सभी तत्त्वों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। उन्हें गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। कुछ गीतों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण उनका भाव-पक्ष दब गया है किन्तु उन्हें अपवाद-रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

शैली के प्रतिमान के रूप में परम्परा से अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि उल्लेखनीय हैं। ये सिद्धान्त मूलतः काव्य-शैली के विशिष्ट तत्त्व को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये थे किन्तु परवर्ती-युग में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रत्येक सिद्धान्त के अनेक भेदोप-भेदों के रूप में अपने क्षेत्र का इतना अधिक विस्तार किया कि जिससे अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्रों का समावेश उसकी अपनी परिधि में हो जाता है। उदाहरण के लिए जिसे अलंकार सिद्धान्त में अन्योक्ति कहा गया है वही वक्रोक्ति के प्रकरण-वक्रता या ध्वनि-सिद्धान्त में ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित है। अस्तु, इन सिद्धान्तों का क्षेत्र एक-दूसरे से घुल-मिल गया है, उनकी सीमाएं अस्पष्ट हो गई हैं तथा उनका रूप विकृत हो गया है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमने अपने प्रबन्ध—'साहित्य-विज्ञान' में इनके आधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पांच वर्गों में विभक्त किया है—(१) संयोजनात्मक (२) विश्लेषणात्मक (३) विस्थापनात्मक (४) विनिमयात्मक और (५) समावयात्मक। वस्तुतः इन पाँचों वर्गों में शैली के सभी परम्परागत एवं आधुनिक तत्त्वों का समावेश निर्दोष रूप में हो जाता है, अतः मीरां के शैली-पक्ष पर विचार करते समय भी शैली के इन नूतन मान-दण्डों को ग्रहण करें तो अनुचित न होगा।

(क) संयोजनात्मक रूप-विधान—तथ्य और कल्पना के मेल को ही संयोजनात्मक रूप-विधान कहा गया है जिसे परम्परागत काव्य-शास्त्र में सादृश्यमूलक अलंकारों व वाक्य-वक्रता के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इस संयोजन की भी मुख्यतः तीन स्थितियां होती हैं—तुलनात्मक संयोजन, आरोपण मूलक संयोजन, तादात्म्य मूलक संयोजन। मीरां के काव्य में इन सभी के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

काव्य-समीक्षा

श्री हरिवंशजी की वाणी भक्ति रस से आप्लावित मुक्त गेय पदों का संग्रह है। भक्तिभावना से अनुप्राणित इन पदों में शास्त्रानुमोदित काव्य-सौष्ठव का संधान करना इन पदों की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा किन्तु भावुक एवं सहृदय भक्तों की रसस्निग्ध वाणी केवल शिवत्व से ही परिपूर्ण नहीं होती वरन् सत्य और सौन्दर्य को भी अपने अंचल में छिपाये रहती है। अतः काव्योत्कर्ष के समस्त अलंकृत उपकरण उसमें अनायास आ जाते हैं। भक्त-कवि की उक्ति का प्रभाव केवल उसके मंगल-विधान के कारण ही नहीं होता अपितु उक्ति-सौन्दर्य के कारण भी होता है। यही कारण है कि निर्गुण मार्ग से भक्ति-पथ का उन्मेष करने वाले कबीर और नानक जैसे महात्माओं की रचनाओं में भी काव्य-सौन्दर्य की निसर्ग-सिद्ध छटा देखने में आती है। श्री हितहरिवंशजी तो माधुर्य भक्ति की रसधारा के उन्नायकों में थे, अतः आपकी वाणी से यदि काव्य-सौन्दर्य की निर्झरिणी प्रवाहित हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है?

काव्य की आत्मा रस है, हरिवंशजी की वाणी का मूलाधार भी रस ही है। काव्य-रस सहृदयों के चित को विस्फारित एवं चमत्कृत करता हुआ अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है, हरिवंशजी की वाणी का रस भी रसिक भक्तों को प्रेम-विह्वल करके आनन्द-विभोर बना देता है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है, हरिवंशजी की वाणी का आनन्द साक्षात् ब्रह्मानन्द का ही रूप है। काव्य के लौकिक आलम्बन नायक-नायिका, रति, हास, शोक आदि भावों को उद्‌बुद्ध करने में सहायक होते हैं, भक्तवाणी का आलम्बन लौकिक नायक-नायिका न होकर आमुष्मिक रति (राधाकृष्ण-रति) को जाग्रत कर चित्त को शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। भक्ति रस को स्वीकार करने वाले मर्मी भक्तों के मत में भक्ति-काव्य का चरम उद्देश्य दिव्य-प्रेम के मार्ग से रसिक-भक्तों को भव-बंधन से मुक्त कर उन्हें एक ऐसे आनन्दलोक में ले जाना है जहाँ सांसारिक मायावी प्रपंच के बंधन उच्छिन्न हो जाते हैं। भक्त के मन में एकान्त अनाविल राधाकृष्ण-रति का अपार पारावार लहराने लगता है। उस अगाध और अपार भक्ति-सागर में कूद पड़ने के बाद संसार-सागर के कूल-किनारे विलीन हो जाते हैं, सांसारिक मर्यादाएं ढह जाती हैं और भक्त का मन विशुद्ध आत्मचैतन्य में लीन होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि करने लगता है।

वंशी के अवतार श्री हितहरिवंशजी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वंशी का निःस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदों के माध्यम से गूंजा कि उसमें वर्णित राधा नख से शिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मंजुल मूर्ति बनकर भक्तजन के लिए आराधना की विषय बन गई। हितहरिवंशजी की वाणी के स्पर्श से कलाओं का शृंगार पवित्र हो गया। भावों की मनोमुग्धकारी छटा से शृंगार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कान्तिमय हो उठा और शृंगार का माधुर्य-मंडित रूप समस्त ब्रजमंडल में अनुकरण का विषय बन गया।

शास्त्र में प्रकरण-वक्रता, ध्वनि, प्रतीक आदि की संज्ञाएँ दी गई है। मीरां ने इस शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है फिर भी इसके कुछ उदाहरण हैं, जैसे—

'उमग्यो इन्द्र चहुँ दिसि वरसे, दामिणी छोडी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज॥'

यहाँ प्रकृति के मिलन के माध्यम से कवयित्री ने निजी आध्यात्मिक मिलन को सांकेतित किया है जो विस्थापनात्मक रूप-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(घ) विनिमयात्मक रूप-विधान—लाक्षणिक प्रयोगों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषय के विभिन्न गुणों में परस्पर विनिमय हो जाता है, इसी को विनिमयात्मक रूप-विधान कहते हैं। परम्परागत वक्रोक्ति एवं विरोधमूलक अलंकार मूलतः इसी क्षेत्र में आते हैं। मीराँ की भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट है, अतः उसमें वक्रता का आविर्भाव अपेक्षाकृत कम है, पर कहीं-कहीं अतिशय भावात्मकता में वक्रतापूर्ण प्रयोग भी किये गये हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'विरहणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै॥'

× × ×

'आँगलियारो मूँदड़ो, म्हारे आवण लागो बांहि'

× × ×

हेरी मैं तो दरददिवाणी होइ, दरद न जाणें मेरो कोइ।

इन प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होने के कारण ये हमारे हृदय को छूते हैं, प्रभावित करते हैं तथा रसानुभूति से आप्लावित करते हैं।

(ङ) समावयात्मक रूप-विधान—विभिन्न अवयवों की बाह्य एक-रूपता के द्वारा समावयात्मक रूप-विधान का आयोजन किया जाता है जिसे परम्परागत शैली में अनुप्रास, यमक, आवृत्ति आदि की संज्ञाएं दी गई हैं। मीरां के काव्य से इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'समरथ सरण तुम्हारी सइयां, सरब सुधारण काज।'

× × ×

'कोई कहियौरे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।'

× × ×

'घन की धुनि सुनि मोर मगन भया.........................।'

× × ×

कोई कहै छाने, कोई कहै चौडे, लियोरी बजंता ढोल।
कोई कहै मुँहघो, कोई कहै सुहँघो, लियोरी तराजू तोल॥

यहाँ क्रमशः व्यंजनों, शब्दों एवं वाक्यांशों की आवृत्ति के द्वारा भावाभिव्यक्ति को आकर्षक रूप दिया गया है, जो कवयित्री की अभिव्यंजना-शक्ति को सूचित करता है।

विलास, ललित, कुट्टमित, विव्वोक आदि भाव उनके भूषण हैं। वंशीरव आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। अनुभावों के अन्तर्गत विलुंठित, गीत, अट्टहास, कटाक्ष आदि हैं। स्वेद, स्तम्भ, रोमांचादि सात्विक भावों में स्वीकार किये गये हैं। संचारी या व्यभिचारियों की गणना ३३ है और वे सभी वर्णित भी हुए हैं।

निम्नलिखित पद में रस-परिपाक के विविध अंग देखे जा सकते हैं :—

मंजुल कलकुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद बंधु, शरद यामिनी ॥
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग,
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी ॥
अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल
सौरभ युत शीत अनिल मंदगामिनी ॥
किसलय दल रचित शैन, बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी ॥
मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवि हार,
वेपथुयुत नेति नेति वदति भामिनी ॥
नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत केलि,
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ११।

उक्त पद में विहार का दृश्य वर्णित हुआ है। शरद् पूर्णिमा की रात को राधाकृष्ण सुन्दर वेश धारण कर वनविहार कर रहे हैं। कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं और राधा नायिका हैं। भक्त के लिए राधाकृष्ण आलम्बन हैं। शरद् पूर्णिमा की एकान्त रात्रि, सौरभयुत शीत अनिल, किसलय दल रचित शयन आदि उद्दीपन विभाव हैं। राधा का 'मान सहित प्रतिपद' यह मानसिक अनुभाव है और वेपथुयुत होना सात्विक भाव है। इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट होकर राधाकृष्ण-रति स्थायीभाव को प्राप्त होती है।

भाषा और शैली

श्री हरिवंशजी संस्कृत भाषा के पण्डित ही नहीं, निसर्ग-सिद्ध कवि भी थे। संस्कृत के लालित्य और सौकुमार्य की छटा उनके राधासुधानिधि ग्रंथ में देखी जा सकती है। संस्कृत भाषा में पारंगत होने पर भी उनकी नैसर्गिक अभिव्यक्ति का रूप हमें उनकी ब्रजभाषा की पद-रचना में ही दृष्टिगत होता है। जो माधुर्य, सौकुमार्य, प्रवाह, भावव्यंजकता, प्रांजलता, और प्रेषणीयता उनके हित चौरासी ग्रंथ में है उसका अर्द्धांश भी राधासुधानिधि में नहीं मिलता। हित चौरासी के पदों का पाठ करने के साथ ही मन में उस भाषा की प्रेषणीयता और भावग्राहिणी क्षमता के कारण अभिव्यंग्य का, वर्ण्य विषय का चित्र मूर्तिमान् हो जाता है। ब्रजभाषा का जैसा समृद्ध

शास्त्र में प्रकरण-वक्रता, ध्वनि, प्रतीक आदि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीराँ ने इस शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है फिर भी इसके कुछ उदाहरण हैं, जैसे—

'उमग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसे, दामिणी छोडी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज॥'

यहाँ प्रकृति के मिलन के माध्यम से कवयित्री ने निजी आध्यात्मिक मिलन को सांकेतित किया है जो विस्थापनात्मक रूप-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(घ) विनिमयात्मक रूप-विधान—लाक्षणिक प्रयोगों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषय के विभिन्न गुणों में परस्पर विनिमय हो जाता है, इसी को विनिमयात्मक रूप-विधान कहते हैं। परम्परागत वक्रोक्ति एवं विरोधमूलक अलंकार मूलतः इसी क्षेत्र में आते हैं। मीराँ की भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट है, अतः उसमें वक्रता का आविर्भाव अपेक्षाकृत कम है, पर कहीं-कहीं अतिशय भावात्मकता में वक्रतापूर्ण प्रयोग भी किये गये हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'विरहणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै॥'

× × ×

'आँगलियारो मूँदड़ो, म्हारे आवण लागो बांहि'

× × ×

हेरी मैं तो दरददिवाणी होइ, दरद न जाणें मेरो कोइ।

इन प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होने के कारण ये हमारे हृदय को छूते हैं, प्रभावित करते हैं तथा रसानुभूति से आप्लावित करते हैं।

(ङ) समावयात्मक रूप-विधान—विभिन्न अवयवों की बाह्य एक-रूपता के द्वारा समावयात्मक रूप-विधान का आयोजन किया जाता है जिसे परम्परागत शैली में अनुप्रास, यमक, आवृत्ति आदि की संज्ञाएं दी गई हैं। मीराँ के काव्य से इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज।'

× × ×

'कोई कहियौरे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।'

× × ×

'घन की धुनि सुनि मोर मगन भया.......................।'

× × ×

कोई कहै छाने, कोई कहै चौडे, लियोरी बजंता ढोल।
कोई कहै मुँहघो, कोई कहै सुहँघो, लियौरी तराजूं तोल॥

यहाँ क्रमशः व्यंजनों, शब्दों एवं वाक्यांशों की आवृत्ति के द्वारा भावाभिव्यक्ति को आकर्षक रूप दिया गया है, जो कवयित्री की अभिव्यंजना-शक्ति को सूचित करता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में मोटे अक्षरों में छपे शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मधुर और सरस है कि शब्दों में तदनुकूल भाव्य-व्यंजना अपने आप समाविष्ट हो गई है। किशलय, शयन, सुपेशल और निवेशित का सानुप्रासिक रूप अपने शुद्ध तत्सम रूप को और अधिक निखारने वाला है।

बन की कुन्जनि कुन्जनि डोलनि।
निकसत निपट साँकरी वीथिन परसत नाहिं निचौलनि।
बिलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि।

इस पद में ब्रजभाषा के तद्भव रूपों का ग्रहण हुआ है।

'डोलनि' शब्द डोलने-फिरने से बना है जो विहार-विचरण का ध्वन्यार्थ व्यंजित करता है। निकसत, निपट, सांकरी, परसत, निचोलनि, राजत, रुचिर, कपोलनि आदि शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मनोज्ञ है कि ब्रजभाषा की सुन्दर शब्द-योजना का मनोमुग्धकारी रूप प्रस्तुत करके पाठक को लुभा लेता है। निचोल और कपोल का वर्ण-विन्यास संदर्भ में इतना अर्थ-व्यंजक है कि इनके स्थान पर इनका कोई दूसरा पर्याय काम नहीं दे सकता। छूटी लटों के लिये शिथिल पदों की योजना द्रष्टव्य है।

शब्द-मैत्री तो हरिवंशजी की वाणी का प्राण है। तत्सम शब्दों के साथ ब्रज-भाषा के लोक-प्रचलित सामान्य शब्दों को एक पंक्ति में बिठाकर उनकी अभिव्यंजना को द्विगुणित करने की जैसी कला आपके पदों में परिलक्षित होती है वैसी भक्त-कवियों में अन्यत्र दुर्लभ है :—

'कल कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।'
'हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी।'

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोभित अवलम्बित युग गंडन।'
'गलित कुसुम वेनी, सुनि री सारंग नैनी, छूटी लट अचरा वदति अलसानी।'

'अलस जुत इतरात रंग मगे भये निशि जागर मखिन मलिन री।
शिथिल पलक में उठति गोलक गति, बिंध्यो मोहन मृग सकत चलि न री॥'

इन पंक्तियों मे ब्रजभाषा के शब्द तत्सम पदावली के साथ जिस सुन्दर मैत्री धर्म का निर्वाह कर रहे हैं वह मन को मोहने वाला रूप है। धुनि, सचु, लावन्य भिदे, सुठि सोभित, सारंगनैनी, अचरा, अलसानी, इतरात, बिंध्यो, आदि शब्द ब्रजभापा के प्रकृत रूप में संस्कृत शब्दों के साथ ऐसे हिल-मिल गये हैं कि उनके साथ यदि उनका

१४

हित चौरासी

डा० विजयेन्द्र स्नातक

श्री हितहरिवंशजी रचित चौरासी पदों के संग्रह का नाम 'हित चौरासी' है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही है। इसी ग्रंथ के आधार पर परवर्ती भक्त-महात्माओं ने राधावल्लभीय तत्त्व को हृदयंगम किया है। इस सम्प्रदाय में इस ग्रंथ को मूलाधार मानकर सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। इस ग्रंथ के चौरासी पदों में हरिवंशजी ने ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य उंडेल दिया है।

इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्राचीन प्रति सत्रहवीं शती की मिलती है। चौरासी शब्द के कारण प्रारम्भ में कुछ लोगों की ग्रंथ को बिना देखे ऐसी धारणा रही कि यह ग्रंथ चौरासी भक्तों का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। किन्तु भक्तों के चरित्र वर्णन से इसका प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो शुद्ध रसपद्धति से लिखा गया मुक्तक पदों का संकलन है, जिसे राधा-भावपरक प्रेमलक्षणा-भक्ति का ग्रंथ ही कहा जाना चाहिए। चौरासी योनियों में चक्कर काटने वाले प्राणी को मुक्त करने के लिए चौरासी पदों का संकलन किया गया, ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में इसका नाम "हरिवंश चौरासी" और अन्य नाम "हित चौरासी धनी" भी दिया है और इसे चौरासी भक्तों की कथा का वर्णन करने वाला बताया है। यह उल्लेख खोज-रिपोर्ट में दो स्थलों पर हुआ है।[1] किन्तु अद्यावधि राधावल्लभ सम्प्रदाय के किसी ग्रंथ में या किसी प्राचीन हस्तलिखित वाणी में कहीं ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ कि श्री हरिवंशजी ने "हित चौरासी धनी" नाम से कोई भक्त-चरित्र लिखा था। सम्भव है कि किसी महानुभाव ने ग्रंथ का अवलोकन किये बिना यह सूचना दी हो या इस नाम से कोई जाली ग्रंथ रच कर हितहरिवंशजी के नाम से ख्यात किया हो। कुछ भी हो, यह सब मिथ्या और निर्मूल है अतः "हित चौरासी" को भक्त-कथा न समझकर मुक्तक पद शैली से लिखा हुआ रसमार्गीय ग्रंथ ही समझना चाहिए।

१. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—प्रथम भाग, सम्पादक—बाबू श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ८४—१२०।

उपर्युक्त पंक्तियों में मोटे अक्षरों में छपे शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मधुर और सरस है कि शब्दों में तदनुकूल भाव्य-व्यंजना अपने आप समाविष्ट हो गई है। किशलय, शयन, सुपेशल और निवेशित का सानुप्रासिक रूप अपने शुद्ध तत्सम रूप को और अधिक निखारने वाला है।

बन की कुन्जनि कुन्जनि डोलनि।
निकसत निपट साँकरी बीथिन परसत नाहिं निचौलनि।
विलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि।

इस पद में ब्रजभाषा के तद्भव रूपों का ग्रहण हुआ है।

'डोलनि' शब्द डोलने-फिरने से बना है जो विहार-विचरण का ध्वन्यार्थ व्यंजित करता है। निकसत, निपट, सांकरी, परसत, निचोलनि, राजत, रुचिर, कपोलनि आदि शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मनोज्ञ है कि ब्रजभाषा की सुन्दर शब्द-योजना का मनोमुग्धकारी रूप प्रस्तुत करके पाठक को लुभा लेता है। निचोल और कपोल का वर्ण-विन्यास संदर्भ में इतना अर्थ-व्यंजक है कि इनके स्थान पर इनका कोई दूसरा पर्याय काम नहीं दे सकता। छूटी लटों के लिये शिथिल पदों की योजना द्रष्टव्य है।

शब्द-मैत्री तो हरिवंशजी की वाणी का प्राण है। तत्सम शब्दों के साथ ब्रज-भाषा के लोक-प्रचलित सामान्य शब्दों को एक पंक्ति में बिठाकर उनकी अभिव्यंजना को द्विगुणित करने की जैसी कला आपके पदों में परिलक्षित होती है वैसी भक्त-कवियों में अन्यत्र दुर्लभ है :—

'कल कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।'
'हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी।'

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोभित अवलम्बित युग गंडन।'
'गलित कुसुम वेनी, सुनि री सारंग नैनी, छूटी लट अचरा वदति अलसानी।'

'अलस जुत इतरात रंग मगे भये निशि जागर मखिन मलिन री।
शिथिल पलक में उठति गोलक गति, विंध्यो मोहन मृग सकत चलि न री॥'

इन पंक्तियों मे ब्रजभाषा के शब्द तत्सम पदावली के साथ जिस सुन्दर मैत्री धर्म का निर्वाह कर रहे हैं वह मन को मोहने वाला रूप है। धुनि, सचु, लावन्य भिदे, सुठि सोभित, सारंगनैनी, अचरा, अलसानी, इतरात, विंध्यो, आदि शब्द ब्रजभाषा के प्रकृत रूप में संस्कृत शब्दों के साथ ऐसे हिल-मिल गये हैं कि उनके साथ यदि उनका

१. सुरतान्त समय अर्थात् मंगला के १९ पद
२. शैया समय के १९ पद
३. रास के १७ पद
४. वन विहार के ३ पद
५. स्नान शृंगार के ४ पद
६. राजभोग (शैयाविहार) के २ पद
७. वसंत वर्णन के २ पद
८. होरी वर्णन के २ पद
९. फूल डोल-झूलन का १ पद
१०. मलार के ४ पद
११. संभ्रम-मान के १३ पद
कुल योग = ८६

इस वर्गीकरण की एक त्रुटि तो बहुत ही स्पष्ट है कि कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें किसी एक वर्ग में सर्वतोभावेन समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उनकी भावना इतनी संश्लिष्ट है कि न तो हम उसे सुरतान्त कह सकते हैं, न वन-विहार और न रास।

हित-चौरासी का वर्ण्य विषय मुख्य रूप से अन्तरंग भावना से सम्बन्ध रखता है। शृंगार रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयों को इन पदों में हितहरिवंशजी ने प्रस्तुत किया है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदंड हैं। अर्थात् राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्यविहार, रासलीला, भक्तिभावना, प्रेम में मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्यविहार के चतुर्व्यूहात्मक अवयवों का वर्णन आदि ही इस ग्रंथ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। हम प्रमुख विषयों के स्पष्टीकरण के लिए सोदाहरण उन पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

प्रेम-सिद्धान्त और तत्सुखीभाव

हित-चौरासी का प्रथम पद राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला सैद्धान्तिक पद है। इसमें एक ओर तत्सुखी भाव की स्थापना है तो दूसरी ओर जलतरंग के समान अद्वैतभाव से साथ रहने वाले प्रिया प्रियतम के प्रगाढ़ और अविच्छेद्य प्रेम का संकेत है।

प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना में हितहरिवंशजी ने किसी लौकिक-वैदिक मर्यादा का आश्रय नहीं लिया है। उनका प्रेम नैसर्गिक रूप से जिस दिशा में प्रवाहित होता है उसे लोक या शास्त्र की सीमाएं बाँध नहीं सकतीं।

प्रीति न काहू की कानि विचारै।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै॥
ज्यौं सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै॥

१५

सुदामाचरित

डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल

सुदामाचरित व्रजभाषा का एक लघु खण्ड-काव्य है जो अपने काव्य-नायक दीन सुदामा ब्राह्मण के समान ही सात्विक साहित्य के मधुर चावलों की छोटी सी पोटली काँख में दाबे हुए किसी दीनदयाल समालोचक की राजसभा में प्रवेश पाने की प्रतीक्षा ही करता रहा है। सुदामा की कुटी को तो करुणानिधि भगवान् कृष्ण ने राजभवन में अवश्य परिणत कर दिया था पर समालोचक के लिये यह कार्य कदाचित् कठिन है, क्योंकि इस लघुकाय कृति में लोकप्रियता के अनेक गुण और उत्तम कविता के होते हुए भी साहित्य शास्त्र की विवेचनीय एवं आधारभूत सामग्री अधिक नहीं है। एक छोटे से खण्ड-काव्य में इसका अवकाश यों भी कम होता है, फिर यह तो किशोर-साहित्य की श्रेणी की रचना है जिसमें सरल चरित और सरल ही कवित्त हैं। फिर भी, हिन्दी साहित्य के इतिहास के भक्तिकाल के स्वर्णिम भवन में यह काव्य एक जगमगाता नगीना सा प्रतीत होता है जिस पर दृष्टि एक बार पहुँच कर कुछ देर विश्राम अवश्य करना चाहती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में सुदामाचरित का उल्लेख मात्र हुआ है, पर उस उल्लेख के उद्‌गार बड़े प्रशंसात्मक हैं और वे ही इसके काव्य शास्त्रीय विश्लेषण की प्रेरणा देते हैं। इसकी लोकप्रियता की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ है, सभी ने इसकी रचना को अत्यन्त सरस, हृदयग्राही और मनोहारी बतलाया है, सभी इसके रचयिता की भावुकता से प्रभावित हुए हैं, और अनेक विद्वानों ने इसकी भाषा के प्रवाह, भाव-भाषा के सामंजस्य, तथा इसकी चित्रण-शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। परन्तु, किसी भी विद्वान् ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में इस पर दो-चार वाक्यों से अधिक नहीं लिखे हैं और न ही इस पर कोई स्वतन्त्र समीक्षात्मक निबन्ध प्राप्त होता है। पाठ्यक्रम में निर्धारित और सम्पादित संस्करणों में इस पर कुछ प्रस्तावनायें अवश्य लिखी गई हैं, पर वे परीक्षार्थियों की आवश्यकता पूर्ति के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं, रचयिता के वास्तविक मूल्यांकन की दृष्टि से नहीं। डा० रामकुमार वर्मा ने

और उसे अपने पदों में गेय बनाकर प्रस्तुत किया। व्रजलीला का गान करने वाले सूरदास आदि कवियों ने जब निकुंज लीला की ओर क़दम बढ़ाया तो उन्हें प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हितहरिवंशजी को नित्यविहार-पद्धति से मार्ग-प्रदर्शन मिला।

नित्यविहार के वर्णन शृंगार-रस की शैली से ही प्रस्तुत होते हैं। लौकिक शृंगार में जिस प्रकार प्रिया-प्रियतम एक दूसरे के प्रेमपाश में आबद्ध होकर रतिक्रीड़ा आदि करते हैं और अंत में सुरत-प्रसंग आदि काम-भोग में उनकी रति का पर्यवसान होता है ऐसे ही राधा और कृष्ण के नित्यविहार में दाम्पत्य भाव से प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन होता है। यह प्रेम, काम की समस्त चेष्टाओं से परिपूर्ण होने पर भी लौकिक कामवासनामय नहीं माना जाता क्योंकि अन्तरंग भावना में इसका पक्ष आध्यात्मिक ही स्वीकार किया जाता है। जो पद नित्यविहार सम्बन्धी हित चौरासी में या अन्य महानुभावों की वाणियों में मिलते हैं, उनका शाब्दिक धरातल लौकिक दृष्टि से शृंगारमय ही प्रतीत होगा, किन्तु भावना के उदात्तीकरण द्वारा ही उनका आध्यात्मिक रूप अन्तःनेत्रों के सम्मुख आ सकता है। नित्यविहार के अनेक पद हित-चौरासी में हैं—

प्रात समैं दोऊ रस लम्पट सुरत जुद्ध जय जुत अति फूल।
श्रम वारिज धन विन्दु वदन पर भूषण अंगहिं अंग विकूल॥
कछु रह्यौ तिलक, शिथिल अलकावलि वदन कमल मानो अलि मूल।
हित हरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन वैन कटि, शिथिल दुकूल॥

—हित चौरासी, पद सं० ३।

निकुंज-लीला के संभ्रम और सूक्ष्म मान-विरह को चित्रित करने वाला सुन्दर पद द्रष्टव्य है—

आजु निकुंज मंज में खेलत नवलकिशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परसपर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥
विद्रुम फटिक विविध निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी॥
मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर झोरी।
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी॥
हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानयुत भोरी।
चिवुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी॥
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।
हित हरिवंश करत करधूनन प्रणयकोप मालावलि तोरी॥

—हित चौरासी, पद सं० ७।

१५

सुदामाचरित

डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल

सुदामाचरित व्रजभाषा का एक लघु खण्ड-काव्य है जो अपने काव्य-नायक दीन सुदामा ब्राह्मण के समान ही सात्विक साहित्य के मधुर चावलों की छोटी सी पोटली काँख में दाबे हुए किसी दीनदयाल समालोचक की राजसभा में प्रवेश पाने की प्रतीक्षा ही करता रहा है। सुदामा की कुटी को तो करुणानिधि भगवान् कृष्ण ने राजभवन में अवश्य परिणत कर दिया था पर समालोचक के लिये यह कार्य कदाचित् कठिन है, क्योंकि इस लघुकाय कृति में लोकप्रियता के अनेक गुण और उत्तम कविता के होते हुए भी साहित्य शास्त्र की विवेचनीय एवं आधारभूत सामग्री अधिक नहीं है। एक छोटे से खण्ड-काव्य में इसका अवकाश यों भी कम होता है, फिर यह तो किशोर-साहित्य की श्रेणी की रचना है जिसमें सरल चरित और सरल ही कवित्त हैं। फिर भी, हिन्दी साहित्य के इतिहास के भक्तिकाल के स्वर्णिम भवन में यह काव्य एक जगमगाता नगीना सा प्रतीत होता है जिस पर दृष्टि एक बार पहुँच कर कुछ देर विश्राम अवश्य करना चाहती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में सुदामाचरित का उल्लेख मात्र हुआ है, पर उस उल्लेख के उद्‌गार बड़े प्रशंसात्मक हैं और वे ही इसके काव्य शास्त्रीय विश्लेषण की प्रेरणा देते हैं। इसकी लोकप्रियता की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ है, सभी ने इसकी रचना को अत्यन्त सरस, हृदयग्राही और मनोहारी बतलाया है, सभी इसके रचयिता की भावुकता से प्रभावित हुए हैं, और अनेक विद्वानों ने इसकी भाषा के प्रवाह, भाव-भाषा के सामंजस्य, तथा इसकी चित्रण-शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। परन्तु, किसी भी विद्वान् ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में इस पर दो-चार वाक्यों से अधिक नहीं लिखे हैं और न ही इस पर कोई स्वतन्त्र समीक्षात्मक निबन्ध प्राप्त होता है। पाठ्यक्रम में निर्धारित और सम्पादित संस्करणों में इस पर कुछ प्रस्तावनायें अवश्य लिखी गई हैं, पर वे परीक्षार्थियों की आवश्यकता पूर्ति के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं, रचयिता के वास्तविक मूल्यांकन की दृष्टि से नहीं। डा० रामकुमार वर्मा ने

उपर्युक्त पद का नखशिख-वर्णन यद्यपि रूढ़ शैली का है किन्तु उसकी दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं, प्रथम तो संक्षेप में एक ही उपमान के द्वारा उपमेय को चमत्कृत किया गया है, दूसरे शिखा अर्थात् कबरी से प्रारम्भ करके नख अर्थात् जावकयुक्त चरणों तक समस्त अंगों को इस पद में हितहरिवंशजी ने समेटा है। इतना संक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण, सारयुक्त नख-शिख वर्णन बहुत कम कवियों की लेखनी से निःसृत हुआ है।

इसी प्रकार का दूसरा चित्र है जिसमें राधा का शृंगार-प्रसाधन सहित वर्णन किया है—

आवति श्री वृषभानु दुलारी।
रूपराशि अति चतुर शिरोमणि अंग-अंग सुकुमारी ॥
प्रथम उबटि, मज्जन करि, सज्जित नील बरन तन सारी।
गुंथित अलक तिलक कृत सुन्दर, सेंदुर मांग संवारी ॥
मृगज समान नैन अंजन जुत रुचिर रेख अनुसारी।
जटिल लवंग ललित नासापर, दसनावली कृतकारी ॥
श्रीफल उरज, कसूंभी कंचुकी कसि ऊपर हार छवि न्यारी।
कृश कटि, उदर गंभीर नाभि पुट, जघन नितम्बनि भारी ॥
मनौ मृनाल भूषन भूषित भुज श्याम अंस पर डारी।
हितहरिवंश जुगल करनी गज विहरत बन पिय प्यारी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ४५।

इस पद में रूप-वर्णन से पहले सौन्दर्य और प्रसाधन के साथ स्नान, उबटन, वस्त्रधारण आदि का वर्णन किया गया है। उसके बाद क्रमशः अंगों की शोभा का आलंकारिक पद्धति से वर्णन है। यद्यपि इसमें न तो कोई नूतन उपमान है और न कोई वचन-वक्रता ही किन्तु समूचे पद में सौन्दर्य की छटा अवश्य प्रतिच्छायित हो रही है। मृगछौने के समान नेत्र और मृणाल-दंड के समान भुजाओं का वर्णन परम्परायुक्त होने पर भी उक्त पद में नवीन सौन्दर्य की सृष्टि कर रहा है।

रूप-सौन्दर्य चित्रित करने वाले लगभग एक दर्जन पद हित चौरासी में हैं जिनमें नखशिख का कहीं सम्पूर्ण रूप से और कहीं कोई विशेष अंग उभार के साथ वर्णित हुआ है।

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये, मृगज लोचन, उबटि अंग शिर खोरी।
गंड पंडीर मंडित, चिकुर चन्द्रिका मेदिनी, कवरि गुंथित सुरंग डोरी।
श्रवन ताटंक के चिवुक पर विन्दु दै, कसूंभि कंचुकि दुरै उरज फल कोरी।
वलय कंकन दौति, नखन जावक जोति, उदर गुनरेख, घट नील कटि थोरी।
सुभग जघनस्थली क्वणित किंकिनि भली, कोक संगीत रस सिंधु झकझोरी।

जहाँ तक इनकी जाति का प्रश्न है यह निश्चित रूप से ब्राह्मण ही प्रतीत होते हैं : प्रथम तो इनका नाम 'नरोत्तम' (ब्राह्मण ?)—'दास' (नरोत्तम के पर्याय पुरुषोत्तम की सेवा का अभिलाषी, तुलसीदास सदृश सेवक) ही इनके ब्राह्मणत्व को ध्वनित करता है। फिर 'सुदामाचरित' में सुदामा के माध्यम से निरूपित आदर्श ब्राह्मणत्व की रूपरेखा भी इसकी पुष्टि करती है। और यह भी संभव है कि इनके किसी यजमान राजा या धनपति ने इन्हें बड़ी धनराशि या मकान-ग्राम आदि दान में प्रदान किया हो जिसे भगवान् की प्रेरणा और भाग्य का चमत्कार मानकर इन्होंने उस कथा को उसी से मिलती-जुलती भगवत्कृपा-कथा में गूंथ दिया हो। भक्ति और रीतिकाल के सन्धि-साहित्य में इस प्रच्छन्न विधि से दान-दाताओं के प्रति कृतिज्ञता-ज्ञापन के ऐसे प्रयोग भी संभावित हो सकते हैं, और समय-समय पर होते रहे हैं। कालिदास जैसे यशस्वी कवि-गुरु के कुमारसंभव, तथा अन्य रचनाओं में भी, गुप्तकाल के सम्राट कुमारगुप्त तथा उस राजान्वय की विरुदावली के बखान की झलक देखी जाती है। यद्यपि सुदामाचरित के कथानक का स्रोत श्रीमद्‌भागवत तथा अन्य ग्रन्थों में भी है, पर इसके कवि ने ऐश्वर्य प्राप्ति में जिस भगवत्कृपा का सुखानुभव सुदामा के माध्यम से प्रकट किया है वह बहुत कुछ उसके निजी जीवन पर आधारित प्रतीत होता है। दीनता का ऐसा मर्मस्पर्शी और प्रत्यक्षदर्शी चित्र तथा उसके साथ ऐश्वर्य की ऐसी चकाचौंधमयी झाँकी कवि नरोत्तम के जीवन में उठी हुई सुख-दुःख दोनों की ही लोल-लहर को प्रकट करती है।

इनके जन्म और मृत्यु का संवत् भी अन्तर्साक्ष्य के आधार पर पूर्णतया निश्चित नहीं किया जा सकता, पर इनकी रचना के वातावरण से यह आभास अवश्य होता है कि इनका आविर्भाव रीति काल से बहुत पहले हो चुका था। संवत् १६०२ में इनका विद्यमान होना प्रामाणिक ही प्रतीत होता है, क्योंकि सुदामाचरित में मध्यकालीन इतिहास (मुग़ल राज्य-काल) के विकासोन्मुख ऐश्वर्य की ही झलक मिलती है, उत्तर मध्यकालीन राजतन्त्र के ह्रासोन्मुख वैभव के लक्षण उसमें नहीं हैं। जन्म स्थान के विषय में यह सन्देह अवश्य उठता है कि यदि यह सीतापुर जिले के बाड़ी गांव में पैदा हुए थे, या वहां के निवासी थे, तो इनकी भाषा व्रज न होकर अवधी होनी चाहिये थी, क्योंकि वह अवधी-प्रदेश के अन्तर्गत है। स्वभावतः इन्हें अवधी भाषा में रचना करनी चाहिये थी। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि संभव है इनका जन्म स्थान व्रज प्रदेश ही रहा हो और यह आजीविका अथवा शिक्षा आदि के लिये अवधी प्रदेश में आकर बस गये हों। यह भी संभव है कि अवध प्रदेश के ही किसी कृष्ण भक्त आचार्य के यह शिष्य रहे हों और इस कारण कृष्ण भक्ति तथा व्रजभाषा में रचना की हो। तुलसीदास से भी यह पर्याप्त रूप में प्रभावित प्रतीत होते हैं क्योंकि कृष्ण का चरित 'दीनदयाल और 'करुणानिधान' भगवान् राम के रूप में और सुदामा-चरित की शैली जानकी-मंगल तथा पार्वती-मंगल के समान पारिवारिकता में रंगी हुई

नैननि पर वारौं कोटिक खंजन।
चंचल चपल अरुण अनियारे अग्रभाग बन्यौ अंजन ।।
रुचिर मनोहर वक्र विलोकनि सुरत समर दल गंजन।
हितहरिवंश कहत न बनै छवि सुख समुद्र मनरंजन ।।

—हित चौरासी, पद सं० २२।

हे राधे। तुम्हारे सुन्दर नेत्रों पर मैं कोटि-कोटि खंजन पक्षियों को न्यौछावर करता हूं। तुम्हारे ये नेत्र सुन्दर, चंचल, चपल, अरुण और अनियारे (कोरदार, तीव्र, पैने) हैं। उनके अग्रभाग में अंजन लगा हुआ है। इन नयनों का रुचिर, मनोहर एवं कटाक्षपूर्ण अवलोकन ही सुरत-युद्ध में विपक्षी दल का मंथन करने वाला है। अर्थात् इन नेत्रों की एक चितवन से ही प्रतिपक्षी परास्त होकर तुम्हारे रूप पर रीझ कर रह जायगा।

रास-वर्णन

हितहरिवंशजी ने चौरासी में रास-विषयक १७ पद लिखे हैं जिनमें भावना-परक रास का वर्णन है। भागवत पुराण में जिस रास का वर्णन 'रास-पंचाध्यायी' के अन्तर्गत हुआ है वैसा विवरणात्मक रास चित्रण यहां नहीं है। कृष्ण का मुरली बजाना और गोपियों का मुग्ध होकर उनके पास शरद्-यामिनी में घरबार छोड़कर आना किसी आख्यानात्मक शैली से कहीं नहीं आया है। यहाँ रास नित्यविहार की ही एक स्थिति है। राधा और कृष्ण अपने विनोद के लिए यमुना-पुलिन पर रास रचते हैं और वहां कृष्ण मुरली बजाते हैं, युवतियां नृत्य करती हैं और राधाकृष्ण का सम्मोहक, मिलन होते-होते लीला समाप्त होती है। रास प्रारम्भ होने से पूर्व एक सखी राधिका के पास आकर उसे सूचना देती है कि हे राधे। तेरे लिए कलिन्दजा के किनारे कृष्ण ने रास रचा है—

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान
रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
निर्तत युवती समूह रागरंग अति कुतूह
बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी ।।
वंशीवट निकट जहां परम रमनि भूमि तहां
सकल सुखद मलय वहै वायु मन्दिनी।
जाती ईषद विकास, कानन अतिशय सुवास
राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी ।।
नरवाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि
नखशिख सौन्दर्य काम दुख निकन्दिनी ।।
विलसहि भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिन्धु झेलि
नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी ।।

—हित चौरासी, पद सं० १२।

का आविर्भाव, भय का कम्पन, विस्मय का आह्लाद, पुलक की आकुलता आदि उत्पन्न करना, कुशल कथाकार के गुण होते हैं जोकि इस कथा में भरपूर दिखलाई पड़ते हैं। नाट्य दृष्टि से भी इसमें अर्थ-प्रकृतियों, सन्धियों और अवस्थाओं का रमणीय बोध होता है। अतः खण्ड-काव्य की दृष्टि से सुदामा चरित्र में रसात्मक एवं नाटकीय वस्तु,-संघटन हुआ है।

रमणीय चरित्र

सुदामा—सुदामाचरित के पात्र आदर्शों के प्रतीक होते हुए भी वास्तविक मानसिक स्थितियों पर आधारित हैं। काव्यनायक सुदामा एक ओर ब्राह्मण के सात्विक जीवन का आदर्श है—"कै पढ़िबौ कै तपोधन है", तो दूसरी ओर उसमें मानवीय यथार्थ का भी यथेष्ट सन्निवेश है। पत्नी के आग्रह पर उसका खीझ उठना "जातहिं दैहैं लदाय लढ़ा", साथ ही उसके प्रति सहानुभूति भी रखना "जो न कह्यो करिबो तो बड़ो दु.ख", उसके व्यक्तित्व की सहजता के द्योतक हैं। अपनी पत्नी के तर्कों पर उसके पौरुषेय अहंकार का फूट पड़ना "सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय तांको कहा अब देति है सिच्छा" भी मानवीय दुर्बलता का यथार्थ चित्र है। इसी प्रकार द्वारिका से लौटते हुए उसका खिन्न और क्षुब्ध होना, कृष्ण की प्रकृति का विश्लेषण करना और उनके जीवन के इतिहास की आलोचना करना, उन्हें शाप देने तक तैयार हो जाना,—अन्तर्द्वन्द्व के सुन्दर उदाहरण हैं। सुदामापुरी की महारानी के वेश में अपनी ही पत्नी को न पहिचान कर उसके चरित्र पर शंका करना—"विपदा-सताई वह पाई कहाँ पामरी"—भी मानवीय दुर्बलता का यथार्थ चित्र है। अन्त में गृहस्थ-सुख से विभोर होकर पत्नी की व्यवहार-बुद्धि की प्रशंसा करना भी स्वाभाविक मनोविज्ञान है।

आदर्श के रूप में वह प्राचीन वर्णव्यवस्था पर आधारित ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। "ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा" में उसकी दीनता नहीं, उसका स्वाभिमान ही झलकता है क्योंकि "कै पढ़िबो कै तपोधन" में वह समाज को इतना अग्रिम दे देता है कि फिर बदले में उससे आजीविका मात्र के लिये कुछ माँग लेने या बिना माँगे ही प्राप्त कर लेने में वह संकोच की अपेक्षा अपना अधिकार और गौरव ही अनुभव करता है। भारतीय जीवन, विशेषतः ब्राह्मण जीवन का प्रमुख आदर्श 'अपरिग्रह' उसके जीवन में साकार होकर सामने आता है, और सदामा वांछनीय 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ' का मूर्तिमान आदर्श बन जाता है। वह तपोनिधि, विद्यानिधि स्वाभिमानी सन्तोषी और तेजस्वी ब्राह्मण है। उसके गौरव की—ब्राह्मण की मर्यादा और मित्र के स्वाभिमान की—पूर्ण रक्षा करते हुए ही कृष्ण उसकी आर्थिक दुरावस्था को दूर करते हैं, और गुप्तदान का आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं।

हितजी ने कविता का आश्रय केवल साधन की दृष्टि से ग्रहण किया था, उनका साध्य तो राधा-भक्ति द्वारा आत्मतृप्ति था। रसविशेष की प्रतीति के लिए वे पद-रचना में लीन नहीं हुए थे। स्वानुभूत रस की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने काव्य का बाह्य श्रुतिमधुर संगीत अपनाया है, राधा का गुणगान जिन पदों का महत् उद्देश्य हो उनमें दीप्ति, कान्ति, ओज और माधुर्य भाव का अभाव कैसे हो सकता है।

रस-निष्पत्ति

काव्य-रस की शास्त्रीय कसौटी पर यदि हरिवंशजी के पदों को कसा जाय और विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से साहित्यिक शैली द्वारा रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को चरितार्थ किया जाय तो भी हम उन्हें भक्ति रस या शृंगार रस की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण पाते हैं। हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भक्ति-रस की शास्त्रीय व्याख्या नहीं मिलती किन्तु भक्ति का वर्णन रस-पद्धति पर ही हुआ है। अतः भक्ति-रस स्थापित करने वाले 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'भक्ति रसामृत सिन्धु' आदि ग्रन्थों के आधार पर हम भक्तों की वाणी का रस-विवेचन कर सकते हैं।

भक्ति-रस पांच प्रकार का माना जाता है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं मधुर।

मधुर को ही शृंगार या उज्ज्वल रस की संज्ञा दी जाती है। मधुर रस के रूढ़ और अधिरूढ़ दो भेद हैं। महिषीगण रूढ़भाव से अनुरक्त होती हैं और अधिरूढ़ भाव की अधिष्ठातृ हैं गोपियां। इस अधिरूढ़ महाभाव को भी दो प्रकार का माना गया है। संयोग दशा में यह 'मादन' कहलाता है और वियोग में 'मोहन'। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र में शृंगार रस के दो भेद हैं वैसे ही भक्तिरस-निष्ठ शृंगार भी संभोग और विप्रलम्भ भेद से द्विविध है। सम्भोग शृंगार के अनन्त रूप हैं किन्तु विप्रलम्भ के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास, और प्रेम-वैचित्र्य।

भक्ति-रस का स्थायीभाव कृष्ण-रति या 'राधाकृष्ण-रति' या 'राधाकृष्ण प्रेम' है। हरिवंशजी की भक्ति में शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य को स्थान न होने से केवल मधुर भाव ही बचता है। ऐश्वर्य ज्ञान के लिए भी हरिवंशजी की भक्ति में स्थान नहीं है। अतः राधाकृष्ण का केवल माधुर्य-मंडित रूप ही रति उद्बुद्ध करने का कारण है और वही स्थायी भाव के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इस रस के आलम्बन राधा और कृष्ण (नायक-नायिका) हैं। राधाकृष्ण स्वकीया-परकीया-भाव-निर्विशेष होने पर भी परस्पर अनन्य भाव से अनुरक्त हैं अतः वे आलम्बन के समस्त धर्मों से युक्त हैं। अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यहां यही नवीनता है कि कृष्ण राधा-प्रेम के लिए लालायित होकर राधा की अर्चना-वन्दना करने में लीन देखे जाते हैं। कान्ता-शिरोमणि राधा अनिंद्य सुन्दरी एवं समस्त गुणों से उपेत होने के कारण कृष्ण के लिए भी आराध्या बनी रहती हैं। निर्मल उज्ज्वल रस और प्रेम की आकर राधा रूप, गुण, शील से सबको मोहित किये रहती हैं। हर्षादि आठों सात्त्विक भाव और सहज प्रेम से उद्भूत

साभिप्राय और प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है। इससे कवि की चरित्र निरूपण-पद्धति में आदर्श और यथार्थ का, तथा नीति और मनोविज्ञान का, सामंजस्य प्रकट हो जाता है।

कृष्ण—कृष्ण के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी कवि ने उन्हें नायक (सुदामा) की भूमिका से पृथक् रखा है। इस कथा में कृष्ण उपनायक या पताका-नायक ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि उनका कार्य कथानक के बीच से ही आरंभ हो कर अन्त से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। कवि की यह कुशलता दर्शनीय है कि कृष्ण जैसे लोकपूजित महापुरुष को साथ रखकर भी सुदामा के नायकत्व का पूर्ण निर्वाह किया है, और कृष्ण के एकदेशिक चरित्र (मैत्री) की पूरी छटा भी प्रकट कर दी है। हिन्दी के अनेक कवि और नाटककार दो प्रसिद्ध पात्रों को साथ-साथ रखकर नायक का पद अबाधित रख पाने में असफल हुए हैं, पर यह बाड़ी-गांव का सरल कवि कथा-निरूपण के साथ ही चरित्र-निरूपण में भी अच्छे-अच्छे कवियों की अपेक्षा अधिक सफ़ाई दिखलाता हुआ प्रतीत होता है।

हिन्दी काव्यधारा में श्रीकृष्ण के चरित्र की प्रचलित परम्परा को परि-वर्तित करने की भी कवि नरोत्तम की भावना और साहस सराहनीय है। उसने उन्हें, गौडीय और वल्लभ परम्परा से पृथक्, राम के आदर्श में ढालने का प्रयत्न किया है। इसीलिए 'करुणानिधान' 'दीन दयाल' जैसे शब्दों का प्रयोग बार-बार किया है। वे सुदामा का नाम सुनते ही द्वार तक दौड़े आते हैं। उनका चरण-प्रक्षालन करते हैं, करुणार्द्र होते हैं, यहां तक कि भोजनोपरान्त विश्राम-वेला में उनके चरण भी दबाते हैं। यह गोकुल के कृष्ण, और मथुरा के कृष्ण से भी भिन्न द्वारिकाधीश कृष्ण के चरित्र की परम्परा है, जिसमें प्रपत्ति मार्ग के शरणागत-पालन और सख्यभक्ति के आदर्श का सामंजस्य हुआ है।

कृष्ण के आचरण में भगवत्-तत्त्व की पूर्णता है फिर भी वे मुख्य रूप से मैत्री का ही आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे सुदामा का हार्दिक स्वागत करते हैं, उन्हें हाथ पकड़ कर सीधे अन्तःपुर में ले जाते हैं "जहाँ न कोइ जाय", उनके आतिथ्य की देख-रेख स्वयं करते हैं। अपनी प्रिया महिषी सत्यभामा को उनके लिये रसोई बनाने का आदेश देते हैं। भाभी की भेंट को आग्रहपूर्वक लेकर मित्र का सारा संकोच दूर कर देते हैं। मित्र की आर्थिक दुरावस्था को पहिचान कर उसकी ऐसी व्यवस्था करते हैं कि दोनों का आर्थिक स्तर समान हो जाता है। इस प्रकार कृष्ण के चरित्र में भी धार्मिक साहित्य की पौराणिक परम्परा और भक्तिकाव्य की शृंगारी परम्परा से भिन्न कवि ने यथार्थ मानवीय जीवन के रमणीय आदर्श को प्रस्तुत किया है।

फिर भी, सुशीला और सुदामा दोनों की ही अपेक्षा कृष्ण के चरित्र में अलौ-किकता और आदर्शात्मकता अधिक है, यह स्पष्ट है। सुदामा-पत्नी सुशीला ने उनकी

और प्रांजल रूप हितहरिवंशजी की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है वैसा किसी अन्य भक्त-कवि की रचना में नहीं हुआ। हमारे इस कथन को कदाचित् पक्षपातपूर्ण समझा जाय और सूरदास तथा नन्ददास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों की व्रजभापा को उनसे बढ़कर बताया जाय किन्तु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा। सूरदास की भापा में व्रजभापा का आंचलिक पुट है, लोकभापा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है। नन्ददास ने अवश्य शब्द-चयन में परिष्कार पर बल दिया है और शब्द-मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नाद सौन्दर्य को अपना कर 'नन्ददास जड़िया' का पद पाया है, किन्तु नन्ददास की भापा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं है। संस्कृत की तत्सम पदावली को व्रजभापा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंशजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। वे व्रजभापा के क्रियापद तथा विभक्तियों के योग से ही सारे पद को तत्सम शैली के ढांचे में इस सौष्ठव के साथ जड़ते हैं कि पाठक भावधारा में बहने के साथ पदावली के लालित्य पर भी मुग्ध हो उठता है। संस्कृत-कवि जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था। हरिवंशजी ने जयदेव और विद्यापति दोनों की पदावली से प्रभाव ग्रहण करके उसे व्रजभाषा के कलेवर में अभिनव रूप दिया। शब्द-मैत्री, समीचीन वर्णविन्यास, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता और प्रांजलता हरिवंशजी की व्रजभाषा के उल्लेख्य गुण हैं जो उनको व्रजभाषा के भक्त-कवियों में मूर्धन्य पर आसीन करने में पूरी तरह सहायक होते हैं।

काव्य की भाषा सरस, कोमल, मधुर और मसृण होने के साथ ही सुबोध, सार्थक, सहज, सरल और सुसम्बद्ध होनी चाहिए। रसानुकूल भाषा ही चित्ताकर्षक और हृदयद्रावक होती है। जो भापा संवेदन के स्वरूप को मूर्त्त रूप देकर उसे अन्तर्नेत्रों के समक्ष उपस्थित कर सकती है वही पाठक की रागात्मक वृत्तियों को उच्छ्वसित करने में भी समर्थ होती है। ऐसी भापा के साथ शैली में चारुता, सामंजस्यपूर्णता और प्रभावोत्पादकता का होना भी अनिवार्य है। भाषा और शैली के इस समन्वय पर ही अभिव्यक्ति में भावों के प्रेपणीय बनाने की क्षमता उत्पन्न होती है। हरिवंशजी की भापा और शैली को उपर्युक्त कसौटी पर हम सर्वतोभावेन खरा पाते हैं।

वर्ण-विन्यास और शब्द-मैत्री—सुन्दर वर्णों (अक्षरों) से निर्मित शोभन शब्दों के आधान द्वारा काव्य का वाह्य कलेवर दीप्त हो उठता है। कोमल, मधुर और सरस वर्णों के योग से जो शब्द बनते हैं उनका प्रभाव मन को झंकृत करने वाला और चिरस्थायी होता है। हरिवंशजी के पदों में वर्ण-विन्यास का सौष्ठव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है :—

विद्रुम फटिक विविध-निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किशलय (?)न सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी॥

साभिप्राय और प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है। इससे कवि की चरित्र निरूपण-पद्धति में आदर्श और यथार्थ का, तथा नीति और मनोविज्ञान का, सामंजस्य प्रकट हो जाता है।

कृष्ण—कृष्ण के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी कवि ने उन्हें नायक (सुदामा) की भूमिका से पृथक् रखा है। इस कथा में कृष्ण उपनायक या पताका-नायक ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि उनका कार्य कथानक के बीच से ही आरंभ हो कर अन्त से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। कवि की यह कुशलता दर्शनीय है कि कृष्ण जैसे लोकपूजित महापुरुष को साथ रखकर भी सुदामा के नायकत्व का पूर्ण निर्वाह किया है, और कृष्ण के एकदेशिक चरित्र (मैत्री) की पूरी छटा भी प्रकट कर दी है। हिन्दी के अनेक कवि और नाटककार दो प्रसिद्ध पात्रों को साथ-साथ रखकर नायक का पद अबाधित रख पाने में असफल हुए हैं, पर यह बाड़ी-गांव का सरल कवि कथा-निरूपण के साथ ही चरित्र-निरूपण में भी अच्छे-अच्छे कवियों की अपेक्षा अधिक सफ़ाई दिखलाता हुआ प्रतीत होता है।

हिन्दी काव्यधारा में श्रीकृष्ण के चरित्र की प्रचलित परम्परा को परि-वर्तित करने की भी कवि नरोत्तम की भावना और साहस सराहनीय है। उसने उन्हें, गौडीय और बल्लभ परम्परा से पृथक्, राम के आदर्श में ढालने का प्रयत्न किया है। इसीलिए 'करुणानिधान' 'दीन दयाल' जैसे शब्दों का प्रयोग वार-वार किया है। वे सुदामा का नाम सुनते ही द्वार तक दौड़े आते हैं। उनका चरण-प्रक्षालन करते हैं, करुणार्द्र होते हैं, यहाँ तक कि भोजनोपरान्त विश्राम-बेला में उनके चरण भी दबाते हैं। यह गोकुल के कृष्ण, और मथुरा के कृष्ण से भी भिन्न द्वारिकाधीश कृष्ण के चरित्र की परम्परा है, जिसमें प्रपत्ति मार्ग के शरणागत-पालन और सख्यभक्ति के आदर्श का सामंजस्य हुआ है।

कृष्ण के आचरण में भगवत्-तत्त्व की पूर्णता है फिर भी वे मुख्य रूप से मैत्री का ही आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे सुदामा का हार्दिक स्वागत करते हैं, उन्हें हाथ पकड़ कर सीधे अन्तःपुर में ले जाते हैं "जहाँ न कोइ जाय", उनके आतिथ्य की देख-रेख स्वयं करते हैं। अपनी प्रिया महिषी सत्यभामा को उनके लिये रसोई बनाने का आदेश देते हैं। भाभी की भेंट को आग्रहपूर्वक लेकर मित्र का सारा संकोच दूर कर देते हैं। मित्र की आर्थिक दुरावस्था को पहिचान कर उसकी ऐसी व्यवस्था करते हैं कि दोनों का आर्थिक स्तर समान हो जाता है। इस प्रकार कृष्ण के चरित्र में भी धार्मिक साहित्य की पौराणिक परम्परा और भक्तिकाव्य की शृंगारी परम्परा से भिन्न कवि ने यथार्थ मानवीय जीवन के रमणीय आदर्श को प्रस्तुत किया है।

फिर भी, सुशीला और सुदामा दोनों की ही अपेक्षा कृष्ण के चरित्र में अलौ-किकता और आदर्शात्मकता अधिक है, यह स्पष्ट है। सुदामा-पत्नी सुशीला ने उनकी

तत्सम रूप रख दिया जाय तो पद का समस्त सौन्दर्य समाप्त हो जायगा। यही कुशल कवि की सफल शब्द-मैत्री है।

शब्द-मैत्री का दूसरा रूप अर्थात् ब्रजभाषा के वाक्य-विन्यास में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हरिवंशजी की वाणी में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानजुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत प्रिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी॥

पद का प्रवाह ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है किन्तु शब्द-योजना में तत्सम पदावली का प्राधान्य है। यह मैत्री ब्रजभाषा को अधिक सुहाती है।

मोहन मन मथत मार, परसत कुचि, नीवि, हार।
वेपथुयुत नेति नेति वदति भामिनी।
नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत झेलि
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी॥

इस पद के शब्द संस्कृत के होने पर भी वाक्य-योजना की दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे ये ब्रजभाषा के ही हों। 'नेती नेति वदति भामिनी' और 'सौरत रस रूप नदी जगत पावनी' तो पूरे वाक्यांश ही संस्कृत पदावली से भरे हैं किन्तु उनका प्रवाह इतना नैसर्गिक है कि ब्रजभाषा-भाषी के लिए ये उसके अपने घर के से हैं।

श्री हितहरिवंश रचित हित चौरासी का हमने ऊपर की पंक्तियों में संक्षेप में विवेचन किया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अभी तक इनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं हुआ। फलतः हिन्दी साहित्य के इतिहासों में हितजी का सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के रूप में नामोल्लेख मात्र ही उपलब्ध होता है। भक्त कवि के रूप में उन्हें उचित सम्मान नहीं दिया जाता। हमारी यह निश्चित धारणा है कि यदि हितहरिवंशजी के ब्रजभाषा-साहित्य का विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन किया जाए तो वह काव्य-सौष्ठव तथा माधुर्य-भाव का श्रेष्ठतम साहित्य सिद्ध होगा।

कवि-कौशल को प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिये अमर्ष का भाव अपने विभिन्न रंगों (खीझ, चिड़चिड़ाहट, अतृप्त अहंभाव आदि) के साथ इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है—"द्वारिका जाहुजू, द्वारिका जाहुजू, आठहु जाम यहै जक तेरे", "जातहि दैहैं लदाय लढ़ा भरि लैहौं लदाय यह जिय जानी", "हौं आवत नाहीं हुतो वाही पठयो ठेलि, कहिहौं धनि सों जाय कै अब धन धरो सकेलि", "हौं सिच्छक सिरे जग कौ तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा", "घर-घर कर ओड़त फिरे तनक दही के काज", इत्यादि। इनमें कवि ने कहीं आवृत्ति (वीप्सा) द्वारा, कहीं मुहावरे के प्रयोग से और कहीं द्वित्व वर्णों द्वारा स्वराघात (इम्फैसिस) पैदा करते हुए मन की विविध स्थितियों को सूचित किया है। "लदाय लढ़ा" वाली पंक्ति में लकार की आवृत्ति मन की खिजलाहट को व्यक्त करने में कितनी सहायक हुई है, यह भी देखने योग्य है।

इसी प्रकार दैन्य की मनःस्थिति के लिये "जौ न कह्यो करिबो तौ बड़ो दुख, जैये कहाँ अपनी गति हेरे", "निपट कठिन हरि को हियो मोकों दियो न दाम" और "धीरज अधीर के हरन परपीर के बताओ बलवीर के भौन यहाँ कौन हैं" तथा शम और निर्वेद की स्थिति के लिये "जो पै दरिद्र लिख्यो है ललाट तो काहु पै मेट न जात अजानी", या "जीवन केतो है जाके लिये हरि सों अब होंहुं कनावड़ो जाइ कै।" और भ्रम तथा शंका की मनःस्थिति के लिये ये पंक्तियाँ दर्शनीय हैं - "देवनगर कै जच्छपुर हौं भटक्यो कित आय" अथवा "टूटी सी मड़ैया मेरी परि हुती याही ठौर" वाला पूरा कवित्त।

सुदामा के मनोद्वन्द्व का भी बड़ा सजीव और आकर्षक चित्रण हुआ है, जिसमें वितर्क और अमर्ष का सम्मिश्रण है—"बालापन के मित्र हैं कहा देहुँ अब साप", "वह पुलकनि, वह हंसि मिलनि, वह आदर की भाँति। यह पठवनि गोपाल की कछू न जानी जाति", तथा "नौगुन धारी छगुन सों" इत्यादि।

इन मनःस्थितियों अथवा मानसिक मुद्राओं के अतिरिक्त कवि ने पात्रों की बाह्य मुख मुद्राओं और आंगिक चेष्टाओं के भी अनेक आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनसे इस छोटे से काव्य में अवस्थानुकृति की प्रभूत सामग्री संचित हो गई है और वह अपनी अभिनयात्मक शैली के कारण सरलतापूर्वक भाव-नाट्य में परिणत किया जा सकता है। "स्याम कह्यो मुस्काय सुदामा सों, चोरी की बानि में हौ जु प्रवीने," जैसे चित्रों में पात्र की साकार अंग-भंगिमा, मुस्कान, और उसका फड़कता हुआ रोम-रोम दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार "काँख में पाटली दबाते हुए," सुदामा, "अछोट मुठी भरिकै चावल चबाते हुए," कृष्ण, "पान खात मुस्कात" सुशीला, "तीसरी मुठी भरते ही बाँह पकड़ती हुई" रुक्मिणी, "द्वारावती की अभिराम बसुधा को चकित होकर देखता" दीन पथिक, "हाथ पकड़ कर द्वार तक पहुँचाता हुआ" नागरिक, "स्वर्ण थाल में आरती उतारती" पुलकित पतिव्रता, "पीढ़े पर बैठती," गृहिणी, "आसन पर

तत्सम रूप रख दिया जाय तो पद का समस्त सौन्दर्य समाप्त हो जायगा। यही कुशल कवि की सफल शब्द-मैत्री है।

शब्द-मैत्री का दूसरा रूप अर्थात् ब्रजभाषा के वाक्य-विन्यास में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हरिवंशजी की वाणी में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

हरि उर मुकुर विलोकि अपनपो विभ्रम विकल मानजुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत प्रिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी॥

पद का प्रवाह ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है किन्तु शब्द-योजना में तत्सम पदावली का प्राधान्य है। यह मैत्री ब्रजभाषा को अधिक सुहाती है।

मोहन मन मथत मार, परसत कुचि, नीवि, हार।
वेपथुयुत नेति नेति वदति भामिनी।
नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत झेलि
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी॥

इस पद के शब्द संस्कृत के होने पर भी वाक्य-योजना की दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे ये ब्रजभाषा के ही हों। 'नेती नेति वदति भामिनी' और 'सौरत रस रूप नदी जगत पावनी' तो पूरे वाक्यांश ही संस्कृत पदावली से भरे हैं किन्तु उनका प्रवाह इतना नैसर्गिक है कि ब्रजभाषा-भाषी के लिए ये उसके अपने घर के से हैं।

श्री हितहरिवंश रचित हित चौरासी का हमने ऊपर की पंक्तियों में संक्षेप में विवेचन किया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अभी तक इनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं हुआ। फलतः हिन्दी साहित्य के इतिहासों में हितजी का सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के रूप में नामोल्लेख मात्र ही उपलब्ध होता है। भक्त कवि के रूप में उन्हें उचित सम्मान नहीं दिया जाता। हमारी यह निश्चित धारणा है कि यदि हितहरिवंशजी के ब्रजभाषा-साहित्य का विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन किया जाए तो वह काव्य-सौष्ठव तथा माधुर्य-भाव का श्रेष्ठतम साहित्य सिद्ध होगा।

उन्हें बड़े 'अनैसे' प्रतीत होते हैं, अपने ही घर में प्रवेश करते उन्हें भय लगता है— "जैहौं हौं निकसो सो तमासो जग ज्वै रह्यो," राजरानी सुशीला में अपनी पत्नी की उनहार देखकर उन्हें उसके चरित्र-पतन की आशंका होती है, और वे सोचते हैं कि घर से भी गया और घरनी से भी। यह नाटकीय कौतुक का सजीव दृश्य है। इससे भी पूर्ववर्ती कथा शृंखला में जब विक्षुब्ध सुदामा कृष्ण को शाप देते हैं "जैसो हरि हम कों दियो तैसो पावहिं आप," तब नाटकीय वैपरीत्य (ड्रामेटिक आयरनी) का सुन्दर उदाहरण मिलता है क्योंकि सुदामा सोचते हैं कि उन जैसी ही दरिद्रता कृष्ण को प्राप्त होगी, पर होता है उल्टा और कृष्ण को सुदामा के प्रच्छन्न शाप से और भी अधिक समृद्धि प्राप्त होती है। अन्य नाटकीय दृश्यों में सुदामा की द्वारिका-यात्रा, पग-प्रक्षालन, चावलों का प्रसंग आदि हैं।

सुदामा चरित की सम्वाद-शैली भी हिन्दी के श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्यों के स्तर की है। इसकी तुलना रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, साकेत, पंचवटी आदि की सम्वाद-शैली से की जा सकती है। इसमें तुलसी और केशव जैसी वाग्विदग्धता तो नहीं है, पर उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम और कथा का उत्कर्ष बड़ा रोचक है। इसीलिये इसका अभिनय अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

रस-परिपाक

सुदामा चरित में अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रारंभ से अन्त तक कौतूहल और जिज्ञासा का जो क्रम इसमें बना रहता है और 'विस्मय' का जिस प्रकार उत्कर्ष होता है, तथा अन्त में कवि जिस प्रकार चरम दरिद्रता को परम ऐश्वर्य में परिणत करता है—"कै वह टूटी सी छानी हुती, कहँ कंचन के सब धाम सुहावत," इससे भी अद्भुत रस का ही पूर्ण परिपाक व्यंजित होता है। उसी के अनुकूल संचारी भाव कथा के चरमोत्कर्ष पर एकत्र हो गये हैं, यथा वितर्क "देवनगर कै जच्छपुर हौं भटक्यो कित आय" तथा भ्रम "वैसेहि राज सकाज बने, राजबाजि घने, मन संभ्रम छायो" आदि। अतः सुदामा चरित में एकदेशानुसारि खण्डकाव्य के अनुकूल एक ही रस की स्थिति सिद्ध होती है। करुण, सख्य, हास्य आदि 'भावों' की सीमा में ही रहे हैं। कथा के मध्य भाग में "कांप उठी कमला मन सोचत," "लालो परो लोकन मैं चालो परो चक्रन मैं" आदि प्रसंगों में 'भय' की उद्भावना भी संचारी रूप में ही हुई है, जो अद्भुत का सहायक बना है। उद्देश्य की दृष्टि से इस काव्य में भक्ति रस की प्रधानता है, पर जिस प्रकार तुलसी के रामचरितमानस में प्रत्येक रस अपने पूर्ण परिपाक को प्राप्त करके ही भक्ति के आश्रित होता है उसी प्रकार सुदामा चरित में भी अद्भुत रस परिपक्व होकर ही भक्ति में विलीन हुआ है। अतः भक्ति रस प्रधान है या अद्भुत, इस विवाद का अवकाश सुदामा चरित में नहीं है। इसकी कथा में भाग्य का चमत्कार प्रकट किया गया है, इसलिये अद्भुत रस की प्रधानता अनिवार्य है। पर वह भाग्य का खेल करुणानिधान की कृपा द्वारा ही संघटित हुआ है, इस लिये 'अद्भुत'

इसके विषय में लिखा है—"उसमें दीन हृदय के बड़े सच्चे चित्र हैं। भाषा बहुत स्वाभाविक और चलती हुई है, उसमें प्रवाह है। भावों के साथ भाषा का इतना सुन्दर मिलाप सुदामाचरित की श्रेष्ठता का कारण है।"—(हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कुछ और भी अधिक प्रशंसा की है—"यद्यपि यह छोटा है, पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदय ग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं हैं"—(हिन्दी साहित्य का इतिहास)। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का विचार है कि इसमें "उच्चकोटि का कवित्व-प्रदर्शन" भी हुआ है (हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, १९४६, पृ० २०१)। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय सुदामाचरित के रचयिता को "बड़े सहृदय कवि" और उसकी कविता को "बड़ी ही सरस" मानते हैं (हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९५८, पृ० २३१)। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें विशेष रूप से "लोकप्रिय लेखक" के रूप में देखा है (हिन्दी साहित्य)। ये लघु प्रमाणपत्र ही उन अन्तर्निहित गुणों की ओर संकेत करते हैं जिनके आधार पर यह एकमात्र लघु कृति अपने सुकृती रचयिता की यशःकाया का चार सौ वर्षों से भी अधिक समय से संरक्षण करती आ रही है। इससे बढ़कर इस काव्य की रससिद्धता का, और साथ ही रस की अमरता का भी, और क्या प्रमाण हो सकता है?

वनफूल के समान नैसर्गिक वातावरण में पले और बढ़े इस सौम्य कवि का जन्मस्थान, जन्म संवत्, जीवनवृत्त और जाति आदि हिन्दी के अनेक प्राचीन कवियों के समान ही अनिश्चय की कुहेलिका से आच्छादित है। इस विषय में कोई प्रयत्न भी नहीं हुए हैं, क्योंकि एक या दो लघु कृतियों के रचयिता के विषय में इतना सरदर्द कौन मोल लेना चाहेगा? विशेष कर तब, जबकि महाकवि कालिदास, भास, सूर, तुलसी आदि के ही जीवन-वृत्त विवादास्पद बने हुए हैं। शिवसिंह सरोज में नरोत्तम कवि के विषय में केवल इतना ही उल्लेख है कि वे संवत् १६०२ में विद्यमान थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने भी इसी की आवृत्ति करके छुट्टी पा ली है। इनकी जाति के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अनभिज्ञता प्रकट की है, डा० रामकुमार वर्मा ने चर्चा ही नहीं की है, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ब्राह्मण होना लिखा है और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने इन्हें कान्य-कुब्ज ब्राह्मण बतलाया है। इनका निवास-स्थान (जन्म स्थान नहीं!) सीतापुर जिले का बाड़ी ग्राम बतलाया जाता है। भारतीय चरिताम्बुधि में पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ने इसे ही 'ब्राह्मण बाड़ी" कहा है, जिससे इनके ब्राह्मण होने की कुछ पुष्टि होती है। इस प्रकार कविवर नरोत्तमदास के सम्बन्ध में बहिर्साक्ष्य का अभाव प्रकट होता है, तब फिर कुछ अन्त-साक्ष्य को ही टटोल कर देखना चाहिये।

उद्देश्य एवं मूल्यांकन

इस रचना में कवि का उद्देश्य द्वारिकाधीश की भवित का प्रसार ही है, और इसके लिये भवित के 'सख्य' पक्ष को चुना गया है। शान्त, दास्य, माधुर्य और वात्सल्य—वैष्णव भवित के ये चार पक्ष अन्य भक्त कवियों द्वारा पर्याप्त परिमाण में चित्रित किये जा चुके थे, पर सख्य भाव की भक्ति का निदर्शन इस छोटे से खण्ड काव्य के द्वारा ही हुआ है। इस भक्ति का आश्रय है सुदामा, अत: वही नायक है। "बालमिताई", "दीनबन्धुता" आदि इस भक्ति के उद्दीपन हैं "पुलकनि" हंसि मिलन आदि आलंबनगत चेष्टायें हावों के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। सुदामा का मूक प्रेमास्वादन अथवा 'धन्य-धन्य' इसके अनुभाव हैं। इस प्रकार सख्य भवित का सजीव चित्र प्रस्तुत करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

यद्यपि ग्रंथारंभ में मंगलाचरण और अन्त में माहात्म्य-कथन है, फिर भी पौराणिक काव्यों जैसी प्रबल उपदेश वृत्ति इस खण्ड-काव्य में नहीं है। कवि की विनोदप्रियता आरम्भ से अन्त तक बनी रही है। प्रारम्भ में भी तरुणी भार्या द्वारा वह वृद्ध पति की (भले ही गरीबी के कारण जवानी में बूढ़ा हुआ) मीठी-मीठी चुटकियाँ लिवाता रहा है और अन्त में भी "हरिहिं समर्पों कंत अब, कहा मन्द हँसि वाम" का विनोदपूर्ण चित्र सामने आता है। सुशीला के प्रति सुदामा के आभार-प्रकाशन या प्रशंसा-ज्ञापन "जौ पै पतिव्रत तू न उपदेश देती तौ पै" में कान्तासम्मित वाणी की जय-ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। इससे प्रकट है कि भक्ति की महिमा तो इस काव्य में प्रकट की गई है पर भक्त कवियों के समान उसका शास्त्रसम्मित उपदेश नहीं दिया गया है। खण्ड-काव्य में यह सम्भव भी न था, और यदि सम्भव किया जाता तो उसका काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो जाता। नरोत्तम ने उस काव्य-सौन्दर्य की पूरी रक्षा की है।

सुदामाचरित में जाने-अनजाने एक दार्शनिक तत्त्व भी ध्वनित है, और वह है समत्व का दर्शन अर्थात् अभेद-दर्शन। सुदामा और कृष्ण दोनों ही समत्व योगी हैं, कृष्ण अपनी समृद्धि के सुख में बहके हुए नहीं हैं और सुदामा अपनी दरिद्रता में भी दीन नहीं हैं। दोनों ने ही सुख-दुख को 'सम' बना रक्खा है। कथा के अन्त में इसी अभेद दर्शन को स्पष्ट कर दिया है—"कहँ वह टूटी सी छानी हुती, कहँ लै गजराजहु ठाड़े महावत"। इस प्रकार भाग्य की कथा और भक्ति की गाथा अद्वैत दर्शन की सरस्वती में जा समाई है—"एक ही लोल लहर के छोर, उभय सुख-दुख निशि भोर" (पंत, परिवर्तन)।

तुलसी के 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' की अपेक्षा सुदामा चरित में अधिक कवित्व है, नन्ददास के 'भंवरगीत' और 'रास पंचाध्यायी' जैसी साम्प्रदायिक बोझिलता इसमें नहीं है, राठौर राज प्रिथीराज की 'वेलि क्रिसन रुक्मिनी री' के ऊंचे [illegible] कवि की पहुँच नहीं है। यह काव्य तो अपनी प्रासादिकता में

इसके विषय में लिखा है—"उसमें दीन हृदय के बड़े सच्चे चित्र हैं। भाषा बहुत स्वाभाविक और चलती हुई है, उसमें प्रवाह है। भावों के साथ भाषा का इतना सुन्दर मिलाप सुदामाचरित की श्रेष्ठता का कारण है।"—(हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कुछ और भी अधिक प्रशंसा की है—"यद्यपि यह छोटा है, पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदय ग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं हैं"—(हिन्दी साहित्य का इतिहास)। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का विचार है कि इसमें "उच्चकोटि का कवित्व-प्रदर्शन" भी हुआ है (हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, १९४६, पृ० २०१)। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय सुदामाचरित के रचयिता को "बड़े सहृदय कवि" और उसकी कविता को "बड़ी ही सरस" मानते हैं (हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९५८, पृ० २३१)। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें विशेष रूप से "लोकप्रिय लेखक" के रूप में देखा है (हिन्दी साहित्य)। ये लघु प्रमाणपत्र ही उन अन्तर्निहित गुणों की ओर संकेत करते हैं जिनके आधार पर यह एकमात्र लघु कृति अपने सुकृती रचयिता की यशःकाया का चार सौ वर्षों से भी अधिक समय से संरक्षण करती आ रही है। इससे बढ़कर इस काव्य की रससिद्धता का, और साथ ही रस की अमरता का भी, और क्या प्रमाण हो सकता है?

वनफूल के समान नैसर्गिक वातावरण में पले और बढ़े इस सौम्य कवि का जन्मस्थान, जन्म संवत्, जीवनवृत्त और जाति आदि हिन्दी के अनेक प्राचीन कवियों के समान ही अनिश्चय की कुहेलिका से आच्छादित है। इस विषय में कोई प्रयत्न भी नहीं हुए हैं, क्योंकि एक या दो लघु कृतियों के रचयिता के विषय में इतना सरदर्द कौन मोल लेना चाहेगा? विशेष कर तब, जबकि महाकवि कालिदास, भास, सूर, तुलसी आदि के ही जीवन-वृत्त विवादास्पद बने हुए हैं। शिवसिंह सरोज में नरोत्तम कवि के विषय में केवल इतना ही उल्लेख है कि वे संवत् १६०२ में विद्यमान थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने भी इसी की आवृत्ति करके छुट्टी पा ली है। इनकी जाति के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अनभिज्ञता प्रकट की है, डा० रामकुमार वर्मा ने चर्चा ही नहीं की है, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ब्राह्मण होना लिखा है और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने इन्हें कान्य-कुब्ज ब्राह्मण बतलाया है। इनका निवास-स्थान (जन्म स्थान नहीं!) सीतापुर जिले का बाड़ी ग्राम बतलाया जाता है। भारतीय चरिताम्बुधि में पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ने इसे ही 'ब्राह्मण बाड़ी" कहा है, जिससे इनके ब्राह्मण होने की कुछ पुष्टि होती है। इस प्रकार कविवर नरोत्तमदास के सम्बन्ध में बहिर्साक्ष्य का अभाव प्रकट होता है, तब फिर कुछ अन्त-साक्ष्य को ही टटोल कर देखना चाहिये।

१६
सुजान रसखान

प्रो० लीलाधर 'वियोगी'

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल 'स्वर्ण-युग' कहलाता है। जिन कवियों ने अपने "काव्य-रत्नों" से इस युग को महिमा-मण्डित कर इसे स्वर्ण-युग का गौरव प्रदान किया है, उनमें से एक रसखान भी हैं। उनके काव्य का प्रत्येक शब्द प्रेम की स्वच्छ, एवं मधुर अनुभूति से ओत-प्रोत है। प्रेम भाव की अनन्यता और तीव्रता के साथ अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता के कारण ही उनके काव्य में पाठक को रसमग्न करने की अपूर्व क्षमता है। सहज, स्वच्छन्द प्रेम की आयास-हीन अभिव्यक्ति सीधी हृदय को छू लेती है। अलंकरण-कौशल से मुक्त, रीति के बन्धनों से रहित, स्वच्छन्द प्रेम के अमर गायकों में रसखान का स्थान असंदिग्ध रूप से मूर्धन्य है। वह ही इस धारा के प्रवर्तक हैं। 'सुजान रसखान' उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि कृति है। यही कृति उनकी प्रसिद्धि एवं कीर्ति का आधार है।

'सुजान रसखान' फुटकल पद्यों का संकलन है, जिसमें १८१ सवैये, सत्रह कवित्त, बारह दोहे और चार सोरठे हैं। इस प्रकार सब मिलाकर इसमें दो सौ चौदह[1] छन्द हैं। स्पष्ट ही 'सुजान-रसखान' एक लघु-सी रचना है। छन्द-संख्या और परिमाण ही नहीं, रसखान के काव्य का क्षेत्र भी विस्तृत नहीं है। 'सुजान रसखान' का विषय भी भक्ति, प्रेम और शृंगार तक ही सीमित है। जीवन के विविध-पक्षों का उद्घाटन इसमें नहीं है, किन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी, रसखान की प्रतिभा का विकास स्पष्ट ही देखा जा सकता है। सरलता, सहजता, रसमयता, अनन्यता, शब्द-चयन, आनुप्रासिकता, लय और झंकार आदि गुणों के कारण 'सुजान रसखान' काव्य रसिकों तथा भक्तजनों के कण्ठ का हार बना हुआ है। उक्त गुण ही 'सुजान रसखान' के स्थायी महत्त्व के आधार हैं।

'सुजान रसखान' में क्रमशः भक्ति भावना, बाल लीला, गोचारण, चीर-हरण, कुंज-लीला, रास लीला, पनघट लीला, दान लीला, वन लीला, गोरस-लीला, दधिदान,

१. उक्त संख्या पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित—रसखानि (ग्रन्थावली) के आधार पर है (इसी संग्रह के प्रकीर्णक में तीन पद्य और भी हैं)।

है। इससे इनके अवधी प्रदेश के निवासी होने के अनुमान को सहारा मिलता है। फिर भी, सीतापुर ज़िले का वाड़ी ग्राम इनका जन्म स्थान था या निवास स्थान, यह विषय संदिग्ध है और खोज की अपेक्षा रखता है।

सुदामाचरित का रचना-काल उत्तर भक्ति काल (संवत् १६०० और १७०० के बीच) का प्रतीत होता है, जैसा कि संवत् १६०२ में इनके विद्यमान रहने से भी निश्चित होता है। इसकी काव्यकला में भक्ति काल की स्वर्णिमता का आभास है और इसकी भक्ति भावना में भी रीति काल से पूर्व की ही उज्ज्वल-भक्ति का गांभीर्य तीव्रता और सात्विकता है। इसमें न तो 'गुविन्द सुमिरन को बहानो' है और न 'राधा' का समावेश। भक्ति काल की भी राम और कृष्ण दोनों धाराओं से भिन्न एक स्वतन्त्र पथ पर इसकी रचना हुई है, क्योंकि इसका काव्य नायक सुदामा एक 'दीन' भक्त है और विनय-पत्रिका के कवि के समान दीनदयाल करुणानिधान भगवान् के दरबार में शरण-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इसके कृष्ण रास-रचयिता नटराज नहीं, वरन् शरणागत-वत्सल भगवान् और प्रजापालक महाराज हैं। कृष्ण के दरबार में सुदामा का प्रवेश विनय-पत्रिका के रचयिता की राम के दरबार में शरण प्राप्त करने की अभिलाषा-पूर्ति का सजीव रूप सा प्रतीत होता है। अतः कृष्ण काव्य की परम्परा को राम काव्य की परम्परा की ओर मोड़ने का स्तुत्य प्रयत्न कविवर नरोत्तम की प्रतिभा में दृष्टिगोचर होता है, जबकि भक्ति काल के उस उत्तरार्द्ध में स्वयं राम के चरित्र को कृष्ण के रंग में रंगने के प्रयत्न किये जा रहे थे और स्वयं तुलसीदास जी की गीतावली (उत्तर काण्ड) पर भी उसका प्रभाव पड़ा था (दे० हिन्दी साहित्य इतिहास, संवत् २०१२, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १५२)। इस दृष्टि से कविवर नरोत्तम का यह छोटा सा प्रयत्न हिन्दी साहित्य के विकास में कितना महत्त्वपूर्ण और कितने अधिक श्रेय का अधिकारी है, यह स्पष्ट हो जाता है। यदि कवि-श्रेष्ठ नरोत्तमदास अपनी परम्परा को प्रवर्तित कर पाते और कुछ अधिक परिमाण में साहित्य रचना करते तो हिन्दी साहित्य के इतिहास के कुछ अध्याय दूसरे ही अक्षरों में लिखे दिखलाई पड़ते। फिर भी उनके 'सरल कवित्त' पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। यदि उनके रचित 'ध्रुव-चरित' और 'विचारमाला' भी प्राप्त हो जाते तब अपनी 'छोटी सी पोटली' द्वारा ही हिन्दी की राजसभा में वे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते, इसे कौन जानता है? भक्ति काव्य की दृष्टि से ही नहीं, किशोर-साहित्य की परम्परा की दृष्टि से भी सुदामाचरित के रचयिता के कृतित्व का विशिष्ट मूल्यांकन अपेक्षित है।

सुदामाचरित खण्ड-काव्य का आदर्श ग्रन्थ है। एक छोटी और सुसंघटित कथा द्वारा, प्रसाद-पूर्ण शैली से, हृदय में विशिष्ट गूंज पैदा कर देना खण्ड-काव्य की कला है। सुदामाचरित की वह विशिष्ट गूंज है—"लोचन पूरि रहे जल सों, प्रभु दूर ते देखत ही दुःख मेट्यो"। एक दूसरी गूंज भाग्यवाद की भी मानी जा सकती है—"कै

एकमात्र साध्य है, शेष तीनों लोक रहें या नष्ट हो जाएं, रसखान को इसकी चिन्ता नहीं है। एक-निष्ठता एवं अनन्य अनुराग का कितना स्पष्ट उदाहरण है :—

सेस सुरेस दिनेस गनेस प्रजेस धनेस महेस मनावौ।
कोउ भवानी भजौ, मन की सब आस सबै विधि जाई पुरावौ॥
कोउ रमा भजि लेहु महाधन कोउ कहूं मन वाञ्छित पावौ।
प रसखान वही मेरो साधन और त्रिलोक रहो कै नसावौ॥

रसखान को केवल कृष्ण ही नहीं, अपितु कृष्ण के सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रिय है। वह 'करील के कुंजन ऊपर' 'कलधौत के कोटिक धाम' इसी सम्बन्ध-भावना के कारण न्योछावर करते हैं। वह 'लकुटि और कामरिया' पर 'तिहुं पुर को राज' अर्पित करने को उद्यत हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध कृष्ण से है :—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख, नन्द की धेनु चराय बिसारौं॥
रसखान जबै इन नैननि तें ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

तन्मयता का इससे सुन्दर निदर्शन और क्या हो सकता है? रसखान का साध्य स्वर्ग तथा मोक्ष नहीं, उन्हें तो जन्मान्तर में भी यही कामना है कि कृष्ण-चरणों का सान्निध्य उन्हें क्षण-क्षण में प्राप्त रहे—वह अपने 'आराध्य' से प्रार्थना करते हैं :—

मनुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

एक-निष्ठता एवं गहन-आस्था की कितनी सुन्दर तथा निश्छल अभिव्यक्ति हुई है उक्त सवैये में!

'सुजान रसखान' तथा रसखान कृत 'प्रेम-वाटिका' का अध्ययन-अनुशीलन करने वाले अनेक विज्ञ विद्वानों ने रसखान की भक्ति-भावना पर भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार रसखान पुष्टि-मार्ग[1] के अनुयायी माने जाते हैं। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय इन्हें नारदी[2] भक्त मानते हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विचार इस विषय में सर्वथा भिन्न है। उनका कथन है—"रसखान भक्तों की श्रेणी में बैठाये जाते हैं पर वे वस्तुतः उन्मुक्त प्रेमोन्मत्त कवि थे। इन्होंने

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड पृ० ३५७।
२. हिन्दी कवि समीक्षा—सं० डा० नगेन्द्र तथा विजयेन्द्र स्नातक—लेख—रसखान।

सुशीला—सुशीला अपने पति की अपेक्षा अधिक यथार्थ है, परन्तु उसका भी पातिव्रत प्राचीन आदर्शों की तुला पर पूरा उतरता है। वह पति से तर्क करती हुई भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती, वरन् एक वास्तविक गृहिणी के दायित्व को पूर्ण करती हुई अपने पति को गृहस्थ के समुचित स्तर की स्थापना के लिये दृढ़तापूर्वक प्रेरित करती है। इसलिए सुदामा को उसकी बात स्वीकार करनी पड़ती है। कवि ने सुशीला के माध्यम से नारी-जीवन के गृहिणी-पक्ष का आदर्श प्रस्तुत किया है। वह दयनीय दरिद्रता का अभिशाप-निवारण अनिवार्य मानती है। सुख के लिये पति को कष्ट देना वह अनुचित समझती है, पर इतनी दीनता के साथ जीवन-यापन करना भी किसी अभिशाप से कम नहीं है। इसीलिये वह कहती है—"सीत बितीतत जौ सिसियात तौ हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती।" इसके अतिरिक्त वह अपने और पति के स्वाभिमान को भी नहीं गिरने देती—"जो जनती न हितू हरि सों, तौ मैं काहे को द्वारिकै पेलि पठौती।" वह अपने पति को एक ऐसे सच्चे मित्र के पास भेजती है जिसके मन में न तो दानदाता का अहंकार है और न ही दान लेने वाले की निम्नता का बोध। सुदामा यदि ब्राह्मणत्व का आदर्श प्रस्तुत करता है तो सुशीला गृहिणीत्व का।

इस आदर्श गृहिणी में चिरन्तन नारी के गुण और दोष दोनों ही झलकते हैं। वह पूर्णतः पति-अनुगामिनी अवश्य है, पर "साहस, चपलता, और माया" जैसे तुलसी बाबा की निर्धारित दोषावली के कुछ अंश भी उसमें अवश्य मिलते हैं और लोक प्रसिद्ध 'त्रियाहठ' का उदाहरण भी उसमें मिलता है। निर्धन होकर भी वह पड़ोस में अपना प्रभाव और सम्मान रखती है। पति के रोष से परास्त न होकर उसे द्वारिका भेज कर अपना मनोरथ पूर्ण करवा कर ही मानती है,—यह है उसका साहस और हठ। पति से तर्क में उसकी कुछ चपलता झलकती ही है। समृद्धि पाते ही उसका शृंगार निखर उठता है और तपोनिधि द्विजदेव कंचन और कामिनी के रंग में रंग उठते हैं। कवि नरोत्तम ने सुशीला के ही माध्यम से कामिनी की आकर्षण-शक्ति को भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है :—

करि सिंगार पिय पै गई पान खात मुस्कात।

यही है नारी का माया-रूप। इसी के अधीन होकर सुदामा ने आरंभ में कहा था—"जौ न कह्यो करिवो तौ बड़ो दुःख" और इसी के प्रति वे अन्त में कहते हैं—"जो पै पतिव्रत तू न देती उपदेस तो पै, एती कृपा मो पै द्वारिकेस कब करते।" सुशीला के हाव-भावों की भी (उसकी वाक् कुशलता के अतिरिक्त) कवि ने अनेक स्थलों पर व्यंजना की है—"पान खात मुस्कात" हरिहि समर्पौ कंत अब कह्यो मंद हँसि बाम" सुशीला के नारी-तत्त्व के लिये 'त्रिया', 'भामिनी', 'बामा' आदि शब्दों का प्रयोग भी

भी इसके अपवाद नहीं हैं। अतः रसखान को कृष्ण भक्त कवियों में, सूरदास, नंददास, मीरा आदि की श्रेणी में रखा जाना चाहिये।

भक्ति-भावना के साथ-साथ 'सुजान रसखान' में 'शृंगार रस' का भी अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है। कृष्ण और गोपियों की प्रणय-लीलाओं के माध्यम से शृंगार रस की अत्यन्त सुन्दर एवं गम्भीर अभिव्यंजना हुई है। रसखान प्रेम के अवतार थे, रस की खान थे, अतः उनके काव्य में केवल परम्परा पालन के लिये शृंगार रस का वर्णन नहीं हुआ अपितु कवि की गहन-शृंगार अनुभूतियां व्यंजित हुई हैं।

शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—में से 'सुजान रसखान' में संयोग की ही प्रधानता है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत नायिका का रूप वर्णन, नायक से मिलन, हास-परिहास, वन-विहार, जल-विहार तथा अन्य विविध क्रीड़ाओं का वर्णन इसमें उपलब्ध है। 'सुजान रसखान' में राधा के रूप की मोहक छवि का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। रसिक रसखान ने राधा के अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता का चित्रण करने में अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है। राधा की वयःसन्धि का एक मधुर चित्र प्रस्तुत है :—

बाँकी भरोरि गही भृकुटीन, लगी अखियां तिरछान तिया की।
टाँक सी लाँक भई रसखानि, सुदामिनी तें दुति दूनी हिया की॥
सोहैं तरंग अनंग की अंगनि ओप उरोज उठी छतियां की।
जोवन-जोति सु यौं दमकै, उसकाई दई मनो बाती दिया की॥

रूप-राशि-राधा के अंग-अंग के विकास का कैसा स्वाभाविक वर्णन है। भौंह में तनाव, नयनों में वक्रता, कटि की क्षीणता, अंग-प्रत्यंग में काम की तरंग, हृदय में मीठी-मीठी पुलकन, उरोजों का स्वाभाविक विकास और अन्त में नवागत-यौवन की कान्ति, जैसे दीप की बत्ती को 'उकसा' दिया गया हो। कितना मादक तथा मृदुल है—राधा का यह रूप! राधा के शरीर की कोमलता, अंगों की सुकुमारता, मुख की मंजुल छवि, उरोजों की उन्नतता, नेत्रों की दीर्घता एवं वक्रता तथा कटि की क्षीणता का मनोमुग्धकारी वर्णन एक अन्य सवैये में भी प्राप्य है :—

यह जा को लसै मुख चन्द समान कमान सी भौंह गुमान हरै।
अति दीरघ नैन सरोज हूं ते मृग खंजन मीन की पाँति दरै॥
रसखान उरोज निहारत ही मुनि कौन समाधि न जाहि टरै।
कहि नीके नवै कटि हार के भार सौं, तासों कहै सब काम करै॥

सचमुच मुनियों की समाधि को भंग करने वाला, यह सम्मोहक रूप था—राधा का!

कृष्ण, राधा की इस अनुपम सुन्दरता एवं नयनाभिराम छवि पर मुग्ध हैं। इधर राधा भी कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने को आकुल है। कृष्ण का आकर्षक

वन्दना भगवान् के रूप में ही की है—"शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हाथ हैं" पौराणिक परम्परा के अनुसार वे विष्णु के अवतार हैं और सुदामा का दीनता के दानव से उद्धार करके 'परित्राणाय साधूनां' का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनकी माया-शक्ति और अलौकिक कृत्यों का प्रकाशन अनेक कथा-प्रसंगों में हुआ है—सोते हुए सुदामा को गोमती के तीर पर ला धरना, बात की बात में द्वारिकापुरी से भी भव्य सुदामा पुरी की रचना कर देना, ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रमा आदि देव-देवियों तथा सृष्टि-सिद्धियों पर शासन करना, इत्यादि। यह कृष्ण का परम्परागत पौराणिक स्वरूप ही है। इसी में सुदामा के प्रति उनका आर्द्र भाव, साथ ही मैत्री के कारण उसके प्रति विनोद-भाव भी तुलसी द्वारा प्रवर्तित मानवीय वपु में भगवान् की लीला जैसे उदाहरण हैं।

सुदामा चरित के कृष्ण ही नहीं; उनका समस्त परिकर भी वल्लभीय गोलोक के समान, अलौकिक छटा से युक्त है। उनकी द्वारावती 'दिव्य' है, जिसके दर्शन से दीन सुदामा सनाथ होते हैं, उनकी भार्या रुक्मिणी कमला (लक्ष्मी) की अवतार है। उनका द्वारपाल असामान्य रूप से शिष्ट है और उनके पुरवासी भी "देवता से बैठे सबै साधि-साधि मौन हैं।" सुदामा पांडे का नाम सुनते ही उनका राज-काज छोड़ कर दौड़े आना, 'गणिका-गीध-गज-अजामिल-द्रौपदी' आदि की पुकार पर दौड़ कर आने जैसा प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस प्रकार कृष्ण का चरित्र अलौकिकता की ओर ही अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है, पर यह पाषाणी अलौकिकता नहीं, मानवीय स्पन्दनों से पुलकती अलौकिकता है। इसमें माया-तत्त्व है, दया है और विनोद-प्रियता भी है। यह गोकुल के कृष्ण से भिन्न द्वारकाधीश की झांकी है। यहाँ रास की विशाल वनस्थली नहीं है, वरन् मर्यादा और अनुशासन का राजदरबार है। यहाँ किसी राक्षस का वध करने के लिये 'अमोघ शर' भी नहीं है, वरन् आँसुओं के जल से मित्र के पग धो देने वाली परात है। अतः हिन्दी भक्तिकाव्यधारा में प्रवर्तित राम और कृष्ण के चरित्र की परम्परा से भिन्न यह सुदामा चरित्र के कृष्ण का चरित्र है। इसमें श्रीमद्भागवत का नया ही अध्याय विशदता के साथ उद्घाटित हुआ है। एक छोटे से कवि का, एक छोटी सी कृति द्वारा, परम्परा-परिवर्तन का यह प्रयास उसके बड़प्पन का द्योतक है।

व्यष्टि के चरित्र-चित्रण के साथ ही समष्टि के चरित्र की भी कुछ सुन्दर झलकियाँ सुदामाचरितकार ने प्रस्तुत की हैं, तथा श्रेष्ठ नगरी के पुरवासियों का शीलस भाव, परिवार के सदस्यों का स्वभाव, पड़ोस का भाईचारा इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि नरोत्तम कवि मानव-स्वभाव के निपुण पारखी और कुशल चितेरे थे। प्रबन्धकार आदि की सफलता के लिये ये गुण अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

चित्रात्मक वर्णन-शैली

सुदामा चरित्र में मनःस्थियों के सजीव चित्र और परिस्थितियों का नाटकीय निरूपण भी दर्शनीय है। मुख्य रूप से काव्य-नायक सुदामा के मनोजगत् के कुछ चित्र

आज हौं निहार्‌यौ वीर निपट कलिन्दी तीर
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयां, दोऊ लेत हैं बलैयां, उन्हें
भूलि गई गैयां, उन्हें गागर उचाइबो॥

प्रेम-मिलन में ऐसी आत्म-विस्मृति स्वाभाविक ही है। मिलन के इन अवसरों पर नायक-नायिका परस्पर शारीरिक सुख का विनिमय करते हैं। इसी के अन्तर्गत रसखान में 'सुरत' 'सुरतान्त' आदि का वर्णन किया है। ऐसे ही स्थलों पर 'सुजान रसखान' में अश्लीलता आ गई है।

संयोग वर्णन के प्रसंग में नायक-नायिका के हास-परिहास तथा क्रीड़ाओं का भी वर्णन हुआ है। सुजान रसखान में 'चौपड़' खेलने का अत्यन्त मनोहारी एवं रसमय चित्र अंकित है। दधिदान, तथा कुंज लीला प्रसंगों में नायिका के 'विहार' का वर्णन है। कालिन्दी-कूल, चन्द्रिका-स्नात-रजनी, बांसुरी की मादक स्वर लहरी और लता-कुंज ये सभी संयोग श्रृंगार के उद्दीपन बनकर आये हैं। बसन्त ऋतु का वर्णन भी श्रृंगार रस को उद्दीप्त करने के लिये किया गया है। संयोग के अन्तर्गत 'होली' का 'सुजान रसखान' में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'होली' वर्णन में कवि का हृदय विशेष रूप में रमा है। एक से एक सरस एवं अनूठे सवैये 'होली' के विषय में 'सुजान रसखान में प्राप्य हैं :—

मिलि खेलत फाग बढ़्यो अनुराग सुराग सनीं सुख की रमकैं।
कर कुंकुम लै करि कंज मुखी प्रिय कै हग लावन को झमकैं॥
रसखान गुलाब की घूंघर में ब्रज बालन की द्युति यों दमकैं।
मनो सावन सांझ ललाई के मांझ चहूँ दिसि तें चपला चमकैं।

निष्कर्ष यह है कि रसखान ने 'सुजान रसखान' में शृंगार के संयोग पक्ष के अन्तर्गत नायक-नायिका के अंग-प्रत्यंग की छवि का, उनके तारुण्य के विकास और रूप की माधुरी का अत्यन्त सरस वर्णन किया है। स्वच्छन्द-विहार तथा उन्मुक्त मिलन के मादक चित्र कवि ने चित्रित किये हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन नायक-नायिका के संयोग-सुख की अभिवृद्धि के साधन रूप में हुआ है।

रसखान संयोग एवं मिलन के कवि हैं। विरह का वर्णन उन्होंने अत्यल्प ही किया है। पर स्वल्प होते हुए भी उनके विरह-वर्णन में गाम्भीर्य है। वियोग शृंगार में—पूर्व-राग, मान, प्रवास और करुण इन चार स्थितियों का वर्णन हुआ करता है। नायक को देखकर अथवा उसके चित्र के दर्शन कर या गुणों को श्रवण करके नायिका के हृदय में जिस राग का उदय होता है—उसे 'पूर्व-राग' कहते हैं। यद्यपि पूर्व-राग में "मिलि के बिछुड़े" की स्थिति नहीं होती और इसे 'वियोग' के अन्तर्गत माना जाना निर्विवाद भी नहीं है, तथापि परम्परा से इसे 'वियोग' के अन्तर्गत ही माना जाता है। 'सुजान रसखान' में कई सवैये पूर्व-राग के सम्बन्ध में प्राप्य हैं :—

वन्दना भगवान् के रूप में ही की है—"शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हाथ हैं" पौराणिक परम्परा के अनुसार वे विष्णु के अवतार हैं और सुदामा का दीनता के दानव से उद्धार करके 'परित्राणाय साधूनां' का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनकी माया-शक्ति और अलौकिक कृत्यों का प्रकाशन अनेक कथा-प्रसंगों में हुआ है—सोते हुए सुदामा को गोमती के तीर पर ला धरना, बात की बात में द्वारिकापुरी से भी भव्य सुदामा पुरी की रचना कर देना, ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रमा आदि देव-देवियों तथा सृष्टि-सिद्धियों पर शासन करना, इत्यादि। यह कृष्ण का परम्परागत पौराणिक स्वरूप ही है। इसी में सुदामा के प्रति उनका आर्द्र भाव, साथ ही मैत्री के कारण उसके प्रति विनोद-भाव भी तुलसी द्वारा प्रवर्तित मानवीय वपु में भगवान् की लीला जैसे उदाहरण हैं।

सुदामा चरित के कृष्ण ही नहीं; उनका समस्त परिकर भी वल्लभीय गोलोक के समान, अलौकिक छटा से युक्त है। उनकी द्वारावती 'दिव्य' है, जिसके दर्शन से दीन सुदामा सनाथ होते हैं, उनकी भार्या रुक्मिणी कमला (लक्ष्मी) की अवतार है। उनका द्वारपाल असामान्य रूप से शिष्ट है और उनके पुरवासी भी "देवता से बैठे सबै साधि-साधि मौन हैं।" सुदामा पांडे का नाम सुनते ही उनका राज-काज छोड़ कर दौड़े आना, 'गणिका-गीध-गज-अजामिल-द्रौपदी' आदि की पुकार पर दौड़ कर आने जैसा प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस प्रकार कृष्ण का चरित्र अलौकिकता की ओर ही अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है, पर यह पाषाणी अलौकिकता नहीं, मानवीय स्पन्दनों से पुलकती अलौकिकता है। इसमें माया-तत्त्व है, दया है और विनोद-प्रियता भी है। यह गोकुल के कृष्ण से भिन्न द्वारकाधीश की झांकी है। यहाँ रास की विशाल वनस्थली नहीं है, वरन् मर्यादा और अनुशासन का राजदरबार है। यहाँ किसी राक्षस का वध करने के लिये 'अमोघ शर' भी नहीं है, वरन् आँसुओं के जल से मित्र के पग धो देने वाली परात है। अतः हिन्दी भक्तिकाव्यधारा में प्रवर्तित राम और कृष्ण के चरित्र की परम्परा से भिन्न यह सुदामा चरित्र के कृष्ण का चरित्र है। इसमें श्रीमद्भागवत का नया ही अध्याय विशदता के साथ उद्घाटित हुआ है। एक छोटे से कवि का, एक छोटी सी कृति द्वारा, परम्परा-परिवर्तन का यह प्रयास उसके बड़प्पन का द्योतक है।

व्यष्टि के चरित्र-चित्रण के साथ ही समष्टि के चरित्र की भी कुछ सुन्दर झलकियाँ सुदामाचरितकार ने प्रस्तुत की हैं, तथा श्रेष्ठ नगरी के पुरवासियों का शीलस भाव, परिवार के सदस्यों का स्वभाव, पड़ोस का भाईचारा इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि नरोत्तम कवि मानव-स्वभाव के निपुण पारखी और कुशल चितेरे थे। प्रबन्धकार आदि की सफलता के लिये ये गुण अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

चित्रात्मक वर्णन-शैली

सुदामा चरित्र में मनःस्थियों के सजीव चित्र और परिस्थितियों का नाटकीय निरूपण भी दर्शनीय है। मुख्य रूप से काव्य-नायक सुदामा के मनोजगत् के कुछ चित्र

और निर्बाध प्रवाह 'सुजान रसखान' के प्रत्येक सवैये में प्राप्य है। 'सुजान-रसखान' की भाषा की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मुहावरे और कहावतों का स्वाभाविक एवं सार्थक प्रयोग ! जलहीन ह्वै मीन सी, मोल छला के लला न बिकैहों, नाहि उपजैगो बाँस नाहि बाजे फिरि बाँसुरी, डीठि बचाई कै, डीठि सों डीठि मिली, इतरान लग्यो, छाती सिराई, नेम कहा जब प्रेम कियो—आदि लोकोक्तियों का अत्यन्त रसमय प्रयोग हुआ है। मुहावरे और लोकोक्तियों का लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कवि अपनी साहित्यिक भाषा में मुहावरों आदि के प्रयोग से जन-साधारण को भी अपनी बात सहज में कह लेता है। रसखान ने भी 'सुजान-रसखान' में लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग द्वारा अपने भावों को जन-जन तक प्रेषित करने में सफलता प्राप्त की है। 'सुजान रसखान' में अनेक सुन्दर सुखद एवं कोमल प्रतीकों की भी योजना हुई है। रसखान शृंगार एवं मिलन के कवि हैं। इसलिये शृंगार-प्रधान प्रतीक प्रचुर संख्या में 'सुजान रसखान' में उपलब्ध हैं। 'सुधा की सुता', 'इन्द्र वधू', 'दामिनी सावन के घन में,' बाती दिया की, माखी मधु की—इत्यादि—उक्त सभी प्रतीक बहुत ही कोमल एवं रमणीय हैं, भाव-गर्भित तथा चित्रमय हैं।

हिन्दी के अनेक समालोचकों ने सुजान-रसखान की भाषा की एक स्वर से प्रशंसा की है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"व्रज भाषा का सरस और स्वाभाविक रूप इनकी रचना में बड़े व्यवस्थित रूप में मिलता है उसमें किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं है।"[1] आचार्य शुक्ल भी लिखते हैं—"इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडम्बर-मुक्त होती थी। शुद्ध व्रज भाषा का जो चलतापन और सफ़ाई रसखान और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है"।[2] आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय रसखान की भाषा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—"रसखान की भाषा के बारे में मौन रहना ही अच्छा है। बोलती हुई भाषा के बारे में अपनी ओर से कुछ बोलना ठीक नहीं होता। रसखान की भाषा चलती हुई, सरस और सरस सुबोध व्रज की भाषा है—और है सर्वथा स्वच्छ निर्मल और निर्दोष"।[3] निस्सन्देह समालोचकों के उपरि लिखित कथन 'सुजान रसखान' के भाषा—सौष्ठव के अनुरूप ही हैं। सचमुच 'सुजान रसखान' में भाषा का आदर्श रूप है।[4] यद्यपि 'सुजान रसखान' की भाषा सहज, सरल एवं अकृत्रिम है तथापि उसमें कई अलंकारों का भी प्रयोग सहज रूप में हो गया है। महान् कवियों की वाणी स्वतः अलं-

१. डा० रामकुमार वर्मा :—हिन्दी सा० का आलो० इति० पृ० ८५१।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :—हिन्दी सा० का इति० पृ० १९२।
३. "हिन्दी कवि समीक्षा" सं० डा० नगेन्द्र तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक, द्रष्टव्य रसखान नामक लेख।
४. "रसखान की काव्य कला" का भाषा-सौष्ठव अध्याय देखिये।

विराजते" गृहपति, "चन्दन घसिकै भाल पै तिलक देत" भद्रवेष द्विजराज, आदि की आंगिक चेष्टाएँ और मुख मुद्राएँ इस काव्य में नाटकीय विभूति को विकीर्ण करती हैं। इन्हीं के साथ वेश की भी विभिन्न स्थितियों का चित्रण बड़ा मनोरंजक प्रतीत होता है, जैसे—"सीस झगा न पगा," में दीन ब्राह्मण सुदामा और "अंग-अंग जराऊ जेवर साजे" तथा "किनारीदार जरतारी सारी" ओढ़े सुदामापुरी की रानी सुशीला, तथा ऐसे ही अन्य अनेक चित्र कवि की वर्णनात्मक शक्ति को प्रकट करते हैं। इनमें आंगिक, वाचिक, आहार्य आदि अभिनय-शैलियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं।

इनके अतिरिक्त जीवन के विषम और विपरीत दृश्यों की योजना भी चित्रात्मक सौन्दर्य से युक्त है। वैभव और दारिद्र्य, राजमहल और कुटी, राजसभा और कच्चा आंगन,'उपानह हीन पाँय' और 'गजराज लेकर खड़े महावत,''फूटी कठौती' और 'रूपे के थाल' अंधेरे और उजाले का आकर्षक सम्मिलन उपस्थित करते हैं। नरोत्तम कवि काव्य में वर्णित वस्तुओं और पदार्थों को इस प्रकार सामने लाये हैं कि उनका वर्ण, आकार, स्पर्श, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों को तरंगित कर देते हैं। सुगृहिणी सत्यभामा की रसोई का षट्रस व्यंजन युक्त चित्र इसके लिए दर्शनीय है, जिसमें "पायस सहित सिता," "फूले-फूले फुलका," "पहीति भात" "सोंधो सुरभी को घृत," "पापर, मुंगौरी, बरी, व्यंजन," आदि और पीछे से "कंद की पछियावर" मानो अन्नमय-कोष को आनन्दमय-कोष तक पहुँचाने के उपक्रम हैं।

सुदामा चरित में खण्डकाव्य की सीमाओं के भीतर गुणों की दृष्टि से महाकाव्यों जैसा उत्कृष्ट वस्तु वर्णन है जिसमें पदार्थों की बहुलता, प्रत्यक्षता, नवीनता, व्यवस्था आदि ध्यान आकर्षित करती है। कवि ने झोंपड़ी, महल, मार्ग, नगर, राजसभा, अन्तःपुर, रसोई, शयन-कक्ष आदि के रोचक चित्र प्रस्तुत किये हैं। दो उदाहरण दर्शनीय हैं। एक नई सुदामापुरी का—"जगर मगर जोति छाय रही चहुँ ओर" जिसमें हाथी-घोड़ों के शोर, चौपड़ बाजार और महल दुकान की कतार है, और दूसरा पुरानी सुदामापुरी का वस्तु वर्णन है—" फूटी एक थारी, बिन टोंटनी की झारी।" इस प्रकार सुदामा चरित के वस्तु वर्णन गुण में महकाव्यों के समकक्ष हैं और आकार में खण्डकाव्य के अनुकूल।

नाट्यगुण एवं संवाद-योजना

सुदामा चरित के नाट्य गुण की चर्चा पहले भी की जा चुकी है। वास्तव में यह गुण प्रबन्धकाव्य का बड़ा सहायक और उसके कवित्व का उत्कर्ष करने वाला होता है। सुदामा चरित की सम्पूर्ण कथा नाटकीय परिस्थितियों से भरपूर है। इनमें से सब से अधिक नाटकीय परिस्थिति सुदामा के भ्रम की है और कथा के चरम बिन्दु (क्लाइमेक्स) पर इस की स्थापना कवि के कथा-कौशल को प्रकट करती है। सुदामा सोचते हैं कि कहीं मैं मार्ग भूलकर फिर द्वारिका ही तो नहीं आ गया हूँ, अपनी ही पुरी के पुरवासी

और निर्बाध प्रवाह 'सुजान रसखान' के प्रत्येक सवैये में प्राप्य है। 'सुजान-रसखान' की भाषा की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मुहावरे और कहावतों का स्वाभाविक एवं सार्थक प्रयोग ! जलहीन ह्वै मीन सी, मोल छला के लला न बिकैहों, नाहि उपजैगो बाँस नाहि बाजे फिरि बाँसुरी, डीठि बचाई कै, डीठि सों डीठि मिली, इतरान लग्यो, छाती सिराई, नेम कहा जब प्रेम कियो—आदि लोकोक्तियों का अत्यन्त रसमय प्रयोग हुआ है। मुहावरे और लोकोक्तियों का लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कवि अपनी साहित्यिक भाषा में मुहावरों आदि के प्रयोग से जन-साधारण को भी अपनी बात सहज में कह लेता है। रसखान ने भी 'सुजान-रसखान' में लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग द्वारा अपने भावों को जन-जन तक प्रेषित करने में सफलता प्राप्त की है। 'सुजान रसखान' में अनेक सुन्दर सुखद एवं कोमल प्रतीकों की भी योजना हुई है। रसखान शृंगार एवं मिलन के कवि हैं। इसलिये शृंगार-प्रधान प्रतीक प्रचुर संख्या में 'सुजान रसखान' में उपलब्ध हैं। 'सुधा की सुता', 'इन्द्र वधू', 'दामिनी सावन के घन में,' बाती दिया की, माखी मधु की—इत्यादि—उक्त सभी प्रतीक बहुत ही कोमल एवं रमणीय हैं, भाव-गर्भित तथा चित्रमय हैं।

हिन्दी के अनेक समालोचकों ने सुजान-रसखान की भाषा की एक स्वर से प्रशंसा की है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"ब्रज भाषा का सरस और स्वाभाविक रूप इनकी रचना में बड़े व्यवस्थित रूप में मिलता है उसमें किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं है।"[1] आचार्य शुक्ल भी लिखते हैं—"इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडम्बर-मुक्त होती थी। शुद्ध ब्रज भाषा का जो चलतापन और सफ़ाई रसखान और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है"।[2] आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय रसखान की भाषा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—"रसखान की भाषा के बारे में मौन रहना ही अच्छा है। बोलती हुई भाषा के बारे में अपनी ओर से कुछ बोलना ठीक नहीं होता। रसखान की भाषा चलती हुई, सरस और सरस सुबोध ब्रज की भाषा है—और है सर्वथा स्वच्छ निर्मल और निर्दोष"।[3] निस्सन्देह समालोचकों के उपरि लिखित कथन 'सुजान रसखान' के भाषा—सौष्ठव के अनुरूप ही हैं। सचमुच 'सुजान रसखान' में भाषा का आदर्श रूप है।[4] यद्यपि 'सुजान रसखान' की भाषा सहज, सरल एवं अकृत्रिम है तथापि उसमें कई अलंकारों का भी प्रयोग सहज रूप में हो गया है। महान् कवियों की वाणी स्वतः अलं-

१. डा० रामकुमार वर्मा :—हिन्दी सा० का आलो० इति० पृ० ८५१।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :—हिन्दी सा० का इति० पृ० १९२।
३. "हिन्दी कवि समीक्षा" सं० डा० नगेन्द्र तथा डा० विनयेन्द्र स्नातक, द्रष्टव्य रसखान नामक लेख।
४. "रसखान की काव्य कला" का भाषा-सौष्ठव अध्याय देखिये।

रस 'भक्ति' के आश्रित हो गया है। भक्त प्रवृत्ति के पाठक इस के अंतिम प्रभाव को भक्ति के रूप में ग्रहण करेंगे और सामान्य जन भाग्य की लीला या चमत्कार के रूप में। रस की स्थिति में इतना परिवर्तन सहृदय के संस्कारों के आधार पर होता ही है।

भाषा—छन्द—अलंकार

भाषा—भाषा पर सुदामा चरित के कवि का पूर्ण अधिकार है, व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से भी और काव्य-शास्त्र की दृष्टि से भी। भाषा का मुख्य गुण अथवा सार्थकता उसकी अभिव्यंजकता में होता है, और इस आधार पर शब्दों की विकृति या व्याकरण का उल्लंघन भी क्षम्य मान लिया जाता है। सुदामा चरित में अनेक पाठभेद भी प्रचलित हैं, इसलिये अनेक त्रुटियों के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा भी नहीं जा सकता। सामान्य रूप से उसकी भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ रसास्वादन और संस्कृत-रुचि में विघ्न उपस्थित नहीं करतीं। कुछ साधारण त्रुटियाँ भाषा के तोड़-मरोड़, घरेलू प्रयोगों और तुकपूर्तियों के रूप में अवश्य लक्षित होती हैं, यथा "सामां," "खखेट्यो," "मित्रई," "विचित्रई," "अगत्रई," "पित्रई," "विरधापन," "घौं को," "औं को," आदि। पर ये त्रुटियाँ सुदामा चरित के भाषा-प्रवाह में नगण्य हैं, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भाषा को दरेरा देकर" अपनी बात को मनचाहे ढंग से कहलवा लेने की शक्ति को भी प्रकट करती हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने सुदामा चरित की भाषा में "भाव और भाषा का पूर्ण सामंजस्य" लक्षित किया है, यही उसकी सफलता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी इसकी भाषा को "बहुत ही व्यवस्थित और परिमार्जित" बतलाया है, यही उसकी श्रेष्ठता है।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसकी भाषा का मुख्य गुण उसकी प्रसादमयता है। प्रवाह, सहजता, और देश-काल तथा पात्र के अनुसार उचित शब्द-चयन उसकी सफलता के प्रमाण हैं। वैभव और दीनता तथा सभा और परिवार के अनुरूप शैली-वैविध्य कवि की कुशलता का ज्ञापक है। एक ओर पति-पत्नी के वार्तालाप का घरेलूपन मन को मोह लेता है, तो दूसरी ओर राजकीय वैभव के बीच पुलकती शब्दावली हृदय के उल्लास को व्यक्त करती है। एक ओर अनेक लोकप्रचलित अथवा ग्रामीण शब्द हैं, यथा—झरण, पण, छानी, कनावड़ो, बूट, खूंट, जक, बापुरी आदि, तो दूसरी ओर सुसंस्कृत नागरिक शब्दावली भी है, यथा—द्वारावती, सुवर्नमई, वसुधा, अभिराम, सन्ताप, रस भीने, सुषमा, पायस इत्यादि। कुछ अप्रचलित अर्थात् प्रयोग-बहिष्कृत शब्दों का प्रयोग भी दर्शनीय है—उपानह, चरसार, पहोति आदि। गृहपति सुदामा और गृहिणी सुशीला के लिये भिन्न परिस्थितियों में भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—'विप्र,' 'ब्राह्मण,' 'द्विज,' 'ब्रम्हना,' और 'घरनी,' 'तिय,' 'वाम,' आदि। परिस्थिति के अनुसार कुछ अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग भी भाषा-सौन्दर्य के सम्बन्ध संवर्धक हैं—सिसियात, मिठौती, जगर-मगर, धकापेल, खखेट्यो, इत्यादि। मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रचुरता ने इसकी भाषा को जनसामान्य के समीप पहुँचाने में विशेष सहयोग दिया है—"सिद्धि

(क) नैन दललानि चौहरें मन-मानिक पिय हाथ ।

(ख) रहिये इमि या मन-बागर में ।

इनके अतिरिक्त प्रतीप, विरोधाभास, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, व्यतिरेक, सन्देह-आदि अलंकारों के उदाहरण भी 'सुजान रसखान' में मिलते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि 'सुजान रसखान' में अनुभूति पक्ष की ही प्रधानता है, तथापि उसका अभिव्यक्ति पक्ष भी दुर्बल नहीं है । रसखान की भाषा जहाँ सरल एवं सहज है वहाँ उसमें संगीतात्मकता एवं चित्रमयता का भी प्राचुर्य है—जो क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के प्रयोग द्वारा सम्भव है । अलंकार रसखान की भावाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

कलापक्ष के अन्तर्गत छन्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसलिए रसखान की छन्द योजना पर भी विचार करना अपेक्षित है । रसखान प्रेम एवं शृंगार के कवि हैं, अतः उन्होंने अपने विषय के अनुरूप ही छन्दों का चयन किया है । सुकोमल अनुभूतियों को तदनुकूल छन्दों में ही रसखान ने अभिव्यंजित किया है । यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि जहाँ सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति काव्य में 'गीत रचना की प्रधानता है वहाँ रसखान ने गीत पद्धति का त्याग करके कवित्त-सवैया को अपनाया है । 'सुजान रसखान' में प्रयुक्त उक्त दो छन्दों के अतिरिक्त दोहा का भी अल्प-सा प्रयोग हुआ है । 'सुजान रसखान' के सवैयों में अनोखा लचीलापन, अनूठी मस्ती और झंकार है । अक्षर-मैत्री, मधुर एवं कोमल वर्णों का प्रयोग, अनुप्रासों की छटा, और वीप्सा के प्राचुर्य ने रसखान के सवैयों में माधुर्य भर दिया है । तुक का सार्थक एवं सफल निर्वाह जैसा 'सुजान रसखान' में हुआ है वैसा ब्रज भाषा के बहुत कम कवियों के काव्य में मिलता है । सस्वरता, पद-बन्धों की कसावट, वृत्यनुप्रास एवं श्रुत्यनुप्रास की प्रचुरता 'स' वर्ण और 'रेफ़' की बहुलता—आदि के द्वारा रसखान के छन्द सचमुच रस की खान बन गये हैं ।

'सुजान रसखान' में अधिकतर 'मत्तगयन्द', दुर्मिल और किरीट सवैयों तथा मनहरण कवित्तों का ही प्रयोग हुआ है । कवित्तों की संख्या यद्यपि कम है—पर कवि की प्रयोग निपुणता के वे चरम निदर्शन माने जा सकते हैं । 'सुजान रसखान' के सवैयों में मृदुता, लोच, झंकृति और हृदय को छूने की अद्भुत शक्ति है । एक ओर उनमें निर्बाध गतिशीलता है तो दूसरी ओर वे माधुर्य से ओत-प्रोत हैं । सवैया छन्द की सुन्दरतम योजना के कारण रसखान और सवैया एक दूसरे के 'पर्याय' बन गये थे । तत्कालीन सहृदय-जन किसी से सवैया सुनने के लिए कहा करते थे—"कोई रसखान सुनाओ" ।[१] रसखान कवित्त (सवैया—घनाक्षरी) के ही कवि हैं । यद्यपि दो एक सवैयों में गति भंग, और एक में अर्थ की अन्विति का अभाव भी है तथापि इस छन्द की प्रयोग-कुशलता की दृष्टि से बहुत कम कवि इनकी तुलना में ठहर सकते हैं ।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी सा० का इति० पृ० १६२ ।

'अनघ', 'पंचवटी', 'जयद्रथवध' आदि की परम्परा का पूर्वाभास देता सा प्रतीत होता है और मध्य और आधुनिक युग की एक नन्ही शृंखला का सा कार्य कर रहा है। देखा जाये तो इसमें पंत की 'परिवर्तन' कविता का आख्यान-रूप झलकता मिलेगा। कवि का विशेष श्रेय इस बात में है कि उसने बल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य और विट्ठल के युग में ही उनसे पृथक् द्वारिकाधीश कृष्ण की काव्य-परम्परा का प्रवर्तन करते हुए रामशाखा और कृष्णशाखा को एक ही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया था, पर वह इस क्षेत्र में अकेला था और उसके अकेले कन्धे इस गुरुतर दायित्व के लिए अत्यन्त क्षीण थे।

सुदामाचरित के गुण सन्निपात में उसके अकिंचन दोष निमज्जित ही प्रतीत होते हैं, विशेषकर जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि उसकी रचना किशोर-वय पाठकों के लिए हुई है। उनमें मैत्री का आदर्श और भक्ति का बीजांकुर आरोपित करना ही इसके काव्य का ध्येय है। इसके कुछ दोष सर्वथा प्रत्यक्ष हैं—एक ही स्थान पर दोहों की अधिकता, भाषा-शैली में अप्रचलित और विकृत शब्दों का प्रयोग, तथा कृष्ण के चरित्र में अलौकिक तत्त्व। यह अलौकिक तत्त्व किशोर मानस के अनुकूल ही बैठता है और इसके अति प्राकृतत्व की ओर सामान्यतः उनका ध्यान भी नहीं पहुँच सकता। कुछ दोषों के होते हुए भी सुदामाचरित का सम्पूर्ण और अन्तिम प्रभाव मनोरंजकता, रोचकता, और आह्लादता ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अपने निम्नांकित गुणों के कारण सुदामा चरित का स्थान हिन्दी साहित्य के इतिहास और परम्परा में निस्सन्देह अक्षुण्ण रहेगा :—

(१) यह एकदेशानुसारि खण्ड-काव्य का आदर्श या लक्ष्य ग्रन्थ बन सका है।

(२) नाटकीयता इसकी शैली का विशेष गुण है, जिसका प्रकाशन दृश्यों के विवरण, पात्रों की मुद्राओं और वेश के चित्रण, परिस्थिति-वैचित्र्य और सम्वाद-योजना में हुआ है।

(३) भाव और भाषा का सहज सामंजस्य इसके कवित्व की सफलता है। भावपक्ष में विनोद, करुणा, भक्ति, हर्ष और विस्मय की व्यंजना तथा कलापक्ष में सहज अलंकृति, छन्द-गेयता और सरल कवित्त इसकी सफलता के मानदण्ड हैं। इसमें अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है जिसकी परिणति भक्ति में हुई है।

(४) पारिवारिक पाठ और लीला-मंच, दोनों ही माध्यमों से, उसका प्रयोग जन-जीवन में मनोरंजन और भगवदाराधन की आवश्यकता को पूर्ण करता है।

(५) हिन्दी के स्वर्णयुगीन भक्ति-काव्य में कृष्णशाखा के अन्तर्गत इसने द्वारिकाधीश कृष्ण की सख्य-भक्ति की परम्परा को प्रवर्तित करने का प्रयास किया है।

(६) यह काव्य किशोर-साहित्य का उत्कृष्ट मानदण्ड प्रस्तुत करता है।

(७) इस कवि का कुछ और साहित्य भी होना ही चाहिये,—विचारमाला और ध्रुवचरित। उस शेष साहित्य के तथा कवि के जीवन-वृत्त संग्रह की आवश्यकता है।

१७

रामचन्द्रिका

प्रो० रामलाल सावल

हिन्दी में रीति-शास्त्र के प्रवर्त्तक और प्रथम आचार्य महाकवि केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की रचना कर हिन्दी-साहित्य को एक अनूठे महाकाव्य की भेंट की। पद्य-काव्य के दोनों प्रधान रूपों—मुक्तक और प्रबन्ध काव्यों पर केशव के कवि का समान अधिकार था। उनकी 'रसिक-प्रिय' और 'कवि-प्रिया' जहाँ काव्य-शिक्षा की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती हैं, वहाँ मुक्तक काव्य-रचना की दृष्टि से भी ये दोनों कृतियां साहित्य की अपूर्व निधि हैं। सच तो यह है कि इन दोनों ही रचनाओं में केशव की कवि-प्रतिभा का समुज्ज्वल विकास हुआ है। क्या भाव, क्या भाषा, क्या शब्द-विन्यास, क्या भाव-व्यञ्जना किसी भी तुला पर इन दोनों को तोल लीजिये, ये पूरी उतरती हैं; वस्तुतः केशव का काव्यत्व जिस प्रकार इन दोनों ग्रंथों में निखरा है उस प्रकार उनकी किसी अन्य रचना में नहीं निखर सका। ये दोनों रचनाएं ही केशव के सम्बन्ध में 'कविता करता तीन हैं तुलसी केशव सूर' कथा को प्रमाणित करने में सर्वथा समर्थ हैं। मुक्तक काव्य-रचना में केशव की अमर ख्याति की ये दोनों रचनाएं तो दृढ़ आधार हैं ही, प्रबन्ध-काव्य रचना में केशव को प्रसिद्धि प्रदान करने का श्रेय 'रामचन्द्रिका' को है। वस्तुतः केशव की ख्याति के तीन ही स्तम्भ हैं—'रसिक-प्रिया', 'कवि-प्रिया' और 'रामचन्द्रिका'। 'रामचन्द्रिका' का स्थान जहाँ केशव की प्रबन्ध-रचनाओं में सर्वोत्तम है, वहाँ हिन्दी-साहित्य में भी यह रचना अपना अनोखा ही स्थान बनाये हुए है; आज भी तुलसी के 'रामचरितमानस' के बाद यदि रामकथा-साहित्य में किसी अन्य हिन्दी महाकाव्य का उदाहरण देना होता है तो बरबस 'रामचन्द्रिका' का ही नाम मुंह पर आ जाता है। 'भूत वह जो सिर चढ़ बोले'! हिन्दी-साहित्य में यह एक ऐसी रचना है कि जिसमें अनेक दोषों का ढिंढोरा पीटने पर भी उसे महाकाव्य से पद-च्युत नहीं किया जा सका। कारण दोषों की तुलना में उसकी विशेषताएं बाजी मार ले जाती हैं।

यह महाकाव्य जहाँ केशव की अक्षय-कीर्ति का आधार माना जाता है वहाँ यह आधुनिक समालोचकों के वाद-विवाद और मत-संघर्ष का भी एक अखाड़ा बन

राधा रूप-छटा, वयःसन्धि, सुकुमारता, पूर्वराग, अभिलाष, प्रेम-माधुरी, कृष्ण रूप माधुरी, चवाव, प्रेम-लीला, उपालम्भ, सपत्नी भाव, चौपड़, मिलन, वियोग, मानिनी, क्रिया-विदग्धा, आगत-पतिका, सुरत, सुरतान्त, सुरत शृंगार, शुद्ध शृंगार, प्रिय की क्रूरता, शिक्षा, नेत्रोपालम्भ, रूप-प्रभाव, युगल-जोड़ी, होली, बसन्त, कालिय-दमन, कुवलया-वध, भ्रमर-गीत, हरि शंकरी, शिव-स्तुति, गंगा-गरिमा—आदि विषयों का वर्णन है। यद्यपि 'सुजान रसखान' का प्रत्येक छन्द रस-सिक्त है, तथापि कवि का भावुक-हृदय भक्ति-भावना, राधा की रूप-छवि, सुकुमारता, वयःसन्धि, वंशी, कृष्ण की रूप-माधुरी, होली तथा मिलन आदि के वर्णन में ही अधिकतर रमा है। 'सुजान रसखान' मुक्तक पद्यों का संग्रह है, फिर भी उसमें कहीं-कहीं कथा की एक क्षीण सी धारा भी प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। इस विषय में डॉ० व्रजेश्वर वर्मा का कथन है—"रसखान के कवित्त-सवैयों के पीछे कृष्ण-कथा की ऐसी छोटी-छोटी प्रसंग-कल्पनाएँ रहती हैं जो कृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य की व्यंजक हैं।"[1] प्रमुख रूप में 'सुजान रसखान' का प्रतिपाद्य है—भक्ति भावना, प्रेम एवं शृंगार वर्णन।

रसखान की भक्ति माधुर्य-भाव की भक्ति है। कृष्ण और गोपियों की प्रणय-लीलाओं के माध्यम से रसखान ने 'सुजान रसखान' में माधुर्य भाव की भक्ति का ही गायन किया है। कुंज-लीला, वन-विहार, दान-लीला, प्रेम लीला तथा दधिदान आदि लीलाओं में कृष्ण भक्ति के आलम्बन हैं और गोपियां आश्रय। इसी ग्रन्थ में कहीं-कहीं वात्सल्य भाव की भक्ति का भी हृदय-हारी चित्रण हुआ है, पर अधिकांश में रसखान का आत्म-निवेदन, अखण्ड-विश्वास, दृढ़-आस्था और अगाध-श्रद्धा एवं आत्म-समर्पण का ही वर्णन हुआ है। 'सुजान रसखान' में वर्णित 'कृष्ण' साक्षात् ब्रह्म हैं। ब्रह्म ही व्रज में गोचारण के लिये, भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये, तथा छछिया भर छाछ पर नाच नाचने के लिये, कृष्ण रूप में अवतरित हुए हैं। कृष्ण ही वही ब्रह्म हैं जिनकी महिमा का गान 'शारदा' और 'शेष' भी नहीं कर सकते। बड़े-बड़े योगीजन समाधिस्थ होकर जिस ब्रह्म से साक्षात्कार करना चाहते हैं, वही ब्रह्म कृष्ण के रूप में वृन्दावन की धूलि में सुशोभित हैं :—

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भर छाछि पै नाच नचावैं॥

अन्य देवी-देवता से, राजा-महाराजा से रसखान को कोई प्रयोजन नहीं। वह तो कहते हैं—कोई इन्द्र की पूजा करो या गणेश की, कोई महेश की उपासना करो या कुबेर की, कोई भवानी का भजन करो या लक्ष्मी का पूजन, पर मेरा तो कृष्ण ही

---

१. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ० ३६१।

पर्याप्त होना चाहिये—"कुमारसंभव में कहानी नहीं के बराबर है। इसी प्रकार रघुवंश का हर श्लोक अपने आप में ही समाप्त है। हर एक श्लोक जुदे-जुदे हीरक खण्ड के समान उज्ज्वल और समग्र काव्य एक हीरक हार के समान सुन्दर है किन्तु नदी के प्रवाह की तरह उसमें अखण्ड-कलरव और अविच्छिन्न धारा नहीं है।" गुरुदेव का यह कथन केशव की 'रामचन्द्रिका' पर भी लागू हो सकता है तथा केशव के उन आलोचकों को अपने वक्तव्यों पर पुनर्विचार करने के लिए आग्रह कर सकता है जो 'रामचन्द्रिका' में कथा का सम्बन्ध-निर्वाह न करने के कारण केशव जैसे महाकवि को कोसने पर कमर कसे रहते हैं। केवल इसी कारण कि 'रामचन्द्रिका' में कथा का सांगोपांग वर्णन नहीं है, उसे महाकाव्य के उच्च पद से नीचे गिराना सर्वथा कवि के साथ अन्याय करना है तथा महाकाव्य-परम्परा-संबन्धी अपने अधूरे ज्ञान को प्रत्यक्ष करना है। यह ठीक है कि इस महाकाव्य में कथा-प्रवाह स्थान-स्थान पर क्षीण पड़ गया है, उसमें यथोचित तारतम्य नहीं है, अनुपात नहीं है, तो भी 'रामचन्द्रिका' को 'मुक्तक-काव्य' की श्रेणी में कदापि नहीं रखा जा सकता क्योंकि 'इस कथा की माला में मुक्ताओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं देखी जा सकती। राम जीवन के विविध प्रसंगों को वर्णन के सूत्र से जोड़ने का प्रयत्न इसमें स्पष्ट है, चाहे वह सूत्र कहीं शिथिल और कहीं दृढ़ हो गया है। केशव में प्रवन्ध-रचना के तारतम्य को निवाहने की क्षमता का अभाव नहीं था, इसका प्रत्यक्षीकरण उन्होंने 'रामचन्द्रिका' के उन स्थलों पर किया है जहाँ वे संस्कृत-काव्यों के प्रभाव से अपने आप को मुक्त कर पाये हैं, यथा रामाश्वमेध वर्णन और लव-कुश-युद्ध वर्णन। तारतम्य-निर्वाह की दृष्टि से सुन्दर-काण्ड और लंकाकाण्ड के प्रसंग भी प्रभावमय हैं परन्तु सबसे उत्तम अंश है रामाश्व-मेध प्रकरण। कथानक, चरित्र, संवाद आदि प्रत्येक दृष्टि से यह प्रकरण सफल प्रबन्ध-काव्य का उदाहरण है। केशव ने इस स्थान पर अपनी प्रबन्ध-कुशलता एवं कवि-कर्म की सफलता का ज्वलन्त साक्ष्य दिया है। डॉ० कन्हैयालाल सहल का यह कथन द्रष्टव्य है—"रामचन्द्रिका में यदि कहीं कथा दीखती है, कहीं भावुकता, सरसता, कौतूहल और प्रवाह दिखाई देता है, कहीं स्वाभाविक वस्तु-वर्णन और चरित्र-चित्रण है, तो वह लव-कुश-युद्ध में।" काव्यत्व और प्रबन्धत्व की दृष्टि से ऐसे सफल आदर्श प्रस्तुत करने वाले महाकवि की रचना को महाकाव्य के पद से च्युत कर देना नितान्त अन्याय है, विशेषतः उस कवि की रचना को जिसने इस बात को आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया है कि वे रामचरित के अधिक उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण प्रसंगों (चन्द्रिका के रूप में) की आकर्षक और मनोमुग्धकारी झांकियाँ (तिन के गुण कहिहौं) दिखलाना चाहते हैं। निःसन्देह ये झाँकियाँ विज्ञ पाठक के हृदय का आवर्जन करने वाली हैं। ये नितान्त विच्छिन्न भी नहीं हैं, चाहे इन्हें जोड़ने वाला सूत्र कहीं सूक्ष्म, कहीं शिथिल और कहीं स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इतना होते हुये भी यह तो मानना ही पड़ता है कि

'कृष्ण भक्तों' की गीत परम्परा का त्याग करके और 'कवियों' की कवित्त सवैया पद्धति का अवलम्ब लेकर स्पष्ट प्रस्थान-भेद सूचित कर दिया है। इसी से रसखान प्रेम-उमंग के ही कवि ठहरते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार राधा से 'बाधा-हरण' की प्रार्थना करने पर भी बिहारी को भक्त नहीं माना जाता, उन्हें शृंगारी कवि के रूप में ही स्वीकार किया जाता है वैसे ही रसखान को भी प्रेम का कवि माना जाना चाहिये। इन्हें भक्त कहना ही है तो व्यतिरेक के साथ 'प्रेम-मार्गी भक्त' कहा जाए। इस विषय में हमारा मत मिश्र जी से भिन्न है। गीत परम्परा का त्याग करने से भक्ति भावना का भी त्याग हो जाता हो—ऐसा नहीं माना जा सकता। साथ ही बिहारी की राधा से बाधा-हरण की प्रार्थना, और रसखान की कृष्ण-चरणों में प्रगाढ़ अनुरक्ति में बहुत गहरा अन्तर है। साथ ही पाण्डेय जी के विचार से भी सहमत होना कठिन है। वस्तुतः कोई भी सच्चा कवि किसी भी सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक बन्धनों से पूर्णतया बँधना स्वीकार नहीं करता, इस लिये पुष्टि-मार्गीय अथवा 'नारदी' भक्त मानकर रसखान की भक्ति-भावना का विवेचन करना असंगत ही होगा, पर एक सहज एवं सच्चे भक्त के रूप में रसखान को मान्यता मिलनी ही चाहिये। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रसखान की भक्ति भावना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उचित ही लिखा है—"सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास, और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़े भक्त कवियों से की जा सकती है।"[2]

'सुजान रसखान' के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रसखान एक भक्त कवि हैं। उनका 'प्रेम' भी भक्तों के अशरीरी प्रेम के अत्यन्त निकट है अतः वह प्रेम भक्ति-भावना का ही पर्याय बन गया है। साथ ही उनकी भक्ति-भावना किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त में बँधी हुई नहीं है।[3]

रसखान की भक्ति भावना के साथ एक अन्य प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। 'सुजान रसखान' में अनेक सवैये अश्लील हैं। उसमें सुरत, सुरतान्त आदि के चित्र अंकित हैं। क्या इस प्रकार की रचना उनकी भक्ति भावना के अनुकूल है? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। प्रत्येक कवि पर अपने युग का प्रभाव पड़ता है। तत्कालीन कृष्ण भक्त कवियों, सूरदास, नन्ददास आदि के काव्यों में भी ऐसे वर्णन प्राप्य हैं फिर भी वे 'भक्त' कवि माने जाते हैं। अतः रसखान को भी भक्त कवि मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। सच तो यह है कि सभी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में अध्यात्म के साथ ऐन्द्रियता, और अलौकिकता के साथ लौकिकता का समावेश है। रसखान

---

१. रसखानि (ग्रन्थावली) भूमिका भाग देखें।
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृ० २०६।
३. रसखान की काव्य कला—पृ० २७।

रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अनूठी निधियाँ हैं। एक सरल शैली का अप्रतिम उदाहरण है तो दूसरा जटिल शैली का अद्वितीय निदर्शन, एक जनसाधारण के गले का मुक्ता-हार है तो दूसरा काव्य-शास्त्रियों की हीरकमालिका। दोनों में ही महाकाव्य-शैली की परम्परा का शास्त्रीय निर्वाह सम्यक्-रीति से किया गया है, इसमें सन्देह नहीं।

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की कथावस्तु संजोने में प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण को आधार बनाया तथा हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक एवं रघुवंश से भी पर्याप्त सहायता ली। इसके अतिरिक्त केशव पर बाणभट्ट, सुबन्धु आदि कई संस्कृत महाकवियों का प्रभाव भी कम नहीं था। परन्तु, इन सब प्रकार के प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी केशव की नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा ने परम्परागत कथा-सामग्री में नूतन उद्भावनाओं का समावेश करके तत्कालीन बदलती हुई सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप ऐसा मौलिक रूप प्रदान किया जो सर्वसामान्य के ग्रहण करने योग्य था।

इस मौलिकता के पीछे केशव का एक विशेष लक्ष्य था। यह लक्ष्य द्विविध था—एक साहित्यिक और दूसरा सांस्कृतिक। साहित्यिक-लक्ष्य यह था कि केशव सुसमृद्ध संस्कृत साहित्य की छन्दोऽलंकार-काव्यांग-समन्वित काव्य-शैली का परिचय देते हुए हिन्दी साहित्यकारों के लिये संस्कृत काव्यशास्त्र को हिन्दी में सुलभ बनाना चाहते थे। ऐसा करने में जहाँ उनके आचार्यत्व का आग्रह था वहाँ समय की माँग भी थी। उस समय तक हिन्दी में लक्ष्य-साहित्य अपने चरम पर पहुँच चुका था—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा प्रभृति अनेक कवियों ने हिन्दी-काव्य को उत्कर्ष पर पहुंचा दिया था अतः आवश्यकता थी लक्षण-ग्रंथों की, जिसका हिन्दी में अभी तक अभाव-सा ही था। केशव ने इस कमी को अनुभव किया तथा 'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' की रचना कर इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया। हमारा तो यह विश्वास है कि 'रामचन्द्रिका' की रचना करते समय भी केशव के मन पर वही प्रभाव छाया हुआ था। महाकाव्य की रचना करते हुए भी इसे 'छन्दोऽलंकार मंजूषा' का रूप देने में कवि की तथाकथित प्रबन्धात्मक क्षमता नहीं थी, इस शैली-विशेष का प्रत्यक्षीकरण था। 'रामचन्द्रिका' हिन्दी-साहित्य में एक नूतन प्रणाली थी, एक नव प्रयोग था—यह नूतनता का आग्रह और आधुनिकता का तकाज़ा था। केशव के महाकवि की कारयित्री प्रतिभा का यह नूतन विधान था।

केशव चिन्तनशील व्यक्ति थे, मनोविज्ञान के पण्डित थे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारतीय संस्कृति में 'नव-बोध' का समावेश वांछनीय है, नव-संस्कार अपेक्षित है। उस समय में प्रचलित नाना सम्प्रदायों के घटाटोप से विचलित भारतीय संस्कृति की प्राणभूत चेतना को इस मनीषी ने अनुभव किया और यह धारणा बना ली कि उन सब दोषों का परिहार किया जाना चाहिए जो इसके रूप को विकृत किए हुए हैं। अतः केशव का लक्ष्य ऐसी संस्कृति को जनता के समक्ष रखना

व्यक्तित्व राधा की आँखों में ही नहीं, मन में भी बस गया है। राधा के मन में कृष्ण के 'दर्शन' की उत्सुकता ही नहीं, मिलन की तीव्रतम आतुरता भी है। वह कृष्ण को अपने अंग-अंग में एकाकार कर लेना चाहती है :—

देखिहौं आँखिन सों पिय कौं अरु कानन सों उन बैन को प्यारी।
बाँके अनंगनि रंगनि की सुरभीनि सुगन्धति नाक में डारी॥
त्यों रसखान हिय में धरौं वहि साँवरी मूरती मैन उजारी।
गाँव भरौ कोउ नाव धरौ पुनि साँवरी हौं बनिहौं सुकुमारी॥

रूप के उपयोग की अत्यन्त प्रगाढ़-वासना उक्त सवैये में वर्णित है। 'सुजान रसखान' के उक्त सवैये में मिलन की यह मानसिक स्थिति है, पर शारीरिक मिलन के धरातल को भी छू सी रही है।

मानसिक मिलन का अत्यन्त मनोरम वर्णन एक अन्य सवैये में भी प्राप्य है। नायक के विरह में नायिका का अंग-अंग मुरझा गया है। उसकी कान्ति फीकी पड़ चुकी है। मुस्कान लुप्त हो चुकी है। दीर्घ निश्वास चल रहे हैं। उसी समय उसे नायक के आगमन की सूचना मिलती है। हृदय उल्लास से भर उठता है। शरीर रोमांचित हो गया है। प्रिय मिलन की उमंग से उसका अंग-प्रत्यंग तरंगित हो उठा है। विरह और मिलन का धूप-छाया मिश्रित रंग निम्न सवैये में कितना स्पष्ट है :—

नाह वियोग बढ़्यो रसखानि, मलीन महाद्युति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाई लगी लपटैं बरि स्वांस हिया की॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने, हुलसें तरकीं जु तनी अंगिया की।
यों जग जोति उठी अंग की उसकाई दई मनो बाती दिया की॥

यहाँ पर स्मरणीय है कि अभी मिलन हुआ नहीं है। मिलन की आशा मात्र से शरीर कान्तिमान हो उठा है।

राधा और कृष्ण के मिलन-वर्णन के अन्तर्गत वे सभी चेष्टाएँ वर्णित हैं जो ऐसे अवसर पर स्वाभाविक होती हैं। 'सुजान रसखान' के निम्न सवैये में मिलन का एक मंजुल चित्र अंकित है :—

आजु अचानक राधा रूप विसान सों भेंट भई मन माहीं।
देखत दीठि जुरी रसखानि मिले भरि अंक दिये गल बाहीं॥
प्रेम पगी बतियां दुहुंधा की, दुहुं को लगी अति ही चित चाहीं।
मोहनी-मन्त्र वसीकर तन्त्र 'हहा' पिय की तिय की 'नहीं' नाहीं॥

प्रथम मिलन के अवसर पर 'संकोच' की स्वाभाविक व्यंजना है। यद्यपि इस 'नहीं' का अर्थ विज्ञ पाठक से छिपा नहीं रहता।

तदनन्तर अनेक स्थानों तथा अनेक अवसरों पर प्रेमी-प्रेमिका का मधुर मिलन होने लगता है। यहाँ तक कि यह 'मिलन' लोक-चर्चा का विषय भी बन जाता है। राधा और कृष्ण के इस प्रेम-मिलन की गाथा एक गोपी के मुख से सुनिये :—

उदाहरण विद्यमान हैं जो कवि की तीव्र संवेदनशीलता और हृदय-स्पर्शी भाव-व्यंजकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

बन में जाते हुए राम, सीता और लक्ष्मण को देखकर उनके अलौकिक सौंदर्य से मुग्ध हुए बनवासियों के असमंजसपूर्ण कौतूहल को कवि ने प्रश्नों की झड़ी में व्यक्त कर दिखाया है—

कौन हो कितने चले कित जात हो केहि काम जू।
कौन की दुहिता बहू कहि कौन की यह बाम जू।
एक गाँव रहो कि साजन मित्र बन्धु बखानिये।
देश के परदेश के किधौं पंथ की पहिचानिये।

परिचय प्राप्त करने की तीव्र उत्सुकता की स्वाभाविक व्यंजना में इतने सारे संगत प्रश्नों को एक साथ लपेट लिया गया है। अज्ञात यात्रियों से सम्बन्धित प्रायः सभी स्थितियों-परिस्थितियों को सीधे, सरल प्रश्नों में मानवोचित रूप में इससे बढ़कर और कैसे प्रकट किया जा सकता है?

राम की वियोग-दशा का वर्णन भी कितना हृदय-स्पर्शी है, यह इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

हिमांशु सूर सो लगै, सो बात बज्र सी बहै।
दिशा लगै कृसानु ज्यों विलेय अँग को दहै।
विसेस काल गति सों कराल गति मानिये।
वियोग सिय को न काल लोकहार मानिये।

विरहोन्माद में मानसिक दशा की व्यंजना कितनी स्वाभाविक बन पड़ी है। हृदय पर पड़े हुए अकस्मात् आघात से व्याकुल राम जड़-जंगम से अपनी प्रिया का पता पूछते हुए दृश्य को कितना मार्मिक बना देते हैं—

अवलोकत हैं जबहीं जबहीं। दुख होत तुम्हें तबहीं तबहीं।
वह बैर न चित्त कछू धरिये। सिय देहु बताय कृपा करिये।
शशि को अवलोकन दूरि किये। जिनके मुख की छवि देखि जिये।
कृति चित्त चकोर कछूक धरो। सिय देहु बताय सहाय करो।

इस प्रकार अपनी प्रिया के अकस्मात् अनुपस्थित हो जाने की अप्रत्याशित घटना से राम का आहत हृदय पागल की तरह पशुपक्षियों से प्रिया का पता पूछता है, दया की भिक्षा मांगता है परन्तु उत्तर न पाकर वन के वृक्ष-पादपों से भी अभ्यर्थना करता है। अशोक, चंपक, केतकी, गुलाब आदि प्रकृत या कोमल पदार्थ भी जब उलटे हर्षोत्फुल्ल दिखाई देते हैं तो निराश हो राम की कातर दृष्टि 'करुणा' पादप पर जा टिकती है। 'यथा नाम यथा गुण' की लोकोक्ति से राम का आतुर मन 'करुणा' से कितने विश्वास के साथ करुणा करने की माँग कर उठता है—यह सारा दृश्य कितना मर्म-स्पर्शी है, पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित हो उठता है। देखिए—

उन्हीं के सनेहन सानी रहैं, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
... ...

उन्हीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखिमेरी अंसुवानी रहैं॥

कृष्ण के विरह में नायिका का मन मुरझा गया है, शरीर क्षीण हो गया है—सूखि गयो सुकुमार हियो। 'मान' की तो मानों प्रासंगिक चर्चा कवि ने की है। 'सुजान रसखान' में एक दो सवैयों में नायिका को 'मान' करने से निषेध ही किया गया है। मान की भाँति प्रवास का भी वर्णन 'सुजान रसखान' में कम ही हुआ है। हिन्दी के शृंगारी कवियों ने प्रवास के वर्णन में नायिका की क्षीणता को उपहासास्पद तक बना डाला है—वहाँ रसखान इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। उन्होंने दूरारूढ़ कल्पनाओं एवं ऊहात्मक उक्तियों के द्वारा नायिका के विरह-ताप का वर्णन नहीं किया है। उनका विरह वर्णन संक्षिप्त, स्वाभाविक एवं गम्भीर है। गोपियों की विरह जन्य विवशता, गहन-व्यथा और तीव्र-आतुरता का वर्णन निम्न सवैयों में द्रष्टव्य है :—

काहू सों माई कहा कहियै सहिये सोई जो रसखान सहावै।
नेम कहा जब प्रेम कियो, तब नाचिये सोई जो नाच नचावै॥
चाहत हैं हम और कहा सखि क्यों हूँ कहूं पिय देखन पावै।
चेरियै सों जु गुपाल रच्यो तो चलो री सबै मिलि चेरि कहावै॥

वियोग-शृंगार का करुण रूप में वर्णन रसखान ने नहीं किया है। शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य और वीर रस का वर्णन भी 'सुजान रसखान' में प्राप्य है। कृष्ण की बाल-माधुरी के वर्णन में कवि ने अपना हृदय उंडेल दिया है। 'कालिय दमन' और कुवलिया-वध के प्रसंग में कृष्ण की वीरता के साथ यशोदा के मातृ-हृदय की भी सफल अभिव्यक्ति हुई है। अतः स्पष्ट है कि 'सुजान रसखान' में कवि की भक्ति भावना एवं शृंगार-अनुभूति की मनोहर अभिव्यंजना हुई है।

अनुभूति-पक्ष के इस विवेचन के अनन्तर सुजान-रसखान की कलात्मक अभिव्यंजना पर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। अभिव्यंजना-कौशल के अन्तर्गत-भाषा-सौष्ठव, अलंकार-विधान और छन्द-योजना पर विचार किया जाता है। 'सुजान रसखान' की भाषा सरल तथा प्रसाद-गुण सम्पन्न ब्रज भाषा है। भाव-गाम्भीर्य उसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है किन्तु शब्दाडम्बर की उसमें कहीं झलक भी नहीं आने पाई। निश्छल कवि-हृदय से आडम्बर-युक्त भाषा का क्या प्रयोजन? भाषा की सरलता, सहजता और झंकार देखनी हो तो 'सुजान-रसखान' के सवैयों का पाठ कीजिये। एक भी कवित्त कठिन अथवा दुरूह नहीं मिलेगा। पिछले पृष्ठों में रसखान के कई सवैयों को उद्धृत किया जा चुका है। जिससे हम उनकी मिठास, और लयगत झंकार को स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं।

'सुजान-रसखान' में भाव और भाषा का अनूठा निर्वाह हुआ है। भाषा के सौष्ठव ने भावों को उत्कर्ष एवं माधुर्य प्रदान किया है। संगीतात्मकता, रसमयता

भावना से ओत-प्रोत हो उठता है। पुत्र-शोक कितना प्रबल होता है और कितन विरक्ति-प्रेरक। केशव ने दानव में भी एक बार तो मानव-हृदय की कोमलता क उद्रेक कर दिखाया है—

आजु आदित्य, जल पवन पावक प्रबल,
चंद आनन्द, भय त्रास जग को हरौ।
गान किन्नर करौ, नृत्य गन्धर्व कुल,
यज्ञ विधि लक्ष्य उर यक्ष कर्दम धरौ।
ब्रह्म रुद्रादि दै, देव तीनहुं लोक के,
राज को जाय अभिषेक इन्द्रहि करौ।
आजु सिय राम दै, लंक कुल दूषणहि,
यज्ञ को जाय सर्वज्ञ विप्रहु बरौ।

क्रोध भाव की व्यंजना भी केशव ऐसे ही प्रकृत रूप से करने में समर्थ थे। अनुनय-विनय करने पर भी जब परशुराम की कोपाग्नि बढ़ती ही जाती है तो राम भी क्रोधावेश में आकर चुनौती देते हुए कहते हैं—

भगन भयो भव धनुष साल तुमको अब सालौं।
नष्ट करौं विधि-सृष्टि ईश आसन ते चालौं।
सकल लोक संहरहु सेस सिर ते धर डारौं।
सप्त सिंधु मिलि जाहिं होइ सब ही तम भारौं।
अति अमल जोति नारायणी कह केशव बुझि जाय वर।
भृगुनन्द संभारु कुठारु मैं कियो सरासन युक्त सर।।

परशुराम की 'जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आज अनाथ करौं दसरत्थहिं' गर्वोक्ति का मुँह तोड़ जवाब 'भृगुनन्द संभारु कुठारु मैं कियो सरासन युक्त सर' में दिलाकर केशव ने राम के क्रोध का ज्वलन्त रूप परशुराम के समक्ष उपस्थित कर दिया है।

समर्थ भावाभिव्यक्ति के अनेक उदाहरण रामचन्द्रिका में भरे पड़े हैं। स्थानाभाव के कारण उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस महाकाव्य के संवादों में पात्रों के अनुरूप क्रोध, उत्साह आदि भावों की जो व्यंगात्मक नाटकीय व्यंजना की गई है, हिन्दी-साहित्य में कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकती। केशव का रामाश्वमेध और लव-कुश-युद्ध वर्णनों की उत्कृष्टता का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अन्यत्र भी केशव ने भिन्न-भिन्न प्रकृतस्थ भावों की हृदय-स्पर्शी व्यंजना की है जिससे यह निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि सहृदयता, भावुकता तथा अभिव्यक्ति-कुशलता में केशव हिन्दी के अन्य कवियों से किसी प्रकार भी पीछे नहीं थे।

प्रकृति-चित्रण भी महाकाव्य का एक आवश्यक अंग माना गया है और केशव ने भी रामचन्द्रिका में प्रकृति-चित्रण किया है। इसके मूल्यांकन में भी राम-

कृत होती है। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है। 'सुजान रसखान' के काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में भी अलंकारों का महत्त्वपूर्ण योग मिलता है। शब्दालंकारों के द्वारा उसमें लय, झंकार तथा संगीत का समावेश हुआ है—जो अर्थालंकारों के द्वारा भावों की स्पष्ट एवं विशद अभिव्यंजना हुई है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, वीप्सा, तथा यमक का प्रयोग कवि ने विशेष निपुणता से किया है। अनुप्रास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन (ख) गोकुल गाँव के ग्वारन (ग) कोटिक ये कलधौत के धाम (घ) छक छैल छबीली छटा छहराय के।

यमक का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग 'सुजान रसखान' में देखा जा सकता है :—

(क) जो रसना रस ना विलसै (ख) जो कर नीकी की करै करनी (ग) अधरान धरी अधरान धरूंगी। डा० रामकुमार वर्मा ने रसखान के अलंकार-प्रयोग नैपुण्य के विषय में लिखा है—"अनुप्रास और यमक का सरस और उचित प्रयोग इनकी रचना में अनेक स्थानों पर पाया जाता है?"[1] वीप्सा का भी सरस प्रयोग 'सुजान रसखान में हुआ है :—'

(क) पै कहा करौं वा रसखान विलोकि हियो हुलसै हुलसे हुलसै।

(ख) माई री वा मुख की मुस्कान सम्हारी न जैहे न जैहे न जैहे।

अर्थालंकारों में कवि को 'उत्प्रेक्षा' सर्वाधिक प्रिय है। 'सुजान रसखान' की उत्प्रेक्षाओं में चित्रांकन की अपूर्व क्षमता है।'जोवन जोति सु यों दमकै उसकाई दई मनो बाती दिया की, कवि की अत्यन्त प्रिय उत्प्रेक्षा है। सुजान रसखान में इसका प्रयोग दो बार हुआ है। इसी प्रकार घनश्याम के बाहु-पाश में आबद्ध राधिका के विषय में कितनी सटीक उत्प्रेक्षा है :—

मनो दामिनी सावन के घन में निकसै नहीं भीतर ही तरपै।

होली-वर्णन में भी एक उत्प्रेक्षा अत्यन्त मार्मिक है :—

रसखानि गुलाल की धू-धरि में ब्रज बालनि की द्युति यों दमकै।
मनो सावन सांझ ललाई के मांझ चहूँ दिसि ते चपला चमकै।

'सुजान रसखान' में कई अनूठी एवं अछूती उपमाएं प्राप्य हैं :—

(क) कोउ रही पुतरी सी खरी।
(ख) ऐंचे आवत धनुष से छूटे सर-से जाहिं।
(ग) रसखान गोविन्दहीं यों भजिये जिमि नागरि को चित गागरि में।
(घ) सागर को सरिता जिमि धावत।

उपमाओं के समान ही कई रूपकों का भी विधान सुजान रसखान में हो गया है :—

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी सा० का आलो० इति० पृ० ५६५।

सराहनीय है। इस सम्बन्ध में केशव के आलोचकों से हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि वे तनिक कवि के लक्ष्य की ओर ध्यान देकर उसके चित्रण का मूल्यांकन करें, केवल तुलसी को ही अपनी आलोचना की कसौटी बनाकर नहीं। केशव और तुलसी की रामभावना यद्यपि मूलरूप में समान है परन्तु दोनों कवियों की व्यंजना में समानता नहीं है। जहाँ तुलसी ने राम में आदर्श-चरित का सन्निवेश करना ही अपना उद्देश्य माना और उनकी मानव-सुलभ स्वाभाविक दुर्बलताओं पर भावुकता के साथ पर्दा डालने के प्रयास किये, वहाँ केशव ने राम को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अधिदेव, सर्व-व्यापक ब्रह्म मानते हुए भी आदर्श मानव के रूप में उनका कीर्त्ति-गान किया तथा राजा राम का यथार्थ चरित-चित्रण करते हुए उनकी दुर्बलताओं को भी समान रूप से प्रकाशित किया। इसमें केशव बाल्मीकि के राम के अधिक समीप हैं। केशव ने भी राम के शील और धर्म परायणता का 'रामचन्द्रिका' के आरम्भ में ही परिचय दे दिया है, तथा उनकी शक्ति, धीरता और गम्भीरता का सर्वत्र बखान किया है, परन्तु जहाँ राम अपने इन प्रकृत गुणों को भरसक कार्यान्वित करने पर भी प्रतिपक्षी में अहंकार के फलस्वरूप वांच्छित परिवर्तन होता नहीं देखते (जैसे कि शिवधनुष-भंग के प्रसंग में परशुराम में) तब राम का भी आवेश में आ जाना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसे राम की अनुचित उग्रता, अधीरता अथवा अगंभीरता कहना परिस्थिति के प्रति आँखें बन्द कर मनोवैज्ञानिक अध्ययन से मुँह मोड़ लेना है। इसी प्रकार यदि राम राज्य-सुख भोग में मग्न सुग्रीव को प्रतिज्ञा का पालन न करने पर नीचे लिखा सन्देश लक्ष्मण द्वारा भेजते हैं, इसे राम के चरित्र की उग्रता कहना सर्वथा केशव के प्रति अपनी ही उग्रता का प्रदर्शन करना है। वर्षा-ऋतु भी समाप्त हो जाती है और सुग्रीव सीता की खोज करने या करवाने के लिए कोई उपाय करते दिखाई नहीं देते तो राम लक्ष्मण से यह कहते हैं :—

'ताते नृप सुग्रीव पै जैये सत्वर तात।
कहियो वचन बुझाय के कुशल न चाहो गात।
कुशल न चाहो गात चहत हो बालिहि देख्यो।
करहु न सीता सोध कामवश राम न लेख्यो।
राम न लेख्यो चित्त लही सुख सम्पत्ति जाते।
मित्र कह्यो गहि बाँह कानि कीजत है ताते।

राम की स्थिति कितनी नाजुक है। यदि सीता का पता नहीं ल
का जीवन ही न रहता। ऐसी दशा में "मित्र क बाँह कानि कीज
ऐसे मित्र के लिए राम की उपर्युक्त चेतावनी ऐसे संकट के
सहायता के लिए वचनबद्ध एकमात्र मित्र उ तो वह ८०
तो क्या है? तुलसी के राम ने भी तो इस "जेहि
मारा बाली। तेहि शर हतौं मूढ़ कहँ काली यदि

कृत होती है। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है। 'सुजान रसखान' के काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में भी अलंकारों का महत्त्वपूर्ण योग मिलता है। शब्दालंकारों के द्वारा उसमें लय, झंकार तथा संगीत का समावेश हुआ है—तो अर्थालंकारों के द्वारा भावों की स्पष्ट एवं विशद अभिव्यंजना हुई है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, वीप्सा, तथा यमक का प्रयोग कवि ने विशेष निपुणता से किया है। अनुप्रास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन (ख) गोकुल गाँव के ग्वारन (ग) कोटिक ये कलधौत के धाम (घ) छक छैल छबीली छटा छहराय कै।

यमक का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग 'सुजान रसखान' में देखा जा सकता है :—

(क) जो रसना रस ना बिलसै (ख) जो कर नीकी की करै करनी (ग) अधरान धरी अधरान धरूं गी। डा० रामकुमार वर्मा ने रसखान के अलंकार-प्रयोग नैपुण्य के विषय में लिखा है —"अनुप्रास और यमक का सरस और उचित प्रयोग इनकी रचना में अनेक स्थानों पर पाया जाता है?"[1] वीप्सा का भी सरस प्रयोग 'सुजान रसखान में हुआ है :—'

(क) पै कहा करौं वा रसखान बिलोकि हियो हुलसै हुलसै हुलसै।

(ख) माई री वा मुख की मुस्कान सम्हारी न जैहे न जैहे न जैहे।

अर्थालंकारों में कवि को 'उत्प्रेक्षा' सर्वाधिक प्रिय है। 'सुजान रसखान' की उत्प्रेक्षाओं में चित्रांकन की अपूर्व क्षमता है।'जोवन जोति सु यों दमकै उसकाई दई मनो बाती दिया की, कवि की अत्यन्त प्रिय उत्प्रेक्षा है। सुजान रसखान में इसका प्रयोग दो बार हुआ है। इसी प्रकार घनश्याम के बाहु-पाश में आबद्ध राधिका के विषय में कितनी सटीक उत्प्रेक्षा है :—

मनो दामिनी सावन के घन में निकसै नहीं भीतर ही तरपै।

होली-वर्णन में भी एक उत्प्रेक्षा अत्यन्त मार्मिक है :—

रसखानि गुलाल की धू-धरि में ब्रज बालनि की दुति यों दमकै।
मनो सावन साँझ ललाई के माँझ चहूँ दिसिते चपला चमकै।

'सुजान रसखान' में कई अनूठी एवं अछूती उपमाएं प्राप्य हैं :—

(क) कोउ रही पुतरी सी खरी।

(ख) ऐंचे आवत धनुष से छूटे सर-से जाहि।

(ग) रसखान गोविन्दहीं यों भजिये जिमि नागरि को चित गागरि में।

(घ) सागर को सरिता जिमि धावत।

उपमाओं के समान ही कई रूपकों का भी विधान सुजान रसखान में हो गया है :—

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी सा० का आलो० इति० पृ० ५६५।

इन संवादों में अनेक गुण पाये जाते हैं। उनमें पात्रों के अनुरूप क्रोध, उत्साह आदि भावों की सुन्दर व्यंजना है। पात्रोचित शिष्टाचार का निर्वाह भी पूर्ण रूप से हुआ है। उनके परशुराम-राम-संवाद और रावण-संवाद दोनों में ही शिष्टाचार की पूरी रक्षा हुई है। केशव के संवादों में व्यंग्य की छटा अत्यन्त हृदय-ग्राही है। पात्रों में प्रत्युत्पन्नमतित्व भी खूब पाया जाता है। केशव के संवाद अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक एवं सुन्दर हैं। इसका कारण संवादों को उचित स्थान पर ही उपस्थित करने की कुशलता है। जहाँ कूटनीतिक या राजनीतिक दाव-पेचों के चित्र खींचना या पात्रों की नोक-झोंक के दृश्य उपस्थित करना अपेक्षित था, केशव ने वहीं संवादों की योजना की है।

केशव के सबसे सुन्दर संवाद हैं—रावण-बाण संवाद, परशुराम-राम संवाद, रावण-अंगद संवाद तथा लव-कुश प्रसंग के संवाद। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव का रावण-अंगद-संवाद तुलसी के रावण-अंगद-संवाद से अधिक शिष्टाचार पूर्ण और राज्य-सभा के अनुकूल है और इस कारण अधिक सुन्दर भी है। केशव के संवादों की सफलता का एक कारण यह भी है कि उनकी भाषा प्रवाहमयी है तथा उन में अलंकारों की भरती न होने के कारण स्वाभाविकता की मात्रा अधिक है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि केशव के ये संवाद यद्यपि प्रबन्ध काव्य शैली में केशव की नूतनता हैं अतः सामान्य पाठक को इनका वहाँ होना कुछ खटकता है पर उनसे विशेष मनोरंजन भी प्राप्त हो जाता है। इन संवादों को यदि स्वतन्त्र रूप से पढ़ा जाए तो ये और भी अधिक मनोरंजक एवं कौतूहलोत्पादक हो जाते हैं। इन संवादों में चटपटापन, चुलबुलापन, व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य के समस्त गुण एक-साथ सन्निविष्ट हो गए हैं। इनसे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी विशेष सहायता मिलती है। जैसे रावण-बाणासुर-संवाद चाहे प्रबन्ध की दृष्टि से सार्थकता न रखता हो, उससे रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार अन्य संवादों से भी चरित्रोद्घाटन अवश्य होता है।

छन्द— डॉ॰ बड्थ्वाल ने 'रामचन्द्रिका' को छन्दों का अजायबघर कहा है। किसी ने इसे छन्दों का पिटारा और किसी ने कोप कहा है। इस रचना में केशव ने वर्ण के छन्द से लेकर सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। प्रथम प्रकाश में एकाक्षरी छन्द से प्रारम्भ करके क्रमशः अष्टाक्षरी छन्दों को आकार-वृद्धि-क्रम से उपस्थित किया गया है। जान पड़ता है, कवि ने सम्पूर्ण पुस्तक में इसी क्रम से छन्दों की रचना करने का संकल्प किया होगा, जाहे वे आगे इसका निर्वाह न कर सके। फिर भी केशव ने छन्दों के समस्त भेदोपभेदों के उदाहरण इस एक ही ग्रन्थ में उपस्थित कर दिये हैं। अनेक छन्द और उनके भेदोपभेद केशव की अपनी मौलिक रचना हैं, जो किसी अन्य पिंगल ग्रन्थ में नहीं मिलते। कवित्त, सवैया, त्रिभंगी आदि हिन्दी छन्दों के भेदोपभेदों के दर्शन कराने के लिए हिन्दी-साहित्य केशव का ऋणी है।

डा० रामरतन भटनागर ने इन के छन्दों की प्रशंसा करते हुए लिखा है —"रसखान के कवित्त छन्द में ब्रज भाषा की सारी माधुरी इकट्ठी कर उसे एकान्तिक भाव से कृष्णार्पण कर दिया।"[1] कविवर 'रत्नाकर' ने भी रसखान की छन्द योजना की अत्यधिक प्रशंसा की है। वह लिखते हैं —"उनके भाषा-प्रवाह की स्वाभाविकता एवं मसृणता का एक प्रधान कारण उनके छन्दों की योजना भी है। उन्होंने अधिकतर मत्तगयन्द सवैया और मनहरण कवित्त लिखे हैं। यदि मनहरण छन्दों में, मनहरण विषय का वर्णन किया जाय और वह सब का मनहरण कर ले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।[2]"

सारांश यह है कि चौपाई छन्द के साथ जो सम्बन्ध जायसी और तुलसी का है, दोहा छन्द के प्रयोग में जैसी निपुणता बिहारी और रहीम ने दिखाई है, गीत रचना में जैसी सफलता विद्यापति, सूर और मीरा को मिली है वैसी ही सफलता रसखान को सवैया छन्द के प्रयोग में मिली है। 'सुजान रसखान' के सवैये इस तथ्य के स्पष्ट निदर्शन हैं।

निष्कर्ष यह है कि भक्ति भावना की अनन्यता; प्रेम-तत्त्व की गहनता, ब्रज भाषा के सरस प्रयोग, अलंकारों की आयास-हीनता, छन्दों की सुष्ठु-योजना तथा विशुद्ध आत्मगत गीति तत्त्व के कारण 'सुजान रसखान' ब्रज भाषा का एक गौरव-शाली काव्य-ग्रन्थ है। लघु-सी कृति होते हुए भी उक्त विशेषताओं के कारण कवि की ख्याति इसी पर आधारित है। 'सुजान रसखान' में रसखान की भाव-सरिता गहन-गम्भीर तो है ही साथ ही उसके प्रवाह में वेग एवं गति शीलता भी है। भक्ति भावना एवं शृंगार रस दोनों दृष्टियों से 'सुजान रसखान' एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

---

१. "हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि" डा० रामरतन भटनागर, पृ० २०७।
२. "रसखान और उनका काव्य"—चन्द्रशेखर पाण्डेय।

चमत्कार विशेष-प्रिय था अतः उनके मत में अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। अलंकार-क्षेत्र में केशव की प्रतिभा, बुद्धि और कल्पना-शक्ति विशेष-रूप से प्रस्फुटित हुई है। अलंकार-योजना की तीव्र धुन में केशव भावोद्रेक एवं रस-परिपाक की भी उपेक्षा करते पाये जाते हैं। 'रामचन्द्रिका' में अलंकारों की प्रचुरता और उनके असंयमित प्रयोगों ने केशव के काव्य को क्लिष्ट तो बना दिया है परन्तु इतना क्लिष्ट नहीं कि उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कह दिया जाय। इसी कारण केशव के बारे में अनेक उक्तियाँ भी प्रचलित हो गई थीं, यथा—

(१) "कवि को दीन्ह न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई।"

(२) "दीन न चहै बिदाई नरेस तो, पूछत केसव की कविताई।"

केशव धुरंधर विद्वान् थे। इस पांडित्य-प्रदर्शन के लिए उन्होंने अलंकार-योजना को साधन बनाया और खूब बे-पर की उड़ानें लीं। कल्पना की इस बे-पर की उड़ानों से केशव ने ही सर्वप्रथम इस उक्ति को चरितार्थ किया था—'जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि'। परन्तु ऐसी उड़ानें संख्या में इतनी अधिक नहीं हैं। उनके अलंकारों में यद्यपि प्रयत्न-प्रसूत अलंकार पाये जाते हैं पर अधिकतर सुन्दर और स्वाभाविक अलंकारों को ही उन्होंने नियोजित किया है। 'रामचन्द्रिका' के २८वें प्रकाश से ३२वें तक के पाँच प्रकाशों में चौगान, शयनागार, राजमहल, संगीत, नृत्य, शय्या, प्रभात, स्नान, जल-क्रीड़ा, भोजन, वसन्त, चन्द्रोदय आदि के अनेक वर्णन केशव के अलंकार-कौशल के श्रेष्ठ उदाहरणों से भरे पड़े हैं। इनमें केशव ने कवि-कल्पना और अलंकार-कुशलता का पूर्ण उपयोग किया है। उत्प्रेक्षा और श्लेष केशव के अधिक प्रिय अलंकार हैं और इनका उपयोग उन्होंने अधिक किया है। लाला भगवानदीन जी ने ठीक ही कहा था कि 'अलंकारों की भरमार से केशव इनके बादशाह तो अवश्य मालूम होते हैं, पर इसी कारण इनकी कविता सर्वसाधारण के पढ़ने और समझने की वस्तु नहीं रह गई, केवल अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ ही उसकी कदर कर सकते हैं।' वास्तव में केशव की यह अभिरुचि ही थी। नवविधान की धुन ने केशव को ऐसा करने के लिए बाध्य किया प्रतीत होता है। उन्होंने यह भी ध्यान नहीं दिया कि रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध काव्य है, उसमें अलंकार-बहुलता शोभाकारक नहीं। उनकी मुक्तक रचनाओं में ऐसा अलंकार-विधान इतना नहीं खटकता जितना रामचन्द्रिका में। दो-दो अर्थ वाले ही नहीं; तीन-तीन, चार-चार अर्थ वाले पद्यों को प्रबन्ध में जड़ देना केशव जैसे चमत्कारी कवि को ही शोभा देता है। तभी तो रामचन्द्रिका को हम ने हीरक हार कहा है, जिसमें प्रत्येक हीरा अपना विशेष मूल्य रखता है।

उपसंहार—ऊपर के विवेचन से 'रामचन्द्रिका' सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमने संक्षेप में प्रकाश डालने का हलका सा प्रयास किया है। 'रामचन्द्रिका' को लेकर कुछ आलोचकों का व्यवहार केशव के प्रति अतिक्रूर है परन्तु केशव इसके इतने अधिकारी नहीं। जैसा कि प्रत्येक कवि के बारे में कहा जा सकता है, केशव का

गया है। इसके समालोचकों के दो दल पाये जाते हैं। एक उनका दल है जो इसके महाकाव्य की अक्षुण्णता प्रमाणित करने के लिए सदा कमर कसे रहते हैं और दूसरा उनका जो इसे पद से च्युत करने पर उतारू हैं, इसे एक साधारण रचना सिद्ध करते हैं। वास्तव में विद्वन्मंडली के इस विचार-संघर्ष से केशव का महत्त्व बढ़ा ही है साथ ही 'रामचन्द्रिका' का भी। केशव और रामचन्द्रिका को लेकर कई शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें गंभीर विचारविमर्श करते हुए मनीषी विद्वानों ने इस विवादमय विषय पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डाला है। स्थानाभाव के कारण हम इस लेख में केवल मुख्य विषयों को लेकर ही स्थिति स्पष्ट करने का एक हल्का-सा प्रयास करेंगे।

यह सर्वमान्य है कि रामचन्द्रिका केशव की सर्वोत्तम प्रबन्ध रचना है तथा उसे उन्होंने महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस रचना के काल के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं अपनी रचना में ही स्पष्टोक्ति कर दी है—

सोरह सै अट्ठानवें कार्तिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हों अवतार॥

अतः इस चन्द्रिका की रचना कार्तिक शुक्ला बुधवार सं० १६५८ में हुई थी। इसी पद्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का उद्देश्य भगवान् राम रूपी चन्द्र की शीतल चन्द्रिका से ही अपने अन्तर् को प्रकाशित करना है और संसार को आनंद प्रदान करना है। केशव ने अपने इस काव्य की रचना के प्रेरक के रूप में स्वप्न में महर्षि बाल्मीकि के दर्शन देने का उल्लेख किया है तथा उन्हीं के पवित्र आदेश का पालन करने की ओर संकेत किया है, यथा

"न राम देव गाइहै। न देवलोक पाइहै॥"

रामचरित के आदि व्याख्याता के इस उपदेश के कारण 'केशवदास नहिं कर्‌यो रामचन्द्रजू इष्ट' और संकल्प किया कि—

"तिन के गुण कहिहौं, सब सुख लहिहौं, पाप पुरातन भग्गै"

"रामचन्द्र की चन्द्रिका' और 'तिन के गुण कहिहौं' इन दो वाक्यांशों में ही कवि के इस काव्य-रचना के तात्पर्य का संकेत निहित है। हमारे विचार से केशव ने इस प्रकार तो आरंभ में ही यह संकेत कर दिया है कि उनका उद्देश्य अपने इष्ट देव का सांगोपांग सुविस्तृत वर्णन करना नहीं है वरन् कथा का सूत्र पकड़े रखकर चन्द्रिका की काव्य-छटा का उन्मीलन करना है। अपने इष्टदेव का गुणगान करना ही यहां कवि का काव्य-प्रयोजन है, न कि सांगोपांग कथा के द्वारा उनके जीवन का सम्पूर्ण चित्रण प्रस्तुत करना। स्पष्ट है कि प्रबन्ध-काव्य की परम्परागत दोनों प्रणालियों का सम्यक्-ज्ञान केशव को था और होता भी क्यों न, आखिर वे आचार्य थे, विद्वान् थे तथा विशाल संस्कृत साहित्य में निष्णात थे जिसमें कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास एवं महाकवि बाणभट्ट आदि भी इसी प्रणाली को प्रकाशित कर गये थे। इसके समर्थन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कालिदास के संबन्ध में यह कथन

सीता की दासियों का शुककथित शिख-नख-वर्णन द्रष्टव्य हैं। शिख-नख-चित्रण में केशव को सर्वश्रेष्ठ कवि मानना पड़ता है। तुलसी को भी सीता के शृंगार-वर्णन का साहस न हो सका था।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में भी केशव को पर्याप्त सफलता मिली है। 'रामचन्द्रिका' के युद्ध-प्रकरण वीर-रस के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। लव-कुश के युद्ध में कवि वीर-रस के परिपाक में अत्यन्त सफल हुआ है। इस युद्ध में अमर्ष पूर्ण कथनोपकथन और उग्र वचनों की योजना प्रशंसनीय है। लव और कुश जहाँ बाणों से शरीर पर वार करते हैं वहाँ कटूक्तियों से हृदय पर और भी तीव्र प्रहार करते हैं। वस्तुतः ये चित्रण अत्यन्त ओजस्वी हैं। युद्ध-वर्णनों में केशव की भाषा का अपूर्व ओजपूर्ण प्रवाह दर्शनीय है। ब्रजभाषा जैसी कोमल पदावली-युक्त भाषा में वीर-रस का इतना सफल चित्रण केशव का ही काम है।

इसी प्रकार रौद्र-रस के चित्रण भी केशव ने अत्यन्त प्रभावमय किये हैं। इस के लिए देखिये राम-परशुराम संवाद जिसमें भाषा और छन्द दोनों भावानुकूल हैं। इसी प्रकार अन्य रसों के चित्रण में भी केशव को पर्याप्त सफलता मिली है।

केशव छन्दों के मास्टर थे और अलंकारों के विशेषज्ञ। वाग्विदग्धता कुछ तो उनके पाण्डित्य के कारण थी और कुछ परिस्थितियों के अधीन, परन्तु इसी वाग्विदग्धता के कारण केशव अति सुन्दर संवादों को हिन्दी-साहित्य को भेंट कर गये। इन के संवाद भाव और भाषा की दृष्टि से ही नहीं, मर्यादा और श्लीलता, विदग्धता और मनोरंजकता, चुलबुलापन और चटपटापन, सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट माने जाते हैं। ये केशव के प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं प्रत्युत्तर कुशलता के प्रमाण हैं।

प्रकृति-चित्रण की कुशलता के उदाहरणों की भी कमी नहीं। यदि केशव चाहते तो उसे भी और अधिक सुन्दर बना सकते थे। केशव में प्रतिभा की कमी न थी परन्तु आचार्यत्व के प्रखर प्रकाश में उनकी प्रतिभा का मधुर उजाला मंद पड़ गया है। आचार्यत्व प्रधान हो गया है और प्रतिभा गौण। छन्द-रचना और अलंकार-विधान की तीव्र धुन ने केशव के कवित्व में माधुर्य और प्रसाद गुणों को उभारने का अवकाश नहीं मिलने दिया, जिस के फलस्वरूप उनका काव्य सर्वसाधारण के उपयोग की वस्तु न रहकर केवल मर्मज्ञ साहित्यिकों के आनन्द की वस्तु हो गया है। 'बाण' और 'हर्ष' का क्या संस्कृत-साहित्य में कम आदर है ? केशव भी प्रकाण्ड पण्डित थे ; उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता और कल्पना की उच्च उड़ान का भी अपना साहित्यिक मूल्य है। केशव का काव्य पण्डितों के पाण्डित्य की कसौटी है, उनके ज्ञान का माप-दण्ड है, तो क्या इसी कारण उसे उपेक्षा की वस्तु मान लिया जाय ? वास्तव में केशव ने विशेष और साधारण दोनों प्रकार के पाठकों के लिए प्रभूत काव्य-सामग्री प्रस्तुत कर हृदय और मस्तिष्क दोनों के विकास का क्षेत्र उपस्थित किया है, जो स्तुत्य है।

आदि कवि के रामायण के पश्चात् रामचन्द्रिका ही एक ऐसा काव्य है जिसमें भगवान् राम के जीवन का पूर्ण चित्रण मिल सकता है। राम के बाल्यकाल से लेकर लव-कुश सहित भगवती सीता के पुनर्मिलन का सारा वृत्त रामचन्द्रिका का वर्ण्य विषय है। इतने सुविस्तृत जीवन को एक काव्य में चित्रित करने का लक्ष्य रखने वाले कवि के लिए वही प्रणाली समीचीन थी जिसे केशव ने अपनाया था। वस्तुतः यही इस काव्य का अनूठापन है और यही कवि की अनोखी मौलिकता। आदि कवि के समय से लेकर केशव के समय तक राम-कथा न जाने कितनी प्रणालियों के द्वारा प्रवहमान होती हुई भारतीय जन-जीवन को सरल और सप्राण बनाती आ रही थी और केशव के समय में ही गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के रूप में भारत के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो रही थी। ऐसी स्थिति में केशव जैसा प्रतिभाशाली कवि कथा-प्रसंग को नियमित रूप से चलाने की ओर कैसे ध्यान दे सकता था? इसीलिए उन्होंने कथा-प्रसंगों को जोड़ने वाली महत्वहीन कड़ियों को अधिक दृश्यमान न बनाकर शृंखला के महत्वपूर्ण अंगों को विलक्षण कल्पनाओं द्वारा कलात्मक ढंग से प्रकाशित करना ही अभीष्ट समझा और इसमें शक नहीं कि वे इसमें पूर्णतया सफल हुये। स्व० भगवान-दीन जी के शब्दों में "केशव कल्पना और भाव-प्रसूत विचारों को मधुर शब्दों तथा विलक्षण युक्ति से प्रकट करने की कला को ही कविता मानते थे अतः 'रामचन्द्रिका' में उनकी इस कलामयी कविता का सजीव रूप विद्यमान है।" केशव आचार्य थे, शिष्यों के लिए आदर्श प्रस्तुत करना उन्हें अभीष्ट था अतः 'रामचन्द्रिका' के कलेवर में उन्होंने हिन्दी-भाषियों के लिए कालिदास और बाणभट्ट की शैलियों के कलात्मक मिश्रण का आदर्श प्रस्तुत करने का अभिनन्दनीय कार्य किया। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि उनके बाद कोई विलक्षण प्रतिभा हिन्दी साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण न हुई जो इस आदर्श के मर्म को समझ सकती और आचार्य के कार्य को आगे बढ़ा सकती। यही कारण है कि केशव द्वारा प्रदर्शित इस अनूठी प्रबन्ध शैली का विकास न हो सका और 'रामचन्द्रिका' आज भी अपनी कोटि का एकमात्र अद्वितीय महाकाव्य बना हुआ है जिसके अंग-अंग में अलंकारों की छटा है, रचना की विशिष्टता है तथा जिसमें कालिदास की-सी सरस, मधुर पदावली के साथ-साथ बाण, भवभूति और राजशेखर की चमकीली, भड़कीली उल्वण शैली का चमत्कारी विन्यास जड़ दिया गया है। हम तो यह समझते है कि केशव से सकुशल कवि ने इस एक ही रचना में आचार्य कुन्तक के सुकुमार और विचित्र मार्गों का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में 'न तत्र किंचिन्न महार्घ रत्नवत्'—इसका एक-एक पद रत्न है जो उसी पाठक के आह्लाद का विषय है जो काव्य के मर्म को जानता है, जो 'तद्विद' है। फलतः नदी के अविच्छिन्न प्रवाह के समान कथा-प्रसंग को निबाहने का एक आदर्श जहाँ गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया, वहां केशव ने 'रामचन्द्रिका' की रचना कर महाकाव्य के दूसरे आदर्श को हिन्दी-साहित्य को भेंट करके परम्परा का निर्वाह सम्पन्न कर दिया। ये दोनों ही

१८

बिहारी-सतसई

डा० रामसागर त्रिपाठी

बिहारी-सतसई हिन्दी साहित्य के उन ग्रंथरत्नों में एक है जो अपनी अवदात वस्तु, उदात्त शैली और चमत्कारमय अभिव्यञ्जना वैभव के बल पर, देश-काल की सीमा से ऊपर उठकर अमर पद प्राप्त कर लेते हैं। मुक्तक काव्य की समस्त विशेषताओं और प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने में इसकी समता यदि अशक्य नहीं तो दुष्कर अवश्य है। यह एक ऐसा शुचिदर्पण है जिसमें एक ओर तत्कालीन जन समाज के मनो॰ बिम्ब प्रतिफलित हुए हैं और दूसरी ओर काव्य-सम्पत्ति ने अपनी मनोरम छाया अविकल रूप में बिखेर दी है। इस ग्रंथ पर प्रमुख रूप से ५ दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—(१) तत्कालीन समाज का चित्रण, (२) मुक्तक काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिफलन, (३) काव्य-शास्त्रीय प्रवृत्ति-निमित्त की दृष्टि से अध्ययन, (४) कवि की निपुणता का पर्यालोचन, और (५) काव्य-वैभव का महत्त्व। अग्रिम पृष्ठों में बिहारी-सतसई का इन्हीं दृष्टियों से अध्ययन किया जावेगा।

तत्कालीन समाज का चित्रण

कविमानस का निर्माण जिन उपादानों से होता है उनमें सामयिक परिस्थितियाँ भी अपना स्थान रखती हैं। जाने-अनजाने कवि की कविता पर सामयिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और व्यक्तिगत परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और उसके काव्य में उनकी एक ऐसी स्थायी छाप छूट जाती है जो आने वाली पीढ़ियों को तत्कालीन समाज का ज्ञान कराने में वरदान सिद्ध होती है। यही एक ऐसा अमोघ साधन है जिससे तत्कालीन समाज की मनोदशा का एक चित्र प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा इतिहास इत्यादि में तो विशिष्ट घटनाओं का प्राधान्य रहता है उनसे वह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता।

बिहारी का जन्म अकबर के राज्य-काल में हुआ था मृत्यु और औरंज़ेब के राज्यारोहण के कुछ बाद। इसका आशय यह है कि इनका प्रौढ़ता-काल जहाँगीर और शाहजहाँ के समृद्ध तथा अपेक्षाकृत शान्त राज्य काल में व्यतीत हुआ था। मुगल

था जो उन दोषों से विमुक्त और नव-चेतना से संयुक्त हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए राम-कथा ही सर्वोत्तम थी अतएव कवि ने उसे ही अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चुना। केशव के समय में ही गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' की रचना कर जिस राम-कथा को भारतीयों की भेंट किया था उसमें तुलसी के 'राम' का चरित-गान था, भारतीय संस्कृति के आधारभूत 'राम' का नहीं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से केशव को उससे सन्तोष न हुआ। आदि कवि से लेकर तुलसीदास तक असंख्य कथा-शिल्पियों की कुशल अंगुलियों से सजाये-संवारे राम-कथा के विविध कलापूर्ण स्वरूपों का केशव ने अपनी तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि से निरीक्षण-परीक्षण किया, विवेक-तुला पर तोला और मूल्य आंका। अपने समय में जनता में फैल रही राम-सम्बन्धी अनेक भ्रान्त विचारधाराओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया तथा एक कुशल वैद्य के समान जनता की नाड़ी की परीक्षा की। इस प्रकार परम्परागत और समसामयिक विचारधारा के दोषों का यथासंभव परिहार करते हुए एक ऐसी राम-कथा को प्रस्तुत किया जिसमें प्राचीन संस्कृति की आधारभूत मान्यताओं को आश्रय दिया गया था तथा जो अपने नवीन रूप में जनता को ग्राह्य हो सकती थी। यही कारण है कि वे केशव की 'रामचन्द्रिका' के दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, राम, सीता, भरत और लक्ष्मण आदि के चरित्र अन्यान्य राम-कथाओं के चरित्र से भिन्नता लिए हुए हैं। 'रामचन्द्रिका' की कथा वस्तु 'रामचरितमानस' की कथावस्तु से तो सर्वथा स्वतन्त्र है ही। अतः 'रामचरितमानस' को कसौटी मानकर 'रामचन्द्रिका' का मूल्यांकन करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। यह कहना संगत नहीं कि जो स्थल तुलसी को मर्मस्पर्शी प्रतीत हुये और जिनका उन्होंने रागात्मक तल्लीनता से वर्णन किया, केशव को भी वहां वैसा ही करना चाहिये था। यदि उनका मार्मिक चित्रण केशव ने नहीं किया तो केशव "हृदयहीन" थे, उनमें "संवेदना शक्ति तक का अभाव" था, यह कहना युक्तियुक्त नहीं। केशव केशव है और तुलसी तुलसी—हर एक की अपनी रुचि और अपना अभिमत है। दोनों का उद्देश्य अपना-अपना है। अतः यह कहना कि केशव में मर्म-स्पर्शी घटनाओं को पहचानने की क्षमता नहीं थी, तथा वह 'हृदय-हीन' कवि था, कथमपि न्यायोचित नहीं। केशव की सहृदयता और संवेदनशीलता को चुनौती देना उचित नहीं। उनकी सहृदयता तो बुढ़ापे में भी 'बाबा' सम्बोधन सुन पुकार उठी थी—

केसव केसन अस करि जस अरिहूं न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनि 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

क्या रामचन्द्रिका की रचना करते समय (युवावस्था में) वह कवि हृदय-हीन हो सकता था? केवल तीन चार प्रसगों को द्रुतगति से चित्रित करने के ही कारण कवि पर ऐसा कठोर प्रहार क्या औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है? केशव में मानव-मनो-भावों को परखने और व्यक्त करने की पूरी क्षमता थी। रामचंद्रिका में ही ऐसे

स्वारथु सुकृतु न श्रमुवृथा देखु विहंगु विचारि।
बाज पराये पानि परि तू पच्छीनु न मारि॥

वाली अन्योक्ति जयसिंह को ही उद्बुद्ध करने के लिये थी जो मुग़लों के हाथ में पड़कर स्व-वर्गीय लोगों का ही संहार करता था। 'बिहारी ने एक दोहे में ही जयसिंह के मुग़लों से सहयोग का पूरा विवेचन दिया है जो अत्युक्ति नहीं किन्तु तथ्योक्ति ही है-

सामासैन सयान के सबै साहि के साथ।
बाहुबली जयसाहि जू फतेह तिहारे हाथ॥

शिवाजी से सँधि कराने पर बिहारी को प्रसन्नता ही हुई थी और उन्होंने तुरकिनियों और हिन्दुआनियों की चादर और चूड़ी की रक्षा की बात कहकर अपनी प्रसन्नता ही प्रकट की थी। इसी प्रकार बलख से औरंगज़ेब तथा उसकी सेना को मौत के मुंह से बचा लाने पर बिहारी ने कृष्ण द्वारा अघासुर के पेट में फंसे हुये गायों और ग्वालों को निकालने की उपमा देकर जयसिंह का अभिनन्दन किया था। बिहारी ने लाखों की फौज को क्षण में समाप्त कर देने की जयसिंह की शक्ति का भी एक दोहे में अभिनन्दन किया है।

बिहारी के कई दोहों में बादशाहत के लिये तत्कालीन संघर्ष की प्रतिध्वनि पाई जाती है। 'दुराज' का उनका आशय यही है। कहीं-कहीं इनके अप्रस्तुत विधान भी सामयिक परिस्थिति का चित्रण करने के लिये पर्याप्त हैं। इन्होंने यौवन द्वारा नायिका के विभिन्न अंगों को घटा-बढ़ा देने की उपमा एक ऐसे अत्याचारी शासक से दी है जो केवल अपना प्रभाव जमाने के लिये ही अधीनस्थ पदों में उखाड़ पछाड़ किया करता है। नीच और अयोग्य व्यक्तियों के शासनसत्ता में आ जाने की झलक तो अनेक अन्योक्तियों से दृष्टिगत होती है और अधिकांश में उनके भावी पतन की आशंका की गई है। इसी प्रकार ठगों, चोरों, डाकुओं इत्यादि के बाहुल्य पर भी दृष्टिपात किया गया है। अयोग्य व्यक्तियों का अधिकार और योग्य व्यक्तियों की दुर्दशा का उपादान भी कई दोहों में किया गया है। इस प्रकार बिहारी-सतसई में सामयिक सामान्य राजनैतिक परिस्थिति की छाया है और विशिष्ट घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है।

बिहारी का समाज पूंजीवादी समाज था जिसमें राजा, नवाब, रईस, सेठ, साधारण ग़रीब जनता की गाढी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाकर भी उन्हें सर्वथा घृणा की दृष्टि से देखते थे। बिहारी के अनेक दोहों में गंवारे गांव में गुण के गर्व नष्ट हो जाने का अन्योक्तियों और स्वभावोक्तियों दोनों के द्वारा जो वर्णन किया है उसका यही आशय है। नगरों में बादशाह, राजा, महाराजा, सेठ, साहूकारों का जीवन आमोद-प्रमोदमय था। विलास का बोलबाला था। अविवाहित और विवाहित दोनों प्रकार की कामिनियां श्रीमानों की विलास-वासना को पूरा करने का साधन बनी हुई थीं। प्रेम सम्बन्ध जोड़ने के लिये दासियों और इस प्रकार की अन्य स्त्रियों की सहायता प्राप्त

कहि केशव याचक के अरि चंपक शोक अशोक भये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीक्ष्ण जाति तजे डरि कै।
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आये रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोध कहो करुणामय हे करुणा करुणा करि कै।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर अपने एक मात्र सहायक सहोदर को अचेत पड़े देख अश्रुधारा बहाते हुए राम, लक्ष्मण का किस प्रकार उद्बोधन करते हैं। चिन्ता उन्हें अपने प्राणों की नहीं; चिन्ता है प्रतिज्ञा भंग हो जाने की—'देन न पाई विभीषण लंका'। 'रघु-कुल रीति यहां चलि आई। प्राण जायं पर बचन न जाई'। भय है प्रण जाने का। राम को विश्वास है कि प्रण-पालन के लिए लक्ष्मण का मृत शरीर भी एक बार तो उठ खड़ा होगा, कुल-मर्यादा का पालन करने के लिए। राम अनुज से यही कहता है कि 'उठ, प्रतिज्ञा भंग हो रही है, तू कैसे सहन कर रहा है—

लक्ष्मण राम जहाँ अवलोक्यो। नैनन तें न रह्या जल रोक्यो।
बारक लक्ष्मण मोहिं विलोको। मो कहं प्राण चलै तजि रोको।
हौं सुमिरौं गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे।
लोचन बाण तुम्ही धनु मेरो। तू बल विक्रम बारक हेरो।
तू बिन हौं पल प्रान न राखौं। सत्य कहौं कछु झूठ न माखौं।
मोहि रहि इतनी पन शंका। देन न पाई विभीपण लंका।
बोलि उठो प्रभु को पन पारो। नातरु होत है मो मुख कारो।

केशव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना-शक्ति का एक और उदाहरण नीचे लिखी पंक्तियां हैं। युवराज मेघनाद का युद्ध में लक्ष्मण के हाथों वध हो जाता है। इस अकस्मात् दुर्घटना से रावण जैसे महाबली की मनोदशा का जो चित्र केशव ने प्रस्तुत किया है उससे केशव की संवेदनशीलता का अपने आप सहृदयों को साक्षात्कार हो जाता है। पिता के सामने और पिता के ही लिए पुत्र के स्वर्गारोहण से पिता के हृदय पर कितना गहरा आघात पहुंच सकता है यह रावण के माध्यम से केशव ने कितनी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। इस गहन शोक को रावण जैसा महान् योद्धा भी सहन नहीं कर पाया। वह घोर निराशा का शिकार हो जाता है। वह अपने गर्व और गौरव को तिलांजलि देता हुआ कह उठता है कि 'मुझसे आतंकित ऐ ताराग्रहों, तुम स्वतन्त्र हो, जाओ संसार के त्रास को भी दूर कर दो। ऐ किन्नरो स्वच्छन्द गान करो, ऐ गन्धर्वो निःशंक नृत्य करो। ऐ ब्रह्मा-रुद्रादि देवो, जाओ देव-राज इन्द्र का निर्भय हो अभिषेक करो।' इतना ही नहीं, उसका अहंकार चूर-चूर हो जाता है और वैराग्य भावना यहां तक तीव्र हो उठती है कि वह अपने कुल के दूषण, विभीषण को लंका का राज्य तक समर्पित करने को उद्यत हो जाता है। राम के प्रति विरोध-भावना का परित्याग कर उन्हें सीता को लौटा देने में भी अपने गौरव की हानि नहीं समझता। उसका हृदय सर्वाशेन निराशा, विरक्ति और उदासीन-

सुनत पथिक मुंह मोह निसि लुवै चलत उहि गाम।
बिनु पूछे बिनुही कहे जियत विचारी बाम॥

नायिका के उष्ण श्वासों से ही गाँव में लू चलने लगती हैं। कहीं नायिका के पैरों की लाली को नाइन महावरी समझ कर मीडने लगती है। कहीं गुलाब जल की पूरी की पूरी बोतल नायिका की वियोग जन्य उष्णता से क्षणभर में ही सूख जाती है और ऊपर से उड़ेले हुये गुलाब जल की एक बूंद भी उसकी छाती तक नहीं पहुँचती। किन्तु इस प्रकार की अत्युक्तियों की संख्या बहुत न्यून है। निस्सन्देह सतसई को अनेक स्वादभरी बनाने की चेष्ट में ही इस प्रकार की अत्युक्तियों का उपादान किया गया है। बिहारी का प्रयास मुक्तक को अपनी समस्त विशेषताओं और विषय-विस्तार के साथ प्रस्तुत करने का था इसमें सन्देह नहीं।

नायिका भेद के साथ नायिकाओं के अलंकारों का, जिन्हें 'हाव' कहा जाता है, सम्पूर्ण गरिमा के साथ उपादान किया गया है। ये अलंकार २८ हैं जिन्हें तीन भागों में विभाजित किया जाता है—अंगज, अयत्नज और यत्नज। इनके अन्तर्गत ही नखशिख वर्णन भी आता है। बिहारी ने भाव प्रेरित नखशिख का भी वर्णन किया है और भावहीन स्वाभाविक सौन्दर्य का भी वर्णन किया है जो भाव प्रेरित नहीं, भाव प्रेरक होता है। इसी प्रकार अंग-प्रत्यंग वर्णन में भूषणों का भी उपादान किया गया है और भूषणहीन सुन्दरता भी काव्य-विषय के रूप में उदात्त हुई है। परम्परागत नखशिख वर्णन के साथ बिहारी ने ऐसे अंगों की भी उपेक्षा नहीं की है जिनका नख-शिख वर्णन में प्रायः उपादान नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये चिबुक वर्णन पर भी बिहारी ने तीन-चार दोहे लिखे हैं जिससे विशेष रूप से ठोढ़ी के गड्ढे का वर्णन किया गया है और उसके गोदने को भी कवि भूला नहीं है। फिर भी नेत्र वर्णन में कवि ने जो कमाल दिखलाया है और जितनी उच्चकोटि की कल्पनाओं का उपादान किया है उसकी तुलना साहित्य में मिलना कठिन है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

तिय कत कमनैती पढी विनु जिहि भौंह कमान।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंक विलोकनि बान॥

वैषम्य की पराकाष्ठा है। सामान्य धनुर्धर बिना डोरी के कभी वाण नहीं छोड़ सकता किन्तु नायिका के भौं कमान में डोरी है ही नहीं फिर भी वाण छूटता है। सामान्य धनुर्धरों का वाण यदि जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य पर नहीं पहुँचता; किन्तु नायिका का तिरछी चितवन रूपी वाण सर्वदा टेढ़ा ही है। फिर सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को ही वेधते हैं, यदि लक्ष्य कुछ हिलता हुआ हो तो उसको वेध देना वड़ी कुशलता की वात मानी जाती है। किन्तु नायिका का लक्ष्य मन है जिससे वढ़कर संसार का दूसरा पदार्थ चंचल नहीं। डोरी रहित धनुप, टेढा वाण और सर्वाधिक चंचल मन

चन्द्रिका के समीक्षकों में मत-भेद पाया जाता है। कुछ विद्वान् केशव की चित्रण-शैली को परम्परा युक्त कह कर उसे निकृष्ट स्तर का कहते हैं जबकि अन्य उसे उतना निन्दनीय नहीं मानते। सच तो यह है कि केशव का प्रकृति-चित्रण उत्कृष्ट कोटि का भी है और कहीं-कहीं अत्यन्त निम्नकोटि का भी। केशव की स्वाभाविक अलंकार-प्रियता ही बहुधा उनके दृश्य-चित्रण को सामान्य स्तर पर खींच ले आती है। इसी कारण उनकी उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि प्रायः कौतूहल को ही उत्पन्न करती हैं, सौंदर्य-भावना को नहीं। यह ठीक है कि केशव का अधिकांश प्रकृति-वर्णन परम्परा-युक्त और अप्रस्तुत-योजना के भार से दबा है किन्तु ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ कवि ने बिम्ब-ग्रहण कराने की सफल चेष्टा की है। जहाँ कहीं कवि ने अलंकारों के घटाटोप को दूर रखने का प्रयत्न किया है वहाँ वे सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के प्रभावशाली चित्र अंकित करने में सफल हो सके हैं। वस्तुतः केशव के दृश्यों को उनकी कष्ट कल्पना ने ही हीन बना दिया है अन्यथा उनमें प्रकृति का स्वाभाविक चित्रांकन करने की पूरी क्षमता है। इस सम्बन्ध में डॉ० गार्गी गुप्त का यह कथन द्रष्टव्य है—"संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति के प्रायः सभी रूपों का वर्णन विस्तार अथवा संक्षेप में मिल जाता है। केशव के समय तक प्रकृति-वर्णन की जितनी भी शैलियाँ प्रचलित थीं उन्होंने सब को 'रामचन्द्रिका' रूपी सूत्र में पिरोकर रख दिया है। संस्कृत-साहित्य में सबसे अधिक पद्धतियों में प्रकृति-वर्णन करने वाले कवि बाण ही थे परन्तु केशव ने उनसे भी आगे बढ़कर 'रामचन्द्रिका' में उनकी तथा परवर्ती सभी कवियों की शैलियों को समन्वित कर 'रामचन्द्रिका' के रूप में एक नवीन प्रयोग किया। काव्य रीतियों के अतिरिक्त केशव ने उसमें पौराणिक रीतियों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है।" जैसे हमने पहले कहा है, वस्तुतः 'रामचन्द्रिका' कवि का एक प्रयोग काव्य है। चाहे आप कथावस्तु नियोजन को ले लें, चाहे चरित्र-चित्रण अथवा प्रकृति-चित्रण को ले लें, चाहे अलंकार अथवा छन्द-योजना देखें, कवि ने सर्वत्र अपना निजी प्रयोग-विधान प्रस्तुत किया है। कहीं उनकी प्रतिभा का चमत्कार है तो कहीं उनके विस्तृत अध्ययन, स्वाध्याय का परिणाम तथा कहीं धार्मिक विश्वासों का प्रतिफलन। वे कलाकार थे अतः विविध काव्यांगों को उन्होंने कलात्मक रूप देने का ही प्रयास किया।

'रामचन्द्रिका' में केशव ने चरित्र-चित्रण में भी प्रयोग-वृत्ति से ही काम लिया है। आचार्य होते हुए वे जानते थे कि प्रबन्ध-काव्य में पात्रों का चित्रण क्रमिक विकास की अपेक्षा रखता है तो भी उसे उन्होंने नियम-बद्ध रूप में अंगीकार नहीं किया। जिस प्रकार उनकी कथा-वस्तु सूक्ष्म सूत्रों से संयोजित अग्रसर हुई तदनुसार उन्होंने चरित्र-विधान में भी यही पद्धति अपनाई। प्रधान पात्रों के चारित्रिक गुणों के क्रमिक विकास की ओर तो उनका ध्यान रहा परन्तु अन्य पात्रों के बारे में उन्होंने इस क्रम-पद्धति को अधिक नहीं अपनाया। राम, सीता, मन्दोदरी, भरत, लक्ष्मण, लव, कुश आदि चरित-नायकों के चरित्र-विकास दिखाने में कवि ने जिस कुशलता से काम लिया है वह

सुनत पथिक मुंह मोह निसि लुवै चलत उहि गाम।
बिनु पूछे बिनुही कहे जियत विचारी बाम॥

नायिका के उष्ण श्वासों से ही गाँव में लू चलने लगती हैं। कहीं नायिका के पैरों की लाली को नाइन महावरी समझ कर मीडने लगती है। कहीं गुलाब जल की पूरी की पूरी बोतल नायिका की वियोग जन्य उष्णता से क्षणभर में ही सूख जाती है और ऊपर से उड़ेले हुये गुलाब जल की एक बूंद भी उसकी छाती तक नहीं पहुँचती। किन्तु इस प्रकार की अत्युक्तियों की संख्या बहुत न्यून है। निस्सन्देह सतसई को अनेक स्वादभरी बनाने की चेष्ट में ही इस प्रकार की अत्युक्तियों का उपादान किया गया है। बिहारी का प्रयास मुक्तक को अपनी समस्त विशेषताओं और विषय-विस्तार के साथ प्रस्तुत करने का था इसमें सन्देह नहीं।

नायिका भेद के साथ नायिकाओं के अलंकारों का, जिन्हें 'हाव' कहा जाता है, सम्पूर्ण गरिमा के साथ उपादान किया गया है। ये अलंकार २८ हैं जिन्हें तीन भागों में विभाजित किया जाता है—अंगज, अयत्नज और यत्नज। इनके अन्तर्गत ही नखशिख वर्णन भी आता है। बिहारी ने भाव प्रेरित नखशिख का भी वर्णन किया है और भावहीन स्वाभाविक सौन्दर्य का भी वर्णन किया है जो भाव प्रेरित नहीं, भाव प्रेरक होता है। इसी प्रकार अंग-प्रत्यंग वर्णन में भूषणों का भी उपादान किया गया है और भूषणहीन सुन्दरता भी काव्य-विषय के रूप में उदात्त हुई है। परम्परागत नखशिख वर्णन के साथ बिहारी ने ऐसे अंगों की भी उपेक्षा नहीं की है जिनका नख-शिख वर्णन में प्रायः उपादान नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये चिबुक वर्णन पर भी बिहारी ने तीन-चार दोहे लिखे हैं जिससे विशेष रूप से ठोढ़ी के गड्ढे का वर्णन किया गया है और उसके गोदने को भी कवि भूला नहीं है। फिर भी नेत्र वर्णन में कवि ने जो कमाल दिखलाया है और जितनी उच्चकोटि की कल्पनाओं का उपादान किया है उसकी तुलना साहित्य में मिलना कठिन है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

तिय कत कमनैती पढी बिनु जिहि भौंह कमान।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंक विलोकनि बान॥

वैषम्य की पराकाष्ठा है। सामान्य धनुर्धर बिना डोरी के कभी बाण नहीं छोड़ सकता किन्तु नायिका के भौं कमान में डोरी है ही नहीं फिर भी बाण छूटता है। सामान्य धनुर्धरों का बाण यदि जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य पर नहीं पहुँचता; किन्तु नायिका का तिरछी चितवन रूपी बाण सर्वदा टेढ़ा ही है। फिर सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को ही वेधते हैं, यदि लक्ष्य कुछ हिलता हुआ हो तो उसको वेध देना बड़ी कुशलता की बात मानी जाती है। किन्तु नायिका का लक्ष्य मन है जिससे बढ़कर संसार का दूसरा पदार्थ चंचल नहीं। डोरी रहित धनुष, टेढा बाण और सर्वाधिक चंचल मन

से पुनः लक्ष्मण को यह कहलवाते हैं कि 'सुग्रीव को केवल भय का प्रदर्शन करना, इससे अधिक कुछ न कहना' तो तुलसी ने उलटे राम के चरित्र को हीन ही बना दिया, वीरोचित नहीं रहने दिया। केशव मनोविज्ञान में दक्ष थे। वे अवसरानुकूल मानव स्वभाव की परख करना जानते थे। जब बाबा तुलसी भी स्वीकार करते हैं कि 'भय बिन होय न प्रीति' तो यदि केशव उनके मन को कार्यरूप देते हैं तो उन्हें दोषी क्यों कहा जाता है, समझ में नहीं आता। ऐसा स्वाभाविक चित्रण करने वाले कवि के लिए यह कहना कि 'वह राम के 'रामत्व' की रक्षा करने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके' केशव के साथ सरासर अन्याय है। वस्तुतः केशव ने अपने चरित-नायक राम का जो चरित्र अंकित किया है वह 'प्रभु' राम का चरित होते हुए भी राज-पुत्र राम और राजा राम का चरित्र है और इन रूपों की मर्यादा की रक्षा केशव ने पर्याप्त कुशलता के साथ की है। ताड़का-वध के समय राम ने विश्वामित्र से पर्याप्त तर्क किया है और इस प्रकार केशव ने अपने राम को स्त्री-हत्या के दोष से बरी कर दिया है। बालि-वध के कलंक से तो राम मुक्त हो ही नहीं सकते। इसमें राजनीति का विचार न कर नीति का तकाज़ा था जिसके आगे राम को झुकना ही चाहिए था।

सीता-बनवास के लिए राम का कैसे अभिनन्दन किया जा सकता है? एक सामान्य प्रजा-जन के निराधार उपालम्भ का इतना घोर परिणाम! निरपराध, निर्दोष सती-साध्वी के प्रति! केशव जैसा भक्त भी अपने प्रभु के इस प्रकार्य का कैसे समर्थन करता। लव-कुश युद्ध के समय, राम-पुत्रों के मुँह से अपने विरोधी योद्धाओं के सम्बन्ध में केशव ने जो-जो व्यंग्योक्तियाँ कहलवाई हैं, वे सब साधार, युक्तिसंगत एवं तर्कपूर्ण हैं। केशव के चरित-चित्रण में तुलसी की पौराणिकता नहीं, आदर्श स्थापना नहीं, इसमें मनोवैज्ञानिकता है, वस्तु-कथन है, उपदेश नहीं; युक्तिपरता है, ईश्वरता का ढोल पीटना नहीं; मानवता का प्रत्यक्षीकरण है; तथा कोरी भावुकता नहीं, सतर्क बौद्धिकता भी है। अतः केशव का चरित्र-चित्रण सदोष नहीं, निर्दोष है, असफल नहीं, सफल है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब लक्ष्मण जी की मूर्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलवाते हैं—'लंकेश न जीवत जाय घरो'।

केशव के चरित्र-चित्रण में घटना-व्यापारों का उतना उत्कर्ष नहीं जितना संभाषणों का है, संवादों का है। केशव पर संस्कृत नाटकों की शैली का विशेष प्रभाव था अतः उन्होंने महाकाव्य में भी इस शैली का सन्निवेश कर एक नई पद्धति का आविष्कार किया। केशव संवादों की योजना में सबसे अधिक सफल हुए हैं। उनके विरोधियों को भी यह मानना पड़ा है कि केशव-के-से संवाद हिन्दी का कोई दूसरा कवि नहीं लिख सकता। इन संवादों में केशव ने नाटकीय शैली का प्रयोग करते हुए नाटकों के समान पात्र-निर्देश पाठ से अलग किया है जिससे प्रबन्ध-संचार में शिथिलता तो आ गई है परन्तु एक रोचकतामय नूतन शैली का भी आविष्कार हो गया है।

कहत, नटत, रीझत खिजत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥

नायक और नायिका दोनों ऐसे घर में हैं जहाँ सभी गुरुजन इत्यादि बैठे हैं। अतः वे संकेतों से ही सब बातचीत कर रहे हैं—नायक के नेत्र सम्भोग की प्रार्थना करते हैं; नायिका के नेत्र इंकार कर देते हैं; उसकी इंकारी के ढंग पर नायक के नेत्र रीझ जाते हैं जिससे नायिका के नेत्र खिसिया जाते हैं; थोड़ी देर नाराजी रहने के बाद दोनों के नेत्र मिल जाते हैं जिस पर नायक के नेत्र हंस देते हैं और नायिका के नेत्र लज्जित हो जाते हैं। एक अन्य नायिका की सम्भोगावस्था की चेष्टायें देखिये :—

भौंहनु त्रासति मुँहुँ नटति आंखिनु सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची आगे आवति जाति॥

एकान्त में नायक ने नायिका का हाथ पकड़ लिया है। नायिका भौंहों से भय दिखा रही है; मुख से इन्कार कर रही है, आँखों से लिपटी जा रही है और खींचकर हाथ छुड़ाने की चेष्टा तो करती है किन्तु खिची हुई स्वयं आगे चली आ रही है। कहीं नायिका प्रियतम की उड़ती हुई पतंग की छाया को ही दौड़-दौड़कर छूने की चेष्टा करती है, कहीं प्रियतम के कम्प सात्विक के कारण टीका टेढ़ा लग जाने से टेढ़ी-टेढ़ी घूम रही है।

अनुभावों में सात्विक अनुभावों की प्रधानता है। बिहारी ने स्तम्भ, स्वेद इत्यादि समस्त सात्विकों का अनेकशः वर्णन किया है। ये सात्विक अनुभाव नायकगत भी हैं और नायिकागत भी। सबसे अधिक आँसुओं का वर्णन किया गया है। इसके लिये बिहारी ने कई नवीन कल्पनायें भी की हैं और इस प्रकार के वर्णन में प्रौढ़ता के भी दर्शन होते हैं। नेत्रों को मानो स्नेहन कर्म दिया गया है। आयुर्वेद में स्नेहन कर्म के बिगड़ जाने से पेट पानी से भर जाता है किन्तु प्यास शान्त नहीं होती। इसी प्रकार नेत्र भी हर समय पानी से भरे रहते हैं किन्तु दर्शन की प्यास शान्त नहीं होती। इस नायिका की भी दशा देखिये :—

ध्यान आनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिन राति।
पलकु कंपति पुलकति पलकु, पलकु पसीजति जाति॥

यहाँ पर कम्प रोमांच और स्वेद का एक साथ वर्णन किया गया है। ये विभाव और अनुभाव लोक-स्वभाव-सिद्ध होते हैं और भावाभिव्यंजन में कारण बनते हैं। अभिव्यंग्य भाव ही होते हैं। इन विभाव और अनुभाव को लोक-व्यवस्था के अनुसार भावाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

भाव-व्यंजना

रस सिद्धान्त में विभाव और अनुभाव अभिव्यंजक होते हैं किन्तु व्यंग्य भाव ही होते हैं। ये भाव संघात रूप में रस निष्पत्ति में सहायता प्रदान करते हैं जिस प्रकार अनेक द्रव्य मिलकर भोज्य रस का निष्पादन करते हैं। किन्तु कभी-कभी भोज्य

'रामचन्द्रिका' में चौपाइयाँ भी बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं और उनके भेदों के उदाहरण भी इसमें पाये जाते हैं। केशव ने मात्रिक छन्दों का इस प्रकार आविष्कार भी किया है।

वर्णिक वृत्तों के प्रति भी केशव ने अपना अद्भुत प्रेम 'रामचन्द्रिका' में व्यक्त किया है। इन छन्दों में भी अनेक छन्द केशव के ही आविष्कार हैं। छन्द ही नहीं रीति के सभी अंगों के प्रति इस ग्रन्थ में केशव ने अपना प्रेम प्रदर्शित किया है। उन सबके उदाहरण इस पुस्तक में पाये जाते हैं। 'रामचन्द्रिका' में विचित्र, बहुरूपिणी रुचि केशव की छन्द-सृजन-कुशलता का प्रमाण है। केशव को महान् 'छन्द-शास्त्री' का पद निर्विवाद और निर्विरोध रूप से दिया जा सकता है। केशव के पूर्वगामी और परवर्ती किसी कवि ने इतने विविध छन्दों का प्रयोग अपने काव्य में नहीं दिया। केशव छन्दःशास्त्र के सब से बड़े आचार्य थे।

राम-कथा के साथ ही छन्द, अलंकार और रीति के अन्य अंगों का पाठक को एक-साथ परिचय करवा देने का केशव ने प्रयास किया और इसी प्रयास में अपने महाकाव्य के प्रबन्ध-सौष्ठव तक का बलिदान कर दिया। अलंकारों की नित्य नई छटा दिखाने एवं छन्दों में पग-पग पर परिवर्तन करने के फलस्वरूप केशव के काव्य की कथा का स्वाभाविक प्रवाह स्थान-स्थान पर अवरुद्ध होता दिखाई देता है। केवल कथा-प्रवाह में ही नहीं, काव्य के भाव-शरीर पर भी कवि के छन्द-वैविध्य का हानिकारक प्रभाव पड़ा है। 'रामचन्द्रिका' में रस-परिपाक की भी जहाँ कहीं कमी दिखाई देती है उसका कारण भी छन्दों में शीघ्रातिशीघ्र हेर-फेर करना ही है। कहीं-कहीं तो कवि ने भावों के आरोह-अवरोह के अनुरूप छन्द का सफल नियोजन किया है परन्तु कहीं-कहीं इस के विपरीत छन्द की प्रवृत्ति ने उनके भावों को शिथिल भी कर दिया है। यद्यपि केशव के इस प्रकार के छन्द-परिवर्तन से उनके काव्य-सौष्ठव को क्षति पहुँची है तो भी जैसा कि हमने पहले कहा है, केशव को एक शैली-विशेष का विधान हिन्दी-साहित्य को भेंट करना अभीष्ट था। परम्परागत शैली में एक नव-प्रयोग का सूत्रपात करने की कवि की अभिकांक्षा यहाँ पूर्णतया फलवती हो गई, कवि को इसी से ही सन्तोष हो गया प्रतीत होता है।

अलंकार—केशव प्रधानतया काव्य-शास्त्र के आचार्य थे। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी प्रचलित अनेक सम्प्रदायों में से केशव ने अलंकार-सम्प्रदाय को ही प्रधानता दी है, यद्यपि सर्वमान्य इस सम्प्रदाय को भी पर्याप्त अंश में उन्होंने स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलछनी सुबरन सुरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजहीं कविता बनिता मित्त॥

स्पष्ट है कि केशव कविता में रस की स्थिति आवश्यक मानते थे, परन्तु अन्य सब लक्षणों से बढ़कर काव्य में वे अलंकारों के विशेष पक्षपाती थे। केशव को

नृत्य गीत, अनुलेपन-आभूषण, नेपथ्य रचना, उपभोग, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीला इत्यादि सैंकड़ों प्रकार के वर्णन किये जा सकते हैं। एक उदाहरण लीजिये :—

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहुं चूम्यौ ढिग जाइ।
हंस्यौ खिसानी, गल गह्यौ रही गरैं लपटाइ॥

यहाँ पर नायक-नायिका एक-दूसरे के लिये आलम्बन हैं। आक्षेपगम्य एकान्त स्थान इत्यादि उद्दीपन हैं। मुख चूमना, गले लिपटना इत्यादि अनुभाव हैं; औत्सुक्य लज्जा इत्यादि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर रति आस्वाद रूपता को प्रकट करती है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण लीजिये :—

मुखु उघारि को लखि रहत रह्यौ न गौ मिस सैन।
फड़के ओठ उठे पुलक गये उघरि जुरि नैन॥

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि संयोग-वियोग एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं। चाहे कितनी ही दूरी हो किन्तु मनोवृत्ति के सम्भोग-जन्य सुखमय होने पर सम्भोग शृंगार ही कहा जाता है और चाहे एक चारपाई पर ही क्यों न हों किन्तु वियोग वेदनाजन्य दुःख के होने पर विप्रलम्भ शृंगार ही कहा जाता है। मनोदशा के एकरूप होने के कारण ही पण्डितराज ने विप्रलम्भ शृंगार के भेदों को मान्यता नहीं दी। विप्रलम्भ के उपभेदों में अधिक अन्तर भले ही न हो किन्तु मनोदशा में कुछ न कुछ भेद होता ही है। उदाहरण के लिये प्रवासजन्य विप्रलम्भ में सन्ताप की तीव्रता होगी तो ईर्ष्याजन्य विप्रलम्भ में खेद और क्रोध का किंचित् समावेश होगा। इस प्रकार विप्रलम्भ की भेदोपभेद कल्पना सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। शास्त्रकारों ने विप्रलम्भ के ५ भेद माने हैं—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप। अभिलाष को ही पूर्वराग भी कहते हैं। शाप विप्रलम्भ का हेतुमात्र है, मनोवृत्ति की विशेषता नहीं। अतएव इसको विप्रलम्भ के भेदों में गिनना उचित नहीं। इस प्रकार विप्रलम्भ के चार उपभेद शेष रह जाते हैं। बिहारी-सतसई में इन चारों के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये :—

हरि-छवि-जल जब तें परे तब तें छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत रहत घरी लौ नैन॥

में पूर्वराग की व्यंजना होती है। मान के दो रूप माने गये हैं। प्रेम के कुटिल-गामी होने के कारण जहाँ प्रेम में ही मान की प्रवृत्ति होती है वहां प्रणयमान माना जाता है और वहाँ प्रियतम के अपराध को लक्षित कर मान किया जाता है, वहां ईर्ष्या मान होता है। प्रणयमान का उदाहरण :—

दोऊ चाह-भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न।
नहि, जांचकु सुनि, सूमलौं बाहिर निकसत बैन॥

ईर्ष्या मान का उदाहरण :—

काव्य भी सर्वथा निर्दोष नहीं। सूर और तुलसी के काव्य भी नितान्त निर्दोष नहीं कहे जा सकते। किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय समीक्षक को कवि के दृष्टिकोण को सामने रखना वाञ्छनीय होता है। इस प्रकार यदि केशव के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर उनके काव्य का समीक्षण किया जाय तो निःसन्देह केशव हिन्दी के सर्वोच्च कवियों की पंक्ति में स्थान पाने के अधिकारी हैं और प्राचीन समालोचकों ने केशव के बारे में जिन उक्तियों का व्यवहार किया है, उनमें पर्याप्त सत्य मान लेना पड़ता है—

'सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास।' और
'कविता करता तीन हैं तुलसी केसव सूर।'

इन उक्तियों के अनुसार हिन्दी-साहित्य में केशव को जो स्थान दिया गया है उसके वे सर्वथा अधिकारी थे, यह मानना पड़ता है। एक अन्य समालोचक की यह उक्ति केशव के बारे में सच्ची प्रमाणित होती है—

'उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बलवीर।
केसव अर्थगंभीर को सूर तीन गुन वीर॥

हिन्दी में अर्थगांभीर्य के वास्तव में केशव सर्वोच्च कवि हैं।

'रामचन्द्रिका' के राम 'मानस' के राम नहीं और ना ही केशव भक्त तुलसी थे। केशव का संबन्ध राजदरबारों से था अतः उन्हें अपनी परिस्थितियों और वातावरण को ध्यान में रखते हुए अपनी मान-मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए विद्वत्ता का प्रदर्शन करना भी आवश्यक था। तभी उन्होंने अपने काव्य के लिए राजा राम की कल्पना की है जिस कारण राजकीय ठाठ-बाट, आन-शान और ऐश्वर्य-वैभव आदि के चित्रण की ओर उनकी दृष्टि अधिक रही है। इसमें सन्देह नहीं कि चित्रणों में केशव पूर्ण-रूपेण सफल भी हो गये हैं। राम-राज्य के ठाठ-बाट का जैसा वर्णन केशव ने किया है, चन्द्रबरदाई को छोड़कर कोई भी दूसरा कवि नहीं कर सका। इसके लिए 'रामचन्द्रिका' के २८वें से ३१वें प्रकाश देखने योग्य हैं। प्रथम प्रकाश में अयोध्या नगरी का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर है। राजनीति और राजसभाओं के शिष्टाचार के वर्णन भी अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़े हैं जिसके लिए सत्रहवाँ प्रकाश उल्लेख-योग्य है।

केशव शृंगार के कवि थे। उन्होंने राम-जानकी के शृंगार का विस्तृत वर्णन किया है। परन्तु कहीं पर भी भक्ति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने दिया। राम और सीता के संयोग और वियोग दोनों प्रकार का शृंगार-वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट है। केशव का विरह-वर्णन यद्यपि अधिकांश में अतिशयोक्ति-पूर्ण है पर ऐसा होते हुए भी वेदना की भावपूर्ण व्यंजना के अनेक चित्र विद्यमान हैं। उनका नख-शिख-वर्णन भी अत्युत्तम है। राम और सीता के नख-शिख-वर्णन में केशव ने मर्यादा की पूरी रक्षा की है। प्रमाणस्वरूप छठे प्रकाश में राम का नखशिख-वर्णन और ३१वें प्रकाश में

की भी हल्की छाया ही यत्र-तत्र दिखलाई देती है पूर्ण अभिव्यक्ति कहीं नहीं हुई। अद्भुत रस का कुछ परिपाक भगवान् कृष्ण की लोकोत्तरता के प्रतिपादन के अवसर पर हुआ हैं। शान्त रस के भी कुछ दोहे पाये जाते हैं। एक उदाहरण :—

भजन कह्यो तातैं भज्यो भज्यो न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यो सो तैं भज्यो गवार॥

वस्तुतः बिहारी की मनोवृत्ति शान्त के अनुकूल थी ही नहीं किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि कुछ दोहों में कवि का शान्त रस में अभिनिवेश दृष्टिगत होता है तथा सशक्त शैली में शान्त रस की अभिव्यंजना हुई है। कुछ लोगों का विचार है कि ये दोहे बिहारी ने वृद्धावस्था में लिखे होंगे।

शृंगार प्रधान मनोवृत्ति होने पर भी बिहारी ने औचित्य का सर्वत्र ध्यान रक्खा है। इसलिये रसाभास के उदाहरण बिहारी में नाममात्र को ही मिलते हैं। वैसे परस्त्री तथा परपुरुष विषयक प्रेम इत्यादि रसाभास की सामग्री का उपादान तो हुआ है; परन्तु वह परम्परा निर्वाह मात्र ही प्रतीत होता है। उसकी संयोजना इस रूप में की गई है कि अनौचित्य की प्रतीति अधिक मुखर न हो जाय।

कृष्ण-विषयक काव्य

रीतिकाल की यह एक सामान्य परम्परा रही है कि लौकिक शृंगार का राधा कृष्ण के नाम पर वर्णन किया जाता था। यह युग भक्ति काल के कृष्ण काव्य का उत्तराधिकारी था; अतः उससे ऐसी सम्भावना सर्वथा स्वाभाविक ही थी। बिहारी ने भी इसी परम्परा का पालन करते हुये अपने शृंगार वर्णन में यत्र-तत्र राधा कृष्ण का नामोल्लेख कर दिया है। यदि ऐसे समस्त प्रसंगों का चयन कर उनकी यथाक्रम संयोजना की जाय तो राधा-कृष्ण-प्रेम-लीला के अनेक तत्त्व सामने आ जाते हैं जैसे दर्शन तथा आकर्षण, उत्कण्ठा की तीव्रता, दूती सम्प्रेषण, संकेत तथा अभिसार, हास्य-विनोद, भावगोपन, वियोग वर्णन, खण्डिता-वर्णन इत्यादि। इसके अतिरिक्त कृष्ण चरित्र की विशेष घटनाओं की भी बिहारी के काव्य में छाया दृष्टिगत होती है। जिनमें प्रमुख हैं चीर-हरण, रास-लीला भ्रमरगीत, पूतना-वध, विश्व-रूप-दर्शन, गोवर्धन-धारण, रुक्मिणी-हरण, अघासुर-वध, दावानलपान इत्यादि।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का काव्य-विषय के रूप में काव्य के अरुणोदय काल से ही उपादान होता रहा है। इस दिशा में अनेक प्रवृत्तियाँ उद्भूत हुईं। बिहारी के समय तक आते-आते प्रकृति अपना महत्त्व खो चुकी थी और उसका उपादान केवल उद्दीपन रूप में ही किया जाने लगा था। बारह मासा तथा ऋतु वर्णन की परम्परा चल पड़ी थी। बिहारी ने ऋतुओं का विशेष रूप से वर्णन किया है और उद्दीपन के अतिरिक्त आलम्बन रूप को भी अपनाया है। संस्कृत साहित्य में अधिक महत्त्व वसन्त और वर्षा

केशव की 'रामचन्द्रिका' एक महाकाव्य है। लक्षण-ग्रंथों में दिये गये महाकाव्य के सभी लक्षण उसमें विद्यमान हैं। उसमें काव्यत्व की भी कमी नहीं। हाँ, कथा-प्रबन्ध को जोड़ने वाले सूत्र कहीं-कहीं इतने सूक्ष्म पड़ गये हैं कि इसके लिए पाठक को सदा सचेत रहना पड़ता है।

सारांश यह है कि केशव की यह रचना प्रशंसनीय है और उनका कृतित्व अभिनन्दनीय। साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ कवियों में केशव को सूर और तुलसी के बाद जो स्थान दिया जाता है वह सर्वथा उपयुक्त है। वे 'उडुगन हैं' परन्तु शुक्र के समान उज्ज्वल और प्रभावपूर्ण।

इस प्रकार यद्यपि धार्मिक दोहे संख्या में कम हैं तथा उनमें विषय-वैविध्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। कवि का इनमें पूर्ण अभिनिवेश भी है और ये दोहे कवि को भक्त-हृदय व्यक्ति सिद्ध करने के लिये भी पर्याप्त हैं।

सूक्ति-काव्य

सूक्ति-काव्य काव्य की एक ऐसी विधा है जिसे साहित्य के आचार्यों ने निम्न कोटि का काव्य कहा है जिसमें रस की नहीं, चमत्कार तथा अलंकार की प्रधानता होती है। किन्तु काव्य की यह एक विधा है अवश्य और मुक्तक काव्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले कवि के लिये इस प्रकार की रचना करना अनिवार्य हो जाता है। सूक्ति काव्य में कुछ तो धार्मिक सूक्तियाँ होती हैं जिनमें सदाचार का उपदेश दिया जाता है; कुछ आर्थिक या व्यावहारिक सूक्तियाँ होती हैं जिनमें सदाचार का इतना महत्त्व नहीं होता जितना लोक में येन केन प्रकारेण सफलता प्राप्त करने के उपायों का निर्देश होता है और कुछ काम सम्बन्धी सूक्तियाँ होती हैं जिनमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धी तथ्यों का चमत्कार के साथ उद्घाटन किया जाता है। बिहारी ने इन सभी प्रकार की सूक्तियों का समावेश अपनी रचना में किया है और चमत्कार-प्रेमी होने के कारण बिहारी ने इन सूक्तियों में सफलता भी प्राप्त की है। धार्मिक सूक्तियों में वैराग्य का उपदेश, गुरु-भक्ति तथा भगवद्‌भक्ति का उपदेश, नामजप, ईश्वर-विश्वास, सुख-दुख में समानता, वाह्याडम्बर का त्याग, कपट का परित्याग, केवल भगवान् से प्रेम करने का उपदेश, सत्संग-महिमा, स्त्री-निन्दा इत्यादि विषय आते हैं। इन सब विषयों पर बिहारी ने एक दो दोहे लिखे हैं जोकि धार्मिक परम्परा के अन्य कवियों के सामान्य विषय हैं।

व्यावहारिक क्षेत्र में सत्परामर्श देने की कवियों की पुरानी परम्परा रही है। इस परामर्श को ग्राह्य बनाने के लिए कवि उसे चमत्कारपूर्ण बना देते हैं। इसकी दो विधायें प्रसिद्ध हैं—एक तो चमत्कार के साथ किसी तथ्य को प्रस्तुत कर देना, दूसरे अन्योक्ति का आश्रय लेना। बिहारी ने दोनों शैलियों का आश्रय लिया है। तथ्योक्तियों में सम्पत्ति के दोष, कृपणों की निन्दा, दीनों की दशा, दुष्टों की निन्दा, स्थान प्राप्ति का महत्त्व, गुणों का महत्त्व; पूँजीवाद में मर्यादातिक्रमण की प्रवृत्ति, मित्रता में क्रोध न करने का उपदेश और राजा द्वारा दरिद्रों का ही शोषण इत्यादि विषय अपनाये गए हैं। अन्योक्तियों में भी अयोग्य या दुष्ट व्यक्ति का महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेना, किसी योग्य व्यक्ति का किसी अयोग्य स्थान में फंस जाना, अतीत का ऐश्वर्य, भविष्य की आशा, गुण-ग्राह्यता इत्यादि विषय चुने गये हैं। बिहारी की अन्योक्तियाँ अधिक प्रभावशालिनी भी हैं और अच्छी भी। यदि बिहारी की समस्त आर्थिक सूक्तियों को संकलित कर उन्हें एक विचारसूत्र में गुम्फित करने की चेष्टा की जावे तो ज्ञात होगा कि बिहारी ने जीवन के विषय में एक मनोरम कल्पना कर ली थी तथा जीवन को सुखमय तथा सफल बनाने के लिए उनके अपने विचार थे।

बादशाहों का यह दुर्भाग्य था कि उनके आसनासीन होते ही उत्तराधिकार विषयक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता था। इसके लिये बादशाह को जागरूक रहना पड़ता था और जहाँ तक सम्भव होता था अपने पुत्रों को सुदूर प्रदेशों में शासन का भार देकर नियुक्त कर दिया जाता था। उनके अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति बादशाह के हाथ में रहती थी और नये अधिकारी अपना प्रभाव जमाने के लिये अपने अधीनस्थ अधिकारियों तथा कर्मचारियों में आये दिन परिवर्तन करते रहते थे। जनता में उत्पीड़न था, त्रास था, अशिक्षा थी, किन्तु अपने ही आमोद-प्रमोद में पलने वाले बादशाहों और अधीनस्थ शासकों को उनकी दशा सुधारने का अवसर नहीं था। देहात प्रायः उपेक्षित पड़े थे और वहाँ किसी का ध्यान न शिक्षा-प्रसार की ओर था और न उनसे मिलना-जुलना ही आत्म-सम्मान के अनुकूल समझा जाता था। ठग्गी और डाकेज़नी का बोलबाला था, दूसरी ओर बादशाहत के संघर्ष में किसी की कहना खतरे से खाली नहीं था।

बिहारी को आमेर के राजघराने में आश्रय प्राप्त हुआ था जो मुग़ल बादशाहों के सामने नतमस्तक होने वाला पहला राजघराना था। मानसिंह की बुआ, उनकी चचेरी बहन और भतीजी तीनों मुग़ल बादशाहों के घराने में ब्याही थी। अकबर के शासन विस्तार का बहुत कुछ श्रेय मानसिंह को ही प्राप्त है जिसने एक ओर राजस्थान में मुग़लों की शासन-सत्ता स्थापित करने में योगदान दिया था और दूसरी ओर पूर्व तथा पश्चिम में शासन भार वहन कर मुग़ल सत्ता को स्थायित्व प्रदान किया था। मानसिंह के मरने के बाद जयपुर के दो एक अयोग्य शासकों के कारण जयपुर के राजघराने का मुग़लों से सम्बन्ध विच्छिन्न-सा हो गया। किन्तु कालान्तर में जयसिंह को बीकानेर की राजकुमारी जोधाबाई के उद्योग से पुनः वही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो गया। इतिहासकारों का मत है कि औरंगजेब के सत्ताविस्तार और विरोधियों के दमन में जयसिंह का प्रमुख हाथ था। उस समय औरंगजेब के चार प्रमुख शत्रु थे दाराशिकोह, शुजा का पुत्र शाह आलम, बुंदेला राजा छत्रसाल और क्षत्रपति शिवाजी। दाराशिकोह को जयसिंह ने ही गिरफ्तार किया था, शाहआलम को बनारस के निकट युद्ध में बन्दी बनाकर लाना जयसिंह का ही काम था। छत्रसाल से औरंगजेब की सन्धि जयसिंह ने ही कराई थी और शिवाजी को मुग़ल दरबार में लाना भी जयसिंह का ही काम था। औरंगजेब के भी हिन्दुओं पर अत्याचार जयसिंह की मृत्यु के बाद ही बढ़े थे और विरोधियों से उसे पराभव और पतन भी जयसिंह के बाद ही सहना पड़ा था।

बिहारी का अपना जातीय दृष्टिकोण था। उन्हें जयसिंह का यह मुग़लों के प्रति अनुचित पक्षपात अच्छा नहीं लगता था। किन्तु एक तो औरंजेब के क्रूर अत्याचार उनके सामने आये नहीं थे, दूसरे हिन्दुओं में भी तब तक प्रतिशोध की भावना पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं हुई थी। इसीलिये उनकी कविता में जातीय भावों की इतनी तीव्रता नहीं है। फिर भी यत्रतत्र अन्योक्तियों के माध्यम से उन्होंने अपनी भावना व्यक्त
ी है—

की प्रौढ़ता इत्यादि के उपदेश दिये गये हैं। निम्नलिखित दोहे में सुरत समय की 'नहीं' का महत्त्व बतलाया गया है—

नहिं टीको न गुलीन्बदौ नहिं हमेल नहिं हारु।
सुरत समै इक नाहि पै नख सिख होति सिंगारु॥

इसी प्रकार मकान में डाट बाँधने के लिए जिस प्रकार किसी मध्यवर्ती लदान की आवश्यकता पड़ती है और डाट के जुड़ जाने पर उसके हटाने में ही कल्याण दिखाई देता है उसी प्रकार प्रेम को जोड़ने के लिए किसी दूती की आवश्यकता पड़ती है, बाद में उसके हटाने से ही काम चलता है। यह बात निम्नलिखित दोहे में कही गई है—

कालबूत दूती बिना जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारे बनैं पाकैं प्रेम-लदाइ॥

प्रशस्ति-काव्य

बिहारी ने कुछ प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं। किन्तु उनमें बिहारी का मन नहीं लगा है। एक तो प्रशस्ति-काव्य मुक्तक-परम्परा का निकृष्टतम रूप है, दूसरे बिहारी को जयसिंह का यह तरीका पसन्द नहीं था कि वे मुगलों का साथ देकर अपने ही वर्ग का विनाश करते थे। इसीलिए उन्होंने अधिक अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करना उचित नहीं समझा। यों तो बिहारी की प्रकृति अत्युक्ति प्रिय थी तथा प्रशस्तियों में ही अत्युक्ति का अधिक अवसर भी रहता है, किन्तु बिहारी का इस विषय में अत्युक्ति का आश्रय न लेना यह सिद्ध करता है कि बिहारी खुशामद पसन्द व्यक्ति नहीं थे और न उन्हें जयसिंह का तरीका ही पसन्द था। यों एकाध स्थान पर उन्होंने जयसिंह की अविवेकपूर्ण दानशीलता पर कटाक्ष भी किया है। जैसे—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय माल।
भेंट भये जयसाहि सों भागु चाहियतु भाल॥

इसी प्रकार जयसिंह की अनुदारता पर भी कटाक्ष किया गया है—

थोरे ही गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनौ भये आजुकाल्हि के दानि॥

बिहारी ने जयसिंह की कविता के प्रसंग में जो दोहे लिखे हैं इतिहास के साक्ष्य पर वे सब तथ्य सिद्ध होते हैं। निःसन्देह औरंगजेब की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय जयसिंह को ही प्राप्त है। औरंगजेब और शिवाजी की संधि कराकर हिन्दू और तुर्कों की स्त्रियों के सौभाग्य की रक्षा भी एक ऐतिहासिक तथ्य ही है।

काव्य-शास्त्रीय पक्ष

आचार्य शुक्ल ने बिहारी को रीति-ग्रंथकार कवियों में स्थान दिया है। इस विषय में उनका दृष्टिकोण यह है कि बिहारी के दोहों को देखने से मालूम पड़ता है कि इनकी रचना करते समय कवि का ध्यान काव्य-शास्त्रीय प्रस्थापनाओं की ओर

की जा सकती थी। बहु विवाह पूरे जोर पर प्रचलित था। स्त्रियों में आभूषण-प्रियता घर किये हुये थी और सम्पन्न घरानों में स्वर्ण के स्थान पर माणिक्य कर्पूरमणि इत्यादि का प्रयोग किया जाता था। बिहारी ने अंगप्रत्यंग के आभूषणों का उल्लेख किया है। इनका आभूषणमय रूप चित्रण इस तथ्य को इङ्गित करता है कि इस काल में आभूषणों का आम प्रचलन था। दाम्पत्य जीवन के आमोद-प्रमोदों में मदिरा का विशेष स्थान था। पर्दा प्रथा प्रचलित थी, स्त्रियाँ घूंघट करती थीं, बिहारी के एक दोहे में बुर्के का वर्णन भी पाया जाता है।

समाज में अन्धविश्वास का पर्याप्त प्रसार था, स्त्रियाँ जादू टोना जानती थीं और उनका प्रयोग भी करती थीं। बिहारी ने कई अन्धविश्वासों का उल्लेख किया है जैसे भूत, प्रेत, चुड़ैल इत्यादि का वर्णन, डिठौना लगाना, अंगस्फुरण, शकुन, मन्त्र की कटोरी इत्यादि। बिहारी-सतसई में अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोदों और खेलों की भी प्रतिच्छाया पाई जाती है। इनमें कुछ हैं--फिरकी,चकई, लट्टू नचाना, शिकार खेलना-चोर मिचहुनी का खेल खेलना, नृत्यगान, हिंडोला, पट्टेबाजी, मदारियों की कलाबाजी इत्यादि। इसी प्रकार होली, तीज, श्राद्ध पक्ष, दशहरा, गणेश पूजन, संक्रान्ति इत्यादि कतिपय त्योहारों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार योग साधना, यज्ञ, होम इत्यादि धार्मिक विधियों का भी उपादान किया गया है।

ऊपर जिन सामाजिक तथा राजनैतिक गतिविधियों की बिहारी सतसई में प्रतिच्छाया का संकेत किया गया है उनमें अधिकांश एकमात्र उस समय की ही विशेषतायें नहीं हैं। उनमें बहुत-सी आज भी उसी रूप में पाई जाती हैं। इसका एक तो कारण यह है कि बिहारी का समय आज से अधिक व्यवहित नहीं है,दूसरी बात यह है कि ये धार्मिक रूढ़ियाँ चिरकाल से बद्धमूल हो चुकी हैं। यहाँ केवल यही दिखलाना है कि कवि आँख खोलकर वस्तु-जगत् का अवलोकन करते हुये आगे बढ़ा है और उसने जीवन के अनेक क्षेत्रों से काव्यवस्तु का भी उपादान किया है तथा अप्रस्तुत विधानों का भी ग्रहण किया है।

मुक्तक-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिफलन

मुक्तक-काव्य काव्य की वह विधा है जिसमें 'कल्पना की समाहार शक्ति' और 'भाषा की समास शक्ति' के माध्यम से काव्य की समस्त विशेषतायें एक ही पद्य में समाहित हो जाती हैं। 'मुक्तक एक ऐसा पद्य है जो परतः निरपेक्ष रहते हुये पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, काव्य के लिये अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेषताओं से मुक्त हो अपनी काव्यगत विशेषताओं में (इसकी समस्त सामग्री को समाये हुये होने) के कारण आनन्द देने में समर्थ हो, जिसका गुंफन अति-रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द सहोदर रस चर्वणा के प्रभाव से हृदय को मुक्तावस्था प्रदान

शक्ति मूलक के भेद असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (रसध्वनि) का ऊपर विस्तार पूर्वक परिचय दिया ही जा चुका है। संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के प्रायः सभी भेद इस संकलन में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जावेंगे।

बिहारी काव्य में अलंकारों को अनिवार्य नहीं मानते थे। कभी-कभी तो स्वाभाविक सौन्दर्य के अपहारक होकर ये अलंकार अवांछनीय भी हो जाते हैं। किन्तु फिर भी बिहारी ने अलंकारों का उन्मुक्त रूप से खुलकर प्रयोग किया है। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अलंकारों से बिहारी ने वर्ण्य-विषय की तथा रस की पुष्टि ही की है—स्वाभाविक सुन्दरता पर अलंकार कहीं हावी नहीं हुये हैं। कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

(अ) 'भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन' —पूर्णोपमा।

(आ) 'चढ़ी अटा निरखति घटा बिज्जु छटा-सी नारि' —लुप्तोपमा।

(इ) 'अरुन सरोरुह कर चरन दृगखंजन मुखचन्द।
समय आई सुन्दरि सरद काहि न करति अनन्द। —रूपक।

(ई) 'जोनु नहीं यह तपु वहै किये जु जगत निकेतु। —अपह्नुति।

(उ) चटक न छाड़त घटतहू सज्जन नेहु गभीर।
फीकौ परै न वरु फटै रंग्यो चोलरंगु चीर॥ —प्रतिवस्तूपमा।

(ऊ) चमचमात चंचल नयन विच घूंघट-पट छीन।
मानहुं सुरसरिता विमलजल उछरत जुग मीन॥ —उत्प्रेक्षा।

(ए) दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठि दुरजन हियँ दई नई यह रीति॥ —व्यतिरेक।

(ऐ) तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूढ़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥ —दीपक।

(ओ) सरस कुसुम मण्डरात अलिन झुकि झपटि लपटात।
दरसन अति सुकुमार तनु परसत मनु न पत्यात॥ —समासोक्ति।

(औ) चितु तरसत मिलत न बनत बसि परोस के बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास॥ —विशेषोक्ति।

(अं) मोरचंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमान।
लखवी पाइनु पर लुठति सुनियतु राधामान॥ —पर्यायोक्ति।

इसी प्रकार प्रायः सभी अलंकारों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। यद्यपि बिहारी ने अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध किया है और अनेकशः उनकी अवांछनीयता का उल्लेख किया है फिर भी इनका शायद ही कोई दोहा हो जिसमें कोई न कोई अलंकार न पाया जाता हो। कई दोहों में तो अनेक अलंकार उलझे पड़े हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार अलंकार योजना की ऐसी निपुणता लक्षण ग्रन्थकारों को भी नसीब नहीं। अलंकारों की यह सफाई बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि सिद्ध करती है। बिहारी में वाग्वैदग्ध्य बहुत ही उच्चकोटि का है। साथ ही इन्होंने

लक्ष्य, फिर भी बाण छूटता है और लक्ष्य बिंध जाता है; सामान्य धनुर्धर कभी चूक भी जाते हैं किन्तु नायिका के नेत्र लक्ष्य-वेध में कभी चूकते नहीं। कितना बड़ा आश्चर्य है। किन्तु इतना ही नहीं यहाँ तो उल्टी शिकार भी खेली जाती है। यह तो सभी ने सुना होगा कि नागरिक लोग जंगली हिरणों का शिकार खेलते हैं किन्तु यह बिहारी की नायिका में ही सुना गया है कि जंगली हिरण भी नागरिकों का शिकार खेलते हैं :—

खेलन सिखये अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

इसी प्रकार नायिका के नैन बाण लगते नेत्रों में हैं; घाव हृदय में करते हैं और अन्य अंगों में पीड़ा देते हैं। कितनी विचित्र असंगित है? नेत्रों के लिये केवल बाणों का ही नहीं अनेक अन्य शिकारियों का भी अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत किया गया है। कहीं बाण के शिकार से उपमा दी गई है जो नीचे-नीचे उड़ता रहता है और ऊपर उठकर अकस्मात् अपने शिकार को झपट लेता है। कहीं चीते के शिकार की उपमा दी गई जो डाली की ओट में बैठा रहकर अकस्मात् अपने शिकार पर टूट पड़ता है। नायिका के नेत्र भी घूंघट में छिपे रहकर अकस्मात् ही अपने लक्ष्य पर आक्रमण करते हैं। अन्य वर्णनों में बिहारी ने पैरों का और मुख का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन किया है और वहां पर कल्पनायें भी अपेक्षाकृत अधिक उदात्त हो गई हैं। सर्वांग सौन्दर्य वर्णन भी अधिक मनोरम है। इस प्रकार बिहारी ने नखशिख का वर्णन पूरी ऊहापोह के साथ किया है। यह सब वर्णन नायिका के अलंकारों में ही आयेगा। दूसरे अलंकारों में विलास, किलकिंचित्, कुट्टमित, तपन और विक्षेप हावों के वर्णन में अधिक कलात्मकता का परिचय दिया है।

उपर्युक्त हाव वर्णन अधिकतर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही आता है। इनके अतिरिक्त भी बिहारी ने नायक-नायिकाओं की विभिन्न उद्दीपक चेष्टाओं का वर्णन किया है जिनको भावोद्दीपक होने के कारण हम उद्दीपन विभाव में सन्निविष्ट कर सकते हैं और भाव प्रेरक होने के कारण अनुभाव में भी सन्निविष्ट कर सकते हैं।

अनुभाव वर्णन

रस शास्त्र में अनुभाव का अत्यधिक महत्त्व है। वस्तुत: ध्वनिकार के अनुसार रस कभी वाच्य नहीं होता, वह सर्वदा व्यंग्य ही होता है। उसकी व्यंजना अनुभावों के द्वारा ही होती है। अनुभाव उन सब तत्त्वों को कहा जा सकता है जो भावाभिव्यंजन में कारण हों। इसके अन्तर्गत शारीरिक चेष्टायें भी आ जाती हैं, वचन भंगिमा भी आती है और सात्विक भाव भी आते हैं। प्रत्यक्ष प्रेमाभिव्यंजक वचन, सम्भोगेच्छा प्रकाशक वक्रोक्तियाँ, खण्डिता की कटूक्तियाँ इत्यादि सभी प्रकार के भावाभिव्यंजक वचन वाचिक अनुभाव में सम्मिलित किये जा सकते हैं। कहीं-कहीं बिहारी ने नेत्रों से बातों का भी बड़ा सुन्दर अभिव्यंजन किया है :—

शक्ति मूलक के भेद असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (रसध्वनि) का ऊपर विस्तार पूर्वक परिचय दिया ही जा चुका है। संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के प्रायः सभी भेद इस संकलन में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जावेंगे।

विहारी काव्य में अलंकारों को अनिवार्य नहीं मानते थे। कभी-कभी तो स्वाभाविक सौन्दर्य के अपहारक होकर ये अलंकार अवांछनीय भी हो जाते हैं। किन्तु फिर भी बिहारी ने अलंकारों का उन्मुक्त रूप से खुलकर प्रयोग किया है। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अलंकारों से बिहारी ने वर्ण्य-विषय की तथा रस की पुष्टि ही की है—स्वाभाविक सुन्दरता पर अलंकार कहीं हावी नहीं हुये हैं। कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

(अ) 'भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन' —पूर्णोपमा।

(आ) 'चढ़ी अटा निरखति घटा बिज्जु छटा-सी नारि' —लुप्तोपमा।

(इ) 'अरुन सरोरुह कर चरन दृगखंजन मुखचन्द।
समय आई सुन्दरि सरद काहि न करति अनन्द। —रूपक।

(ई) 'जोनु नहीं यह तपु वहै किये जु जगत निकेतु। —अपह्नुति।

(उ) चटक न छाड़त घटतहू सज्जन नेहु गभीर।
फीकौ परै न वरु फटै रंग्यो चोलरंगु चीर॥ —प्रतिवस्तूपमा।

(ऊ) चमचमात चंचल नयन बिच घूंघट-पट छीन।
मानहुं सुरसरिता विमलजल उछरत जुग मीन॥ —उत्प्रेक्षा।

(ए) दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठि दुरजन हिये दई नई यह रीति॥ —व्यतिरेक।

(ऐ) तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूढ़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥ —दीपक।

(ओ) सरस कुसुम मण्डरात अलिन झुकि झपटि लपटात।
दरसन अति सुकुमार तनु परसत मनु न पत्यात॥ —समासोक्ति।

(औ) चितु तरसत मिलत न बनत वसि परोस के बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास॥ —विशेषोक्ति।

(अं) मोरचंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमान।
लखवी पाइनु पर लुठति सुनियतु राधामान॥ —पर्यायोक्ति।

इसी प्रकार प्रायः सभी अलंकारों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। यद्यपि विहारी ने अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध किया है और अनेकशः उनकी अवांछनीयता का उल्लेख किया है फिर भी इनका शायद ही कोई दोहा हो जिसमें कोई न कोई अलंकार न पाया जाता हो। कई दोहों में तो अनेक अलंकार उलझे पड़े हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार अलंकार योजना की ऐसी निपुणता लक्षण ग्रन्थकारों को भी नसीब नहीं। अलंकारों की यह सफाई विहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि सिद्ध करती है। विहारी में वाग्वैदग्ध्य बहुत ही उच्चकोटि का है। साथ ही इन्होंने

लक्ष्य, फिर भी बाण छूटता है और लक्ष्य बिध जाता है; सामान्य धनुर्धर कभी चूक भी जाते हैं किन्तु नायिका के नेत्र लक्ष्य-वेध में कभी चूकते नहीं। कितना बड़ा आश्चर्य है। किन्तु इतना ही नहीं यहाँ तो उल्टी शिकार भी खेली जाती है। यह तो सभी ने सुना होगा कि नागरिक लोग जंगली हिरणों का शिकार खेलते हैं किन्तु यह बिहारी की नायिका में ही सुना गया है कि जंगली हिरण भी नागरिकों का शिकार खेलते हैं :—

खेलन सिखये अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

इसी प्रकार नायिका के नैन बाण लगते नेत्रों में हैं; घाव हृदय में करते हैं और अन्य अंगों में पीड़ा देते हैं। कितनी विचित्र असंगति है? नेत्रों के लिये केवल बाणों का ही नहीं अनेक अन्य शिकारियों का भी अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत किया गया है। कहीं बाज के शिकार से उपमा दी गई है जो नीचे-नीचे उड़ता रहता है और ऊपर उठकर अकस्मात् अपने शिकार को झपट लेता है। कहीं चीते के शिकार की उपमा दी गई जो डाली की ओट में बैठा रहकर अकस्मात् अपने शिकार पर टूट पड़ता है। नायिका के नेत्र भी घूंघट में छिपे रहकर अकस्मात् ही अपने लक्ष्य पर आक्रमण करते हैं। अन्य वर्णनों में बिहारी ने पैरों का और मुख का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन किया है और वहां पर कल्पनायें भी अपेक्षाकृत अधिक उदात्त हो गई हैं। सर्वांग सौन्दर्य वर्णन भी अधिक मनोरम है। इस प्रकार बिहारी ने नखशिख का वर्णन पूरी ऊहापोह के साथ किया है। यह सब वर्णन नायिका के अलंकारों में ही आयेगा। दूसरे अलंकारों में विलास, किलकिंचित्, कुट्टमित, तपन और विक्षेप हावों के वर्णन में अधिक कलात्मकता का परिचय दिया है।

उपर्युक्त हाव वर्णन अधिकतर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही आता है। इनके अतिरिक्त भी बिहारी ने नायक-नायिकाओं की विभिन्न उद्दीपक चेष्टाओं का वर्णन किया है जिनको भावोद्दीपक होने के कारण हम उद्दीपन विभाव में सन्निविष्ट कर सकते हैं और भाव प्रेरक होने के कारण अनुभाव में भी सन्निविष्ट कर सकते हैं।

अनुभाव वर्णन

रस शास्त्र में अनुभाव का अत्यधिक महत्त्व है। वस्तुत: ध्वनिकार के अनुसार रस कभी वाच्य नहीं होता, वह सर्वदा व्यंग्य ही होता है। उसकी व्यंजना अनुभावों के द्वारा ही होती है। अनुभाव उन सब तत्त्वों को कहा जा सकता है जो भावाभिव्यंजन में कारण हों। इसके अन्तर्गत शारीरिक चेष्टायें भी आ जाती हैं, वचन भंगिमा भी आती है और सात्विक भाव भी आते हैं। प्रत्यक्ष प्रेमाभिव्यंजक वचन, सम्भोगेच्छा प्रकाशक वक्रोक्तियाँ, खण्डिता की कटूक्तियाँ इत्यादि सभी प्रकार के भावाभिव्यंजक वचन वाचिक अनुभाव में सम्मिलित किये जा सकते हैं। कहीं-कहीं बिहारी ने नेत्रों से बातों का भी बड़ा सुन्दर अभिव्यंजन किया है :—

बिहारी के दोहों में दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त बिहारी को राजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, कूटनीति, युद्ध की प्रक्रिया, रसायनशास्त्र, यज्ञविधि, कामशास्त्र की विशेष विधि, शिकार तथा गणित का चलता हुआ ज्ञान था। महाभारत और रामायण की अनेक कथाओं की छाया भी बिहारी-सतसई में पाई जाती है। इसी प्रकार अन्य पौराणिक कथाओं का भी उपादान बिहारी ने अपने काव्य विषय के लिये किया है। लोकवृत्त में नट का खेल, नृत्य, गानविद्या, पतंगबाजी, चोर मिचहुनी का खेल, लट्टू नचाना, चौगान खेलना, कृषिकार्य, पुष्पों का ज्ञान, पशु-पक्षियों के स्वभाव का ज्ञान, देश-विदेश की विशेषतायें इत्यादि अनेक ऐसे विषय हैं जिनमें बिहारी का यदि पूर्ण पाण्डित्य नहीं तो रुचि अवश्य सिद्ध होती है।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में बिहारी-सतसई ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसने कवि को इतनी प्रतिष्ठा देकर यह प्रमाणित कर दिया है कि कवि की रचना का परिमाण नहीं अपितु उसकी उच्चता ही कवि को यश देने में कारण होती है। केवल दोहा जैसे छोटे ७०० छन्दों की रचना कर बिहारी ने जो यश उपार्जित किया है वह बड़े-बड़े कवियों के लिये भी दुर्लभ है। इन ७०० दोहों में ही काव्य-शास्त्र के सभी अंगों, मुक्तक काव्य की सभी विशेषताओं और काव्य के सभी प्रयोजनों का इस मात्रा में प्रतिफलन बिहारी के विषय में इस उक्ति को नितान्त रूप में सिद्ध करता है कि बिहारी ने गागर में सागर भरा है। अनेकशः पुराने कवियों की सूक्तियों को लेकर कवि ने निस्सन्देह उनमें नवीन चमक उत्पन्न कर दी है। बिहारी स्वयं में तो इतने महान् हैं हीं, उनकी रचना का परवर्ती साहित्य में बहुत अधिक आश्रय लिया गया है और अनेक कवियों की कवितायें बिहारी की छाया पाई जाती है। इतनी बड़ी संश्लिष्ट कृति में कुछ दोषों का रह जाना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु बिहारी की महत्ता में कभी किसी आलोचक ने प्रश्न वाचक चिह्न नहीं लगाया। निस्संदेह बिहारी धन्य हैं और हम सब उनकी कृति का रसास्वादन कर कृतार्थ हो गये हैं।



रस में कपूर इत्यादि किसी द्रव्य की उत्कट रूप में पृथक् प्रतीति होने लगती है तब कहा जाता है कि अमुक भोज्य पदार्थ में कपूर का स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार रस व्यंजना में भी कभी-कभी किसी संचारी भाव की उत्कट प्रतीति होती है तब उस भाव की ध्वनि कही जाती है। संचारी भावों की संख्या ३३ है और इनकी पृथक्-पृथक् अभिव्यंजना विहारी के काव्य में अनेकशः दिखलाई जा सकती है। यहाँ पर दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

मानु तमासो करि रही विवस वारुनी सेइ।
झुकति हंसति हंसि हंसि झुकति झुकि-झुकि हसि देइ॥

यहाँ पर मद संचारी की अभिव्यंजना है। निम्नलिखित दोहे में व्रीड़ा की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है :—

सटपटाति सें ससिमुखी मुख घूंघट-पटु ढांकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि॥

इसी प्रकार हर्ष, चपलता, आवेग, स्मृति, विषाद इत्यादि संचारियों की भी व्यंजना दिखलाई जा सकती है। एक रस में स्थायी भाव दूसरे में संचारी हो सकते हैं। इस प्रकार सभी स्थायी भावों को संचारी भाव के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है किन्तु शृंगार में संचारी हो जाता है। रति के लिये एक विशेष नियम यह है कि दाम्पत्य रति शृंगार का स्थायी है किन्तु अन्य विषयक रति भाव-ध्वनि के ही क्षेत्र में आती है। इस प्रकार भगवद्विषयक रति इत्यादि का वर्णन भाव-ध्वनि में ही आयेगा। केवल भाव ही नहीं भाव की अनेक अवस्थायें जैसे भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शान्ति और भाव सबलता भी आस्वाद्य होती हैं। दो भावों की सन्धि का एक उदाहरण लीजिये :—

समरस समर-संकोच वस विवस न ठिक ठहराइ।
फिरि-फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि-दुरि उझकत जाइ॥

यहाँ पर व्रीड़ा और औत्सुक्य की सन्धि का चमत्कार-कारक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार भाव की दूसरी दशाओं के भी उदाहरण विहारी में खोजे जा सकते हैं।

शृंगार रस

शृंगार को रसराज कहा जाता है क्योंकि यही एक रस समस्त प्राणि जगत् को हृद्य और काम्य होता है; इसी में सुख और दुःख दोनों पक्ष होते हैं तथा यही एकमात्र ऐसा रस है जो किसी दूसरी भावना से दबता नहीं। विहारी-सतसई का मुख्य प्रवृत्ति निमित्त यही रस है और इसमें इस रस के सभी अंगोपांग तथा सभी पक्ष पर्याप्त मात्रा में प्रतिफलित हुये हैं। संयोग शृंगार को लीजिये। जहाँ पर विलासी दम्पति दर्शन-स्पर्श इत्यादि सुख का अनुभव करते हैं वहाँ पर संयोग शृंगार होता है। इसके चुम्बन, परिरम्भण इत्यादि असंख्य भेद हो सकते हैं तथा वन-विहार, जल-केलि,

बिहारी के दोहों में दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त बिहारी को राजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, कूटनीति, युद्ध की प्रक्रिया, रसायनशास्त्र, यज्ञविधि, कामशास्त्र की विशेष विधि, शिकार तथा गणित का चलता हुआ ज्ञान था। महाभारत और रामायण की अनेक कथाओं की छाया भी बिहारी-सतसई में पाई जाती है। इसी प्रकार अन्य पौराणिक कथाओं का भी उपादान बिहारी ने अपने काव्य विषय के लिये किया है। लोकवृत्त में नट का खेल, नृत्य, गानविद्या, पतंगबाजी, चोर मिचहुनी का खेल, लट्टू नचाना, चौगान खेलना, कृषिकार्य, पुष्पों का ज्ञान, पशु-पक्षियों के स्वभाव का ज्ञान, देश-विदेश की विशेषतायें इत्यादि अनेक ऐसे विषय हैं जिनमें बिहारी का यदि पूर्ण पाण्डित्य नहीं तो रुचि अवश्य सिद्ध होती है।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में बिहारी-सतसई ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसने कवि को इतनी प्रतिष्ठा देकर यह प्रमाणित कर दिया है कि कवि की रचना का परिमाण नहीं अपितु उसकी उच्चता ही कवि को यश देने में कारण होती है। केवल दोहा जैसे छोटे ७०० छन्दों की रचना कर बिहारी ने जो यश उपार्जित किया है वह बड़े-बड़े कवियों के लिये भी दुर्लभ है। इन ७०० दोहों में ही काव्य-शास्त्र के सभी अंगों, मुक्तक काव्य की सभी विशेषताओं और काव्य के सभी प्रयोजनों का इस मात्रा में प्रतिफलन बिहारी के विषय में इस उक्ति को नितान्त रूप में सिद्ध करता है कि बिहारी ने गागर में सागर भरा है। अनेकशः पुराने कवियों की सूक्तियों को लेकर कवि ने निस्सन्देह उनमें नवीन चमक उत्पन्न कर दी है। बिहारी स्वयं में तो इतने महान् हैं हीं, उनकी रचना का परवर्ती साहित्य में बहुत अधिक आश्रय लिया गया है और अनेक कवियों की कवितायें बिहारी की छाया पाई जाती है। इतनी बड़ी संश्लिष्ट कृति में कुछ दोषों का रह जाना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु बिहारी की महत्ता में कभी किसी आलोचक ने प्रश्न वाचक चिह्न नहीं लगाया। निस्संदेह बिहारी धन्य हैं और हम सब उनकी कृति का रसास्वादन कर कृतार्थ हो गये हैं।

———

वाही दिन तैं ना मिट्यो मानु, कलह को मूलु।
भलैं पधारे, पाहुने ह्वै गुडहर को फूलु॥

इसी प्रकार विप्रलम्भ के अन्य भेदों—विरह और प्रवास—के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में काम की १० दशायें अभिलाष, चिन्ता इत्यादि बतलाई गई हैं। इन सबके उदाहरण बिहारी में अधिगत हो जाते हैं। इस प्रकार शृंगार वर्णन की दृष्टि से बिहारी पूर्ण हैं और इसी एक संकलन के आधार पर शृंगार रस के सभी भेदोपभेदों का भली-भाँति अध्ययन किया जा सकता है।

अन्य रस

बिहारी की प्रवृत्ति मुख्यतया शृंगार परक ही है और वह समय भी शृंगार के ही अनुकूल था। हिन्दी रीतिकालीन काव्य-शास्त्रों में भी शृंगार रस का ही विस्तार के साथ निरूपण किया जाता था शेष रसों के चलते हुये उदाहरण दे दिये जाते थे। बिहारी-सतसई में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। हास्य रस की संस्कृत और हिन्दी साहित्य दोनों में कमी रही है। इसके आलम्बन या तो ज्योतिषी होते थे या वैद्य अथवा किसी पेटू ब्राह्मण को हास्य रस का आलम्बन बनाया जाता था। बिहारी ने भी ज्योतिषी और वैद्य को लेकर कुछ हास्य रस के दोहे लिखे हैं। एक उदाहरण लीजिये :—

चित पितु-मारक-जोग गनि भयौ, भये सुत सोगु।
फिरि हुलस्यो जिय जोइसी समुझै जारज जोगु॥

ज्योतिषी जी अपने पुत्र के जन्म होने पर उसकी जन्म-पत्री पर विचार कर रहे हैं। उसमें पिता को मारने वाला योग पड़ा है। ज्योतिषी को बड़ा दुःख हुआ कि पुत्र मेरी ही मृत्यु का कारण बना। किन्तु जब आगे विचार किया और देखा कि यह पुत्र तो अपने बाप से नहीं किसी और से पैदा हुआ है तब उसका दुःख दूर हुआ।

वीर रस के चारों उपभेद और रौद्र रस की अभिव्यक्ति जयसिंह की प्रशस्तियों में हुई है। किन्तु बिहारी का स्वभाव खुशामद का नहीं था। अतएव इन वर्णनों में न तो उनका अभिनिवेश दृष्टिगत होता है और न उनमें बिहारी की सशक्त कला के ही दर्शन होते हैं। करुण पूर्ण रस रूप से कहीं निष्पन्न नहीं हुआ है। गोपियों की करुणा विप्रलम्भ शृंगार में आती है। निम्नलिखित दोहे में करुण रस की हल्की सी छाया दृष्टिगत होती है :—

कहे जु वचन वियोगिनी विरह-विकल विललाइ।
किये न को अंसुवा-सहित सुआ ति बोल सुनाइ॥

यहां पर टीकाकारों ने नायिका की मृत्यु परक योजना की है। शास्त्र में विशिष्ट होने के कारण बिहारी स्पष्ट रूप में मृत्यु का वर्णन कर ही नहीं सकते थे। इसलिये इसमें करुण की हल्की सी ही छाया आ सकी है। वीभत्स और भयानक रसों

सतसई-परम्परा

'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत के सप्तशती और सप्तशतिका शब्दों के रूपान्तर हैं, जो सात सौ पद्यों के संग्रह-रूप में रूढ़ हो गये हैं।[1]

भारतीय संस्कार कुछ ऐसे हैं जिनके कारण हम प्रत्येक श्रेष्ठ एवं ग्राह्य वस्तु को एक निश्चित संख्या में जानने के अभ्यासी हैं। त्रिदेव, त्रिलोक, चतुर्वेद, पंचाग्नि-यज्ञ, षट्-शास्त्र, सप्तसिन्धु, अष्टसिद्धियाँ, नवनिधियाँ, दशावतार, इत्यादि उदाहरण इसके प्रमाण हैं। काव्य-संग्रहों में इन अल्प संख्याओं से सन्तोष नहीं हो सकता था। यद्यपि अष्टयाम, मदनाष्टक, वीराष्टक जैसी केवल आठ ही पद्यों पर आधारित अनेक काव्य-कृतियाँ भी उपलब्ध हैं, तथापि इनके द्वारा कृतिकार के कवित्व का समग्र परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। संस्कृत में (पंचाशिका) एवं हिन्दी में 'बाइसी', 'पचीसी' आदि के नाम से अपेक्षतः न्यून-संख्यापरक कतिपय रचनाएं भी मिलती हैं। किन्तु वे उतनी लोकप्रिय नहीं हो पाईं जितनी शतक अथवा सप्तशती में बद्ध रचनाएं। भर्तृहरि कृत नीतिशतक, वैराग्यशतक तथा शृंगार-शतक, मयूरकृत—'सूर्यशतक', बाण-रचित 'चण्डी-शतक', अमरुक कृत 'अमरुक-शतक' एवं मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत 'दुर्गा-सप्तशती', आदि रचनाएं विख्यात हैं। महाभारत के अन्तर्गत गीता में भी सात सौ श्लोक हैं।

हिन्दी की सतसई-परम्परा पर्याप्त समृद्ध है। शैली एवं विषय—दोनों की दृष्टि से इसके प्रेरणा-स्रोत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-काव्य से जुड़े हैं। रीतिकाल पूर्व हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में दो सतसइयाँ रची गईं। प्रथम तुलसी-सतसई एवं द्वितीय रहीम-सतसई। ये दोनों सतसइयाँ मुख्यतः सूक्ति-परक हैं। इनमें से रहीम-सतसई के आजकल कुछ ही दोहे उपलब्ध हैं। भक्तिकाल में ही निर्गुणधारा के ज्ञानमार्गी कवि अक्षर अनन्य द्वारा दुर्गासप्तशती का हिन्दी अनुवाद किया गया।[2] शुद्ध धार्मिक रचना होने के कारण, यह सतसई अन्य हिन्दी-सतसइयों से कुछ अलग पड़ जाती है।

रीतिकाल में रचित 'वृन्द-सतसई' एवं 'बुधजन-सतसई' विशेष प्रसिद्ध है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हृदयस्पर्शी उक्तियों को सरल तथा मुहावरेदार भाषा में प्रस्तुत करना इस सतसई की विशेषता है। वृन्द द्वारा ही रचित एक अन्य सतसई (अलंकार-सतसई) का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

रीतिकाल में रचित अन्य सभी सतसइयाँ प्रमुखतः शृंगारपरक हैं जिनकी नाम सूची इस प्रकार है :—

---

१. पद्मसिंह शर्मा—बिहारी की सतसई, पृष्ठ २१।

२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ९१।

को दिया जाता था। बिहारी ने भी उसी का अनुकरण कर विशेष रूप से वसन्त और वर्षा का ही वर्णन किया है। वसन्त काल के वर्णन में वसन्त की शीतल मन्द-सुगन्धित पवन का ही वर्णन किया गया है। कहीं वायु को मस्त हाथी की उपमा दी गई है, कहीं थके बटोही की और कहीं पुष्पवती नवोढ़ा की। इसी प्रकार वसन्त में भौंरे के मंडराने का तथा कोयल इत्यादि की उद्दीपकता का भी वर्णन किया गया है। जहाँ वसन्त का वर्णन आलम्बन रूप में अधिक है वहाँ वर्षा के वर्णन में उद्दीपन रूपता अधिक है। पुरानी पराम्परा भी यही है। अन्य ऋतुओं का वर्णन अधिक विस्तार से तो नहीं किया गया है किन्तु फिर भी अच्छा बन पड़ा है। कवि ने ऋतु वर्णन के अतिरिक्त चाँदनी रात, प्रातःकाल, सघन कुंज, यमुना तट इत्यादि का भी या तो पृष्ठभूमि के रूप में वर्णन किया है या मुख्य रूप में उनके सौन्दर्य का चित्रण किया है। बिहारी का प्रकृति वर्णन संक्षिप्त होते हुये भी मनोरम तथा महत्त्वपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं।

धार्मिक-मुक्तक

बिहारी के समय तक भक्ति अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुंच चुकी थी और उसके ह्रास का समय आ गया था। बिहारी स्वयं भक्त नहीं थे। किन्तु उन्होंने भक्ति के जो दोहे लिखे हैं उनसे ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि मुक्तक का प्रतिनिधित्व मात्र करने के लिए इस कोष-ग्रंथ में उनका परम्परा निर्वाह मात्र कर दिया गया है। बिहारी के भक्ति के दोहे इतने उच्चकोटि के हैं कि किसी भी प्रतिष्ठित भक्त की सूक्तियों के जोड़ में उन्हें रखा जा सकता है। जहाँ कवि मोक्ष की अपनी लालसा प्रकट करता है और निदर्शन रूप में अनेक भक्तों को पेश करता है जिन्हें पहले मोक्ष दिया जा चुका है, वहां कवि सूर की सीमा में पदार्पण करता हुआ मालूम पड़ता है। साथ ही कवि अपने पापों और दुष्कर्मों का उल्लेख करते हुए भी नहीं थकता और कर्मों का लेखा-जोखा करने पर अपना उद्धार असम्भव बतलाता है। यदि भगवान् अन्य अधमों की भाँति कवि का उद्धार नहीं कर सकते तो कवि को भगवान् के गुणों में बंध जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। कवि उद्धार के विलम्ब पर खीजता भी है और भगवान् के पतितोद्धारक विरुद को चैलेंज भी देता है तथा केवल भगवान् के दरवाजे पर पड़े रहने की आज्ञाभर से सन्तुष्ट हो जाने की अपनी कामना व्यक्त करता है।

भक्ति के क्षेत्र में अपने उद्धार की प्रार्थना के अतिरिक्त कवि ने ऐसे भी दोहे लिखे हैं जिन्हें तत्त्वचिन्तन-परक कहा जा सकता है। कहीं संसार को काँच के समान कच्चा बतलाया गया है जिसमें एक ब्रह्म की छाया प्रतिफलित होती है। कहीं भगवान् की अलक्ष्ययिता का प्रतिपादन किया गया है और कहीं भगवान् के निराकार रूप का प्रतिपादन है। भक्त कवियों की भाँति समन्वयवाद तथा एकता का प्रतिफलन भी इनके काव्य में पाया जाता है और भक्त कवियों की ही भाषा में भगवद्भक्ति न करने वाले तथा भौतिकता में जकड़े हुए संसारी व्यक्तियों को फटकार भी बतलाई गई है।

दोनों में दोहा-संख्या ७०३ है। इनमें से अन्तिम दो दोहे आशीर्वाद-एवं प्रार्थनापरक हैं, जो निश्चय ही मतिराम के अतिरिक्त किसी अन्य संग्रहकर्त्ता अथवा प्रतिलिपिकार की सूझ हैं।

सतसई की मूल दोहा संख्या ७०१ ही समझनी चाहिये जो भारतीय परम्परा के अनुरूप ही है। किसी भी मंगल-कार्य में 'एक सौ' के स्थान पर 'एक सौ एक' की प्रवृत्ति, कथा के आरम्भ में अर्थ लिखने की प्रवृत्ति के समान ही है। आज भी दान देते समय लोग ११, ५१, १०१, ५०१ आदि संख्या रखते हैं। सात सौ की सीमा के अनन्तर का 'एक' जीवन की अग्रिम निरंतरता का सूचक है। इस प्रकार 'मतिराम-सतसई' की मूल दोहा संख्या ७०१ सोद्देश्य ही है।

रचना-काल

प्रायः विद्वानों ने मतिराम-सतसई का रचनाकाल, उनके 'रसराज' (१६६०-१७००) और 'ललितललाम' (१७१६) के पश्चात् स्वीकार किया है और अन्तिम आशीर्वाद-परक दोहे में उल्लिखित 'भोगनाथै' के अनुमानित समय संवत् १७२५ से १७३५ के मध्य इसका रचनाकाल माना है।[1] किन्तु कवि ने सतसई की रचना बिहारी के समान किसी आश्रयदाता की प्रसन्नता-प्राप्ति-हेतु नहीं की और न ही उसे बिहारी की भान्ति एक-एक दोहे का मूल्य प्राप्त करना था। उसके आश्रयदाता बूंदी नरेश भाऊसिंह थे जिनकी प्रशस्ति 'ललितललाम' में है। 'सतसई' में उल्लिखित भोगनाथ के सम्बन्ध में इतिहास कोई प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। वह कोई भी सहृदय हो सकता है जिसको सामान्य सम्मान देने के लिए कवि ने कुछ दोहे रच दिये, जिन्हें संग्रह-कर्त्ताओं अथवा प्रतिलिपिकारों ने सतसई में सम्मिलित कर लिया। उधर राजा भाऊसिंह का शासन काल सं० १७१५ से १७३८ इतिहास सिद्ध है, यदि सतसई की रचना इस अवधि में होती तो भाऊसिंह का उल्लेख इसमें अवश्य होता जिसने मतिराम को अत्यधिक धन-सम्पदा का दान और सम्मान दिया था। सं० १७३८ के पश्चात् इसकी रचना स्वीकार करना इस कारण अनुपयुक्त है क्योंकि इसके प्रायः दो सौ दोहे संवत् १७१६ से पूर्व रचे गये 'रसराज' और 'ललितललाम' में विद्यमान हैं। स्पष्टतः इन दोनों कृतियों की रचना के पूर्व ही मतिराम के मन में सतसई-रचना का संकल्प रहा होगा जिसकी पूर्ति एक दीर्घ अवधि में हो पाई जिसकी पूर्वापर सीमा सं० १६६० से १७४० बढ़ाई जा सकती है। इतना निर्विवाद है कि इसके दो-ढाई सौ उत्कृष्ट दोहों की रचना रसराज, सं० १६६०-१७०० से पूर्व हो चुकी थी और इस दृष्टि से इसे हम निस्संकोच बिहारी-सतसई (१७०४) से भी पहले की कृति मान सकते हैं।

---

१. पं० कृष्णबिहारी मिश्र, मतिराम ग्रन्थावली, पृष्ठ २३१।

उन्हीं विचारों को उन्होंने सूक्तियों के माध्यम से जन-साधारण तक पहुँचाने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं एक विचार प्रस्तुत करके उसका उत्तर भी दिया गया है। इस प्रकार उनकी अन्योक्तियों में प्रबन्ध रूपता भी आ जाती है। इनकी कतिपय अन्योक्तियां तत्कालीन राजनीति के विषय में भी लिखी गई प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए—

स्वारथ सुकृतु न श्रमु वृथा देखु विहंगु विचारी।
बाज पराये पानि परि तू पच्छीनु न मारि॥

यह अन्योक्ति शिवाजी और जयसिंह के सम्बन्ध पर लिखी जान पड़ती है। जयसिंह मुगलों का साथ देने के लिए शिवाजी से युद्ध किया करते थे। किन्तु यह बात बिहारी को अच्छी नहीं मालूम पड़ती थी। इसीलिये उक्त अन्योक्ति के द्वारा बिहारी ने जयसिंह का उद्‌बोधन किया है। निम्नलिखित अन्योक्ति में ज्ञात होता है कि औरंगजेब के अत्याचारों के दुष्परिणामों की भविष्यवाणी की गई है जो बाद में सत्य सिद्ध हुई—

गोधन तू हरष्यो हिये निधरक लेहु पुजाइ।
जानि परैगी ससि पर परत न पसुन के पाइ॥

इस प्रकार की अन्योक्तियां श्राद्ध पक्ष में कौआ के सम्मान को लेकर भी की गई हैं। तत्कालीन राजनीति विषयक कुछ तथ्योक्तियाँ भी लिखी गई थीं। जैसे—

दिसमु दुराजु प्रजानु में क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अंधेरो जग करै मिलि मावस रविचंद॥

इस दोहे में मुगलकालीन उत्तराधिकार के संघर्ष में द्विराज स्थापना के दोषों पर दृष्टिपात किया गया प्रतीत होता है। इस प्रकार बिहारी ने जनसाधारण के जीवन को सुख-सुविधामय तथा सफल बनाने के लिए तो सूक्तियां लिखी ही हैं, तत्कालीन राजनीति के दोषों पर भी दृष्टिपात किया है और उसकी बुराइयाँ दूर करने के लिए संकेत दिया है; यह दूसरी बात है कि उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका।

कामपरक सूक्तियों में स्त्री-पुरुष प्रेम-सम्बन्धी तथ्यों का उद्‌घाटन किया जाता है। बिहारी ने इस प्रकार की सूक्तियाँ भी लिखी हैं। सामान्यतः जहाँ विभावानुभाव इत्यादि के निर्देश के साथ रसात्मक वर्णन किया जाता है और व्यक्ति वैचित्र्य के माध्यम से साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा रसास्वादन कराया जाता है वह रसमय रचना होती है और जहाँ किसी वास्तविकता का उद्‌घाटन किया जाता है वह कामपरक सूक्ति होती है। इस प्रकार की सूक्तियों में बिहारी ने नेत्रों की प्रहारक शक्ति, प्रेम-पाश की अनिवार्यता, प्रेम को सब कुछ न्यौछावर करके भी न जाने देने का आग्रह, सुन्दरता का मनोगत रूप, प्रेम जोड़ने के लिए मध्यस्थ की आवश्यकता, प्रेम को छिपाकर निर्वाह करने में प्रेम की अभिवृद्धि का समर्थन, खिंचाव में ही प्रेम

संयोग की मादकता के साथ विप्रलम्भ की वेदना भी मतिराम-सतसई के शृंगार को पूर्णता प्रदान करती है। मोर-मुकुटधारी कन्हैया की रूपछटा-वश नायिका मन्त्र-मुग्ध है। वह पाषाणवत् हो गई है:—

अनमिच नैंन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान।
निरखैं मोर पखानिकैं, भई पखान-समान॥[1]

विरहिणी प्रिय के वियोग में मरणासन्न है, किन्तु निष्ठुर नायक को उसकी सुधि ही नहीं है। अन्तिम स्वांस लेती नायिका के आहत हृदय की व्यथा का बहुत ही मार्मिक-चित्र मतिराम ने प्रस्तुत किया है:—

लाज छुटी, गेहौ छुट्यौ, सुख सो छुट्यो सनेह।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिवैं देह॥

कुल-लाज, घर-बार और सुख को तो प्रेमिका कभी की छोड़ चुकी, अब प्रिय मिलन के अभाव में वह शरीरोत्सर्ग को भी उद्यत है।

इस प्रकार शृंगार के विभिन्न हृदय स्पर्शी चित्र मतिराम-सतसई में चित्रित हैं। संयोग की विभिन्न अवस्थाओं—दर्शन (चित्र, स्वप्न, मिलन), सुरत, ऋतुवर्णन तथा वियोग-दशाओं—अभिलाष, चिंता, उद्वेग, व्याधि, जड़ता आदि के क्रमानुसार उदाहरण रस-चक्र की पूर्णता के द्योतक हैं।

नायिका-भेद

शृंगारांतर्गत आलम्बन-रूप नायिका-नायक-वर्णन में रीतिकालीन कवियों की वृत्ति विशेषतः रमी है। फिर मतिराम तो विविध नायिकाओं के चतुर चितेरे के रूप में हिन्दी काव्यशास्त्र में विख्यात हैं। शृंगार-रस को मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श प्रदान करने के आलम्बन (नायिका) के परिस्थितिगत मनोभावों की सजीव अभिव्यक्ति मतिराम-सतसई का वैशिष्ट्य है। इसमें मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि भेदों को केवल आयुगत महत्त्व न देकर, उन्हें विविध मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का द्योतक बताया गया है। सतसई के ऐसे शताधिक-दोहों में से यहाँ स्थालीपुलाक न्यायानुसार कतिपय उदाहरण ही उद्धृत करने सम्भव हैं।

मुग्धा के यौवन-लावण्य का क्रमशः अधिकाधिक दीप्ति से झिलमिलाना प्रिय-नयनों की उत्तरोत्तर बढ़ती रूप-प्यास का कारण बन गया है:—

अभिनव-जौवन जोति सौं जगमग होत विलास।
तिय कैं तन पानिप बढ़ै, पिय के नैंननि प्यास॥[2]

नायिका के शरीर में 'पानी'—(आभा) की अधिकता होने पर भी नायक की 'प्यास'—(अतृप्ति) की वृद्धि होते जाने में जो विशेषोक्ति है, इसी में मतिराम का निजीपन है।

---

१. मतिराम-सतसई, पद ५३६।
२. वही, दोहा १८८।

अवश्य था। चाहे बिहारी को रीति-ग्रंथकार कवियों में स्थान दिया जा सके या न दिया जा सके, इसमें संदेह नहीं कि जाने अनजाने काव्य-शास्त्र की मर्यादाओं का इन दोहों में बहुत अधिक पालन किया गया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि बिहारी के आधार पर किसी ने नायिका भेद के अध्ययन करने की चेष्टा की, किसी ने अलंकारों का अध्ययन किया, किसी ने शृंगार-रस की दृष्टि से उसे अपनाया और किसी ने ध्वनि काव्य के समस्त भेदो पभेदों को उसमें लक्षित किया।

यहाँ पर बिहारी के सम्प्रदाय का प्रश्न भी सामने आता है। कोई इन्हें अलंकारवादी कहता है, कोई रसवादी और कोई ध्वनिवादी। इस दिशा में काव्य-प्रेरणा और काव्य-प्रवृत्ति पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि बिहारी ने यदि कोई दृष्टिकोण अपनी रचना के लिए अपनाया होगा तो वह ध्वनि-सिद्धान्त ही होगा। कारण यह है कि जब उनमें रस तथा अलंकार दोनों दृष्टियों की स्पष्ट प्रतिच्छाया पाई जाती है तब यह कहना पड़ता है कि अलंकार और रस दोनों का समन्वय ध्वनि-वाद में ही सम्पन्न है। दूसरी बात यह है कि बिहारी के दोहों में ध्वनि-काव्य सम्बन्धी प्राय: समस्त तत्त्व अधिगत हो जाते हैं। व्यंजना सम्बन्धी तत्त्वों को विद्वानों ने स्वीकार ही किया है और अभिव्यंजनाओं की दृष्टि से बिहारी का महत्त्व अक्षुण्ण माना ही गया है। लक्षणा का बिहारी के समय तक काव्य में अधिक प्रसार नहीं हुआ था। फिर भी आश्चर्य है कि लक्षणा के प्रायः सभी भेदों का अनेकशः प्रतिफलन हुआ है। कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(अ) 'पाइ महावर दैन को आवु भई बे पाइ' यहाँ वेपाइ में शब्दगत लक्षण-लक्षणा है जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में हेतु होती है। इसी प्रकार 'झलक्यो यौवन' 'गदराने तन' 'रूखे वचन' 'चित खटकति' 'मीठी लगै' इत्यादि उदाहरणों के विषय में भी समझना चाहिये।

(आ) "नेहु न नैननु को कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाइ।"

इस दोहे में वाक्यगत लक्षण-लक्षणा है। इसी प्रकार 'लाज गरब आलस उमग भरे नैन मुसकान' इत्यादि बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के बिहारी ने नेत्र विषयक दोहे ही अधिक लिखे हैं। किन्तु कुछ दोहे अन्य विषयों में भी लिखे गये हैं।

(इ) 'गीधे गीधहि तारि' में उपादान-लक्षणा है जो अविवक्षित-वाच्य के अर्थान्तर-संक्रमित भेद में काम देती है। इसी प्रकार 'केपकुसुम की बास' 'पतिनु राखि चादरि चुरीतैं राखी जयसाहि' इत्यादि उदाहरण भी अविवक्षित-वाच्य के ही हैं।

जिस प्रकार अविवक्षित-वाच्य के सभी भेद पर्याप्त मात्रा में बिहारी-सतसई में प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार विवक्षितान्यपर-वाच्य के शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ [illegible]क दोनों प्रकार के भेदों के अनेक उदाहरण इस ग्रन्थ में भरे पड़े हैं। अर्थ-

संयोग की मादकता के साथ विप्रलम्भ की वेदना भी मतिराम-सतसई के शृंगार को पूर्णता प्रदान करती है। मोर-मुकुटधारी कन्हैया की रूपछटा-वश नायिका मन्त्र-मुग्ध है। वह पाषाणवत् हो गई है :—

अनमिष नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान।
निरखै मोर पखानिकै, भई पखान-समान॥[1]

विरहिणी प्रिय के वियोग में मरणासन्न है, किन्तु निष्ठुर नायक को उसकी सुधि ही नहीं है। अन्तिम स्वांस लेती नायिका के आहत हृदय की व्यथा का बहुत ही मार्मिक-चित्र मतिराम ने प्रस्तुत किया है :—

लाज छुटी, गेहौ छुट्यौ, सुख सो छुट्यो सनेह।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिवे देह॥

कुल-लाज, घर-बार और सुख को तो प्रेमिका कभी की छोड़ चुकी, अब प्रिय मिलन के अभाव में वह शरीरोत्सर्ग को भी उद्यत है।

इस प्रकार शृंगार के विभिन्न हृदय स्पर्शी चित्र मतिराम-सतसई में चित्रित हैं। संयोग की विभिन्न अवस्थाओं—दर्शन (चित्र, स्वप्न, मिलन),सुरत,ऋतुवर्णन तथा वियोग-दशाओं—अभिलाष, चिंता, उद्वेग,व्याधि, जड़ता आदि के क्रमानुसार उदाहरण रस-चक्र की पूर्णता के द्योतक हैं।

नायिका-भेद

शृंगारांतर्गत आलम्बन-रूप नायिका-नायक-वर्णन में रीतिकालीन कवियों की वृत्ति विशेषतः रमी है। फिर मतिराम तो विविध नायिकाओं के चतुर चितेरे के रूप में हिन्दी काव्यशास्त्र में विख्यात हैं। शृंगार-रस को मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श प्रदान करने के आलम्बन (नायिका) के परिस्थितिगत मनोभावों की सजीव अभिव्यक्ति मतिराम-सतसई का वैशिष्ट्य है। इसमें मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि भेदों को केवल आयुष्गत महत्व न देकर, उन्हें विविध मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का द्योतक बताया गया है। सतसई के ऐसे शताधिक-दोहों में से यहाँ स्थालीपुलाक न्यायानुसार कतिपय उदाहरण ही उद्धृत करने सम्भव हैं।

मुग्धा के यौवन-लावण्य का क्रमशः अधिकाधिक दीप्ति से झिलमिलाना प्रिय-नयनों की उत्तरोत्तर बढ़ती रूप-प्यास का कारण बन गया है :—

अभिनव-जोबन जोति सों जगमग होत बिलास।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास॥[2]

नायिका के शरीर में 'पानी'—(आभा) की अधिकता होने पर भी नायक की 'प्यास'—(अतृप्ति) की वृद्धि होते जाने में जो विशेषोक्ति है, इसी में मतिराम का निजीपन है।

१. मतिराम-सतसई, पद ५३६।
२. वही, दोहा १८८।

अप्रस्तुत योजना अनेक क्षेत्रों से की है। अलंकार सम्प्रदाय का ही एक प्रतिरूप वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी है। बिहारी चमत्कारवादी कवि थे। अतः वक्रोक्ति की दृष्टि से भी इनके काव्य का अध्ययन किया जा सकता है। जगन्नाथदास रत्नाकर तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भाषा की पूर्ण परीक्षा कर इन्हें पूर्ण परिष्कृत व्रजभाषा लिखने का श्रेय दिया है। भाषा सर्वथा विषयानुरूप है और उसमें लालित्य का भी पूरा ध्यान रक्खा गया है। इस प्रकार रीति सिद्धान्त का भी इन्होंने पूरा पालन किया है। इन सबकी ठीक स्थिति का निरूपण ध्वनि सम्प्रदाय में ही किया गया है। साथ ही इनका ध्वनि सम्प्रदाय के लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ से निकट का सम्पर्क सिद्ध ही हो चुका है। अतएव इनको ध्वनि सम्प्रदायवादी मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

बिहारी की बहुज्ञता

काव्य के उपादानों में निपुणता भी एक तत्त्व है जो या तो पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा को जन्म देने में कारण होती है या उसको बढ़ाती है अथवा तत्समकक्ष रहकर काव्य रचना में कारण बनती है। किन्तु निपुणता का आशय यह नहीं है कि कवि को समस्त शास्त्रों में पारंगत विद्वान् होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की होती है कि कवि आँख खोलकर संसार को देखे और जहाँ कहीं से उचित हो अपने लिये काव्य-वस्तु या अप्रस्तुत योजना का चयन करले। यदि कवि का ज्ञान बढ़ा-चढ़ा होता है तो वह काव्य-मार्ग में दरिद्र नहीं बनता। बिहारी एक ऐसे जागरूक कवि थे जिन्होंने एक ओर शास्त्रों से, दूसरी ओर लोकवृत्त से और तीसरी ओर इतिहास-पुराण इत्यादि से अपनी काव्य-वस्तु का भी उपादान किया है और अप्रस्तुत योजनाओं का भी चयन किया है। शास्त्र ज्ञान में बिहारी का ज्योतिष का ज्ञान अच्छा मालूम पड़ता है। ज्योतिष की कुछ ऐसी विशेषताओं का बिहारी ने उपादान किया है कि जो सामान्य स्तर से कुछ ऊंचा है। मीन में शनि का होना राजयोग होता है; एक नाड़ी में मंगल, वृहस्पति और चन्द्र का होना वर्षा का योग है इत्यादि कुछ ऐसी व्यवस्थायें हैं जो लोक सामान्य नहीं कही जा सकतीं। अन्य शास्त्रों में बिहारी इतने प्रवीण नहीं प्रतीत होते, यद्यपि अन्य शास्त्रों की लोक-प्रसिद्ध बातों का उपादान बिहारी ने अनेकशः किया है। पारे से नपुंसकता का दूर होना, सुदर्शन का विषम ज्वर में उपयोग, नाड़ी ज्ञान से रोग निश्चय, पनिस में सुगन्धि ग्रहण करने की शक्ति का नष्ट हो जाना, इत्यादि कुछ ऐसी आयुर्वेदिक विधियाँ हैं जिनको सर्व साधारण संवेद्य कहा जा सकता है। किन्तु स्नेहन कर्म की विधि सर्वजन संवेद्य नहीं है। बिहारी ने उसकी प्रतिक्रिया तथा विक्रिया का भी उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि बिहारी की आयुर्वेद में भी कुछ न कुछ गति अवश्य थी।

ज्योतिष के अतिरिक्त जिस दूसरे शास्त्र का बिहारी को विशेष ज्ञान था वह है दर्शन-शास्त्र। योगदर्शन, वेदान्त, भक्ति-शास्त्र इत्यादि अनेक दर्शनों की छाया

सारि लटकति पाटकी, बिलसति कुंदी लिलार।
मनो रूप मंदिर बंधे, सुन्दर बंदनवार ॥[1]

ऐसे अनुपम रूप को निहार यदि कान्त का हृदय निशा-नर्म की भांति जगमगा उठता है तो इसमें आश्चर्य क्या है:—

नखतावल, नख, इंदुमुख, तनुदुति दीप अनूप।
होति निसा नंदलाल मन, लखैं तिहारे रूप ॥[2]

भक्ति

डा० नगेन्द्र के अनुसार, 'रीतिबद्ध कवियों की भक्ति, भक्ति का आभास' है। रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती है।[3] मतिराम-सतसई में चित्रित भक्ति-भावना इसी उक्ति को चरितार्थ करने वाली है। इसमें किसी विशेष भक्ति सम्प्रदाय अथवा दार्शनिक मतवाद के प्रति आग्रह दृष्टिगोचर नहीं होता। एक स्थान पर कवि ने नंददुलारे कृष्ण के चरण कमलों को हृदय में धारण करने की प्रेरणा दी है तो अन्यत्र गणपति गनेश को सर्व-जग-सेव्य बताया है।

(क) तरु है रह्यो करार को, अब करि कहा करार।
उर धरि नंद कुमार को, चरन कमल सुकुमार ॥[4]

(ख) सुखद साधुजन कौ सदा, जगमुखि दानि उदार।
सेवनीय सब जगत कौ, जग मा-बाप कुमार ॥[5]

इसी प्रकार शिव, सरस्वती एवं लक्ष्मी आदि की स्तुति भी कवि ने पूर्ण श्रद्धा से की है:—

(क) अंग ललित सित रंग पट, अंगराग अवतंस।
हंस बाहिनी कीजियै बाहन मेरे हंस ॥[6]

(ख) नृप नैन कमलनि वृथा, चितवन बासर चाहि।
हृदय कमल में हेरि लै, कमल मुखी कमलाहि ॥[7]

स्पष्ट ही कवि की अंतरात्मा से यह उद्‌गार तभी प्रकट हुए होंगे जब सांसारिक छल-छद्म अथवा स्वार्थ से उसकी चेतना आहत हुई होगी। कवि ने अपनी

---

१. मतिराम-सतसई, दोहा ६०।
२. वही, दोहा १०१।
३. डा० नगेन्द्र, रीति काव्य की भूमिका, पृ० १००।
४. मतिराम-सतसई, दोहा ३४२।
५. वही, दोहा ३६१।
६. वही, दोहा ३६३।
७. वही, दोहा ३६४।

अप्रस्तुत योजना अनेक क्षेत्रों से की है। अलंकार सम्प्रदाय का ही एक प्रतिरूप वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी है। बिहारी चमत्कारवादी कवि थे। अतः वक्रोक्ति की दृष्टि से भी इनके काव्य का अध्ययन किया जा सकता है। जगन्नाथदास रत्नाकर तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भाषा की पूर्ण परीक्षा कर इन्हें पूर्ण परिष्कृत ब्रजभाषा लिखने का श्रेय दिया है। भाषा सर्वथा विषयानुरूप है और उसमें लालित्य का भी पूरा ध्यान रक्खा गया है। इस प्रकार रीति सिद्धान्त का भी इन्होंने पूरा पालन किया है। इन सबकी ठीक स्थिति का निरूपण ध्वनि सम्प्रदाय में ही किया गया है। साथ ही इनका ध्वनि सम्प्रदाय के लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ से निकट का सम्पर्क सिद्ध ही हो चुका है। अतएव इनको ध्वनि सम्प्रदायवादी मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

बिहारी की बहुज्ञता

काव्य के उपादानों में निपुणता भी एक तत्त्व है जो या तो पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा को जन्म देने में कारण होती है या उसको बढ़ाती है अथवा तत्समकक्ष रहकर काव्य रचना में कारण बनती है। किन्तु निपुणता का आशय यह नहीं है कि कवि को समस्त शास्त्रों में पारंगत विद्वान् होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की होती है कि कवि आँख खोलकर संसार को देखे और जहाँ कहीं से उचित हो अपने लिये काव्य-वस्तु या अप्रस्तुत योजना का चयन करले। यदि कवि का ज्ञान बढ़ा-चढ़ा होता है तो वह काव्य-मार्ग में दरिद्र नहीं बनता। बिहारी एक ऐसे जागरूक कवि थे जिन्होंने एक ओर शास्त्रों से, दूसरी ओर लोकवृत्त से और तीसरी ओर इतिहास-पुराण इत्यादि से अपनी काव्य-वस्तु का भी उपादान किया है और अप्रस्तुत योजनाओं का भी चयन किया है। शास्त्र ज्ञान में बिहारी का ज्योतिष का ज्ञान अच्छा मालूम पड़ता है। ज्योतिष की कुछ ऐसी विशेषताओं का बिहारी ने उपादान किया है कि जो सामान्य स्तर से कुछ ऊंचा है। मीन में शनि का होना राजयोग होता है; एक नाड़ी में मंगल, बृहस्पति और चन्द्र का होना वर्षा का योग है इत्यादि कुछ ऐसी व्यवस्थायें हैं जो लोक सामान्य नहीं कही जा सकतीं। अन्य शास्त्रों में बिहारी इतने प्रवीण नहीं प्रतीत होते, यद्यपि अन्य शास्त्रों की लोक-प्रसिद्ध बातों का उपादान बिहारी ने अनेकशः किया है। पारे से नपुंसकता का दूर होना, सुदर्शन का विषम ज्वर में उपयोग, नाड़ी ज्ञान से रोग निश्चय, पनिस में सुगन्धि ग्रहण करने की शक्ति का नष्ट हो जाना, इत्यादि कुछ ऐसी आयुर्वेदिक विधियां हैं जिनको सर्व साधारण संवेद्य कहा जा सकता है। किन्तु स्नेहन कर्म की विधि सर्वजन संवेद्य नहीं है। बिहारी ने उसकी प्रतिक्रिया तथा विक्रिया का भी उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि बिहारी की आयुर्वेद में भी कुछ न कुछ गति अवश्य थी।

ज्योतिष के अतिरिक्त जिस दूसरे शास्त्र का बिहारी को [illegible] है दर्शन-शास्त्र। योगदर्शन, वेदान्त, भक्ति-शास्त्र इत्यादि अनेक

कवि को किसी जन-समाज में अपेक्षित सम्मान न मिलने से कभी खिन्नता भी अवश्य हुई होगी और तब उसे स्वाभिमान-परक निम्न दोहे द्वारा अपने हृदय को सान्त्वना देनी पड़ी होगी :—

बसिवे को निज सरवरनि, सुर जाको ललचाहिं ।
सो मराल वकताल में, पैठन पावत नाहिं ॥[1]

मतिराम उस युग के राज्याश्रित कवि थे, जब स्वार्थलिप्सावश चुगलखोरी द्वारा राजा को अपने प्रति विश्वस्त करना एक कला थी । ऐसे 'पिशुन कलाकारों' ने कभी मतिराम के विरुद्ध भी राजा के कान भरने की चेष्टा की होगी । किन्तु राजा और स्वयं कवि की निश्छल प्रीतियुक्त सज्जनता का साक्षी यह दोहा है :—

पिसुन वचन सज्जन चितै, सकै न फोरि न फारि ।
कहा करै लगि तोय में, तुपक तीर तरवारि ॥[2]

इस प्रकार मतिराम-सतसई के प्रतिपाद्य में अन्य विविध विषयों के साथ ही नीति को भी यथोचित स्थान मिला है ।

प्रकृति-चित्रण इस सतसई में सर्वथा प्रासंगिक एवं प्रायः उद्दीपन-रूप में हुआ है । उसे कोई वैशिष्ट्य नहीं दिया जा सकता ।

उपर्युक्त विवेच्य सामग्री का उल्लेख यहाँ स्थूल-परिगणनमात्र ही समझना चाहिये । मतिराम-सतसई की भाव-सम्पदा विभिन्न सात्विकों, नायिका के हावों और उसके अभिसारिका, आगतपतिका, अनुशयाना, विप्रलब्धा आदि से सम्बन्धित दोहों में बिखरी हुई है । इनमें से कुछ उदाहरण अगले पृष्ठों में तुलना प्रसंग में उद्धृत हैं ।

प्रायः सभी अलंकारों के उदाहरण मतिराम सतसई में उपलब्ध हैं । कवि ने अपने लक्षण-ग्रंथों में उन्हें ही अलंकार-विवेचन-प्रकरण में उद्धृत किया है । इन उदाहरणों में विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्थितियों का चित्रण अनायास ही हो गया है क्योंकि विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ ही प्रायः अलंकारों की जन्मदात्री हैं ।

यद्यपि मतिराम-सतसई के काव्य सौंदर्य का समग्र निदर्शन उसके आद्योपान्त अध्ययन द्वारा ही सम्भव है तथापि 'स्थाली-पुलाक' न्यायानुसार उक्ति-वैचित्र्य के दो एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

तरनि किरनि झलमलित मुख, लाली ललित कपोल ।
प्यास लगावति दृगनि में, प्यासी बाल अमोल ॥[3]

सूर्य किरणों से तप्त अरुण कपोलमयी प्यासी नायिका का दर्शकों की आँखों में प्यास जगा देना वस्तुतः प्रत्यक्षानुभव का ही विषय है ।

१. मतिराम-सतसई, दोहा ६२ ।
२. वही, दोहा ३२५ ।
३. वही, दोहा ५४ ।

१६

मतिराम-सतसई

डॉ० रामप्रकाश

रीतिकालीन काव्योद्यान में मधुर-मृदु-गन्धवह शब्द-पुष्पों की मोहक छटा विकीर्ण करने वाले कवि-मालिओं में मतिराम का स्थान अन्यतम है। हिन्दी-साहित्य-इतिहासों एवं विविध समीक्षा-परक कृतियों में अधिकतर मतिराम के दो रीतिबद्ध ग्रंथों "रसराज" और "ललितललाम" का ही विवेचन-परीक्षण होता रहा है। मतिराम-सतसई के अनुपम काव्य-सौष्ठव की ओर विद्वानों ने स्वल्प ही दृष्टि-निक्षेप किया है। इसका कारण है—रीतिकालीन काव्य-क्षितिज पर बिहारी सतसई की सौंदर्याभा का अमित प्रकाश, जिसकी चकाचौंध ने अन्य सतसइयों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाने दिया, अन्यथा काव्य-मानस, अनुभूति-परिवेश एवं अभिव्यंजना-कौशल सभी दृष्टियों से मतिराम-सतसई, न केवल कवि-आचार्य मतिराम की प्रतिनिधि रचना है, अपितु समस्त रीतिकालीन शृंगार-सतसइयों में भी वह काल की दृष्टि से सर्वप्रथम और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। जिस 'रसराज' और 'ललितललाम' की काव्य-गरिमा पर विद्वत्समाज चमत्कृत और सहृदय-समाज मुग्ध है, उन दोनों में मतिराम-सतसई के लगभग दो सौ दोहे उद्धृत हैं अर्थात् उनकी श्रेष्ठता का श्रेय भी अंशतः मतिराम-सतसई को ही है। इनके अतिरिक्त "रसराज" एक रस एवं नायिका-भेद निरूपक रीतिबद्ध ग्रंथ है और "ललितललाम" एक अलंकार-परक वीरकाव्य। यह दोनों ग्रंथ रीतिकालीन प्रमुख प्रवृत्तियों में से किसी एक एक का ही द्योतन करते हैं, जबकि मतिराम-सतसई में रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त तीनों प्रकार की कृतियों की मूर्धन्य विशेषताएं विद्यमान हैं। वास्तव में विद्वानों के सम्मुख मतिराम-सतसई बहुत समय बाद प्रकाश में आई और इसी परिपाटी की प्रौढ़ रचना "बिहारी-सतसई" से पाठक पहले ही परिचित हो गये, जिससे "मतिराम-सतसई" की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन हिन्दी संसार के सम्मुख उतना न हो पाया जितना अपेक्षित था। यहाँ इस कृति का मूल्यांकन करने से पूर्व, संदर्भ रूप में हिन्दी-सतसई-परम्परा पर संक्षेपतः प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

यह धारणा इन दोनों कवियों द्वारा पूर्णतः समान शब्दों का प्रयोग करने पर आधारित प्रतीत होती है। दोनों के अनुशयाना-नायिका सम्बन्धी उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

रहीम— ग्रीषम दहत दवरिया, कुंज कुरीर।
तिमि तिमि तकत तरुनहिं, बाढ़त पीर॥

मतिराम—ग्रीषम ऋतु में देखिके, बन में लगी दवारि।
एक अपूरब वार यह, जरत हिये बरनारि॥[1]

निस्संदेह मतिराम के वर्णन में अधिक कलात्मकता है। अन्यत्र दोनों की परकीया-नायिकाएँ प्रेमानन्द प्राप्ति में समान कुशलता का परिचय देती हैं :—

रहीम— बाहर लै कै, दियवा बारन जाय।
सास ननद पर पहुंचत, दैत बुझाय॥

मतिराम—बारबार वा गेह सो बारि बारि लै जाति।
काहे तें बिन बात ही बाती आजु बुझाति॥[2]

यहाँ भी रहीम की उक्ति की अपेक्षा मतिराम की उक्ति में कला का निखार अधिक है।

वस्तुतः इन दोनों कवियों की साधना-भूमि, चिन्तन-पद्धति और रुचियाँ भी समान होने के कारण, दोनों की कविता में यह साम्य दृष्टिगोचर होता है।

बिहारी और मतिराम

बिहारी-सतसई और मतिराम-सतसई के रचनाकाल की पूर्वापरता की चर्चा पीछे विस्तार से की जा चुकी है और उससे यह स्पष्ट है कि मतिराम के दोहों को सतसई का रूप चाहे जब-कभी भी मिला हो किन्तु उनमें से अधिकांश की रचना, बिहारी-सतसई के आरम्भ होने से पूर्व ही, संवत् १६६० से भी पहले हो चुकी थी। निश्चय ही बिहारी-सतसई का एक राजाश्रय में लिखा जाना और उसके साथ एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना का जुड़ा होना उसके लिए बहुत सम्मानप्रद सिद्ध हुआ है। किन्तु यह बात भी असंदिग्ध रूप से सत्य है कि बिहारी-सतसई के दोहे बुद्धि को जितना प्रभावित करते हैं उतना हृदय को नहीं। और हृदय को प्रभावित करने की जितनी शक्ति मतिराम-सतसई के दोहों में है उतनी अन्य किसी रीतिकालीन सतसई में नहीं। फिर भी दुर्भाग्य था कि इसे उतनी ख्याति नहीं मिल सकी जितनी कि बिहारी-सतसई को मिली। इस दुर्भाग्य का सर्वप्रमुख कारण तो यह है कि मतिराम-सतसई के उत्तमोत्तम दोहे रसराज की अनुपम सुषमा में खो गये……जब कभी भी

१. मतिराम-सतसई, दोहा ३५०।
२. वही, दोहा १२६।

१९

मतिराम-सतसई

डॉ० रामप्रकाश

रीतिकालीन काव्योद्यान में मधुर-मृदु-गन्धवह शब्द-पुष्पों की मोहक छटा विकीर्ण करने वाले कवि-मालिश्रों में मतिराम का स्थान अन्यतम है। हिन्दी-साहित्य-इतिहासों एवं विविध समीक्षा-परक कृतियों में अधिकतर मतिराम के दो रीतिबद्ध ग्रंथों "रसराज" और "ललितललाम" का ही विवेचन-परीक्षण होता रहा है। मतिराम-सतसई के अनुपम काव्य-सौष्ठव की ओर विद्वानों ने स्वल्प ही दृष्टि-निक्षेप किया है। इसका कारण है—रीतिकालीन काव्य-क्षितिज पर बिहारी सतसई की सौंदर्याभा का अमित प्रकाश, जिसकी चकाचौंध ने अन्य सतसइयों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाने दिया, अन्यथा काव्य-मानस, अनुभूति-परिवेश एवं अभिव्यंजना-कौशल सभी दृष्टियों से मतिराम-सतसई, न केवल कवि-आचार्य मतिराम की प्रतिनिधि रचना है, अपितु समस्त रीतिकालीन शृंगार-सतसइयों में भी वह काल की दृष्टि से सर्वप्रथम और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। जिस 'रसराज' और 'ललितललाम' की काव्य-गरिमा पर विद्वत्समाज चमत्कृत और सहृदय-समाज मुग्ध है, उन दोनों में मतिराम-सतसई के लगभग दो सौ दोहे उद्धृत हैं अर्थात् उनकी श्रेष्ठता का श्रेय भी अंशतः मतिराम-सतसई को ही है। इनके अतिरिक्त "रसराज" एक रस एवं नायिका-भेद निरूपक रीतिबद्ध ग्रंथ है और "ललितललाम" एक अलंकार-परक वीरकाव्य। यह दोनों ग्रंथ रीतिकालीन प्रमुख प्रवृत्तियों में से किसी एक एक का ही द्योतन करते हैं, जबकि मतिराम-सतसई में रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त तीनों प्रकार की कृतियों की मूर्धन्य विशेषताएं विद्यमान हैं। वास्तव में विद्वानों के सम्मुख मतिराम-सतसई बहुत समय बाद प्रकाश में आई और इसी परिपाटी की प्रौढ़ रचना "बिहारी-सतसई" से पाठक पहले ही परिचित हो गये, जिससे "मतिराम-सतसई" की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन हिन्दी संसार के सम्मुख उतना न हो पाया जितना अपेक्षित था। यहाँ इस कृति का मूल्यांकन करने से पूर्व, संदर्भ रूप में हिन्दी-सतसई-परम्परा पर संक्षेपतः प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

मतिराम और विक्रमसाहि

विक्रमसाहि कृत 'विक्रम-सतसई' में अधिकतर बिहारी-सतसई का अनुकरण है और वह भी औचित्य की सीमा से परे। मतिराम-सतसई से उनका साम्य स्वल्प है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

मतिराम— प्राननाथ परदेश कौं, चलिये समौं विचारि।
स्याम नैंन घन बाल के, बरसन लागे बारि॥[1]

विक्रमसाहि—मांगी बिदा विदेस की, दे जराह अनमोल।
बोली बोल न सुघर तिय, दिये अलाप हिंडोल॥[2]

जहाँ मतिराम की नायिका सहज-स्वभाव-वश अश्रुपात करने लगती है, वहाँ विक्रमसाहि की नायका चतुराई का परिचय देती हुई 'हिंडोल' राग अलापती है। जिससे नायका को पावस-ऋतु का आभास हो। सहज-प्रसादता और विदग्ध-विचित्रता का यही अंतर मतिराम-सतसई और विक्रम-सतसई को पृथक् करता है।

मतिराम और अमीरदास

आचार्य अमीरदास ने अपने रीतिबद्ध ग्रंथों—'श्री कृष्ण-साहित्यसिन्धु' और 'सभामंडन' में मतिराम कृत 'रसराज' और 'ललितललाम' के अनेक उदाहरण उद्धृत किये हैं किन्तु मतिराम-सतसई के बहुत कम। स्वभावतः अमीरदास कृत 'ब्रजराज-विलास-सतसई' और मतिराम-सतसई के बहुत थोड़े ही दोहों में भाव-साम्य मिलता है। इनमें से भी कई दोहों में प्रसंग की समानता है और कई दोहों में अभिव्यंजना के उपकरणों की। यथा, नायिका के सुधा-मधुर अधरों का वर्णन मतिराम ने इस प्रकार किया है :—

सुधा मधुर तेरो अधर, सुन्दर सुमन सुगंध।
पीव जीव को वन्ध यह, बंध जीव को बंध॥[3]

ब्रजराज-विलास-सतसई का अधर-वर्णन भी इसी प्रकार का है :—

नहीं सुधा में मधुरई, मधुराई अधरानि।
मो अधरानि मिलाप दै, जीवदान सुखदानि॥[4]

कलात्मक दृष्टि से ये दोनों दोहे एक ही कोटि के हैं। जहाँ मतिराम के उदाहरण में मृदुल-मधुर-गंधवह शब्दों द्वारा सरस अधरों का सजीव चित्रण हुआ है, वहाँ अमीरदास के वर्णन में यही सरसता अनायास ही मिलनानन्द की अनुभूति में परिणत होती दिखाई देती है।

---

१. मतिराम-सतसई, दोहा ३६६।
२. विक्रम-सतसई, दोहा १०७।
३. मतिराम-सतसई, दोहा १०७।
४. ब्रजराज-विलास-सतसई, दोहा ५५।

बिहारी-सतसई, मतिराम-सतसई, भूपति-सतसई, राम-सतसई, विक्रम-सतसई, तथा ब्रजराज-विलास-सतसई। इन सभी सतसइयों का प्रधान विषय श्रृंगार है। कहीं-कहीं भक्ति, नीति तथा प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी दोहे भी अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु एक तो उनकी संख्या अत्यल्प है, दूसरे, उनमें भी अधिकांशत: सिद्धान्त पक्ष की अपेक्षा चमत्कार की प्रधानता है, उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर, उन्हें विभिन्न अलंकारों के उदाहरण स्वरूप ग्रहण करना अधिक संगत प्रतीत होता है,सूक्तिरूप में नहीं। अत: इन्हें श्रृंगार-सतसइयाँ कहना ही उचित है।

रीतिकालीन सतसइयों का आदर्श

रीतिकालीन सतसई-परम्परा का आदर्श सातवाहन की 'गाथा-सप्तशती' है, जो प्राकृत के विभिन्न विषयक मुक्तकों का एक अपूर्व संग्रह है। प्राकृत में ही एक अन्य मुक्तक-संग्रह 'वज्जालग्गं' उपलब्ध है जिसके रचयिता का नाम जयवल्लभ है।[1] इसकी रचना 'गाथा-सप्तशती' के ही आधार पर हुई है। अन्तर केवल यह है कि गाथा सप्तशती के मुक्तक क्रम-विहीन हैं, जबकि 'वज्जालग्गं' में क्रम व्यवस्था को विशेष महत्त्व दिया गया है।

प्राकृत की उपर्युक्त दोनों सतसइयों में विभिन्न कवियों द्वारा रचित मुक्तक संकलित हैं किन्तु रीतिकाल में रचित प्रत्येक सतसई किसी एक ही कवि द्वारा रची गई है। इस दृष्टि से रीतिकालीन सतसई-परम्परा का आदर्श गोवर्धनाचार्य द्वारा संस्कृत में रचित 'आर्या-सप्तशती' है। विषय की दृष्टि से 'गाथा-सप्तशती' को ही आधार बनाया गया है।

मतिराम-सतसई का स्वरूप

यह एक विचित्र संयोग है कि बहुत दिनों तक विद्वानों को मतिराम-सतसई के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह रहा है। इस संदेह का निराकरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज-रिपोर्ट ने किया। सर्वप्रथम सन् १९०९-११ की खोज-रिपोर्ट में इसका विवरण प्रकाशित हुआ जिसमें मतिराम-सतसई के दोहों की संख्या ८४० बताई गई।[2] तदुपरान्त १९२३-२५ की खोज-रिपोर्ट में इसकी एक अन्य प्रति का विवरण छपा जिसमें दोहा-संख्या ७१९ का उल्लेख है। किन्तु इस प्रति के अन्त में लिखा है (विविध विषय के ७०५ दोहों का संग्रह)।[3]

इस समय 'मतिराम-सतसई' के प्रमुखत: दो सुसंपादित संस्करण प्रचलित हैं—एक पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित 'मतिराम-ग्रन्थावली' के अन्तर्गत और दूसरा श्री श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'सतसई-सप्तक' के अन्तर्गत। इन

---

१. डा० परमानन्द शास्त्री, गाथा-सप्तशती (शोध-कृति), पृष्ठ ३९।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट सन् १९०९-११ पृष्ठ २८५।

३. वही, १९२३-२५, क्रमसंख्या—२७६-बी।

ही सिद्ध की जा सकती है। संक्षेपतः डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "मतिराम की रस-प्रसविनी लेखनी ने कविता की स्वाभाविक धारा को बहाया। उनकी कविताओं में उनके हार्दिक भाव देखने को मिलते हैं। उनकी कविता बिहारी की कविता की भाँति प्रयत्नप्रसूत नहीं है। यह उनकी तन्मयता का फल है। यद्यपि उनके पद्यों की गठन इतनी चुस्त नहीं है जितनी बिहारी के पद्यों की, पर वह शिथिल भी नहीं है। उनके न भाव कृत्रिम हैं और न भाषा। उनकी सतसई को उनकी संपूर्ण रचना का रस समझना चाहिये।"[1]

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास, सतसई-सप्तक, प्रस्तावना, पृष्ठ ३३।

प्रतिपाद्य

मतिराम-सतसई, मूलतः एक श्रृंगार सतसई है। इसके ७०१ दोहों में से लगभग छः सौ दोहे श्रृंगार के विभिन्न अंगों एवं भेदोपभेदों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अन्य दोनों में भक्ति, नीति, अन्योक्ति, वात्सल्य, प्रकृति-चित्रण आदि का समावेश हैं। यहाँ इन सभी पक्षों का सोदाहरण संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

श्रृंगार

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का मूलाधार श्रृंगार वर्णन है। 'काम' मानव की मूल प्रवृत्ति है और जीवन के सम्पूर्ण सृष्टि-वैभव उसी से सम्पन्न होकर विविध रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृत वाङ्मय में दाम्पत्य सम्बन्धों पर आधारित श्रृंगार को सम्पूर्ण रस-परिचक्र में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। भक्ति भी श्रृंगार का ही समुन्नयन है जिसमें आलम्बन और आश्रय भगवत्-स्वरूप होते हैं। भक्तिकाल में श्रृंगार को भक्ति के आधार पर ही अधिष्ठित किया गया है। इसलिए उसकी शक्ति और प्रभाव में अलौकिकता आ गई है। रीतिकाल के संयुगीन वातावरण में श्रृंगार का बाह्य आवरण भक्ति परक रहा परन्तु उसकी मूल प्रेरणा में लौकिक भावनाओं का समावेश हुआ। मतिराम-सतसई में वर्णित श्रृंगार इसी कोटि का है। जिसमें आलम्बन स्थानीय राधा और कृष्ण है।

छवत परस्पर हेर के, राधा नन्द किशोर।
सब में वैई होत हैं, चोर मिहचनी चोर ॥[1]

चोर मिहचनी का यह प्रसंग राधा और कृष्ण के परस्पर स्पर्श-आनन्द की मधुरिमा से पूरित है तो एक अन्य प्रसंग में कवि की सूक्ष्म-मनोवैज्ञानिक दृष्टि अत्यन्त मोहक चित्र की सृष्टि करती है :—

लिखति अवनि-तल चरनसौं, बिहंसत विमल कपोल।
अधनि करैं मुख-इन्दु तें, अमृत बिन्दु से बोल ॥[2]

नायिका अपने नवल-नागर नायक से प्रेमालाप-लीन है, प्रेम-चर्चा में लावण्यमय कपोलों का हँसना तो स्वाभाविक है ही, किन्तु हृदयों के इस आदान-प्रदान में लोक-लाज की छाया भी स्पष्ट है। तभी वह पैर से धरती कुरेद रही हैं और क्रीड़ावश उसके अर्ध-चन्द्र-सम मुख से बहुत धीरे-धीरे अमृतकण से रसीले बोल निकल रहे हैं। प्रेमोल्लास होते हुए भी संकोचवश मुख का पूरा न खुलना और पूरी बात मुख से न निकलना नव-प्रेमिका का कितना सजीव-मनोवैज्ञानिक चित्रण है। रूप (चन्द्र-मुख) और रस (अमृत-विन्दु) के साथ हँसते हुए कपोलों की इषत्-लालिमा के लावण्य-सौंदर्य की यह समग्रता श्रृंगार की मधुर व्यंजना करने में पूर्णतः सफल है।

---

१. मतिराम-सतसई : ११७।
२. वही, दोहा ३६७।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें चिन्तामणि और मतिराम का भाई ही मानते हैं, पर पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित इस तथ्य के सत्य होने में संदेह प्रकट करते हैं; यद्यपि इस सन्देह को अन्य साहित्य के इतिहासकारों द्वारा समर्थन नहीं मिला। शिवराज भूषण, शिवा बावनी तथा छत्रसाल दशक के रूप में इनकी केवल तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं। कुछ शृंगारिक पद भी प्राप्त हुए हैं। भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा इनकी अनुपलब्ध कृतियाँ मानी जाती हैं। शिवराज भूषण अलंकार निरूपक लक्षण ग्रन्थ है। इसके उदाहरणों और शिवा बावनी में छत्रपति शिवाजी की यशःगाथा वर्णित है। छत्रसाल दशक में महाराजा छत्रसाल की प्रशस्ति है।

रीतिकाल में वीररस से ओत-प्रोत प्रचुर रचनायें हुई हैं। केशव ने रतन बावनी में रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों में वर्णन किया है। मान का राजविलास, लाल का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर रासो, श्रीधर का जंगनामा, पद्माकर का हिम्मत बहादुर विरुदावली, सूदन का सुजान चरित्र, चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ गण्य कृतियाँ तो हैं ही, गुरु गोविन्दसिंह के कई दरबारी कवियों के काव्य भी इस काल के वीर-काव्यों की समृद्धि के द्योतक हैं। भूषण के वीर काव्य इन सबसे पृथक् एवं उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व के परिचायक हैं। यह वीर कवियों में सुमेरु सदृश प्रतीत होते हैं। शिवराज भूषण का बाह्य आकार रीतिकाल की अलंकार-परम्परा से बद्ध अलंकार-ग्रन्थ सदृश ही है, पर उसकी आत्मा की दीप्ति उसे वीर-काव्यों की श्रेणी में ही प्रतिष्ठित करती है। इसमें १०५ अलंकारों का नाम गिनाया गया है। डा० गुलाबराय के कथनानुसार 'भूषण ने अलंकारों का लक्षण ग्रन्थ अवश्य लिखा किन्तु उनका उद्देश्य मुख्य रूप से शिवाजी की प्रशंसा करना था। लक्षण उन्होंने किसी एक ग्रन्थ से नहीं दिये हैं और उसमें कुछ अपनी बुद्धि से भी काम लिया है।' 'लखि चारु मन्थन निज मतो युत सुकवि मानहुं सांच' (छन्द ३९७) जैसी उक्ति इसकी साक्षी है। अलंकारों के लक्षण भी कहीं-कहीं गड़बड़ हैं, जैसे—पंचम प्रतीप, संकर, विरोध, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, भ्रम, संदेह और स्मरण के लक्षण अस्पष्ट या अनुपयुक्त हैं। उदाहरणों की अनुपयुक्तता परिणाम, लुप्तोपमा, निदर्शना, सम, परिकर, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास और विभावना में दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि भूषण की महत्ता आचार्यत्व में नहीं है और न ही शिवराज भूषण को एक उत्कृष्ट अलंकार-ग्रन्थ का गौरव ही प्राप्त हो सकता है। भूषण मूलतः कवि हैं और अलंकारों के जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं उनके कवित्व की परख इन अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में नहीं की जा सकती। इन उदाहरणों में शृंगार की घिसी पिटी लकीर को छोड़कर वर्ण्य-विषय की नवीनता की स्थापना, भूषण के कवि-व्यक्तित्व की महानता की सूचना देती है। शिवा बावनी में बावन तथा छत्रसाल दशक में केवल दश छन्द संकलित हैं। इन पर अलंकार ग्रन्थ होने का भी आरोप नहीं लगाया जा सकता। प्रवृत्ति की दृष्टि से छत्रसाल दशक, शिवा बावनी की छाया है, अतः वीर

यही 'मुग्धा' समय के साथ यौवन का पर्याप्त विकास होने पर 'मध्या' बन जाती है। लज्जा कामेच्छा का रूप ग्रहण करने लगती है किन्तु पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाती :—

कैलि-भौन कैं देहरी, करी बाल-छवि नौल।
काम-कलित हिय कौलि है, लाज ललित दृग कौल ॥[1]

कैलि भवन में जाती हुई नवल-नायिका देहरी हर ठिठक गई है। कामासक्ति हृदय को भीतर जाने को विवश कर रही है परन्तु दृग-कमल लाज-वश मुन्दे जा रहे हैं। इधर मध्या की द्वन्द्वमय मनःस्थिति का यह सजीव चित्रांकन और उधर प्रौढ़ा द्वारा सहज दाम्पत्य भाव-वश प्रिय की प्रतीक्षा का दृश्य दोनों में मतिराम की प्रसादता द्रष्टव्य है :—

पीउ न आयौ नींद को, मूंदे लोचन बाल।
पलक उघारै पलक में, आयो होई न लाल ॥[2]

संक्षेपतः, 'मतिराम-सतसई' का शृंगार-चित्रण रीतिबद्ध शास्त्रीय परम्परा और रीति-मुक्त स्वच्छन्द धारा के बीच का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। हृदय की उन्मुक्त प्रेम-भावना का सुसंस्कृत चित्रण मतिराम-सतसई के शृंगार-वर्णन की प्रमुख विशेषता है :—

कर धरि कांधे कंत के, चले लटपटी चाल।
थकित करति पथिकनि सबनि, थकित पंथ में बाल ॥[3]

ग्राम मार्ग में थक कर, अपने पति के कन्धे पर हाथ रखे लटपटी चाल से चलती हुई प्रिया को देख बटोहियों के ठिठक जाने का दृश्य कितना मनोमुग्धकारी बन पड़ा है।

मतिराम-सतसई के सम्पूर्ण शृंगार-चित्रण में सर्वाधिक सरसता रूप वर्णन में दृष्टिगत होती है। शिख से लेकर नख तक कवि ने नायिका-तन-द्युति का अत्यन्त मोहक वर्णन किया है। निशापति की ज्योत्स्ना का स्पर्श पाकर नायिका के यौवनपूरित अंगों से झिलमिलाते लावण्य का चित्रण देखिए :—

चंद किरनि लगि बाल तन, उठे अंग अति जागि।
परसतकर दिनकर किरनि, ज्यों दरपन में आगि ॥[4]

इस पर पट्टीदार साड़ी और मस्तक पर झूलते शीश-फूल की छटा की भव्यता—मानो नयनोत्सव का सुन्दर आयोजन है :—

---

१. मतिराम-सतसई, दोहा २४०।
२. वही, दोहा २६६।
३. वही, दोहा ४८।
४. वही, दोहा ५२।

(२) कुंभकर्ण असुर औतारी अवरंगजेब,
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब की ॥४६॥
(३) साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं ॥५०॥
(४) वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं,
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं ॥
× × ×
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में ॥५१॥

वेद पुराण की रक्षा हिन्दू संस्कृति की रक्षा थी। रसना पर राम की रक्षा जनता के उपासना-स्वातन्त्र्य की रक्षा थी। हिन्दुओं के चोटी, जनेऊ तथा माला की रक्षा बलात् धर्म परिवर्तन के अत्याचार से जन-साधारण की रक्षा थी। सैनिकों की रोटी-रक्षा, आजीविका की रक्षा थी। राजाओं की मर्यादा रक्षा राजनीति की उस भारतीय पद्धति की रक्षा थी जिसका अनुसरण स्वयं औरंगजेब के पूर्वजों ने किया था। देवालयों की रक्षा भारतीय कला की रक्षा थी और धर्म की रक्षा तो समूचे हिन्दुत्व और भारतीय-संस्कृति की रक्षा थी। शिवाजी और क्षत्रसाल ने शस्त्रग्रहण केवल राज्य-निर्माण के लिए नहीं किया था, उन्होंने तो जाति और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए ही ऐसा किया था। इन दोनों के गुणों को बार-बार उभार कर काव्यबद्ध करने वाले भूषण जातीय और राष्ट्रीय कवि थे। सच तो यह है कि आदि काल की व्यक्तिगत वीर-भावना को इस काल में भूषण ने जातीय-वीर-भावना का व्यापक रूप प्रदान किया।

भूषण के युग की राष्ट्रीयता के दर्शन के लिए आधुनिकता का चश्मा उतारना पड़ेगा। हिन्दुत्व की रक्षा का प्रयत्न ही उस युग की सच्ची राष्ट्रीयता थी। भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी वृत्ति ने मुगलों के साथ जो सह-अस्तित्व की मर्यादा स्थिर की थी; उसको तोड़कर औरंगजेब ने यह सिद्ध कर दिया था कि पीढ़ियों बाद भी एक विदेशी शासन देशी नहीं बन पाता। शिवाजी और भूषण अत्याचार-विरोधी थे? मानवता के नाते मुसलमान विरोधी नहीं। शिवाजी सामान्य और पीड़ित जनता की श्रद्धा के केन्द्र थे अतः भूषण ने अपने आश्रयदाता की स्तुति मात्र नहीं की है अपितु एक राष्ट्र पालक और उसके गौरव को काव्य-स्तम्भ दिया है।

भूषण की वाणी जन-हृदय की वाणी थी। आधुनिक स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय ऐसे कई लोकगीत जन साधारण में प्रचलित थे जिनमें गांधी जी को दूल्हा, ब्रिटिश सरकार को दुलहिन बनाया गया था। लंदन से दहेज में स्वराज्य मांगने का

यही 'मुग्धा' समय के साथ यौवन का पर्याप्त विकास होने पर 'मध्या' बन जाती है। लज्जा कामेच्छा का रूप ग्रहण करने लगती है किन्तु पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाती :—

केलि-भौन कैं देहरी, करी बाल-छवि नौल।
काम-कलित हिय कौलि है, लाज ललित दृग कौल ॥[1]

केलि भवन में जाती हुई नवल-नायिका देहरी पर ठिठक गई है। कामासक्ति हृदय को भीतर जाने को विवश कर रही है परन्तु दृग-कमल लाज-वश मुन्दे जा रहे हैं। इधर मध्या की द्वन्द्वमय मनःस्थिति का यह सजीव चित्रांकन और उधर प्रौढ़ा द्वारा सहज दाम्पत्य भाव-वश प्रिय की प्रतीक्षा का दृश्य दोनों में मतिराम की प्रसादता द्रष्टव्य है :—

पीउ न आयो नींद को, मूंदे लोचन बाल।
पलक उघारे पलक में, आयो होई न लाल ॥[2]

संक्षेपतः, 'मतिराम-सतसई' का श्रृंगार-चित्रण रीतिबद्ध शास्त्रीय परम्परा और रीति-मुक्त स्वच्छन्द धारा के बीच का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। हृदय की उन्मुक्त प्रेम-भावना का सुसंस्कृत चित्रण मतिराम-सतसई के श्रृंगार-वर्णन की प्रमुख विशेषता है :—

कर धरि कांधे कंत कै, चले लटपटी चाल।
थकित करति पथिकनि सबनि, थकित पंथ में बाल ॥[3]

ग्राम मार्ग में थक कर, अपने पति के कन्धे पर हाथ रखे लटपटी चाल से चलती हुई प्रिया को देख बटोहियों के ठिठक जाने का दृश्य कितना मनोमुग्धकारी बन पड़ा है।

मतिराम-सतसई के सम्पूर्ण श्रृंगार-चित्रण में सर्वाधिक सरसता रूप वर्णन में दृष्टिगत होती है। शिख से लेकर नख तक कवि ने नायिका-तन-द्युति का अत्यन्त मोहक वर्णन किया है। निशापति की ज्योत्स्ना का स्पर्श पाकर नायिका के यौवनपूरित अंगों से झिलमिलाते लावण्य का चित्रण देखिए :—

चंद किरनि लगि बाल तन, उठे अंग अति जागि।
परसतकर दिनकर किरनि, ज्यों दरपन में आगि ॥[4]

इस पर पट्टीदार साड़ी और मस्तक पर झूलते शीश-फूल की ... भव्यता—मानो नयनोत्सव का सुन्दर आयोजन है :—

---

१. मतिराम-सतसई, दोहा २४०।
२. वही, दोहा २६६।
३. वही, दोहा ४८।
४. वही, दोहा ५२।

यही त्वरा युद्ध के वर्णनों में भी दिखाई पड़ती है—

छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट में।
ताही समै सिवराज हाँकि मारि हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला वीर भट जोट में।
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मत यहाँ लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूंछन कंगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परै कोट में ॥३१॥

शृंगारिक युग में भी भूषण ने नारी नख-शिख वर्णन की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। शिव के अवतार शिवाजी की यशःगाथा में यदि नारी का चित्रण हो भी सकता था तो केवल रति की भाँति विलाप करते हुए ही भूषण ने अरि-नारियों के रोने-बिलखने, और शिवाजी के त्रास से वन-पर्वतों में भटकते हुए बेर खाने के वर्णन तक ही अपने को सीमित रखा है।

भूषण का काव्य वीर रस प्रधान है। शिवा बावनी के कवित्तों में उत्साह का आवेगपूर्ण उत्कर्ष तक दिखाई पड़ता है। उक्तियों में दर्प और आतंक का चित्रण है। शिवाजी की कीर्ति, वीरता, पुरुषार्थ और उदारता के वर्णन के साथ-साथ हिन्दू समाज की दयनीय स्थिति और मुगलों के अत्याचार की झलक भी इनमें दिखाई पड़ती है। त्रस्त और पीड़ित का रक्षक ही सच्चा वीर है, इस तथ्य की व्यंजना स्थान-स्थान पर हुई है। राष्ट्र और संस्कृति का अभ्युत्थान ही वीरता का सुफल है। वीर रस के सहायक रस हैं, अद्भुत, भयानक और बीभत्स आदि। शिवा के आतंक वर्णन में भयानक की अवतारणा हुई है। युद्ध वर्णन के प्रसंगों में 'प्रेतिनी, पिसाचर, निसाचर निसाचरिहू' में भयानक आंतन की तांत बाजी में बीभत्स, 'जीत्यो सिवराज सलहेरि को समर सुनि' में अद्भुत के दर्शन होते हैं। विभिन्न रसों का एकत्र दर्शन 'तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भये, स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे' में किया जा सकता है।

शिवराज भूषण के सृजन से भूषण ने यह व्यक्त कर दिया है कि वह अलंकार-मर्मज्ञ थे किन्तु शिवा बावनी में शब्दालंकारों के अतिरिक्त सादृश्यमूलक अलंकारों के ही अधिक प्रयोग हुए हैं। कुछ अलंकारों के प्रयोग स्थल निम्नलिखित हैं—

यमक—गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नाग जूह पर सिंह सरताज को। २।
ऊंचे घोर मंदर के अन्दर रहनवारी,
ऊंचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं। ६।

अनुप्रास—कत्ता की कराकन चकत्ता को कटक काटि। ५।

तुच्छता एवं गुणहीनता से अवगत होते हुए भी प्रभु की उदारता एवं कृपालुता पर पूर्ण आस्था व्यक्त की है :—

गुन औगुन को तनकऊ, प्रभु नहिं करत विचार ।
केतन कुसुमुन आदरत, हर-सिर धरत कपार ॥[1]

इसी प्रकार :—

जो निसि दिन सेवन करै, अरु जो करै विरोध ।
तिन्हें परमपद देत प्रभु, कहौ कौन यह बोध ॥[2]

इस प्रकार मतिराम-सतसई के अनेक दोहों में कवि के भक्त हृदय की नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है ।

नीति

सच्चा कवि केवल काव्य ग्रंथों का अनुशीलन करके ही नहीं रह जाता, वह लोक का अनुभव भी खुली आँखों और जिज्ञासु हृदय से करता है । धर्म, समाज, नीति और अन्य सांसारिक व्यवहार सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्त तथा आदर्श ऐसे हैं जिन्हें सार्वजनिक और सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त है । नित्य प्रति के व्यवहार में जिन बातों से लाभ उठाया जा सकता है, उनका सामान्य ज्ञान प्रायः सर्वसाधारण को रहता ही है, कवि की विशेपता यह है कि वह उन्हीं बातों को एक मार्मिक तथा हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत करता है । रीतिकालीन हिन्दी काव्य की अन्य विशेषताओं के साथ नीति-वर्णन भी उसका प्रमुख अंग है ।

मतिराम-सतसई के प्रतिपाद्य में शृंगार और भक्ति के साथ-साथ नीति कथन भी सम्मिलित है । कवि ने अपने लोक-अनुभव को कतिपय दोहों में साकार रूप देने का सफल प्रयास किया है । उदाहरणतः कवि ने धनैश्वर्य-आधिक्य के परिणाम-स्वरूप सामन्तों को कुवासनाओं के अन्धकार में भटकता देखा था । तभी उन्होंने लिखा है :—

अद्‌भुत या धन को तिमिर, मो पै कह्यो न जाइ ।
ज्यों-ज्यों मनिगन जगमगत, त्यों-त्यों अति अधिकाइ ॥[3]

इसी प्रकार एक बार किसी के प्रति मन हट जाने के बाद पुनः उधर प्रेमासक्ति होना सम्भव नहीं, इस तथ्य को कवि ने निम्न दोहों में स्पष्ट किया है :—

कोटि कोटि मतिराम कहि, जतन करौ सब कोइ ।
फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहूं होइ ॥[4]

---

१. मतिराम-सतसई, दोहा ४३ ।
२. वही, दोहा ४०५ ।
३. वही, दोहा ६४ ।
४. वही, दोहा ९४ ।

भूषण ने तत्कालीन परिस्थितियों की झांकी भी प्रस्तुत कर दी है। उस समय की व्रजभाषा में प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों—दिलगीर, सूथनी, हयादारी, समसेर, हज़रत, खाक, गुसुलखाने, मिसिल, सलाम, तेग, फिकिरि, खलक, गुमान, जोम, मुरचान, गाजी, हासिल, जेर, पीकदानी, नकीब, आमखास, पातसाह, सुनति, मुकाम, पीर, कलमा, निवाज (नमाज), कत्ल, हद्द—के प्रयोग द्वारा भूषण ने अपनी काव्य-भाषा को जन-भाषा के समीप रखने का प्रयत्न किया है। ये शब्द भूषण के अपने सांचे में ढलकर ही प्रयुक्त हुए हैं। भूषण की शब्दावली ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व की है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिवा बावनी भूषण की वह सर्वोत्कृष्ट रचना है जो राष्ट्र-नायक के आदर्शों को मुखरित करने में जन-हृदय की साक्षी के साथ आगे बढ़ती है। उसकी ओजस्विता में क्रांति की ललकार है। वह एक ओर वीर-रस प्रेमी काव्य-रसिकों का हृदय हार है तो दूसरी ओर तत्कालीन राजनीति, समाज, धर्म और समन्वित संस्कृति को भी अपने कवित्तों के मुक्ता-दर्पणों में प्रतिबिम्बित करती है। शिवा बावनी में भूषण की वाणी युग की वाणी बनकर गर्जन करती है जिसे शृंगार काल की नूपुरों की रुनझुन आवृत्त न कर सकी।

इसी प्रकार :—

नंदलाल के रूप पर रीझि परी इक बारि।
अंध मूंदी अंखियनि दई, मूंदी प्रीति उघारि ॥[1]

जो आंखें स्वयं मुंदी हैं, वे मुंदी प्रीति को उघाड़ने में सफल हैं—इस साधारण सी उक्ति में गहन भाव-वैचित्र्य निहित है। प्रेम-विभोर हो तल्लीनतावश अकस्मात् नायिका की आंखों का झुक जाना किसे मुग्ध नहीं करेगा ?

हिन्दी के अन्य सतसई-कार और मतिराम

विश्व के किन्हीं दो भिन्न-देशीय और भिन्न-भाषायी कवियों के कृतित्व में भी कुछ न कुछ भाव-साम्य अनायास ही देखा जा सकता है। हृदयानुभूतियों पर किसी प्रकार का देश-काल-गत बन्धन नहीं। किसी भी वस्तुस्थिति को देखकर दो भिन्न कवि समानतः प्रभाव ग्रहण कर सकते हैं और किसी सीमा तक उसकी अभिव्यक्ति में भी सादृश्य हो सकता है। अतः पूर्वापर-कालीन कवियों की कृतियों में से साम्यपरक उक्तियां चुनकर किसी एक का दूसरे पर प्रभाव प्रकाशित करना उपयुक्त परिपाटी नहीं। विशेषतः उस युग में, जबकि संचार साधन अत्यन्त सीमित थे, किसी कवि का आवश्यक रूप से अन्य कृतिकारों के काव्य से पूर्णतः भिन्न हो पाना सम्भव न था। हाँ, विभिन्न कवियों के प्रेरणा-सूत्र एवं उनका युगीन-परिवेश समान होने से उनके कुछ पद्यों में आश्चर्यजनक समता देख पड़ती है। ऐसी स्थिति में दृष्टव्य यह होता है कि वर्णित भाव-विशेष की अभिव्यंजना किस कवि ने कितनी दक्षता से की है। यहाँ विभिन्न सतसईकारों से मतिराम की तुलना में यही दृष्टिकोण है।

तुलसी और मतिराम

महाकवि तुलसी ने एक स्थान पर श्री सीता जी के घने-काले बालों और उज्ज्वल हथेलियों की भिन्न आभा का बड़ा चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है:—

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनिमुक्ता करत उदोत ॥

बालों में गुंथे हुए मोती, उनकी झलक पड़ने से नीलमणि से प्रतीत होते हैं। किन्तु वही मोती सीता के हाथों में आकर पुनः अपनी स्वाभाविक चमक प्रकट करने लगते हैं। मतिराम ने ऐसी स्थिति का चित्रण अपने ढंग से किया है :—

मुकुत हार हरिके हिये, मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकान उदोत ॥[2]

रहीम और मतिराम

डा० मायाशंकर याज्ञिक के कथनानुसार रहीम की कविता का जितना प्रभाव मतिराम पर पड़ा है उतना अन्य किसी कवि पर नहीं पड़ा प्रतीत होता।[3] उनकी

१. मतिराम-सतसई, दोहा २०३।
२. वही, दोहा ४३७।
३. मायाशंकर याज्ञिक, रहीम-रत्नावली, पृष्ठ ५१।

हैं। रीति-ग्रंथों की शृंखला में देव के भावविलास, रस-विलास, भवानी-विलास और शब्द-रसायन ग्रंथ उनकी प्रतिभा का प्रकाश विकीर्ण करते हैं।

शब्द-रसायन का दूसरा नाम है 'काव्य-रसायन'। प्रामाणिकता की दृष्टि से यह देव की ही रचना है क्योंकि प्रकाशों के अन्त में 'देव' ने अपना नाम दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने भाव-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, प्रेमचन्द्रिका आदि ग्रंथों के अच्छे छंद चुनकर इसमें रख दिये हैं जिनकी शैली एवं वर्ण्य-विषय पर देव की छाप मिलती है। अन्य रचनाओं में देव का कवि रूप प्रस्फुटित हुआ है किन्तु शब्द-रसायन के प्रतिपाद्य विषय का अनुशीलन करने पर उनका आचार्यत्व भी भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। शब्द रसायन में कवि ने रीति का सर्वांगपूर्ण और विशद विवेचन किया है। इसमें अत्यन्त प्रौढ़ शब्दावली एवं सुललित छंदों में विषय का विवेचन किया गया है। देव ने इस ग्रंथ के रचना काल का कोई संकेत नहीं किया और न यह ग्रंथ किसी भी व्यक्ति को समर्पित ही किया गया है इसलिये इसका रचनाकाल अनुमान के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। कवि की रचना 'सुजान-विनोद' का समय संवत् १७९५ के लगभग माना जाता है। 'शब्द-रसायन' में 'सुजान-विनोद' के भी कतिपय श्रेष्ठ छंद संगृहीत किये गये हैं। अतः अनुमान है कि यह ग्रंथ सं० १८०० के आस-पास लिखा गया होगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 'शब्द-रसायन' को मुद्रित रूप में प्रकाशित किया है।

प्रमुख प्रतिपाद्य—देव ने इस ग्रंथ में काव्य के विविध अंगों का निरूपण किया है। उन्होंने प्राकृत और संस्कृत के काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन करके इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय तैयार किया है और 'रीति' के विविध तथ्यों को लक्षण और उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है, फिर भी शब्द-शक्ति, रीति और अलंकार का सम्यक् निरूपण नहीं हो पाया। कहीं-कहीं एक ही छंद में कई अलंकारों का उदाहरण देने से स्पष्टता नहीं आ पाई है, फिर भी इसका विवेचन बहुत ही स्पष्ट और सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। पिंगल के स्पष्टीकरण में कवि-कौशल, उसकी सूझ-बूझ और अध्ययन का अच्छा परिचय मिलता है। काव्य-रीति के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रंथ बड़े काम का है।

इस ग्रंथ में ११ प्रकाश हैं। पहले प्रकाश में कवि ने काव्य का महात्म्य, कवि का आदर्श तथा समर्थ काव्य के स्वरूप का वर्णन किया है। शब्द-शक्ति के चार भेदों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य का विवरण देते हुए लक्षणा के भेदों का विस्तृत वर्णन किया है। दूसरे प्रकाश में चार वृत्तियों, उनके संकीर्ण भेद तथा मूल आधार भेदों का निरूपण है। तीसरे प्रकाश में रस निर्णय है। इसमें शृंगार को रस-राज कहते हुए रस-लक्षण, रस भेद, रसाभाव, रसोत्पत्ति तथा रस के विभिन्न अंगों—स्थायी, सात्विक, संचारी आदि—का विवेचन किया गया है। चौथे प्रकाश में हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शांत त[illegible]

मतिराम के काव्य की दाद साहित्यिकों द्वारा दी गई तो इन दोहों को 'रसराज' तथा 'ललितललाम' का अंग मानकर इनकी उपेक्षा की गई। इसके अतिरिक्त अतिशय उक्ति-वैचित्र्य के अभाव एवं उछल-कूद से विरत गाम्भीर्य होने के कारण, उन्हें जादू की वह छड़ी नहीं मिल सकी जो विहारी के दोहों को मिली थी।[1]

वस्तुतः बिहारी एक नागर-कवि थे और मतिराम लोक-कवि। दोनों की कृतियों से दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—

बिहारी— खेलन सिखए अलि भलै,चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग,नागर नरनि-सिकार॥[2]

मतिराम—नागरि नैन कमान सर, करत न ऐसी पीर।
जैसे कतर गंवारि कै, दृग-धनुही के तीर॥[3]

मतिराम ने डिठौने द्वारा आनन आभा में वृद्धि होने का सहज चित्रण किया है किन्तु बिहारी ने उसे अपने वाग्वैदग्ध्य के बल पर नवीनता प्रदान कर दी है।

मतिराम—होत दसगुनों अंक है, किए एक ज्यों बिन्दु।
दिये दिठौना यों बढ़ो, आनन आभा इन्दु॥[4]

बिहारी —कहत सबै वेंदी दिये, अंक दसगुनों होत।
तिय लिलार वेंदी दिये,अगनित बढ़त उदोत॥[5]

स्पष्ट है कि मतिराम की दृष्टि वस्तु-स्थिति की सजीवता पर अधिक है और विहारी की दृष्टि कलात्मकता पर।

मतिराम और रसनिधि

विभिन्न शृंगारिक सतसइयों के अतिरिक्त 'रसनिधि' (वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह) कृत 'रतन हज़ारा' को भी इसी परम्परा की रचना माना जा सकता है। क्योंकि इस की रचना-शैली भी रीतिकालीन सतसइयों के समान है। केवल छंद संख्या ७०० की अपेक्षा १००० है। श्री श्यामसुन्दर दास ने तो इसके तीन सौ दोहों की छंटनी करके इसे 'रसनिधि-सतसई' के नाम से सम्पादित करके अपने सतसई-सप्तक में सम्मिलित भी कर लिया है। मतिराम और रसनिधि के कई दोहों में भाव साम्य दृष्टिगत होता है। किन्तु वह इतना सूक्ष्म है कि विशेष उल्लेखनीय नहीं।

---

१. डा० त्रिभुवनसिंह, महाकवि मतिराम, पृ० २५४।
२. विहारी-सतसई।
३. मतिराम-सतसई, दोहा ५।
४. वही, दोहा ६८।
५. विहारी-सतसई, दोहा ३२७।

हुए छंद को काव्य का शरीर, रस को जीव और अलंकार को शरीर का शोभावर्धक धर्म बताया है उसी प्रकार जैसे जीवित शरीर ही भूषणों से अलंकृत होने पर शोभा को प्राप्त होता है, शव नहीं—

अलंकार भूषण सुरस जीव छंद तन आख।
तन भूषण हू बिन जिए बिन जीवन तन राख॥

(श०र०, पृ० १६०)

एक अन्य स्थान पर काव्य के बाह्य पक्ष का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने शब्द को जीव, उसके अर्थ को मन और रसमय सौंदर्य को काव्य का शरीर माना है। छंद योजना में प्रवाह (गति) से काव्य में जीवन आ जाता है और अलंकारों से उसमें गम्भीरता आती है—

सब्द जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छंद गति अलंकार गम्भीर॥

(वही, पृ० १)

इस प्रकार देव ने रूपक के माध्यम से काव्यांग का निरूपण किया है। उन्होंने काव्य के माहात्म्य और उसके स्वरूप की रूपरेखा प्रस्तुत की है—

ऊँच नीच तरु कर्मबस चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवन्त जस नव्य काव्य सुखसार॥
रहत न घर बर धाम धन तरुवर सरवर कूप।
जस शरीर जग में अमर भव्य काव्य रसरूप॥

(वही, पृ० १)

देव ने काव्य को मानव जीवन की बहुत बड़ी विभूति माना है और समर्थ काव्य के लिए शब्द, रस, भाव, छंद और अलंकार को आवश्यक माना है—

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै लैपद बचननि अर्थ।
छंद, भाव, भूषण,सरस, सो कहि काव्य समर्थ॥

(वही, पृ० २)

समर्थ काव्य की रचना करने वाले कवि का आदर्श स्थिर करते हुए देव ने बताया है कि जो कवि निर्विकार और निरीह होकर पुनीत वाणी में कहता है उसी की कविता शीलयुक्त और सराहना के योग्य है—

जाके काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहीं क्षोभ को छांहो।
मोह न जाहि रहै जग वाहिर मोल जवाहर ता अति चाहो।
बानी पुनीत ज्यों 'देव' धुनी रस-आरद सारद के गुन गाहो।
सील ससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहो॥

(देवसुधा (सं० १९९२)—सम्पादक मिश्रबंधु, पृ० २३)

एक अन्य स्थान पर मतिराम-सतसई में मुस्कान की मादकता के दुहरे प्रभाव का अत्यन्त मोहक चित्रण हुआ है :—

विषमय किधौं पियूषमय तेरी मृदु मुस्क्यानि ।
यहै मूरछित करति है, यहै जिवावत आनि ।।[1]

परन्तु ब्रजराज-विलास-सतसई का कवि इस चित्र का एक ही पक्ष चित्रित कर पाया है :—

सबै कहत अधरानि में सुधा, सुधि है लाल ।
तनिक कहुं छिन छुयो मुख, गिरि गिरि परत गुपाल ।।[2]

इसी प्रकार नैन-खंजन की सुन्दरता का चित्रण दोनों सतसईकारों ने समानतः किया है :—

मतिराम —जरतारी सारी ढकै, नैन लसति मतिराम ।
मनों कनक पंजर परे,खंजरीट अभिराम ।।[3]

अमीरदास—ए तेरे तीखे तरुनि, नीन निचोलै नैन ।
मनो परे पिंजरानि में, खंजन धरत न चैन ।।[4]

एक अन्य प्रसंग में दोनों सतसइयों में वासकसज्जा-नायिका का चित्रण एक सा है, प्रतीक और उपमान भी समान है, पर ढंग अपना-अपना है:—

मतिराम —पिय मिलाप के हेत तिय, सजे अछाह सिंगार ।
दृग कमलनि के द्वार में, बाँधे बंदनवार ।।[5]

अमीरदास—सजै रु सुमन सिंगार सजि दौरि द्वार त्यों डीठि ।
जनु अगमानी अलि चतुर, पठी तरुनि हित ईठि ।।[6]

वस्तुतः मतिराम और अमीरदास में समानता यही है कि दोनों की प्रकृति गम्भीर और रुचि परिष्कृत है । फिर भी मतिराम-सतसई में उन्मुक्त प्रेम की मधुर अभिव्यंजना और तन्मयता की अधिकता स्पष्ट है ।

निष्कर्ष यह है कि अन्य रीतिकालीन सतसइयों में प्रतिपादित सभी विषयों के सरस एवं अनूठे उदाहरण मतिराम-सतसई में प्राप्त हैं । विषय की व्यापकता की दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी सतसइयों में जितने विषय कम से कम सम्मिलित रूप से मिलेंगे, उतने अकेले मतिराम-सतसई में देखे जा सकते हैं । रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध सभी रीति-कालीन काव्यरूपों की प्रामाणिकता अकेली मतिराम-सतसई द्वारा

१. मतिराम-सतसई, दोहा ३३८ ।
२. ब्रजराज विलास, दोहा ५७ ।
३. मतिराम-सतसई, दोहा ४८० ।
४. ब्रजराज-विलास-सतसई, दोहा ८२ ।
५. मतिराम-सतसई, दोहा २७५ ।
६. ब्रजराज-विलास-सतसई, दोहा ३१४ ।

काव्य प्रकाशकार ने इन्हें अभिधा के मूल भेद न कहकर वाच्य (संकेतित) अर्थ के ही विभिन्न रूप कहा है।[१] अभिधा में सीधा और स्पष्ट अर्थ लिया जाता है इसलिए देव ने अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को अधम या रस कुटिल कहा है क्योंकि व्यंजना या व्यंग्य को समझने में समय लगता है इसलिए रसानुभूति में व्याघात होता है—

अभिधा उत्तम कार्य है मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीन ॥

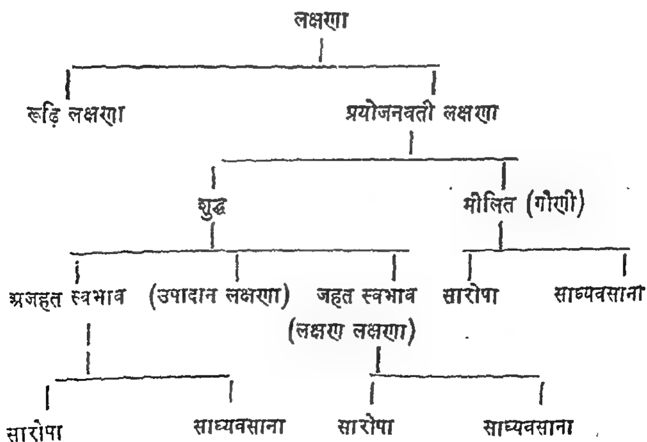
(शब्द-रसायन, पृ० ७२)

देव की अभिधादि की यह व्याख्या संस्कृत के आचार्यों की मान्यता के विपरीत है क्योंकि उन्होंने अभिधा को अधम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को उत्तम कहा है। लक्षणा की परिभाषा बताते हुए देव कहते हैं—

रूढ़ि करैं कछु प्रयोजन अर्थ सामु है भूल।
निहितट प्रगटै लाक्षनिक लक्ष्य लक्षना मूल ॥

(वही पृ० २)

अर्थात् सीधे और स्पष्ट अर्थ को छोड़कर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण लाक्षणिक अर्थ लें तो लक्षणा होती है। लक्षणा के १३ भेद बताये गये हैं जो मम्मट के काव्य प्रकाश के अनुसार हैं—



१. काव्यप्रकाश २।८।

२०

शिवा बावनी

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए हिन्दी-साहित्य के विविध इतिहासकारों एवं आचार्यों ने जिन विशेषताओं का संकेत किया है उनमें—लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, लौकिक शृंगार की व्यंजना, नारी के बाह्य-सौन्दर्य-चित्रण में मनोनिवेश, कलापक्ष की प्रधानता, अभिव्यक्ति में चित्र-योजना की भरमार, प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण, मुक्तक काव्य की प्रधानता, रूढ़िबद्धता, अवैयक्तिकता, तथा यान्त्रिकता—आदि का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है। भक्ति और नीति परक तथा वीर रसात्मक रचनाओं की उपस्थिति भी आटे में नमक की भाँति स्वीकार की गई है। डा० नगेन्द्र ने रीतिकालीन साहित्य को जीवन-यात्रा का विराम स्थल एवं उसके आधारफलक को सीमित कहा है। सीमित आधारफलक पर अंकित जीवन-चित्र का एकांकी होना स्वाभाविक ही सिद्ध होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि रीतिकालीन कवियों ने अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं किया था। इन्होंने शास्त्रीय मत को ही प्रमुखता दी अतः उनमें स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया। भूषण भी रीतिकाल के कवि हैं, उन्होंने लक्षण ग्रन्थ भी लिखा है, परन्तु न तो उनके काव्य का आधारफलक ही सीमित है न उन्होंने युग और समाज की यथार्थ परिस्थितियों को देखने का कार्य ही बन्द कर दिया था। लक्षण-ग्रन्थ के निर्माता का जो झीना और दुर्बल आवरण उनके ऊपर पड़ा है, उससे उनके आचार्यत्व की रंकता भले ही सिद्ध हो जाय, उसके भीतर झलकता हुआ उनका सबल कवि-व्यक्तित्व सहज आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

भूषण (सं० १६७०-१७७२ तक) को 'भूषण' की उपाधि चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्रदेव से प्राप्त हुई थी। उपाधि ने अपनी लोकप्रियता के गहरे आंचल में कवि के वास्तविक नाम को पूरी तरह ढक लिया। वैसे कानपुर के त्रिविक्रमपुर (तिकवांपुर) के निवासी इन्हें रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्रों—चिन्तामणि, मतिराम और जटाशंकर के साथ एक पतिराम (भूषण) के रूप में इनका उल्लेख परम्परागत रूप से करते हैं।

काव्य प्रकाशकार ने इन्हें अभिधा के मूल भेद न कहकर वाच्य (संकेतित) अर्थ के ही विभिन्न रूप कहा है।[१] अभिधा में सीधा और स्पष्ट अर्थ लिया जाता है इसलिए देव ने अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को अधम या रस कुटिल कहा है क्योंकि व्यंजना या व्यंग्य को समझने में समय लगता है इसलिए रसानुभूति में व्याघात होता है—

अभिधा उत्तम कार्य है मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीन॥

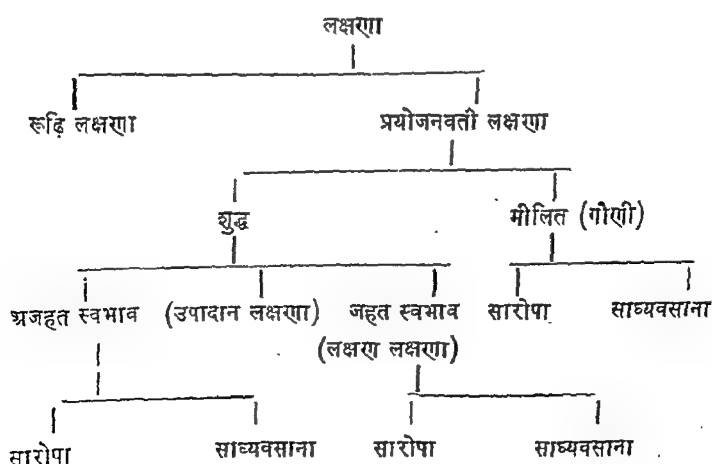
(शब्द-रसायन, पृ० ७२)

देव की अभिधादि की यह व्याख्या संस्कृत के आचार्यों की मान्यता के विपरीत है क्योंकि उन्होंने अभिधा को अधम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को उत्तम कहा है। लक्षणा की परिभाषा बताते हुए देव कहते हैं—

रूढ़ि करैं कछु प्रयोजन अर्थ सामु है भूल।
निहितट प्रगटै लाक्षनिक लक्ष्य लक्षना मूल॥

(वही पृ० २)

अर्थात् सीधे और स्पष्ट अर्थ को छोड़कर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण लाक्षणिक अर्थ लें तो लक्षणा होती है। लक्षणा के १३ भेद बताये गये हैं जो मम्मट के काव्य प्रकाश के अनुसार हैं—



१. काव्यप्रकाश २।८।

रस के उद्रेक एवं कवित्व की दृष्टि से शिवा बावनी को सर्वश्रेष्ठ रचना का गौरव प्राप्त है।

शिवा बावनी के बावन छन्दों में केवल एक छन्द विवादास्पद है। यह एक छप्पय है—

विज्ञपूर विदनूर सूर सर धनुष न संधहिं।
मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बंधहिं।
× × ×
मधुराधरेस धक धकत श्रो, द्रविड़ निबिड़ डर दबि डरै ॥११॥

शेष ५१ मनहरण कवित्तों के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। जहाँ तक इन कवित्तों के क्रम का प्रश्न है; यह शिवा बावनी के संपादकों की रुचि पर निर्भर करता रहा है। 'इन्द्र जिमि जम्भ पर' जैसा विख्यात कवित्त भी शिवराज भूषण में मालोपमा (५६वां छन्द) के उदाहरण के रूप में आ जाने के कारण कुछ संस्करणों से बहिर्भूत हो गया है और कुछ ने उसे सर्वप्रथम छन्द के रूप में स्थान दिया है।

शिवा बावनी के नायक तत्कालीन राष्ट्र पुरुष वीर शिवाजी हैं। शिवाजी केवल हिन्दू धर्म के रक्षक मात्र नहीं थे, वे भारतीय कला और संस्कृति के रक्षक भी थे। शिवा बावनी के अनुसार वे अत्याचार और अन्याय का प्रतिरोध करने वाले अवतारी पुरुष थे। बाबर, हुमायूँ और अकबर ने हिन्दू और तुर्कों तथा वेद और कुरान के लिए जो मर्यादायें स्थिर की थीं उन्हें औरंगजेब ने तोड़ दिया था। उसके अत्याचार के कारण मुगल और भारतीय संस्कृति के संगम की धारा पुनः विखंडित हो रही थी। राजनीति का अर्थ राज्य-विस्तार, दमन और जनता के एक वर्ग का उत्पीड़न मात्र रह गया था। शिवाजी ने इस अत्याचार और दमन के विरुद्ध क्रान्ति का झंडा फहराया। गुरु गोबिन्दसिंह और छत्रसाल भी इसी पथ के बलिदानी थे। उत्पीड़न और अत्याचार के विरुद्ध यदि कवि की वाणी न मुखरित हुई तो उसे कवि या युग-कवि कैसे कहा जा सकता है? भूषण ने शिवाजी के लक्ष्यों और आदर्शों को पहचाना, उसमें उन्हें जन-भावना की विद्रोही वृत्ति का मूर्त रूप मिला और कवि ने उस जन-नायक को अपने काव्य का नायक बनाकर उसकी क्रान्ति-भावना और राजनीति को वाणी दे दी। नीचे की कुछ पंक्तियाँ उक्त तथ्यों का स्पष्ट रूप से समर्थन करती हैं—

(१) बाबर हुमायूँ और अकबर हद बाँधि गए,
हिन्दू और तुरुक की कुरान वेद जब की॥
याही पातसाहिन में हिन्दुन की चाह थी, सो
जहाँगीर शाहजहाँ शाख पूरे तब की।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीद भई,
सिवाजी न हो तो सुनति होत सब की॥४८॥

भी विवेचन-वर्गीकरण कर सकते। फलतः संस्कृत की परम्परा का अनुगमन करते हुए उन्होंने उनके ग्रंथों का हिन्दी में उल्था किया। दूसरे इन कवियों का मुख्य उद्देश्य कवि कर्म था, आचार्य कर्म तो कवि कर्म का आधारमात्र था। इसी कारण जिस सफलता से इन कवियों ने उदाहरण दिये हैं उतनी अच्छी प्रकार वे सिद्धान्तों का निरूपण न कर सके। तीसरे, उस युग में हिन्दी गद्य का स्वरूप इतना स्थिर और सशक्त नहीं था जिसमें सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता। इसलिए कवियों ने काव्य के माध्यम से यह कार्य सम्पन्न किया। वस्तुतः एक छोटे से छन्द या दोहे में (जिसमें कई प्रकार का सीमा बन्धन भी रहता है) काव्यांग का शास्त्रीय विवेचन सम्भव नहीं है। इसीलिए देव के द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों एवं उदाहरणों में बहुत अस्पष्टता मिलती है।

देव ने रस का शास्त्रीय आधार भरत के नाट्यशास्त्र, भोजराज के शृंगार प्रकाश, भानुदत्त की रस-तरंगिणी और विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण के अनुसार रखा है। उन्होंने रसों के उदाहरण स्वयं लिखे हैं जो कवित्व की दृष्टि से तो ठीक हैं किन्तु रस का पूर्ण परिपाक करने में असमर्थ हैं। इसका मुख्य कारण यह भी है कि काव्य-शास्त्र में लक्षण-ग्रंथों के आधार पर लक्ष्य-ग्रंथों का निर्माण ठीक प्रकार निभ नहीं पाता।

देव ने रसों का पूर्ण विवेचन 'भवानी-विलास' और 'शब्द-रसायन' में किया 'भाव विलास' में शृंगार रस का स्वरूप और उसके रस राजत्व का सम्यक् विवेच है। देव ने रस को काव्य का सार कहते हुए उसकी परिभाषा विभाव, अनुभाव औ व्यभिचारियें द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण वासना बताई है—

(१) काव्यसार शब्दार्थ को रस तिहि काव्यासार।

× × ×

(२) ताते काव्या मुख्य रस जामैं दरसत भाव। (श० र० पृ० २८)

(३) जो विभाव अनुभाव अरु बिभिचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना सुकवि कहत रस सोइ। —भाव-विलास

डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त दोहे के 'वासना' शब्द का अर्थ स्मृत-ज्ञान अथवा अनुभव बताया है।[1] देव ने रस की स्थिति स्पष्ट करते हुए रस को ब्रह्मानन्द सहोदर एवं इन्द्रियानुभव से परे माना है—

हरि-जस-रस की रसिकता सकल रसाइन सार।
जहाँ न करतु कदर्थना यह असार संसार॥ (श० र०, पृ० १)

देव ने साहित्यिक रस, हरि रस और प्रेम रस को सभी रसों का रसायन (सार) कहा है—

---

१. देव और उनकी कविता (तीसरा संस्करण) पृ० १३६।

बात कही गई थी। भूषण ने ठीक इसी तरह का भाव निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है —

भूषण भनत भारे धौंसा की धुकार बाजैं,
गरजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे की।
दाच्छिनी दमाकदार दुल्हो शिवराज भयो,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की॥ ४६॥

भूषण के उद्गार राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रतीक शिवाजी के प्रति जन-भावना के उद्गार थे। इन दोनों में साम्प्रदायिकता की छाप ढूँढ़ना इतिहास के प्रति अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है। जसवन्तसिंह और उदयभानुसिंह की निन्दा भूषण की क्रान्ति-दृष्टि का स्पष्टीकरण है। आज का राष्ट्रीय कवि भी भूषण को एक क्रान्तिकारी कवि के रूप में ही स्मरण करता है—

उठ भूषण की भावरंगिणी, रूसो के दिल की चिनगारी।
लेनिन के जीवन की ज्वाला, जाग-जाग रे क्रान्ति कुमारी॥

भूषण ने शिवाजी की यशःगाथा का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन अवश्य किया है, परन्तु न तो उसमें अत्युक्ति का मिथ्यात्व है और न ही ऐतिहासिक दृष्टि से कोई विरोध। अत्यन्त प्रसिद्ध कवित्त 'इन्द्र जिमि जंभ पर' में शिवाजी के लिये प्रस्तुत उपमान सर्वत्र उनके आततायी-विरोधी रूप की ही व्यंजना करते हैं। शिवाजी का वर्णन युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर के चारों ही रूपों में हुआ है।

शिवा बावनी के कवित्तों में शिवा के प्रताप, उनके आतंक, औरंगजेब से उनके मिलन, अन्य राजाओं और औरंगजेब से उनकी तुलना, शिवाजी के बादशाह बनने की इच्छा का प्रभाव, रणयात्रा, युद्ध, विजय, धर्म, कला आदि का शिवा द्वारा रक्षण, तथा आशीर्वचन-वर्णित है। ये कवित्त अपने ओज और प्रवाह के कारण भूषण के सम्पूर्ण कवित्तों में दीप्तिमान रत्नों की भाँति प्रतीत होते हैं। वीर-कवियों की काव्य-प्रतिभा की परख सैन्य-सज्जा और युद्ध-वर्णन के प्रसंगों में होती है। भूषण ने सैन्य-सज्जा के वर्णन में हाथी, घोड़ों की जातियों के नाम परिगणन द्वारा शैथिल्य नहीं आने दिया है। इस वर्णन में सेना की हलचल, उसकी विशालता और त्वरा की झलक ही मिलती है—

साजि-चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गैवरन के रलत है।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि,
धारा पर पारा पारावार यों हलत है॥ २६॥

किन्तु 'शब्द-रसायन' में तो स्पष्ट रूप से प्राचीन आचार्यों के मत की ओर संकेत करते हुए उन्होंने ९ रस ही माने—

सो रस नव विधि बिबुध कवि, बरनत मत प्राचीन।
नव्य काव्य विधि भाव्य रस, ताही त्रिविध नवीन।
रस शृंगार हास्य अरु करुना रौद्र रसु, वीर, भयानक कहिये।
अद्भुत अरु बीभत्स सांत काव्य मते ये नव रस लहिये।

(श० र०, पृ० २८)

रसों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में देव की दो मान्यताएँ हैं—(१) उन्होंने नौ रसों में मुख्य ३ रस माने हैं—शृंगार, वीर और शांत। इन प्रधान रसों में प्रत्येक के आश्रित २ रस हैं—शृंगार के आश्रित हास्य और भय, वीर के रौद्र और करुण और शांत के अद्भुत तथा बीभत्स।

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै-द्वै प्रथम विलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ में दोऊ तेहि आधीन।
हास्य भयरु सिंगार संग रौद्र करुन संग वीर।
अद्भुत और बीभत्स संग शांतहि बरनत धीर॥

(वही, पृ० ३१)

देव की यह मान्यता अमनोवैज्ञानिक होने से स्वीकार्य नहीं है। (२) भरत के नाट्य-शास्त्र के आधार पर[1] उन्होंने ४ मूल रस माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स, शेष चार रस—हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक—क्रमशः इन्हीं के आश्रित हैं—

होत हास्य सिंगार ते करुण रौद्र ते जानु।
वीर जनित अद्भुत कहो, बीभत्स ते भयानु॥

(वही, पृ० ४७)

भोजराज के शृंगार-प्रकाश से प्रभावित होकर[2] 'भवानी-विलास' में देव ने शृंगार रस को प्रधानता दी है और उसे ही मूलरस बताते हुए उसी में अन्य रसों का स्थिति मानी है—

जगत मुख्य शृंगार में नवरस झलक अजस्र।
ज्यों कंकन मनि गनन को ताही में नवरत्न॥

(वही, पृ० ५८)

---

१. शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।—नाट्यशास्त्र।

२. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृंगार तत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥ शृंगारप्रकाश, पृ० ४६९।

उपमा—	बालियां निथुर जिमि अलियां नलिन पर। ४।
रूपक—	वारिधि के कुंभभव घन वन दावानल। ३।
	अलि अवरंगजेब चम्पा सिवराज हैं। २४।
प्रतीप—	सोंधे को आधार किसमिस जिनको अहार,
	चार को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं। १०।
अतिशयोक्ति—	चकित्त चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार। १४।
अप्रस्तुत-प्रशंसा—	भीख मांगि खैहैं बिन मन सब रैहैं,
	पै न जैहैं हजरत महाबली सिवराज पै। १६।
पर्यायोक्ति—	नाव भरि वेगम उतारैं बांदी डौंगा भरि,
	मक्का मिस साह उतरन दरियाव हैं। १७।
विषम—	तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भये,
	स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे। २१।
प्रश्नोत्तर—	सिवा पूछैं सिव सों समाजु आजु कहाँ चली,
	काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है। २७।

इनके अतिरिक्त अपह्नुति भ्रम, आक्षेप और विविध प्रकार के अनुप्रासों का प्रयोग भूषण ने किया है।

भूषण की काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही है पर वह अपनी शब्दावली में चलती हुई है। प्रवाह की सुरक्षा और अनुप्रास के चमत्कार के लिए भूषण ने शब्दों में तोड़-मरोड़ भी किया है। बनासपाती (बनस्पति) सुलाह (सुलह), हथ्यार (हथियार), पठनेटे, मुगलेटे (पठान, मुगल) आदि प्रयोग छन्द-प्रयोग में मात्रा पूर्ति के लिए भी विकृत किये गये हैं। ओज लाने के लिए चिक्करत, हल्ला, मत्तवारे,चकत्ता आदि संयुक्ताक्षर युक्त शब्दों के प्रयोग किये गये हैं। केवल एक कवित्त ऐसा है जिसमें माधुर्य भरने के लिए शब्दों का मनोरम बिगाड़ हुआ है—'तनियां न तिलक सुथनियां पगनियां न, घामे घुमरानीं छोड़ि सेजियां सुखन की। भूषण भनत पति बांह बहियां न तेऊ, छहियां छबीली ताकि, रहियां रुखन की।"

शिवा बावनी में—दिल्लीपति औरंगजेव, सिवराज विज्ञपुर विदनूर, गोलकुंडा मधुराधरेस, द्रविड़, फिरंगिन, कुतुबसाह, हबस, मालवा, उज्जैन रुहेले; बीजापुर, आगरा, अफजल खान, फारासीस (फ्रांसीसी), खान रुसतम, राना, कमधुज, पंवार, चन्द्रावत, बुंदेल हाड़ा, बढ़गूजर, बघेल, बलख बुखारा, कश्मीर, सेख, सैयद, मुगल, पठान, इखलास खां, करनाटी, सिंहल, चन्द्रावल, आदिलशाह, दारा खजुवे का युद्ध, सलहेरी शाहवाज खां, विश्वनाथ मठ, वीरसिंह देव, काबुल, कंधार, रूम, खुरासान, वावर, हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां आदि ऐतिहासिक स्थानों, राजाओं, हिन्दू और मुसलमान जातियों के नाम प्रयोग द्वारा इसे ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान कर

इस प्रकार उन्होंने 'स्मित' को उत्तम हास्य, 'हसित' को मध्यम और अतिहसित या 'अट्टहास' को अधम हँसी बताया है तथा हास्य की स्थूलता-सूक्ष्मता का संक्षिप्त विवरण मात्र दिया है। देव ने करुण रस के ५ भेद—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण—किये हैं।[1] इनमें यदि प्रथम चार के क्रम को उलट दिया जाय—लघुकरुण, करुण, अतिकरुण, महाकरुण—तो करुण की मात्रा के क्रमिक विकास का आभास मिलता है। 'सुखकरुण' से देव का आशय उस करुण से है जहाँ 'दुख में सुख' का योग हो। ऐसी दशा में करुणा का स्थायी भाव दुख या शोक ही होता है किन्तु उसी में सुख का सम्मिश्रण हो जाता है। रस-तरंगिणीकार के अनुकरण पर देव ने वीर रस के ३ भेद—युद्ध, दया और दान—ही माने हैं,[2] परम्परागत धर्मवीर को छोड़ दिया। 'भवानी-विलास' में बताये गये शान्तरस के भेदोपभेदों को 'शब्द-रसायन' में छोड़ दिया गया है और केवल दो ही भेद—शुद्ध तथा वैराग्यमूलक—स्वीकार किये हैं।[3] बीभत्स के दो रूप—जुगुप्साजन्य (शारीरिक) और ग्लानिजन्य (मानसिक) माने हैं।[4] रौद्र, भयानक और अद्भुत रस का कोई भेद नहीं किया गया।

देव ने 'विभाव' को 'रसोत्पत्ति का कारण' बताया है। इनके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। नायिका को देखकर नायक के हृदय में रस उत्पन्न होता है, प्राकृतिक सुषमा (उपवन) और सुरभि से इसमें उद्दीपन होता है—

उपजै रस जातें जहाँ, कै जातें अधिकाइ।
सो विभाव, कविराज है, द्वै विधि दियो बताइ।
आलम्बन उद्दीपन जानो, द्वै-विधि सुकवि विभाव बखानो।
नायकादि आलम्बन होई, उपवन, सुरभि उद्दीपन सोई॥[5]

(शब्द-रसायन, पृ० ३४)

'अनुभाव' की परिभाषा बताते हुए देव कहते हैं कि जिन्हें देखकर रस का अनुभव हो उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। भुज-विक्षेप, कटाक्ष, भौंह चलाना और मुसकराना इसके प्रकार हैं—

---

१. करुना अति करुना अरु महाकरुना लघु हेत।
एक कहत है पाँच ये दुख में सुखहि समेत॥—श० र०, पृ० ३८।

२. युद्ध दया अरु दानहित होत उछाह उदार।—वही, पृ० ४१।

३. तत्व-ज्ञान समत्व करि, उपजत सात्विक-बुद्धि।
शांतसरस सम-बुद्धि बढ़ि, पढ़ितायो मन-शुद्धि।—वही, पृ० ४६।

४. निंद्य-कर्म करि निंद्य-गति सुनैं कि देखै कोय।
तन संकोच मन संभ्रमन, द्विविधि जुगुप्सा होय।—वही, पृ० ४४।

५. रस उपजै आलम्ब जिहि सो आलम्बन होइ।
रसहिं जगावैं दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोइ॥
गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन वन केलि।
उद्दीपन शृंगार के विधु बसंत वन बेलि॥—भाव-विलास।

२१

शब्द-रसायन

डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'

रीतिकाल के कवियों में केशव और बिहारी के समान ही गौरव के अधिकारी महाकवि देव भी हैं जिनके काव्यों में मौलिकता, कवित्व-शक्ति और आचार्यत्व का समन्वित रूप मिलता है। उनकी शब्द-वर्ण-मैत्री, सरसता, भावानुकूल भाषा, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और मनोभावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति उन्हें कवियों में वरेण्य स्थान का अधिकारी निश्चित करती है। संवत् १९६७ में 'देव और बिहारी' ग्रंथ के द्वारा पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव सम्बन्धी अत्यन्त मूल्यवान सामग्री प्रकाशित करके तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि हिन्दी काव्य में देव का स्थान तुलसी और सूर के बाद तीसरा है और शृंगार-काव्य में सबसे पहला। उन्होंने देव की कविता की कोमलता, रसिकता, सुन्दरता, प्रसाद, ओज, माधुर्य-पर्यायोक्ति, सुशब्दता, भाव-सबलता, तल्लीनता, अलंकार और पिंगल की श्रेष्ठ योजना की प्रसंशा की। ला० भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' पुस्तक में देव की भाषा सम्बन्धी अव्यवस्थाओं की आलोचना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने देव की प्रतिभा का लोहा मानते हुये भी उनकी मौलिक उद्भावनाओं, कवित्व और आचार्यत्व का महत्व स्वीकार नहीं किया किन्तु डा० श्यामसुन्दर दास ने उनकी सौंदर्य विवृति, तन्मयता, काव्य-क्षेत्र की व्यापकता, शब्द-भण्डार और कल्पना-कोष की महत्ता को सराहा। देव के काव्य के कला-पक्ष, सौंदर्य चेतना, भावमूलक योजना और रसानुभुति का विस्तृत विवेचन करते हुये डा० नगेन्द्र ने उनके कवि रूप की प्रसंशा की है किन्तु आचार्य रूप में भारतीय साहित्य-शास्त्र को उनकी कोई मौलिक देन स्वीकार नहीं की।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कतिपय विद्वान् देव की प्रतिभा का लोहा मानते हुए भी उनके महत्त्व को स्वीकार नहीं करते और कुछ उनके कवि रूप की तो प्रसंशा करते हैं परन्तु आचार्य रूप में उनकी देन नगण्य—या बिल्कुल नहीं—मानते

१. देव और उनकी कविता (तीसरा संस्करण) पृष्ठ ३०५।

उचक चपल आवेग व्याधि, सों बिथक सुपीरति।
जड़ता थकति सुध्यान चित्त सुमिरति घर घीरति।
मोहि-मोहि अवहित्थ मुरति सतराति उग्रगति।
इतरैंबो उन्माद साहचरजैं सराह मति।
अरु आहचर्ज बहु तर्क करि, मरन तुल्य मुरछित परित।
कहि 'देव' देव तैंतीस हूँ, संचारी तिय संचरति।

(श० र०, पृ० ३५-३६)

इस प्रकार देव ने शृंगार के संचारियों का विशेष रूप से वर्णन किया है और संचारी भावों के नाम देकर प्रकट रूप से उन सभी का संचार स्त्री में दिखाया है। 'भाव-विलास' में देव ने 'छल' को ३४वां संचारी माना था किन्तु 'शब्द-रसायन' में उन्होंने 'छल' को छोड़ कर ३३ ही संचारी माने। देव का उपर्युक्त वर्णन संचारियों का विवरण मात्र है, उसकी व्यंजना नहीं है। इसमें कवि-कौशल प्रदर्शन अधिक है, उसका अनुभूत्यात्मक और रोचक वर्णन नहीं है। इसी प्रकार पंचम प्रकाश में भी उन्होंने नवरस के संचारियों की गणना की है।[1] उनके उदाहरण नहीं दिये हैं।

रस दोष—देव रसवादी कवि थे अतः उन्होंने रस-दोषों की ओर भी संकेत किया है क्योंकि रस ही काव्य का प्राण है उसमें व्याघात उत्पन्न होने पर काव्यानन्द में बाधा पड़ती है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ का भी यही मत है। शब्द-रसायन के पंचम प्रकाश में उन्होंने रस-दोषों का संक्षिप्त विवेचन किया है। रस-तरंगिणीकार के अनुकरण पर देव ने रस-दोषों के नाम गिनाये हैं—

सरस-निरस, सम्मुख-विमुख, स्वर-पर-निष्ठ पहिचानि।
भीत-अभीत, उदास, चित, उचित सुचित बखानि।

(वही, पृ० ५०)

उन्होंने 'नीरस' के आठ भेद किये हैं—

देस काल अरु वर्न विधि यात्रा और संधानि।
अरु रस भाव विरुद्ध ये आठ निरस पहिचानि।

(वही, पृ० ५१)

अर्थात् देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, सन्धि, रस और भाव के विरोध के अनुसार नीरस के ८ भेद हैं। देव ने इस पर विस्तार से विचार नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव के अनरस दोषों से प्रेरित होकर ही उन्होंने रस-दोषों की कल्पना की है किन्तु इतना निश्चित है कि वे इस वर्गीकरण को स्पष्ट रूप से समझा नहीं पाये।

पंचम प्रकाश में उन्होंने मित्र-रस और शत्रु-रस दोनों की गिनती कराई है। ये परस्पर जन्य-जनक के भाव में भिन्न हैं किन्तु शत्रु-रस भी कवि कौशल से मित्र-रस

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ ५३-५४।

पांचवें प्रकाश में मित्र-रस और शत्रु-रसों का वर्णन है। साथ ही कवि कौशल से किस प्रकार शत्रु-रस मित्र-रस बन जाते हैं इस पर विचार किया गया है। अन्त में रस दोष तथा कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती वृत्तियों का विवेचन है। छटे प्रकाश में शृंगार तथा उसके अंगीरसों का विस्तार से एवं नायिका भेद का संक्षेप में वर्णन किया गया है। रसों का यह विवेचन और विनियोग 'भाव-विलास' और 'भवानी-विलास' की अपेक्षा नए रूप में प्रस्तुत किया गया है। सातवें प्रकाश में रीति (गुण) तथा उसके भेदों का विवेचन किया गया है। देव ने अनुप्रास और यमक को भी रीति माना है। आठवें प्रकाश में चित्र-काव्य का वर्णन है। देव ने चित्र-काव्य को अधम काव्य माना है क्योंकि उसमें केवल अनुप्रास और यमक के शब्द-चित्र मिलते हैं। इसके बाद अनेक चित्रबंधों के काव्यव्यूह रचे गए हैं। नवें प्रकाश का वर्ण्य-विषय अर्थालंकार हैं। 'भाव-विलास' में कवि ने ३९ अलंकार माने थे किन्तु यहाँ ४० मुख्य और ३० गौण अलंकारों का विवरण दिया है। अलंकारों में उपमा और स्वभावोक्ति को उन्होंने मूल अलंकार माना है। शेष इन्हीं के भेद हैं। यहाँ उपमा तथा उसके भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। दसवें तथा ग्यारहवें प्रकाश में विस्तार से पिंगल का वर्णन है। आरम्भ में गद्य और पद्य का साधारण परिचय, फिर गण, गणदेवता आदि का विवरण देते हुए मुख्य छंदों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इन दोनों प्रकाशों में प्रमुख वर्णिक और मात्रिक छंदों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं। विशेषता यह है कि संस्कृत के पिंगल ग्रंथों की शैली में एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं और एक गण से चलने वाले सभी छंदों का वर्णन एक साथ ही किया गया है। सवैये का वर्णन करते हुये उसके सभी लक्षण भगण के द्वारा बताये गये हैं। छंद वर्णन में ३३ वर्णों की एक नई घनाक्षरी का प्रयोग किया गया है जो देव घनाक्षरी के नाम से प्रसिद्ध है।

विषय-प्रतिपादन की उपर्युक्त रूपरेखा से स्पष्ट है कि शब्द-रसायन में रीति का सम्यक् और वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। परंपरागत प्रयोग के अतिरिक्त कवि ने इसमें कतिपय नवीन प्रयोग भी किये हैं जिनसे उसकी प्रतिभा, प्रौढ़ छंद-योजना और विषय प्रतिपादन शैली का पता चलता है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र के सर्वांग का विवेचन कविता में उतनी अच्छी तरह नहीं हो सकता है जितना गद्य में, फिर भी महाकवि देव का यह ग्रंथ उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

सामान्य काव्य-सिद्धान्त—देव रसवादी कवि थे। उनकी रचनाओं में काव्य के भावात्मक पक्ष को अनुभूति परक ढंग से इस प्रकार लिखा गया है कि उसमें रसोद्रेक की क्षमता है। उन्होंने काव्य की आत्मा (सार) शब्दार्थ को बताया है। शब्दार्थ को विधिवत् हृदयंगम करने से रसानुभूति होती है। 'काव्यसार शब्दार्थ को रस तेहि काव्यसार'। (शब्द-रसायन पृ० २८) उन्होंने काव्य के आंतरिक पक्ष की महत्ता बताते

पात्रों में—शुद्ध परिकीया, शठ स्वभाव उपपति, विद्या नाट्य गुरु सखी, नर्म सचिव विदूषक, पुरजन दूती, निंद्य कर्म उपदेशी आदि।[1] देव ने लक्षण बताते हुए इनके उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने स्वकीया को अष्टांगगुणों—यौवन, रूप, कुल, प्रेम, शील, गुण, वैभव और भूषण—से युक्त विशुद्ध नायिका माना है, कुल-शील का अभाव होने से सामान्या को हीनतर माना है। जिस प्रकार शब्द-शक्ति के विवेचन में देव ने अभिधा को उत्तम और व्यंजना को रसकुटिल कहा है, उसी प्रकार नायिकाओं में स्वकीया को अभिधा और परकीया को व्यंजना कहकर उनमें अन्तर स्थापित किया है—

स्वीय मुग्ध मूरतिमुधा प्रौढ़ सिता पयसिक्त।
परकीया कर्कससिता मरिच परिचयनि तिक्त।
(श० र०, पृ० ७२)

'शब्द-रसायन' में वर्णित नायिका भेद और उसका वर्गीकरण काव्य चमत्कार की दृष्टि से तो विशेष प्रभावपूर्ण नहीं है किन्तु 'काम-शास्त्र' की विवृत्तियों की दृष्टि से अवश्य सह्य कहा जा सकता है। भेद विस्तार का यह बोझिल रूप सुरुचि संपन्न पाठक के हृदय में आनन्दानुभूति तो उत्पन्न नहीं कर पाता किन्तु काव्यशास्त्रीय परम्पराओं के अनुसार चमत्कार प्रदर्शन तथा मनोरंजन (रिक्रीएशन) का माध्यम अवश्य बनता है।

अलंकार—संस्कृत में अलंकार सम्प्रदाय की परम्परा भरतमुनि के नाटकशास्त्र से प्रारम्भ होती है जिसमें मुख्य अलंकार ४ माने गये हैं। फिर भी इस सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय भामह को दिया गया है। दण्डी, मम्मट, रुद्रट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों के समय तक इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई। हिन्दी में अलंकारों के प्रारम्भ का श्रेय केशव को है। केशव ने दण्डी की अलंकार योजना को ग्रहण किया और देव ने केशव से प्राप्त परम्परा को स्वीकार किया है। देव ने अलंकारों का निरूपण 'भाव-विलास' और 'शब्द-रसायन' में किया है। उन्होंने 'भाव विलास' में ३९ तथा 'शब्द-रसायन' में ४० मुख्य+३० गौण अलंकार माने हैं; साथ साथ ही इनके और भी भेदोपभेदों की ओर संकेत किया है—

मुख्य गौण विधि भेद करि हैं अर्थालंकार।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौण सु तीस प्रकार॥
मुख्य गौण के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त।
(वही, पृ० ९४)

'शब्द-रसायन' में अलंकारों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण का तो विस्तार से और अंतिम कुछ का चलता हुआ वर्णन किया गया है। वैसे तो देव रसवादी कवि थे किन्तु काव्य में अलंकारों की आवश्यकता के समर्थक थे—

---

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ ६०।

शब्द-शक्ति—भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द शक्ति या पदार्थ निर्णय को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह बहुत ही सूक्ष्म विषय है। हिन्दी रीति कवियों में कुलपति और प्रतापसाहि ने इस विषय का विवेचन करने की चेष्टा की है किन्तु वे उसमें सफल न हो सके। देव ने भी इस प्रकरण में कतिपय नवीन धारणायें प्रस्तुत की हैं किन्तु वे भ्रांत व अस्पष्ट हैं।

देव ने पदार्थ-निर्णय में शब्द-शक्ति के ४ भेद माने हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। इन शब्द-शक्तियों के संकीर्ण भेद करते हुए उन्होंने परस्पर सम्बन्ध-जन्य १२ प्रकार के अर्थ बताए हैं जिनमें कुछ शास्त्रानुसार हैं, कुछ नहीं—

सुद्ध अभिधा है, अभिधा में अभिधा है,
अभिधा में लक्षना है, अभिधा में व्यंजना कहौ।
सुद्ध लक्षना है, लक्षना में लक्षना है,
लक्षना में व्यंजना, लक्षना में अभिधा कहौ॥
सुद्ध व्यंजना है, व्यंजना में व्यंजना है,
व्यंजना में अभिधा है, व्यंजना में लक्षना गहौ।
तातपरजारथ मिलत भेद बारह,
पदारथ अनंत, सबदारथ मते छहौ॥

अन्त में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में प्रत्येक के ४ भेद और किये गये हैं जिन्हें उन्होंने मूलभेद कहा है—

अभिधा—जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा[1]
लक्षणा—कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप[2]
व्यंजना—वचन-विकार, चेष्टा-विकार, क्रिया-विकार, स्वर-विकार[3]

इनमें अभिधा के चारों भेदों का उसी प्रकार वर्णन है जिस प्रकार भामह आदि आचार्यों ने किया है। देव ने इन चार के अतिरिक्त और भी बहुत से भेद माने हैं किन्तु ४ को ही मुख्यतः स्वीकार किया है—

यहि विधि तीनों वृत्ति के भेदांतर प्रत्येक।
चारि चारि संक्षेप विधि बरनत सुमति अनेक॥
× × ×
मूल भेद औरो बहुत या ते कहे अनेक।

(शब्द-रसायन, पृ० २०)

१. जाति, क्रिया; गुन, यदृच्छा चारों अभिधा मूल। श० र०, पृ० २१।
२. कारज, कारन, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप। वही, पृ० २३।
३. वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा इनके जहां विचार। वही, पृ० २५।

उन्होंने यमक के भेद बताते हुए पर्वत, हार, कपाट, धनु, कमल आदि चित्र-बंधों का विवरण दिया है जिनमें एकाक्षर, द्वाक्षर, अनुलोम, विलोम, अंतर्लापि, प्रहेलिका आदि का चमत्कार दिखाया है—

पर्वत, हार, कपाट, धनु, कमल आदि बहु बंध।
कामधेनु अरु सर्वतो, भद्रादिक रस गंध।
एक दुअक्षर आदि बहु अरु अनुलोम विलोम।
अन्तर्लापि, प्रहेलिका ललित बरन इस होम॥

(श० र०, पृ० ६०-६१)

अर्थालंकारों को ही देव ने श्रेष्ठ काव्य माना है। इनमें उपमा और स्वाभावोक्ति मुख्य हैं। इन दोनों में उपमा ही मुख्य है—

सकल अलंकारनि बिषै उपमा अंग उपंग। (वही, पृ० ९७)

संस्कृत के आचार्यों ने स्वभावोक्ति को विशेष महत्त्व नहीं दिया क्योंकि स्वभावोक्ति का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है। जो सामान्य बात हम पर अपनी छाप छोड़कर रसानुभूति कराये वही रस के अधिक निकट है। देव रसवादी कवि थे इसीलिए उन्होंने स्वभावोक्ति को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया।

देव ने उपमा को सर्वाधिक महत्त्व देकर सभी अलंकारों का मूल माना है और उसके भेदोपभेद किए हैं—

बैर, प्रीति, मद, ईर्षा, व्रीड़ा, वचन-विलास।
स्तुति, निंदा, करुना, दया, हर्ष, हास, उपहास।
सुमृति, सांत, संदेह, सुख, निश्चै तर्क विवाद।
उद्यम, आदर, अनादर, मान, प्रमान, प्रसाद।
विनती, छोभन, छमापन, आभापन, अपमान।
अंगीकार, उदारता, अहंकार, अनुमान।
उपमा, सम्भव, असम्भव, अनगुन, संग, असंग।
तातपर्ज, धुनि, व्यंग्य हूँ, वाच्य लक्ष्य साभंग।

(वही, पृ० ९७)

वैचित्र्य प्रदर्शन के मोह में देव ने संचारी भावों और मनोविकारों को भी उपमा में अन्तर्भूत कर दिया है, किन्तु यह उचित नहीं है। काव्य में उपमा की सर्वोपरिता को संस्कृत आचार्यों ने और हिन्दी में देव से पहले भूषण ने (भूषन सब भूषननि में उपमा उत्तम चाहि) स्वीकार किया। भावों की उचित अभिव्यक्ति, कथन की प्रभावोत्पादकता और स्पष्टीकरण के लिए उपमा की आवश्यकता सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। देव ने भी इसी परम्परा का अनुगमन किया है।

'शब्द-रसायन' में देव ने इन अलंकारों का विवरण दिया है—स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, सहोक्ति, विशे-

उपर्युक्त सभी लक्षणाओं के फिर दो-दो भेद होते हैं—अगूढ़ व्यंग्या और गूढ़ व्यंग्या। फिर अभिधा की भाँति ही लक्षणा के भी देव ने ४ भेद[1] और उनके भी अवांतर ४ भेद[2] किये हैं।

व्यंजना के बारे में देव लिखते हैं—

समुहै कढ़ै न फेर सों झलकै औरै इंग्य।
वृत्ति व्यंजना धुनि लिये दोऊ व्यंजक व्यंग्य॥ (श० र०, पृ० २)

अर्थात् अभिधा और लक्षणा दोनों के अर्थ में बाधा होने पर जब व्यंग्यार्थ अभिव्यंजित होता है तब व्यंजना होती है। अभिधा और लक्षणा की भांति व्यंजना के ४ भेद हैं[3] तथा इन भेदों के भी ४ भेद हैं—

वचन क्रिया स्वर चेष्टा इनके जहाँ विचार।
चारि व्यंजना मूल ये भेदांतर धुनि सार॥ (वही, पृ० २५)

उपर्युक्त विवेचन में देव ने मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के जो भेद माने हैं, उन्हीं में व्यंग्यार्थ की स्थिति भी अन्तर्भूत है। ये भेदांतर स्वतन्त्र नहीं हैं। भेदों तथा उपभेदों की इस स्थिति से शब्द शक्ति का स्पष्ट विवेचन नहीं हो पाता।

अन्य आचार्यों की भांति देव ने मूल शब्द-शक्ति तो ३ ही मानी हैं किन्तु जहाँ जिसका अधिक प्रभाव रहता है, वहाँ उसी की स्थिति मानी जाती है।

तातपर्ज के अर्थ हूँ तीन्यौं करत उदोत। (श० र०, पृष्ठ २)

इस प्रकार उन्होंने 'तात्पर्य' को चौथी शब्द-शक्ति कहा है—

तातपर्ज चौथो अरथ तिहूँ शब्द के बीच।[4]

वस्तुतः 'तात्पर्य' शब्द-शक्ति देव की मौलिक सूझ नहीं है। प्रभाकर गुरु आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने इसकी आवश्यकता नहीं मानी,[5] बाद में विश्वनाथ ने भी इस वृत्ति की चर्चा की है[6] किन्तु यह सामान्यतः मान्य नहीं हुई। हिन्दी के रीति कवियों में देव से पूर्व चिन्तामणि ने भी इसका उल्लेख किया है। देव ने तो इसे स्वीकार करके परम्परा का पालन मात्र किया है।

रस—संस्कृत के आचार्यों ने विश्लेषण और परीक्षण के द्वारा जिस काव्यशास्त्र का गम्भीर, सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन कर दिया था, उसके लिए हिन्दी के रीतियुग के आचार्यों के पास न तो इतना समय था न इतना बुद्धि वैभव कि वे उसका और

---

१. सुद्ध लच्छना, लच्छना में लच्छना, लच्छना में व्यंजना, लच्छना में अभिधा।
२. कारज कारण सदृशता वैपरीत्य आक्षेप।
३. शुद्ध व्यंजना, व्यंजना में व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लच्छना।
४. शब्द-रसायन, पृष्ठ २।
५. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र (तीसरा संस्करण) पृ० १६८।
६. [illegible] २।२०।

माधुर्य, ओजस्, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार, कांति। दण्डी ने १० गुण मानते हुए वैदर्भी को ही रीति का प्राण माना। वामन ने अर्थ-गुण और शब्द-गुण के आधार पर २० गुण माने। कुन्तक ने मूल गुण ४—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य—माने और उनमें से प्रत्येक के दो भेद—विशिष्ट और साधारण—बताकर कुल आठ गुण बताये। इस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन आनन्दवर्धन ने किया। उन्होंने गुणों की संख्या १० से घटाकर ३—माधुर्य, ओज, प्रसाद—कर दी और शेष सात गुणों का इन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया। परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी वर्गीकरण को मान्यता दी।

देव ने १२ गुण (रीति) माने हैं। उन्होंने भरत के १० गुणों में अनुप्रास और यमक को और जोड़ दिया है—

अर्थ श्लेप प्रसाद सम, मधुर भाव सुकुमार।
अर्थ सुव्यक्ति, समाधि अरु कांति सुओज उदार।
शब्द अर्थ दस भाव मिलि निकसैं ये दस रीति।
अनुप्रास जमको तहाँ, शब्द-चित्र करि प्रीति।

(श० र०, पृ० ७३)

पंडितराज जगन्नाथ की तरह देव ने गुणों को काव्य की आत्मा तथा वर्ण के चमत्कार दोनों रूपों में स्वीकार किया है। देव का यह वर्गीकरण दण्डी के काव्यादर्श से बहुत कुछ प्रभावित है। उन्होंने कांति में दण्डी और वामन तथा उदारता में कुछ परिवर्तन से दंडी के सिद्धान्त को ही स्वीकार कर लिया है।

अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेप दस रीतियों (गुणों) के देव ने नागर और ग्राम्य दो भेद किये हैं—

दसौ रीति ये द्वै द्विविधि नागर अरु ग्रामीन।
नागर गुन आगर दुतिय रस-सागर रुचि हीन।

(वही, पृ० ७३)

नागर और ग्राम्य में मालती और चम्पा के फूलों की भांति अन्तर है। मालती के मृदु मकरन्द पर भ्रमर झूमता आता है पर चम्पा के समीप आने पर भी उसे आनन्द की वह उपलब्धि नहीं होती—

नागर ग्राम अन्तर इतो मालति मृदु-मकरन्द।
तजि चम्पा झम्पान चढ़ि, मानत अलि न अनन्द॥

(वही, पृ० ७३)

अर्थात् नागर रीति सुरुचिप्रधान और ग्राम्य रसाधिक्य होने पर भी सुरुचि के प्रभाव से सम्पन्न रहती है।

देव के ये भेदोपभेद उनकी चमत्कार-प्रियता या उक्ति वैचित्र्य-प्रियता के रूप में माने जा सकते हैं, वैसे इनकी स्थिति से हमारे आनन्द या ज्ञान में किसी प्रकार की

सरस शब्द घनश्याम रंग बरसत अर्थ अमोघ।
नव्य काव्य हरि-भव्य-जसु, हरत अनघ अघओघ॥
चलत न तब लगि पद छिदे शब्द अर्थ छल छन्द।
जब लगि-लगि बरसत नहीं हरि जसु रस आनन्द॥ (शब्द-रसायन, पृ० २७)

प्रेमचन्द्रिका में दम्पति (नायक-नायिका) के हृदय को शृंगार रस का आधार स्थान कहते हुए[1] भी उन्होंने कविमात्र और सहृदय की एकता को ही रसानुभूति का मुख्य उद्गम माना है, इसलिए जिसके कहने-सुनने से हृदय में प्रेम होता है और चित्त आनन्दानुभूति करता है, दस रीति (गुण) से सम्पन्न वे शब्दार्थ ही सरस काव्य हैं—

कहत सहत उमहत हियो सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द अर्थ भाषा सुरस सरस काव्य दस रीति॥ (वही, पृ० ७२)

रस परिपाक का विवेचन करते हुए देव ने पात्र के हृदय को क्षेत्र माना है जिसमें विधाता की कृपा और प्रारब्ध के संयोग से स्थायी भाव बीज उत्पन्न होता है जो स्नेह जल से सिंचित होने पर, छन्द रूपी पत्र से अलंकृत होकर भाव रूपी विटप का रूप धारण करता है—

खेत पात्र प्रारब्ध विधि बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पत्र परि भोग।
चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित बदलित दस फूल फलि बरसत सुरस सुभाव॥ (वही, पृ० २८)

विभाव से रसोत्पत्ति, अनुभाव से रसानुभूति या उसका प्रकाशन, सात्विक भावों से रस का विशेष स्पष्टीकरण और संचारी से उसकी अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः रस का पूर्ण परिपाक इसी विधि से होता है—

रस अंकुर थाई, विभाव रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव सात्विकी रस झलकावन॥ (वही, पृ० २९)

रसों का उपर्युक्त विवेचन देव ने शास्त्र परम्परानुसार ही किया है। आगे चलकर शृंगार रस का विवेचन करते हुए उन्होंने उसके भेदोपभेद किये हैं जो मूलतः रस-तरंगिणी, शृंगार-प्रकाश और रसिक-प्रिया के आधार पर हैं किन्तु अपनी प्रथम कृति 'भाव-विलास' में चमत्कारिक वृत्तियों से अभिभूत होकर जिन अनेक विचित्रताओं का उन्होंने समावेश किया था उनमें से कई बातों को 'शब्द-रसायन' में छोड़ दिया गया।

भरत और मम्मट की पद्धति का अनुसरण करते हुए देव ने 'भाव-विलास' में नाटक में आठ और काव्य में ९ रस माने—

यहि भाँति आठ विधि कहत कवि नाटक मत भरतादि सब।
अरु शान्त यतन मत काव्य के लौकिक रस के भेद नव॥

१. दंपति उर कुरखेत विधि बीज भीजि रस-भाव।

माधुर्य, ओजस्, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार, कांति। दण्डी ने १० गुण मानते हुए वैदर्भी को ही रीति का प्राण माना। वामन ने अर्थ-गुण और शब्द-गुण के आधार पर २० गुण माने। कुन्तक ने मूल गुण ४—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य—माने और उनमें से प्रत्येक के दो भेद—विशिष्ट और साधारण—बताकर कुल आठ गुण बताये। इस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन आनन्दवर्धन ने किया। उन्होंने गुणों की संख्या १० से घटाकर ३—माधुर्य, ओज, प्रसाद—कर दी और शेष सात गुणों का इन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया। परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी वर्गीकरण को मान्यता दी।

देव ने १२ गुण (रीति) माने हैं। उन्होंने भरत के १० गुणों में अनुप्रास और यमक को और जोड़ दिया है—

अर्थ श्लेष प्रसाद सम, मधुर भाव सुकुमार।
अर्थ सुव्यक्ति, समाधि अरु कांति सुप्रोज उदार।
शब्द अर्थ दस भाव मिलि निकसैं ये दस रीति।
अनुप्रास जमकौ तहाँ, शब्द-चित्र करि प्रीति।

(श० र०, पृ० ७३)

पंडितराज जगन्नाथ की तरह देव ने गुणों को काव्य की आत्मा तथा वर्ण के चमत्कार दोनों रूपों में स्वीकार किया है। देव का यह वर्गीकरण दण्डी के काव्यादर्श से बहुत कुछ प्रभावित है। उन्होंने कांति में दण्डी और वामन तथा उदारता में कुछ परिवर्तन से दंडी के सिद्धान्त को ही स्वीकार कर लिया है।

अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेष दस रीतियों (गुणों) के देव ने नागर और ग्राम्य दो भेद किये हैं—

दसौ रीति ये द्वै द्विविधि नागर अरु ग्रामीन।
नागर गुन आगर दुतिय रस-सागर रुचि हीन।

(वही, पृ० ७३)

नागर और ग्राम्य में मालती और चम्पा के फूलों की भांति अन्तर है। मालती के मृदु मकरन्द पर भ्रमर झूमता आता है पर चम्पा के समीप आने पर भी उसे आनन्द की वह उपलब्धि नहीं होती—

नागर ग्राम अन्तर इतो मालति मृदु-मकरन्द।
तजि चम्पा झम्पान चढ़ि, मानत अलि न अनन्द॥

(वही, पृ० ७३)

अर्थात् नागर रीति सुरुचिप्रधान और ग्राम्य रसाधिक्य होने पर भी सुरुचि के प्रभाव से सम्पन्न रहती है।

देव के ये भेदोपभेद उनकी चमत्कार-प्रियता या उक्ति वैचित्र्य-प्रियता के रूप में माने जा सकते हैं, वैसे इनकी स्थिति से हमारे आनन्द या ज्ञान में किसी प्रकार की

सरस शब्द घनश्याम रंग बरसत अर्थ अमोघ।
नव्य काव्य हरि-भव्य-जसु, हरत अनघ अघओघ॥
चलत न तब लगि पद छिदे शब्द अर्थ छल छन्द।
जब लगि-लगि बरसत नहीं हरि जसु रस आनन्द॥ (शब्द-रसायन, पृ० २७)

प्रेमचन्द्रिका में दम्पति (नायक-नायिका) के हृदय को शृंगार रस का आधार स्थान कहते हुए[1] भी उन्होंने कविमात्र और सहृदय की एकता को ही रसानुभूति का मुख्य उद्गम माना है, इसलिए जिसके कहने-सुनने से हृदय में प्रेम होता है और चित्त आनन्दानुभूति करता है, दस रीति (गुण) से सम्पन्न वे शब्दार्थ ही सरस काव्य हैं—

कहत सहत उमहत हियो सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द अर्थ भाषा सुरस सरस काव्य दस रीति॥ (वही, पृ० ७२)

रस परिपाक का विवेचन करते हुए देव ने पात्र के हृदय को क्षेत्र माना है जिसमें विधाता की कृपा और प्रारब्ध के संयोग से स्थायी भाव बीज उत्पन्न होता है जो स्नेह जल से सिंचित होने पर, छन्द रूपी पत्र से अलंकृत होकर भाव रूपी विटप का रूप धारण करता है—

खेत पात्र प्रारब्ध विधि बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पत्र परि भोग।
चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित बदलित दस फूल फलि बरसत सुरस सुभाव॥ (वही, पृ० २८)

विभाव से रसोत्पत्ति, अनुभाव से रसानुभूति या उसका प्रकाशन, सात्विक भावों से रस का विशेष स्पष्टीकरण और संचारी से उसकी अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः रस का पूर्ण परिपाक इसी विधि से होता है—

रस अंकुर थाई, विभाव रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव सात्विकी रस झलकावन॥ (वही, पृ० २९)

रसों का उपर्युक्त विवेचन देव ने शास्त्र परम्परानुसार ही किया है। आगे चलकर शृंगार रस का विवेचन करते हुए उन्होंने उसके भेदोपभेद किये हैं जो मूलतः रस-तरंगिणी, शृंगार-प्रकाश और रसिक-प्रिया के आधार पर हैं किन्तु अपनी प्रथम कृति 'भाव-विलास' में चमत्कारिक वृत्तियों से अभिभूत होकर जिन अनेक विचित्रताओं का उन्होंने समावेश किया था उनमें से कई बातों को 'शब्द-रसायन' में छोड़ दिया गया।

भरत और मम्मट की पद्धति का अनुसरण करते हुए देव ने 'भाव-विलास' में नाटक में आठ और काव्य में ९ रस माने—

यहि भांति आठ विधि कहत कवि नाटक मत भरतादि सब।
अरु शान्त यतन मत काव्य के लौकिक रस के भेद नव॥

---

१. दंपति उर कुरखेत विधि बीज भीजि रस-भाव।

उन्होंने उदाहरण रूप में गद्य का जो नमूना दिया है उसमें वृन्दावन विहारण (कृष्णचंद्र) के अनेक विशेषण लिखे हैं।[1] आगे उन्होंने गद्य के तीन भेद बताए हैं— वृत्त गद्य, चुर्णिका गद्य और उत्कलिका गद्य। उन्होंने न तो इनके लक्षण ही बताए हैं, न उदाहरण ही।

पद्य की परिभाषा देते हुए देव ने १ गण (३ वर्ण) से २६ वर्ण तक माने हैं (नाड़ी से लेकर सवैया तक अनेक प्रकार के छंद इसके अन्तर्गत आते हैं) और दण्डक में २७ से लेकर ३३ तक वर्ण होते हैं। घनाक्षरी में ३०, ३१ तथा ३२ वर्ण होते हैं किन्तु उन्होंने ३३ वर्ण को एक घनाक्षरी भी मानी है जो हिन्दी साहित्य में 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। छंद के क्षेत्र में यह देव की मौलिक उद्‌भावना है।

मात्रा वृत्तों में गाहा, दोहा, सोरठा, रोला, कुंडलिया, पादाकुलक, अरिल्ल, चौपैया, त्रिभंगी और हरिगीतिका आदि प्रधान हैं। देव ने सवैया के प्राचीन भेद— मदिरा, किरीट, मालती, चित्रपदा, मल्लिका (सुमुखी), माधवी, दुर्मिल तथा कमला— बताए हैं। जिनमें भगण के सहारे इन आठों के लक्षण कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त सवैया के ४ नवीन भेद—मंजरी, ललित, सुधा और अलसा बताये हैं। इस प्रकार उन्होंने सवैया के कुल १२ भेद बताए हैं। यद्यपि इसमें क्लिष्टता है किन्तु कवि की कला कुशलता भी है।

देव का यह पिंगल वर्णन मौलिक होते हुए भी दोषों से परिपूर्ण है। इसमें तीन प्रकार की अशुद्धियाँ मिलती हैं—(१) लक्षण अशुद्ध (२) उदाहरण अशुद्ध (३) लक्षण और उदाहरण दोनों ही अशुद्ध। कहीं-कहीं देव ने लक्षणों के वजाय केवल उदाहरण ही दिये हैं जिनसे विषय-वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

कवित्व—वैसे तो 'शब्द-रसायन' देव की रीतिविषयक रचना है जिसमें रस-रीति और पिंगल के लक्षण तथा उदाहरणों का विवेचन किया गया है किन्तु अपनी अन्य रचनाओं की श्रेष्ठ कविताओं को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने से इनमें उनके कवित्व का श्रेष्ठ रूप भी देखने को मिलता है।

देव की प्रायः सभी रचनाओं में शृंगार रस का प्रभावपूर्ण वर्णन है जिनमें उनका रागपक्ष बहुत ही निखरे हुए एवं संयत रूप में देखने को मिलता है। देव की नीति और भक्ति विषयक रचनाओं में भी उक्ति-वैचित्र्य एवं भावाभिव्यक्ति के चमत्कार का आग्रह अधिक है। उनमें सूर और तुलसी की भक्ति भावना का तादात्म्य नहीं है। शब्द-चित्रों में रंग-वैभव और प्रसाधन सामग्री की सौन्दर्य सृष्टि के कारण मूर्त चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। इन चित्रों में भावों की वर्ण-योजना से प्रकृति के सजीव रूप का जीता जागता उदाहरण हमारे सामने खिंच जाता है। चन्द्रिका स्नात रजनी में राधा की रूप छवि तथा चाँदनी की उज्ज्वलता के रंग वैभव का उदाहरण—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा-मंदिर, उदधि दधि को सो उफनाय उमगै अमंद।

1. शब्द-रसायन, पृ० १३३।

नवरस सब संसार में नवरस में संसार।
नवरस सार सिंगार रस जुगुल सार सिंगार।।

(वही, पृ० ३०)

रस-तरंगिणीकार ने रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किये हैं। अलौकिक के ३ भेद--स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक माने हैं।[1] लौकिक रसों में श्रृंगार मुख्य है जिसके दो भेद हैं—संयोग और वियोग। भानुदत्त के अनुकरण पर 'भाव-विलास' में देव ने इन दोनों के प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेद और किये हैं। यह वर्गीकरण भोज के 'श्रृंगार-प्रकाश' और केशव की 'रसिक-प्रिया' से भी प्रभावित है—

शुभ संयोग वियोग पुनि, दोऊ श्रृंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्नप्रकास करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति।।

(रसिक-प्रिया)

इसी प्रकार देव ने भी संयोग-वियोग दो भेदों में अन्य रसों का भी अन्तर्भाव कर दिया है। इस प्रकार संयोग के अंग—हास्य, वीर और अद्भुत; वियोग के करुण, रौद्र और भयानक तथा बीभत्स और शांत दोनों रसों के अंग माने गये हैं—

सो संजोग वियोग भेद, श्रृंगार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्भुत संयोग के, संग अंग लहु।
अरु करुना, रौद्र, भयानक ये, तीनों वियोग अंग,
रस बीभत्स अरु सांत होत, दोऊ दुहून संग।
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि।
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य श्रृंगार तनि।।

(श० र०, पृ० ५८)

उपर्युक्त वर्गीकरण भी अधिक संगत एवं मान्य नहीं है क्योंकि श्रृंगार की प्रधानता के साथ-साथ उसी में अन्य सभी रसों का समावेश न तो तर्क संगत है न शास्त्र-संगत। श्रृंगार रस का परिपाक हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, अन्य रसों की वास्तविक अनुभूति होनी भी आवश्यक है। अतः देव का यह विभाजन किसी भी प्रकार सफल नहीं माना जा सकता है।

शास्त्रीय परम्परा में प्रचलित हास्य के ६ भेदों के स्थान पर देव ने उत्तम, मध्यम और अधम ३ भेद किये हैं—

लीलादिक ते भेप अरु वचन जहाँ विपरीत।
अधिक अधम, मधि मध्यजन, उत्तम हँसत विनीत।।

(वही, पृ० ३९)

---

१. रस-तरंगिणी, तरंग ६।

अन्य रीति-कवियों की अपेक्षा अधिक किया है परन्तु उनका उद्देश्य पाण्डित्य या चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। उन्होंने भाषा की श्रीवृद्धि करने के लिए ही प्रायः तत्सम शब्दों को ग्रहण किया है।"

देव की कविता में शब्द-चयन, शाब्दिक सामंजस्य और चित्रकारिता शिल्प के साथ भावों की वीथी गुंथी हुई इस प्रकार चलती है कि मन मुग्ध हो जाता है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरैं, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अंसुआ बरसैं बरसाने को पाती लिखैं, लिखि राधे को ध्यावैं।
राधे ह्वै जाय घरीक में 'देव', सुप्रेम की पाती लै छाती लगावैं।
आपने आपु ही मैं अरुझैं, सुरझैं, बिरुझैं समुझैं, समुझावैं।
(शब्द-रसायन, पृ० ५२)

देव की शब्दावली पर मुग्ध होकर आचार्य शुक्ल जी ने कहा था—'क्या मजाल कि जो एक भी शब्द इधर-उधर हो जाए।' उत्तर-प्रत्युत्तर में यमक का कितना सुन्दर प्रयोग है—

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, यों हंसी तुम्हें अनोखी, नेक सीत में ससन देहु,
अम्बर हरैया हरि, अम्बर उज्यारो होत, हेरिकैं हंसै न कोऊ, हंसे तो हंसन देहु।
'देव' दुति देखिबे को लोयन में लागी रहै, लोचन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु।
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह, हमरे बसन देहु, व्रज में बसन देहु।
(श० र०, पृ० ८२)

देव पर शब्दों को विकृत करने का दोष लगाया जाता है। ला० भगवानदीन ने देव के प्रयोग अनौचित्य, शब्दों की तोड़-मरोड़, लिंग संबंधी गड़बड़ी आदि का विस्तृत विवेचन किया है—तुक मिलाने की भावना एवं यमक और अनुप्रास की योजना पूर्ति के कारण कहीं-कहीं कविता में अर्थ स्पष्ट नहीं होता और प्रसाद गुण भी नहीं रहता, फिर भी भाषा सौष्ठव एवं समृद्धि की दृष्टि से देव की कविता के अभिव्यंजना शिल्प को ही ध्यान में रखना होगा और तभी हम उनके काव्य का सही मूल्यांकन कर सकेंगे। डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों में—वे एक उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, पर उनका काव्य माध्यम कवित्त-सवैया होने से उसमें शब्द केवल छन्द पूर्ति के हेतु ही आए हैं। सेनापति और बिहारी की चुस्ती देव के छन्दों में नहीं है, पर भाव की विवृत्ति और रूप का विशद चित्रण देव की कविता में खुलकर हुआ है। देव के काव्य का अत्यंत मर्म-स्पर्शी प्रभाव पड़ता है।"

निष्कर्ष यह है कि शब्द-रसायन देव की प्रौढ़तम कृति है जिसमें रस, छन्द, अलंकार आदि के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ के अनुशीलन से देव के कवि एवं आचार्य दोनों रूप स्पष्ट हो जाते हैं। भाव-विलास के समय की अपरिपक्वता शब्द-रसायन में प्रौढ़ एवं अनुभवपूर्ण अभिव्यक्ति का सच्चा रूप धारण करती है। इसमें देव की मौलिकता—कवि एवं आचार्य दोनों रूपों में देखने को मिलते हैं।

भाव जासु ते जानिए, सो कहिए अनुभाव।
भुज-निक्षेप, कटाक्ष, औ, भौहें-मटक मुसकाव॥

इसका उदाहरण बहुत ही सुन्दर दिया गया है—

भीर भई ब्रज मण्डल में गिरि पूजन कौ, जन को सुख भारो।
देव संयोग तें सौंह भये दोउ, राधे इतै, उत नन्द-दुलारो।
नैन की सैन, सयानी-सखी, न इतै उतको मगु नैंक निहारो।
भौंहें हँसाइ, हिये हुलसाइ, खिले बिलसाइ, मिले दृग चारो॥

(श० र०, पृ० ३४)

शृंगार रस की अनन्तता और व्यापकता सिद्ध करने के लिए देव ने आकाश का रूपक बनाकर अन्य रसों को पक्षी के समान माना है—

निर्मल सुद्ध सिंगार रस, 'देव' अकाश अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यों अन्य रस, बिवस न पावत अन्त।

इसलिए शृंगार के स्थायी लक्षण और अन्य रसों के स्थायी भावों के उन्होंने नाम गिनाये हैं—

और भाव के दरस ते, जाको उपजति ज्ञान।
थाई सो रति आदि दै, क्रम ते करौं बखान।
रस हाँस सोक अरु क्रोध सानु, उतसह और भय जुगुप्सानु।
कविराज सुमति बिस्मै बखानु, अब ये थाई औढा प्रभानु।

(श० र०, पृ० ३३)

स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव से पृथक् जो भाव रस का संचार करते हैं उन्हें संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। 'भाव-विलास' में उन्होंने संचारी के शारीरिक (तन संचारी) और आन्तर (मन संचारी) दो भेद किये हैं।[1] शारीरिक संचारी को सात्विक भाव भी कहते हैं (साधारणतः इन्हें अनुभाव माना है।) इनके आठ भेदों—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, वेपथु, स्वरभंग, विवर्णता, अश्रु, प्रलय—की परिभाषा बताते हुए उनके उदाहरण भी दिये हैं। आन्तर संचारी मन में पैदा होते हैं, इनके तेंतीस भेद हैं—

वैरागिनि निर्वेद, अन्यथा है अनुरागिनि।
गर्व सुहागिन जानि, भाग मद है बड़भागिन।
लज्जा लजति अमर्ष, लरति सोवति निद्रा लहि।
बोध जगति आलस्य, अलस हर्षति सुहर्ष गहि।
अनखानि असूया ग्लानि श्रम, बिलखि दुखित दीनता।
संका डेराति चौंकति त्रसति, चकित अपस्मृति लीलता।

---

१. ते सारीर अरु आंतर द्विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अरु, आंतर निर्वेनादि॥—भाव-विलास।

'नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन श्रौ सुन्दरतानि के भेद कों जानै।
जोग वियोग की रीति में कोबिद भावना-भेद स्वरूप कों ठानै।
चाह के रंग में भीज्यौ हियौ बिछुरैं मिलैं प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै सो घन जी के कवित्त बखानै।।

ये पद्य समझे जाते हैं ब्रजनाथ के ही पर शैली से घनानन्द के लगते हैं। प्रत्येक में किसी न किसी प्रकार उनका नाम भी आ जाता है। कवि ने अपने और अपनी कविता के विषय में इसलिए अधिक कहा है कि उसका सही मूल्यांकन उस समय नहीं हुआ था। उनकी निन्दा की गई थी। घनानन्द ने अपनी कविता बड़ी वेदना और निन्दा सहकर सर्जी थी। लोग एक ओर तो उसकी निन्दा करते थे और दूसरी ओर उसे नाम छिपाकर अपने नाम से प्रचलित कर देते थे। वे लोग काव्य-शास्त्र के पंडित भले ही रहे हों पर प्रेम की चोट उन्हें नहीं लगी थी :—

मैं अतिकष्ट सों लीने कवित्त ये लाज बड़ाई सुभाय कों खोय कै।
सो दुख मेरौ न जानै कोई लै बखानै लिखाइयें मोहू को मोय कै।
कैसी करौं अब जाउँ कितै मैं बिताए हैं रैनि दिना सब भोय कै।
प्रेम की चोट लगी जिन आँखिन सोई लहै कहा पंडित होय कै।।

'घनानन्द-कवित्त' का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतया प्रेम और भक्ति है। प्रेम दोनों प्रकार का है—भौतिक भी और आध्यात्मिक भी, भौतिक प्रेम ही विकसित होकर आध्यात्मिक बन गया है इसलिए उसकी सरसता और सान्द्रता आध्यात्मिक प्रेम में भी बनी रही है। इस प्रकार इनका विषय क्षेत्र अधिक विस्तृत तो नहीं है पर वह गहराई में अप्रतिम है। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

भौतिक-प्रेम

भौतिक प्रेम का आलंबन 'सुजान' है। यह कवि के व्यक्तिगत जीवन संपर्क में आई थी और अपनी काव्य सर्जना में कवि ने उससे प्रेरणा प्राप्त की थी। उसके कटाक्ष बाणों से बिंधकर कवि भाव-विभोर हो जाता था और अपने आप कविता बन जाती थी। इस प्रकार कवित्त ही कवि को बनाते थे, वह उन्हें नहीं बनाता था :—

'लोग पै लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत'

घनानन्द ने सुजान के रूप, चेष्टाओं, स्वभाव, वेषभूषा, अलंकरण, नृत्य, शयन, गायन, मदिरापान आदि का विवरण सहित वर्णन किया है। वह सब स्वानुभूत है और चित्रात्मक है। उस आधार पर आज भी कोई चित्रकार चाहे तो सुजान का हूबहू चित्र बना सकता है। काली साड़ी पहने गोरी सुजान का एक चित्र यह है :—

स्याम घटा लिपटी थिर बीजु कि सोहै अमावस-अंक उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल सी पै दृग-सीतलता-सुखकारी।

बनाये जा सकते हैं। कवि ने इनके लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दिये हैं।[1]

वृत्तियाँ—देव ने पंचम प्रकाश के अन्त में नवरस की चार वृत्तियों का वर्णन किया है—

वृत्ति कौसिकी आरभटि, भारति-सात्वातीजु।
चार भाँति बरनहु सुकवि, तीन-तीन रस बीजु।

(श० र०, पृ० ५५)

वस्तुतः ये ४ वृत्तियाँ दृश्य-काव्य का अंग हैं, श्रव्य-काव्य का नहीं, फिर भी इनके काव्यगत प्रयोग मिलते हैं। शृंगार, हास्य, करुणा में कैशिकी (कौशिकी); रौद्र, भयानक और बीभत्स में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; वीर, हास्य और अद्भुत में भारती वृत्तियों का वर्णन है[2]। वृत्तियों का यह रस सम्बन्ध केशव की 'रसिक-प्रिया' के आधार पर बताया गया है।

नायक-नायिका भेद—वैसे तो नायिका-भेद शृंगार रस के विवेच्य विषय के अन्तर्गत ही आता है किन्तु रीतिकाल के आचार्यों ने इस भाग का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि यह स्वतन्त्र रूप से एक काव्यांग ही बन गया है। देव ने 'भाव-विलास' 'भवानी-विलास', 'कुशल-विलास', 'प्रेम-तरंग', 'सुजान-विनोद', 'सुखसागर-तरंग' और 'शब्द-रसायन' सभी में रस के आधारभूत नायक-नायिका का वर्णन किया है। संस्कृत के आचार्यों की परम्परा के अनुसार देव ने नाटक के लिए निर्धारित नायक के ४ प्रसिद्ध भेदों को छोड़कर शृंगार के अनुसार ४ भेद किये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट, इन नायकों की सहायता के लिए नर्म सचिव, विट, तथा विदूषक आदि बताये हैं।

'शब्द-रसायन' में देव ने नायक-नायिका का वर्गीकरण एवं वर्णन आलम्बन और उद्दीपन विभाव के पात्रों के रूप में न करके शृंगार के वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लाक्षणिक तथा व्यंग्य-व्यंजक के रूप में संक्षेप में किया है। **वाचक पात्रों में**—शुद्ध स्वभाव स्वकीया, अनुकूल पति, विद्या गुरु सखी, पीठमर्द, नर्म सचिव, कुलधर्म उपदेशी धाय, दूती आदि; **लाक्षणिक पात्रों में**—गर्व स्वभाव स्वकीया, दक्षिण नायक, अतिसंग धृष्टा सखी, विट नर्म सचिव, परिजन वधू दूती, वशीकरण दूती आदि; और व्यंजक

---

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ ४७-४९।

२. हास्य करुण श्रृंगार मैं नृत्य कीर्तन गान।
सुखद बन्धु रति मधुर पद, वृत्ति कौसिकी जान॥
रौद्र भय बीभत्स मैं गर्जन भ्रम संकोच।
ओज प्रबन्ध सुआरभट, कोपन कंप अरोच॥
वीर रौद्र अद्भुत मई जहाँ सांत संवित्त।
हर्ष, क्रोध, अचरज, छमा, प्रगट सात्वती वृत्ति॥
वीर, हास्य, अद्भुत रसन, बहु वक्रोक्ति सगर्व।
उदात्ता, अचरज, हँसी, करत भारती सर्व॥—श० र०, पृ० ५५-५६।

तैरने लगते हैं। वे जितना उसका पान करते हैं उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है। दृष्टि चकित हो जाती है और मति हैरान :—

महा रस भीर परैं लोचन अधीर तरैं,
आछी ओक धरैं प्यास पीर सरसई है।
कैसें घनआनँद सुजान प्यारी छवि कहौं,
दीठि तौ चकित और थकित मति भई है॥

संयोग में आलंबन का रूप वर्णन तो बड़ा सफल हुआ है पर उसके समकक्ष चेष्टाओं का चित्रण प्रभावशाली नहीं है।

संयोग में विषाद की विद्यमानता का कारण प्रेमी का हर स्थिति में साभिलाष बने रहना है। प्रिय की विद्यमानता में जो सिहाना और अहो भाग्य का सुख मिलता है उसका यहां अभाव है। 'आँखें' रूपरस का आस्वादन करती हैं पर हृदय में अभिलाषाओं को संचित कर देती हैं। संयोग में भी वियोग का विषाद बना रहता है :—

'यह कैसो संजोग न सूझि परै जो
बियोग न क्यौं हूं बिछोहत है।'

प्रिय के मिलने पर प्रेमी को हर्षातिरेक के कारण बुद्धि व्यामोह भी हो जाता है। वह भी एक प्रकार का उलझन भरा विषाद ही है। इस प्रकार वियोग के विषाद को सब दशाओं में देखने की ऐसी स्थिर मनोवृत्ति कवि की है कि वह कोई न कोई मार्ग प्रत्येक अवस्था में उसके लिए निकाल लेता है। इसका एक प्रभाव यह भी है कि यह काव्य सदा भाव प्रधान और आन्तरिक ही बना रहता है। समसामयिक दूसरे कवियों ने जो संयोग-पक्ष में शारीरिक चेष्टाओं के अश्लील चित्र दिये हैं उनका यहां अभाव है। संयोग में भी आश्रय का हृदय भोग कुंठित नहीं होता—रीझने, सिहाने, चकित होने, पछताने और चाहने आदि में डूबता, उतराता रहता है।

वियोग

भौतिक-शृंगार का दूसरा पक्ष वियोग का है। घनानन्दजी का सबसे अधिक कृतित्व इसी की अभिव्यक्ति में निहित है। उनके काव्य की यह सर्व प्रधान प्रवृत्ति है। कम से कम ७५ प्रतिशत पद्यों में वियोग का ही कोई न कोई भाव कवि ने व्यक्त किया है। कवि की धारणा है कि जब तक किसी का मर्म आहत नहीं होता तब तक वह वस्तु के मर्म को नहीं पहचान पाता। वाणी की कोरी उलट-फेर सुरों की घंघोना मात्र है। प्रेम की अग्नि लगने से ही आनन्द का भार लगता है।

मरम भिदे न जौलौं मरम न पावैं, तौलौं,
मरमहि भेदैं कैसें सुरनि घंघोइनबो।

घनानन्दजी का वियोग वर्णन काव्य-शास्त्र की प्राचीन रूढ़ियों का अनुसरण नहीं करता इसलिए पूर्वराग, मान, प्रवास आदि के भेद प्रभेद स्पष्टतः यहां नहीं ज्ञात

कविता कामिनि सुखदप्रद सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति।
(श० र०, पृ० ६४)

× × ×

सो रस वरसत भाव वस, अलंकार अधिकार।
(वही, पृ० २८)

देव ने अलंकारों के दो भेद माने हैं—(१) चित्र या शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार। उन्होंने शब्दालंकार या चित्र को निकृष्ट माना है क्योंकि शाब्दिक माधुर्य या चित्रोपमता होने पर भी इसमें क्लिष्टता रहती है। इसीलिए देव ने इसे मृतक काव्य या प्रेत काव्य कहा है—

मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।
(वही, पृ० ९०)

वस्तुतः शब्दालंकारों को वे ही लोग मान्यता देते हैं जिन्हें अर्थ का अनुभव नहीं है, रस अच्छा नहीं लगता—

जिनहि न अनुभव अरथ को भावत नहिं रस भोग।
चित्र कहत तिन हेतु कछु भिन्न-भिन्न रुचि लोग॥
(वही, पृ० ८४)

इसलिए शब्द चित्र को मान्यता प्रदान करने वालों के प्रति देव ने बहुत ठीक तीक्ष्ण व्यंग्य किया है और उनकी उपमा 'दधि, घृत, मधु, पायस' त्याग कर चर्म चर्वण करते हुए कौवे से दी है—

सरस वाक्य पद अरथ तजि शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तजत वायस चामु चबात॥
(वही, पृ० ९०)

विचारणीय है कि शब्दालंकारों के प्रति भर्त्सना भाव रखते हुए भी स्वयं देव ने शब्दालंकारों के ऐसे ही चित्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं जिनकी गहराई में डुबकी लगाकर रत्न निकाल लाना सहज संभाव्य नहीं है। संस्कृत के आचार्यों में विश्वनाथ ने चित्र-काव्य और प्रहेलिका आदि को अलंकार न मानकर भी उनका कुछ वर्णन किया है, इसी प्रकार देव ने इनके कुछ भेद बताए हैं।

शब्दालंकारों में देव ने चित्र का वर्णन मुख्य रूप से किया है। उनकी दृष्टि में अनुप्रास और यमक तो चित्रकाव्य के मूल रूप हैं—

अनुप्रास औ यमक ये चित्र-काव्य के मूल।
इनहीं के अनुसार सों सकल चित्र अनुकूल॥
(वही, पृ० ८४)

हिय मैं जु आरति सु जारति उजारति है,
मारत मरोरैं जिय डारति कहा करौं।
रसना पुकारि कै बिचारी पचि हारि रहै,
कहैं कैसे अकह, उदेगरूंधिकै मरौं।
हाय कौन बेदनि बिरंचि मेरे बांह कीनी,
बिघटि परों न क्यौं हूं, ऐसी बिधि हौं गरौं।
आनंद के घन हो सजीवन सुजान देखो,
सीरी परि सोचनि, अचंभे सौं जरौं भरौं॥ (घ० क०, ४६)

अनुभूति स्वयं ही इतना प्रबल सत्य है कि उसे बाह्य सज्जा से सुन्दर बनाने की आवश्यकता नहीं। सजावट तो उसे छूकर और मैला बना देगी। घनानंद ने पीड़ा का ऐसा ही अनाविल अनपेक्ष रूप व्यक्त किया है।

व्यथा में आशा, निराशा, उन्माद, चेतना, उत्साह, अवसाद आदि अनेक छोटे-छोटे ऐसे सतरंगी भाव उठते रहते हैं जिनसे उस इन्द्रधनुषी व्यापकता का पूरा चित्र बन जाता है। प्राण और नेत्र इसमें विशेष रूप से पीड़ित होते हैं। पीड़ा का आघात पाकर प्राण बाहर आने को छटपटाते हैं पर आशा का पाश उनके गले में पड़ कर रोक लेता है। सुजान के दर्शनों को तरस कर कभी वे आँखों में आ जाते हैं कभी कानों में आ बैठते हैं। कभी इस बात पर बैठे-बैठे मुरझाते रहते हैं कि उन्हें न्यौछावर होने का अवसर न मिल सका।

आँखिन आनि रहे लगि आस कि बेस-बिलास निहारियै हूंगे।
कानन बीच बसैं भरि प्यास अमीनिधि बैननि पारियै हूंगे।
यौं घनआनंद ठौरहिं ठौर सम्हारत हैं सुसम्हारियै हूंगे।
प्रानधरे मुरझैं उरझैं कि कहूं कवहूं हम वारियै हूंगे।
(घ० क०, २१६)

आँखों की दशा इससे भी अधिक दयनीय और मार्मिक है। आंसू की धार वियोग की अग्नि को और अधिक उद्दीप्त करती है। आंखें यदि प्रिय को न देखें तो और क्या देखें? दर्शन की भूख तो 'भस्मक रोग' की भाँति कभी तृप्त ही नहीं होती और आंखें नित्य लंघन करती रहती हैं। निराश होकर प्रेमी भोली भाषा में प्रश्न करता है :—

रूप-सुधा-रस-प्यास-भरी नित ही अंसुवा ढरिबोई करैंगी ?
जीवन-साध असाध भई इहि जीवन यौं मरिबोई करैंगी ?
हाय महादुख है सुखदैन, बिचारी हिये भरिबोई करैंगी ?
क्यौं घनआनंद मीत सुजान कहा अखियां वरिबोई करैंगी ?

वियोग के अंतर्गत 'नेही की रहनि' पर कवि ने अनेक पद्य लिखे हैं, नेही के प्राण तरस-तरस कर प्राणों में आ जाते हैं। वे चक्कर काटते रहते हैं और दमघुटे

षोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, दीपक, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, आवृत्ति-दीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, रसवत्, अर्जस्वल, प्रेम, समाहित, क्रम, तुल्ययोगिता, भाविक, संकीर्ण, आशिष, लेश, सूक्ष्म, हेतु, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, उल्लेख, समाधि, दृष्टान्त, असम्भव, असंगति, परिकर, तद्गुण, अतद्गुण, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुणवत्, प्रत्यनीक, लेख, सार, मीलित, कारणमाला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भावना, प्रहर्षण, गूढ़ोक्ति, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, विकल्प, अत्युक्ति, भ्रांति, स्मरण, प्रयुक्ति, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्योन्य, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, अर्थापत्ति, विहित, विधि, निषेध तथा अन्योक्ति। इनमें प्रारम्भ के ३९ अलंकार 'भाव-विलास' में दिये गये हैं।

रीति (गुण)—'शब्द-रसायन' के सातवें प्रकाश में देव ने रीति (गुण) का विवेचन किया है। उन्होंने रस और रीति का पारस्परिक सम्बन्ध मानते हुये रीति को काव्य का द्वार माना है—

ताते पहले बरनिये काव्य द्वार रस रीति। (शब्द-रसायन, पृ० ७२)

वैसे तो आचार्यों ने रीति को गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक माना है किन्तु देव ने रीति शब्द का प्रयोग गुण के अर्थ में ही किया है। डा० नगेन्द्र ने देव की इस विचारधारा पर आश्चर्य प्रकट किया है—"परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है वह यह कि उन्होंने (देव ने) रीति और गुण को एक कर दिया है—यों कहिये कि रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है। संस्कृत और हिन्दी के भी आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी आदि को रीति कहा है और प्रसाद, ओज आदि को गुण। यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया।"[1]

वस्तुतः रीति और गुण का पार्थक्य उतना स्थूल नहीं जितना दूर से लगता है क्योंकि पहले इन दोनों सम्प्रदायों को एक दूसरे के पर्याय या स्थानापन्न रूप में प्रयुक्त किया जाता था। इसके बारे में पं० बलदेव उपाध्याय का कथन है—"रीति क्या है? पदों की विशिष्ट रचना है। रचना में यह विशेषता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसीलिए रीतिमत 'गुण संप्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है।"[2]

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। 'रीति' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था जिसमें गुणों का अंतर्भाव मान लिया गया था। भरतमुनि ने नाट्शास्त्र में १० गुणों का उल्लेख किया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम् अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते। अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि,

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, (तीसरा संस्करण) पृ० १६६।
२. भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृष्ठ २२।

हिय मैं जु आरति सु जारति उजारति है,
मारत मरोरैं जिय डारति कहा करौं।
रसना पुकारि कै विचारी पचि हारि रहै,
कहैं कैसे अकह, उदेगरूंधिकै मरौं।
हाय कौन बेदनि बिरंचि मेरे बांह कीनी,
विघटि परों न क्यौं हूं, ऐसी विधि हौं गरौं।
आनंद के घन हो सजीवन सुजान देखो,
सीरी परि सोचनि, अचंभे सौं जरौं भरौं॥ (घ० क०, ४६)

अनुभूति स्वयं ही इतना प्रबल सत्य है कि उसे बाह्य सज्जा से सुन्दर बनाने की आवश्यकता नहीं। सजावट तो उसे छूकर और मैला बना देगी। घनानंद ने पीड़ा का ऐसा ही अनाविल अनपेक्ष रूप व्यक्त किया है।

व्यथा में आशा, निराशा, उन्माद, चेतना, उत्साह, अवसाद आदि अनेक छोटे-छोटे ऐसे सतरंगी भाव उठते रहते हैं जिनसे उस इन्द्रधनुषी व्यापकता का पूरा चित्र बन जाता है। प्राण और नेत्र इसमें विशेष रूप से पीड़ित होते हैं। पीड़ा का आघात पाकर प्राण बाहर आने को छटपटाते हैं पर आशा का पाश उनके गले में पड़ कर रोक लेता है। सुजान के दर्शनों को तरस कर कभी वे आंखों में आ जाते हैं कभी कानों में आ बैठते हैं। कभी इस बात पर बैठे-बैठे मुरझाते रहते हैं कि उन्हें न्यौछावर होने का अवसर न मिल सका।

आंखिन आनि रहे लगि आस कि वेस-बिलास निहारियै हूंगे।
कानन बीच बसैं भरि प्यास अमीनिधि बैननि पारियै हूंगे।
यौं घनआनंद ठौरहिं ठौर सम्हारत हैं सुसम्हारियै हूंगे।
प्रानधरे मुरझैं उरझैं कि कहूं कबहूं हम वारियै हूंगे।
(घ० क०, २१६)

आंखों की दशा इससे भी अधिक दयनीय और मार्मिक है। आंसू की धार वियोग की अग्नि को और अधिक उद्दीप्त करती है। आंखें यदि प्रिय को न देखें तो और क्या देखें? दर्शन की भूख तो 'भस्मक रोग' की भांति कभी तृप्त ही नहीं होती और आंखें नित्य लंघन करती रहती हैं। निराश होकर प्रेमी भोली भाषा में प्रश्न करता है:—

रूप-सुधा-रस-प्यास-भरी नित ही अंसुवा ढरिबोई करेंगी?
जीवन-साध असाध भई इहि जीवन यौं मरिबोई करेंगी?
हाय महादुख है सुखदैन, विचारी हियै भरिबोई करेंगी?
क्यौं घनआनंद मीत सुजान कहा अखियां वरिबोई करेंगी?

वियोग के अंतर्गत 'नेही की रहनि' पर कवि ने अनेक पद्य लिखे हैं, नेही के प्राण तरस-तरस कर प्राणों में आ जाते हैं। वे चक्कर काटते रहते हैं और दमघुटे

उपलब्धि या वृद्धि नहीं होती क्योंकि देव इन भेदों को स्पष्ट करने में असफल ही रहे हैं।

पिंगल—संस्कृत तथा हिन्दी रीति के आचार्यों ने शब्द-शक्ति, गुण, रस, अलंकार आदि पर तो ग्रंथ लिखे किन्तु पिंगल पर लिखने की प्राय: उपेक्षा ही की क्योंकि छंदों के विवेचन में मौलिकता के लिए स्थान नहीं के बराबर है। संस्कृत छंद-शास्त्र के छंदोमंजरी तथा वृत्तरत्नाकर आदि के ढंग पर ही देव ने शब्द रसायन के १०वें और ११वें प्रकाश में पिंगल के लक्षण और उदाहरण दिये हैं जिनके पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि छंद के क्षेत्र में उन्होंने कतिपय नवीन मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं।

देव ने रसमय काव्य की शोभा अलंकार और छंद को माना है—चलत चहूं जुग छंद गति अलंकार गंभीर। (वही० पृ० १) पिंगल वर्णन के प्रारम्भ में ही कवि ने पिंगल का मूलाधार लघु और गुरु वर्ण माने हैं जिनके १० गुण हैं। छंद के मात्रावृत्त और वर्णवृत्त दो भेद हैं---

पिंगल भाषित छंद सब दस गुन (गुहे) अवेह।
लघु गुरु ही ते पाइये, काव्य बचन सन्देह।
× × ×
एक मात्रा वृत अरु बरन वृत है एक।
(श० र०, पृ० १२६)

इसके बाद गण विचार, लघु गुरु स्वरूप, आठ गण, उनके देवता और गण प्रस्तार का विवरण दिया गया है। देव ने गण देवता और फल इस प्रकार बताए हैं[1] ---

गण	देवता	फल
मगन	भूमि	सम्पत्ति
नगन	नाग	सुख
भगन	चन्द्र	निर्मल यश
यगन	जल	वृद्धि
जगन	सूर्य	रोग
रगन	असि	मृत्यु
सगन	वायु	दूर गमन
तगन	आकाश	निरास

इसके बाद गण-मैत्री के फल का निर्देश किया गया है। देव ने वर्णवृत्त के तीन भेद किये हैं—गद्य, पद्य, और दण्डक।[2] देव ने विना चरण के काव्य को गद्य कहा है--

विना चरन को काव्य सो गद्य हृद्ध रस गर्भ (वही, पृ० १३३)

१. शब्द रसायन, पृष्ठ १३७।
२. गद्य, पद्य, दण्डक त्रिविध वरनवृत्ति के भेद। वही, पृ० १३२।

यही उलझन एक ऐसी स्थिति ला देती है जिसे न मृत्यु कह सकते हैं और न जीवन। प्रेमी अपनी व्यथा को दूसरों से कहता भी नहीं। उसकी सुनेगा कौन ? इस लिए मौन होकर सहता रहता है। लगता है घनानंद ने प्रेम के प्रतीक द्वारा अपने समय के समाज की घुटन को काव्य की वाणी दी है।

बुद्धि-व्यामोह इसी से मिलती-जुलती पर इससे भिन्न अन्तर्दशा है। उलझन में घुटन, आकुली आदि अधिक रहती है इसमें नहीं। इसका तो कवि ने प्रेम के क्षेत्र में सत्कार किया है। भूल इसी का एक रूप है जो प्रिय के ध्यान में आत्मविस्मृति से उत्पन्न होती है, कवि की धारणा है कि मिलन का सुख इसके बिना नहीं आता—

'जौ लौं जगैं न भूल तौ लौं सोवै सुरतिसुख'

प्रिय के मिलन पर सातों सुधि भूल जाती है।

बुद्धि की गति थक कर पंगु बन जाती है। कभी प्रिय के तेज से चौंधिया कर बुद्धि व्यामुग्ध हो जाती है। प्रेमी जो कहना चाहता था वह सब भूल जाता है। संयोग हुआ या उसका भ्रम ही था, यह भी उसे ज्ञात नहीं होता।

चेटक रूप-रसीले सुजान-दई बहुतैं दिन नैंकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हाय ! कहा कहौं हेरनि ! ऐसे हिराई॥
बातैं बिलाय गईं रसना पै हियौ उमग्यौ कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौ घनआनंद सोचनि ही मति जाति समाई॥

(घ० क०, ६७)

रीझ की अनुभूति संयोग में होती है। यह है तो सुख कोटि की ही पर अभिलाष-स्वरूप होने से सुख की एक आकुलता पैदा कर देती है। अतृप्ति बनी रहती है, कृतार्थता नहीं आती। इसमें मन लालसाओं में डूब जाता है। लोभ भरी अभिलाषाएं इतनी जग जाती हैं कि निबटती ही नहीं। प्रिय के सामने होने पर भी उसे पूरा देख नहीं पाते।

कित जाऊँ लै जान-सजीवन ! प्रान कौं आन के लेखे न छाहौं धिजौं।
इहि साल दहौं नित ही दुःख ज्वाल-रु सोचनि लोचन वारि भिजौं॥
दुरि आपु नए हू इकौसें मिलौं घनआनंद यौं अनखानि छिजौं।
डर दीठि के नीठि न देखि सकौं सु अनौखियै रीझ पै रीझि खिजौं॥

(घ० क०, २८१)

प्रेम-दर्शन

मध्यकाल के प्रायः सब भक्तों और कवियों ने प्रेम के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ काव्यबद्ध की हैं। भक्तों की तो यह साधना ही थी। कवियों के लिए उस समय के समाज का यह सर्व-प्रधान भाव था। रेख उठान नवयुवकों से लेकर पलित केश वृद्धों तक लोग रोमांस के सपने देखा करते थे। घनानंद तो 'महानेही' थे। इस

बाहर तें भीतर लौं भीति न दिखाई देत, छीर कै से फेन फैली चाँदनी फरस बंद।
तारा-सी तरुनि तामैं देव जगमग होति, मोतिन की ज्योति मिल्यो मल्लिका को मकरंद।
आरसी-से अम्बर में आभा-सी उज्यारी ठाढ़ी,प्यारी राधिका को प्रतिविम्ब सो लगत चन्द।
(श० र०, पृ० ८३)

प्रकृति की सुषमा तथा शीतल,मंद, सुगंध समीर की व्यवस्थित योजना भौंरों को उत्तेजित करके संयोग और वियोग दशा में मानसिक व्यथा को उद्दीप्त करती है। एक भाव-चित्र देखिए—

संजोगिन की तू हरै उर-पीर, बियोगिन को सचरे उर-पीर।
कली न खिलाइ करै मधु-पान, गलीन भौंर मधुपान की भीर।
नचै मिलि वेलि वधूनि ऊचैं सुरदेव नचावति आधि अधीर।
तिहू गुन देखिए दोष भरो, अरे सीतल मंद सुगंध समीर॥
(वही, पृ० १५०)

इसी प्रकार ग्रीष्म, पावस, वसंत और फाग आदि के सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए देव ने प्रकृति और नायिका के साधर्म्य, सादृश्य, प्रभाव-साम्य के अप्रस्तुत विधानों को बहुत ही सरस रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार—"चित्र सामग्री की समृद्धि की दृष्टि से समस्त रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है।"

रसवादी कवि देव ने काव्य में अलंकारों का प्रयोग केशव की तरह वर्ण-वैचित्र्य या आचार्यत्व प्रतिपादन के लिए नहीं किया बल्कि स्वाभाविक रूप में जो अलंकार आ गए हैं उनका उपयोग करने में कवि ने कंजूसी नहीं की। औपम्य-मूलक अलंकारों के जो सरस उदाहरण उनकी अन्य रचनाओं में मिलते हैं प्रायः उन्हें ही कवि ने शब्द-रसायन में रख दिया है जिसमें उनकी सूक्ष्म अभिव्यंजना शक्ति-अलंकरण के द्वारा और भी सरस और संवेदनशील रूप में दिखाई देती है।

प्रकृति के रम्य रूप, नायिका के हाव-भाव (जिसकी संपुष्टि के लिए ऐन्द्रिय वातावरण तथा तत्सम्बन्धी चित्र) एवं रसाभिव्यक्ति के लिए कवि ने जो भावोपकरण संकलित किये हैं उनमें हृदय को पकड़ने की सूक्ष्म शक्ति है। देव के ये भावमूलक चित्र बौद्धिक पकड़ से अलग हैं, उनमें तर्कयुक्त संश्लिष्ट योजना नहीं है, पर वे भाव-संवेदनों को उद्बुद्ध करने में पूर्ण समर्थ हैं। ये शब्दचित्र बहुत ही सरल और स्वाभाविक हैं। भाव वेग के कारण इनमें कहीं-कहीं कुछ क्लिष्टता भी आ गई है किन्तु इसे कवि का दृष्टिदोष न मानना चाहिए।

भाषा—देव की काव्यभाषा व्रजभाषा है जो उनके समय तक साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण एवं समृद्ध हो चली थी। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के गंभीर गुरुज्ञान एवं पाण्डित्य के बल से तत्कालीन प्रचलित तत्सम और तद्भव शब्दों का बहुत ही उचित प्रयोग किया है, फिर भी उनकी भाषा में यत्र-तत्र फारसी, अरबी, अवधी आदि के शब्दों का चलता हुआ प्रयोग मिलता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "देव का मार्ग मध्यवर्ती है, उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग मतिराम, पद्माकर आदि

७. प्रेम का मार्ग सीधा है। उसमें सयानप की वक्रता का कोई स्थान नहीं। प्रेम के सीधे मार्ग पर चलकर व्यक्ति को प्रिय के अद्वैत का लाभ होता है :—

अति सूधो सनेह को मारग है जंह नेकु सयानप बांक नहीं।
तहाँ सांचे चलैं तजि आपुनपौ झिझकें कपटी जे निसांक नहीं।
घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एकते दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ॥

(घ० क०, ८२)

उनका दूसरा प्रतिपाद्य भक्ति है जो वैष्णव परम्परा की लीला-प्रधान और शृंगार-व्यंजित दो प्रकार की मिलती है। पहली में कवि ने श्रीकृष्ण और राधा की रूप-माधुरी एवं लीलाओं का वर्णन किया है। यह अधिकतर गेय पदों में एवं निबन्धों में है। कवित्त-सवैयों में भी यह यत्र-तत्र मिलता है। भगवत् कृपा का महत्त्व और वृंदावन की महिमा विशेष रूप से कवि ने वर्णित की है।

एक गोपी दही बेचने को निकली तो 'दही ले लो' के स्थान पर 'कृष्ण लेलो' मुंह से निकल गया। यह सुनकर दूसरी ललचाकर कहने लगी कि 'ला मैं लूंगी देखूं तो वह कैसा जमा है'। इस प्रकार श्रीकृष्ण गोपियों द्वारा बेचे जाने पर मुग्ध होते हैं।

एक डोलै वेचति गोपालहिं दहेंड़ी धरैं,
नैननि समान्यौ सोई बैननि जनात हैं।
और उठि बोलै आगैं ल्याइरी कहा है मोल,
कैसौ धौं जम्यौ है, ज्यौं सवादैं ललचात है।
आनन्द को घन छायौ रहत सदाई व्रज,
चोपनि पपीहा लौं चहूंधा मँडरात है।
गोकुल बधून की बिकानिपै बिकाय रहे,
गोरस ह्वै गली गली मोहन बिकात है ॥

भगवत्कृपा पर तो पूरा निबन्ध 'कृपाकंद निबन्ध' ही लिखा गया है। कवि का विश्वास है कि संसार के समस्त साधन एक ओर और भगवत्कृपा एक ओर। उसी से भगवान् के प्रति अनुराग और लगन जगती है और कवि की वाणी छन्द का रूप लेकर प्रकट हो जाती है। जिस कवि के अन्तस्-भ्रमर ने भगवान् के हृदय-सरोज का मकरन्दपान किया है अर्थात् कृपा का लाभ लिया है उसी की वाणी रसमयी हो जाती है :—

वानी रससानी तौ मधुव्रत की लह्यौ जिन।
कृपा मकरन्द स्याम-हृदय-सरोज को ॥

व्रज-वृन्दावन की महिमा विशेषकर ब्रजराज की महिमा निबन्धों और फुटकल पद्यों में वर्णित की है।

बाहर तैं भीतर लौं भीति न दिखाई देत, छीर कैसे फेन फैली चाँदनी फरस बंद।
तारा-सी तरुनि तामैं देव जगमग होति, मोतिन की ज्योति मिल्यौ मल्लिका को मकरंद।
आरसी-से अम्बर में आभा-सी उज्यारी ठाढ़ी, प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द।
(श० र०, पृ० ८३)

प्रकृति की सुषमा तथा शीतल, मंद, सुगंध समीर की व्यवस्थित योजना भौंरों को उत्तेजित करके संयोग और वियोग दशा में मानसिक व्यथा को उद्दीप्त करती है। एक भाव-चित्र देखिए—

संजोगिन की तू हरै उर-पीर, बियोगिन को सचरे उर-पीर।
कली न खिलाइ करै मधु-पान, गलीन भौंर मधुपान की भीर।
नचै मिलि बेलि बधूनि ऊचै सुरदेव नचावति आधि अधीर।
तिहू गुन देखिए दोष भरो, अरे सीतल मंद सुगंध समीर॥
(वही, पृ० १५०)

इसी प्रकार ग्रीष्म, पावस, वसंत और फाग आदि के सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए देव ने प्रकृति और नायिका के साधर्म्य, साहश्य, प्रभाव-साम्य के अप्रस्तुत विधानों को बहुत ही सरस रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार—"चित्र सामग्री की समृद्धि की दृष्टि से समस्त रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है।"

रसवादी कवि देव ने काव्य में अलंकारों का प्रयोग केशव की तरह वर्ण-वैचित्र्य या आचार्यत्व प्रतिपादन के लिए नहीं किया बल्कि स्वाभाविक रूप में जो अलंकार आ गए हैं उनका उपयोग करने में कवि ने कंजूसी नहीं की। औपम्य-मूलक अलंकारों के जो सरस उदाहरण उनकी अन्य रचनाओं में मिलते हैं प्रायः उन्हें ही कवि ने शब्द-रसायन में रख दिया है जिसमें उनकी सूक्ष्म अभिव्यंजना शक्ति-अलंकरण के द्वारा और भी सरस और संवेदनशील रूप में दिखाई देती है।

प्रकृति के रम्य रूप, नायिका के हाव-भाव (जिसकी संपुष्टि के लिए ऐन्द्रिय वातावरण तथा तत्सम्बन्धी चित्र) एवं रसाभिव्यक्ति के लिए कवि ने जो भावोपकरण संकलित किये हैं उनमें हृदय को पकड़ने की सूक्ष्म शक्ति है। देव के ये भावमूलक चित्र बौद्धिक पकड़ से अलग हैं, उनमें तर्कयुक्त संश्लिष्ट योजना नहीं है, पर वे भाव-संवेदनों को उद्बुद्ध करने में पूर्ण समर्थ हैं। ये शब्दचित्र बहुत ही सरल और स्वाभाविक हैं। भाव वेग के कारण इनमें कहीं-कहीं कुछ क्लिष्टता भी आ गई है किन्तु इसे कवि का दृष्टिदोष न मानना चाहिए।

भाषा—देव की काव्यभाषा ब्रजभाषा है जो उनके समय तक साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण एवं समृद्ध हो चली थी। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के गंभीर गुरुज्ञान एवं पाण्डित्य के बल से तत्कालीन प्रचलित तत्सम और तद्भव शब्दों का बहुत ही उचित प्रयोग किया है, फिर भी उनकी भाषा में यत्र-तत्र फारसी, अरबी, अवधी आदि के शब्दों का चलता हुआ प्रयोग मिलता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "देव का मार्ग मध्यवर्ती है, उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग मतिराम, पद्माकर आदि

इस प्रकार घनानंद की दूसरी श्रेणी की भक्ति भावना में भावात्मकता, रहस्य-वाद और आन्तरिकता की प्रवृत्ति पाई जाती है। यह अवतारवाद पर आधारित भक्ति नहीं है। एक विशेषता इसकी यह भी है कि यह विरोध-प्रधान है। प्रिय में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों की विद्यमानता ने अभिव्यक्ति को विरोध-प्रधान बना दिया है। 'प्रिय हृदय में निवास करता है पर प्रवासी की भाँति वह दूर रहता है। नेत्रों में तारे बनकर वह जगत् के दर्शन कराता है। फिर भी स्वयं नहीं दीखता। जानराय (ज्ञानियों का राजा) है फिर भी जाना नहीं जाता इसलिए अजान (जो जाना न जाय) है।

अन्तर मैं बासी पै प्रबासी कौ सौ अन्तर है,
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझौ नाहिं,
बूझी न परति, ऐसें सोचनि कहा दहौ।
हौ तौ जानराय, जाने जाहु न अजान यातें;
आनंद के घन छाय छाय उघरे रहौ।

(घ० क०, ८६)

ऐसी भक्ति भावना के कारण ही लोग इन्हें 'मर्मी आनन्दघन' कहते हैं। प्रिय आनन्द के बादल जैसा है जो सर्वत्र छाया रहता है। पर पपीहा उसके लिए तरसता है। रहस्य भावना से यही स्थिति जीव और ब्रह्म की किंवा भक्त और भगवान् की हो जाती है। कुछ भी हो, घनानन्द की भक्ति-भावना परम्परा प्राप्त वैष्णवों की भक्ति भावना से भिन्न है। उसमें दर्शनों की सूक्ष्मता और सूफियों की प्रेमाकुली का भाव विद्यमान है।

काव्य-शैली

ऊपर बताई गई अनुभूति के समान घनानंद की अभिव्यंजना-शैली अपने समय की असाधारण उपलब्धि है। जिस मार्ग को उन्होंने अपनाया है वह अन्य कवियों को उस समय अपरिचित था। यह ठीक ही कहा गया है कि कविता'घनआनंद की न सुनी पहचान नहीं उहि खेत सों जू' शैली की यह असाधारणता वक्रता, लाक्षणिकता, भावात्मकता, गहनता, आन्तरिकता, मार्मिकता आदि विशेषताओं में निहित है। ये सभी विशेषताएँ लगभग ऐसी हैं जिनका प्रयोग रीति-मार्गी कवि नहीं करते थे।

इसका कारण भी हमें ज्ञात हो जाता है। काव्यशास्त्र की सहायता से काव्य-सृष्टि करने वाले कवियों की अनुभूति बहुत अधिक नवीन नहीं हुआ करती। इसलिए उन्हें किसी नवीन अभिव्यंजा मार्ग की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। घनानंद की अनुभूति नवीन थी। इसलिए उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने नया मार्ग पकड़ा या कहना चाहिए कि उन्हें नया मार्ग मिल गया। कवि ने अपनी कला को अपने ही सांसों के धागों से बना ऐसा पट बताया है जिस पर प्रिय का चित्र नेत्रों के दृष्टि

२२

घनानन्द-कवित्त

डा० मनोहरलाल गौड़

घनानन्द रीतिकाल की रीतिमुक्त काव्यधारा के सर्वप्रमुख कवि हैं। नानन्द-कवित्त' उनका सर्वप्रमुख रचना-संग्रह है। इसमें ५०५ पद्य संगृहीत हैं, ानमें २ छप्पय, २ सोरठा और १ दोहा है, शेष २८८ कवित्त और २१२ सवैये हैं। ह कवि का सबसे प्राचीन और सुव्यवस्थित संग्रह है। विषय आदि की इस जैसी वस्था अन्य संग्रहों में नहीं मिलती। संभवतः यह संग्रह कवि के समकालीन ब्रजनाथ ामक किसी प्रशंसक कवि ने किया था। संग्रह के प्रारंभ में दो सवैये और अंत में कवित्त तथा ६ सवैये कवि और उसकी कविता की प्रशंसा में लिखे गए हैं। कवित्तों ं ब्रजनाथ का नाम दिया है और उनमें कविता की रसमयी शैली की श्लेषबद्ध प्रशंसा ी है। उनका कहना है कि घनानन्द के कवित्त कमल जैसे हैं जिनमें प्रेम का मकरंद भरा है, अमृत भरे स्वर्णकलश जैसे हैं जिनका स्वाद पाकर अन्य सब स्वाद फीके पड़ जाते हैं और ये विलक्षण बादलों के समान हैं जिनसे नव (नौ और नवीन) रसों का रंग बरसता है। संग्रह का नाम 'घनानन्द-कवित्त' भी संभवतः ब्रजनाथ ने ही निश्चित किया है। उन्होंने अपने एक सवैया के अंत में "कवित्त घनजी के हैं" लिखा है। इस कवि के नाम पर अन्य रचनाएँ भी गेय पद और दोहे चौपाइयों के रूप में प्रचुर मात्रा में मिली हैं, पर वह जिस शैली और सौष्ठव के लिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर बने हैं वह इन कवित्त सवैयों में ही मिलता है। इन्हीं में उनकी रीतिमुक्त काव्य प्रवृत्ति, वक्रतापूर्ण सूक्ष्म और मार्मिक शैली तथा प्रेम की पीर के दर्शन होते हैं। 'घनानन्द-कवित्त' उनकी प्रतिनिधि रचना है। प्रशस्ति के ६ सवैयों में घनानन्द की कविता के पाठकों की चर्चा की गई है और उन कवियों की ओर भी संकेत है जो इनकी सी कविता करने के इच्छुक हों। इसमें बताया गया है कि यह कविता अन्य से भिन्न है। इसे प्रेमी, सौन्दर्य के भेद-प्रभेदों का पारखी और भाषा प्रवीण सहृदय समझ सकता है या ऐसी कविता कर सकता है। व्यंग्य यही है कि कवि का [illegible] गुणों से युक्त था।

४. मो गति बूझि परै तब ही जब होहु घरीक लौं आपु ते न्यारे।

दूसरी श्रेणी के प्रयोगों में अर्थाभिव्यक्ति के साथ-साथ सौन्दर्य की भी सृष्टि होती है। यह सौन्दर्य चित्रात्मकता या बिंब का होता है। कहीं-कहीं विरोध आदि का चमत्कार भी आ जाता है। जैसे :—

१. लाजनि लपेटी चितवनी मंदभाय भरी।
२. रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि में।
३. नैननि बोरति रूप के भौंर मैं।
४. वेदनि की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइये।

इन उक्तियों में चितवन, मुसकान, रूप और वेदना का लक्षणा द्वारा रूप खड़ा हो जाता है और कवि का हृदयगत भाव तो संप्रेषित होता ही है उसके अतिरिक्त कला सौन्दर्य की भी सृष्टि होती है जहाँ कोरा चमत्कार दिखाने की इच्छा कवि को होती है वहाँ तीसरी श्रेणी के लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं। जैसे :—

१. जतन बुझै हैं सब जाकी झर आगें।
२. झूठ की सचाई छाक्यौ नाहिन कचाई पाक्यौ।
३. दूरि देस जायवे कौं प्यारी नियराति है।

कुछ लाक्षणिक प्रयोग ऐसे भी हैं जिनमें कवि प्रयत्नपूर्वक कोरी वक्रता लाने का लोभ करता है। अर्थ प्रतीति में लक्षणा से कोई विशेष अन्तर नहीं लगता। ऐसे प्रयोगों को शास्त्रकारों ने जघन्य बताया है क्योंकि इनके समझने में बुद्धि को व्यर्थ परिश्रम करना पड़ता है। लक्षणा के इन अनेक भेदों में नियमतः किसी न किसी की वक्रता विद्यमान रहती है। इसलिए वह भी कवि की शैली का एक उल्लेखनीय गुण है।

लक्षणा के समान ही घनानंद ने मुहावरों और लोकोक्तियों के बड़े सुन्दर प्रयोग किये हैं। इनके द्वारा भी कहीं अर्थाभिव्यक्ति और कहीं चमत्कार आदि काव्य सौष्ठव का जन्म होता है। नीचे लिखे कतिपय वाक्य इसके निदर्शन हैं :—

१. सुरति सुजान चैन बीचिन सों सींची जान,
वहै जमुना पै आली वह पानी बहिगौ।
२. रस प्यायकै प्यास बढ़ायकै आस,
बिसास में यौं बिस घोरियै जू।
३. उघरि नचे हैं लोक लाज सों बचे हैं।
४. चितचढ़ी मूरति सुजान क्यों उतारियै।

विरोधात्मकता

ऊपर बताये गए मुहावरों और लक्षणाओं के द्वारा घनानंद ने जगह-जगह विरोध के चमत्कार की सृष्टि की है और यह भी उनकी शैली की एक व्यापक विशेषता है। ऐसे प्रयोगों का उल्लेखनीय सौन्दर्य यह है कि ये दुरूह नहीं होते।

कै छवि छायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी घनआनँद चोपनि सों पहरी चुनि साँवरी सारी॥
(घ० क०, २८०)

रूप के समान उसकी अनेक स्थितियों के चित्र भी दिये गए हैं। सो कर उठी सुजान का अलसाता सौन्दर्य देखिए :—

रस आरस भोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी-पलकैं।
घनआनँद ओप बढ़ी मुख और सु फैलि फबीं सुथरी अलकैं॥
अँगराति जम्हाति लजाति लखें अंग-अंग अनंग दिपैं झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं॥

घनानन्द-कवित्त का प्रारंभ सुजान के रूप वर्णन से ही होता है। वह पूर्ण-युवती है। अंग-अंग में यौवन तरंगायित है। लगता है मानो रूप चूकर टपक पड़ेगा। यह भोग-रत रूप बड़े निःसंकोच और ललक भरे भाव से वर्णित हुआ है। कवि की आँखें उसे देखती-देखती अघाती न थीं। लालसाजन्य अतृप्ति उसे संयोगकाल में भी वियोग की सी बेचैनी प्रदान करती थी :—

देखें अनदेखें तहीं अटक्यौ अनन्दघन,
ऐसी गति कहौ कहा चुंबक औ लोह की।

इस प्रकार कवि के भौतिक प्रेम का आलंबन कोई काल्पनिक शास्त्रानुमोदित नायिका नहीं है, आँखों देखी सुन्दरी है जिसके छलकते यौवन का उसने जी-भर कर भोग किया था।

संयोग

घनानन्द ने प्रेम के संयोग-पक्ष का उतना वर्णन नहीं किया है जितना वियोग का। इसका कारण कवि का जीवन-संयोग भी हो सकता है और उसकी मनोवृत्ति भी। जीवन-संयोग तो यह था कि उन्हें अपनी प्रेयसी सुजान को छोड़कर दिल्ली से बाहर जाना पड़ा। संभवतः जीवन के सुख वैभव से भी उन्हें हाथ धोना पड़ा होगा। इस सब के विषाद काल में उन्होंने अपनी काव्य-सर्जना की। दूसरे उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी है कि वे करुणा और विषाद से पूर्ण काव्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनका कहना है कि जिन कवियों पर रोना नहीं आता उनका गाना भी रोने के समान होता है :—

"रोयबौ न आवै तो पै गायबौ हू रोयबौ"

इसके फलस्वरूप इनका शृङ्गार दुःखात्मक अधिक हो गया है। साथ ही अनुभाव-पक्ष की ओर भी उनकी कल्पना अधिक नहीं गई है। आलंबन की चेष्टाओं और रूपस्थितियों के वर्णन में भी कवि उनके प्रभाव का चित्रण अधिक करता है। इस प्रकार संयोग हो या वियोग कवि ने शृङ्गार में भावपक्ष का ही अधिक वर्णन किया है। 'प्रिय के रूप को देखकर रस की भीड़ लग जाती है और नेत्र अधीर होकर उसमें

भाव प्रधान होने के कारण ही घनानंद की काव्य शैली सूक्ष्म और आन्तरिक हो गई है। भावों के ऐसे अनेक सूक्ष्म प्रभेद इन्होंने दिये हैं जो रस मीमांसा में ज्ञात भी नहीं हैं। प्रेमी के मन की उलझन का वर्णन देखिए :—

बिकच नलिन लखें सकुचि मलिन होति,
ऐसी कछु आँखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ-समीर आएँ बहकि दहकि जाय,
राग भरे हिय में विराग-मुरझनि है।
जहाँ जान प्यारी-रूप-गुन को न दीप लहै
तहाँ मेरे ज्यौ परै विषाद गुरझनि है।
हाय अटपटी दसा निपट चटपटी सों,
क्यों हूं घनआनंद न सूझै सुरझनि है॥

(घ० का०, ३०)

ऐसी सूक्ष्म अन्तर्दशाओं की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बड़ी प्रशंसा की है।

रहस्य-भावना

घनानंद अपने जीवन के उत्तर काल में सुजान से विरक्त होकर वैष्णव संत बन गए थे। उस समय भी उन्होंने 'सुजान' नाम को नहीं छोड़ा। उसका अर्थ सुज्ञान कर लिया। साथ ही वे फारसी काव्य के मर्मज्ञ थे जिसमें भौतिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना करने की रूढ़ परम्परा है। उसका भी घनानंद की शैली पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इन सबके फलस्वरूप इनकी शैली में रहस्य भावना का पुट कहीं-कहीं आ गया है। सुजान और घनानंद शब्द ऐसे स्थलों पर परमेश्वर के वाचक हो जाते हैं और भावों में शारीरिक प्रेम के स्थान पर प्रिय की व्यापकता, अरूपता आदि की भावना आ गई है। कवि की लाक्षणिक शैली इस कार्य में सहायक बनी है। भाव संसारी प्रिय के प्रति न होकर परम-तत्त्व के प्रति हो जाते हैं। आचार्य क्षिति मोहन सेन इसी कारण घनानंद को 'मर्मी कवि' कहा करते थे। इन भावों में सरसता भी रहती है क्योंकि उनका रूप आपाततः लौकिक ही होता है। ध्यानस्थ प्रिय फानूस के दीपक की भाँति समस्त हृदय को द्योतित कर देता है और अन्तर्मुख नेत्र उस पर पतंगों के भाँति मंडराते रहते हैं। प्रिय ध्यान की सीप में रखा मुक्ता जैसा प्राण रूपी हंस का चुग्गा बनता है। फिर भी कैसे कहा जाय कि प्रिय दूर है? वह तो मन के सिंहासन पर विराजमान रहता है। दृष्टि के आगे-आगे वह घूमता रहता है।'

घेर्‌यौ घट आय, अंतराय-पटनि-पट पै,
ता मधि उजारे प्यारे पानुस के दीप हौ।

होते। प्रेमी की मार्मिक व्यथा और उपालंभ, दो बातों का बार-बार वर्णन हुआ है। रीतिमार्गी कवियों की भांति इन्होंने न तो संताप का बाह्य रूप दिखाया है और न बिहारी की भांति ऊहा का प्रयोग किया है। हृदय में उमड़ती घुमड़ती व्यथा का सीधा वर्णन किया है। प्रिय कठोर, निःस्नेह है। वह हृदय में बैठकर भी उसकी पीड़ा को नहीं पहचानता। इसलिए प्रेमी उसे उपालंभ देता रहता है। इसकी प्रचुरता ने घनानन्द को अपने समय के अन्य कवियों से पृथक् बना दिया है।

प्रिय तो कभी प्रेमी नहीं रहा, अतः उसे संयोग-वियोग का क्या ज्ञान? उसने न कभी अपना मन किसी को दिया और न दुःख को स्वप्न में भी देखा, उसे वियोग का पता तो तब लगे जब वह भी प्रेमी हो जाय :—

लै ही रहे हो सदा मन और को दैबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुःख त्यारी सकोचऔ सोचसुखारे।
कैसो संजोग बियोग धौं हाय! फिरौ घनआनंद ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब ही जब होहु घरीक हू आपु तें न्यारे॥

(घ० क०, २७)

इसमें कवि ने भक्त और भगवान् के अन्तर की भी व्यंजना की है, प्रेम की एक पक्षीयता का रहस्य भी यहाँ खुल जाता है, जीव की भांति भगवान् किसी भी प्रकार अभाव से पीड़ित नहीं है। अतः कामनाजन्य प्रेम का उनमें जन्म नहीं होता। जीव उनसे प्रेम करता है, पर ऐसा करने की आवश्यकता नहीं :—

नाहं तु तेषां भजतोऽपि जन्तून्।
अजाम्यमीषामनुवृत्ति सिद्धये॥

(भागवत दशमस्कंध, रासोत्सव)

घनानंद की गोपियां श्री कृष्ण से कहती हैं :—

कान्ह! परे बहुतायत मैं अकिलैनि की वेदनि जानौ कहा तुम।
हौ मनमोहन मोहे कहूं न बिथा बिननैन की मानौ कहा तुम।
बौरे वियोगिन आपु सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम।
आरतिवंत पपीहन कौं घनआनंद जू पहचानौ कहा तुम॥

(सु० हि०, ४०४)

इस प्रकार वियोग के अंतर्गत उपालंभ का वर्णन बड़ा गंभीर और मार्मिक है। फारसी की पद्धतियों का इस पर कुछ प्रभाव हो तो कोई आश्चर्य नहीं। खंडिता की उक्तियों से यह कहीं अधिक है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश व्यथा वर्णन का है। भवभूति और प्रसाद की भांति घनानंद ने व्यथा का सीधा विश्लेषण किया है जिसमें हृदय की कचोटन और मथन व्यक्त होता है। ऐसे स्थलों पर कवि की वाणी अलंकारादि की बाह्यसज्जा से अनपेक्ष होकर सीधे भाव उड़ेलती है, अनुभूति के भाव शब्दों में लिपटे चले आते हैं। निम्न-लिखित कवित्त देखिए :—

की मर्म-कथा होकर भी हमारी सबकी पीड़ा है उसी प्रकार जिस प्रकार विनय-पत्रिका में तुलसी का निजी दोष प्रख्यापन हमारा सबका हो जाता है।

जिसे पा लेने के लिए हम अपना सर्वस्व न्योछावर करदें और वह हमारे प्रति निष्ठुरता का व्यवहार करे तो हृदय में ग्लानि का होना साधारण है। उसी की अभिव्यक्ति नीचे लिखे कवित्त में की गई है :—

तेरे देखिबे कौं सब ही त्यौं अनदेखी करी,
तू हू जो न देखें तौ दिखाऊँ काहि गति रे।
सुनि निरमोही एक तोहीं सौं लगाव मोही,
सोहीं कहि कैसें ऐसी निष्ठुराई अति रे।
विष सी कथानि मानि सुधा पान करौं जान!
जीवन निधान ह्वै बिसासी मारि मति रे।
जाहि जो भजै सो ताहि तजै घनआनंद क्यों,
हति कै हितूनि, कहौ काहू पाई गति रे। (घ० क०, ६०)

वास्तव में घनानन्द को यह वेदना अपने समय के समाज से भी मिली थी, उनके अपने जीवन का ही प्रतिफलन नहीं थी। उस समय राजतन्त्र बलहीन था। साधारण समाज साम्राज्यशाही और सामंतशाही के नीचे दबा था। व्यक्ति की महत्वाकांक्षाएँ दबकर चूर्ण-चूर्ण हो गई थीं। समाज जन संकुल तो था पर 'मानस' अर्थात् इन्सान नहीं रह गये थे। इस पर घनानन्द सा भावुक प्राणी व्यथित ही हो सकता था। यह ऐतिहासिक तथ्य कवि के निम्नलिखित सवैयों में स्पष्ट हुआ है :—

मानुस को बनु है जग तौ विन मानस के बन सौ दरसै सो।
जे बनमानस ते सर से तिन सों मिलि मानस क्यौं सरसै हो॥
हाय दई! ढरि नैकु इतै सुकितै पर सै जिहि ज्यौ तरसै मो।
चातिक-प्रान जिवाय दै जानह जहाँ घनआनंद कौं बरसै जो॥

इस प्रकार घनानन्द ने अपने समय की जन-जन व्यापी व्यथा को अपनी कह कर काव्य की वाणी में ध्वनित किया। इससे वे उस रूढ़ परम्परा से पृथक् हो गए जिसमें वर्तमान की कोई चिन्ता न थी। शास्त्रों की काव्यमय उद्धरणी की जा रही थी। घनानन्द ने विशेष रूप से अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को आन्तरिक, मार्मिक, वक्र, गूढ़ और हृदय-स्पर्शी बनाया। इसीलिए वे रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने फारसी के गुणों को पचाया और उससे अपनी व्रजभाषा का शक्ति-संवर्धन किया। आगे के हिन्दी कवि यदि घनानन्द के लक्षणा-मंडित भाषा-मार्ग पर चलते रहते तो उन्नीसवीं शती के अन्त तक व्रजभाषा का स्वरूप कहीं का कहीं पहुँचता और अलंकारों का घिसापिटा मार्ग नया वर्चस् अपना लेता। पर कवियों से रूढ़ियों की कारा टूट न सकी और घनानन्द, आलम आदि कतिपय स्वतन्त्र चेता कवियों को छोड़कर काव्य-भारती उसी सरणि पर रही जो पहले से चली आ रही थी।

से हो जाते हैं। आँखें झरनों की भाँति झरती हैं। न सोती हैं, न जागती हैं। नीचे लिखे पद्य में उसका पूरा चित्र मिलेगा :—

अंतर-उदेग, दाह अंखिन प्रवाह आंसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबौ न जागिबौ न हंसिबौ न रोइबौ हू,
खोय-खोय आप ही मैं चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन,
बिरह-विषम-दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन-मरन, जीव-मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है॥

अन्तर्दशाएं

संयोग और वियोग दोनों के अन्तर्गत भावों की छोटी-छोटी बड़ा सजीव चित्र कवि ने खींचा है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसमें अभिलाषा, उलझन, रीझ, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, सबसे पहले अभिलाषा कर लें।

'प्रिय के रूप सौन्दर्य को देखकर हृदय में हर्ष की उमंगें इस प्र जैसे समुद्र में तरंगें और राग में ध्वनि। नेत्र रूप-राशि का पान करते तृषित ही बने रहते हैं। उधर मुख पर अधिकाधिक ओज बढ़ता है, इधर हृ लाषाओं की वर्षा होने लगती है।

ज्यों-ज्यों उत आनन पै आनंद सु ओप ओरे,
त्यों-त्यों इत चाहनि मैं चाह बरसति हैं॥

संयोग में समस्त इन्द्रियां प्रिय के साक्षात्कार में मग्न हो जाती और अधिक बढ़ जाती है, फलतः वहाँ भी सुख नहीं रहता।

प्रेम की दूसरी अन्तर्दशा उलझन है। प्रेम एक ऐसी बेवसी है कि बनता और न अपनाते। वह गले की ऐसी फाँसी है जो मरने पर भी न छूटे। वस्तु अप्रिय लगती है। बिना प्रिय के विषाद की उलझन पैदा हो जाती है, नहीं सूझता।

विकच नलिन लखें सकुचि मलिन होत,
ऐसी कछु आंखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ-समीर आएं बहकि दहकि जायं,
राग भरे हिय में बिराग-मुरझनि है।
जहाँ प्रान-प्यारी रूपगुन को न दीप लहै,
तहाँ मेरे ज्यौ परै विषाद गुरझनि है।
हाय अटपटी दसा निपट चटपटी सौं,
क्यों हूं घनआनंद न सूझै सुरझनि है।

साथ-साथ एक दो सम्भोग के चित्र भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतः सीमाओं में रहने वाला शृङ्गार का कवि यहाँ ४, ५ पदों में उसका अतिक्रमण कर गया है। उद्दीपक प्रकृति-चित्रण अन्यान्य अवस्थाओं के माध्यम से विरह की तड़पन को बढ़ाता ही जाता है। और 'रितून को कंत' वसंत ने जब 'काम को नगारो' बजाया, तब तो उनकी तड़पन अपने चरम पर जा पहुँची—सब अंग थक गए, बुद्धि बावरी हुई, 'नैन कुम्हिलान लागे' और दीन, हीन, अनाथ, असहाय वे पुकार उठीं—'आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान।' लेकिन जब उनका यह करुण क्रन्दन पाँच कोस भी नहीं पहुँच पाता, तो वे उसे याद दिलाना चाहती हैं, कि किस प्रकार आरम्भ में दूतिकाओं को भेज कर अबोध, अबला गोप-बालाओं को बुला कर वह कुंजों में काम-क्रीड़ाओं में आनन्द लेता था, और अब जब उन्होंने कुल का नाम और लोक-लाज तज कर समाज की चर्चा का विषय बनकर अपकीर्ति पाई है, तो अब कलंक लग जाने पर भी वह अंक नहीं लगाता। इन सब बातों का कोई लाभ नहीं, अब तो आँखें एक बार उसे देखने को तरसती हैं। सब उपाय कर लेने के बाद भी प्रिय-दर्शन की जब कोई आशा नहीं रह जाती, तब निराश होकर कह उठती हैं —'अब तो हमको विष घूंटनो है।' पुनः संयोग की स्मृति उनकी तड़पन को द्विगुणित कर देती है। निरन्तर विरह-दशा में रहने के कारण 'दृग रोअत अबीर भए' और 'मुख-दुति पीरी परी' तथा देह का तो एकदम बुरा हाल हो गया है। यदि अब भी प्रिय तुम दर्शन न दोगे, तो और तो और—ये दुखिया आँखें जो अब स्वप्न में भी चैन नहीं लेने देतीं, मरने पर भी खुली ही रह जायेंगी। लेकिन निष्ठुर का हृदय कहाँ पसीजता है ? तब तो लोगों की चर्चा तथा अपनी बदनामी की चिन्ता न करके वे पुकार उठीं—'छाँड़ि संकोचन चन्दमुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए।'

इस प्रकार जब तक प्रिय के दर्शन नहीं होते, उनका विरह ताप उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और वे समाज की सब मर्यादाओं को त्याग कर भी जीवन के किसी भी मूल्य पर—उसे पाने के लिए नहीं, केवल दर्शनों के लिए कटि-बद्ध हैं, लेकिन निठुर-प्रिय के दर्शन भी कहाँ ? कल्पना में दर्शन करते-करते ही काव्य समाप्त हो जाता है।

जहाँ तक प्रेम-माधुरी की विषयवस्तु का सम्बन्ध है, उसमें मौलिकता का कोई विशेष स्थान नहीं लेकिन इससे इसका मूल्य कम नहीं होता। यह कहा जा चुका है कि विरह की अन्यान्य दशाओं और अवस्थाओं के बहुत से हृदय-ग्राही चित्र इसके लगभग ४०, ५० पदों में मिलते हैं। कहीं चिंतन है तो कहीं गुण कथन, और स्मृति के भी कम से कम १०,१२ पद तो मिलते ही हैं। ८, १० पदों में विरह में साथ न देने वाली सहेलियों को दुत्कारा है, तो ५, ७ पदों में 'अपनी भूल का फल पाना ही चाहिए,' उनसे यह उत्तर भी सुना है। ८, १० पदों में लोगों की चर्चा तथा लोक लाज से न डर कर अपनी निर्भीकता का भी गोपियों ने परिचय दिया है। और १०,

से हो जाते हैं। आँखें झरनों की भाँति झरती हैं। न सोती हैं, न जागती हैं। नीचे लिखे पद्य में उसका पूरा चित्र मिलेगा :—

अंतर-उदेग, दाह अंखिन प्रबाह आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो न हंसिबो न रोइबो हू,
खोय-खोय आप ही में चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन,
बिरह-विषम-दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन-मरन, जीव-मीच बिना बन्यो आय,
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है॥

अन्तर्दशाएं

संयोग और वियोग दोनों के अन्तर्गत भावों की छोटी-छोटी अन्तर्दशाओं का बड़ा सजीव चित्र कवि ने खींचा है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसमें अभिलाषा, उलझन, रीझ, बुद्धि-व्यामोह आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, सबसे पहले अभिलाषा कर लें।

'प्रिय के रूप सौन्दर्य को देखकर हृदय में हर्ष की उमंगें इस प्रकार उठती हैं जैसे समुद्र में तरंगें और राग में ध्वनि। नेत्र रूप-राशि का पान करते हैं फिर भी तृषित ही बने रहते हैं। उधर मुख पर अधिकाधिक ओज बढ़ता है, इधर हृदय में अभिलाषाओं की वर्षा होने लगती है।

ज्यों-ज्यों उत आनन पै आनंद सु ओप ओरे,
त्यों-त्यों इत चाहनि मैं चाह बरसति हैं॥

संयोग में समस्त इन्द्रियां प्रिय के साक्षात्कार में मग्न हो जाती हैं तो लालसा और अधिक बढ़ जाती है, फलतः वहाँ भी सुख नहीं रहता।

प्रेम की दूसरी अन्तर्दशा उलझन है। प्रेम एक ऐसी बेबसी है कि उसे न छोड़ते बनता और न अपनाते। वह गले की ऐसी फाँसी है जो मरने पर भी न छूटेगी। प्रत्येक वस्तु अप्रिय लगती है। बिना प्रिय के विषाद की उलझन पैदा हो जाती है, सुलझाव नहीं सूझता।

विकच नलिन लखें सकुचि मलिन होत,
ऐसी कछु आँखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ-समीर आएं बहकि दहकि जायं,
राग भरे हिय में बिराग-मुरझनि है।
जहाँ प्रान-प्यारी रूपगुन को न दीप लहै,
तहाँ मेरे ज्यौ परै विषाद गुरझनि है।
हाय अटपटी दसा निपट चटपटी सौं,
क्यौं हूं घनआनंद न सूझै सुरझनि है। (घ० क०, ३०)

साथ-साथ एक दो सम्भोग के चित्र भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतः सीमाओं में रहने वाला शृङ्गार का कवि यहाँ ४, ५ पदों में उसका अतिक्रमण कर गया है। उद्दीपक प्रकृति-चित्रण अन्यान्य अवस्थाओं के माध्यम से विरह की तड़पन को बढ़ाता ही जाता है। और 'रितून को कंत' वसंत ने जब 'काम को नगारो' बजाया, तब तो उनकी तड़पन अपने चरम पर जा पहुँची—सब अंग थक गए, बुद्धि बावरी हुई, 'नैन कुम्हिलान लागे' और दीन, हीन, अनाथ, असहाय वे पुकार उठीं—'आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान।' लेकिन जब उनका यह करुण क्रन्दन पाँच कोस भी नहीं पहुँच पाता, तो वे उसे याद दिलाना चाहती हैं, कि किस प्रकार आरम्भ में दूतिकाओं को भेज कर अबोध, अबला गोप-बालाओं को बुला कर वह कुंजों में काम-क्रीड़ाओं में आनन्द लेता था, और अब जब उन्होंने कुल का नाम और लोक-लाज तज कर समाज की चर्चा का विषय बनकर अपकीर्ति पाई है, तो अब कलंक लग जाने पर भी वह अंक नहीं लगाता। इन सब बातों का कोई लाभ नहीं; अब तो आँखें एक बार उसे देखने को तरसती हैं। सब उपाय कर लेने के बाद भी प्रिय-दर्शन की जब कोई आशा नहीं रह जाती, तब निराश होकर कह उठती हैं —'अब तौ हमको विष घूंटनो है।' पुनः संयोग की स्मृति उनकी तड़पन को द्विगुणित कर देती है। निरन्तर विरह-दशा में रहने के कारण 'दृग रोअत अधीर भए' और 'मुख-दुति पीरी परी' तथा देह का तो एकदम बुरा हाल हो गया है। यदि अब भी प्रिय तुम दर्शन न दोगे, तो और तो और—ये दुखिया आँखें जो अब स्वप्न में भी चैन नहीं लेने देतीं, मरने पर भी खुली ही रह जायेंगी। लेकिन निष्ठुर का हृदय कहाँ पसीजता है ? तब तो लोगों की चर्चा तथा अपनी बदनामी की चिन्ता न करके वे पुकार उठीं—'छाँड़ि संकोचन चन्दमुखैं भरि लोचन आजु निहारन दीजिए।'

इस प्रकार जब तक प्रिय के दर्शन नहीं होते, उनका विरह ताप उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और वे समाज की सब मर्यादाओं को त्याग कर भी जीवन के किसी भी मूल्य पर—उसे पाने के लिए नहीं, केवल दर्शनों के लिए कटि-बद्ध हैं, लेकिन निठुर-प्रिय के दर्शन भी कहाँ ? कल्पना में दर्शन करते-करते ही काव्य समाप्त हो जाता है।

जहाँ तक प्रेम-माधुरी की विषयवस्तु का सम्बन्ध है, उसमें मौलिकता का कोई विशेष स्थान नहीं लेकिन इससे इसका मूल्य कम नहीं होता। यह कहा जा चुका है कि विरह की अन्यान्य दशाओं और अवस्थाओं के बहुत से हृदय-ग्राही चित्र इसके लगभग ४०, ५० पदों में मिलते हैं। कहीं चिंतन है तो कहीं गुण कथन, और स्मृति के भी कम से कम १०,१२ पद तो मिलते ही हैं। ८, १० पदों में विरह में साथ न देने वाली सहेलियों को दुत्कारा है, तो ५, ७ पदों में 'अपनी भूल का फल पाना ही चाहिए,' उनसे यह उत्तर भी सुना है। ८, १० पदों में लोगों की चर्चा तथा लोक लाज से न डर कर अपनी निर्भीकता का भी गोपियों ने परिचय दिया है। और १०,

लिए उन्होंने अनेक पद्यों में प्रेम का प्रदर्शन किया है। संक्षेप में घनानंद के प्रेम की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :—

१. यह आसक्ति-प्रधान है इसलिए सान्द्र है। प्रेमी को संयोग में अपार हर्ष और वियोग में घोर पीड़ा होती है। प्रिय आते हैं तो लगता है कि करोड़ों प्राण आँखों में आ गए; आनन्द छा गया और महारस की वृष्टि होने लगी। वियोग में उसी प्रकार गहन व्यथा की अनुभूति होती है।

२. भाव-प्रधान है, क्या संयोग और क्या वियोग, उभयत्र कवि भावों में डूबा रहता है। हृदय की अन्तर्दशाओं के उद्घाटन में उसकी प्रतिभा व्यस्त रहती है। प्रिय की चेष्टाओं और व्यापारों का वर्णन वह नहीं करता। प्रिय की आरती उतारने में प्रेमी हृदय के ही समस्त उपकरण काम में लेता है। सारा सौंज भावों का है।

३. अभिलाषासिक्त अतएव सदा दुःख-पूर्ण है। प्रेमिका का मन अभिलाषाओं की धार में बहने लगता है। उसे किनारा नहीं मिलता तो हार कर लज्जा रूपी सिवार को पकड़ लेती है।

रस सागर नागर स्याम लखैं अभिलाखनि धार मंझार बहौं।
सुन सूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारि के लाज सिवार गहौं।।

४. प्रेम में बुद्धि का स्थान गौण और रीझ का स्थान मुख्य है। वह हृदय की सहज सरल अनुभूति है। बुद्धि का विचार प्रेम के अपार समुद्र को देखकर डर जाता है और किनारे से ही लौट आता है। प्रेम में अधिक चतुराई करने लगें तो बौरई अर्थात् पागलपन ही हाथ लगता है।

५. घनानंद का प्रेम विषम है। प्रेमी की भाँति प्रिय प्रेम नहीं करता। वह निष्ठुर और कठोर होता है। कवि की इस चिन्तन-पद्धति पर फारसी प्रेम भावना का प्रभाव पड़ा है नहीं तो भारतीय परम्परा में तो प्रेम को सदा निष्ठ ही दिखाया जाता रहा है। यत्रतत्र ऐसे संकेत भी कविता में मिल जाते हैं जिनके आधार पर इस विषमता को भक्ति की आध्यात्मिक भावना के कारण उत्पन्न हुआ भी कहा जा सकता है। भक्ति में भगवान् आप्तकाम होने से प्रेमी नहीं बनता, जीव अपूर्णकाम होने से प्रेमी होता है। इसी भाव को घनानन्द की गोपिकाएँ श्रीकृष्ण से कहती हैं :—

तुम तो निहकाम सकाम हमें
घनआनंद काम सों काम पर्यो।

६. यह प्रेम स्वच्छन्द है। जीवन में समाज का और काव्य-सर्जना में काव्य-शास्त्र का अनुशासन कवि ने नहीं माना। इसीलिए नायिका भेद या रस-मर्यादा के भेद-प्रभेदों में वह नहीं उलझा है। स्वच्छन्द होने से ही यह सीमाबद्ध नहीं है। स्थूल शारीरिक प्रेम से विकसित होकर पारदर्शी आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तित हो गया है। उस रूप में प्रेमी को सृष्टि के कण-कण में प्रिय के दर्शन होते हैं। सुजान में रहस्यमय परम-तत्त्व की झलक दिखाई पड़ जाती है।

परम्परा पालन हेतु प्रयुक्त अतिरंजित अतिशयोक्तियों से बच कर उसे सहज स्वाभाविकता प्रदान कर सरस एवं हृदयग्राही बनाया है। प्राचीन और नवीन की इस सम्मिलित भूमि पर इससे बढ़कर मौलिकता हो भी नहीं सकती है।

प्रेम-माधुरी की प्रेम कहानी केवल राधा या कुछ विशेष गोपियों तक ही सीमित नहीं अपितु उसने तो—'नेह लगाय लुभाय लई पहिले बृज की सब ही सुकुमारियाँ।' (२८) न केवल सब सुकुमारियों को ही लुभा लिया बल्कि सब जगह यही चर्चा है, कि उसने तो 'इक प्रेम-डोर नाथ्यो सगरो शहर है।' (८२) इस प्रकार सम्पूर्ण नगर को ही प्रेम-डोर से बाँध कर कन्हैया चला गया है; कुब्जा के पास और अब इनकी सुध ही नहीं लेता, अतः वियोग तो हो ही गया और अब उसका विरह भी आरम्भ होता है। गुरुजनों के मना करने पर गोपियाँ इसके प्रेम के रंग में रंगी गईं, और फिर इस 'प्रान प्यारे काज' सब संसार की लाज तज कर बदनामी भी ली, कुलटा भी कहलाईं, लेकिन उसने तो इन्हें छोड़कर 'कोउ और के जाइ बसेरो कियो' और यहाँ भेज दिया ऊधो को समझाने के लिए। लेकिन गोपियों ने साफ जवाब दे दिया, कि न तो उन्हें सर्वब्रह्म की आवश्यकता है और न ही उसके शुष्क ज्ञान की। प्रिय की मधुर वाणी सुनने वाले कान अलख की बात कैसे सुन सकते हैं? श्याम की रूप-सुधा का पान करने वाली आँखों को मूंद कर योग में ध्यान कैसे लगाया जा सकता है? और जिन कुंजों में उसके साथ विहार किया है, उसी में तुम आसन बाँध कर समाधि लगाने की बात कहते हो और इन सबसे बढ़कर—

'जौन अंग लाग्यौ पिया अंगन में बार बार
तापै कूर धूर को रमाइबो बतावै जिनि।' (९०)

प्रिय के सुखद-स्पर्श को अनुभव करने वाले अंगों पर धूल रमाने की बात कह कर तुम न जाने कितना बड़ा पाप कर रहे हो। ऊधो भी बेचारा क्या करता—एक, दो होतीं, तो उन्हें समझा भी देता, लेकिन यहाँ तो 'मंडली ही बिगरी है।' अतः वह निराश हो जाता है।

प्रिय के दर्शन के लिए आँखें तड़प रही हैं और अनेक प्रकार से समझाने पर भी वे नहीं मानतीं, इसी से उनका विरह तीव्र होता जाता है। ऊधो और सखियों—सबका समझाना बेकार है, तब गोपियाँ स्पष्ट ही पुकार उठती हैं, कि ये तो तुम्हारे बिना और किसी के समझाने से न मानेंगीं। वस्तुतः रात-दिन आँसुओं की झड़ी लगाकर विरहताप की अभिव्यक्ति का सशक्त साधन ये आँखें ही हैं। इनसे तंग आकर समझाने वाली सखियों को भी गोपियाँ कहती हैं, कि हमारा तो कोई दोष नहीं, सब दोष तो प्रिय के रूप पर मोहित होने वाली इन आँखों का है, तुम हमें क्या समझाती हो। कर सकती हो तो इनका परितोष करो—

'इन नैनन का सखी दोष सबै हमैं झूठहि दोष लगावती हौ'। (५१)

भक्ति का एक दूसरा रूप और है जहाँ कवि व्यापक सत्ता के दर्शन पाने के लिए लालायित है। उस सत्ता का वह अनुभव तो सर्वत्र करता है पर उसके प्रति दर्शन नहीं कर पाता, इसलिये व्याकुल रहता है। 'वह सत्ता कवि की वाणी में बोलती है, नेत्रों में से देखती है। उसके साथ-साथ घूमती है पर उसके दर्शन का सुख नहीं मिलता। वह प्राणों में बसकर घात करती है, पर क्या किया जाय? द्रष्टा के देखने में ही कुछ त्रुटि है :—

बैनन में बोलै, नैन-ऐन चैन सौं कलोलै,
गैनसंग डोलै पै न परस-परोस है।
हेरत हिरावैं एक ठौर हू न लहौं ठावैं,
झुरि मुरि झावैंग्रौर ऐसी पीर को सहै।
पायन परति बात, प्रान पैठि करै घात,
जानराय प्यारे की नवेली रस-रोस है।
अपने किये की छांह बैठिये बखानै जग,
वे तो घनआनंद मो देखन को दोष है।

(घ० क०, ४८७)

निराकार निर्गुण व्यापक सत्ता के प्रति कवि के इस प्रेम में भारतीय दर्शनों और सूफियों का प्रभाव झलकता है। एक दूसरे पद्य में कवि इस विलक्षण प्रिय को अपनी दृष्टि का कारण, नेत्रों का तारा बताता है और स्पष्ट कहता है कि "तुम ही तैं पियत तिहारे रूप के रसैं"। केन उपनिषद् का प्रतिपाद्य भी यही है। इसी रेखा पर ज्ञाता और ज्ञेय किंवा साधन और साध्य का अद्वैत सिद्ध हो जाता है। इस प्रसंग में घनानन्द का वैशिष्ट्य यह है कि दर्शन के ऐसे गंभीर भावों को उन्होंने शृंगार की सरसता में लपेट कर व्यक्त किया है। इससे उसमें रुक्षता कहीं भी नहीं आई।

प्रिय का ध्यान करते-करते जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रियमय दिखाई देने लगती है। फलतः संसार आँखों के सामने से हट जाता है, प्रिय ही प्रिय दीखता है। यह स्थिति आध्यात्मिक प्रेम किंवा लौकिक प्रेम दोनों के प्रेमियों को प्राप्त होती है। घनानंद की उक्तियों में लौकिक और पारलौकिक प्रेम की ऐसी ही सरस रमणीय गंगा जमुनी मिल गई है। अभिव्यक्ति का स्वरूप तो लौकिक प्रेम का ही रहता है पर भावात्मक होने से उसमें आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना विद्यमान रहती है। एक उदाहरण लीजिए।

प्रिय को घन रूप मानकर प्रेमी उपालंभ देते हुए कहता है कि अब तो संसार में तुम ही तुम दिखाई देते हो, और वस्तुएं आँखों के आगे से हट गईं लगती हैं :—

'उघरो जग छाय रहे घनआनंद चातिक त्यौं तकियै अब तो'।

(घ० क०, ८०)

मूरति न भुला सके—'उमड़ि उमड़ि दृग रोअत अवीर भए,
मुख-दुति पीरी परी बिरह महा भरी।' (१२१)

जब इतने पर भी पीछा न छूटा, तो—

'थाकी गति अंगन की मति पर गई मंद,
सूख झांझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई,
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥' (१०५)

सब अंगों की गति तो मंद पड़ ही गई बुद्धि भी बावरी-सी हो गई, हँसी, प्रसन्नता का तो सदा के लिए ही साथ छिन गया, और सुख का भी तो कोई साधन पास नहीं रहा। और जब मिलने की सब आशा समाप्त हो गई है, तब भी यह पापी प्राण निकलते नहीं, सम्भवतः मोह के कारण अब उसे प्राणों के निकलने का पूरा विश्वास हो गया है, लेकिन भोर हुआ देखकर वह अपने भाग्य को कोसती हुई कहती है—'हत-भगिनी आँखिन को नित के दुख देखिबे को फिर भोर भयो।' (५७) जीवन-भर तो प्रिय ने किसी विनती पर ध्यान नहीं दिया, तब विरहिणी ने कहा, अब जैसा जी में आवे करते रहना, लेकिन 'अब प्रान चले चहँ तासों कहैं 'हरीचंद' की सो बिनती सुनि लीजिये। भरि नैन हमें एक बेरहू तो अपनो मुख मोहन जोहन दीजिये।' (७६) अब प्राणों के जाते समय तो एक बार मुँह दिखा दो, परन्तु निष्ठुर का हृदय कहाँ पसीजता है। यह देखकर जाती बार वह विदा के समय एक बार मिलन की सामाजिक-प्रथा की याद दिलाती है, क्योंकि जीवन-भर के विरह-ताप को तो उसने 'सबै फल आपुन भाग को पावैं' मानकर संतोष कर लिया है—'जो 'हरीचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं। प्यारे जू है जग की यह रीति विदा की समै सब कंठ लगावैं।' (५९) लेकिन कुब्जा के पास उलझे हुए पिय पर जब संदेश, विनती और उपालम्भों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो विवश विरहिणी के पास केवल एक ही मार्ग वाकी रह जाता है—

'तजि और उपाव अनेक अरी अब तो हमकों विष घूँटनो है।' (११७)

विष का ही आश्रय लिया जा सकता है। इस प्रकार प्रवास की यह करुण गाथा समाप्त होती है।

विरह की अन्यान्य दशाओं में गुण-कथन स्मृति आदि का विशेष महत्त्व है। प्रिय के अभाव में उसके गुण-कथनों से ही विरहिणी संतोष का अनुभव करती है। गोपियों ने भी इसीलिए लोक लाज की तथा कलंकिनी होने की चिन्ता नहीं की, क्योंकि उन्हें पता है, कि उसके दर्शन होते ही सब अपयश समाप्त हो जावेगा—'तोहि देखे अपजस होत ही अचूक है।' (११८)

और इस विरहानल में शान्ति प्राप्त करने का एक ही उपाय है, उनका

प्रवाह में उभर आता है। इसका तात्पर्य यही है कि उनके भावों ने अपने अनुरूप भाषा को जन्म दे दिया था। भाषा की यह अनुरूपता लाक्षणिकता की है। लक्षणाओं के सहारे कवि ने अपने अरूप भावों को रूपवत्ता प्रदान कर चित्रों की सृष्टि की है। इससे भावों का सीधा वर्णन दोष न होकर गुण बन गया है। नीचे लिखे दो वाक्यों में यह बात देखी जा सकती है :—

१. अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।
(घ० क०, २)

२. उघरौ जग छाय रहे घनआनँद चातिक त्यौं तकियै अब तौ।
(वही, ८०)

पहले वाक्य में शरीर की तरल छवि को तरंगों का साम्य दिया है और उसे रूपायित कर दिया गया है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में बादलों के हट जाने या घिरे रहने का चित्र लक्षणा द्वारा प्रस्तुत किया हैं। ऐसे अनेक प्रयोगों से ही कवि ने अपनी अभीष्ट सिद्धि की है। लाक्षणिक भाषा का प्रयोग मध्यकाल की हिन्दी काव्य परम्परा में एकदम नवीन है।

कवि की भाषा के सम्बन्ध में स्वयं घनानंद ने कहा है कि वह कवि के हृदय में मौन का घूंघट डालकर दुलहिन की भाँति छिपी बैठी रहती है। पदार्थ और भूषणों से वह शोभा ग्रहण करती है और रस एवं रूप से उल्लास! कवि की रसना या लेखनी उसे श्रोता की कान-रूपी गली में से होकर हृदय शय्या पर ले जाकर बिठा देती है। वह बूझ अर्थात् समझ के अंक में निवास करती है और सुजान यानी चतुर और सहृदय पाठक ही उसका आनंद ले सकता है।

उरभौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठी विराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै दुलसै रस-रूप मनी।
रसना अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।
(वही, २७४)

इनके लाक्षणिक प्रयोगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है — अर्थाभिव्यंजक, सौन्दर्याधायक और चमत्कारक। पहली श्रेणी के प्रयोग श्रेष्ठ और अधिक संख्या में हैं। इनमें उत्तम काव्यत्व की अनुभूति होती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

१. रूप अनूपम कौ पुर दूरि तौ बावरे नैननु के मग बेड़े।
२. ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनँद सुओप ओरे,
त्यौं त्यौं इन चाहनि मैं चाह बरसति है।
३. उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखो
सुबस सुदेस जहां भावते बसत हौ।

शिशुता अभी समाप्त ही नहीं हुई थी, जब यौवन ने अपना रंग जमाना आरम्भ कर दिया और ऐसे ही अवसर पर जब प्रिय को 'एक बेर नैन भरि देखें' तभी ब्रज के गाँव गाँव में शोर मच गया। मौका देखकर प्रिय ने मिलना आरम्भ कर दिया परन्तु गोपी अभी संकोचशीला एवं लज्जापूर्ण है।

'देखु 'हरिचन्द' ठीक दुपहर तेरे हेतु
आयो चलि दूर सों पियारो री प्रमादिनी।' (१००)

अत: मिलने से घबराती है। लेकिन ज्यों ही प्रेम का विकास होता है, वह अपना शृङ्गार करती है। अपने को अकेला पाकर वह अपने पर ही इतनी मोहित है कि कभी अपने प्रतिबिंब को चूमती है, तो कभी अपने को ही प्यार करती है। संयोग का तो काल्पनिक सुख भी कितना आनन्ददायक है, प्रिय के आने पर ही उसे पता चलता है, कि वह तो अब तक अकेली ही थी। और जब आत्मीयता बढ़ी, तो केलि-कुंजों में विहार करना आरम्भ कर दिया, उसका चित्र भी देखते ही बनता है—

'आजु कुंज मन्दिर में छके रंग दोऊ बैठे,
केलि करैं लाज छोड़ि रंग सों जहकि जहकि।'

और धीरे-धीरे—

'एक टक वदन निहारें बलिहार लै लै,
गाढ़े भुज भरि लेत नेह सों लहकि लहकि।
गरें लपटाय प्यारी बार बार चूमि मुख,
प्रेम भरी बातैं करैं मद सों बहकि बहकि॥' (२१)

बादलों की गर्जन और बरसात के साथ यह संयोग भी इतना गाढ़ा हो गया कि—

'भींजि भींजि लपटि लपटि सतराइ दोऊ,
नील पीत मिलि गए एकै रंग बागे हैं॥' (२२)

और अब तो लोग जितना उन पर हँसते हैं 'तितनी दृढ़ दोऊ निभाव करैं।' धीरे-धीरे उन्होंने लोगों की चिन्ता बिल्कुल ही छोड़ दी—

'इत दोऊ निसंक मिलैं बिहरैं उत चौगुनो लोग चवाव करैं॥'

क्योंकि पिय अंक में निसंक सोकर उनका तो जीवन ही सफल हो गया—

'हरिचन्द' जू जीवन को फल पाय चुकीं अब लाख उपाय करो।
हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चवाइनै आओ चवाव करो॥' (२४)

नव कुंजन में सब 'कोक-कला' के जानने वाले नन्दलाल के पास दिन में ही जब दूतिका 'भुराय' कर नई अबला को ले जाती है, उस समय की उसकी अवस्था का चित्रण करने से भी रसिक कवि नहीं चूका—

शाब्दिक अर्थ और मुहावरे का अर्थ दोनों ही पाठक को ज्ञात होते हैं। इनसे विपरीत केशव आदि के विरोध चमत्कार वाले प्रयोग देखे जा सकते हैं जिनमें संस्कृत के दुरूह द्व्यर्थक शब्दों को लिया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि घनानंद किसी जीवित भाषा की शक्ति को पहचानते हैं; उसका अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयोग कर सकते हैं। नीचे के उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी :—

१. बदरा बरसैं रितु मैं घिरि कै नित ही अँखिया उघरी बरसैं।
२. राग भरे हिय में विराग गुरझनि है।
३. जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय।
४. उजरनि बसी है हमारी अखियानि देखो।

भावात्मकता

भाव-प्रधान होना भी घनानंद की शैली का एक उल्लेखनीय गुण है। कवि ने अपने समस्त काव्य में वस्तु वर्णन कम और भाव वर्णन अधिक किया है वह वर्णन भी सीधा भावों का ही है, चेष्टाओं या रूपों के माध्यम से नहीं है। ऐसा वर्णन सामान्य हो तो दोष ही माना जायगा पर घनानंद ने लक्षणाओं के सहारे रूपवत्ता और चित्रात्मकता ला दी है इसलिए उनका काव्य रसनीय बन गया है। भावों की अन्तर्दशाएँ एक के बाद दूसरी इतनी शीघ्र आती हैं कि उनसे प्रेम की मनःस्थिति के साथ हमारा साधारणीकरण हो जाता है। असल में ये भाव संचारी कोटि के होते हैं जिनका नाम्ना निर्देश भी किन्हीं परिस्थितियों में दोषावह नहीं होता। एक उदाहरण लीजिए। विरह पीड़ित प्रेमी की मनोदशा जो उलझन और ऊमस-मसोसन से पीड़ित है, उसका चित्र खींचा गया है :—

अंतर-आंच उसास तचै अति, अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यो कहलाय मसोसनि ऊमस क्यौं हू कहूं सु धरै नहि थ्यावस॥
नैनउ घारि दियें बरसें घनआनँद छाई अनोखियै पावस।
जीवन-मूरति जान को आनन है बिन हेरैं सदाई अमावस॥

यहां पर उद्वेग, कहलाना, मसोसन, अधीरता, अश्रु आदि संचारी और सात्विकों का नाम्ना वर्णन किया गया है। पर यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भवतः अन्तर्दशा स्पष्ट न हो पाती। यहाँ पर हमें प्रेमी की मनःस्थिति का सही चित्र संवेद्य हो जाता है। कहीं भावों में मानवत्वारोप भी कर दिया गया है। इसलिए वे रूपवान् बनकर संवेद्य हो गए हैं। नीचे के सवैये में रीझ, दृष्टि, मति, वाणी, चाह आदि को सजीव रूप में चित्रित किया गया है :—

रीझ बिकाई निकाई पै रीझि थकी गति हेरत हेरन की गति।
जोवन घूमरे नैन लखें मति-बौरी भई गति वारि कै मोमति॥
बानी बिलानी सुबोलनि मैं अनचाहनि-चाह जिवावति है हति।
जान के जी की न जानि परै घनआनँद याहू तें होति कहा अति॥

अनन्यता प्रेम की बड़ी कसौटी जो ठहरी और हो भी क्यों न ? उसके सभी अंग जो सुन्दर ठहरे। गुलाब के फूलों को लजाने वाले उसके 'कोमल गोल कपोल,' 'नव पल्लव सो कर,' 'अमृत से जुग ओंठ लसे' तथा 'पंकज के दल सो सुकुमार सबै अंग भायो' तब भी गोपियों को कर्त्तार से गिला है और है भी वह ठीक, इसी से वे पूछ बैठीं—

'पाहन सो मन होते सबै अंग कोमल क्यों करतार बनायो।' (४०)

इसीलिये वे सुन्दर नन्दकुमार को आरसी नहीं देखने देती कि कहीं वह अपने रूप पर ही मोहित न होकर उसे ही न छोड़ दे।

नायिका विरहिणी अवश्य है, लेकिन सौंदर्य उसका भी कम नहीं। शिशुता के समाप्त होते न होते यौवन की आभा फूट निकलती है, और दो दिन में ही वह अंगों से अमृत बरसाने लगती है—

'सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोबन-जोति बटोरै लगी।'

और सभी हाव-भावों का प्रदर्शन करती हुई—

'दुलही उलही सब अंगन ते दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी।'

यौवन के साथ ही साथ सौंदर्य का भी विकास होता चलता है। 'नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि' विरहिणी की आँखों की लालिमा भी पलास से कुछ कम नहीं और देह—'पीरो तन पर्यो फूली सरसों सरस सोई।' (३५) वह वियोग में खिली हुई सरसों की तरह पीला पड़ गया है। कन्हैया के सौन्दर्य को देखने के लिए मुख से सुन्दर अलकों को हटाना पड़ता है। और जब कुंज-मंदिर में ही श्यामा-संग बैठे थे, तो बरसात होने लगी और सौन्दर्य निखर आया—

'हरिचन्द' अलकैं कपोल पैं सिमिटि रहीं,
बारि बुंद चूअत अतिहि नीके लागे हैं।' (२२)

और सुन्दर तो वह इतनी है, कि जब कभी अकेली ही अपना शृङ्गार कर रही थी तो अपने पर ही मोहित होकर अपने प्रतिबिम्ब को ही चूमने लगी। फिर उसके रूप पर प्रिय क्यों न मोहित होता—

एरी प्रानप्यारी बिन देखे मुख तेरो मेरे
जिय मैं बिरह-घटा घहरि घहरि उठै॥
त्योंही 'हरिचन्द' सुधि भूलत न क्योंहू तेरो
लाँबो केस रैन दिन छहरि छहरि उठै॥
गड़ि गड़ि उठत कँटीले कुच कोर तेरी
सारी सों लहरदार लहरि लहरि उठै॥

लोचन-पतंग संग तजै न तऊ सुजान,
प्रान हंस राखिबे कौं भरे ध्यान-सीप हौ।
ऐसें कहौं कैसें, घनआनंद बताऊँ दूरि,
मन सिंघासन बैठे सुरत महीप हौ।
दीठि-आगे डोलौ, जो न बोलौ कह बस लागै,
मोहि तौ बियोग हू मैं दीसत समीप हौ॥ (घ० क०, १८०)

कहीं-कहीं यह रहस्य भावना बड़े सरल और सरस शब्दों में प्रकट हुई है। जहाँ प्रेमभाव में दार्शनिकता कम और मानवीयता अधिक है वहाँ सरसता अधिक मिलती है। नीचे लिखे सवैया में यही बात है। परमतत्त्व का प्रिय रूप में ध्यान करते करते संसार ध्यान से हट गया और बादलों की भाँति प्रिय ही सर्वत्र छाया हुआ प्रतीत होता है। प्रेमी चातक की भाँति इसी की ओर ताकता रहता है:—

मन जैसें कछु तुम्हें चाहत है सु बखानियै कैसें सुजान ही हौ।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगियै नित लौ।
बुधि औ सुधि नैननि बैननि मैं करि बास निरंतर अंतर गौ।
उघ री जग छाय रहे घनआनंद चातिक त्यौं तकियै अब तौ॥
(घ० क०, ८०)

आत्माभिव्यक्ति

घनानंद की समस्त कविता उनके अपने सुख-दुख की गाथा है। शैली में भी उसे उत्तम पुरुष की अभिव्यक्ति के रूप में अधिक कहा है। इससे उक्तियों में निश्छलता का पारदर्शी सौन्दर्य झलकता है। कवि-कहीं प्रेयसी बनकर और कहीं प्रेमी बनकर अपनी बात कहता है। सुजान और घनानंद शब्द भी प्रेमी और प्रिय दोनों के लिए प्रयुक्त हुये हैं। यह पहले बता दिया गया है कि कवि ने वेदना को पहले स्वयम् सहा था फिर उसे काव्य की वाणी प्रदान की थी। इसीलिए इनकी उक्तियों में हृदयस्पर्शी मार्मिकता आ गई है। उपालंभ का निम्नलिखित सवैया उक्त तथ्य को प्रमाणित कर देगा:—

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसें उलाहनो दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।
घनआनंद जीवन प्रान सुजान! तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हें चाड़ कहा पै असीस हमारियो लीजियै जू॥

उत्तम-पुरुष-प्रधान आत्माभिव्यक्ति होने के कारण घनानंद का काव्य अति वैयक्तिक नहीं है। उसका कारण यह है कि कवि ने अपने समय की समाजगत वेदना को आत्मसात् कर अपनी भावना के रूप में व्यक्त किया है। इसलिए यह एक व्यक्ति

हाय ।' और इस काम के नगारे को बजाने वाला कौन है—'रितून को कंत' वसंत ! चारों दिशाओं में सरसों फूल गई और 'सीतल मंद सुगंध समीर' वह चली । यही तो उसके सशक्त अस्त्र हैं । भारतेन्दु ने पशु, पक्षी, फूलों तथा वृक्षों के नाम गिनाने की मात्र औपचारिकता का पालन नहीं किया, अपितु उनका ऋतु एवं वातावरण के अनुरूप उपयोग किया है। यह ठीक है, कि उनके इस काव्य में प्रकृति-चित्रण को विशेष स्थान नहीं मिला, पर जितना भी प्रकृति-चित्रण मिलता है, वह स्वाभाविक है, यही इसकी गरिमा है ।

पुष्टि मार्गीय वैष्णव भारतेन्दु के लिए राधा एवं गोपियों का कृष्ण से स्वकीया का ही सम्बन्ध था । लौकिक दृष्टि से वह चाहे परकीया प्रतीत हो, लेकिन दार्शनिक आधार और भक्ति के माध्यम से उन्होंने जिस अलौकिक को अपनाया है, उसकी लीला में परकीया-भाव कहाँ ? प्रेम की अवस्थाओं एवं दशाओं के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है, यहाँ संक्षेपतः उसके स्वरूप पर विचार करना है ।

कन्हैया की रूप-सुधा का पान करते ही गोपियाँ ही क्या—सारा ब्रज उस पर मोहित हो गया और व्याकुल होकर प्रतीक्षा आरम्भ हो जाती है, केवल एक बार रूप-पान की । लेकिन भाग्य साथ नहीं देता । विरह की तड़पन की टीस भी मदिर-मधुरता लिए है—पर पहिचान कैसे हो, कि कोई प्रेम का शिकार हो गया है । कितना अच्छा चित्र खींचा है नायिका का रसिक चितेरे ने—

'भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की ।
मोही सी लुभाई कछु मोदक सों खाए सदा
बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की ।
रिस भरी रहे कबौं फूलि न समात अंग
हंसी हंसी कहे बात अधिक उमेह की ।
पूछे ते खिसानी होय उत्तर न आवै ताहि
जानी हम जानी है निसानी है सनेह की ॥ (७०)

अपनी सुध न रहना, किसी में खोए रहना, आनन्द के आह्लाद को छिपा न सकना और बात पूछने पर खिसियाना—सीधी सी निशानियां हैं न प्रेम की । और ऐसा प्रेम बढ़ता तब तक ही है जब तक वह छिपा रहता है—

'प्रेम तो सोई छिप्यौ जो रहै प्रगटै रसहू सब भाँति वसाइहै ।'

ऐसे प्रेम में चाहिए—अनन्यता, एकाग्रता, तल्लीनता तथा अनवरत लगन । इसीलिए तो वे एकमात्र सांवरे के रंग में रंगी गई हैं । लोक लाज को त्याग कर एकाकी उसी की सर्वतोभावेन दासी बनी हुई हैं और उसके बिना न आने वाली मृत्यु को कोसती हैं । यही उनकी तड़प का चरम है । लेकिन प्रेम की सबसे बड़ी

२३

प्रेम-माधुरी

डा० धर्मपाल मैनी

भारतेन्दु ने अपने नियमित काव्य-प्रणयन के लगभग १७, १८ वर्ष के जीवन के आरम्भ में भक्ति और प्रेम की रचनाओं को अधिक महत्त्व दिया। धीरे-धीरे प्रेम और शृंगार के साथ-साथ वे राज्य-भक्ति व समाज-सुधार के विषयों की ओर भी झुकते चले गए, लेकिन उनका मूल कवि सदा ही प्रेम और शृंगार की अभिव्यक्ति में आनन्द लेता रहा है, चाहे वह भक्ति-भाव से पूर्ण हो या स्वच्छन्द लौकिक प्रेम से। अपने ऐसे काव्य के विकास में भी वे 'प्रेम-माधुरी' से पहले ४, ५ ऐसे ही शुद्ध प्रेम के काव्य-संग्रहों की रचना कर चुके थे। उनकी काव्य-प्रतिभा तथा रचना-कौशल ने शीघ्र ही उनके कवि को प्रौढ़ बना दिया था, लेकिन उसका हृदय भावुक और रसमय ही था। प्रेम-माधुरी का प्रणयन उनकी आयु के २५वें वर्ष में हुआ, जिसे उनके काव्य-प्रणयन का मध्य-बिन्दु भी कहा जा सकता है। इसके २ दोहे तथा १३ पदों में प्रेम की अमान्य दशाओं और अवस्थाओं का बड़ा सरस चित्रण हुआ है। आरम्भ के १५, १६ पदों में प्रिय के वियोग से उत्पन्न गोपियों के विरह की तड़पन का चित्रण है। पुनः ५, ६ पदों में संयोग की स्मृति से आत्मविभोर गोपियों की दशा का वर्णन मिलता है। सम्भवतः इससे उनकी तड़पन और भी बढ़ गई, इसीलिए आगामी १०, १२ पदों में उन्होंने सदा प्रेम बनाए रखने का भरोसा देकर जाने वाले प्रिय पर उलाहनों की बौछार की है, लेकिन उससे कुछ बना नहीं। तब उनके दर्शन की प्रतीक्षा में व्याकुल दुखिया अँखियों की करुण-गाथा कही है और उन सखियों को विशेष रूप से दुत्कारा है जो बचपन में तो प्रेम-विकास के लिए सभी प्रकार से प्रोत्साहित करती थीं और अब विरह में हाल तक नहीं पूछतीं, सहानुभूति जतलानी तो दूर की बात रही। लोक लाज तज कर, समाज की सब बातों को सहकर अनन्य एवं एकाग्र प्रेम करने वाली गोपियों को जब मिलन की कोई आशा नहीं रहती, तो वे मरण-दशा का चिन्तन कर अन्तिम समय तो प्रिय के गले लगने की आशा करती हैं, लेकिन सब व्यर्थ। पुनः भावनाओं को उद्दीप्त करने वाला सावन आया, संयोग की स्मृतियों के

पहले मुसुकाइ लजाइ कछु क्यों
चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ वढ़ाइ कै प्रीति
निबाहन को क्यों कलाम कियो।
'हरिचंद' कहा के कहा ह्वै गए
कपटीन सो क्यों यह काम कियो।
मन माँहि जो छोड़न ही की हुती
अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो ॥ (१२७)

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार उनकी भाषा ने सदा ही भावों को सरस गत्यात्मकता प्रदान कर उनके सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है।

उपालम्भ पद्धति ने उनकी अभिव्यक्ति को जो साहित्यिकता प्रदान की है, उससे न केवल उसकी सरसता वढ़ी है, अपितु उसकी प्रभावोत्पादकता भी सहृदय पर अमिट छाप छोड़ जाती है। उनके इस काव्य को एक बार ही पढ़कर कोई न भूल सकेगा, कि पहले प्रेम बढ़ा कर अब भागने वाले श्याम को गोपियों ने कितनी प्रकार के उलाहने देकर धिक्कारा है। दूतिकाओं द्वारा जिन नई अबलाओं को केलि-कुंज में 'चुराय' कर मंगवा लेता था और सभी प्रकार की काम-क्रीड़ाएँ करता था, अब उनका ध्यान तक नहीं रहा, तड़पन की पुकार तो क्या सुननी थी—उन्हीं अंगों पर धूल रमा कर योग का अभ्यास करने का संदेश देकर ऊधो को भेजा है और खुद कूबरी से नहीं ऊबता। जीवन में सभी प्रकार का कठोर तथा निर्दय व्यवहार करने के बावजूद भी 'गरीबनिवाज़' तथा 'दीनदयाल' कहलाता है—कहाँ का न्याय है यह। विश्व के अनेक प्रकार के ज्ञान और व्यवहार की बात तो दूर—दूसरे की व्यथा तक को जो नहीं जानता उसे 'सुजान' कहलाने का क्या अधिकार?—

'जानौ न नेक विथा पर की
बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत।' (६८)

जब किसी प्रकार भी वह उनके वस में नहीं आता, तो विवश होकर उन्हें कहना ही पड़ता है, कि प्रेम करके पहले जीवन में ही तुमने कौन-सा सुख दिया है, जो अब उसका बदला ले रहे हो—

'सुख कौन सो प्यारे दियो पहले
जेहि के बदले यों सताय रहे।' (१२२)

भाषा की शोभा को बढ़ाने वाले अलंकारों का भारतेन्दु ने प्रेम-माधुरी में प्रयोग किया है, लेकिन इतना अधिक नहीं कि वे भाव को ही दवा दें। विषयानुसार उनका सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग निश्चित ही भाषा और भाव के सौन्दर्य को बढ़ाता है। शब्दालंकारों का प्रयो[illegible] अनुप्रास

१२ पदों में उनके कटु-मधुर व्यंग बड़े तीखे एवं तिलमिला देने वाले बन पड़े हैं। १५, २० पदों में संयोग की अन्यान्य अवस्थाओं के चित्र देखने को मिलते है। कहीं कुंजों की काम-क्रीड़ा है, तो कहीं वासक-सज्जा अपने ही रूप पर मोहित हो रही है। संयोग के इन चित्रों में मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले सम्भोग के भी ४, ५ चित्र मिलते हैं। ८, १० पदों में गोपियों के हाव-भावों का भी बड़ा ही सरस चित्रण हुआ है। नारी सौन्दर्य के चित्र अपेक्षाकृत कम ही है। हाँ ! कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने वाली गोपियों ने उनके सौन्दर्य के दर्शन अवश्य ५, ७ पदों में करवाये हैं। १०, १२ पदों में उन्होंने प्रेम के स्वरूप व गुणों पर भी प्रकाश डाला है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण भी १०, १२ पदों में मिलता है।

ध्यान से देखने पर पता चलता है, कि परम्परागत-पद्धति को अपनाते हुए भी इन्होंने अपनी बौद्धिकता के स्पर्श से इसे अधिक स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। शास्त्रीय नायक-नायिका भेद को इसमें कोई स्थान नहीं। विरह की अन्यान्य दशाओं का चित्रण परम्परीण होते हुए भी परम्परागत औपचारिकताओं से अछूता ही है, इसीलिए वह भाव-प्रबल, सरस एवं हृदय-स्पर्शी बन पड़ा है। विरह-दग्धा गोपियों में वासक-सज्जा के सौंदर्य का उभार कहाँ ? इसीलिए नारी-सौन्दर्य का भी अनावश्यक-चित्रण इसमें प्राप्त नहीं। हाँ ! कन्हैया के जिस रूप ने उन्हें मोहित किया था, उसकी छवि के दर्शन होने स्वाभाविक हैं और यही कवि ने किया है। भक्ति की अनन्यता, एकाग्रता, तल्लीनता एवं निरन्तर तड़पन से प्रेम को आप्लावित कर उन्होंने लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में उसका महत्त्व बढ़ा दिया है। ऋतुओं के अनुरूप ही प्रकृति-चित्रण हुआ है, अतः वह भी सहज और स्वाभाविक ही है। जहाँ तक कला-पक्ष का सम्बन्ध है, वह भाव-पक्ष पर कहीं भी हावी नहीं हुआ है। भारतेन्दु न तो अलंकारों में ही उलझे हैं और न ही चमत्कार के चक्कर में वे विषय की भाव-प्रवणता को भूले हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके काव्य में कला की सजावट नहीं। रीति-कालीन काव्य को समझने के लिए काव्य-शास्त्र का बोध आवश्यक था, लेकिन भारतेन्दु का काव्य ऐसे विशिष्ट वर्ग के लिए न होकर जन-सामान्य के हृदय को रसाप्लावित करने के लिए बना है। इसीलिए इसकी भाषा विषयानुरूप होते हुए भी सरल, स्पष्ट एवं सरस है। भाषा और भावों को सशक्त बनाने के लिए ही अलंकारों का स्वाभाविक रूप से ही प्रयोग हुआ है। जन समाज में प्रचलित मुहावरों 'अपने पग आप कुठार मैं दीनों' अथवा 'जल-पान कौं पूछनी जात नहीं' के' प्रयोग ने इस कृति को अधिक लोक-प्रिय बना दिया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, कि भारतेन्दु ने परम्परीण विषयों को अपनाकर भी उन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। उन पर से औपचारिकता का आवरण हटाकर भावुकता के माध्यम से प्राण-तत्त्व का संचार किया है। काव्य-

'निगोरे' विशेषण कितना जँचता है, इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं—'बादर निगोरे झुकि-झुकि बरसँ लगँ।'

सम्पूर्ण काव्य में कवि की सूक्ष्मीक्षणी दृष्टि का परिचय मिलता है। भाव तथा भाषा दोनों में ही इसका मंजुल समन्वय हुआ है। उनका काव्य विश्लेषण से अधिक अस्वादन का विषय है। बहुत-सी पंक्तियों में यह भी पता नहीं लगता, कि काव्य सौन्दर्य कहाँ है, लेकिन कुल मिलाकर सहृदय अनायास ही उसका रसास्वादन करता रहता है। वस्तुतः यही उत्कृष्ट-काव्य की कसौटी है—सहृदय का काव्य रस में लीन होना, उसके साथ तादात्म्य हो जाने के बाद। इस दृष्टि से प्रेम-माधुरी' सफल काव्य है।

---

१२ पदों में उनके कटु-मधुर व्यंग बड़े तीखे एवं तिलमिला देने वाले बन पड़े हैं। १५, २० पदों में संयोग की अन्यान्य अवस्थाओं के चित्र देखने को मिलते हैं। कहीं कुंजों की काम-क्रीड़ा है, तो कहीं वासक-सज्जा अपने ही रूप पर मोहित हो रही है। संयोग के इन चित्रों में मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले सम्भोग के भी ४, ५ चित्र मिलते हैं। ८, १० पदों में गोपियों के हाव-भावों का भी बड़ा ही सरस चित्रण हुआ है। नारी सौन्दर्य के चित्र अपेक्षाकृत कम ही है। हाँ! कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने वाली गोपियों ने उनके सौन्दर्य के दर्शन अवश्य ५, ७ पदों में करवाये हैं। १०, १२ पदों में उन्होंने प्रेम के स्वरूप व गुणों पर भी प्रकाश डाला है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण भी १०, १२ पदों में मिलता है।

ध्यान से देखने पर पता चलता है, कि परम्परागत-पद्धति को अपनाते हुए भी इन्होंने अपनी बौद्धिकता के स्पर्श से इसे अधिक स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। शास्त्रीय नायक-नायिका भेद को इसमें कोई स्थान नहीं। विरह की अन्यान्य दशाओं का चित्रण परम्परीण होते हुए भी परम्परागत औपचारिकताओं से अछूता ही है, इसीलिए वह भाव-प्रबल, सरस एवं हृदय-स्पर्शी बन पड़ा है। विरह-दग्धा गोपियों में वासक-सज्जा के सौंदर्य का उभार कहाँ? इसीलिए नारी-सौन्दर्य का भी अनावश्यक-चित्रण इसमें प्राप्त नहीं। हाँ! कन्हैया के जिस रूप ने उन्हें मोहित किया था, उसकी छवि के दर्शन होने स्वाभाविक हैं और यही कवि ने किया है। भक्ति की अनन्यता, एकाग्रता, तल्लीनता एवं निरन्तर तड़पन से प्रेम को आप्लावित कर उन्होंने लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में उसका महत्त्व बढ़ा दिया है। ऋतुओं के अनुरूप ही प्रकृति-चित्रण हुआ है, अतः वह भी सहज और स्वाभाविक ही है। जहाँ तक कला-पक्ष का सम्बन्ध है, वह भाव-पक्ष पर कहीं भी हावी नहीं हुआ है। भारतेन्दु न तो अलंकारों में ही उलझे हैं और न ही चमत्कार के चक्कर में वे विषय की भाव-प्रवणता को भूले हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके काव्य में कला की सजावट नहीं। रीति-कालीन काव्य को समझने के लिए काव्य-शास्त्र का बोध आवश्यक था, लेकिन भारतेन्दु का काव्य ऐसे विशिष्ट वर्ग के लिए न होकर जन-सामान्य के हृदय को रसाप्लावित करने के लिए बना है। इसीलिए इसकी भाषा विषयानुरूप होते हुए भी सरल, स्पष्ट एवं सरस है। भाषा और भावों को सशक्त बनाने के लिए ही अलंकारों का स्वाभाविक रूप से ही प्रयोग हुआ है। जन समाज में प्रचलित मुहावरों 'अपने पग आप कुठार मैं दीनों' अथवा 'जल-पान कै पूछनी जात नहीं' के' प्रयोग ने इस कृति को अधिक लोक-प्रिय बना दिया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, कि भारतेन्दु ने परम्परीण विषयों को अपनाकर भी उन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। उन पर से औपचारिकता का आवरण हटाकर भावुकता के माध्यम से प्राण-तत्त्व का संचार किया है। काव्य-

कितने प्रातिभ 'नये कवि' प्रकाश में आ रहे हैं।

यदि 'नई कविता' के फैशन और प्रचारात्मक आतंक से मुक्त होकर विचार किया जाय तो विदित होगा कि वर्तमान हिन्दी 'नई कविता' ने मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और निराला तो क्या अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसा भी कोई दीर्घ-जीवी कवि अब तक नहीं दिया है। आधुनिक हिन्दी कविता में वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, तुलसीदास आदि विश्व-कवियों की परम्परा में यदि किसी का नामोल्लेख किया जा सकता है, तो वे मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय, निराला आदि कुछ इने-गिने कवि ही हैं। हमारा निश्चित मत है कि जहाँ हिन्दी के अनेक वर्तमान कवि—नये कवि—काल की पट्टी पर नहीं ठहर पायेंगे ('नई कविता' के आचार्य अज्ञेय और साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत उनकी रचना 'आँगन के पार द्वार' भी नहीं), वहाँ अपने 'प्रियप्रवास' के कारण उपाध्याय 'हरिऔध' जमे रहेंगे।

निश्चय ही 'प्रियप्रवास' और उसके लेखक की इस अमरता का रहस्य है 'प्रियप्रवास' में भाव-उदात्तता। वास्तव में 'प्रियप्रवास' की शक्ति न तो उसके भाषा-प्रयोग में विशेष है, न ही कुछ छन्द-शैली प्रयोग में (यद्यपि कवि ने नई भिन्नतुकांत संस्कृत छन्द-शैली का पहली बार सफल प्रयोग किया है), न केवल भाव और रस-चित्रण में, अपितु उदात्त रस-चित्रण में ही उसकी वास्तविक शक्ति दिखाई देती है। कवि की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि पहली बार कृष्ण-काव्य को उसने जीवन की उदात्तता से सम्बद्ध किया है। समस्त प्राचीन कृष्ण-काव्य में कृष्ण-प्रेम की अभिव्यंजना इन तीन रूपों में हुई है—एक है सूरदास, मीरां आदि का स्पष्ट कृष्ण-भक्ति-राग, दूसरा विद्यापति, नंददास, कृष्णदास आदि भक्तिकालीन कवियों का कृष्ण-प्रेम जिसके मूल में तो एक विशिष्ट भक्ति-पद्धति ही है, किन्तु सामान्य प्रमाता को भक्ति-भाव की अनुभूति अत्यन्त क्षीण रूप में होती है; तीसरा रूप है रीतिकालीन स्पष्ट लौकिक कृष्ण-प्रेम। यह समस्त प्राचीन कृष्ण-काव्य एक भावुकतापूर्ण प्रेम-आलाप-प्रलाप ही प्रतीत होता है, जिसमें जीवन की अनेकानेक उदात्त अनुभूतियों की न्यूनता ही रही है। सूरदास, मीरां आदि कुछ गिने-चुने कवियों में भक्ति-भाव की प्रत्यक्ष उदात्तता अवश्य है, किन्तु यह भक्ति भी; एक विशिष्ट रागानुगा होने के कारण, जीवन की सीमित अनुभूतियों को ही समाविष्ट कर सकी है। तुलसी के राम-भक्ति-काव्य-जैसी उदात्तता इसमें नहीं आ पाई। मैं समझता हूँ, वैविध्यपूर्ण उदात्त जीवनानुभूतियों की कमी ही कृष्ण-काव्य की दुर्बलता रही है। काश! कि यह अभाव इसमें न रहता तो अपने माधुर्य, लालित्य, सरसता और कलात्मकता आदि गुणों के कारण हमारा प्राचीन कृष्ण-काव्य विश्व-साहित्य में बेजोड़ होता। सौन्दर्य और आनन्द के कवि सूरदास का कलापक्ष 'प्रियप्रवास' से कहीं ऊँचा है और वात्सल्य तथा शृंगार रस के संचारी भावों का विस्तृत मनोविज्ञान भी सूर में अधिक

और अब इन्हीं को दर्शन के लाले पड़े हैं, अतः रो-रोकर इनका बुरा हाल है और 'नैनन में हाले परे जाले परे' जब इनको किसी भी प्रकार प्रिय के दर्शन नहीं होते, तो 'नैन कुम्हिलान लागैं' (१०५)। लेकिन विरहिणी की आँखों में अद्भुत दृढ़ता, शक्ति और सामर्थ्य है। जीते जी यदि ये 'दुखिया अखियाँ' प्रिय के दर्शन न कर सकीं तो क्या ? मर कर भी ये उसकी प्रतीक्षा करती ही रहेंगी—मरणोपरान्त खुली रहकर—

'बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय।
मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥' (१२९)

हद है विश्वास की और लगन की।

काम-ताप से पीड़ित अंगना की तड़पन का कोई अंत नहीं, तो वह कहती है कि अभी तो सम्पूर्ण यौवन अवशेष है, तो यह कैसे बीतेगा। उसे बुलाने के वह सभी प्रयत्न करती है। कभी समझाने वाली सहेलियों के हाथ संदेशा भेजती है, तो कभी अन्यान्य उपालम्भ देकर अपना संतोष करती है कि कहीं किसी उपालम्भ का असर हुआ, तो प्रिय चले आवें, लेकिन जब न तो कोई प्रत्युत्तर ही मिलता है और न ही मिलन की कोई आशा दिखाई देती है, तो कहती है, कि हमारी इस दुर्दशा को जान-कर भी तुम पसीज कर न आये, तो—'तुमरे निरदैपनहू की चलैंगी कहानियाँ।'(३२)

तुम्हारे लिए सारे जग में दिवानी-सी घूमते हुए हमने कौन-सी बदनामी नहीं पाई। गुरुओं के किस किस त्रास को तथा विश्व के किस ताप को नहीं सहा। तुम्हें पाने के लिए किस 'गिरि बन कुंज' में नहीं पहुँची, इतना ही नहीं—

'होनी अनहोनी कीनी सब ही तिहारे हेतु।
तऊ प्रान-प्यारे भेंट तुम सों भई नहीं॥' (८१)

उनके प्रेम के विकास की कहानी बहुत सीधी है। पहले रूप-माधुरी का पान कराकर उन्हें मोल ले लिया, पुनः बाल-गुड़ी की डोर की तरह उस प्रेम को बढ़ा लिया और दुःख की बात यह है कि अब उसे तोड़ दिया। ऐसी अवस्था में वे बेचारी क्या करें ? जिसके लिए गोपियों ने संसार के सब कष्ट सहे और सब प्रकार की बदनामी भी सही, उसी प्रेम के बन्धन को 'उन तोरत बार कछु न लगाई।' (१०८) और सच बात तो यह है, कि—

'मन मोहन ते बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।'

तथा जब से प्रेम के फंद में पड़ी हैं, तभी से 'बिहै बिरहागन रैन सँजोवती है' और इस बात को और कोई क्या जाने, कि हम रात कैसे बिताती हैं—

'हम ही अपनी सदा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधों रोवती हैं।' (११६)

निरन्तर रुदन तथा अनवरत विरह-ताप में दग्ध होने के कारण आँखें लाल हो गईं, मुख पीला पड़ गया तथा देह की शोभा नष्ट हो गई, लेकिन उसकी साँवरी

पर वह पौराणिक रूप यथार्थ जीवन की उदात्त प्रवृत्तियों और उदात्त मानवीय संवेदनाओं को जगाने में विशेष सहायक सिद्ध नहीं हो सका था। 'हरिऔध' जी ने राष्ट्रप्रेम, जाति-सेवा-रक्षा तथा उदात्त मानवता की उच्च भावनायें प्रस्तुत करके चिर पुरातन आलम्बन को विश्वसनीय एवं ग्राह्य उदात्त रूप दिया है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि कृष्ण-आलम्बन को नवयुग की आवश्यकता तथा भावना के अनुरूप यथार्थ उदात्त या महान् बनाने से ही 'प्रियप्रवास' में उदात्त रस की सिद्धि हुई है। यदि 'प्रियप्रवास' की प्रबन्ध-योजना से छठे, ११वें, १२वें, १३वें और १६वें सर्गों को निकाल दिया जाय, जिनमें उदात्त मानवीय संवेदनाओं तथा कृष्ण के लोकसेवी रूप की प्रतिष्ठा हुई है, तो शेष सारा काव्य एक परम्परागत भावुकतामय प्रेम-प्रलाप-मात्र बनकर रह जायेगा। शास्त्रीय दृष्टि से शृङ्गार, वात्सल्य आदि रस तो तब भी विद्यमान रहेंगे, क्योंकि नन्द-यशोदा, ग्वाल-गोपिका आदि के प्रेम और विरह की व्यंजना अन्य सर्गों में भी बराबर पाई जाती है। परन्तु प्रेम और विरह को उदात्त एवं औचित्यपूर्ण बनाने वाले अंशों के अभाव से उसमें उदात्तता और महानता प्रतीत नहीं होगी—उदात्त रस की सिद्धि विशेष न होगी।

इस प्रसंग में 'प्रियप्रवास' के रस-भाव को उदात्त बनाने वाले तत्त्वों की व्याख्या करना आवश्यक है। ज़ाहिर है कि 'प्रियप्रवास' की प्रमुख भाव-संवेदना प्रेम है। प्रेम का वियोगपक्ष ही इसमें आद्योपांत प्रकट हुआ है। इस प्रेम के आलम्बन श्री कृष्ण को 'हरिऔध' जी ने जहाँ एक ओर सौन्दर्य की अनुरंजनकारी मूर्ति के रूप में प्रकट किया है, वहाँ दूसरी ओर कृष्ण के लोक-सेवी रूप की भी प्रतिष्ठा की है। व्रजभूमि पर आई विपत्तियों को देख कृष्ण का हृदय मर्माहत हो उठता था। व्रज की रक्षा-हेतु कृष्ण ने कालिय-नाग का दमन किया। उनका जीवन-संकल्प था :

प्रवाह होते तक शेष-श्वास के।
स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित सर्वभूत का ॥११।२७॥

दावानल के प्रकोप से भी कृष्ण ने ही ग्वाल-बाल-गोप-गायों को बचाया। कृष्ण ने अपने साथियों को भी प्रेरणा दी : "स्व-जाति-उद्धार महान् धर्म है। चलो पावक में प्रवेश करें और निज जाति को सधेनु बचा लें।" और प्राणों की चिंता न करके कृष्ण अग्नि में कूद पड़े। जल-प्लावन से भी कृष्ण ने ही व्रज-मण्डल की रक्षा की थी। उनका अपूर्व बुद्धि-चातुर्य, अदम्य उत्साह-साहस, कर्त्तव्य-भावना, परदुख-कातरता आदि गुण उन्हें जन-जन का प्यारा बना देते हैं। ऐसे लोकोद्धारक के प्रवास का दुःख भला व्रजवासियों को क्यों न होता ! बाढ़ से पीड़ित प्रत्येक प्राणी को कृष्ण ने

गुण-गान—'करिकै उनके गुन-गान सदा अपने दुख को विसरावते हैं।' (११५)

पहले समागम और मिलन के काल्पनिक चित्रों के माध्यम से विरहिणी अपनी स्मृति को उभार कर और अधिक उद्वेलित होती है। कहीं वह अब भी सावन में प्रिय के साथ झूलनेवालियों से ईर्ष्या करती है, तो कहीं स्मरण करती है कि अब 'कौन उर लाइ काम-ताप निवारि है।' (६६)

विरहिणियों के उपालम्भ बड़े सशक्त हैं। वे कहती हैं, पहले प्रेम बढ़ाया और अब भागते हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती। और जब ऊधो ज्ञान का संदेश लेकर आया, तो उन्होंने कहा—क्या खूब स्वयं तो कूबरी से नहीं ऊबे और हमें ज्ञान का संदेशा भेजा है। हम अबलाओं को मारते हो, क्या यही तुम्हारी बहादुरी है। उन्हें विधि से भी शिकायत है, कि सारा जग छोड़कर 'वृजवासी वियोगिन के घर में······क्यों जनमाई हमैं' और फिर 'सबको जहाँ भोग मिल्यौ वहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे परयो।'(१४) दूसरों की व्यथा को न जान कर भी 'सुजान' कहलाते हो और तुम्हारे 'दीनदयाल' तथा 'करुणानिधि' नामों की सार्थकता कहाँ ? जिन पर तुमने कृपा की थी, उन्हीं के प्रति रुखाई दिखाते हो—

'ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यौ तो गरीब-नेवाज क्यौं नाम धरायो।' (३६)

जब इतना सब कहने पर भी प्रिय पर कोई असर नहीं होता, तो विरहिणी कहती है कि—

'पाहन सो मन होते सबै अंग कोमल क्यौं करतार बनायो।'

जब मन पत्थर के समान कठोर है, तो कर्त्तार ने तुम्हारे अंग क्योंकर कोमल बनाए हैं ?

दुख में साथ न देने वाली बचपन की सहेलियों को भी विरहिणियों ने आड़े हाथों लिया है। पहले तो वे ही प्रेम-क्रीड़ाओं के लिए उकसाती थीं, रात-दिन साथ रहती थीं तथा सब बातें सुनती थीं, और अब वे उल्टा ही समझाने लगी हैं। तंग आकर विरहिणी कहती है कि—

'लागि न जाय कलंक तुम्हे कहूँ दूर रहो संग लागि न डोलो।' (६५)

और जब-जब ऊधो ने या सखियों ने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया है तो उन्होंने कहा कि हमें बातें बनाकर बेकार क्यों समझाती हो ? समझने वाला होता है मन, और वह तो हमारे पास है ही नहीं—

'सजनी मन पास नहीं हमरे तुम कौन को का समुझावती हो।' (११४)

मन ही क्या, उनकी तो सभी इन्द्रियाँ पर-वश हो चुकी हैं, उनके अपने वस में कुछ भी नहीं, अतः उनके कुछ समझने की बात ही नहीं बनती।

विरह की तड़पन की तरह ही संयोग के आह्लाद का भी अपना ही महत्त्व होता है। सुखद मिलन की स्मृति और आशा ही वियोग के दिन काटने में सहायक सिद्ध होती है।

पर वह पौराणिक रूप यथार्थ जीवन की उदात्त प्रवृत्तियों और उदात्त मानवीय संवेदनाओं को जगाने में विशेष सहायक सिद्ध नहीं हो सका था। 'हरिऔध' जी ने राष्ट्रप्रेम, जाति-सेवा-रक्षा तथा उदात्त मानवता की उच्च भावनायें प्रस्तुत करके चिर पुरातन आलम्बन को विश्वसनीय एवं ग्राह्य उदात्त रूप दिया है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि कृष्ण-आलम्बन को नवयुग की आवश्यकता तथा भावना के अनुरूप यथार्थ उदात्त या महान् बनाने से ही 'प्रियप्रवास' में उदात्त रस की सिद्धि हुई है। यदि 'प्रियप्रवास' की प्रबन्ध-योजना से छठे, ११वें, १२वें, १३वें और १६वें सर्गों को निकाल दिया जाय, जिनमें उदात्त मानवीय संवेदनाओं तथा कृष्ण के लोकसेवी रूप की प्रतिष्ठा हुई है, तो शेष सारा काव्य एक परम्परागत भावुकतामय प्रेम-प्रलाप-मात्र बनकर रह जायेगा। शास्त्रीय दृष्टि से शृङ्गार, वात्सल्य आदि रस तो तब भी विद्यमान रहेंगे, क्योंकि नन्द-यशोदा, ग्वाल-गोपिका आदि के प्रेम और विरह की व्यंजना अन्य सर्गों में भी बराबर पाई जाती है। परन्तु प्रेम और विरह को उदात्त एवं औचित्यपूर्ण बनाने वाले अंशों के अभाव से उसमें उदात्तता और महानता प्रतीत नहीं होगी—उदात्त रस की सिद्धि विशेष न होगी।

इस प्रसंग में 'प्रियप्रवास' के रस-भाव को उदात्त बनाने वाले तत्त्वों की व्याख्या करना आवश्यक है। जाहिर है कि 'प्रियप्रवास' की प्रमुख भाव-संवेदना प्रेम है। प्रेम का वियोगपक्ष ही इसमें आद्योपांत प्रकट हुआ है। इस प्रेम के आलम्बन श्री कृष्ण को 'हरिऔध' जी ने जहाँ एक ओर सौन्दर्य की अनुरंजनकारी मूर्ति के रूप में प्रकट किया है, वहाँ दूसरी ओर कृष्ण के लोक-सेवी रूप की भी प्रतिष्ठा की है। ब्रजभूमि पर आई विपत्तियों को देख कृष्ण का हृदय मर्माहत हो उठता था। ब्रज की रक्षा-हेतु कृष्ण ने कालिय-नाग का दमन किया। उनका जीवन-संकल्प था :

प्रवाह होते तक शेष-श्वास के।
स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित सर्वभूत का ॥११।२७॥

दावानल के प्रकोप से भी कृष्ण ने ही ग्वाल-बाल-गोप-गायों को बचाया। कृष्ण ने अपने साथियों को भी प्रेरणा दी : "स्व-जाति-उद्धार महान् धर्म है। चलो पावक में प्रवेश करें और निज जाति को सधेनु बचा लें।" और प्राणों की चिंता न करके कृष्ण अग्नि में कूद पड़े। जल-प्लावन से भी कृष्ण ने ही ब्रज-मण्डल की रक्षा की थी। उनका अपूर्व बुद्धि-चातुर्य, अदम्य उत्साह-साहस, कर्त्तव्य-भावना, परदुख-कातरता आदि गुण उन्हें जन-जन का प्यारा बना देते हैं। ऐसे लोकोद्धारक के प्रवास का दुःख भला ब्रजवासियों को क्यों न होता ! बाढ़ से पीड़ित प्रत्येक प्राणी को कृष्ण ने

'जब धाय गही 'हरिचन्द' पिया तब बोली अजू तुम मोही छला।
मोंहि लाज लगै बलि पाँव परौं दिन हीं इहा ऐसी न कीजै लला ।।' (१०७)

लेकिन कामोत्तेजित नन्दलाल पर अबला की विनती का क्या प्रभाव ? ऐसे मौके पर अपनी रक्षा तो उन्हें स्वयं ही करनी पड़ती है—

'अंक में लेत छल्यो छलकै बलकै तब आप छोड़ाय कै बाँहीं।
हाथन सों गहि नीवी कह्यो पिय नाँहीं जू नाँहीं जू नाँहीं जू नाँहीं ।।' (१०६)

और जब सोर नसावन सावन आता है, तो वे यमुना-तट पर गा बजा कर आनन्दमग्न हो जाती हैं, और—

'बलि झूलो झुलावो झुको उझको यही पावैं पतिव्रत ताखैं धरो ।।' (१२०)

और जब एक पक्ष के लिए पातिव्रत्य को ही ताक पर रख दिया, फिर क्या था—

'साजि सेज रंग के महल मैं उमंग भरी
पिय गर लागी काम-कसक मिटाएं लेत।'

लेकिन मात्र व्यंजना से कवि संतुष्ट न हो सका और अभिधा का आश्रय लेकर वह अपनी मर्यादा को भी सुरक्षित न रख सका—

'याद करि पी की सब निरदय घातें आजु
प्रथम समागत को बदलो चुकाएँ लेत ।।' (१०२)

इस प्रकार कल्पना-जगत् में ही रति का आनन्द लेने वाली प्रेमिका को अपने एकाकीपन का आभास तब हुआ, जब वस्तुतः लाल आगया और तब ऐसी स्थिति कितनी देर और रह सकती थी ? जब सुबह सोती हुई को एक ने जगाया, तो कोई उसके बिखरे मोतियों को बीनने लगी, तो कोई वेणी गूंथने लगी, कोई 'नख-छत' टोह रही थी, इस प्रकार 'बसन' के दाग धोते हुए सब सहेलियाँ हंसने लगीं और फिर पूछने लगीं कि क्या पिय से अलग होने के कारण ही तुम्हारा 'नील पट' पीला पड़ गया है। 'नख-दंत' के दाग़ को लेकर 'खरी ढिग सास के ढीठ जिठानी' अभी मखौल ही कर रही थी, कि—

'ओढि कै चादर रात के सेज की सामने ही ननदी चलि आवै ।।' (७३)

और वह बेचारी इतनी भोली है, कि गुरुजनों के सामने ही सास को शिकायत करने चली आई, लाल की—जिसने रात को उसकी ऐसी दशा की है। सहेलियों को हँसने का इससे अच्छा और कौन सा मौका मिल सकता है—

'बैठे सबै गुरु लोग जहाँ तहाँ आई, बधू लखि सास भई खरी।
देह उराहनो लागी तबै निसि को अलि भोरी न जानत रीत री।
ढीठ तिहारो बड़ो 'हरिचन्द' न देखत मेरी सु ऐसी दसा करी।
आँचर दीनो सखि मुख मैं कहि सारी फटी तो बनाइ है दूसरी ।।' (३८)

स्वाभाविक रूप में प्रकट किया है। कृष्ण की अन्य लीलाओं को भी विश्वसनीय स्वाभाविक रूप में ही अपनाया गया है। इससे एक तो कृष्ण के चरित्र में विश्वसनीयता और मनोवैज्ञानिक यथार्थता उत्पन्न हो गई है—कृष्ण का आदर्श आलम्बनत्व प्रतिष्ठित हो गया है, दूसरे ये सभी प्रसंग (लीलाएँ) यथार्थ उदात्त भावानुभूतियों को जगाने वाले स्वाभाविक प्रसंग बन गए हैं।

'हरिऔध' जी ने मानव-प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म तथा सर्वोच्च भगवद्भक्ति माना है। ईश्वर को उन्होंने परम्परागत अवतारी-रूप में ग्रहण न करके सर्व-भूत में उसकी व्यापक सत्ता के सिद्धान्त को माना है। एक पत्र में उन्होंने स्वर्गीय गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश जी को लिखा था : "भगवान् कृष्णचन्द्र में अब भी मुझ को श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशिता और अकर्मण्य-दोष-दूषिता नहीं है। ईश्वर एकदेशीय नहीं है। वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है; प्राणिमात्र में उसका विकास है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह ना नास्ति किंचन,'···। मानव प्राणि-समूह का शिरोमणि है, उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समधिक है। इसलिए वह प्राणि-श्रेष्ठ है, 'अशरफुलमखलूकात' है। अतएव मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है—यही अवतारवाद है।···मानवता त्यागकर ईश्वर की चरितार्थता नहीं होती, अतएव मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है।"

इस प्रकार ईश्वर, धर्म, भक्ति आदि सभी पौराणिक-दार्शनिक तत्त्वों को नवीन जीवनवादी रूप प्रदान करना कवि की अद्भुत विशेषता है। व्यक्तिगत मुक्ति-साधन की अपेक्षा त्यागपूर्ण परोपकारी जीवन कहीं अधिक श्रेयस्कर है :

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारी, सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है ॥१६।४२॥

भागवतपुराण एवं प्राचीन कृष्ण-काव्य में जो उद्धव-गोपी-संवाद-प्रसंग या परम्परागत भ्रमरगीत पाया जाता है, वह भी उस रूप में 'प्रियप्रवास' में नहीं है। यहां उसे भी जीवनवादी रूप प्रदान किया गया है। कृष्ण गोपियों एवं राधा को लोक सेवा तथा परोपकार का ही उपर्युक्त संदेश भेजते हैं, और राधा जो भाव एवं विचार ग्रहण करती है वे कितने उदात्त, कितने उच्च मानवतावादी हैं, यह पढ़ते ही बनता है। इन्द्रिय-निग्रह एवं वैराग्य-साधन को ठुकराती हुई राधा कहती है :

जिह्वा नासा, श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य को क्यों तजेंगे।

सालि सालि जात आधे आधे नैन-बान तेरे
घूंघट की फहरानि फहरि फहरि उठै ।।' (३६)

और इसी में नारी के सौंदर्य की सफलता है।

प्रकृति-सौन्दर्य ने कवि को मोहित न किया हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन इस काव्य में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण न कर कवि ने उद्दीपन के लिए ही उसका उपयोग किया है। सावन और बसंत उसे विशेष प्रिय हैं। संयोग कराने में या उसकी याद दिलाने में इन्हीं का विशेष योग है। कोयलों की कूकू, दादुरों का बोलना तथा मोरों का नाचना देखकर किस संयोगी का हृदय प्रसन्न न होगा। इतना ही नहीं, सब जगह हरियाली छा गई, ठण्डी हवा चलने लगी, वर्षा की ऋतु आई और 'निगोरे बादल' झुक झुक कर बरसने लगे, इसीसे तो प्रेमियों के मिलने के लिए 'प्रान तरसैं लगै।' बादलों की घटा घिर कर चारों ओर छा गई है तब भी न जाने क्यों प्राननाथ सुरति बिसारी है। विरहिणी धैर्य कैसे धारण कर सकती है; जबकि सावन की रात द्रौपदी की साड़ी की तरह समाप्त न होकर लम्बी ही होती जाती है। और उससे पुरानी सब स्मृतियाँ भी तो उभर कर आती हैं, फिर धैर्य कैसा ?

'ऐहै कौन झूलन हिंडोरे बैठि संग मेरे
कौन मनुहारि करि भुजा कंठ धारिहै।
'हरीचन्द' भींजत बचैहै कौन भींजि आप
कौन उर लाइ काम-ताप निरवारी है।
मान पर्म पग परि कौन समुझैहै हाय
कौन मेरी प्रानप्यारी कहि कै पुकारिहै ।।' (६६)

श्याम श्यामा संग मन्दिर में बैठे थे तब—

'घन घहरात बरसात होत जात ज्यौं ज्यौं
त्योंही त्यौं अधिक दोऊ प्रेम पुंज पागे हैं।' (२२)

और पातिव्रत्य को ताक पर रखकर सारे शोक और लज्जा को दूर कर यमुना तट पर गा बजाकर आनन्द मग्न करने वाला यह सावन ही तो है। पतझड़ की समाप्ति और हेमंत के अन्त पर वसंत भी आ गई, शिशिर व हेमन्त की रात्रि छोटी हो गई है तथा 'सुखद समीर' रूखी होकर चलने लगी है। विरहिणियों के लिये तो 'आयो चहैं रातैं फेर दुखद वसंत की।' क्योंकि वसंत का तो वातावरण ही सारा मस्ती और उमंग से भरा हुआ है—

'फूले लागे फूल फेरि बौर वन आम लागे
कोकिलैं कुहूकैं लागीं माती मदमंत की।' (८४)

प्रेम की अग्नि का प्रसार करने के लिए ही तो 'वन वन आग सी लगाई कै पलास फूलैं' तथा 'कोइलैं कुहूकि फिरैं' इस प्रकार 'बाजै लाग्यो जग फेरि काम को नगारो

रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥११७॥

और दुखी-पीड़ित प्राणियों के दुखों को सुनना, लोकनायक महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त सुनना, शास्त्रों और सत् संगियों के उपदेश सुनना ही श्रवण नाम्नी भक्ति है :

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक-उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में ॥११८॥

महापुरुषों के दिव्य गुणों का ऐसा गान जिससे सोई हुई मानवता जागृत हो उठे, अज्ञानी ज्ञान का प्रकाश पा जायें और भटके हुए सुपथ ग्रहण करें, प्रभु की कीर्त्तन भक्ति है। और विद्वानों, देशभक्तों, गुरुजनों, ज्ञानी-दानी गुणीजनों के आगे नमित होना ही प्रभु की वंदनाख्या भक्ति है। लोकहितकारी और सर्वभूतोपकारी ऐसे कार्यों का करना, जिनसे पिछड़ी और गिरी हुई जातियाँ भी उन्नत हो जाती हैं और लोक-सेवा में निरत रहना ही दासता संज्ञका भक्ति है। कंगालों-निराश्रितों-अनाथों, विधवाओं आदि दु.खी प्राणियों का स्मरण-ध्यान रखना ही स्मरण नाम की भक्ति है :

कंगालों को विवश विधवा औ अनाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्यों का पर-हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण-अभिधा-भक्ति है भावुकों में ॥ १२२ ॥

विपद-सिंधु में पड़े हुए प्राणियों के दुख-निवारण तथा हितार्थ अपने तन-प्राण को 'अरपना' ही आत्म-निवेदन भक्ति है। संत्रस्तों को शरण देना, संतापितों को शीतल शांति, निर्बोधों को सुमति, पीड़ित-रोगियों को औषधि, तृषित-जन को पानी तथा भूखे को अन्न देना ही श्रेष्ठ अर्चना है। और जड़-चेतन सब का सच्चा सुहृद होना ही सख्य भक्ति है।

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दूर्वा से द्यु-मणि तक है व्योम में या धरा में।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य-नाम्नी ॥ १२५ ॥

पग की तरह पतित और दलितजनों की सेवा ही पाद सेवनाख्या भक्ति है :

जो प्राणी-पुंज निज कर्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग-सा पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोकपति की पद-सेवनाख्या ॥ १२६ ॥

कसौटी त्याग की भावना पर भी खरी उतरती है। इसीलिए तो मोह पर त्याग को विजयी बताते हुए दूर जाते हुए कृष्ण को वे रोक न सकीं। शारीरिक प्रेम भारतेन्दु के प्रेम का अंग अवश्य है और उसी का बहुतायत से उल्लेख भी हुआ है परन्तु प्रेम की गहनता की भावभूमि केवल यहीं तक सीमित नहीं।

भारतेन्दु की कल्पनाशक्ति बड़ी सरस एवं उर्वर है। परिस्थिति के अनुरूप ही सौन्दर्य का सृजन कर वे हृदय-ग्राही प्रभाव छोड़ जाते हैं। रही विरहिणी के लिए 'सावन की रात' 'द्रौपदी की सारी' की तरह अन्तहीन है, तो कहीं प्रिय से वियोग होने पर विरह के कारण न केवल वह स्वयं पीली पड़ गई है, अपितु उसके वस्त्र भी पीले ही प्रतीत होते हैं। लेकिन वस्त्रों का यह पीलापन अधिक देर नहीं रह सकता, श्याम जो हृदय में बैठा है, अतः वह पीत कंचुकी भी हरी हो जाती है—

'श्याम बसैं उर मैं नित ताही सों पीतहू कंचुकी होत हरी है।' (७८)

वियोग-वर्णन तथा प्रकृति-चित्रण में उनके कल्पना जगत् के सौन्दर्य का उल्लेख पहले ही हो चुका है।

भावों को वहन करने के लिए सरल एवं स्पष्ट होते हुए भी सरस तथा प्रभावोत्पादक भाषा ही काव्य का गौरव है। 'प्रेम-माधुरी' में प्रयुक्त भारतेन्दु की ब्रजभाषा इस दृष्टि से इतनी सफल बन पड़ी है, कि उसके अर्थ को समझने के लिए कहीं भी कोष को उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती—अतः अनायास ही उसकी भावप्रेषणीयता उत्तम-कोटि की कही जा सकती है, ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह स्पष्ट है। इसीलिए बहुत से स्थलों पर उसके अर्थ की व्याख्या तक नहीं की गई। यह सरलता और स्पष्टता इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, कि मुक्तक-काव्य में भी एक ही रस के प्रवाह में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता, क्योंकि कहीं भी अनावश्यक रूप से मस्तिष्क को खुजलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन अभिधा उसकी साहित्यिक गरिमा को नष्ट न कर दे, अतः या तो उसे सरसता प्रदान की है या व्यंजना का आश्रय लिया गया है। सहेलियों की डांट से बचने के प्रयत्न में उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि हमें क्यों दोष देती हो—

'इन नैनन को सखी दोष सबै हमैं झूठहि दोष लगावती हो।'(५१)

उनकी भाषा में अद्भुत प्रवाह है, जो भावों अथवा भंगिमाओं को तरलता से प्रवाहित किए चलता है और सहृदय भी अनायास ही उसी रस में रमता चलता है। जब निर्दयी प्रिय पर चिर प्रतीक्षा-रत विरहिणी की तड़पन की कोई प्रतिक्रिया ही नहीं होती, तो कैसे उपालम्भ से वह अपने प्रेम के विकास की कहानी को एक ही पद में प्रगट कर देती है—

रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥११७॥

और दुखी-पीड़ित प्राणियों के दुखों को सुनना, लोकनायक महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त सुनना, शास्त्रों और सत् संगियों के उपदेश सुनना ही श्रवण नाम्नी भक्ति है :

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक-उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में ॥११८॥

महापुरुषों के दिव्य गुणों का ऐसा गान जिससे सोई हुई मानवता जागृत हो उठे, अज्ञानी ज्ञान का प्रकाश पा जायें और भटके हुए सुपथ ग्रहण करें, प्रभु की कीर्तन भक्ति है। और विद्वानों, देशभक्तों, गुरुजनों, ज्ञानी-दानी गुणीजनों के आगे नमित होना ही प्रभु की वंदनाख्या भक्ति है। लोकहितकारी और सर्वभूतोपकारी ऐसे कार्यों का करना, जिनसे पिछड़ी और गिरी हुई जातियाँ भी उन्नत हो जाती हैं और लोक-सेवा में निरत रहना ही दासता संज्ञका भक्ति है। कंगालों-निराश्रितों-अनाथों, विधवाओं आदि दु.खी प्राणियों का स्मरण-ध्यान रखना ही स्मरण नाम की भक्ति है :

कंगालों को विवश विधवा औ अनाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्यों का पर-हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण-अभिधा-भक्ति है भावुकों में॥ १२२ ॥

विपद-सिंधु में पड़े हुए प्राणियों के दुख-निवारण तथा हितार्थ अपने तन-प्राण को 'अरपना' ही आत्म-निवेदन भक्ति है। संत्रस्तों को शरण देना, संतापितों को शीतल शांति, निर्बोधों को सुमति, पीड़ित-रोगियों को औषधि, तृषित-जन को पानी तथा भूखे को अन्न देना ही श्रेष्ठ अर्चना है। और जड़-चेतन सब का सच्चा सुहृद होना ही सख्य भक्ति है।

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दूर्वा से द्यु-मणि तक है व्योम में या धरा में।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य-नाम्नी ॥ १२५ ॥

पग की तरह पतित और दलितजनों की सेवा ही पाद सेवनाख्या भक्ति है :

जो प्राणी-पुंज निज कर्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग-सा पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोकपति की पद-सेवनाख्या॥ १२६ ॥

सर्वत्र उपलब्ध ही है। अर्थालंकारों में भी विशेष रूप से साम्य-परक अलंकारों का बहुतायत से सुन्दर प्रयोग हुआ है। कन्हैया की आँखों के सौन्दर्य की तुलना खंजन पक्षी से की है, तो विरहिणियों की रक्त आँखों को 'लाल पलास' के समान बताया है। उनका तन खिली सरसों के फूलों की तरह पीला है। 'पाहन सों मन' कह कर प्रिय की निर्दयता को साकार किया है। विरहिणी कहीं उसके 'मुख की चकोरी' बनी है, तो कहीं 'रूप की हौं चातकी' कह कर उसने अपना मनस्तोष किया है। बाल-गुड़ी की तरह प्रेम को मन चाहा माँझा और डोरी देकर खूब बढ़ा कर पुनः तोड़ देने का सांग रूपक देखते ही बनता है—

'रूप दिखाई कै मोल लियो मन
बाल-गुड़ी बहु रंगन जोरी।
चाहत-माँझो दियो 'हरीचंद'
जू लै अपने गुन की रस डोरी।
फेरि कै नैन परे तन पै
बदनामी की तापै लगाइ पुँछोरी।
प्रीति की चंग उमंग चढ़ाय कै
सो हरि हाय बढ़ाय कै तोरी॥' (८६)

भारतेन्दु ने परम्परागत मुहावरों के स्थान पर नवीन मुहावरों का प्रयोग कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। विरहिणी नायिकाओं को जब प्रिय के दर्शन भी नहीं होते, तो कई बार यह कह कर संतोष करना पड़ता है—'सबै फल आपुने भाग को पावै।' सहेलियाँ प्रेम की अग्नि भड़का कर अब समझा कर उसे शान्त करना चाहती हैं, यह कहाँ तक उचित है। ऊधो बेचारा भी किस-किस को समझावे, दो चार हों, तो ठीक है यहां तो सारी 'मण्डली ही बिगरी है', जिसे उसने बताया है, 'कूप ही में भांग परी है।' सुजान जानकर प्रेम किया था, लेकिन यह तो ऊँची दुकान की फीकी मिठाई वाली बात सिद्ध हुई परन्तु इसके लिए दोषी कौन हैं— 'पानी पीकर जात पूछने वाली'—गोपियां। सच ही तो है, कि इस प्रकार इन्होंने ही 'अपने पग आप कुठार' मारा है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि न केवल भाषा पर उनका अधिकार था अपितु शब्दों की अन्तरात्मा का भी उन्हें ज्ञान था। 'हरि भई भूमि सीरी पवन चलन लागी' यहाँ 'सीरी' शब्द का प्रयोग कितने ठीक भाव को व्यंजित करता है, इसका अनुभव ही किया जा सकता है। हवा केवल ठंडी नहीं है, लेकिन उसका मन्द सुखद स्पर्श भी अनुभव होता है। 'काम को नगारो' का बजना 'रितुन की कंत' बसंत का आगमन—अर्थ से कहीं अधिक भाव-प्रेषणीयता में सहायक सिद्ध होते हैं। बरसात में सुखद संयोग की स्मृति से विरहिणियों को तड़पाने वाले बादल के लिए

शाखापत्रों सहित जब तू केलि में लग्न हो तो।
थोड़ा-सा भी न दुःख पहुँचे शावकों को खगों के ॥ ४४ ॥
तेरी जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शांति-कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कंठ होके।
खोना सारा कलुप उसका शांति-सर्वांग होना ॥ ४५ ॥

राधा के विरह में ऐकान्तिक विरह-वेदना की तल्लीनता और उदार उदात्त प्रवृत्ति दोनों का अद्भुत संगम है। एक ओर वह अपने प्रेम में इतनी दग्ध है कि प्रिय की चरणरज को पाये विना शांति अनुभव नहीं कर सकती, प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा उसके मन में छाई रहती है, किन्तु दूसरी ओर वह इतनी उदारमना है कि दूसरों की व्यथा की तुलना में अपनी व्यथा को कोई महत्त्व नहीं देती और परदुख निवारण ही अपनी चरम आकांक्षा बना लेती है। वह पवन से कहती है कि कमलनयन श्याम के पास पहुँचकर ऐसी चेष्टाएँ करना जिससे उन्हें इस विरह-विधुरा का ध्यान हो जाए। उसके भवन में यदि कोई चित्र विरह-विदग्ध नारी का हो, तो उसे इस प्रकार हिलाना कि प्यारे चकित होकर चित्र की ओर देखें और इस प्रकार उन्हें हमारी सुरति हो। यदि कोई मुरझाया हुआ फूल वहां पड़ा हो तो उसे प्रिय के चरणों पर ला गिराना ताकि उन्हें सुध हो कि कोई फूल-सी बाला उनके विरह में कुम्हला रही होगी :

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला।
म्लान हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है ॥ ७० ॥

"इस प्रकार मेरी सारी व्यथा जता कर तू उनके पाँव की थोड़ी-सी रज ही उड़ा लाना क्योंकि इसके बिना मेरा व्यथित मन शांति नहीं पा सकेगा।"

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित्त को बोध मैं दे सकूंगी ॥ ७७ ॥

अभिलापा और उत्कंठा का एक और मार्मिक उदाहरण निम्न पंक्तियों में देखिए :

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित्त में आज भी सोचती हूँ।

२४

प्रियप्रवास

डॉ० कृष्णदेव झारी

उदात्त रस-भाव को हमने अपनी पुस्तक 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' में काव्य-साहित्य का प्रतिमाण सिद्ध किया है। काव्यानन्द या रस की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि उदात्त रस के रूप में ही प्राप्त होती है, और जिस रचना में उदात्त रस की सिद्धि जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह रचना श्रेष्ठ मानी जायेगी। काल और देश की प्राचीरों को लांघकर वही काव्य युग-युग का सार्वभौम काव्य बनता है जो जीवन की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत होता है—जिसमें उदात्त रस-परिपाक होता है। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, होमर, शेक्सपियर, दांते, गेटे आदि विश्व कवियों का काव्य इस बात का सबूत है कि काल की कसौटी पर उदात्त-रसपूर्ण काव्य ही ठहरता है। बाल्मीकि, वेदव्यास आदि के समय में भी अनेक अन्य कवि रहे होंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे हर युग में होते हैं, आज भी हैं; पर काल की दीर्घ पट्टी से उन सबका नाम साफ़ होता जाता है, जिनकी प्रतिष्ठा काल-विशेष की दूषित-सीमित दृष्टि से प्रचारवाद अथवा 'अभाव में भाव' या अन्य कारणों से हो जाती है और जिनकी रचनाओं में उदात्त रस-परिपाक नहीं हो पाता। हम यह तो नहीं कहते कि उन अनेकानेक अन्य कवियों का कोई महत्त्व नहीं, कि उनका अस्तित्व ही व्यर्थ होता है या उनकी कविता व्यर्थ का प्रयास होती है। नहीं, वास्तव में महत्त्व उनका भी है, क्योंकि उनका काव्य कम-से-कम युग-साहित्य की ऐसी खाद बनता है, जिससे साहित्य-भूमि उर्वरा होकर किसी बाल्मीकि, व्यास या कालिदास को जन्म देती है। आज भी जो अनेक कवि इधर-उधर, घर-घर दिखाई देते हैं, काल की कसौटी पर उनमें शायद ही कोई ठहरे, पर उनके प्रयास भी विफल नहीं जायेंगे। कवि-कर्म के वर्तमान विस्तृत वाग्जाल में जो कुछ भावों, विचारों, शैली-प्रयोगों की मनोहर मछलियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, वे ही किसी भावी बाल्मीकि, व्यासादि की काव्य-भूमि के लिए खाद सिद्ध होंगी। अतः वर्तमान प्रयासों की नितान्त अवहेलना वंचना है, किन्तु इस तथ्य से भी हमें आँखें नहीं मूंद लेनी हैं कि काल की दीर्घ कसौटी पर खरे उतरने वाले हमारे

के वात्सल्य-चित्रण जैसा विस्तृत और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण 'प्रियप्रवास' में नहीं है। कृष्ण के उदात्त आलम्बनत्व से वह पर्याप्त उदात्त प्रतीत होता है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि नंद-यशोदा के अतिरिक्त अन्य वृद्ध गोप-जनों का प्रेम भी 'प्रियप्रवास' में विस्तारपूर्वक चित्रित हुआ है। एक वृद्ध गोप कृष्ण के मथुरा-गमन के समय अक्रूर से याचना करता है :

मैं बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना।
तो मेरी है विनय इतनी श्याम को छोड़ जावें।
हा ! हा ! सारी ब्रज-अवनि का प्राण है लाल मेरा।
क्यों जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो ।। ५। २५ ।।
रत्नों की है न तनिक कमी आप लें रत्न ढेरों।
सोना-चाँदी सहित धन भी गाड़ियों आप ले लें।
गायें ले लें गज तुरंग भी आप ले लें अनेकों।
लेवें मेरे न निजधन को, हाथ मैं जोड़ता हूँ ।। २६ ।।

एक वृद्धा प्रवीणा कृष्ण को रोकती हुई कहती है : बेटा, तुम मथुरा न जाओ, मैं हा, हा खाती हूँ। दुष्ट कंस का क्या ठिकाना, मेरा जी बहुत डरता है। राजा रूठेगा तो अपनी नगरी संभालेगा, मैं तुझे आँखों से दूर नहीं होने दूंगी :

जो रूठेगा नृपति ब्रज का बास ही छोड़ दूंगी।
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूंगी।
खाऊंगी फूल फल दल को व्यंजनों को तजूंगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूंगी ।। ३१ ।।

कृष्ण के प्रवास-समय समस्त ग्वाल-बाल-वृद्ध, गोप-गोपिका सब शोक के सागर में डूब गये। यहाँ तक कि गायों और अन्य पशु-पक्षियों ने भी अपनी खिन्नता व्यक्त की। सैंकड़ों आभीरों ने कृष्ण के रथ को रोक लिया :

घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कहीं पत्थरों को रुलाया।
बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
रासें ऊँचे तुरग युग की थाम लीं सैंकड़ों ने।

इस प्रकार 'हरिऔध' जी ने कृष्ण-प्रेम का व्यापक मार्मिक चित्रण किया है। कुछ विचारक 'प्रियप्रवास' के इस विरह को करुण-विप्रलंभ कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि कवि ने कृष्ण के प्रवास और तज्जन्य ब्रजजनों—विशेषकर गोपी-राधा-नंद-यशोदा की वेदना के चित्रण पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित रखी है, पर यह वेदना-चित्रण कुछ अतिरंजित-सा, भावुकतामय प्रलाप-सा बन गया है, जिसके कारण पाठक करुणाभिभूत नहीं होता। अतः इसे करुण-विप्रलंभ मानना भ्रांति ही है। यदि

प्रौढ़ है, संदेह नहीं। भाव-कला-पक्ष अर्थात् आनन्द-तत्त्व की दृष्टि से सूरदास के पदों से 'प्रियप्रवास' का कोई मुकाबिला नहीं। किन्तु जीवन की उदात्तता 'प्रियप्रवास' को विशिष्टता प्रदान करती है। संभवतः सूरदास में जीवन की यथार्थ उदात्तता वैसी नहीं पाई जाती, जैसी 'प्रियप्रवास' में है। अतः 'प्रियप्रवास' के लेखक की सबसे बड़ी विशेषता कृष्ण-काव्य के परम्परागत परिनिष्ठित श्रृंगार और वात्सल्य आदि रसों को उदात्त बनाने में है। इसमें कृष्ण-प्रेम को उदात्त-रूप प्रदान किया गया है, रागों को बौद्धिक बनाया गया है; या यों कहें कि बुद्धि तत्त्व और राग तत्त्व का समन्वय किया गया है।

प्रियप्रवास में पौराणिक तत्त्वों की नवीन बौद्धिक व्याख्या: आधुनिक युग नारायण के नर-रूप की अपेक्षा नर में ही नारायणत्व की सिद्धि का युग है। बीसवीं शताब्दी के उन आरंभिक वर्षों में जब 'प्रियप्रवास' की रचना हो रही थी, हमारे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय विचारों में बौद्धिकता का नवोन्मेष हो रहा था। धर्म, दर्शन, भक्ति, ईश्वर आदि की नई जीवनवादी बौद्धिक व्याख्या होने लगी थी। स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द जैसे धार्मिक संतों ने ब्रह्मवाद, अद्वैतदर्शन, भक्ति आदि को जीवन-सापेक्ष बनाकर वैराग्य, मोक्षादि के परम्परागत दृष्टिकोण को बदल दिया था। लोकसेवा और समाज-जाति-सेवा ही सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ी ईश-भक्ति स्वीकृत हुई। मानव-प्रेम ही उच्चकोटि का भगवत् प्रेम समझा जाने लगा। आर्य समाज, ब्रह्मो-समाज आदि सुधारात्मक धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से अवतारवाद की नई बौद्धिक व्याख्या हुई और राम-कृष्ण आदि के परम्परागत अवतारी रूपों के स्थान पर महामानव और राष्ट्रनायक-रूपों की अवतारणा हुई। परम्परागत पौराणिक तत्त्वों को नया बौद्धिक प्रकाश मिलने लगा। 'प्रियप्रवास' के निर्माण में युग की यह बौद्धिक भूमिका स्पष्ट लक्षित होती है।

'प्रियप्रवास' के कृष्ण न तो लीलामय भगवान् हैं, जो अपनी अद्भुत अलौकिक लीलाओं और दिव्यता से विशिष्ट भक्तों को रिझाया करते थे, न वह रास-रसिक शिरोमणि श्रृंगार-नायक है, जो अपनी शृङ्गार-लीलाओं और काम-केलियों से रसिकों को शृङ्गार-चषक पिलाया करते थे। वह तो सच्चे राष्ट्रनायक और स्वाभाविक महामानव हैं, जो अपने नरत्व से ही अपना नारायणत्व सिद्ध करते हैं। कृष्ण के प्राचीन आलम्बनत्व की अपेक्षा यह आधुनिक मानवीय आलम्बनत्व अधिक बुद्धि-हृदय ग्राह्य, अधिक मनोवैज्ञानिक-स्वाभाविक तथा अधिक उदात्त है। न तो भक्तिकालीन चमत्कारी अवतारी लीलामय रूप हमें आज वैसा ग्राह्य है और न ही रीतिकालीन इन्द्रिय-लोलुप रूप हम बर्दाश्त कर सकते हैं। अतः 'प्रियप्रवास' की सफलता का एक रहस्य परम्परागत कृष्ण आलम्बन को स्वाभाविक उदात्त-रूप प्रदान करने में है। कृष्ण का अवतारी लीलामय दिव्य रूप चाहे कितना ही महान् और उदात्त रहा हो,

के वात्सल्य-चित्रण जैसा विस्तृत और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण 'प्रियप्रवास' में नहीं है। कृष्ण के उदात्त आलम्बनत्व से वह पर्याप्त उदात्त प्रतीत होता है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि नंद-यशोदा के अतिरिक्त अन्य वृद्ध गोप-जनों का प्रेम भी 'प्रियप्रवास' में विस्तारपूर्वक चित्रित हुआ है। एक वृद्ध गोप कृष्ण के मथुरा-गमन के समय अक्रूर से याचना करता है :

मैं बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना।
तो मेरी है विनय इतनी श्याम को छोड़ जावें।
हा! हा! सारी ब्रज-अवनि का प्राण है लाल मेरा।
क्यों जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो॥ ५। २५॥
रत्नों की है न तनिक कमी आप लें रत्न ढेरों।
सोना-चाँदी सहित धन भी गाड़ियों आप ले लें।
गायें ले लें गज तुरंग भी आप ले लें अनेकों।
लेवें मेरे न निजधन को, हाथ मैं जोड़ता हूँ॥ २६॥

एक वृद्धा प्रवीणा कृष्ण को रोकती हुई कहती है : बेटा, तुम मथुरा न जाओ, मैं हा, हा खाती हूँ। दुष्ट कंस का क्या ठिकाना, मेरा जी बहुत डरता है। राजा रूठेगा तो अपनी नगरी संभालेगा, मैं तुझे आँखों से दूर नहीं होने दूंगी :

जो रूठेगा नृपति ब्रज का बास ही छोड़ दूंगी।
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूंगी।
खाऊंगी फूल फल दल को व्यंजनों को तजूँगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूंगी॥ ३१॥

कृष्ण के प्रवास-समय समस्त ग्वाल-बाल-वृद्ध, गोप-गोपिका सब शोक के सागर में डूब गये। यहाँ तक कि गायों और अन्य पशु-पक्षियों ने भी अपनी खिन्नता व्यक्त की। सैंकड़ों आभीरों ने कृष्ण के रथ को रोक लिया :

घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कहीं पत्थरों को रुलाया।
बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
रासें ऊँचे तुरग युग की थाम ली सैंकड़ों ने।

इस प्रकार 'हरिऔध' जी ने कृष्ण-प्रेम का व्यापक मार्मिक चित्रण किया है। कुछ विचारक 'प्रियप्रवास' के इस विरह को करुण-विप्रलंभ कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि कवि ने कृष्ण के प्रवास और तज्जन्य ब्रजजनों—विशेषकर गोपी-राधा-नंद-यशोदा की वेदना के चित्रण पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित रखी है, पर यह वेदना-चित्रण कुछ अतिरंजित-सा, भावुकतामय प्रलाप-सा बन गया है, जिसके कारण पाठक करुणाभिभूत नहीं होता। अतः इसे करुण-विप्रलंभ मानना भ्रांति ही है। यदि

बचा लिया। "कहीं वह पतित का कर गहते थे, तो कहीं उदक में धुस कर जल-मग्न को बाहर निकाल लाते थे।" अपने सुप्रबंध, सुप्रयत्न, और सुसाहस से कृष्ण ने 'साधन गोधन को, पुर-ग्राम को, कुशल-से गिरि-मध्य बसा दिया।' कृष्ण सच्चे दीन-बंधु एवं परोपकारी थे। जन-जन की सेवा ही उनके जीवन का ध्येय था :

कोई बली नि-बल को यदि था सताता।
तो वे तिरस्कृत किया करते उसे थे ॥१२।८३॥
रोगी दुखी विपद-आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज-हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ॥८७॥

सर्प, अश्व आदि नृशंस हिंस्र जन्तुओं तथा कंस-व्योम-जैसे उत्पीड़क दुरात्मा का नाश कृष्ण ने जिस साहस से किया, वह उन्हें सच्चा वीर नायक सिद्ध करता है। वह ब्रज के रक्षक थे, सच्चे जाति-नायक थे। कृष्ण के इस उदात्त चरित्र से एक ओर लोक सेवा, मानव-प्रेम, राष्ट्र-जाति हित आदि की उदात्त भावनाएँ जागृत होती हैं, दूसरी ओर ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श प्रेम-पात्र के प्रति प्रेम की भावना उदात्त बन गई है। कृष्ण के इस उदात्त आलम्बनत्व से कृष्ण-विरह स्वतः ही स्वाभाविक एवं उदात्त बन गया है।

परम्परागत पौराणिक प्रसंगों का बौद्धिक एवं स्वाभाविक उदात्त नवीनीकरण भी 'प्रियप्रवास' की ऐसी विशेषता है जो उसकी भाव-उदात्तता में सहायक सिद्ध हुई है। 'हरिऔध' जी ने नवयुग की भावनाओं के अनुरूप पौराणिक प्रसंगों को नवीन बौद्धिक रूप में ग्रहण किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य में पौराणिक तत्त्वों की नई बौद्धिक व्याख्या का उपक्रम सर्वप्रथम 'प्रियप्रवास' में ही दिखाई देता है। कृष्ण की दावानल-पान, गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठाने, कालिय-दमन आदि अलौकिक पौराणिक लीलाओं को 'हरिऔध' जी ने बुद्धि-सम्मत नया रूप प्रदान किया है। पुराणों में वर्णित इन्द्र-प्रकोप को बाढ़ या जल-प्लावन के स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है, तथा कृष्ण-द्वारा डूबते हुए ब्रज को गिरिराज की कन्दराओं और गुफाओं में सकुशल बसा देने के अथक परिश्रम को ही पर्वत को हाथ या उँगली पर उठाने के अर्थ में ग्रहण किया है।

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
ब्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥१२।६७॥

इसी प्रकार दावानल-पान को दावानल से घिरे ग्वाल-गो-गोपों को बचाने के

का हमने अपने थीसिस 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' में खण्डन किया है। यहां भी हमारा निवेदन है कि उपर्युक्त पंक्तियों में बीभत्स रस मानना भ्रांतिपूर्ण ही है। यहाँ ब्रजभूमि का भयावह चित्रण किया गया है जो कृष्ण-गमन की अनिष्टकारी परिस्थिति के लिए भयानक पृष्ठभूमि बनता है। इससे बीभत्स रसानुभूति नहीं होती। कंस, व्योम-केसी, कालियनाग आदि दुष्ट दुरात्मा ही बीभत्स रस के वास्तविक आलम्बन माने जा सकते हैं। व्योम का निम्न आत्याचारी रूप-चित्रण उसके प्रति हमारी मानसिक घृणा जगाता है, अतः यहीं बीभत्स रस की वास्तविक मनोवैज्ञानिक सिद्धि माननी चाहिए:

बड़ा बली बालिश व्योम नाम का।
वनस्थली में पशु-पाल एक था।
अपार होता उसको विनोद था।
बना महा-पीड़ित प्राणी-पुंज को॥ १३।६८॥
कभी चुराता वृष-वत्स-धेनु था।
कभी उन्हें था जल बीच बोरता।
प्रहार-द्वारा गुरु यष्टि के कभी।
उन्हें बनाता वह अंगहीन था॥७०॥

'प्रियप्रवास' में कंस, जरासंध आदि दुष्ट-अत्याचारियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने की अनेक परिस्थितियाँ संभव थीं, किन्तु खेद है कि 'हरिऔध' जी ने केवल कृष्ण-प्रवास पर ही अपनी दृष्टि सीमित रखी जिससे अन्यान्य कथा-प्रसंग और रस-भाव उभर नहीं सके।

'प्रियप्रवास' में चरित्र-चित्रण का भी कोई प्रयास प्रतीत नहीं होता। सारा काव्य भाव तथा भावुकता-प्रधान है जिसके कारण नंद-यशोदा, गोप-गोपी आदि पात्रों के चरित्र की केवल कृष्ण प्रेम विषयक विह्वलता ही प्रकाश में आ पाई है। चरित्रों की पूर्ण रेखाएँ नहीं उभर सकी हैं। गोप-गोपियों का स्वरूप तो सर्वथा निर्वैयक्तिक ही है। नन्द, यशोदा तथा उद्धव के व्यक्तित्व भी सजीव नहीं हो पाये हैं। केवल कृष्ण और राधा के चरित्रों का कुछ विस्तारपूर्वक प्रकाशन हुआ है। परन्तु चरित्र-चित्रण की नवीनता तथा उदात्तता तो अवश्य उनके चरित्र-चित्रण में पाई जाती है, पर चरित्र-चित्रण-कला की पूर्ण सफलता यहाँ भी नहीं मानी जा सकती। कृष्ण का चरित्र-चित्रण नाटकीय शैली के अभाव में अधिक सजीव और मार्मिक नहीं बन सका, दूसरे उसमें मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और संगति भी पूरी तरह नहीं आ पाई। राधा के चरित्र में भी उदात्तता ऊर्मिला से भले ही अधिक हो, पर सजीवता उतनी कहाँ है? 'कामायनी' की श्रद्धा राधा से कहीं अधिक उदात्त एवं सजीव है। राधा का अंतिम लोक-सेविका का रूप आरोपित-सा प्रतीत होता है।

बचा लिया। "कहीं वह पतित का कर गहते थे, तो कहीं उदक में घुस कर जल-मग्न को बाहर निकाल लाते थे।" अपने सुप्रबंध, सुप्रयत्न, और सुसाहस से कृष्ण ने 'साधन गोधन को, पुर-ग्राम को, कुशल-से गिरि-मध्य बसा दिया।' कृष्ण सच्चे दीन-बंधु एवं परोपकारी थे। जन-जन की सेवा ही उनके जीवन का ध्येय था :

कोई बली नि-बल को यदि था सताता।
तो वे तिरस्कृत किया करते उसे थे ॥१२।८३॥
रोगी दुखी विपद-आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज-हस्त से थे।
ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ॥८७॥

सर्प, अश्व आदि नृशंस हिंस्र जन्तुओं तथा कंस-व्योम-जैसे उत्पीड़क दुरात्मा का नाश कृष्ण ने जिस साहस से किया, वह उन्हें सच्चा वीर नायक सिद्ध करता है। वह व्रज के रक्षक थे, सच्चे जाति-नायक थे। कृष्ण के इस उदात्त चरित्र से एक ओर लोक सेवा, मानव-प्रेम, राष्ट्र-जाति हित आदि की उदात्त भावनाएँ जागृत होती हैं, दूसरी ओर ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श प्रेम-पात्र के प्रति प्रेम की भावना उदात्त बन गई है। कृष्ण के इस उदात्त आलम्बनत्व से कृष्ण-विरह स्वतः ही स्वाभाविक एवं उदात्त बन गया है।

परम्परागत पौराणिक प्रसंगों का बौद्धिक एवं स्वाभाविक उदात्त नवीनीकरण भी 'प्रियप्रवास' की ऐसी विशेषता है जो उसकी भाव-उदात्तता में सहायक सिद्ध हुई है। 'हरिऔध' जी ने नवयुग की भावनाओं के अनुरूप पौराणिक प्रसंगों को नवीन बौद्धिक रूप में ग्रहण किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य में पौराणिक तत्त्वों की नई बौद्धिक व्याख्या का उपक्रम सर्वप्रथम 'प्रियप्रवास' में ही दिखाई देता है। कृष्ण की दावानल-पान, गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठाने, कालिय-दमन आदि अलौकिक पौराणिक लीलाओं को 'हरिऔध' जी ने बुद्धि-सम्मत नया रूप प्रदान किया है। पुराणों में वर्णित इन्द्र-प्रकोप को बाढ़ या जल-प्लावन के स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है, तथा कृष्ण-द्वारा डूबते हुए व्रज को गिरिराज की कन्दराओं और गुफाओं में सकुशल बसा देने के अथक परिश्रम को ही पर्वत को हाथ या उँगली पर उठाने के अर्थ में ग्रहण किया है।

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
व्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥१२।६७॥

इसी प्रकार दावानल-पान को दावानल से घिरे ग्वाल-गो-गोपों को बचाने के

मानवतावादी जीवनदर्शन पाया जाता है। रस-भाव की अवहेलना करने वाले वर्तमान कवियों को यह तथ्य समझ लेना चाहिये कि उदात्त रस-चित्रण के कारण ही 'प्रियप्रवास' अपना स्थायी स्थान हिन्दी साहित्य में बनाये हुए है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यदि इसमें केवल परम्परागत ऐकान्तिक-सीमित प्रेम और विरह का चित्रण रहता तो उस कोरे रस-भाव से भी उसकी कोई विशेषता सिद्ध न होती। अतः उदात्त प्रेम-प्रकाशन—उदात्त रस-चित्रण—ही 'प्रियप्रवास' की शक्ति का रहस्य है, जिससे महाकाव्य के परम्परागत बाह्य लक्षणों—सर्ग-छन्द-मंगलाचरण-सम्बंधी अनावश्यक नियमों तथा चरित्र-चित्रण, प्रबंधात्मकता, भाव-विस्तार आदि आंतरिक आवश्यक तत्त्वों में न्यूनता होते हुए भी वह महाकाव्य की संज्ञा को प्राप्त करता है। खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य के रूप में उसका ऐतिहासिक स्थान तो सुरक्षित है ही।

क्यों होवेंगी शमित उर की लालसायें अतः मैं।
रंगे देती प्रति-दिन उन्हें सात्विकी-वृत्ति में हूँ ॥१६।१०१॥

'प्रियप्रवास' में चिरपुरातन वैराग्यवादी अध्यात्म दर्शन को नवीन जीवनवादी जीवनदर्शन में परिवर्तित किया गया है। राधा अपने प्रेम का इतना विस्तार कर लेती है कि उसके लिए वसुंधरा का कण-कण प्रिय की भावना से ही ओत-प्रोत हो जाता है, उसके हृदय में विश्व-प्रेम उत्पन्न हो जाता है। वह अपने प्राणेश में ही परम प्रभु के दर्शन करती है। अगम्य, अगोचर, अव्यक्त और इन्द्रियातीत ब्रह्म से उसका भी कोई वास्ता नहीं, पर वह केवल कृष्ण-प्रेम में ही सीमित भी नहीं रहती। वह प्राण-प्यारे कृष्ण, सम्पूर्ण विश्व और जगत्-पति परम प्रभु को अभिन्न मानकर विश्व प्रेम को ही प्रभुप्रेम एवं कृष्ण-प्रेम का प्रतिरूप मान लेती है :

कंजों का या उदित-विधु का देख सौन्दर्य आँखों।
या कानों से श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पांव, मुख, मुरली-नाद जैसा उन्हें पा॥१६।१०२॥
मेरे जी में हृदय-विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय-प्राणेश ही में॥१०४॥

"जो न जन मन में आता है, और जो बुद्धि के परे है, जो भावों का विषय भी नहीं बनता, नित्य अव्यक्त है और जो इन्द्रियातीत है, सो क्या है, मैं अबुध, अबला उसे कैसे जान सकती हूँ ?···शास्त्रों में प्रभु के अमित शीश, लोचन आदि जो बताए गये हैं, उसका मर्म यही है कि सारे प्राणी अखिल जग की मूर्तियाँ हैं उसकी।" वह सर्वत्र व्याप्त है, प्रियतम भी विश्वरूप है; अतः दोनों अभिन्न हैं :

ताराओं में तिमिर-हर में वह्नि-विद्युल्लता में।
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही॥११०॥
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका॥११२॥

यही नहीं, पौराणिक नवधा भक्ति की भी नई जीवनवादी व्याख्या की गई है : "चराचर विश्व उस परम प्रभु का ही रूप है," अतएव प्राणि-मात्र तथा समस्त जड़-चेतन की रक्षा-पूजा-सेवा ही प्रभु की सर्वोत्तमा भक्ति है :

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।

'आँसू' की दार्शनिकता प्रासंगिक है और वह वहीं ऊपर उठती है जब हम 'आँसुओं' का अन्तिम ढरना देखते हैं। कवि उन्हें व्यापक बनाने के लिए अपनी ही व्यथा के आघात तक अपने को सीमित रखकर विश्वपीड़ा के साथ समरस होना चाहते हैं। यों तो प्रारम्भ के आधे से अधिक छन्दों में हम केवल काव्य और कला का ही सौंदर्य देखते हैं और मुग्ध हो उठते हैं। हम उन्हीं की 'ध्वनि' को मानो अपने में ही सुनने लगते हैं,—कवि, तुम अपने इस जरा से पात्र में इतना रस कहाँ से भर लाये जो बरबस समा नहीं रहा है। हम चकित हैं, समझ नहीं पाते हैं—ऐसा मधुवन तुम में कहां छिपा था ?

आचार्यों ने कविता के तीन पक्ष माने हैं। वे हैं—(१) भाव-पक्ष (२) विभाव-पक्ष, और (३) कला-पक्ष। भाव-पक्ष से कवि का हृदय उद्वेलित होता है, विभाव-पक्ष हृदय के उद्वेलन का कारण है और कला-पक्ष भाव-पक्ष का व्यक्त रूप है।

आँसू का आलम्बन—सबसे पहले हम 'आँसू' के विभाव-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे। यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कवि के हृदय को कहां से ठेस पहुँच रही है, उसकी भावनाओं का आलम्बन क्या है ?

आँसू की पूर्व रचना झरना में कवि ने गाया था—

"कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपांग की धारा॥
हृदय से झरना—
वह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय-वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इस 'तव' में किसकी ओर संकेत है ? किसके कटाक्ष-रस से सारा तन मन प्लावित हो उठा ? यह 'तव' 'यहाँ' का—इह लोक का हाड़ मांस का पुतला हो सकता है और उस लोक का भी, जो केवल कल्पना में ही स्थित है—जिस तक हमारी वृत्तियाँ सहज केन्द्रित होना नहीं चाहतीं, नहीं जानतीं।

'प्रसाद' के एक आलोचक लिखते हैं—"जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस 'प्रियतम' के संयोग वियोग वाली रहस्य भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य भावना से अलग समझना चाहिए—प्रायः रमते पाए जाते हैं। प्रेम चर्चा के शारारिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि) रंगरेलियों और अठ-खेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी प्रकृति के अनन्त क्षेत्र भी वल्लरियों के

इस प्रकार अपने लोक-सेवी प्रिय कृष्ण की सच्ची आराधिका राधा के प्रेम का उदात्तीकरण होता है। प्रिय कृष्ण की इच्छा और प्रभु-इच्छा अभिन्न हैं। अतः राधा कहती है :

कह चुकी प्रिय-साधन ईश का।
कुंवर का प्रिय-साधन है यही।
इसलिये प्रिय की परमेश की।
परम पावन भक्ति अभिन्न है॥

निश्चय ही पौराणिक तत्त्वों की यह नवीन मानवतावादी बौद्धिक व्याख्या ही 'प्रियप्रवास' को महाकाव्योचित उदात्त गौरव-गरिमा प्रदान करती है ; यही रस-भाव को उदात्त बनाती है। इससे राधा का प्रेम भी उदात्त हो गया है।

राधा का उदात्त प्रेम—शृंगार रस, अद्‌भुत रस और हास्य रस—इन तीन रसों के विशेष रूप से दो भेद साहित्य में स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक रस का उदात्त रूप, जिसमें जीवन की उदात्त अनुभूतियों का समावेश होता है। दूसरा केवल अनुरंजनकारी ऐसा रूप जिसमें जीवन की भिन्न-भिन्न उच्च भावनायें विशेष नहीं होतीं। रीतिकालीन ऐकान्तिक शृंगार रस-चित्रण, कौतूहलपूर्ण अद्‌भुत घटना-व्यापार, शुद्ध हास्य अधिकांशतः दूसरे प्रकार के रस-चित्रण ही होते हैं। प्राचीन कृष्ण-काव्य में भी ऐकांतिक प्रेम-व्यंजना के कारण अधिक भाव-उदात्तता नहीं आ पाई थी, यह हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं। 'प्रियप्रवास' का प्रम-चित्रण परम्परागत सीमित ऐकान्तिक प्रेम नहीं है। राधा का प्रेम तो अत्यन्त उदात्त है। अंत में तो वह विश्वव्यापी पूर्ण उदात्तीकृत हो ही जाता है, आरम्भ में भी इसका ऐकान्तिक रूप सीमित नहीं है। प्रिय के वियोग में राधा की समवेदना और सहानुभूति सभी दुखी प्राणियों के प्रति जागृत हो जाती है। षष्ठ सर्ग में उसका समवेदनापूर्ण उदात्त विरह व्यक्त हुआ है। वह पवन को दूत या दूती बनाकर प्रिय के पास भेजना चाहती है। उदार-हृदया बनी वह वायु से यही याचना करती है कि वह जाते हुए रास्ते में श्रांत-पथिकों और रोगी-व्यक्तियों को शांति प्रदान करती हुई जाये। 'मेघदूत' की यह कल्पना यहाँ कितनी उदात्त हो गई है !

जाते-जाते अगर पथ में क्लांत कोई दिखावे।
तो जा के सन्निकट उसकी क्लांतियों को मिटाना।
धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्‌गंधों से श्रमित-जन को हर्षितों-सा बनाना॥ ३९॥
प्यारे-प्यारे तरु किसलयों को कभी जो हिलाना।
तो हो जाना मृदुल इतनी टूटने वे न पावें।

होता है कि फिर प्रलय के बादल उठेंगे, भीषण वर्षाएँ होंगी, आंधियाँ आएंगी, बिजलियाँ चमकेंगी, द्वित्व समाप्त हो जाएगा, चेतना सुप्त हो जाएगी। फिर महामिलन की अवस्था आएगी, सर्वज्ञ सुन्दर का विस्तार प्रस्तावित होगा।" आपने प्रथम 'सृष्टि' को 'प्रेमिका' और 'सुन्दर' को 'प्रियतम' का प्रतीक माना, फिर शीघ्र ही अपने विचार को बदल दिया, "या यों कहिए सृष्टि प्रेमी है। 'सुन्दर' प्रेम पात्र। सृष्टि का प्रतिनिधि कवि स्वयं है।" आपकी सम्मति में 'आँसू' सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का रूपक है। इसके समर्थन में आप 'आँसू' की निम्न पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं—

"बुल बुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी,
दिखलाई देती लूटी।
छिल छिल कर छाले फोड़े,
मल मल कर मृदुल चरण से।
घुल घुल कर रह बह जाते,
आँसू करुणा के कण से।"

और इनका इस प्रकार अर्थ करते हैं—

"महामिलन की अवस्था" में पदार्थ का प्रबल उष्ण पदार्थ का (शायद आप उस धारणा का उल्लेख करते हैं जिसमें सृष्टि को आदिमावस्था में आग का गोला कहा गया है।) एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफ़ोलों की तरह फूट गया। (यह छिल-छिल कर छाले फोड़े, का अर्थ लगाया है।) और सागर के रूप में बह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश पुंज के पिण्ड-पिण्ड अलग हो गए। ये सब नक्षत्र बन गए। (यह सम्भवतः "नक्षत्र मालिका टूटी" का अर्थ है।) बेचारी यह पृथ्वी नभ मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग होकर शोभा विहीन बिखरे बाल हैं जिसके, ऐसी एक विधवा की तरह लुटी हुई दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगीं और फिसल कर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवरों के रूप में बन गईं। मानो आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।"

आँसू को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट 'रूपक' की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आंधी और बिजलियों के चलने फिरने का। लेखक ने—

"झंझा झकोर गर्जन, बिजली है, नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥"

इस प्रकार अपने लोक-सेवी प्रिय कृष्ण की सच्ची आराधिका राधा के प्रेम का उदात्तीकरण होता है। प्रिय कृष्ण की इच्छा और प्रभु-इच्छा अभिन्न हैं। अतः राधा कहती है :

कह चुकी प्रिय-साधन ईश का।
कुंवर का प्रिय-साधन है यही।
इसलिये प्रिय की परमेश की।
परम पावन भक्ति अभिन्न है॥

निश्चय ही पौराणिक तत्त्वों की यह नवीन मानवतावादी बौद्धिक व्याख्या ही 'प्रियप्रवास' को महाकाव्योचित उदात्त गौरव-गरिमा प्रदान करती है ; यही रस-भाव को उदात्त बनाती है। इससे राधा का प्रेम भी उदात्त हो गया है।

राधा का उदात्त प्रेम—शृंगार रस, अद्‌भुत रस और हास्य रस—इन तीन रसों के विशेष रूप से दो भेद साहित्य में स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक रस का उदात्त रूप, जिसमें जीवन की उदात्त अनुभूतियों का समावेश होता है। दूसरा केवल अनुरंजनकारी ऐसा रूप जिसमें जीवन की भिन्न-भिन्न उच्च भावनायें विशेष नहीं होतीं। रीतिकालीन ऐकान्तिक शृंगार रस-चित्रण, कौतूहलपूर्ण अद्‌भुत घटना-व्यापार, शुद्ध हास्य अधिकांशतः दूसरे प्रकार के रस-चित्रण ही होते हैं। प्राचीन कृष्ण-काव्य में भी ऐकांतिक प्रेम-व्यंजना के कारण अधिक भाव-उदात्तता नहीं आ पाई थी, यह हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं। 'प्रियप्रवास' का प्रम-चित्रण परम्परागत सीमित ऐकान्तिक प्रेम नहीं है। राधा का प्रेम तो अत्यन्त उदात्त है। अंत में तो वह विश्वव्यापी पूर्ण उदात्तीकृत हो ही जाता है, आरम्भ में भी इसका ऐकान्तिक रूप सीमित नहीं है। प्रिय के वियोग में राधा की समवेदना और सहानुभूति सभी दुखी प्राणियों के प्रति जागृत हो जाती है। षष्ठ सर्ग में उसका समवेदनापूर्ण उदात्त विरह व्यक्त हुआ है। वह पवन को दूत या दूती बनाकर प्रिय के पास भेजना चाहती है। उदार-हृदया बनी वह वायु से यही याचना करती है कि वह जाते हुए रास्ते में श्रांत-पथिकों और रोगी-व्यक्तियों को शांति प्रदान करती हुई जाये। 'मेघदूत' की यह कल्पना यहाँ कितनी उदात्त हो गई है!

जाते-जाते अगर पथ में क्लांत कोई दिखावे।
तो जा के सन्निकट उसकी क्लांतियों को मिटाना।
धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्‌गंधों से श्रमित-जन को हर्षितों-सा बनाना॥ ३९॥
प्यारे-प्यारे तरु किसलयों को कभी जो हिलाना।
तो हो जाना मृदुल इतनी टूटने वे न पावें।

(१) इस हृदय कमल का घिरना,
अलि अलकों की उलझन में।
(२) बांधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से।
(३) थी किस अनङ्ग के धनु की,
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी।
अलबेली बाहुलता या,
तनु छवि-सर की नव लहरी।

आदि शब्दों में 'स्थूल शरीर' का नखशिख वर्णन ही है। अतः आंसू का आधार ससीम व्यक्ति है, जिसके मिलन-सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से दीप्त करने का प्रयास किया है जिससे ऐसा भासने लगता है कि कवि का उस 'विराट' से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पंक्तियों में कुछ ऐसा ही संकेत है—

(१) कुछ शेष चिह्न हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के।
(२) आती है शून्य क्षितिज से,
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।

परन्तु इन संकेतों के विद्यमान रहते भी रचना का आधार एकदम पारलौकिक नहीं माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है—'महा-मिलन' ही है, और 'आंसू' की 'स्मृतियों की बस्ती' में तो हमें प्रिय की पार्थिव अङ्ग शोभा ही नहीं, 'प्रेमी' और 'प्रिय' के शरीर व्यापारों की झांकी भी मिलती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।
मुख चन्द्र चांदनी जल से,
मैं उठता था मुंह धोके !

इसके साथ ही अब हम यह पढ़ते हैं—

नर्मम जगती को तेरा,
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।

तब जान पड़ता है, 'आंसू का आलम्बन' जन समूह भी है।

होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती ॥ १६।५४ ॥

धन्य है राधा का यह कृष्ण-प्रेम जो अब जगत् के कण-कण में प्रिय की भावना और उसी की रूप-माधुरी का अनुभव करने लगा है। आकाश में चमकते कौमुदीकांत तथा विकसित पुष्पों में वह प्रिय का विकच मुखड़ा देखती है। ऊँचे-ऊँचे शिखर प्रिय के चित्त की उच्चता के प्रतीक प्रतीत होते हैं। फूली संध्या प्रिय की कांति-सी लगती है, रजनि-तन में कृष्ण का रंग प्रतीत होता है, ऊषा नित्य प्रिय के ही प्रेम रंग में रंजित होकर प्रकट होती है, सूर्य में प्रिय के ही वर-वदन-सा तेज पाया जाता है :

फूली संध्या परम प्रिय की कांति-सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि-तन में श्याम का रंग छाया।
ऊषा आती प्रति-दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर-वदन-सा ओप आदित्य में है ॥ ८४ ॥

उसके हृदय में एक ओर प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा है, दूसरी ओर वह अपने निजी स्वार्थ या लाभ को जग-हित पर उत्सर्ग करने को भी प्रस्तुत है :

प्यारे आवें सु-बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन, दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें ॥ ९८ ॥

राधा के विरह की यही विशिष्टता उसे परम्परागत विरहिणियों से ऊँचा पद प्रदान करती है। 'साकेत' की ऊर्मिला और संभवतः 'यशोधरा' में यशोधरा भी इतनी उदार-उदात्त विरहिणियाँ नहीं हैं जितनी राधा। वह चराचर विश्व में प्रिय की भावना पाती है। प्रिय के सम्बंध से ही उसके हृदय में विश्व-प्रेम जाग उठा। वह प्राणेश को विश्व-व्यापी अनुभव करती है और जगत्-गत प्रभु की सत्ता भी चराचर विश्व में व्याप्त मानती है। इसीलिए वह स्वीय प्राणेश में ही परम प्रभु का बोध पाती है। विश्व के कण-कण से उसका अनुराग स्थापित हो जाता है। इस प्रकार उसके प्रेम का भव्य उदात्तीकरण होता है।

शृङ्गार-अंतर्गत गोपियों के विरह में ऐकान्तिक सीमित भाव-वेदना ही अधिक है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आलम्बन की उदात्तता के कारण गोपी-विरह भी 'प्रियप्रवास' में उतना ऐकान्तिक नहीं रहा है। हाँ, राधा के उदात्त-प्रेम जैसी व्यापक भाव-व्यंजना उसमें नहीं है। गोपी-विरह में परम्परागत विरह-व्यंजना का रूप अधिक है।

'प्रियप्रवास' में प्रेम का दूसरा प्रमुख रूप है वत्सलता। वात्सल्यरस का सूरदास

शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसा कर आँसू धारा॥

जैसे उद्गार इसी स्थिति के द्योतक हैं। फिर वह अपनी स्थिति से ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करता है—

निष्ठुर! यह क्या, छिप जाना? मेरा भी कोई होगा,
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुःख होगा।

'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है। दुःखी मनुष्य का दुःख दूसरों के दुःख को देखकर घट जाता है। 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि संसार में वही दुःखी नहीं है, उसके चारों ओर मानवजाति पीड़ा से कराह रही है—तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरों के दुःख दर्द में अपनी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी संसार के दुःख को कम करने में सहायक बने। वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने में व्यग्र न रहो, अपने ही अभावों में न जलो। तुम्हारे चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है—उसे भी अनुभव करो। संसार के सभी दुःखी प्राणियों के दुःख में अपने आँसू बहाओ।

'आँसू' में मानव जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है। पहले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एक दम खिच जाते हैं उसी को परमात्मा मान लेते हैं। स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं। उसकी आराधना में ही हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमारी दुनियाँ 'दो' ही में समा जाती है। परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है तो हम पहले तो उसकी याद में तड़पते हैं, रोते हैं, आशा-निराशा में उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यों अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढ़ती जाती है, हमारी मोह निद्रा टूटती जाती है। हम वस्तु स्थिति को पहचानते हैं और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रखकर संसार में बिखेर देते हैं। लोक-कल्याण में हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में 'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता, बेचैनी, फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती आयु का निर्वेद दिखलाई पड़ता है।

'आँसू' की 'आत्मा' को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः वह 'प्रबन्धमय' है। पर 'आँसू' के अनेक पद्य ऐसे हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे अपने में पूर्ण प्रतीत होते हैं। इस तरह 'आँसू' उस मोतियों की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक मोती पृथक् रहकर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथकर भी 'आब' देता है। वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों हैं।

कंस की दुष्टता, षड्यंत्र तथा नन्द-यशोदा की विवशता का विस्तृत चित्रण किया जाता और कृष्ण के लोकोपकारी रूप का नाटकीय प्रकाशन पहले हो जाता तो इस समस्त विरह में करुणा का रंग अच्छी तरह आ जाता। बाद में तो मानवीय उदात्तता में बदल जाने के कारण यह प्रेम विरह-वेदना-रूप भी नहीं रहता।

'प्रियप्रवास' की प्रबंध कल्पना तथा भाव योजना की यह एक बड़ी दुर्बलता है कि इसमें कृष्ण-चरित्र और तत्सम्बंधी भिन्न-भिन्न घटनाओं को नाटकीय रूप में मार्मिकतापूर्वक प्रकट नहीं किया गया, बल्कि उन्हें केवल विरह की स्मृति-रूप में इतिवृत्तात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। यही कारण है कि जहां एक तो इससे विरह वर्णन की कई स्थानों पर एक-सी आवृत्ति कवि ने कर डाली है जो भाव-विभोर करने की बजाय, कहीं-कहीं ऊबा-सी देती है। दूसरे, प्रबंध में कथानक और घटनाओं की वैसी नाटकीय मार्मिकता उत्पन्न नहीं हो पाई जो 'साकेत' में है। तीसरे, उन प्रसंगों से सम्बन्धित वीर, भयानक, बीभत्स आदि अन्य रस-भाव भी 'प्रियप्रवास' में पूर्ण रस परिपाक को नहीं पहुंच पाये। न तो 'प्रियप्रवास' में 'साकेत' जैसा भाव-विस्तार ही आ पाया है, न जीवन की विविध मार्मिक परिस्थितियों का उत्कण्ठापूर्ण कथात्मक प्रकाशन हुआ है, न भाव सौष्ठव और कला-पक्ष ही 'साकेत' की कोटि का पाया जाता, यद्यपि कुछ स्थलों पर भाव-व्यंजना पर्याप्त कलात्मक है, और न ही चरित्र-चित्रण सफल बन सका है, न 'कामायनी' जैसा प्रकृति-चित्रण और नई कलात्मक अभिव्यंजना पाई जाती है। सच तो यह है कि 'प्रियप्रवास' की शक्ति का एक मात्र रहस्य उदात्त प्रेम-प्रकाशन ही है—विशेष रूप से राधा का प्रेम। राधा-कृष्ण के इस नवीन जीवनवादी लोक सेवी रूप तथा उदात्त प्रेम के बिना यह काव्य न तो महाकाव्य की कोटि में आ सकता था, न ही हिन्दी-साहित्य में अपना स्थायी स्थान बना पाता। फिर भी यह अवश्य कहना पड़ता है कि यद्यपि 'प्रियप्रवास' में कृष्ण-काव्य के परम्परागत सीमित ऐकान्तिक भाव-बोध के स्थान पर उदात्त मानवीय भाव बोध पाया जाता है, तथापि उसमें 'साकेत', 'रामचरितमानस' आदि अधिक सफल महाकाव्यों जैसी भाव-उदात्तता और व्यापकता नहीं आ पाई। दावानल तथा जल-प्लावन के प्रसंगों में भयानक रस का तथा कृष्ण के उत्साह साहसपूर्ण कृत्यों में वीर रस का अधूरा प्रकाशन ही हुआ है। कुछ विचारकों ने 'प्रियप्रवास' में भी मसान, शव-राशि और खोपड़ी आदि को ढूंढकर उसमें बीभत्स रस का अनुमान लगा ही लिया। इन पंक्तियों में बीभत्स रस बताया जाता है :

> अति भयानक भूमि मसान की। वहन थी करती शव-राशि को।
> विकट दंत दिखाकर खोपड़ी। कर रही अति-भैरव हास थी।
> विपुल अस्थि-समूह विभीषिका। भर रही भय थी बन भैरवी॥ ३।१६॥

रक्त, मांस, शव खोपड़ी आदि में बीभत्स रस मानने की परम्परागत धारणा

कलियों को उन्मुख देखा,
सुनते वह कपट कहानी ।
फिर देखा उड़ जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी ।।

इनमें कोई उपदेश नहीं है, आदेश नहीं है। फिर भी वे "बुद्धि पर विचार का भार न लाद कर भी हमें उपदेश देती हैं और निर्देश भी। पर 'उपदेश' और 'निर्देश' हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहले कहीं कह आए हैं कि 'प्रसाद' समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे हैं। अतः जहाँ आँसू में उनकी करुणानुभूति की सिसक और कसक है, वहाँ 'चिर वंचित भूखों की प्रलय दशा' ने भी उनकी आँखों को गीला बनाया है। यही जागरूकता मन के तोल को संभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

आंसू का मुख्य भाव विरह शृङ्गार है जो करुणा के सिंचन से निखर गया है। लोक-कल्याण की शान्त कामना से पूत हो उठा है। आँसू के पूर्व ही 'राज्य-श्री' में कवि का अन्तस्स्वर सुन पड़ा था—

दुःख परितापित धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा-सरोवर,
धुले तेरा कीच ।।

विरह में 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है। अतः आँसू में हम 'प्रेमी' और 'प्रिय' के 'मिलन-सुख' का भी रंगीन चित्र पाते हैं जो काव्य में सम्भोग शृङ्गार कहलाता है। 'परिरम्भ कुम्भ की मदिरा' आदि पद्यों की तन्मयता भवभूति के राम-सीता-मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी दृढ़, कितनी मधुर! 'प्रिय' के 'नख-शिख' वर्णन में यद्यपि सर्वथा नूतनता नहीं है, फिर भी 'आंखों की अंजन रेखा' के आकर्षण में 'काले पानी की सजा' की सूझ 'प्रसाद' के मस्तिष्क में ही उग सकती थी।

'प्रिय' के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी—इतना सौन्दर्य 'शून्य-हृदय' को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एकदम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

परिचित से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हम को।

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि अनुभूति की यही व्यंजना पहले पहल 'प्रसाद' ने नहीं की, पर इसमें सन्देह नहीं, अनुभूति उनकी उधार ली हुई नहीं है। विरह की अवस्था में 'प्रलाप', निद्रा-भंग, ग्लानि, चिन्ता, मोह,

अंतिम सर्ग में तो न ब्रजांगनाओं का विरह-विदग्ध रूप ही भाता है और न राधा का उपकार-पूर्ण उपचार ही संगत प्रतीत होता है।

'प्रियप्रवास' की प्रबंध-योजना भी विशेष सफल नहीं मानी जा सकती। यद्यपि कृष्ण चरित्र की पर्याप्त विस्तृत अवतारणा इसमें हुई है, तथापि कवि का मुख्य उद्देश्य कृष्ण-प्रवास-जन्य विरह-चित्रण ही रहा है, इससे न तो उत्सुकतापूर्ण घटना-कथा-विधान की ओर कवि ने कोई ध्यान दिया है और न जीवन-परिस्थितियों की कोई मौलिक काल्पनिक उद्भावना ही की है। प्रबंध में न तो 'रामचरितमानस' और 'साकेत' जैसा घटनाओं और संघर्षों का घात-प्रतिघात है, न नाटकीय कौतूहल-पूर्ण कथात्मक रोचकता। पूर्वापर प्रसंग-विधान भी भाव-संवेदना-अनुसार नहीं है। यदि कृष्ण के लोकसेवी रूप का नाटकीय प्रकाशन पहले होता तो आरंभिक सर्गों की विरह-वेदना अधिक उपयुक्त, उचित एवं मार्मिक प्रतीत होती।

इस काव्य में भाषा-सौष्ठव की भी कोई बड़ी विशेषता नहीं है। 'कामायनी' जैसी कलात्मक प्रौढ़ नई अभिव्यंजना तो कहाँ, 'साकेत' जैसी सफल भाषा-शैली भी 'प्रियप्रवास' में नहीं है। इसमें भाषा-शैली के कुछ प्रयोग साधारण गुण हैं तथा कुछ साधारण दोष भी हैं। भावों-विचारों की सरलता के साथ अनेक स्थानों पर भाषा की सरलता, स्वाभाविक अलंकरण, अतुकांत या भिन्नतुकांत वर्ण-वृत्त-शैली का सर्वप्रथम सफल प्रयोग, स्वाभाविक प्रवाह, भावानुकूलता आदि भाषा-शैली के साधारण गुण हैं तो कहीं-कहीं अस्वाभाविक अप्रचलित संस्कृत शब्द-प्रयोगों की अतिरंजना, परम्पराभुक्त रूढ़ उपमान-योजना, कहीं-कहीं भद्दी गद्यात्मकता, कुछ मुहावरों का गलत प्रयोग, लाक्षणिक अभिव्यंजना की कमी आदि कुछ साधारण दोष या अभाव हैं। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण में भी कहीं-कहीं व्यर्थ की परिगणन-शैली दोषपूर्ण ही कही जा सकती है, तो कुछ स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन रूप में तथा उद्दीपन-कारी चित्रण मार्मिक बन पड़ा है। 'कामायनी' जैसा अनूठा प्रकृति-प्रयोग तो यहां कहाँ है?

निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' की विशेषता न तो उसकी प्रबंधात्मकता में ही विशेष है न चरित्र-चित्रण और कथा-विधान में ही वह 'साकेत' जैसा सफल कहा जा सकता है, न उसमें 'साकेत' जैसे नाटकीय संवाद ही हैं, न भाषा-शैली-सौष्ठव में ही वह बहुत बढ़ा-चढ़ा कहा जा सकता है, न भाव-विस्तार और विविध रस-चित्रण में ही उसकी अधिक शक्ति निहित है, अपितु उदात्त प्रेम-चित्रण—उदात्त रस-चित्रण—में ही उसकी वास्तविक शक्ति दिखाई देती है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो 'प्रियप्रवास' को महाकाव्य का गौरव प्रदान कर रहा है, यही उसके सीमित भाव-बोध को व्यापक एवं उदात्त बना रहा है, इसी से उसमें नवीन जीवनवादी प्रेरणायें तथा परम्परागत धार्मिकता-पौराणिकता के स्थान पर अभिनव

छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।
घुल-घुल कर बह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से ॥

इसमें फ़ारसी काव्य का रंग स्पष्ट है।

वस्तु वर्णन में कवि ने प्रिय के नख-शिख का सुन्दर वर्णन किया है। जो आँसू के पृष्ठ इक्कीस से प्रारम्भ होता है[1] और पृष्ठ चौबीस तक चला जाता है। वर्णन परम्परा जन्य होते हुए भी कवि ने नई कल्पनाओं की भी उद्‌भावना की है। प्रिय की आँखों में काजल की रेख लगी हुई है जिसे देखकर वहाँ से मन ही नहीं हटता। उस रेख को अंडेमान के काले पानी का विनाश कहकर कवि ने केवल 'दूर की कौड़ी' लाने की ही चेष्टा नहीं की बल्कि भावानुभूति में भी गहराई[2] भर दी है। कानों का वर्णन भी नवीनता लिए हुए है।

आँसू में बाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रायः आँखें नहीं खोल सकी हैं। वह अन्तः प्रकृति से मिलकर उसे खिलाने में सहायक मात्र हुई है।

सिरस का फूल 'कुसुमाकर'-रजनी के पिछले पहरों में खिल और प्रातः धूल में मिलकर प्रेमी के मन की रात और प्रातःकालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारों पर जाकर शीघ्र ही अपने में लौट आती है मानों उसे वहाँ कोई भूली चीज़ याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छानबीन कर रहा हो। रात का आंशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से।
जग छा दो श्यामलता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरें, ये बनकर तारा।
सित सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा।

'प्रसाद' निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा

१. बांधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से?......आदि
२. चंचला स्नान कर आवे......
आलोक मधुर थी ऐसी!

अंतिम सर्ग में तो न ब्रजांगनाओं का विरह-विदग्ध रूप ही भाता है और न राधा का उपकार-पूर्ण उपचार ही संगत प्रतीत होता है।

'प्रियप्रवास' की प्रबंध-योजना भी विशेष सफल नहीं मानी जा सकती। यद्यपि कृष्ण चरित्र की पर्याप्त विस्तृत अवतारणा इसमें हुई है, तथापि कवि का मुख्य उद्देश्य कृष्ण-प्रवास-जन्य विरह-चित्रण ही रहा है, इससे न तो उत्सुकतापूर्ण घटना-कथा-विधान की ओर कवि ने कोई ध्यान दिया है और न जीवन-परिस्थितियों की कोई मौलिक काल्पनिक उद्भावना ही की है। प्रबंध में न तो 'रामचरितमानस' और 'साकेत' जैसा घटनाओं और संघर्षों का घात-प्रतिघात है, न नाटकीय कौतुहल-पूर्ण कथात्मक रोचकता। पूर्वापर प्रसंग-विधान भी भाव-संवेदना-अनुसार नहीं है। यदि कृष्ण के लोकसेवी रूप का नाटकीय प्रकाशन पहले होता तो आरंभिक सर्गों की विरह-वेदना अधिक उपयुक्त, उचित एवं मार्मिक प्रतीत होती।

इस काव्य में भाषा-सौष्ठव की भी कोई बड़ी विशेषता नहीं है। 'कामायनी' जैसी कलात्मक प्रौढ़ नई अभिव्यंजना तो कहाँ, 'साकेत' जैसी सफल भाषा-शैली भी 'प्रियप्रवास' में नहीं है। इसमें भाषा-शैली के कुछ प्रयोग साधारण गुण हैं तथा कुछ साधारण दोष भी हैं। भावों-विचारों की सरलता के साथ अनेक स्थानों पर भाषा की सरलता, स्वाभाविक अलंकरण, अतुकांत या भिन्नतुकांत वर्ण-वृत्त-शैली का सर्वप्रथम सफल प्रयोग, स्वाभाविक प्रवाह, भावानुकूलता आदि भाषा-शैली के साधारण गुण हैं तो कहीं-कहीं अस्वाभाविक अप्रचलित संस्कृत शब्द-प्रयोगों की अतिरंजना, परम्पराभुक्त रूढ़ उपमान-योजना, कहीं-कहीं भद्दी गद्यात्मकता, कुछ मुहावरों का गलत प्रयोग, लाक्षणिक अभिव्यंजना की कमी आदि कुछ साधारण दोष या अभाव हैं। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण में भी कहीं-कहीं व्यर्थ की परिगणन-शैली दोषपूर्ण ही कही जा सकती है, तो कुछ स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन रूप में तथा उद्दीपन-कारी चित्रण मार्मिक बन पड़ा है। 'कामायनी' जैसा अनूठा प्रकृति-प्रयोग तो यहाँ कहाँ है?

निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' की विशेषता न तो उसकी प्रबंधात्मकता में ही विशेष है न चरित्र-चित्रण और कथा-विधान में ही वह 'साकेत' जैसा सफल कहा जा सकता है, न उसमें 'साकेत' जैसे नाटकीय संवाद ही हैं, न भाषा-शैली-सौष्ठव में ही वह बहुत बढ़ा-चढ़ा कहा जा सकता है, न भाव-विस्तार और विविध रस-चित्रण में ही उसकी अधिक शक्ति निहित है, अपितु उदात्त प्रेम-चित्रण—उदात्त रस-चित्रण—में ही उसकी वास्तविक शक्ति दिखाई देती है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो 'प्रियप्रवास' को महाकाव्य का गौरव प्रदान कर रहा है, यही उसके सीमित भाव-बोध को व्यापक एवं उदात्त बना रहा है, इसी से उसमें नवीन जीवनवादी प्रेरणायें तथा परम्परागत धार्मिकता-पौराणिकता के स्थान पर अभिनव

निकलने लगे। अग्नि की चिंगारियाँ स्फुल्लिग कहलाती हैं। अतः गरम आँसू और स्फुल्लिग का गुण साम्य होने से स्फुल्लिग गरम आँसू का प्रतीक बना दिया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यंजित होती है।

निर्झर सा झिर-झिर करता माधवी कुंज छाया में।

'माधव कुंज' 'प्रिय' का प्रतीक है और 'छाया' 'सान्निध्य' का। माधवी कुंज में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश प्रिय के रूप स्वभाव आदि का द्योतक है। इसमें उपमेय प्रिय का लोप होकर उपमान ही कथित होने से साध्यवसाना लक्षणा है। 'माधवी कुंज' शब्द प्रयोग 'प्रिय' के सौन्दर्य की बड़ी सुन्दर प्रतिमा खड़ी कर देता है। 'झिर-झिर करना' में लक्षणा से मन के सरस रहने, आनंदित रहने, का भाव लक्षित होता है। 'बांधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से' में विधु लक्षक शब्द है जिसमें साध्यवसाना अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा है। 'विधु' का उपमेय 'मुख' पृथक् न कहकर उसका अध्यवसान 'रूप' में कर दिया गया है। कवि का प्रयोजन मुख का अधिकाधिक सौन्दर्य प्रदर्शित करना स्पष्ट ही है। 'काली जंजीरों' से कवि का प्रयोजन 'केशों' की श्यामता दिखाना है। इसमें भी उपमान का ही उल्लेख है, उपमेय केशों का अध्यवसान है। इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है। इसी प्रकार "मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से" में भी साध्यवसाना लक्षणा है। 'नीलम की नाव निराली' में उपमान मात्र का उल्लेख होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

'विद्रुप सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे ?' में मूंगे की सीपी के वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अतः लक्षणा से मूंगे के समान लाल 'अधर-पुट' प्रकट हुआ है। चूंकि उपमेय अकथित है इसलिए उसका अध्यवसान उसके उपमान में होने से यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है।

इसी प्रकार 'दाँत' उपमेय का 'मोती' उपमान में अध्यवसान होने से 'मोती के दाने' में साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है। लक्षण लक्षणा में लक्षक शब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ देता है। 'मोती के दाने' का जब अर्थ दांत लिया गया तब स्पष्टतः लक्षण लक्षणा है।

आँसू के चरण चरण में लक्षणा और प्रतीक का कलापूर्ण सौन्दर्य चमक कर सहृदय पाठक को चमत्कृत और बहुधा भावविभोर बनाता है। कवि ने स्थूल के सूक्ष्म और सूक्ष्म के स्थूल उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं। साथ ही सूक्ष्म के सूक्ष्म और स्थूल के स्थूल उपमान भी पाए जाते हैं।

स्थूल का सूक्ष्म उपमान :—

'मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गए थे।'

२५
आँसू

आचार्य विनयमोहन शर्मा

प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहे, तो उसे 'आँसू' की ओर ही इंगित किया जा सकता है। आँसू की ओर सहसा आकर्षण के दौड़ने के दो ही कारण हैं—एक तो, उसमें प्रेम की स्मृति इतनी सत्यता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अविलम्ब साधारणीकरण हो जाता है—हम कवि की स्मृति के साथ अपनी सोई हुई वेदना को अपनी ही आँखों में छाई हुई पाते हैं, जो उनके आँसुओं के साथ ही बहने लगती है। दूसरा गुण है उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली। यद्यपि बिहारी के दोहों में 'गागर' में 'सागर' लहरा चुका था पर प्रसाद ने सागर को इतना प्रच्छन्न रखा है कि वह हर पात्र में समाकर भी असीमता कायम रखता है। उसमें इतनी व्यापक अभिव्यक्ति है। तभी स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है ('आँसू' में) "अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम-वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व के मङ्गलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है।"

श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में 'प्रसाद' जी की आंसुओं की पंक्तियों ने हिन्दी जगत् को प्रथम बार उस वेदनावाद की मादकता से विभोर किया, जिससे बाद में सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा था। वेदना की भयंकर बाढ़ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता 'प्रसाद' जी के इन आँसुओं में रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास में वास्तव में अतुलनीय है।"

हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यदि आँसू का प्रकाशन न होता तो छायावाद की भूमि ही अनिर्दिष्ट रह जाती; अन्तर्भावनाओं की—उन भावनाओं की जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो पाती। यह छायावाद-युग की प्रतिनिधि रचना है। "कामायनी" में काव्य दार्शनिकता का स्पष्ट आवरण भी ओढ़े हुए है।

'आँसू' में अलंकार-योजना प्राय: भावों का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक हुई है। प्राय: इसलिए कि ऐसे भी स्थल हैं—जहाँ अलंकारों ने भाषा की ही श्री वृद्धि की है।

कलापक्ष का विवेचन करते समय हमें आँसू के छन्द पर भी विचार करना होगा। स्व० पं० अवध उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' में आँसू की पंक्तियों के छन्द का नामकरण ही 'आँसू छन्द' कर दिया है पर वास्तव में यह आनन्द छंद है जो २८ मात्राओं का होता है जिसमें प्रत्येक १४ मात्राओं पर विराम होता है। 'प्रसाद' को ही इसे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय है। 'आँसू' के प्रकाशित होने के पश्चात् महादेवी आदि की रचनाओं में बहुत समय तक "आनन्द" छन्द का ही कल-नाद सुनाई दिया। विहारी ने जिस प्रकार 'दोहा' छंद में भावों का सागर लहराने का यत्न किया उसी प्रकार 'प्रसाद' ने 'आनन्द-छंद' में लक्षणा के सहारे भावों की संहृति प्रदर्शित की है। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय 'प्रसाद' हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं, इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहता है तो उसे आँसू की ओर इंगित किया जा सकता है।

आँसू पर बंगला प्रभाव :—

हैदराबाद की 'कल्पना' (अक्टूबर ५१) में आंसू की मौलिकता की चर्चा करते हुए लेखक ने उस पर बंगला प्रभाव प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। पर उसके अधिकांश उदाहरण ऐसे हैं जो किसी भी विरह काव्य में खोजे जा सकते हैं—

आँसू की पंक्ति है :—

"विष प्याली जो पीली थी वह,
मदिरा बनी हृदय में।"

लेखक ने इसके जोड़ में चण्डीदास की यह पंक्ति प्रस्तुत की है—

"के जाने खाइले गरल हइवे पाइवे एतेक दुखे।"

(मुझे क्या पता था कि गरल खाने पर इतना दुःख झेलना पड़ता है।)

प्रसाद में विष का मदिरा में परिणत होने का जो भाव है और उससे उसमें जो उत्कृष्टता, गहनता आ गई है वह चंडीदास में कहाँ है। चण्डीदास को विष दुःख देता है। 'प्रसाद' बार-बार विष पीने को ललचते हैं। जिस तरह मदिरा पी-पी कर भी और और की ललक बनी रहती है उसी प्रकार प्रसाद में 'विष' पीने की चाह प्रति बार उल्लास भरती जाती है।

बंगला से इन्दिरा देवी की यह पंक्ति उद्धृत है—

"आकाश भरे उठत तारो, फुटत हास चाँदेर मुखेर।"

और उसकी जोड़ में 'प्रसाद' की यह पंक्ति दी गई है—

"मधुराका मुसकाती थी, पहले जब देखा तुमको।"

दान, कलिकाओं की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधुपात्रों पर मँडराते हुए मलिन्दों के गुंजार, सौरभहर समीर की लपक-झपक, पराग-मकरन्द की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधु-वर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर दृष्टि जाती थी।" दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—"प्रसाद जी का काव्य मूलतः मानवीय है।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं जो 'प्रसाद' की रचनाओं में रहस्यवाद ही पाते हैं। वे इसे विरह-काव्य तो मानते हैं पर विरह में अलौकिकता का आरोप करके आत्मा को परमात्मा के विरह में 'आँसू' बहाता पाते हैं। हाल ही एक समाचार पत्र में 'आँसू' के कथानक की रोचक 'खोज' पढ़ने को मिली। उसे यहाँ हम मनोविनोद के लिए दे रहे हैं। "इसमें (आँसू में) सृष्टि के मिलन और विरह का आख्यान है। सवाल उठता है सृष्टि का यह मिलन और विरह किससे? 'सुन्दर' से 'चिर सुन्दर' से। (फिर सवाल उठता है—यह 'सुन्दर'—'चिर सुन्दर'—कौन? इसका उत्तर आगे ब्रह्म कहकर दिया गया है।) आँसू की कथा लेखक यों देते हैं—

"सृष्टि की एक महामिलन की अवस्था थी। उसमें सर्वदा सुन्दर का विस्तार था। सृष्टि और सुन्दर एक दूसरे से परे पड़े थे।" (मिलन की अवस्था थी और "परे भी पड़े थे।" यह विरोधाभास भी रहस्यमय है।)

आगे और भी सुनिए—"वस्तुतः सृष्टि और सुन्दर दो चीजें नहीं थीं केवल एक ही वस्तु थी—सुन्दर के यहाँ विस्तार पदार्थ का असीम समूह। महामिलन की यह अवस्था एक लम्बे युग तक चलती रही। फिर पदार्थ का पृथक्करण होना शुरू हुआ। पृथ्वी आकाश से अलग हो गई, (तो क्या आकाश और पृथ्वी भी एक थे?) नक्षत्र अलग हो गए। यह प्रतिक्रिया (?) भी एक लम्बे समय तक चलती रही। भीषण आँधियाँ उठीं, बर्फ की चट्टान पिघल-पिघल कर सागर, सरिता, सरोवर आदि के रूप में बहने लगीं। भीषण आँधियां आईं, अन्धेरा छाया, बिजलियाँ कड़कीं। संक्षेप में सृष्टि विभिन्न तत्त्वों में बँट गई। फिर सृष्टि में चेतना तत्त्व का विकास हुआ और 'सुन्दर' तिरोहित हो गया तब से सृष्टि का सुन्दर से विरह शुरू हो गया। विरह का आविर्भाव क्यों हुआ? चेतना के कारण। चेतना शून्य अवस्था में द्वन्द्व का अस्तित्व नहीं था, सर्वत्र एक ही तत्त्व था चिर-सुन्दर, पर चेतना के साथ सुख-दुःख का भेद प्रकट होने लगा। अब हजारों सालों से सृष्टि की यह विरहावस्था चली आ रही है। उस सुन्दर का, जो सृष्टि के महामिलन की अवस्था में सर्वत्र विद्यमान था, ज्ञान कवि की प्रतिभा को होता है। उसकी पूर्व-स्मृति जाग उठती है। कवि दृष्टि के महामिलन की अवस्था का ध्यान करके अब चतुर्दिक् विरह का प्रसार देखकर नो-नो (?) आंसू बहाता है। अन्त में उसे इस बात से आश्वासन प्राप्त

का कुनबा जोड़ते रहते थे। उनकी प्रेमानुभूति सहज गहन थी। अतः अन्य अनुभूति-शील कवि के उद्‌गारों में यदि उन्हीं जैसे भावों का साम्य है तो क्या आश्चर्य है?

श्रीमती शचीरानी ने अपने 'साहित्य दर्शन' में गेटे के वेंटेर की तुलना 'प्रसाद' के आँसू से करते हुए लिखा है—

"ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा "वेंटेर" की रचना हुई उसी परिस्थिति में 'आँसू' भी लिखा गया, किन्तु वेंटेर में धधकती अग्नि सुलग रही है, जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और आँसू में शीतल ज्वाला है, जिसका धुंआ अन्दर ही अन्दर उठकर रम जाता है। 'वेंटेर' में मस्तिष्क की आंधी तूफ़ान बन कर प्रकट हुई है—" आँसू में प्रशांत भाव-धारा अश्रुकणों में बिखर कर फूट पड़ी है।" पर इस तुलना का यह आशय नहीं है कि 'प्रसाद' के 'आँसू' पर गेटे की किसी कृति का प्रभाव पड़ा है। प्रसाद का जीवन गेटे के समान विछलन भरा भी नहीं रहा। 'प्रसाद' ने स्त्री में अत्यन्त सौन्दर्य व अनन्त प्रेम और पवित्रता के दर्शन किये थे, तभी एक साधक के समान उन्होंने उसके गौरव के गीत गाये हैं।"

से पहली पंक्ति के "झंझा झकोर, विजली और नीरद माला" शब्दों को लेकर यह कल्पना तो कर ली कि यह सृष्टि पर होने वाले प्रलय का वर्णन है पर उसी की दूसरी पंक्ति "पाकर इस शून्य हृदय को, ' ...सबने आ डेरा डाला।" को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें 'झंझा' 'बिजली' और 'नीरद माला' भावों की हलचल वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत किए हुए थे।

इसी प्रकार 'छिल-छिल कर छाले फूटे' का (सृष्टि के ?) 'प्रवल उष्ण पदार्थ का कुछ हिस्सा फफोले की तरह फूट गया,' अर्थ लेखक की दिमागी कसरत ही प्रतीत होती है। 'बुलबुले सिंधु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी' का अर्थांश 'उस असीम समूह से प्रकाश पुंज के पिंड के पिंड अलग हो गए। ये सब नक्षत्र बन गए,' भी असंगत है। पंक्ति में नक्षत्र मालिका बनने का भाव कहाँ है ? वहाँ तो उसके टूटने की चर्चा है। आगे 'नभमुक्त कुन्तला धरणी' का अर्थ बेचारी यह पृथ्वी नभमुक्त होकर यानी पदार्थ के उस वृहत्तम समूह से अलग होकर किया गया है। इससे क्या यह समझा जाय कि 'नभ' ृथ्वी के समान ठोस विस्तृत पदार्थ है जिसका एक टुकड़ा यह पृथ्वी है ? यह बात विज्ञान से सिद्ध नहीं होती। फिर 'मुक्त कुन्तला धरणी' का अर्थ बिखरे बाल हैं जिसके ऐसी, भी किया गया है। 'मुक्त', कुण्डला का विशेषण हो जाने पर उसका 'नभ' से क्या सम्बन्ध जोड़ा गया है यह स्पष्ट नहीं है। इतनी खींचतान करने पर भी लेखक अन्त तक सृष्टि के सर्जन और विसर्जन (प्रलय) की वैज्ञानिक कहानी का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाए हैं। अतः अन्त में उन्होंने यह लिखकर झंझट से छुट्टी पा ली है कि "आँसू के कथानक में वैज्ञानिकता अवैज्ञानिकता दोनों हैं।" यह सब गड़बड़झाला इसलिए हो गया कि लेखक ने 'प्रसाद' के प्रतीकों को ठीक रूप में पकड़ने की चेष्टा नहीं की और न उनकी संगति ही वे जमा पाए। कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है। पाठक उसे अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ देने के लिए स्वतंत्र हैं, पर अर्थ ऐसा हो जो संगति के 'चारों खूंट घेर ले'। 'आँसू' में कला की सजगता इतनी अधिक है कि पाठक उसमें मनमाना अर्थ खोज सकता है पर वही अर्थ मान्य होना चाहिए जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके। इसीलिए हमने उसे मानवीय काव्य माना है—रहस्यवादी नहीं। शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमय कोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है, चैतन्य 'मनोमय' और 'आनन्दमय' कोषों में एकता का अनुभव करता है। अन्तिम कोटि की रचनाएँ चाहे जो कहलाएँ, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनसे बुद्धि का कौतूहल दूर हो सकता है, हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती।

आँसू में व्यक्त के प्रति ही आकांक्षा प्रकट की गई है इसमें अन्नमय कोष का—स्थूल सौन्दर्य का—आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्‌गारों से प्रकट है—

इन्द्रीयातीत भगवान कृष्ण को अपने आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझने लगीं। भगवान का सन्देश सुनने पर उन्हें शुद्ध-ज्ञान प्राप्त हुआ। गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिए उद्धव कई महीने ब्रज में रहे और उनकी प्रेम-भक्ति से बड़े प्रभावित हुए। लौटते समय बाबा नन्द और गोपगणों ने उन्हें बहुत सी भेंट की सामग्री दी जो उन्होंने मथुरा लौटकर कृष्ण को दे दी और ब्रजवासियों की प्रेम भक्ति का जैसा उद्रेक उन्होंने देखा था, वह भी कृष्ण को कह सुनाया।"

भागवत की यही कथा हिन्दी के भ्रमरगीतों की कथा का आधार है जिसमें कवियों ने अपनी रुचि और युग परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किए हैं। हिन्दी की भ्रमर-गीत परम्परा में सूरदास और नन्ददास की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाबू गुलाबराय के मतानुसार "निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य व्यंग्यपूर्ण निरर्थकता सिद्ध करने के लिए यह दोनों ग्रंथ अद्वितीय हैं।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन कवियों ने कथानक में भी कुछ परिवर्तन किया है। इनके उद्धव ज्ञान और योग के प्रतीक हैं जो ज्ञान और योग से भरा हुआ सन्देश गोपियों को सुनाते हैं और उनके प्रेमातिरेक के सम्मुख पराजित होकर लौटते हैं।

उद्धव-शतक के कथानक की मौलिकता

उद्धव-शतक भी भागवत के इसी प्रसंग पर आधारित है, परंतु कवि ने अपनी रुचि अनुसार कथा में कुछ परिवर्तन भी किया है। उसे युग की परिस्थितियों का प्रभाव भी कहा जा सकता है। इसमें कथा का आरम्भ राधा और गोपियों के प्रति कृष्ण की विरह-व्याकुलता से होता है। यमुना में स्नान करते समय कृष्ण एक मुरझाए हुए कमल को देखते हैं जिसमें उन्हें राधा की सुगन्धि आती है, वे विह्वल हो उठते हैं और तत्क्षण अपने परम सखा उद्धव को व्रज जाने को कहते हैं। इस समय उद्धव कृष्ण को ही ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं, जिसके उत्तर में कृष्ण केवल इतना ही कहते हैं कि एक वार 'गोकुल गली की धूरि धारण कर आओ' तब आकर ऐसा उपदेश दो तब जानें। वास्तव में उसके ज्ञान की इस गरिमा को दूर करने के लिए ही कृष्ण उसे गोकुल भेजते हैं। इस तरह का प्रसंग भागवत में नहीं आया।

ज्यों ही उद्धव अपनी ज्ञान की गठरी उठाकर व्रज की भूमि पर कदम रखते हैं उनकी ज्ञान गरिमा ढलने लगती है। भागवत की भांति उनकी भेंट नंद यशोदा से नहीं होती, वरन् गोपियों से ही उनका मिलन होता है। नन्द यशोदा सारे ग्रंथ में केवल एक स्थान पर उद्धव के लौटते समय उसे भेंट देते हुए ही दिखाई देते हैं। उद्धव को भेंट देने का यह प्रसंग भागवत में तो है, परन्तु सूर और नन्ददास ने इसका वर्णन नहीं किया।

तो क्या हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति यह मान लें कि 'आंसू' की वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं और 'उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता'? पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर देखा जाय, तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे, किन्तु उसकी मनोभूमि में प्रविष्ट होने पर हमें उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी अन्तर्हित दिखलाई देती है। उसकी निर्दिष्ट भूमि भी मिलती है।

'आंसू' के नायक को 'दुर्दिन'[1] में अपने गत वैभव-विलासपूर्ण जीवन का स्मरण हो आता है। उसकी प्रेयसी की मदमाती छवि उसकी आंखों में बस जाती है। उसे याद आता है, मानों 'हाफ़िज़' के शब्दों में 'माशूकों' के जमाव में सम्राट् एक ही था, गिनती में वे हज़ारों थे, मगर उसके दिल को चुराने वाला एक ही था।[2] स्मृति के जागृत होते ही वह उदास हो जाता है, अपने 'प्रिय' के प्रथम आगमन—प्रथम परिचय की अवस्था को रह रह कर बिसूरने लगता है। कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की नई स्वर्गिक आभा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी।[3] उसका मधु राका को ले जाने वाला 'मुख' देखते ही उसकी ओर खिंच गया था। Love at first Sight[4] इसी को कहते हैं। उसमें वह अपना अस्तित्व ही भूल गया। उसने उस पर पूर्णाधिकार जमा लिया है।[5] जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्र हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्यकलाप का बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम आंसू के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य वर्णन में—नहीं, नहीं, उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी हर्ष विकम्पित पाते हैं। 'चांदनी' की चांदी भरी रातें, सुख के सपनों की, अधिक समय तक उसके 'कुञ्ज' में वर्षा नहीं करने पाई। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुंह भी मोड़ लेती है।[6] तब उसका हृदय स्वभावतः जलता है, तड़पता है। उसमें आशा-निराशा की आंख मिचौनी सी होती रहती थी। जब सशरीर अपने निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य सुख का अनुभव करने लगता है—

---

1. जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
   दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई॥
२. थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में।
३. गौरव था नीचे आए मिलने को प्रियतम मेरे।
४. परिचित से जाने कब के, तुम लगे उसी क्षण हमको।
५. पर समा गए थे मेरे मन के निस्सीम गगन में।
६. छिप गई कहां छूकर वे, मलयज की मृदुल हिलोरें।
   क्यों घूम गई हैं आकर करुणा कटाक्ष की कोरें।

इन्द्रीयातीत भगवान कृष्ण को अपने आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझने लगीं। भगवान का सन्देश सुनने पर उन्हें शुद्ध-ज्ञान प्राप्त हुआ। गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिए उद्धव कई महीने ब्रज में रहे और उनकी प्रेम-भक्ति से बड़े प्रभावित हुए। लौटते समय बाबा नन्द और गोपगणों ने उन्हें बहुत सी भेंट की सामग्री दी जो उन्होंने मथुरा लौटकर कृष्ण को दे दी और ब्रजवासियों की प्रेम भक्ति का जैसा उद्रेक उन्होंने देखा था, वह भी कृष्ण को कह सुनाया।"

भागवत की यही कथा हिन्दी के भ्रमरगीतों की कथा का आधार है जिसमें कवियों ने अपनी रुचि और युग परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किए हैं। हिन्दी की भ्रमर-गीत परम्परा में सूरदास और नन्ददास की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाबू गुलाबराय के मतानुसार "निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य व्यंग्यपूर्ण निरर्थकता सिद्ध करने के लिए यह दोनों ग्रंथ अद्वितीय हैं।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन कवियों ने कथानक में भी कुछ परिवर्तन किया है। इनके उद्धव ज्ञान और योग के प्रतीक हैं जो ज्ञान और योग से भरा हुआ सन्देश गोपियों को सुनाते हैं और उनके प्रेमातिरेक के सम्मुख पराजित होकर लौटते हैं।

उद्धव-शतक के कथानक की मौलिकता

उद्धव-शतक भी भागवत के इसी प्रसंग पर आधारित है, परंतु कवि ने अपनी रुचि अनुसार कथा में कुछ परिवर्तन भी किया है। उसे युग की परिस्थितियों का प्रभाव भी कहा जा सकता है। इसमें कथा का आरम्भ राधा और गोपियों के प्रति कृष्ण की विरह-व्याकुलता से होता है। यमुना में स्नान करते समय कृष्ण एक मुरझाए हुए कमल को देखते हैं जिसमें उन्हें राधा की सुगन्धि आती है, वे विह्वल हो उठते हैं और तत्क्षण अपने परम सखा उद्धव को ब्रज जाने को कहते हैं। इस समय उद्धव कृष्ण को ही ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं, जिसके उत्तर में कृष्ण केवल इतना ही कहते हैं कि एक बार 'गोकुल गली की धूरि धारण कर आओ' तब आकर ऐसा उपदेश दो तब जानें। वास्तव में उसके ज्ञान की इस गरिमा को दूर करने के लिए ही कृष्ण उसे गोकुल भेजते हैं। इस तरह का प्रसंग भागवत में नहीं आया।

ज्यों ही उद्धव अपनी ज्ञान की गठरी उठाकर ब्रज की भूमि पर कदम रखते हैं उनकी ज्ञान गरिमा ढलने लगती है। भागवत की भांति उनकी भेंट नंद यशोदा से नहीं होती, वरन् गोपियों से ही उनका मिलन होता है। नन्द यशोदा सारे ग्रंथ में केवल एक स्थान पर उद्धव के लौटते समय उसे भेंट देते हुए ही दिखाई देते हैं। उद्धव को भेंट देने का यह प्रसंग भागवत में तो है, परन्तु सूर और नन्ददास ने इसका वर्णन नहीं किया।

भाव-पक्ष

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है, परन्तु वे कुछ एक-नौ-में परिगणित कर लिए गए हैं। वे ही हमारे मूल भाव माने जाते हैं। शेष समय-समय पर तरंगित हो उठते हैं। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ मान्य हैं जो अपने आश्रय के सुख दुःख तक ही सीमित नहीं हैं प्रत्युत् जिनकी व्याप्ति विश्व में समाई हुई है। जो केवल कवि में उदित नहीं होते, समान परिस्थिति में अन्य व्यक्तियों में भी जाग उठते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन भावों में साधारणीकरण की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति-विशेष के भाव हो सकते हैं—साहित्य के नहीं।

'प्रसाद' के आँसू उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुल्लिग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएं-निराशाएँ भी प्रतिविम्बित जान पड़ती हैं। वे हममें पीड़ा भरकर भी अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करते हैं। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशेषता है—वे सीधे निःसृत होकर सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डालकर आते हैं। जब तक हम कवि के सक्षम निर्मित अवगुण्ठन को पहचान नहीं पाते वे हमारे मन में 'रस बूंद' नहीं बरसा पाते, हमें आत्मविभोर नहीं बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न होकर 'प्रसाद' ने बहुत कम लिखा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खींच कर ओझल हो जाते हैं। हमें अपनी भावनाओं का रंग भरने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर सकता—उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'पीड़' को भूल जाता है वहीं उसकी बुद्धि जाग उठती है, विवेक के गीत गाने लगती है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध आलोचक 'रिचर्डस्' आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० ईलियट की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखता है कि "उसके काव्य में विचारों का संगीत झरता है" (His Poetry can be called a music of ideas.........they are there to be responded to, not to be pondered or worked out.)।

उसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नहीं बनता, 'बहता' है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है वह इसी कोटि का है। कवि जहाँ अपनी वेदना को विश्व में बिखेरने के लिए अपने चारों ओर आँखें दौड़ाते हैं वहाँ उनमें भावावेश (Emotion) का वह अंश सो जाता है जिसका संसार अपने तक ही रहता है। "बुद्धि ही बहिर्मुखी बनाती है।" 'कवि' के 'बहिर्मुखी' होने पर भी उनके अनुभूत गीतों में शुष्कता नहीं है। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर ये पंक्तियां क्या हमारे मर्म तन्तुओं को नहीं हिलातीं ?—

हैं तो उद्धव उन्हें ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध में ज्ञान देने लगते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है, स्वप्नवत् है और इसके सभी कार्य-व्यापार एवं सम्बन्ध भी स्वप्नवत् हैं। देखिए :—

पाँचौ तत्व यांहि एक सत्व ही की सत्ता सत्य,
याही तत्व-ज्ञान को महत्त्व स्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ क्यौं पुनि,
भेद पंच भौतिक के रूप मैं रचायौ है।
गोपिनि मैं, आप मैं वियोग और संजोग हूं मैं,
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपुकौ मिलाप और बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है ।।१५।।

× × ×

असत असार या पसार मैं हमारी जान,
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं।
जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं,
जैसे सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं ।।१६।।

संसार के असत्य प्रसार में सभी लोग भरमाए हुए हैं। गोपियाँ भी आपका ही रूप हैं तब उनसे वियोग और संयोग की भावना मिथ्या है। उद्धव के इस ज्ञान के उत्तर में कृष्ण केवल इतना ही कहते हैं कि एक बार गोकुल हो आओ, फिर आकर हमें यही ज्ञान की बातें सुनाओ तब जानें। और सुयश कमाने के लिए उमंग के साथ अपने ज्ञान की गठरी उठाकर जब उद्धव चलने लगते हैं तो गोकुल के मार्ग में ही उनके हृदय में प्रेम और भक्ति के अंकुर फूटने लगते हैं, उनकी ज्ञान-गठरी की गांठ खुलने लगती है और उनकी सभी विचार पूंजी फैलकर कछार के करीलों और तमाल-कुंजों में उलझ जाती है :—

लै कै उपदेश औ संदेश पन ऊधौ चले
सुजस कमाइबै उछाह-उदगार मैं।
कहै रतनाकर निहारि कान्ह कातर पै
आतुर भए यौं रह्यौ मन न संभार मैं।
ज्ञान गठरी की गांठि छरकि न जान्यो कब
हरैं-हरैं पूंजी सब सरकि कछार मैं।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानि अरु
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं ।।२२।।

स्मृति, दीनता, क्रीड़ा आदि भावों का संचार 'आंसू' में मिलता है। शास्त्रीय भाषा में ये विप्रलम्भ शृङ्गार के संचारी-भाव कहे जाते हैं। यहाँ कतिपय संचारी भावों के उदाहरण दिए जाते हैं—

मोह

"इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा।
वह एक अबोध अकिंचन,
बेसुध चैतन्य हमारा॥"

स्मृति

"मादक थी मोहमयी थी,
मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है,
वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥"
(स्मृति के कई पद 'आँसू' में मिलते हैं।)

ग्लानि

"बेसुध जो अपने सुख से,
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएं।
अवकाश भला है किन को
सुनने को करुण कथाएं।"

धृति

"निष्ठुर! यह क्या छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह निशा की,
हम होंगे औ' दुःख होगा।"

क्रीड़ा

रो रोकर सिसक-सिसककर,
कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अनजानी॥

इसमें निष्ठुरता का भाव तो स्पष्ट है पर प्रेमी की प्रेमभरी बातें सुनने से प्रेमिका का दुर्लक्ष्य प्रदर्शित करने में "लज्जा" का संचारी भाव भी ध्वनित हो रहा है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि काव्य में रस की भांति संचारी भाव भी ध्वनित होते हैं। करुण भाव की यत्र-तत्र पर्याप्त झलक दिखलाई देती है, वह उसी से व्याप्त है। एक जगह प्रसाद ने 'शृंगार' में वीभत्स को समाविष्ट कर दिया है—

देखौ भ्रम पटल उघारि ज्ञान-आँखिन सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है।

इसीलिए उद्धव गोपियों को योगाभ्यास द्वारा आत्मा को अविचल परमात्मा में लीन करने का उपदेश देते हैं :—

अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि,
जोग जुगती करि जुगावौ ज्ञान धन कौं।
जीव आतमा कौ परमातमा में लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं ।।३३।।

उद्धव तो इतना सा उपदेश देकर चुप हो जाते हैं, परन्तु उसके ये शुष्क, नीरस और कठोर वचन पत्थर की भाँति गोपियों के मन-मुकर को चूर-चूर कर देते हैं। वे तो कृष्ण का प्रेम-भरा मधुर सन्देश सुनना चाहती थीं और सुनने को मिली ज्ञान और योग की ये शुष्क बातें ! वे व्याकुल हो उठती हैं और अधीर होकर कभी तो उद्धव से दीन वचन कहती हैं, कभी अपनी वियोग दशा का वर्णन करती हुई अपने प्रेम का वास्ता देकर उनसे कृष्ण के दर्शन कराने के लिए अनुनय करती हैं, कभी योग और ज्ञान की बातें समझने अथवा उन पर आचरण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं, कभी तर्क-पूर्ण शब्दों से उद्धव के मत का खण्डन करती हैं, तो कभी अपने वाक्-चातुर्य द्वारा उद्धव तथा उनके मित्र कृष्ण पर तीखे व्यंग्य कसती हैं और मीठे उपालम्भ देती हैं। 'उद्धव-शतक' में सर्वाधिक विस्तार गोपियों के प्रत्युत्तर को दिया गया है। ११७ कवित्तों के इस ग्रंथ में ६३ कवित्त गोपियों के प्रत्युत्तर से सम्बन्धित हैं। अधिकतर उक्तियाँ गोपियों के निजी प्रेम की दृढ़ता की व्यंजक हैं, *"उनमें कुछ नई व अनूठी हैं, कुछ में हृदय की सीधी आभा है, कुछ में रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव की भी झलक है।" (बाबू गुलाबराय)*

रत्नाकर की गोपियों में आधुनिक युग की नारी-चेतना के भी दर्शन होते हैं। वे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहती हैं, उसे कृष्ण के व्यक्तित्व में तिरोहित करना नहीं चाहतीं। उद्धव ने आत्मा और परमात्मा की एकता स्थापित करते हुए आत्मा को योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में लीन करने के लिए जिस मार्ग का निर्देश किया था उसका खण्डन करती हुई वे कहती हैं कि ब्रह्म बन जाने की अपेक्षा व्यक्ति बने रहना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि सागर में बूंद मिल जाने से सागर का तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं, परन्तु बूंद बेचारी का तो अस्तित्व ही मिट जाता है। अपने इस भाव को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है :—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की।

सके—उन्होंने उसे 'नीलिमा शयन' पर आसीन कर 'अपाङ्ग' की चेष्टाओं में रत कर ही दिया। वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष भरी सुन्दरी बन कर चित्रित हो जाती है। यही 'रोमेंटिक' कवि का कल्पना वैभव है।

"नीलिमा-शयन पर बैठी,
अपने नभ के आँगन में।
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपाङ्ग के घन से।"

कला-पक्ष :—

इसमें भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है और भाषा शब्दों से बनती है जिनके अर्थ की दृष्टि से तीन भेद हैं—(१) वाचक (२) लक्षक और (३) व्यंजक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रकट होता है। लक्षक शब्दों से वाचक अर्थ नहीं उससे सम्बन्धित रूढ़ि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रकट होता है, उसे शब्दों की अभिधा शक्ति का परिणाम कहा जाता है और जो अर्थ लक्षक शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दों की लक्षणाशक्ति का फल कहा जाता है। जो अर्थ शब्दों की अभिधा अथवा लक्षणाशक्ति से प्रकट न होकर प्रसंग संदर्भ आदि से प्रकट होता है उसे व्यंजना शक्ति का परिणाम कहा जाता है। आँसू में शब्दों की लक्षणा शक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिए गए हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि ने "सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है"—जैसे सुख दुःख के लिए क्रमशः चन्द्रिका और अन्धेरी भावनाओं के लिए कलियों, लहर आदि के साम्य मिलते हैं। प्रथम पद्य ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है—

इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।

में 'रागिनी' लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज़ नहीं है, जिसमें 'तार' लगे हों और किसी की अंगुलियों के चलने से राग निकलें। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असंभव हो जाता है तब हमें लक्षणाशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। 'रागिनी' से हम 'दुःख का पैदा होना' अर्थ लेंगे। 'रागिनी' 'स्वर' का, उसास का प्रतीक है। इसी प्रकार "वेदना असीम गरजती" में वेदना कोई शेर नहीं जो गरजे। अतः लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है।

'ये सब स्फुल्लिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के' में स्फुल्लिंग गरम आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई। परिणामतः गरम आँसू आँखों से

सूक्ष्म के स्थूल उपमान :—

(१) 'मकरन्द मेघमाला सी वह स्मृति मदमाती आती ।'

(२) क्यों व्यथित व्योम गंगा सी, छिटका कर दोनों छोरें ।
चेतना तरङ्गिनि मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें ॥

(यहाँ चेतना सूक्ष्म उपमेय का, व्योम गंगा स्थूल उपमान है ।)

सूक्ष्म के सूक्ष्म उपमान :—

१. प्रतिमा में सजीवता सी, बस गई सुछवि आँखों में ।'
सुछवि उपमेय (सूक्ष्म) का उपमान सजीवता (सूक्ष्म) है ।

२. 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई ।'
पीड़ा (सूक्ष्म) का उपमान स्मृति (सूक्ष्म) है ।

स्थूल के स्थूल उपमान :—

१. आकाशदीप सा तब वह तेरा प्रकाश झिलमिल हो !

२. काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली ।
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली ।

३. काला पानी बेला सी है अञ्जन रेखा काली ।

४. मछली सी आँखें ।

उपमा अलंकार के अतिरिक्त रूपक और रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण भी अधिक पाये जाते हैं । 'सूर' के समान 'प्रसाद' ने लम्बे-लम्बे रूपक बाँधने की चेष्टा नहीं की । वे दो पंक्तियों में ही सुन्दर रूपक 'चित्र' उपस्थित कर देते हैं—

(१) 'मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरहन के ।
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब, उन कानों में दुःख किनके ?'

'मुख' में कमल का आरोप कर देने के पश्चात् कानों को उसके पत्ते कहकर रूपक की सार्थकता सिद्ध की गई है ।

(२) 'कामना सिन्धु लहराता, छवि पूरनिमा थी छाई ।'

(३) 'इस हृदय कमल का घिरना, अलि अलकों की उलझन में ।'
आँसू मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास पवन में ॥

(४) 'वाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय सिन्धु के तल में ।'

विरोधाभास—

'शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग जल का ।'

उदाहरण—

(१) जीवन में मृत्यु बसी है, जैसे बिजली हो घन में ।

(२) "बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में ।
नक्षत्र लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में ॥"

हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इन्दिरा देवी के "चाँदेर मुख से हास फूटते" देखकर 'प्रसाद' को 'मधुराका मुसकाने' की कल्पना हुई होगी। प्रसाद के काव्य में प्रकृति का मानवीकरण 'आँसू' से पहले भी मिलता है।

राका का मुस्काना कोई बंगला की ही अभिनव कल्पना नहीं है।

कहीं-कहीं बंगला कवि और 'प्रसाद' के भावों में टक्कर भी दिखाई देती है—

(१) "छायानट छवि पर्दे में, सम्मोहन वेणु बजाता।"

(प्रसाद)

"छन्द गीतिर आनन्दमय मधुर छाया नटे
जागिएदित जीवन-वीणाय रागरागिणी तार
मर्म माझे मुखर पीड़ेर मूर्छना झंकार।"

(२) "चातक की चकित पुकारें, श्यामा ध्वनि सरस रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की, टुकड़ी आँसू से गीली।"

—'प्रसाद'

"मौ माछि देर गुञ्जरणे जागल श्याम कुंजवने !
स्वप्नसम तार काहिनी आज के प्रिये द्विप्रहरे।"

—करुणनिदान बन्द्योपाध्याय

(३) "तुम खिसक गए धीरे से, रोते अब प्राण विकल से।"
ए हरि कहलुम तुया पाश लागि,
सो अब जीवई रहुं पुन भागी।"

—घनश्यामदास

(तुम मुझे छोड़कर भाग गए और मैं पड़ी रोती रह गई।)

प्रसाद की पंक्तियाँ हैं—

"थक जाती थी सुख रजनी, मुखचन्द्र हृदय में होता,
श्रम सीकर सदृश नखत से अम्बर पट गीला होता।"

इन्हें पढ़कर लेखक को आंग्ल कवि मौरिस की निम्न पंक्तियों का स्मरण हो आता है—

"तुम नहीं जानते कि रात होने पर मेरी प्रियतमा भी निकट आ जाती है। आपस में मधुर सम्भाषण और क्षमा प्रदान होता है। आधी रात के अंधकार में उसके चुम्बन शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं।" 'प्रसाद' की पंक्तियों में भाव-साम्य उधार ली गई सामग्री है, यह नहीं कहा जा सकता। रवि बाबू की गीताञ्जलि में कबीर के भावों की छाया देखकर जब लोगों ने उन्हें कबीर का ऋण स्वीकार करने को कहा तो उन्होंने स्पष्टता से कहा कि मैंने गीताञ्जलि की रचना के बहुत बाद कबीर का अध्ययन किया था। 'प्रसाद' टुटपुंजिए कवि नहीं थे कि वे भानमती

दाबि-दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै
ब्यौंत लिखिबै कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहि बात कछू
हाथ धरयौ ही तल थहरि थरि जात है।
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकुं धीर जोरैं पर
ऐसौ अन्त ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है।

अपनी स्थिति समझाने के लिए गोपियों ने दर्पण, लंगर, गगरी, पारे की भस्म, आतिशी शीशे, आदि के चमत्कारपूर्ण प्रयोग भी किये हैं। और कहीं-कहीं श्लिष्ट शब्दों का भी आश्रय लिया गया है। ऐसे स्थनों पर भावों की व्यंजना कम हुई है और चमत्कार प्रदर्शन अधिक है।

विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु वर्णन भी परम्परागत उद्दीपन रूप में ही किया गया है। रत्नाकर ने सभी ऋतुओं को ब्रज में चिरस्थायी कर दिया है, क्योंकि वियोग-विदग्ध-गोपियों के अंगों में उनके लक्षण सदा विद्यमान रहते हैं। उनके शरीर का पीलापन वसन्त का रंग है, उनकी उसांसों में पिक की पुकार है, उनकी पत का जाना ही पतझड़ है, और उनका पागल हो जाना ही रसालों का बौराना है। वसन्त के इस वर्णन में देखिए गोपियों के विरह की व्यंजना किस चमत्कारपूर्ण ढंग से की गई है :—

विकसित बिपिन बसन्तिकावली कौ रंग
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं।
बौरै वृन्द लसत रसाल-बर बारिनि के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं।
होत पतझार झार तरुनि-समूहनि कौ
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम-विधि वाम की कला मैं मीन-मेप कहा
ऊधौ नित वसत बसन्त बरसाने मैं।८७।

अन्य ऋतुओं का वर्णन भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण है। प्रकृति के सुन्दर स्वतंत्र संश्लिष्ट रूप के दर्शन इस ग्रन्थ में नहीं होते।

अनुभाव चित्रण

रत्नाकर को अनुभावों के चित्रण में वैसी ही सफलता मिली है जैसी बिहारी को नायक-नायिकाओं के हाव-भाव-अनुभाव आदि के चित्रण में मिली है। इन्होंने कृष्ण, उद्धव तथा गोपियों की पुलकावली, अश्रुप्रवाह, कंप, उच्छ्वास, कंठावरोध,

२६

उद्धव-शतक

डा० जयभगवान गोयल

आधुनिक युग में ब्रज-भाषा के पुरानी परिपाटी के कवियों में जगन्नाथदास रत्नाकर सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उद्धव-शतक उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। उद्धव-शतक प्रमुखतः एक विरह-काव्य है जिसका कथानक, श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत प्रसंग पर आधारित है। 'भागवत पुराण' दशमस्कंध के ४६वें और ४७वें अध्यायों में भ्रमरगीत का वर्णन हुआ है। इसी प्रसंग को आधार बनाकर हिन्दी में 'भ्रमरगीत' की एक लम्बी परम्परा के दर्शन होते हैं। उद्धव-शतक इस परम्परा की अन्तिम रचनाओं में से है और भाव-व्यंजना, वाक्-चातुर्य, रचना-कौशल आदि की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भागवत का भ्रमरगीत प्रसंग इस प्रकार है :—

"अत्याचारी कंस के दमन के पश्चात् जब कृष्ण मथुराधिपति बन जाते हैं, तब एक दिन वे अपने परम सखा तथा मंत्री उद्धव को अपना सन्देश-वाहक बनाकर बाबा नन्द और माता यशोदा का समाचार पाने तथा विरह में व्याकुल गोपियों को उनका सन्देश सुनाकर वेदना से मुक्त करने के लिए ब्रज भेजते हैं। उनके वहां पहुँचने पर नन्द बाबा और यशोदा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करके प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। उद्धव उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त करते हैं। अगले दिन जब गोपियों को उद्धव के आने का समाचार मिला तो उन्होंने उनको कृष्ण का सखा जानकर बड़ा आदर किया और एकान्त में आसन पर बिठाकर उनसे कृष्ण का कुशल समाचार पूछने लगीं। वे कृष्ण को भ्रमर के समान लोभी और स्वार्थी बताकर उन्हें बहुत से उपालम्भ देने लगीं। इस तरह उपालम्भ देती हुई वे कृष्ण की लीलाओं को याद करके आत्मविस्मृत होकर फूट-फूटकर रोने लगती हैं। उसी समय एक गोपी ने पास में एक भौंरे को गुनगुनाते देखा, उसने समझा मानो उसे कृष्ण ने ही दूत बनाकर भेजा है और उसे सम्बोधित करके वे अपनी विरह-दशा का वर्णन करने लगीं और अनेक उपालम्भ देने लगीं। उनकी उत्सुकता और व्याकुलता को देखकर उद्धव उन्हें कृष्ण का सन्देश सुनाने लगे, जिसे सुनकर उनके विरह की व्यथा शांत हो गई। वे

दाबि-दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै
ब्यौंत लिखिबै कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धरयौ ही तल थहरि थरि जात है।
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैकुं धीर जोरैं पर
ऐसौ अन्त ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है।

अपनी स्थिति समझाने के लिए गोपियों ने दर्पण, लंगर, गगरी, पारे की भस्म, आतिशी शीशे, आदि के चमत्कारपूर्ण प्रयोग भी किये हैं। और कहीं-कहीं श्लिष्ट शब्दों का भी आश्रय लिया गया है। ऐसे स्थनों पर भावों की व्यंजना कम हुई है और चमत्कार प्रदर्शन अधिक है।

विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु वर्णन भी परम्परागत उद्दीपन रूप में ही किया गया है। रत्नाकर ने सभी ऋतुओं को ब्रज में चिरस्थायी कर दिया है, क्योंकि वियोग-विदग्ध-गोपियों के अंगों में उनके लक्षण सदा विद्यमान रहते हैं। उनके शरीर का पीलापन वसन्त का रंग है, उनकी उसांसों में पिक की पुकार है, उनकी पत का जाना ही पतझड़ है, और उनका पागल हो जाना ही रसालों का बौराना है। वसन्त के इस वर्णन में देखिए गोपियों के विरह की व्यंजना किस चमत्कारपूर्ण ढंग से की गई है :—

विकसित विपिन वसन्तिकावली कौ रंग
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं।
बौरे वृन्द लसत रसाल-वर बारिनि के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं।
होत पतझार झार तरुनि-समूहनि कौ
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम-विधि वाम की कला मैं मीन-मेष कहा
ऊधौ नित वसत वसन्त बरसाने मैं।८७।

अन्य ऋतुओं का वर्णन भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण है। प्रकृति के सुन्दर स्वतंत्र संश्लिष्ट रूप के दर्शन इस ग्रन्थ में नहीं होते।

अनुभाव चित्रण

रत्नाकर को अनुभावों के चित्रण में वैसी ही सफलता मिली है जैसी विहारी को नायक-नायिकाओं के हाव-भाव-अनुभाव आदि के चित्रण में मिली है। इन्होंने कृष्ण, उद्धव तथा गोपियों की पुलकावली, अश्रुप्रवाह, कंप, उच्छ्वास, कंठावरोध,

उद्धव-शतक में कोई भौंरा भी दिखाई नहीं देता। गोपियाँ किसी भ्रमर के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति नहीं करतीं, वरन् उद्धव से सीधी बातें करती हैं। यद्यपि वे उन्हें 'मधुप' कहकर सम्बोधित अवश्य करती हैं।

भागवत की भाँति उद्धव-शतक की गोपियाँ उद्धव से सन्देश सुनकर शांत नहीं हो जातीं, वरन् वे कृष्ण और उद्धव पर अनेक व्यंग्य कसती हैं। अपने तर्क, वाक्-चातुर्य तथा प्रेम की हठता और गम्भीरता से उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। उद्धव अपनी ज्ञान-गठरी को प्रेम की इस गहरी नदी में बहाकर स्वयं उनके प्रेम-रस में सराबोर होकर लौटते हैं।

सूर और नन्ददास की भाँति उद्धव-शतक में भी योग और ज्ञान पर प्रेमा-भक्ति की विजय दिखाई गई है और निर्गुण पर सगुण की स्थापना की गई है, परन्तु उद्धव-शतक की वर्णन शैली सूर व नन्ददास से कुछ भिन्न है। नन्ददास की गोपियों के साथ उद्धव का वाद-विवाद उत्तर प्रत्युत्तर रूप में क्रम से आगे बढ़ता है, परन्तु उद्धव-शतक में उद्धव एक बार अपना सन्देश और उपदेश देकर खामोश हो जाते हैं। फिर गोपियाँ कभी तो उन पर व्यंग्य करती हैं, कभी कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती हैं, कभी तर्क से उद्धव के मत का खंडन करती हैं और कभी अपनी प्रेमपूर्ण दशा का वर्णन करने लगती हैं। उद्धव को कुछ कहने का फिर अवसर ही नहीं दिया जाता। उसकी खूब खबर ली जाती है, परन्तु वह बेचारा ऐसा विस्मृत-विमुग्ध सा हो जाता है जैसे उसे काठ मार गया हो। वह उनके प्रेम के सामने बिल्कुल अवाक् हो जाता है। सम्भवतः कवि इसी तथ्य की स्थापना करना चाहता है, परन्तु जो रोचकता और नाटकीयता नन्ददास के उद्धव-गोपी संवाद में आ पाई है, वह यहाँ नहीं आ पाई।

उद्धव-शतक में दार्शनिक विचार तथा व्यंग्य का स्वरूप

हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने भ्रमरगीत परम्परा के माध्यम से निर्गुण की अपेक्षा सगुण की महत्ता को स्थापित किया है और ज्ञान तथा योग पर भक्ति की विजय दिखाई है। नन्ददास के भ्रमरगीत में दोनों पक्षों के दार्शनिक मतों पर तर्क-पूर्ण विचार किया गया है। उद्धव-शतक में भी सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता तथा नन्ददास के तर्क और वाक्-चातुर्य के दर्शन तो होते हैं, परन्तु इसमें दार्शनिक तथ्यों की बहस उतनी नहीं है जितनी नन्ददास के काव्य में है। उद्धव-शतक की गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग का खण्डन अवश्य करती हैं और प्रेम और भक्ति की स्थापना भी करती हैं, फिर भी उनमें भावावेश की ही प्रधानता है।

उद्धव-शतक में दार्शनिक विचार दो रूपों में आए हैं। एक उद्धव-कृष्ण संवाद के रूप में, दूसरे उद्धव-गोपी संवाद में। कृष्ण जिस समय उद्धव को व्रज जाने को कहते

काव्य-रूप

शुक्ल जी ने उद्धव-शतक को प्रबन्ध काव्य घोषित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ११७ कवित्तों के इस ग्रंथ में एक ही प्रसंग का वर्णन है और कथा में आरम्भ से अंत तक एक सम्बन्ध-योजना भी है, परन्तु न तो उसमें विविधता है न विशदता। इसलिए इसे खण्डकाव्य भी कहा जा सकता है। लेखक ने कथानक में अनुपात का भी ध्यान नहीं रखा। ११७ कवित्तों में से ६३ छन्दों में गोपियों की उक्तियाँ हैं। कवि ने कथा के सूत्र को बीच-बीच में शीर्षक देकर जोड़ दिया है—यथा उद्धव के व्रजवासियों से वचन, उद्धव की व्रज विदाई आदि। वैसे प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र रूप से रसास्वादन कराने में भी समर्थ है और उसमें मुक्तक का सा आनन्द आता है।

भाषा-शैली

इस ग्रन्थ का अभिव्यक्ति पक्ष बड़ा ही कलात्मक और सशक्त है। यह शुद्ध परिमार्जित और चमत्कारपूर्ण व्रज-भाषा में लिखा गया है। भक्तिकाल की भाषा के माधुर्य और रीतिकाल की वाग्विदग्धता तथा उक्ति-वैचित्र्य का सम्पूर्ण वैभव इस काल में देखा जा सकता है। बाबू गुलाबराय इसकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "रत्नाकर की व्रज-भाषा बोल-चाल की चलती व्रज-भाषा नहीं है, वरन् पंडितों की व्रज-भाषा है जो अध्ययन से सीखी जा सकती है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं उसमें सहज माधुर्य के भी दर्शन होते हैं, परन्तु उसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक झलकती है। वाक्-पटुता, व्यंग्य, तथा वाग्विदग्धता से उक्तियों को चमत्कारपूर्ण बनाया गया है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रायः सायास हुआ प्रतीत होता है, जिससे कहीं-कहीं अभिव्यक्ति में क्लिष्टता भी आ गई है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि पुराने कवियों में भी इनकी सूझ और ऊक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखी जाती है। "भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी।" मीन मेष निकालना, तीन तेरह, तीन पाँच, चलत न चारयो, आदि मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग से भी भाषा को चुटीला और चुस्त बनाया गया है। इनकी वर्ण-मैत्री और शब्द-योजना भी अद्‌भुत है।

अनुप्रासों की छटा तो सर्वत्र देखी जा सकती है। कहीं-कहीं तो वे भावों की व्यंजना में सहायक हुए हैं, पर कई स्थानों पर उनमें चमत्कार प्रदर्शन का मोह ही लक्षित होता है। "छाई छिगुनी पैं छेम छत्र छायौ है," "सुर सुरराज सुद्ध स्वारथ सुभाव सने", "हौले से, हले से हूल हूले से हिले से हाय, हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से" आदि में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार यमक और श्लेष के अत्यधिक प्रयोग से भी अभिव्यक्ति बोझिल [illegible]

उद्धव-शतक में कोई भौंरा भी दिखाई नहीं देता। गोपियाँ किसी भ्रमर के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति नहीं करतीं, वरन् उद्धव से सीधी बातें करती हैं। यद्यपि वे उन्हें 'मधुप' कहकर सम्बोधित अवश्य करती हैं।

भागवत की भाँति उद्धव-शतक की गोपियाँ उद्धव से सन्देश सुनकर शांत नहीं हो जातीं, वरन् वे कृष्ण और उद्धव पर अनेक व्यंग्य कसती हैं। अपने तर्क, वाक्-चातुर्य तथा प्रेम की हठता और गम्भीरता से उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। उद्धव अपनी ज्ञान-गठरी को प्रेम की इस गहरी नदी में बहाकर स्वयं उनके प्रेम-रस में सराबोर होकर लौटते हैं।

सूर और नन्ददास की भाँति उद्धव-शतक में भी योग और ज्ञान पर प्रेमा-भक्ति की विजय दिखाई गई है और निर्गुण पर सगुण की स्थापना की गई है, परन्तु उद्धव-शतक की वर्णन शैली सूर व नन्ददास से कुछ भिन्न है। नन्ददास की गोपियों के साथ उद्धव का वाद-विवाद उत्तर प्रत्युत्तर रूप में क्रम से आगे बढ़ता है, परन्तु उद्धव-शतक में उद्धव एक बार अपना सन्देश और उपदेश देकर खामोश हो जाते हैं। फिर गोपियाँ कभी तो उन पर व्यंग्य करती हैं, कभी कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती हैं, कभी तर्क से उद्धव के मत का खंडन करती हैं और कभी अपनी प्रेमपूर्ण दशा का वर्णन करने लगती हैं। उद्धव को कुछ कहने का फिर अवसर ही नहीं दिया जाता। उसकी खूब खबर ली जाती है, परन्तु वह बेचारा ऐसा विस्मृत-विमुग्ध सा हो जाता है जैसे उसे काठ मार गया हो। वह उनके प्रेम के सामने बिल्कुल अवाक् हो जाता है। सम्भवतः कवि इसी तथ्य की स्थापना करना चाहता है, परन्तु जो रोचकता और नाटकीयता नन्ददास के उद्धव-गोपी संवाद में आ पाई है, वह यहाँ नहीं आ पाई।

उद्धव-शतक में दार्शनिक विचार तथा व्यंग्य का स्वरूप

हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने भ्रमरगीत परम्परा के माध्यम से निर्गुण की अपेक्षा सगुण की महत्ता को स्थापित किया है और ज्ञान तथा योग पर भक्ति की विजय दिखाई है। नन्ददास के भ्रमरगीत में दोनों पक्षों के दार्शनिक मतों पर तर्क-पूर्ण विचार किया गया है। उद्धव-शतक में भी सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता तथा नन्ददास के तर्क और वाक्-चातुर्य के दर्शन तो होते हैं, परन्तु इसमें दार्शनिक तथ्यों की बहस उतनी नहीं है जितनी नन्ददास के काव्य में है। उद्धव-शतक की गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग का खण्डन अवश्य करती हैं और प्रेम और भक्ति की स्थापना भी करती हैं, फिर भी उनमें भावावेश की ही प्रधानता है।

उद्धव-शतक में दार्शनिक विचार दो रूपों में आए हैं। एक उद्धव-कृष्ण संवाद के रूप में, दूसरे उद्धव-गोपी संवाद में। कृष्ण जिस समय उद्धव को ब्रज जाने को कहते

२७

परिमल

डा० हरिश्चन्द्र वर्मा

जिस कृतिकार का अन्तर्जगत् महान् संस्कारों, गहन और व्यापक संवेदनाओं, अडिग आस्थाओं और सशक्त प्रेरणाओं से अनुप्राणित होता है, उसकी कृति का स्वरूप अनिवार्य रूप से उदात्त होता है। व्यक्तित्व की गरिमा कृतित्व की महिमा का मूल स्रोत है। महाप्राण निराला एक महान् कवि के लिये सर्वथा उपयुक्त, असाधारण व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए थे। वे तन से पहलवान और मन से वीर थे। एक मल्ल-योद्धा की भाँति ही वे जीवन के अखाड़े में सभी प्रकार की चुनौतियों को भी चुनौती देने की अदम्य प्रेरणा लेकर उपस्थित हुए। उनका तो समूचा जीवन ही वीर रस का एक मार्मिक महाकाव्य था, जिसमें वीरता के सभी पक्ष—दानवीरता, दयावीरता, धर्म-वीरता और युद्धवीरता अनुस्यूत थे। विश्व के सभी महान् वीरों की भाँति वे कोमलता और कठोरता के तत्त्वों के सामञ्जस्य से निर्मित थे। उनके हृदय का सत्त्व, जहाँ एक ओर, मानवता-विरोधी प्रवृत्तियों से टक्कर लेने के लिये चट्टान से भी दुर्भेद्य बन जाता था, वहाँ वही, दूसरी ओर, शोषितों और असहायों की उत्तप्त आहों से सहज ही करुणा-विगलित हो उठता था। कोमलता और कठोरता का यह समन्वय उनके अन्तःकरण में स्थित मानवता-प्रेम और लोक-संग्रह की व्यापक और उदात्त भाव-भूमि पर संघटित हुआ था। इसलिये उनके व्यक्तित्व के कोमल और कठोर तत्त्वों में मौलिक एकता थी।

निराला जी के व्यक्तित्व का विकास महिषादल के भाव-भीने बङ्गाली जीवन की मधुरता तथा उत्तर प्रदेश में स्थित बैसवाड़े की प्राकृतिक सुषमा, वहाँ की लोक-संस्कृति में घुली-मिली मस्ती और अक्खड़ता के समन्वित संस्कारों से हुआ। बंग-भूमि और कवीन्द्र रवीन्द्र के पुण्य प्रभावों ने उनमें सहज द्रवणशील भावुकता, संगीत-प्रेम और सौन्दर्यानुराग जगाया तथा श्रीरामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द ने उनके प्राणों में अद्वैत दर्शन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के उद्बोधनकारी पुनीत संदेश द्वारा अदम्य ओज, प्रखरता और भास्वरता भर दी। यौवनावस्था तक पहुँचते-

यहाँ कवि ने कृष्ण की प्रणय आतुरता तथा भावावेश के सामने ज्ञान और योग की हीनता की ओर ही संकेत किया है। गोकुल की गली में पहुँच कर तो उसका सारा ज्ञान-मद बह ही जाता है, योग का विधान भी उनके मन से दूर हो जाता है। गोपियों की प्रेमपूर्ण दशा से उद्धव इतने अभिभूत होते हैं कि वे स्वयं प्रेम के रंग में रंग जाते हैं। कवि ने कृष्ण और गोपियों के दृढ़ प्रेम के सामने ज्ञान और योग के वाहक उद्धव को हतप्रभ होते दिखाया है। फिर भी अपनी इस मोह-युक्त दशा को छिपा कर उद्धव गोपियों को ज्ञान और योग का उपदेश देने लगते हैं तथा उन्हें निर्गुण ब्रह्म को मन में धारण करने को कहते हैं। यहीं से ग्रंथ में तर्क, वाक्-चातुर्य, वाग्विदग्धता, व्यंग्य-विनोद का आरम्भ होता है। उद्धव का कहना है कि "योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृत्कमल पर जगने वाली ब्रह्मज्योति में ध्यान लगाने से भगवान कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। जड़ और चेतन के विलास का विकास उत्पन्न होता है और अपूर्व आनन्द मिलता है। मोह के कारण जिन कृष्ण को गोपियों ने अपने से विलग समझा है, वे निरन्तर ही सबके अन्तर में रहते हैं :—

चाहत जो स्वबस संजोग स्याम-सुन्दर कौ
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रतनाकर सु-अंतर-मुखी है ध्यान
मंजु हिय-कंज जगी जोति मैं धस्यौ रहै।
ऐसैं करौ लीन आतमा कौं परमातमा मैं
जामैं जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तौ सब अंतर-निरंतर बस्यौ रहै ॥३०॥

यह पंचतत्त्वात्मक-विश्व माया का ही प्रपंच है जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य सत्त्व जो पंचतत्त्वनिर्मित इस संसार में एक सा है, अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होता। सर्वत्र अनेक वस्तुओं के रूपों में वस्तुतः उसी ब्रह्म का रूप है जो भ्रमपटलोन्मीलित ज्ञान-चक्षुओं से गोचरीभूत होता है। ऐसी ही दशा के प्राप्त होने पर (जो योगाभ्यास से ही सम्भव है) कृष्ण सबमें और सब कृष्ण में दिखाई पड़ते हैं :—

पंचतत्त्व मैं जो सच्चिदानँद की सत्ता सो तौ
हम तुम उनमैं समान ही समोई है।
कहै रतनाकर बिभूति पंचभूत हू की
एक ही सी सकल प्रभूतिनि मैं पोई है।
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
कांच फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।

२७

परिमल

डा० हरिश्चन्द्र वर्मा

जिस कृतिकार का अन्तर्जगत् महान् संस्कारों, गहन और व्यापक संवेदनाओं अडिग आस्थाओं और सशक्त प्रेरणाओं से अनुप्राणित होता है, उसकी कृति का स्वरूप अनिवार्य रूप से उदात्त होता है। व्यक्तित्व की गरिमा कृतित्व की महिमा का मूल स्रोत है। महाप्राण निराला एक महान् कवि के लिये सर्वथा उपयुक्त, असाधारण व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए थे। वे तन से पहलवान और मन से वीर थे। एक मल्ल-योद्धा की भाँति ही वे जीवन के अखाड़े में सभी प्रकार की चुनौतियों को भी चुनौती देने की अदम्य प्रेरणा लेकर उपस्थित हुए। उनका तो समूचा जीवन ही वीर रस का एक मार्मिक महाकाव्य था, जिसमें वीरता के सभी पक्ष—दानवीरता, दयावीरता, धर्म-वीरता और युद्धवीरता अनुस्यूत थे। विश्व के सभी महान् वीरों की भाँति वे कोमलता और कठोरता के तत्वों के सामञ्जस्य से निर्मित थे। उनके हृदय का सत्व, जहाँ एक ओर, मानवता-विरोधी प्रवृत्तियों से टक्कर लेने के लिये चट्टान से भी दुर्भेद्य बन जाता था, वहाँ वही, दूसरी ओर, शोषितों और असहायों की उत्तप्त आहों से सहज ही करुणा-विगलित हो उठता था। कोमलता और कठोरता का यह समन्वय उनके अन्तःकरण में स्थित मानवता-प्रेम और लोक-संग्रह की व्यापक और उदात्त भाव-भूमि पर संघटित हुआ था। इसलिये उनके व्यक्तित्व के कोमल और कठोर तत्वों में मौलिक एकता थी।

निराला जी के व्यक्तित्व का विकास महिषादल के भाव-भीने बङ्गाली जीवन की मधुरता तथा उत्तर प्रदेश में स्थित बैसवाड़े की प्राकृतिक सुषमा, वहाँ की लोक-संस्कृति में घुली-मिली मस्ती और अक्खड़ता के समन्वित संस्कारों से हुआ। बंग-भूमि और कवीन्द्र रवीन्द्र के पुण्य प्रभावों ने उनमें सहज द्रवणशील भावुकता, संगीत-प्रेम और सौन्दर्यानुराग जगाया तथा श्रीरामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द ने उनके प्राणों में अद्वैत दर्शन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के उद्बोधनकारी पुनीत संदेश द्वारा अदम्य ओज, प्रखरता और भास्वरता भर दी। यौवनावस्था तक पहुँचते-

जैहैं बनि-बिगरी न वारिधिता वारिधि की
बूंदत बिलैहै बूंद बिबस विचारी की । ३७ ।

उद्धव के अनन्त, अलख, निर्गुण ब्रह्म को योग द्वारा त्रिपुटी में आन्तरिक चक्षुओं से देखने के विधान का खण्डन करती हुई गोपियां कहती हैं कि ऐसा ब्रह्म जो विश्व-व्यापी होते हुए भी कहीं दिखाई नहीं देता, उस अरूप को त्रिपुटी में कैसे देखा जा सकता है :—

रूप-रस हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताको रूप ध्याइवो औ चखिवो कहौ ।
एते बड़े बिस्व माँहि हेरैं हूँ न पैयैं जाहि
ताहि त्रिपुटी मैं नैन मूंदि लखिवो कहौ ।

उद्धव ने संसार को माया मोह का रूप कहकर जो स्वप्नवत् बताया था, उसका उत्तर वे अपनी तर्क-बुद्धि से इस प्रकार देती हैं :—

जग सपनो सौ सब परत दिखाई तुम्हैं,
तातैं तुम ऊधो सोवत लखात हौ ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुंह आवत सो विवस बयात हौ ।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यौंहीं तुम आपहीं सुज्ञानी समुझात हौ ।

यहाँ गोपियों के पास उसके मन का खण्डन करने के लिए वाक्पटुता ही है कोई दार्शनिक आधार नहीं । वस्तुतः रत्नाकर की गोपियाँ उद्धव के ज्ञानवाद और योग का खण्डन दार्शनिक आधार पर उतना नहीं करतीं जितना अपनी स्वाभाविक सरलता, भावमयता अथवा वाक्-पटुता, तर्क-चातुरी या व्यंग्यों के द्वारा करती हैं। उनको तो यही समझ में नहीं आ पाता कि वह निर्गुण ब्रह्म हाथों के बिना कैसे तो गाय दूहेगा, कैसे पांव के बिना नाच सकेगा, कैसे मुख के बिना माखन खाएगा । भला उद्धव का ऐसा अलख, अरूप ब्रह्म उनके किस काम का । वे तो केवल 'ब्रजचंद' की कृपा तथा 'मंद मुसकानि' में ही लोक-परलोक का सुख मानती हैं। (४९) अपने उस सुंदर शरीर पर, जिस पर सुन्दर चंदन का लेप करके वे मनमोहक कृष्ण को मोहित करती थीं, भस्म रमाने में, तथा चंद्रमुख को 'काकचञ्चवत्' बनाकर योग साधने में वे अपने को सर्वथा असमर्थ पाती हैं। (३८) उद्धव की ज्ञानपूर्ण बातें उनकी समझ में आने वाली नहीं हैं। वे तो कृष्ण के प्रेम में मर रही हैं और उनके दर्शनों के अतिरिक्त उनका कुछ भी उपचार नहीं है। इसीलिए वे उद्धव से कहती हैं कि एक ही अनंग (कामदेव रूप कृष्ण) को हृदय में धारण करके उनकी यह गति हो गई है अब और अंग-रहित (निराकार ब्रह्म) की आराधना उनके बस की नहीं :—

में दिया गया है, जिसमें सांस्कृतिक और राष्ट्रीय-जागरण के साथ ही देश की तत्कालीन स्वातन्त्र्य-चेतना की अभिनव अभिव्यक्ति मिलती है :—

याद दिला घोर दुःख दारुण परतन्त्रता का,
फूंकती स्वतन्त्रता निज मन्त्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय ?

× × ×

ध्वस्त होगा साम्राज्य
जितने विचार आज
मारते तरङ्गें हैं
साम्राज्यवादियों की भोग-वासनाओं में,
नष्ट होंगे चिर काल के लिये।
आयेगी भाल पर
भारत की गई ज्योति
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायेंगे।

'जागो फिर एक बार : २' में कविवर निराला ने इतिहास, दर्शन, और संस्कृति के मार्मिक सन्दर्भों के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक गौरव और स्वातन्त्र्य-चेतना का मन्त्र फूंका है। शक्ति और मुक्ति के गायक कवि ने हीनता-ग्रंथि से पीड़ित भारतवासियों में अन्तर्निहित महानता के सोये संस्कारों को जगाया है। "मुक्त हो सदा ही तुम", "ब्रह्म हो तुम", तथा "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्" आदि वाक्यों में उपनिषदों द्वारा उद्घोषित आत्मा की अनन्तता और अपरिसीम शक्तिमत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। मुक्त छन्द के प्रवेगपूर्ण प्रवाह में स्वातन्त्र्य-भावना की बड़ी ही सप्राण अभिव्यक्ति इस कविता में मिलती है। 'कण' नामक कविता दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रारम्भ होती है, जिसमें 'कण' उस जीवात्मा का प्रतीक है जो अपनी मूल सत्ता के संस्कारों को भूलकर दीनता और पराधीनता के पाश में पड़ी हुई भी 'शून्य' के ध्यान में लीन होकर कल्याण की झूठी आशा लगाये है। कवि ने क्रियाशून्य जड़ अध्यात्म-साधना पर मीठा व्यंग्य करके अत्याचार और परतन्त्रता के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा जगाई है। 'परिमल' में "बादल राग" नाम की छह कवितायें हैं, जिनमें बादल स्वतन्त्रता का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है। कवि ने 'निर्बन्ध', 'स्वच्छन्द', 'उद्दाम', 'उच्छृंखल', 'प्रचण्ड' और 'मुक्त' आदि अनेक सम्बोधनों से बादल को अभिहित किया है, जिनमें स्वतन्त्रता की

जैहैं बनि-बिगरी न वारिधिता वारिधि की
बूंदत बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की । ३७ ।

उद्धव के अनन्त, अलख, निर्गुण ब्रह्म को योग द्वारा त्रिपुटी में आन्तरिक चक्षुओं से देखने के विधान का खण्डन करती हुई गोपियां कहती हैं कि ऐसा ब्रह्म जो विश्व-व्यापी होते हुए भी कहीं दिखाई नहीं देता, उस अरूप को त्रिपुटी में कैसे
जा सकता है :—

रूप-रस हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताको रूप ध्याइबो औ चखिबे
एते बड़े विस्व माहि हेरैं हूँ न पैयै जाहि , प्रवाह है । ६६ ।
ताहि त्रिपुटी मैं नैन मूं । है । कृष्ण के प्रेम में भी उन्हें

उद्धव ने संसार को माया मोह का रूप हाेंने इस प्रकार की है :—
उसका उत्तर वे अपनी तर्क-बुद्धि से इस प्रकार मारे ही और
जग सपनो सो सब परत दि उन ही की उन ही की हैं । ६० ।
तातैं ने को तैयार हैं यदि वह इतना भर कह दे कि

कहै रतनाकर सुनै के कहै सांसति सबै पै बस,
एती कहि देहु के कन्हैया मिलि जाइगो । ६१ ।
सोवत मैं जा यह कह नहीं पाते, इसलिए उनका व्यंग्य भी तीखा हो
हां गोपियों री को आधार बनाकर भी उन्होंने बड़े चुटीले
देखिए :—

वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग।

'मुक्त-कण्ठ' बादल का कवि पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वह स्वयं भी 'मुक्त कण्ठ' ही बन जाता है, ध्याता और ध्येय का तादात्म्य हो जाता है—"मुक्त कण्ठ है तुम्हें देख कवि।" 'तरंगों के प्रति' और "आवाहन" शीर्षक कविताओं में भी विराट् तत्त्व की सुन्दर झाँकी मिलती है।

(३) 'परिमल' में कतिपय रहस्यवादी रचनायें भी मिलती हैं। "तुम और मैं" तो निराला जी की रहस्यानुभूति का प्रतिनिधित्व करने वाली अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है ही, इसके अतिरिक्त 'परलोक', 'तरंगों के प्रति', 'अधिवास', 'धारा', 'माया', और 'जागरण' शीर्षक कविताओं में जिज्ञासा, कुतूहल, विस्मय आदि की गहन अनुभूतियों के रूप में रहस्यवाद की झाँकियाँ मिलती हैं। सच्चा रहस्यवादी कवि या साधक अपनी अन्तर्दृष्टि से दृश्यमान अनेकता में एकता का अनुभव करता है और एकता के मूल में स्थित परम सत्ता का साक्षात्कार करता है। वास्तव में ज्ञान-योग (चिन्तन) और भाव-योग (भक्ति) की समन्वित मनोदशा रहस्यवाद की प्रकृत जन्म-भूमि है। ज्ञान-योग के द्वारा कवि जिस आत्मा-परमात्मा की एकता तक पहुँचता है, जब उसी को अनुभूति का विषय बनाकर प्रकृति के अनेक आलम्बनों या प्रतीकों अथवा अन्य लौकिक सन्दर्भों के माध्यम से व्यक्त करने लगता है तभी वह रहस्यवादी कवि कहलाता है। अलौकिकता की लौकिक सन्दर्भों में भावपूर्ण अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। रहस्यानुभूति की स्थिति तक दो स्वाभाविक भाव-पद्धतियों द्वारा पहुँचा जा सकता है :—(१) निवृत्ति मार्ग से, जिसमें साधक संसार को मिथ्या समझकर उससे विमुख होता हुआ परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। (२) प्रवृत्ति मार्ग से, जिसमें साधक सृष्टि के विराट् और दिव्य रूपों में बिखरे अनन्त सौन्दर्य से अभिभूत होकर व्यक्त सृष्टि में ही अव्यक्त परमात्म सत्ता का आभास पाकर आत्म-विभोर हो उठता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परिमल की रहस्यवादी कविताओं का स्वर प्रवृत्ति मार्गी है। कवि सृष्टि में ही ब्रह्म-कान्ति के दर्शन करके सृष्टि के प्रति आस्था जगाता है, सन्तों की भाँति सृष्टि के मिथ्यात्व की घोषणा में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता। "तुम और मैं" कविता में कवि ने प्रकृति और लोक-जीवन के सम्बन्धों के प्रतीकों की योजना द्वारा आत्मा-परमात्मा के तात्त्विक ऐक्य को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाकर ग्राह्य एवं मधुर रूप में प्रकट किया है। यहाँ यह मार्के की बात है कि कवि ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को उपमेय माना है और लौकिक सम्बन्धों को उपमान रूप में। कवि का लौकिकता में अलौकिकता का सादृश्य अनुभव करना लौकिकता के गौरव की स्थापना ही है। 'जागरण' शीर्षक कविता में कवि का रहस्यवादी दृष्टिकोण पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। संसार के माया-मोह के मृण्मय स्तरों को पार

में उनकी व्यथा और वेदना की तीव्रता, अधीरता, मिलनातुरता, दर्शनाभिलाषा, दैन्य, व्याकुलता, रोष, शिथिलता, स्मरण, खीझ, विवशता, क्षोभ, ईर्ष्या, आदि का स्वाभाविक और सजीव चित्रण किया गया है । उद्धव के व्रज आने पर उनसे मिलने के लिए दौड़ी आती हुई गोपियों की आतुरता का कवि ने देखिए कितना सुन्दर चित्र अंकित किया है :—

धाई धाम-धाम तैं अवाई सुनि ऊधव की
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौं भ्वै रहीं।
आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं । २५ ।

अपने प्रिय कृष्ण का पत्र देखने के लिए तथा उनका सन्देश सुनने के लिए देखिए वे कितनी उत्सुक और उत्कंठित हैं :—

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥ २६ ।

गोपियों की उत्सुकता, आतुरता, उत्कंठा, कौतूहल आदि का कितना सजीव, चित्रात्मक और मार्मिक वर्णन है । 'उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै" में उनके अनुभावों और "हमकौं लिख्यौ है कहा हमकौं लिख्यौ है कहा"...में उनके प्रेम की तीव्रता की भी व्यंजना खूबी से हो जाती है । गोपियाँ कृष्ण के प्रति उद्धव को जो सन्देश देती हैं उसमें उनके प्रेम की दृढ़ता और आत्म-समर्पण के साथ उनकी दीनता और वेदना भी व्यंजित होती है ।

परन्तु कहीं-कहीं उद्धव-शतक की गोपियों के विरह-वर्णन में रीतिकालीन अतिशयोक्ति, चमत्कार तथा ऊहात्मकता का भी प्रयोग किया गया है । कहीं तो वे आप ही भस्म समान दीख पड़ती हैं और कहीं सूखकर मृगछाला के समान बन गई लगती हैं ।[1] उद्धव को जब वे अपना सन्देश-पत्र देना चाहती हैं तो विरहताप के कारण पत्र ही नहीं लिख पातीं । उनके इस विरह-ताप का जैसा ऊहात्मक वर्णन कवि ने किया है, उस पर रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है । देखिये:—

---

१. वे तो बस बसन रंगावैं मन रंगत के ये
भसम रमावैं वै ये आपुहीं भसम हैं ।

×

आपु ही भई हौं मृगछाला ब्रज बाला सूखि
तिपै अपर मृगछाला कहा सोहैगी ।

साँस में परिमल शीतल तन-मन लहराये"। ऐन्द्रिय अनुभूति की तीव्रता के कारण ही परिमल में मांसल सौन्दर्य, उद्दाम यौवन और मादक प्रेम के अप्रतिम चित्रों का बाहुल्य है। कवि ने एक ही सौन्दर्य-धारा और रागात्मक आकर्षण का संचार समस्त प्रकृति और मानव-जगत् में अनुभव किया है। इसीलिये कवि को प्रकृति में नारी-सौन्दर्य और नारी में प्रकृति-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। सर्वत्र एक ही सौन्दर्य-सत्ता और प्रेम-तत्त्व का आभास मिलने के कारण ही कवि को 'जुही की कली' "अमल-कोमल-तनु तरुणी" दिखलाई पड़ती है; यौवन का उभार पल्लव-पर्यङ्क पर सोती हुई शेफालिका की कंचुकी के सब बन्द (बन्धन) प्यार से खोल देता है। दूसरी ओर मानव-क्षेत्र में, 'बहू' सौन्दर्य सरोवर की एक तरङ्ग मालूम पड़ती है और शूर्पनखा के अंगों में सृष्टि भर की सुन्दर प्रकृति का सौन्दर्य-भाग भरा हुआ जान पड़ता है।

'परिमल' की सौन्दर्य तथा प्रेम से सम्बन्धित रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनकी नैसर्गिकता और स्वच्छन्दता है। कवि का दृष्टिकोण मूलत: स्वच्छन्दतावादी है। वह कसमसाते हुए उद्दाम तारुण्य और स्वच्छन्द प्रेम का पोषक है। उसे उद्यान की रमणीयता से वनस्थली का निरावृत उच्छल सौन्दर्य कहीं अधिक प्रिय है। सौन्दर्य के कुछ मादक चित्र दर्शनीय हैं:—

(१) "कुञ्चित कच गोरे कपोल छू-छूकर
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे
थपकी एक मारकर बड़े प्यार से इठलाते थे।" (कविता)

(२) "निद्रालस वङ्किम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?" (जुही की कली)

(३) "देख यह कपोल कण्ठ
बाहु-वल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि—
नितम्ब-भार-चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का,
देवों-भोगियों की तो बात ही निराली है।" (पञ्चवटी प्रसङ्ग)

निराला जी की कतिपय ऋतु-सम्बन्धी रचनायें भी 'परिमल' में संगृहीत हैं। पावस-सम्बन्धी एक गीत—"अलि घिर आये घन पावस के"—तो बहुत ही सरल और सरस रचना है, जिसमें लोक-गीत जैसी मार्मिकता निहित है। कवि का अन्त:-करण वर्षा ऋतु में सर्वाधिक रमा है। 'वासन्ती' और 'वसन्त समीर' आदि रचनाओं में वसन्त के मादक प्रभाव और सौन्दर्य का चित्रण है। कवि के अन्तर्मन में विविध

प्रस्वेद, वैवर्ण्य, शैथिल्य, मोह, प्रमाद आदि का बहुत ही सजीव और स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण किया है। ब्रज के निकट पहुँचने पर उद्धव के हृदय में प्रेम का जो उन्मेश होता है उसके प्रभाव स्वरूप उसके वैवर्ण्य, शिथिलता, कंठावरोध, रोमांच, कम्प आदि का देखिए कैसा सजीव चित्र अंकित किया गया है :—

औरै मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ
बैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि हास चाँपि मुरझाने काँपि
जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं।२४।

गोपियों की दीन दशा देखने के पश्चात् उस पर जो प्रभाव पड़ा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न उसके कंठावरोध, अश्रुप्रवाह, संकोच, भय, विभ्रम, श्रम, सकबकाने, सिहरने आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव को
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।२८।

इसी प्रकार कृष्ण तथा गोपियों के विरहगत अनुभावों का भी सजीव चित्रण किया गया है। कृष्ण का सन्देश सुनने के लिए आतुर गोपियों के अनुभाव "उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै" आदि में सजीव हो उठे हैं।

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण देखिए :—

आनन उदास साँस भरि उकसौहैं करि
सौहैं करि नैननि निचौहैं करि लेत हैं।।१०६।

× × ×

बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं।।१०३।

× × ×

परन न देत एक बूँद पुहुमी की कोछि,
पोंछि पोंछि पट निज नैननि लगाए लेत।१०८।

यहाँ भी एक-एक शब्द एक-एक मुद्रा का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है।

विकास नहीं दिखलाई पड़ता और कतिपय स्थलों पर कोई स्पष्ट बिम्ब न उभर कर आने के कारण रसानुभूति में बाधा होती है।

निराला जी की धारणा है कि विरह की अग्नि में तपकर प्रेम निष्कलुष और ज्योतिर्मय रूप ग्रहण करता है। विरह के इसी पावन प्रभाव का प्रकाशन 'प्रिया के प्रति' कविता में सुलभ है।

परिमल की रचनाओं में कवि का सौन्दर्य और प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण केवल उद्दाम यौवन और ऐन्द्रिय वासना तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु उसमें निखार आया है। "बहू" कविता में तो कवि ने लज्जा, समर्पण, पूजा-भाव और पतिव्रत आदि सात्विक संस्कारों की प्रतिमूर्ति-आदर्श भारतीय गृहणी—का भव्य चित्र अङ्कित किया है। नारी का वन्दनीय लजीला रूप और अभिनन्दनीय त्यागमय सात्विक प्रेम 'बहू' में साकार हो उठा है। नारी के गरिमामय स्वरूप की भावभरित अभिव्यक्ति में कवि के संस्कारनिष्ठ अन्तःकरण की श्रद्धा-भावना भी अनायास समन्वित हो गई है। 'बहू' के लाज-भरे सौन्दर्य का एक अद्वितीय चित्र देखिये :—

"वह नव वसन्त की किसलय-कोमल लता,
किसी विटप के आश्रय में मुकुलिता
किन्तु अवनता।"

पति में ही उसके प्रेम और सौन्दर्य की चरम परिणति है :—

"उसे सर्वस्व दिया है,
इस जीवन के लिये हृदय से जिसे लपेट लिया है।"

"पञ्चवटी प्रसङ्ग" शीर्षक कविता में जो पाँच खण्डों में लिखी गई लम्बी कविता है और जिसके कथानक का स्थूल ढाँचा मात्र, रामचरितमानस पर आश्रित है, निराला जी ने प्रेम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस कविता में आश्रम संस्कृति और गार्हस्थ्य भावना, वासना और दिव्य प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य, श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य का मधुर सामञ्जस्य उपस्थित किया गया है। एक ओर कामोद्दीपक उद्दाम यौवन से मदमाती काम-पीड़ित शूर्पनखा है, तो दूसरी ओर, सतीत्व की स्वर्गिक आभा से मण्डित सीता जी। असमान पात्रों के माध्यम से वासना और प्रेम का स्वरूप स्पष्ट हो गया है। प्रेम की परिभाषा करते हुए राम कहते हैं :—

"प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र, ठाट,
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण-सम बह जाते हैं।"

प्रस्वेद, वैवर्ण्य, शैथिल्य, मोह, प्रमाद आदि का बहुत ही सजीव और स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण किया है। ब्रज के निकट पहुँचने पर उद्धव के हृदय में प्रेम का जो उन्मेश होता है उसके प्रभाव स्वरूप उसके वैवर्ण्य, शिथिलता, कंठावरोध, रोमांच, कम्प आदि का देखिए कैसा सजीव चित्र अंकित किया गया है :—

और मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ
वैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि हास चाँपि मुरझाने काँपि
जानै कौन बहति बयारि बरसाने मैं।२४।

गोपियों की दीन दशा देखने के पश्चात् उस पर जो प्रभाव पड़ा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न उसके कंठावरोध, अश्रुप्रवाह, संकोच, भय, विभ्रम, श्रम, सकबकाने, सिहरने आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।२८।

इसी प्रकार कृष्ण तथा गोपियों के विरहगत अनुभावों का भी सजीव चित्रण किया गया है। कृष्ण का सन्देश सुनने के लिए आतुर गोपियों के अनुभाव "उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै" आदि में सजीव हो उठे हैं।

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण देखिए :—

आनन उदास साँस भरि उकसौहैं करि
सौहैं करि नैननि निचौहैं करि लेत हैं।।१०६।

× × ×

बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं।।१०३।

× × ×

परन न देत एक बूँद पुहुमी की कोछि,
पोछि पोछि पट निज नैननि लगाए लेत।१०८।

यहाँ भी एक-एक शब्द एक-एक मुद्रा का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है।

है। 'वृत्ति' शीर्षक कविता में वेदना अत्यन्त सरल शब्दावली में ढल गई है। एक-एक करके, असमय में ही मौत के मुँह में चले जाने वाले प्रिय-जनों की दारुण स्मृति ने कवि के चोट खाये हुए हृदय में स्थायी पीड़ा का रूप ले लिया है, जो इस कविता में गूंज उठी है। इस कविता में विषाद का रंग गाढ़ा है, तीव्रता कम है। कवि ने दर्द को पचा लिया है और उसे जीवन के स्थायी अङ्ग के रूप में मान्यता प्रदान की है। भाव के अनुसार छन्द की गति गम्भीर और मन्थर है। "क्या दूँ" कविता में वैयक्तिक वेदना का करुण स्वरों में विस्फोट हुआ है। माँ भारती को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है :—

क्या है, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार
एक विफल रोदन का है यह हार-एक उपहार ;
भरे आँसुओं में हैं असफल कितने विफल प्रयास,
झलक रही है मनोवेदना, करुणा, पर-उपहास ;
क्या चरणों पर लादूँ ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ ?

यद्यपि परिस्थितियों के विषम प्रहारों से तिलमिला कर कवि का संवेदनशील हृदय कतिपय स्थलों पर गहरी निराशा और घुटन से भर गया है, तथापि कवि की जीवन के प्रति गहरी आस्थायें कहीं नहीं टूटी हैं। कवि ने पलायन और भाग्यवाद को अपने जीवन-दर्शन में कोई स्थान नहीं दिया है। वह संघर्ष में विश्वास रखता है। संघर्ष ही उसका जीवन और जीवन-दर्शन है। कवि की खुली चुनौती है कि "चिन्ताएँ, बाधाएँ, आती ही हैं, आएँ।" 'स्मृति' शीर्षक कविता में तो कवि की जीवन के प्रति आसक्ति, प्रवृत्ति और निष्ठा बड़े ही मनोवैज्ञानिक रूप में प्रकट हुई है। अपनी दिवंगत प्रिया की स्मृति करते-करते कवि पहले तो विगत सुखों के अभाव का ध्यान आते ही कुछ क्षणों के लिए अधीर हो उठता है, किन्तु तभी उसकी स्थायी जीवनासक्ति उभर आती है और वह कहता है :—

"दुखद ,वह झलक न आने दो
हमें खेने भी तो दो नाव ?"

कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते तो कवि की दिवंगत प्रिया कवि में उस अज्ञात लोक से नव आशा का सञ्चार करने वाली और विश्व के अन्तस्तल में चाह का तड़ित-प्रवाह जगाने वाली दिव्य प्रेरणा-शक्ति का रूप धारण कर लेती है।

दूसरी श्रेणी की कविताओं में 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन', 'स्वप्न-स्मृति' आदि प्रमुख हैं। इनमें से विधवा और भिक्षुक तो सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इन सब कविताओं की सर्वप्रमुख विशेषता है करुणा, विवशता, वेदना आदि भावों का सजीव एवं संश्लिष्ट बिम्ब-विधान। जब तक कवि

कितेक करैं, बारन उबास ह्वै, बारन बनी नहीं" आदि में चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे प्रयोगों से अभिव्यक्ति में दुरूहता और क्लिष्टता ही आती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, अपह्नुति, आदि अनेक अलंकारों की छटा भी इस ग्रन्थ में देखी जा सकती है। परन्तु ऐसे स्थल भी कम नहीं जहाँ श्लेषमूलक रूपक अथवा श्लेषमूलक उत्प्रेक्षाओं से भाव दब गए हैं। इसे रीति-कालीन अलंकरण प्रवृति का प्रभाव ही कहा जा सकता है।

उपसंहार

यद्यपि उद्धव-शतक एक लघु रचना है तथापि भावों की मार्मिकता, उक्ति वैचित्र्य तथा रचना कौशल की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट काव्य-कृति है। इसमें सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता, नन्ददास के तर्क और वाक्-चातुर्य एवं रीतिकालीन कवित्व-शैली अथवा चमत्कार का सुन्दर संयोग हुआ है। इसकी गोपियों में सूर की गोपियों का हृदय, नन्ददास की गोपियों की बुद्धि, आधुनिक नारी का चातुर्य और चपलता के साथ उसके स्वाभिमान का भी मिश्रण है। इसमें तर्क का समावेश भी काफी हुआ है तथापि गोपियों के सम्पूर्ण तर्क के पीछे उनका विरह-विदग्ध हृदय ही कार्य करता दीख पड़ता है। भावों में भक्तिकाल की सी मार्मिकता भी है और भाषा में वैसा ही सहज माधुर्य भी है, तथापि अत्यधिक अलंकरण, विरह में ऊहात्मकता, प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग, ये कुछ रीतिकालीन प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होते हैं, जिससे रचना में कुछ भारीपन आ गया है।

कथानक भागवत पर आधारित होते हुए भी कुछ मौलिकता लिए हुए है जो कवि की रुचि का भी परिचायक कहा जा सकता है और उसे युग का प्रभाव भी स्वीकार किया जा सकता है।

वस्तुतः यह ग्रंथ अपनी परम्परा की रचनाओं में एक बहुमूल्य रत्न है।

तीसरी श्रेणी की रचनाओं में पराधीन भारत देश, पराधीन भारतवासी, पराधीन भारतीय संस्कृति आदि कवि की अनुभूति के आलम्बन बनकर उपस्थित हुए हैं। इन रचनाओं में पराधीनता से उत्पन्न आक्रोश, असन्तोष और विद्रोह को वाणी मिली है। विकृतियों और विषमताओं से ग्रस्त समाज कवि को एकदम इतना असह्य हो उठता है कि वह 'आवाहन' शीर्षक कविता में श्यामा से भयंकर विनाश-लीला रचने की प्रार्थना करता है। "पड़े हुए सहते हो अत्याचार" कहकर कवि ने 'कण' में अत्याचार का सक्रिय प्रतिरोध करने की बलवती प्रेरणा जगाई है। 'जागो फिर एक बार : २' में "शेर की माँद में आया है आज स्यार" कहकर विद्रोह और जागरण का मन्त्र फूँका गया है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' में भी तत्कालीन विद्रोह-भावना की अभिव्यंजना मिलती है। "जलद के प्रति" कविता में विदेशी शासकों की धूर्तता और कपट-नीति पर प्रकाश डालते हुए स्वदेश-प्रेम की पवित्र भावना प्रकट की गई है।

(६) मधु-लोक अथवा कल्पना-लोक के सृजन की प्रवृत्ति सभी छायावादी कवियों में सामान्य रूप से पाई जाती है। कवि यथार्थ जीवन और जगत् के ससीमता, मृत्यु, दुःख, बन्धन, अन्धकार आदि प्रतिकूल तत्त्वों को असीमता, अमरता, आनन्द, मुक्ति और प्रकाश आदि अनुकूल तत्त्वों में परिणत करके उनके संश्लिष्ट रूप में संयोजन द्वारा कल्पना-लोक का निर्माण करता है। ऐसा करके वह अपने अन्तःकरण में अंकित जीव की पूर्णता का भावन और चित्रण करता है। इसमें यथार्थ की प्रतिक्रिया अवश्य होती है, किन्तु इसे पलायन कहना भूल है। जहाँ अमरता, असीमता, प्रकाश, शक्ति और मुक्ति आदि का ध्यान करके ध्याता इन्हीं तत्त्वों से अनुप्राणित हो जाता है, वहाँ जीवन की पूर्णता की आराधना है, जीवन से पलायन नहीं। वह पलायन तब बन जाता है, जब कवि असीमता, शक्ति, प्रकाश आदि के ध्यान द्वारा शक्ति और जीवन की प्रेरणा न ग्रहण करके निष्क्रिय रूप से स्थायी कल्पना-सुख में खो जाता है और कल्पना-सुख को ही साध्य बना लेता है। सच्चा कवि कल्पना-लोक से प्रेरणा और शक्ति संचित करके यथार्थ जीवन को सुन्दर, पूर्ण और आकर्षक बनाने की प्रेरणा जागरित करता है। "हमें जाना है जग के पार" गीत में कवि के स्वप्नों का संसार साकार हुआ है। इस गीत को पढ़ते-पढ़ते भाव-साम्य की दृष्टि से महादेवी जी के "कौन पहुँचा देगा उस पार" पंक्ति वाले गीत का सहसा ध्यान आता है। किन्तु यहाँ भी किसी पर किसी का प्रभाव खोजना भूल होगा। कभी-कभी कवि की कल्पना अतीत इतिहास के गौरवपूर्ण तत्त्वों का चयन करके अतीत का पुनर्निर्माण करने में ही सन्तोष का अनुभव करती है। "परिमल" में "यमुना के प्रति" ऐसी ही कविता है जिसमें अतीत के आँचल में मादक मधु-लोक की सृष्टि हुई है

पहुँचते उन्हें एक-एक करके माता, पत्नी, पिता और पुत्री की अकाल मृत्यु के असह्य आघातों को सहना पड़ा। आर्थिक अभावों और सामाजिक विकृतियों से वे जीवन-पर्यन्त जूझते रहे। अथाह जीवनी शक्ति से आप्लावित होने के कारण वे कभी संघर्षों से पराङ्मुख नहीं हुए। वे गति, शक्ति और मुक्ति के उपासक थे; अगति, दौर्बल्य और वन्धन उन्हें असह्य थे। मानवता-प्रेम उनके जीवन और काव्य का केन्द्रीय भाव है। संक्षेप में, यदि उनके जीवन और काव्य में दया, करुणा, सौन्दर्योपासना आदि के रूप में उनके इसी मानवता-प्रेम के कोमल अंश की अभिव्यक्ति मिलती है, तो गति, शक्ति और मुक्ति के उद्‌गारों में तथा गतिविरोधी तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह के स्वरों में उनके मानवता-प्रेम के कठोर अंश की अभिव्यक्ति हुई है।

'परिमल' निराला जी का दूसरा काव्य-संग्रह है, जिसका प्रथम वार प्रकाशन सन् १९२९ में हुआ। इससे पूर्व सन् १९२२ में 'अनामिका' नाम से उनका एक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका था। यों तो इस संग्रह में 'जुही की कली' जैसी कविता भी संगृहीत है, जिसकी रचना सन् १९१६ में हुई थी और जो कवि की प्रथम रचना मानी जाती है, तथापि सामान्यतः 'मतवाला' में सन् १९२४-२५ में प्रकाशित अधिकांश कविताओं का ही संग्रह इसमें हुआ है। यह कविता-संग्रह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास (तुकान्त) रचनायें हैं, दूसरे में विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास कवितायें हैं और तीसरे में स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग है।

परिमल में, उस काल की रचनायें संगृहीत हैं, जब भारत के सामाजिक जीवन में, एक ओर, श्रीरामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज और ब्रह्म समाज के सांस्कृतिक आन्दोलनों के माध्यम से नूतन चेतना का उदय हो रहा था, दूसरी ओर गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन जोरों पर था और तीसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में छायावादी आन्दोलन बल पकड़ रहा था। उपर्युक्त आदर्शोन्मुखी आन्दोलनों के व्यापक प्रसार के वावजूद भी यथार्थ जीवन में, प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूप से, आर्थिक और राजनैतिक शोषण, धार्मिक विद्वेष, सामाजिक वैषम्य, दुःख-दारिद्र्य और रूढ़िवाद जनता में व्याप्त हीनता-ग्रंथि और अज्ञान के सहारे उत्तरोत्तर फैल रहे थे। यथार्थ और आदर्श की दो स्पष्ट धारायें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में प्रवाहित थीं। यह निराला के उद्दाम यौवन का युग था, जब रूप, रस, गन्ध, ध्वनि, और स्पर्श के प्रति उनकी ऐन्द्रिय और रागात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त सजग थी। उनका सौन्दर्य-वोघ अपने नैसर्गिक निखार और उभार पर था। इसी गहन संवेदनशीलता और सौन्दर्य-बोध के युग में निराला ने अपनी सरस्वती को उपर्युक्त यथार्थ और आदर्श की धाराओं के मध्य स्वच्छन्द वेग से प्रवाहित होने के लिये छोड़ दिया था। यही कारण है कि परिमल में यथार्थ और आदर्श के विभिन्न आलम्बनों के आधार पर निराला जी की संवेदना विविध रूपों में ढल गई है। भावाभिव्यंजना के स्वरूप

निराला जी ने सूक्ष्म एवं सघन भावनाओं की पकड़ के लिए प्रतीक पद्धति का आश्रय लिया है। प्रतीकों में शब्द-शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर रहती है। प्रतीक अपने चारों ओर एक पूरी अर्थ-व्यंजना लपेटे रहते हैं। परिमल की 'बादल राग' कविता में बादल स्वतंत्रता, विप्लव, विराटता का प्रतीक है। 'जागो फिर एक बार : २' में सिंहनी, स्यार, मेषमाता आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। "ढके हृदय में स्वार्थ लगाये ऊपर चन्दन" में चन्दन आडम्बरों और आवरणों का प्रतीक है। "तुमने ही रेणु को सुमेरु बना रखा है" में रेणु तुच्छता का और सुमेरु बड़प्पन का प्रतीक है।

मानवीकरण तो छायावादी शैली या अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जहाँ काव्य-क्षेत्र में बहिर्मुखता पर अन्तमुर्खता की सापेक्ष प्रधानता हो, वहाँ मानवीकरण की प्रवृत्ति होती है। मानवीकरण केवल शैलीगत तत्त्व नहीं, वह मूलतः अनुभूति-गत है। 'परिमल' में 'जुही की कली', 'बादल राग', 'सन्ध्या सुन्दरी' आदि कविताओं में, प्राकृतिक उपकरणों में मानवीय भावनाओं और चेष्टाओं का चरमोत्कर्ष दिखलाई पड़ता है।

निराला जी ने सादृश्यमूलक अलङ्कारों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। निराला जी की उपमायें तो बेजोड़ हैं। उपमाओं के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण देखिए—(१) वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी। (२) सुकुमार लता के वाताहत मृदु छिन्न पुष्प-से दीन। (३) वह सुर-सरिता-सैकत-सी गोरी बाला। निराला जी ने रूपक अलङ्कार का भी बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। यहाँ 'बहू' शीर्षक कविता से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—(१) जलती अन्धकारमय जीवन की वह एक शमा है। (२) भावमग्न कवि की वह एक मुखरिता-वर्जित वाणी। (३) सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरङ्ग।

संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली और बंगला की मधुरता के संस्कारों के कारण परिमल की रचनाओं में संगीतात्मकता का प्राचुर्य है। निराला जी की कविता में उनके प्राणों का संगीत झंकृत होता है। उनके मुक्त छन्द की मुक्तता में परम्परागत छन्दों से भी कहीं बढ़कर जो प्रवाह और प्रभाव आ गया है, उसका रहस्य उनके प्राणों का संगीत और उनकी अनुभूति-योग की स्थिति ही है।

परिमल की अधिकांश रचनाओं की भाषा स्वाभाविक, सरस और सजीव है, किन्तु कतिपय कविताओं में समास-बहुल भाषा के प्रयोग से कुछ दुरूहता आ गई है। भाषा के क्षेत्र में भी निराला जी का दृष्टिकोण स्वतन्त्रता और समानता का ही है। इसीलिए उन्होंने प्रचलित उर्दू शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है, जो प्रायः बहुत फबता है, किन्तु कहीं-कहीं उर्दू के शब्द खप नहीं पाये हैं। अतः खटकते हैं। उदाहरण के लिए इन प्रयोगों को देखिये (१) "जो माला भर में आला है।" यहाँ आला शब्द उर्दू का है, जिसका अर्थ है श्रेष्ठ। कवि ने माला के साथ आला का

पहुँचते उन्हें एक-एक करके माता, पत्नी, पिता और पुत्री की अकाल मृत्यु के असह्य आघातों को सहना पड़ा। आर्थिक अभावों और सामाजिक विकृतियों से वे जीवन-पर्यन्त जूझते रहे। अथाह जीवनी शक्ति से आप्लावित होने के कारण वे कभी संघर्षों से पराङ्मुख नहीं हुए। वे गति, शक्ति और मुक्ति के उपासक थे; अगति, दौर्बल्य और बन्धन उन्हें असह्य थे। मानवता-प्रेम उनके जीवन और काव्य का केन्द्रीय भाव है। संक्षेप में, यदि उनके जीवन और काव्य में दया, करुणा, सौन्दर्योपासना आदि के रूप में उनके इसी मानवता-प्रेम के कोमल अंश की अभिव्यक्ति मिलती है, तो गति, शक्ति और मुक्ति के उद्गारों में तथा गतिविरोधी तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह के स्वरों में उनके मानवता-प्रेम के कठोर अंश की अभिव्यक्ति हुई है।

'परिमल' निराला जी का दूसरा काव्य-संग्रह है, जिसका प्रथम बार प्रकाशन सन् १९२९ में हुआ। इससे पूर्व सन् १९२२ में 'अनामिका' नाम से उनका एक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका था। यों तो इस संग्रह में 'जुही की कली' जैसी कविता भी संगृहीत है, जिसकी रचना सन् १९१६ में हुई थी और जो कवि की प्रथम रचना मानी जाती है, तथापि सामान्यतः 'मतवाला' में सन् १९२४-२५ में प्रकाशित अधिकांश कविताओं का ही संग्रह इसमें हुआ है। यह कविता-संग्रह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास (तुकान्त) रचनायें हैं, दूसरे में विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास कवितायें हैं और तीसरे में स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग है।

परिमल में, उस काल की रचनायें संगृहीत हैं, जब भारत के सामाजिक जीवन में, एक ओर, श्रीरामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज और ब्रह्म समाज के सांस्कृतिक आन्दोलनों के माध्यम से नूतन चेतना का उदय हो रहा था, दूसरी ओर गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन जोरों पर था और तीसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में छायावादी आन्दोलन बल पकड़ रहा था। उपर्युक्त आदर्शोन्मुखी आन्दोलनों के व्यापक प्रसार के बावजूद भी यथार्थ जीवन में, प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूप से, आर्थिक और राजनैतिक शोषण, धार्मिक विद्वेष, सामाजिक वैषम्य, दुःख-दारिद्र्य और रूढ़िवाद जनता में व्याप्त हीनता-ग्रंथि और अज्ञान के सहारे उत्तरोत्तर फैल रहे थे। यथार्थ और आदर्श की दो स्पष्ट धारायें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में प्रवाहित थीं। यह निराला के उद्दाम यौवन का युग था, जब रूप, रस, गन्ध, ध्वनि, और स्पर्श के प्रति उनकी ऐन्द्रिय और रागात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त सजग थी। उनका सौन्दर्य-बोध अपने नैसर्गिक निखार और उभार पर था। इसी गहन संवेदनशीलता और सौन्दर्य-बोध के युग में निराला ने अपनी सरस्वती को उपर्युक्त यथार्थ और आदर्श की धाराओं के मध्य स्वच्छन्द वेग से प्रवाहित होने के लिये छोड़ दिया था। यही कारण है कि परिमल में यथार्थ और आदर्श के विभिन्न आलम्बनों के आधार पर निराला जी की संवेदना विविध रूपों में ढल गई है। भावाभिव्यंजना के स्वरूप

२८

साकेत

डा० कमलाकान्त पाठक

साकेत गुप्त जी का प्रमुख और प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। तुलसी-साहित्य में जो स्थान मानस का है, गुप्त-साहित्य में वही स्थान 'साकेत' का है। गुप्त जी ने माघ शुक्ल नवमी संवत् १९८८ को महात्मा गांधी को भेजे गये पत्र में लिखा था कि 'मेरी जीवन-रचना साकेत है'। इस महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति की मूल प्रेरणा क्या है? निश्चित ही इसकी प्रेरणा सरस्वती के जुलाई १९०८ के अंक में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'कवियों की ऊर्मिला-विषयक उदासीनता' नामक लेख था। परन्तु 'साकेत' का उद्देश्य केवल ऊर्मिला के चरित्र-चित्र का अनावरण करना ही नहीं है। राम-भक्ति भी अधिक नहीं है, बलिक कम है, तथा भारतीय जीवन की समग्रता भी आन्तरिक चेतना नहीं है, वरन् जीवन-निष्ठा अथवा सांस्कृतिक मनोभावना है। यही साकेत की मानवतादर्शवादी प्रेरणा है।

आधुनिक युग की मानवतावादी काव्य-प्रवृत्तियों ने रामकथा को मानवीय भूमि पर अंकित किया और उसके उपेक्षित चरित्रों को नवजीवन प्रदान किया। साकेत चरित्र-प्रधान कथा-सृष्टि है। कथा-विकास तो उसका पृष्ठाधार मात्र है। उसके त्रुटिपूर्ण वस्तु-विन्यास का एक कारण यह भी है। एक और तथ्य भी विस्मृत नहीं किया जा सकता कि कवि ने अपने चरित्रों की प्रायः मौलिक कल्पना की है। उसने यह प्रयत्न किया है कि उन चरित्रों के संबन्ध में उसकी कल्पना पात्रों की बद्धमूल सांस्कृतिक-धारणा पर कोई आघात न करे। 'मेघनाद-वध' के कवि और 'साकेत' के कवि का यह अन्तर विस्मृत नहीं किया जा सकता कि जहाँ मधुसूदन दत्त आधुनिक प्रतिक्रिया के कारण सर्वथा नई पात्र-कल्पना करते हैं, वहाँ गुप्त जी समन्वयशील होकर प्राचीन शरीर में नया रक्त प्रवाहित करते हैं। मधुसूदनदत्त ने तो बद्धमूल सांस्कृतिक धारणा का विपर्यय ही कर दिया है। गुप्त जी की मर्यादा के प्रति गहरी निष्ठा है। उनकी नई बौद्धिकता विश्वास-समन्वित है और मानवतावादी चिन्तना भक्ति-निष्ठ। गुप्त जी ने अपने पात्रों को न विजातीय विचार दिए,

सभी प्रकार की अर्थ-छबियाँ व्यञ्जित हुई हैं। ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि मुक्त छन्द का निराला ने प्रयत्नपूर्वक प्रवर्तन नहीं किया, अपितु वह तो उनके स्वतन्त्रता-प्रेमी स्वभाव की उच्छल अभिव्यक्ति की नैसर्गिक माँग थी—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अनेक स्वच्छन्द छन्दों में स्फुरित वैदिक ऋचायें ऋषियों की उन्मुक्तता का प्रकृत प्रकाशन थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुक्ति-भावना कवि की आत्माभिव्यक्ति का अनिवार्य तत्त्व है; स्वतन्त्रता में ही कवि को जीवन की पूर्णता का आभास मिलता है।

(२) महाप्राण निराला का मन विराट् (सबलाइम) वस्तुओं, व्यक्तियों और दृश्यों में खूब रमा है। पाश्चात्य विद्वान् लौंगिनुस के अनुसार अनन्त विस्तार, असाधारण शक्ति और वेग, अलौकिक ऐश्वर्य और उत्कट एवं स्थायी प्रभाव-क्षमता विराट्-तत्त्व के लक्षण हैं। विराट् रूपों के दर्शन से उल्लास, जिज्ञासा, भय, विस्मय, श्रद्धा आदि भावों का उदय होता है। 'परिमल' में 'बादल राग' शीर्षक कविताओं में बादल का विराट् रूप व्यक्त हुआ है। बादल की प्रचण्डता, निस्सीमता, वेग, गर्जन-तर्जन, उपल-वृष्टि, भीषणता और उन्मुक्तता आदि विराटता के सभी लक्षण कवि को सहसा सम्मोहित करते हैं और वह कह उठता है :—

"अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट् !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट् !"

सम्पूर्ण प्रकृति-जगत् में कवि के व्यक्तित्व की विराटता का पूर्ण सामञ्जस्य यदि किसी के साथ घटित होता है तो बादल के ही। कवि का बादल से पूर्ण तादात्म्य है। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में बादल पर जितनी और जैसी कवितायें निराला ने लिखीं उतनी और वैसी अन्य किसी ने नहीं। विप्लव, क्रान्ति, स्वच्छन्दता और उद्दाम वेग के कवि निराला की बादल से यह माँग स्वाभाविक ही है :—

"पार ले चल मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार !"

यह ही नहीं, निराला जी को अपने उन्मुक्त गायक और कवि का आदर्श रूप भी बादल में मूर्तित मालूम पड़ता है :—

मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
... ...

विघ्न न बन ? सीता के साथ उसकी परिस्थिति का वैषम्य अत्यंत गम्भीर रूप में प्रदर्शित हुआ। चित्रकूट मिलन जितना क्षणिक है, उतना ही आवेश-पूर्ण। उस समय की मनोव्यथा व्यंजित है, वर्णित नहीं। साकेत के नवमसर्ग में ऊर्मिला का विप्रलम्भ सकरुण है। उसमें विरह की सभी अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण है। 'अब जो प्रियतम को पाऊँ' अथवा 'यही आता है इस मन में' प्रगीत अभिलाषा या दर्शनोत्कंठा के व्यंजक हैं। यह अभिलाषा आवेगमयी है, पर उत्सर्ग शील भी, यथा—'मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ', 'मुझे भूलकर ही त्रिभुवन में विचरें मेरे नाथ' चिंता का व्यंजक प्रगीत है। 'मुझे फूल मत मारो' तथा 'मेरे चपल यौवन बाल' प्रगीत ऊर्मिला की उद्वेगावस्था को प्रकट करते हैं। यह उद्वेग मानसिक ही नहीं शारीरिक भी है। ऊर्मिला अर्द्धमूर्च्छित अवस्था में कई भावोद्गार प्रकट करती है। यह दशा शास्त्रीय या रूढ़ नहीं है, मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक स्थिति की उपज है। इसमें जटिलता है और मानसिक द्वन्द्व की अंतर्धारा भी, यथा:—

भूल अवधि-सुधि प्रिय से कहती जगती हुई कभी 'आओ'।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर 'जाओ'।

इसे व्याधि के अंतर्गत रखा जा सकता है। 'भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मनमारूँ, झखमार' प्रलापावस्था का निदर्शक है। जड़ता की अवस्था 'सप्तपदी होकर यहां बैठी मैं गति-हीन' में व्यंजित हुई है। 'अब भी समक्ष वह नाथ खड़े' से लेकर 'प्रियमयी सदा ऊर्मिला रहे' तक का वर्णन उन्मादावस्था का विज्ञापक है। कवि ने उन्मादावस्था का वर्णन सांगोपांग रूप से तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। उसमें केवल काव्य रूढ़ियों का अनुवर्तन नहीं है।

कैकेयी मंथरा-संवाद में पुत्र-विषयक रति अथवा वात्सल्य भावना अभिव्यंजित हुई है। रोष और घृणा उसके सहयोगी भाव हैं। यह स्थल मार्मिक है और स्वाभाविकता लिए हुए भी। विदा-प्रसंग करुण रस का उद्भावक है। राम की प्रशांत और गम्भीर मुद्रा तथा लक्ष्मण का आवेश वैषम्य-व्यंजक हैं। वात्सल्य और दाम्पत्य-प्रेम यहाँ पर करुण रस के सहयोगी हो गये हैं। पंचम सर्ग का वन-गमन भिन्न भाव की सृष्टि करता है। वह राम और सीता के संयोग शृंगार का व्यंजक है। निषाद-लक्ष्मण वार्ता का निर्वेद तथा वनवासियों का हास इसी रति के सहयोगी भाव हैं। निश्चय ही यह रति भाव-गाम्भीर्य, मर्यादा और प्रशान्ति लिए हुए है। वन-गमन की भाव-धारा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

'शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं'
'गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।'

यहां यह प्रश्न उठता है कि कवि ने करुण रस का प्रवाह रोककर शृंगारिक वर्णन क्यों किया ? क्या इससे दशरथ-मरण का करुणोत्पादक भाव-संगठन क्षति-ग्रस्त

करता हुआ कवि जब चिन्मय स्तर पर पहुँच जाता है तो लौकिक दृष्टि ही दिव्य बन जाती है; निस्सार और नश्वर भासित होने वाले संसार में ही ब्रह्म-सौन्दर्य का आभास मिलने लगता है :—

पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टि-शक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप,
विकसित किया मन को,
बुद्धि, चित्त, अहंकार, पञ्चभूत,
रूप-रस-गन्ध-स्पर्श,
शब्दज संसार यह
वीचियाँ ही अगनित शुचि सच्चिदानन्द की।

वास्तव में, ब्रह्म-कान्ति में लीन रहस्य-द्रष्टा निराला का लक्ष्य ससीम और नश्वर संसार में ही जीवन के महान् मूल्यों और सौन्दर्य की अवतारणा करके उसे ससीमता से असीमता और नश्वरता से अमरता की ओर अग्रसर करना था। उनकी अलौकिकता की साधना का मूल रहस्य लौकिकता के पूर्ण उत्कर्ष की भावना या कामना में निहित है। इस दृष्टि से 'धारा' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें 'जीवन की प्रबल उमंग' ही धारा के रूप में सीमायें पार करके 'प्रियतम असीम के संग' मिलने के लिए जाती हुई अंकित की गई है। उनकी आध्यात्मिकता लोक-जीवन पर न्योछावर है। यदि उनकी आध्यात्मिकता उनको निर्मम, निर्विकार और निस्संग बनाकर, दीन-दुखियों के प्रति उमड़ती हुई उनकी करुणा-धारा के प्रकृत संचार को निस्सार कहकर बाधित करे तो वे ऐसी जड़ आध्यात्मिकता को ही तिलाञ्जलि देने में तनिक संकोच नहीं करते हैं :—

"छूटता है यद्यपि अधिवास
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।"

(४) निराला जी ने प्रकृति और मानव के क्षेत्र में सौन्दर्य और प्रेम के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। 'परिमल' में सौन्दर्य और प्रेम की मर्म-छवियाँ प्रस्तुत करने वाली अनेक कवितायें हैं, जिनमें 'बहू', 'संध्या सुन्दरी', 'यमुना के प्रति', 'प्रिया के प्रति', 'स्मृति', 'उसकी स्मृति', 'विफल वासना', 'कविता', 'शेफालिका', 'जुही की कली' और "पञ्चवटी प्रसङ्ग" उल्लेखनीय हैं। कवि की सौन्दर्यानुभूति और प्रेम-भावना का मूल आधार ऐन्द्रिय बोध की तीव्रता है। प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य का चित्रण करते हुए निराला जी ने रूप, रस, गन्ध, ध्वनि और स्पर्श की अनुभूतियों को जगाने वाले संश्लिष्ट बिम्ब उपस्थित किये हैं। ऋतुपति के दूत—रूप, गन्ध, मकरन्द आदि—आने पर कवि को सारा संसार सौन्दर्य और प्रेम से आप्लावित दिखलाई पड़ता है। 'परिमल' शब्द 'सुगन्धि' का वाचक होने के कारण ऐन्द्रिय बोध को ही लक्षित करता है—"वही

और पुनर्मिलन ? राम और भरत का मिलन भ्रातृत्व का साफल्य है और दोनों की जीवन-साधना का शीर्षफल। इसी कारण उनका भावोद्वेग भी प्रबल है। सम्पूर्ण राज-परिवार के पुनर्मिलन का दृश्य भव्य है और उसमें लक्ष्मण-ऊर्मिला का पुनर्संयोग अपनी सात्विक आभा विकीर्ण करता है। साकेत की समाप्ति समस्त कामनाओं को पूर्णत्व-प्राप्ति है। इसके इष्ट-लाभ में 'आपा होम' का स्वत्व है, विमुक्तों का पुनर्मिलन अथवा राम की राजत्व-प्राप्ति मात्र नहीं। आशय यह है कि कवि ने अन्तिम दृश्य को, पुनर्मिलन को, न स्थूल वस्तु-योजना मात्र रखा, न उसने हर्षोल्लास की भौतिक सीमा ही आँकी। उसने जीवन-साधना का पूर्ण-कामत्व व्यंजित किया, जिसमें समस्त भावोद्वेलन प्रशमित हो गए और सुखान्त परिणति प्रशांति का गाम्भीर्य व्यक्त कर सकी। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य भावोद्वेलन से अनुप्राणित और रस की धारा से सिक्त है।

तीव्रता का गुण गुप्त जी के काव्य में सर्वाधिक है। गार्हस्थ्य चित्रण में कवि ने पर्याप्त सूक्ष्मता दिखाई है। साकेत की संपूर्ण कथा, जिसमें जीवन की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना है, गार्हस्थ्य वातावरण में विकसित होती है। यहाँ तक कि वन में राम की भी गार्हस्थ्य-भावना समाप्त नहीं होती। वहाँ भी एक कुटुम्ब बन जाता है। इस गार्हस्थ्य परिपार्श्व में गुप्त जी का भावोन्मेष अवश्य सौंदर्य-वर्द्धक है, पर वह मानसिक जटिलता, गाम्भीर्य अथवा द्वन्द्वमयी सूक्ष्मता से व्युत्पन्न नहीं है। गुप्त जी ने जीवन के उस पक्ष को प्राधान्य दिया, जिसे तुलसीदास ने आनुषंगिक रखा। उनका वर्ण्य भक्ति और वीरत्व था। गुप्त जी का वर्ण्य प्रेम और करुणा है। तुलसी की दृष्टि राम के लोकरंजक और लोकहित-साधक रूप पर केन्द्रित थी, पर गुप्त जी का लक्ष्य जीवन के कोमलपक्ष का उद्घाटन करना था, जिसमें प्रेम के साथ-साथ तप और त्याग की महिमा भी गाई जा सके। इसी कारण भाव-सृष्टि की विपुलता अथवा अनेकरूपता होते हुए भी 'साकेत' में न 'मानस' की भाव-विस्तृति है, न जीवन-विषयक समतुल्य व्यापकता। विस्तार और व्यापकता उसमें है, पर ऊर्मिला और कैकेयी की भावात्मक तीव्रता, सूक्ष्मता तथा गहनता को भी साथ-साथ साधा गया है। अतः साकेत में गहनता और व्यापकता है, पर वह चारित्रिक अन्तर्बाह्य के संतुलन में है। कवि की भक्ति-भावना में मध्य-युगीन वीर-पूजा अथवा आदर्श-पूजा की कमी और नई प्रवृत्ति का, करुणा और त्याग का, आधिक्य है। अतएव साकेत में जीवन की सक्रियता कम और मानसिक प्रतिक्रिया तथा चरित्रोत्कर्ष की भावना अधिक है।

पुनरुत्थान की आदर्शवादी धारणा से प्रभावित होते हुए भी गुप्त जी का प्रधान उद्देश्य रस-सृष्टि रहा है। यही कारण है कि गुप्त जी ने सांस्कृतिक चेतना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति नहीं की, उसका जीवन-निष्ठ रूप ही उन्हें ग्राह्य हुआ। यह

ऋतुओं के रूप-रंग के साथ ही उनके हाव-भाव और स्वभाव के चित्र भी अङ्कित मालूम पड़ते हैं। 'वन-कुसुमों की शय्या' कविता में तो ऋतुयें पात्रों के रूप में उपस्थित हुई हैं।

निराला जी ने, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, मानवेतर और मानव-सृष्टि में सर्वत्र एक ही रागात्मकता का सञ्चार देखा है। यही कारण है कि परिमल की कविताओं में प्रकृति के क्षेत्र में मानव-जगत् की भाँति ही अभिसार, प्रणय-निवेदन, रति-क्रीड़ा, चुम्बन आदि मादक प्रणय-व्यापारों की योजना मिलती है। पञ्चवटी प्रसंग : ३ में गोदावरी अभिसारिका के रूप में अङ्कित की गई है—"क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी।" "तरङ्गों के प्रति" कविता में तरंगें 'भाव' बदलती हैं, हँसती हैं और हृदय खोलकर अगणित बाहें बढ़ाये किसी के आलिङ्गनार्थ साज सजा रही हैं।'बादल' नामक कविता में रस-लोलुप, निष्ठुर प्रेमी भ्रमर की कुसुम के प्रति हृदय-हीनता का चित्र अङ्कित है। 'जुही की कली' तो प्रणय की मस्ती और मादकता का बेजोड़ चित्र प्रस्तुत करती है। इस कविता में शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का समावेश हुआ है। वियोग प्रगाढ़ प्रेमालिंगन के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि का काम करता है। संयोग के क्षेत्र में तो, इसमें चुम्बन, बरजोरी (निपट निठुराई) और परिरम्भण के मादक चित्रों को संजोया गया है। यौवन की मस्ती, वासना की उमस, प्रेम-व्यापार की मादकता, प्रसङ्ग-विधान की नाटकीयता और शैली के स्वच्छन्द प्रवाह की दृष्टि से 'जुही की कली' हिन्दी काव्य-क्षेत्र में एक युगान्तरकारी रचना है, जिसमें द्विवेदी कालीन अति नैतिकता की एक सहज प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है।

'जागो फिर एक बार : १' में मानवीय क्षेत्र में संयोगावस्था के पूर्ण आदर्श की अभिव्यंजना मिलती है। निम्नलिखित पङ्क्तियों में शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रेमालिंगन का आदर्श प्रस्तुत है :—

"तन-मन थक जायँ,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में"

'यमुना के प्रति' कविता में अतीत के चित्रपटल पर प्रेम और रोमांस के चित्र अङ्कित किये गये हैं। यह कविता रंगीन और रोमाण्टिक वातावरण की सृष्टि की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सारी कविता में भाव-धारा का कोई क्रमिक

अर्द्धांगिनी, सहधर्म-चारिणी और मानव-जीवन की पूर्ति है। घर में वह कुल-वधू है, जो पुरुष के क्षेत्र में अनावश्यक दस्तंदाजी नहीं करती। परन्तु आवश्यकता होने पर ऊर्मिला और कैकेयी की भाँति रण-चंडी भी बन जाती हैं। प्रेम, त्याग और सेवा के क्षेत्र में नारी अतुलनीय है। मध्ययुग में नारी की जो स्थिति रही, उस पर गुप्त जी की करुणा खूब रोई है। उन्होंने साकेत में नारी के गौरव का विशद आख्यान किया है। नारी के संसर्ग से ही पुरुष का जीवन स्वर्ग के समान बनता है। साकेत में नारी के प्रेम एवं त्याग का ही भावात्मक आख्यान है। नारी का जो उत्कर्ष इस काव्य में व्यंजित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नारी के इस उत्थान में गुप्त जी की भावुकता स्पष्ट दिखाई देती है।

कवि की भावुकता राष्ट्र-प्रेम एवं अतीत-गौरव के चित्रांकन में भी व्यक्त हुई है। जो वस्तुएँ महान् थीं या अब भी हैं, वे सांस्कृतिक गौरव को मूर्त्त आधार देती हैं। साकेत में रघुकुल का गौरव स्मरण किया गया है, तथा राम ने मातृभूमि की और सीता ने गंगा की श्रद्धा और हर्ष के साथ स्तुति-वन्दना की है। ऊर्मिला ने चित्रकूट, सरयू तथा अयोध्या-मिथिला के गौरव का उल्लेख किया है। प्राचीन कला-कौशल का उत्कर्ष, प्रजा की सौख्यसमृद्धि, ज्ञान और विज्ञान की निरंतर उन्नति, काव्य तथा अन्य कलाओं का पूर्ण विकास, विदेशी लेखकों का स्वानुभव लेखन, प्रत्येक स्थिति के व्यक्ति का कर्त्तव्य-पालन, दैनिक जीवन का आदर्शस्वरूप, भवनों, स्तूपों और आवासों का वास्तु-सौंदर्य इत्यादि भारत के समृद्ध अतीत के ही निदर्शन है। सांस्कृतिक प्रकर्ष की अभिव्यक्ति भी इसी भौतिक-समृद्धि के अंतर्गत दिखाई पड़ती है। गुप्त जी में राष्ट्र-प्रेम की भावना इतनी बलवती है कि अयोध्या की सैनिक सज्जा के समय, सीता को भारत-लक्ष्मी मानकर अत्यंत आवेशपूर्ण उद्गार प्रकट किए गए हैं।

गुप्त जी के प्रकृति-वर्णन भी भावाक्षिप्त हैं। कहीं यह भावाक्षेप प्रकृति के मानवीकरण को स्पष्ट करता है और कहीं अमूर्त्तभाव को मूर्त्त रूप देने के प्रयास को प्रकट। निम्नलिखित पंक्तियों में राम-वनवास की घटना के पश्चात् कैकेयी-कर्म पर प्रकृति स्वयं रोषमयी हो गई है। यहाँ कवि-भावना का आक्षेप है तथा समस्त परिस्थिति का रोष और शून्यता का आरोप :—

नभ-ओर ऊर्मिला ने देखा, थी ईर्ष्या-भरी दृष्टि-रेखा।
तब नभ भी मानों धधक उठा, संध्यारुणिमा मिस भभक उठा।
रीता दिन बीता, रात हुई, ज्यों-त्यों वह रात प्रभात हुई।
फिर सूनी-सूनी साँझ हुई, मानों सब वेला बाँझ हुई।

भाव को मूर्त्त रूप देने के लिए भी प्रकृति चित्रण को प्रयुक्त किया गया है।

गुप्त जी ने पात्रों के अनुभावों के सुन्दर तथा सूक्ष्म चित्र अंकित किए हैं। वस्तु, भाव और मानसिक अवस्था के ये चित्र उनकी चित्रण-कला, पर्यवेक्षण शक्ति

इस कविता में प्रेम-भावना की विविध सम्बन्धों में, विभिन्न धरातलों पर विषद अभिव्यक्ति हुई है। शूर्पनखा में कामावेग का ज्वार-भाटा दिखलाने में कवि ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है। राम और सीता मधुर दाम्पत्य प्रेम का अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अनसूया में सीता के प्रति सहज स्नेह-भाव झलकता है। लक्ष्मण तो आज्ञा-पालन, सेवा, त्याग, भक्ति-भावना की सजीव प्रतिमा हैं ही। पञ्चवटी प्रसङ्ग के चौथे खण्ड में, जो चिन्तन की बोझिलता के कारण नीरस है, दार्शनिक पीठिका प्रस्तुत करते हुए राम ने व्यष्टि और समष्टि की अभिन्नता सिद्ध करके प्रेम के विश्वव्यापी स्वरूप—"वसुधैव कुटुम्बकम्"—का आदर्श प्रस्तुत किया है। निराला जी का सौन्दर्य और प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण शारीरिकता से हटकर उत्तरोत्तर सात्विकता की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में उसी में पर्यवसित हो गया है। "पञ्चवटी प्रसङ्ग" के आदर्श पात्रों के चरित्र के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उनका वास्तविक सौन्दर्य उनके प्रेम में ही है। लक्ष्मण का सारा सौन्दर्य सेवा और आज्ञा पालन में है, तो सीता का सच्चा सौन्दर्य उसके सतीत्व और पति-प्रेम में। निराला जी के अनुसार व्यक्ति के प्रेम का उदात्त रूप अथवा उसका शील-सौन्दर्य ही उसके व्यक्तित्व को एक अद्भुत गरिमा और लावण्य से मण्डित करता है।

(५) परिमल की कुछ रचनाओं में वेदना, घुटन, असन्तोष, करुणा और विद्रोह के स्वर प्रस्फुटित हुए हैं। विषमता-ग्रस्त, रुग्ण समाज में साँसें लेने वाले प्रत्येक भावुक कलाकार के संवेदनशील हृदय की ये सभी स्वाभाविक एवं परस्पर सम्पृक्त प्रवृत्तियाँ हैं। स्वाभाविक धारणा के सर्वथा विपरीत वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के आलम्बन रूप में उपस्थित होने पर हृदय आलम्बन-भेद के अनुसार कभी कुण्ठित, कभी आहत और कभी आन्दोलित हो उठता है। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन', 'कण', 'क्या दूँ', 'आवाहन' आदि कविताओं में ऐसी ही भावावेगपूर्ण मनोदशाओं की अभिव्यक्ति है। यों तो अन्तर्जगत् और साहित्य के क्षेत्र में किसी प्रकार का वस्तुपरक (ऑब्जैक्टिव) वर्गीकरण न तो सम्भव है और न स्वाभाविक ही, फिर भी विवेचन की वैज्ञानिकता की दृष्टि से 'परिमल' में संगृहीत विषाद और विद्रोह की व्यञ्जक कविताओं को तीन वर्गों में रख सकते हैं—(१) व्यक्तिगत दुःखानुभूति से पूर्ण कवितायें, (२) समाज अथवा मानव-मात्र की दुःखानुभूति से पूर्ण कवितायें, (३) राष्ट्र तथा संस्कृति की पराधीनता से उत्पन्न असन्तोष और विद्रोह से पूर्ण कवितायें।

प्रथम श्रेणी की रचनाओं में वैयक्तिक असफलता, दुःख और घुटन की गहरी अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं। 'पतनोन्मुख' शीर्षक कविता में कवि ने दुःखों और असफलताओं में जलते हुए जीवन पर अनुताप प्रकट किया है। जीवन की विकल डाली के पल्लव-प्राण शीघ्र ही झरने को हैं, यह विचार कवि को गहरी वेदना से भर देता

अर्द्धांगिनी, सहधर्म-चारिणी और मानव-जीवन की पूर्ति है। घर में वह कुल-वधू है, जो पुरुष के क्षेत्र में अनावश्यक दस्तंदाजी नहीं करती। परन्तु आवश्यकता होने पर ऊर्मिला और कैकेयी की भाँति रण-चंडी भी बन जाती हैं। प्रेम, त्याग और सेवा के क्षेत्र में नारी अतुलनीय है। मध्ययुग में नारी की जो स्थिति रही, उस पर गुप्त जी की करुणा खूब रोई है। उन्होंने साकेत में नारी के गौरव का विशद आख्यान किया है। नारी के संसर्ग से ही पुरुष का जीवन स्वर्ग के समान बनता है। साकेत में नारी के प्रेम एवं त्याग का ही भावात्मक आख्यान है। नारी का जो उत्कर्ष इस काव्य में व्यंजित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नारी के इस उत्थान में गुप्त जी की भावुकता स्पष्ट दिखाई देती है।

कवि की भावुकता राष्ट्र-प्रेम एवं अतीत-गौरव के चित्रांकन में भी व्यक्त हुई है। जो वस्तुएँ महान् थीं या अब भी हैं, वे सांस्कृतिक गौरव को मूर्त्त आधार देती हैं। साकेत में रघुकुल का गौरव स्मरण किया गया है, तथा राम ने मातृभूमि की और सीता ने गंगा की श्रद्धा और हर्ष के साथ स्तुति-वन्दना की है। ऊर्मिला ने चित्रकूट, सरयू तथा अयोध्या-मिथिला के गौरव का उल्लेख किया है। प्राचीन कला-कौशल का उत्कर्ष, प्रजा की सौख्यसमृद्धि, ज्ञान और विज्ञान की निरंतर उन्नति, काव्य तथा अन्य कलाओं का पूर्ण विकास, विदेशी लेखकों का स्वानुभव लेखन, प्रत्येक स्थिति के व्यक्ति का कर्त्तव्य-पालन, दैनिक जीवन का आदर्शस्वरूप, भवनों, स्तूपों और आवासों का वास्तु-सौंदर्य इत्यादि भारत के समृद्ध अतीत के ही निदर्शन हैं। सांस्कृतिक प्रकर्ष की अभिव्यक्ति भी इसी भौतिक-समृद्धि के अंतर्गत दिखाई पड़ती है। गुप्त जी में राष्ट्र-प्रेम की भावना इतनी बलवती है कि अयोध्या की सैनिक सज्जा के समय, सीता को भारत-लक्ष्मी मानकर अत्यंत आवेशपूर्ण उद्गार प्रकट किए गए हैं।

गुप्त जी के प्रकृति-वर्णन भी भावाक्षिप्त हैं। कहीं यह भावाक्षेप प्रकृति के मानवीकरण को स्पष्ट करता है और कहीं अमूर्त्तभाव को मूर्त्त रूप देने के प्रयास को प्रकट। निम्नलिखित पंक्तियों में राम-वनवास की घटना के पश्चात् कैकेयी-कर्म पर प्रकृति स्वयं रोषमयी हो गई है। यहाँ कवि-भावना का आक्षेप है तथा समस्त परिस्थिति का रोष और शून्यता का आरोप :—

नभ-ओर ऊर्मिला ने देखा, थी ईर्ष्या-भरी दृष्टि-रेखा।
तब नभ भी मानों धधक उठा, संध्यारुणिमा मिस भभक उठा।
रीता दिन बीता, रात हुई, ज्यों-त्यों वह रात प्रभात हुई।
फिर सूनी-सूनी साँझ हुई, मानों सब वेला बाँझ हुई।

भाव को मूर्त्त रूप देने के लिए भी प्रकृति चित्रण को प्रयुक्त किया गया है।

गुप्त जी ने पात्रों के अनुभावों के सुन्दर तथा सूक्ष्म चित्र अंकित किए हैं। वस्तु, भाव और मानसिक अवस्था के ये चित्र उनकी चित्रण-कला, पर्यवेक्षण शक्ति

अपने को आलम्बन की परिस्थिति में डालकर उसके साथ पूर्ण तादात्म्य का भाव स्थापित नहीं करता है तब तक उसकी अनुभूतियाँ गोचर और मूर्त रूप नहीं धारण कर सकतीं। अनुभूतियाँ गोचर और मूर्त रूप धारण करती हैं बहिर्जगत् के उपकरणों के आधार पर। उदाहरण के लिये 'विधवा' शीर्षक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में कवि ने पति-पूजा, मौन तल्लीनता, दुर्भाग्य और दीनता आदि भावों को एकत्र गूंथकर प्रकृति के उपकरणों के माध्यम से विधवा का अत्यन्त सुन्दर भाव-चित्र अङ्कित किया है :—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।"

'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन' सभी विषमता-ग्रस्त भारतीय समाज के सबसे अधिक अभिशप्त और उपेक्षित प्राणी हैं, जिनके-प्रति कवि की सहानुभूति का स्रोत अनायास उमड़ उठा है। यद्यपि 'बादलराग : ६' में बादल के माध्यम से कृषकाय और शोषित कृषकों के प्रति सहानुभूति प्रकट करके और "अङ्गना-अङ्ग से लिपटे" हुए धनी वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त करके कवि ने शोषक और शोषित के मध्य चलने वाले वर्ग-संघर्ष के प्रति अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रकट की है, तथापि वहाँ मार्क्स-वाद आदि किसी वाद-गत वस्तु की छाया देखना घोर भ्रान्ति होगी। मुक्तात्मा निराला की सहानुभूति और विक्षोभ का सञ्चार और प्रसार सर्वथा स्वच्छन्द और प्रकृत था, किसी बौद्धिक, साम्प्रदायिक या रूढ़िग्रस्त धारणा अथवा वाद का मुखापेक्षी नहीं। वे संस्कारों से ही महान् थे, प्रभावों से नहीं। केवल बौद्धिक सतह पर उन्होंने किसी प्रभाव को ग्रहण नहीं किया। जिन प्रभावों ने उनके सम्पूर्ण रागात्मक अस्तित्व को आन्दोलित और उत्प्रेरित किया, वे प्रभाव न रहकर संस्कार बन गये। वे किसी भी क्षणिक प्रभाव की झोंक में नहीं बहे। वे लोक-मङ्गल और मानव-प्रगति के पोषक रहे। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध मानवीय प्रगतिशीलता का समर्थक है, प्रगतिवाद या साम्यवाद का नहीं। उनकी सम्पूर्ण अनुभूति और अभिव्यक्ति में उनका 'मैं' (निजत्व) ही प्रधान है। उनकी सहानुभूति के उद्रेक की सहज मनो-वैज्ञानिक प्रक्रिया 'अधिवास' कविता की इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है :—

"मैंने "मैं"—शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ वेदना आई,"

२६
यशोधरा

प्रो० रवेलचन्द आनन्द

काव्य-रूप एवं प्रेरणा

'साकेत' की अनुवर्तिनी 'यशोधरा' मैथिलीशरण गुप्त की महत्त्वपूर्ण कलाकृति है। यह उपेक्षिता ऊर्मिला के चरित्रांकन के अनन्तर विस्मृता यशोधरा के चरित्र-निर्माण में कवि की कलाकांक्षा का प्रतिफलन है। इस काव्य-रचना में गद्य-पद्य, दृश्य-काव्य, प्रगीत-प्रवन्ध सभी का सहज समावेश हुआ है। सामान्यतः इसे चम्पू-काव्य माना जाता है, परन्तु चम्पू की तरह यह गद्य-पद्यमय कृति नहीं है क्योंकि मुख्यतः इसके नाटक भाग में ही गद्य का प्रयोग हुआ है। डा० उमाकान्त यशोधरा को 'प्रगीतात्मक नाट्य-प्रवन्ध' कहते हैं।[1] उन्होंने 'यशोधरा' में गीति-तत्त्व, नाट्य-तत्त्व एवं प्रवन्धात्मकता को देखकर इस रचना को इस नये काव्य-रूप का अभिधान दिया है। परन्तु मूलतः यशोधरा एक खण्ड-काव्य है। इसमें यशोधरा के चरित्र-निर्माण की ओर कवि का विशेष ध्यान है एवं उसके हृद्गत भावों की विविध छन्दों एवं काव्य-शैलियों में अभिव्यक्ति है। इस खण्ड-काव्य में घटना तत्त्व को वर्ण्य न बनाकर भावों को वर्ण्य बनाया गया है तथा आख्यानात्मकता के स्थान पर चरित्र-सृष्टि को महत्त्व दिया गया है। अतः यशोधरा को 'भावात्मक खण्ड-काव्य' मानना ही संगत प्रतीत होता है।

'यशोधरा' का उद्देश्य उपेक्षिता यशोधरा को पाठकों के दृष्टिपथ में लाना है। अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'साकेत' में गुप्त जी ने चिर-उपेक्षिता ऊर्मिला को वाणी प्रदान की है। वहीं से प्रेरणा प्राप्त कर गुप्त जी ने विस्मृता यशोधरा के उदात्त व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी है। इस प्रकार कवि की "वैष्णव भावना ने तुलसीदल देकर य नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रखा है।" वस्तुतः 'साकेत' की ऊर्मिला ही 'यशोधरा' निर्माण की मूल प्रेरणा है। एतद्विषयक गुप्त जी की स्वोक्ति है, "भगवान् बुद्ध औ उनके अमृतत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो-चार आँसू ही तुम

१. मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—पृ० २४३।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, 'परिमल' की कुछ रचनाओं में भक्ति-भावना, क्षणभंगुरता, सरलता आदि का प्रकाशन हुआ है। कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व को हृदयंगम करने में इस संग्रह की 'कवि' शीर्षक कविता अत्यन्त उपयोगी है। इस कविता में कवि का काव्यादर्श व्यक्त हुआ है। निराला जी के लिए बहुधा प्रयुक्त विशेषण "महाप्राण" स्वयं उन्होंने इस कविता में 'कवि' के लिये प्रयुक्त किया है। कवि दूसरों को अमृत वितरित करने के लिये ही संसार का गरल पीता और पचाता है :—

"दूसरों के अर्थ ही लेते दान,
महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन ही जीवन जोड़,
मोड़ निज सुख से मुख।"

उपर्युक्त पंक्तियों में, जो स्वयं निराला जी पर पूर्णतः घटित होती हैं, कवि का लोक-संग्रही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। उन्होंने जीवन को दुःख-मुक्त करना और उसमें नई शक्ति का संचार करना अपना परम लक्ष्य माना है। शक्ति और मुक्ति उनकी अभिव्यक्ति के अनिवार्य तत्व हैं :—

"हे महान् ! सोचते हो दुःख-मुक्ति,
शक्ति नव जीवन की।"

यहाँ संक्षेप में 'परिमल' की रचनाओं की भाषा-शैली पर विहंगम दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। छायावादी शैली के सभी तत्त्वों—बिम्बविधान, प्रतीकात्मकता, मानवीकरण तथा सङ्गीतात्मकता—का 'परिमल' की रचनाओं में सफलतापूर्वक समावेश हुआ है। परिमल की रचनाओं में बिम्ब-विधान तो मार्के का है। रूप, ध्वनि, गन्ध, रस और स्पर्श—सभी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के संश्लिष्ट बिम्ब परिमल में असंख्य हैं। "लोल लहरों की छल-छल" में ध्वनि, "मसल दिये गोरे कपोल गोल" में स्पर्श, "बन्द कर आँखें पी रही हैं मधु मौन" में रस, "मुकुल-व्याकुल श्री सुरभि बह कह गई" में गन्ध की अनुभूति को रूपायित किया गया है। रूप-बिम्ब तो सर्व-सामान्य है ही, जिसके माध्यम से अन्य अनुभूतियों को प्रत्यक्ष एवं मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। रूप बिम्बों में स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के बिम्ब भारी संख्या में सुलभ हैं। "निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही" में स्थिर और "डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल" में गत्यात्मक बिम्ब का उत्कृष्ट नमूना देखा जा सकता है। कहीं-कहीं कवि ने सूक्ष्म वस्तुओं और भावों के भी बिम्ब खड़े किये हैं। "सखी नीरवता के कन्धे पर डाल बाँह" में सन्ध्या सुन्दरी को अपनी सखी 'नीरवता' के कन्धे पर बाँहें डाले हुए अंकित किया गया है। "सुधि की चञ्चल प्रथम तरङ्ग" में सुधि का चित्र प्रस्तुत है।

विभिन्न पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ चित्रित हैं। 'छन्दक' में गौतम के त्याग एवं यशोधरा के तापसी वेशधारण की कथा है। 'यशोधरा' के आत्मोद्गारों में नायिका की विरह-वेदना व्यंजित है तथा 'राहुल-जननी' में यशोधरा के वात्सल्य के उद्रेक हैं। 'यशोधरा' में 'यशोधरा' तथा 'राहुल जननी' शीर्षक तीन-तीन बार आए हैं। इसका कारण यशोधरा का नायिका होना है। इन शीर्षकों में कवि ने उसके विरहिणी, जननी एवं पुत्रवधू इन तीन रूपों की अभिव्यक्ति की है। स्वाभिमानिनी-विरहिणी के विरहोद्गारों की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ वात्सल्य रस का परिपाक इन शीर्षकों में द्रष्टव्य है। 'बुद्धदेव' से यशोधरा की कथा की परिसमाप्ति होती है। यहाँ यशोधरा की प्रेम साधना की सफलता का वर्णन है। गौतम बुद्ध अपनी सिद्धि का श्रेय यशोधरा को देते हैं और यशोधरा राहुल सहित उनके संघ में दीक्षित हो जाती है। इस प्रकार बीस शीर्षकों में विभक्त 'यशोधरा' की कथा यशोधरा के विरहाश्रुओं के साथ, उसके प्रेम की अनन्यता, उसके आत्मगौरव एवं वात्सल्य के रूप में नारी की गरिमा का आख्यान है।

यशोधरा की कथा में स्थान-ऐक्य एवं घटना-ऐक्य का सुन्दर निर्वाह हुआ है। सम्पूर्ण कथा कपिलवस्तु के राजप्रासाद में विन्यस्त हुई है, और यशोधरा के व्यक्तित्व की धुरी के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। मानिनी विरहिणी को भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिए भी राजभवन से बाहर जाना स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार स्थान ऐक्य का सफल निर्वाह यशोधरा में हुआ है। यशोधरा का विरह-वर्णन इस कथा के घटना-ऐक्य का निदर्शन है। सम्पूर्ण कथा में यशोधरा के विरह-वर्णन एवं उसके उदात्त चरित्र की अभिव्यक्ति गुप्त जी को अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त अरस्तू द्वारा निर्देशित वस्तु के तीन अंग—आदि, मध्य और अवसान—भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, जिनसे कथा-विन्यास में सुसंगठन भी आभासित होता है। 'छन्दक' शीर्षक तक आदि, 'सन्धान' तक मध्य और 'बुद्धदेव' से कथा का अवसान स्पष्ट है। इस प्रकार 'यशोधरा' की कथा-योजना विवरणात्मक ढंग से आयोजित न होने पर भी पर्याप्त सफल है। 'यशोधरा' वस्तुतः एक भावात्मक खण्ड-काव्य है, जिसमें संक्षिप्त भाव-कथा है, सूक्ष्म भावनाओं का प्रवाहात्मक-संकलन है एवं घटना-तत्त्व गौण है।

शील-निरूपण

'यशोधरा' नायिका-प्रधान काव्य है। गुप्त जी ने यशोधरा के चरित्र-निर्माण में पर्याप्त परिश्रम किया है। वस्तुतः इस रचना के प्रणयन का उद्देश्य भी यही था। इस काव्य के अन्य पात्र हैं—राहुल, गौतम, शुद्धदेव, महाप्रजावती, नन्द, छन्दक, गौतमी, गंगा, चित्रा और विचित्रा। ये सभी पात्र यशोधरा के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए ही समाविष्ट हैं। 'यशोधरा' आद्यन्त यशोधरा की ही कहानी है। गौण पात्रों में गौतम तथा राहुल के अतिरिक्त सभी पात्र औपचारिक हैं, उनका कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं है। गौतम काव्य के आरम्भ तथा अन्त में आते हैं। आरम्भ में उनके

प्रयोग केवल तुक के मोह में पड़कर किया है। (२) "दगा दिया तूने ज्यों......'में 'दगा दिया' प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य है। (३) "भेजा है फतहयाब होने को दक्षिण में" में "फतहयाब" शब्द अधिक भारी पड़ता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता परिमल की रचनाओं की प्रमुख विशेषता है, किन्तु कतिपय रचनाओं ('यमुना के प्रति,' 'विस्मृत-भोर,' 'जागरण' आदि) में कलात्मक संयम का अभाव खटकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुभूति की नैसर्गिकता, गहनता और व्यापकता तथा भाषा की चरम अभिव्यंजना की दृष्टि से 'परिमल' एक उत्कृष्ट काव्य-कृति है। निराला जी की जीवन-दृष्टि प्रकृत और मानवतावादी है, जिसमें जीवन और जगत् की गति, शक्ति और मुक्ति की बलवती प्रेरणा सक्रिय है। उनका काव्य अन्धकार से प्रकाश, विष से अमृत और मृत्यु से जीवन के शाश्वत संघर्ष का काव्य है। वे विप्लव के गायक हैं। वे परम आस्तिक और आशावादी कवि हैं। जीवन के प्रति अडिग आस्थायें और प्रवृत्ति जगाना उनके काव्य का मौलिक गुण है। यद्यपि कवि की वैदिक-ऋषियों जैसी मुक्त-हृदयता के कारण ही परिमल की कविताओं में अनेक वादों की भाव-भूमियां स्वतः समाविष्ट हो गई हैं, क्योंकि विभिन्न वादों के रूप में जीवन की ही तो आंशिक अभिव्यक्ति होती है, तथापि परिमल की रचनायें एक स्वतन्त्र-चेता द्रष्टा और स्रष्टा के भावाकुल हृदय की नैसर्गिक अभिव्यक्तियाँ ही हैं, न इससे कम न अधिक। परिमल की रचनाओं में निराला जी के विराट व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व मिलता है। उनके काव्य में लौकिक—अलौकिक, यथार्थ—आदर्श, प्रकृति—मानव, व्यष्टि—समष्टि, सरसता—सोद्देश्यता का अद्भुत समन्वय है। वे एक साथ ही 'कोमल' और 'कठोर' के कवि हैं। उनको जितनी सफलता 'जुही की कली' अथवा 'विधवा' लिखने में मिली है, उतनी ही "महाराज शिवा का पत्र"। उनकी "जागो फिर एक बार" शीर्षक वाली दोनों कविताओं की परस्पर तुलना से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वे शृंगार जैसी कोमल और वीरता जैसी कठोर भावनाओं को समान सफलता के साथ अभिव्यक्त कर सके हैं। इस कोमलता और कठोरता का एकत्र सामंजस्य 'बादल राग' में देखा जा सकता है। कुल मिलाकर परिमल एक सुन्दर, सरस और सजीव कृति है।

यशोधरा क्षत्राणी है, क्षात्र-धर्म को पहचानती है, युद्ध के अवसर पर नारी अपने पति को स्वयं ही रण-सज्जा से सज्जित कर रणांगन में भेज सकती है, यह आदर्श उसे ज्ञात था। सुतरां, गौतम का इस प्रकार का महाभिनिष्क्रमण कदापि उचित नहीं था। इस प्रकार यशोधरा का हृदय अपनी अवमानना से तड़प उठता है। उसकी वाणी में युग-युग की उपेक्षिता नारी की ध्वनि विद्यमान है जो अपने स्वत्वों के लिए जाग उठी है, जो यह प्रतिपादित करना चाहती है कि नारी का भी स्वतन्त्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व है :—

"सिद्धि मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है !
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है !
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।"

(यशोधरा पृष्ठ ५०)

गर्विता यशोधरा का आत्म सम्मान अन्त तक बना रहता है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' लिखते हैं—"यशोधरा के हृदय में पीड़ा के प्रबल झोंके आते हैं, किन्तु उनमें इतना बल नहीं है कि वे उसके पैर उखाड़ दें, प्रियतम जो उसकी उपेक्षा करके चले गये—यह बात उसके कलेजे में काँटे की तरह खटकती रहती है।" (गुप्त जी की काव्य धारा, पृष्ठ २२३)। इसी आत्म-सम्मान की भावना के कारण, हृद्गत प्रणय की तड़पन होने पर भी, वह प्रिय-दर्शन के लिए अपने कक्ष को छोड़कर अजिर तक भी नहीं जाना चाहती। अन्ततः उसकी साधना पूर्ण होती है और भगवान् तथागत भी उसकी महत्ता स्वीकारते हैं। मानिनी यशोधरा की विरह-वेदना का भी स्वाभाविक वर्णन 'यशोधरा' में मिलता है। वह अपने करुण-क्रन्दन को पी जाने वाली आदर्श नारी के रूप में अंकित है। फिर भी इस पति-वियोगिनी का विषाद सम्पूर्ण काव्य में परिव्याप्त है। उसके विरह-वर्णन में वियोग-शृंगार की समस्त अन्तर्दशाओं का और विप्रलम्भ के चारों अंगों का तो समन्वय हुआ ही है, साथ ही उसमें स्वाभाविक नूतनता भी है। उसके हृदय में मिलन की अभिलाषा विद्यमान है, वह विगत सुखमय दिनों का स्मरण भी करती है, प्रिय की चिन्ता उसे व्याकुल भी कर देती है, वह उनका गुण कथन भी करती है। उसके उद्वेग, उन्माद एवं प्रलाप का अंकन भी कवि ने किया है। साथ ही उसका विरह अन्तर्मुखी है जिसका करुण-क्रन्दन 'यशोधरा' में अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है। प्रोषितपतिका की विरह-वेदना असह्य है, वह वनवासी प्रियतम को लौट आने के लिए, विह्वल हो पुकार उठती है :—

"जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते,
देखो दो-दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी।
आओ हो वनवासी ॥"

(यशोधरा पृष्ठ

न वैयक्तिक स्वाधीनता का आदर्श और न साहित्य-शैली के रूप में क्लैसिक (रूढ़) प्रवृत्तियों का परित्याग करते हुए भी व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का चारित्रिक परिधान।

साकेत में गार्हस्थ्य जीवन का विशद चित्रण होने तथा 'होता है कृत-कृत्य सहज बहुजन-गृही' जैसी उक्तियों से यह अनुमान लगाया जाता है कि गुप्त जी ने संयुक्तपरिवार के समर्थन के लिए ही साकेत की रचना की। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने 'मैं हूं कौटुम्बिक कवि मात्र' कहकर अपने पारिवारिक जीवन के कवि होने की बात स्वीकार की है। डा० नगेन्द्र का कथन है—"यह युग राष्ट्रीयता का होने के कारण लोग उनकी राष्ट्रीयता को ले उड़े, अन्यथा उनकी प्रधान विशेषता गृहस्थ जीवन के सुख-दुख की व्यंजना है।" परन्तु इन सबसे इस बात की कोई पुष्टि नहीं होती कि गुप्त जी ने साकेत की रचना संयुक्त परिवार के समर्थन के लिए की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गुप्त जी के गार्हस्थ्य वातावरण को रस की संज्ञा दी है। गुप्त जी का कथन था कि वे उत्तेजना अथवा आवेश की स्थिति में ही प्रायः काव्य-रचना करते थे। यह उत्तेजना सुखात्मक हो अथवा दुखात्मक, पर वे व्यक्तिगत जीवन के संकेतों को कहीं प्रमुख नहीं होने देते। इस दृष्टि से गुप्त जी का सम्पूर्ण काव्य इसकी भूमिका पर आधृत है। कवि की अतिरिक्त भावुकता तथा पात्रों की भावनामयता का भी यह कारण है।

गुप्त जी के गार्हस्थ्य-चित्र एक विशिष्ट प्रकार की काव्यानुभूति से सम्पन्न हैं। कवि ने गृहस्थ जीवन का सुख दुःख व्यंजित किया और प्रेम को पारिवारिक परिपार्श्व में प्रकर्षिता दी। इसी सीमा के भीतर रहकर उन्होंने अपनी सामाजिक मर्यादा और सांस्कृतिक मनोभावना को घोषित, उत्तेजित और अभिव्यक्त किया। अपनी इसी रसवादी मनोवृत्ति के कारण गुप्त जी ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत शारीरिकता या ऐन्द्रिकता का विधान कर दिया। अन्यथा एक मर्यादावादी कवि इसके अभाव में ही अपने उद्देश्य की सिद्धि कहीं अधिक कर पाता। गुप्त जी के ऐसे ऐन्द्रिक चित्र गार्हस्थ्य वातावरण में अत्यंत मनोहर एवं सरस हो गए हैं। यदि ये सूक्ष्म और मानसिक सौंदर्य से अधिक सम्पन्न होते तो काव्योचित होता। द्वादश सर्ग में लक्ष्मण-ऊर्मिला-मिलन दाम्पत्य के जीवन-व्यापी भाव की गंभीरता को लिए हुए है। वहां कायिक प्रसाधन नहीं, आंतरिक प्रीति प्रधान हो उठी है:—

लेकर मानो विश्व-विरह उस अंतःपुर में,
समा रहे थे एक-दूसरे के वे उर में।

दम्पति की भाव-संकुलता यहां व्यंग्य है।

लक्ष्मण की प्रवास वेला में ऊर्मिला चिंता, विषाद, मोह, काम, निरवलंबता, आशंका आदि मनोभावों से ग्रस्त है। सीता के प्रति उसके मन में ईर्ष्या की उत्पत्ति नहीं हुई। असहायावस्था में वह अपने मन से यही कह सकी—'तू प्रिय पथ का

आया जब मार मुझे मारने को बार-बार,
अप्सरा अनीकनी सजाये हेम हीर से।
तुम तो यहाँ थी धीर ध्यान ही तुम्हरा वहाँ,
जूझा मुझे पीछे कर पंचशर वीर से।

(यशोधरा, पृष्ठ २०८)

'यशोधरा' में नारी की महिमा के अंकन के साथ ही इस रचना का सन्देश भी अनुस्यूत है। कवि ऐसी मुक्ति जो संसारिक-संघर्षों से पलायन द्वारा प्राप्य हो, ग्राह्य नहीं मानता। जरा-जर्जरित वृद्ध को देखकर गौतम का महाभिनिष्क्रमण यशोधरा को उचित प्रतीत नहीं होता। अपने पति के विचारों का खण्डन करती हुई यशोधरा का निम्न कथन रचना के सन्देश को प्रकट करता है :—

यदि हममें अपना नियम और शम-दम है
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति जहाँ संयम है।
नव जीवन दाता मरण कहाँ निर्मम है।
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ॥

(यशोधरा, पृष्ठ १५४)

इस प्रकार 'यशोधरा' में गुप्त जी गार्हस्थ्य एवं वैराग्य अथवा मुक्ति एवं भुक्ति के सुसामंजस्य से सिद्ध सहज जीवन का महत्त्व अंकित करते हैं। उपेक्षिता यशोधरा की हिन्दी काव्य में प्रतिष्ठापना, नारी का महत्त्वांकन, मुक्ति सम्बन्धी कवि के विचार एवं सन्देश उसके मानवतावाद की अभिव्यक्ति करते हैं। कवि का यह सन्देश उसकी आधुनिक मनोवृत्ति का प्रतीक भी है।

यशोधरा एक परम्परागत कथानक को नवीन परिधान में सुसज्जित कर मौलिक उद्भावनाओं से युक्त एक सफल कलाकृति है; जिसमें विविध भावों एवं रसों की योजना के साथ रसराज विप्रलम्भ शृंगार का सफल परिपाक है; युगभावनाओं के अनुकूल यशोधरा के चरित्र की मंजुल कल्पना द्वारा नारी के गौरव का आख्यान है। कला-रूप की दृष्टि से यशोधरा एक भावात्मक खण्ड-काव्य है, जिसमें आख्यान, गीति, नाटकीयता, गद्य-पद्य आदि कई शैलियों एवं विशेषताओं का समन्वय है। 'यशोधरा' का भाषा-माधुर्य, भावानुकूल सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना तथा तुकान्त-अतुकान्त छन्द-प्रयोग उसके कलात्मक सौष्ठव के संवर्धक तत्त्व हैं। विषय-प्रतिपादन, मार्मिक भावस्थलों की उद्भावना, भाषा-सौन्दर्य एवं शैली-वैविध्य इस अनेक रूपात्मक भावात्मक खण्ड-काव्य की उज्ज्वल विशेषताएँ हैं, जिनसे 'यशोधरा' गुप्त जी की उत्तम काव्य-कृति बन गई है।

नहीं हुआ ? यदि अष्टम सर्ग तक यही क्रम बंधा रहता तो वस्तु-निर्माण क्षति-ग्रस्त होता, राम का चारित्र्य भ्रष्ट और सम्पूर्ण काव्य विलाप बन जाता। भाव-व्यंजना में यह विभेदक वस्तु-योजना वैषम्य के द्वारा करुण रस की प्रभावोत्पादकता को प्रवर्द्धित करती है।

चतुर्थ सर्ग की करुण स्थिति और षष्ठ सर्ग का दशरथ-मरण आहत वात्सल्य का मार्मिक आख्यान हैं। भरत-आगमन और अधिक मार्मिक है। भरत के क्षोभ, ग्लानि और शोक की व्यंजक वातावरण-सृष्टि भी करुण भावापन्न है। कैकेयी और कौशल्या से भरत की भेंट उनके शोक को प्रकर्षित करती है और दशरथ का महा-संस्कार उसे चरम स्थिति पर पहुंचाता है। भरत की आत्म-ग्लानि की कोई सीमा नहीं है। वह आवेश और आँसू में बह उठती है। डा० नगेन्द्र ने इस प्रसंग को लक्ष्य कर यह कहा है कि 'महाकवि की दृष्टि मानव-मनोदशा के गहन स्तरों में बड़ी दूर तक पहुँचती है—उसमें उतनी ही सूक्ष्म ग्राहकता है, जितना विस्तार।' तुलसी के भरत का शोक भक्ति-जन्य है और साकेत की भरत-आर्ति प्रीतिजन्य।

चित्रकूट-सम्मिलन का आरंभ हुआ सीता के संयोग शृङ्गार से और समाप्ति हुई ऊर्मिला-लक्ष्मण-मिलन से। रति के इन दो छोरों के मध्य करुणा का सागर लहराता है। राम और भरत का मिलन प्रेम और आवेश का मिलन कहा गया है। वहां पर ग्लानि और प्रेम, करुणा और दैन्य तथा आवेश और धृति की एक साथ व्यंजना होती चली गई है। कैकेयी का वात्सल्य निष्कलंक हो गया है और वह आवेग और वितर्क, प्रीति और अनुताप तथा भरत की गौरव-रक्षा और स्वात्म-निंदा का अनोखा आस्वाद उत्पन्न करता है। कवि की भावुकता को यह प्रसंग-सृष्टि गौरवान्वित करती है। सुखःदुख की अनुभूतियों का ऐसा विलक्षण-संयोग कठिनाई से उपलब्ध होता है।

भरत-माण्डवी संवाद में शृंगारिकता औपचारिक है और निर्वेद प्रधान है। धृति, स्मृति और विषाद इसकी पोषक मनोवृत्तियां हैं। शांत रस की झलक यहीं मिलती है। हनुमान का आकाश-मार्ग से गमन अद्‌भुत रस का उदाहरण है। राम-रावण युद्ध में क्रोध तथा शोक एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं। द्वादश सर्ग की रण-सज्जा वीरोत्साह की व्यंजना करती है। युद्ध-वर्णन में सजीवता का निर्वाह किया गया है। मेघनाद और लक्ष्मण का युद्ध वीर रस का अच्छा उदाहरण है। कवि ने युद्धोत्साह, क्रोध, युद्ध-भूमि की भयंकरता तथा व्रणमाला का जवाकुसुम की माला बन जाना, इत्यादि वर्णनों में भावात्मक विकास की क्रमबद्धता रखी है। वीभत्स वर्णन उसने नहीं किए, पर शौर्य-चित्रण में सजीवता अवश्य उत्पन्न की। वीरत्व का प्रेरक भाव प्रेम है और वह ऊर्मिला से सम्बद्ध है, अतएव परुष भाव-व्यंजना अप्रधान है, पुनर्मिलन की साधक मात्र।

हों या कथात्मक (जैसे 'नौका विहार'), 'गीति की संज्ञा से अभिहित की जा सकती हैं'। इनमें कवि पन्त के व्यक्तित्व की सहज निर्बाध अभिव्यक्ति है। कवि की उच्छ्वसित भाव-तरंगों में गहन तरलता और प्रत्यक्षानुभूति है। इन गीतियों में कवि के भावाभिभूत क्षणों को लयात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

'गुंजन' में भूमिका-गीति के अतिरिक्त ४५ गीति संगृहीत हैं। इनका रचनाकाल सन् १९ ९ से १९३२ तक है। अधिकांश गीति सन् १९२७, ३० तथा ३२ में (क्रमशः संख्या ५, ५ तथा २८) रचित हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रस्तुत गीतों को तीन मालाओं में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, दार्शनिक शृंखला (१९३२ की समस्त रचनायें); द्वितीय प्रणय संबंधी गीति-माला (प्रेम, सौन्दर्य संबंधी); तृतीय, एकान्त स्फुट गीति-माला (मुख्य रूप से प्राकृतिक सौन्दर्य संबंधी)। पन्त जी का अन्तर्मुखी, विचारप्रधान व्यक्तित्व है। 'गुंजन' में कवि की जीवन-बगिया यौवन पर है, चारों ओर अनोखी मादकता का साम्राज्य है। कवि का मन-भौंरा गत कड़वे-मीठे अनुभवों के भार से मुक्त नहीं हो पा रहा। आज इस उत्तेजक वातावरण में भी वह एकाएक उन्मन हो उठा है। वह कुछ गा उठने को विवश है और उसकी सहज गुनगुनाहट ने 'गुंजन' की गीतावली का रूप धारण कर लिया है।

सन् १९२२ से १९३० तक पन्त जी का जीवन दुःखपूर्ण रहा। इस कालावधि में उनके पिता का निधन हुआ, स्वयं पन्त रोगग्रस्त रहे तथा अनेक पारिवारिक एवं मानसिक चिन्ताओं से निरन्तर घिरे रहे। संभवतः दुःख के प्रथम झोंकों ने उन्हें नैराश्य और विषाद से ओतप्रोत कर दिया था। मृत्यु में ही उन्हें जन्म की सार्थकता दीखने लगी थी। जीवन की निपट व्यर्थता से द्रवित हो 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता में ये पंक्तियाँ उनकी लेखनी से सहज निःसृत हो उठी थीं :—

खोलता इधर जन्म लोचन, मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण
वही मधु ऋतु की गुञ्जित डाल, झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल, सिहर उठती, जीवन है भार !

व्याधियों से मुक्ति पाने पर विचारवान कवि ने व्यक्तिगत सुख-दुख को समष्टिगत दृष्टि से आंकने का प्रयास किया। वह मानवता का पुजारी हो गया। जीवन के प्रति उसमें एक नई आस्था जगी, वह जन मात्र को सुखी देखने की अदम्य कामना से भर उठा। उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि आज जन-जीवन भौतिक सुख-सुविधाओं के संचय-संकलन में आत्मविस्मृत हो गया है। इस असंतुलन को लक्ष्य कर कवि का गुंजन उन्मन है। जीवन-वाटिका के उल्लास में उसे अपनी हँसी-खुशी अपूर्ण और अस्थायी जान पड़ती है, उसके भाव में कहीं अभाव छिपा बैठा है। वह मानव-जीवन के अभाव, उसकी वेदना को समझने और उसे सभी प्राणियों में मिल-बाँटकर खो देने के लिए तत्पर है। परदुःखानुभूति के लिए 'स्व'

बात अवश्य है कि वे भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति आस्थावान् रहे हैं और रस की धारा में उन्होंने उनका विपर्यय नहीं दिया। उन्होंने नवीन मानवतावादी दर्शन की धारणा भी भारतीय संस्कृति से ही ग्रहण की। इसीसे गुप्त जी सर्वत्र भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक तथा कुशल व्याख्याता दिखाई पड़ते हैं।

मनुष्य-जीवन का आदर्श क्या है ? एक शब्द में वह त्याग है, परन्तु क्रिया-हीनता उसका लक्ष्य नहीं है। जीवन-साधना ही त्याग-मूलक और अनुरागजन्य है। राम और भरत के चरित्र को देखिए अथवा ऊर्मिला की स्थिति को, सर्वत्र प्रेम के कारण कर्त्तव्य-संपादन होता है और स्वार्थ का बलिदान। इसी कारण सारा जीवन एक तपस्या बन जाता है। पर उसका सुख या आनन्द कहाँ है ? साकेतकार का मंतव्य है कि विघ्नों पराजय पाना और जो सौख्य अर्जित हो उसे त्याग देना आनन्द की चरम स्थिति है। इसी के द्वारा नर को ईश्वरता प्राप्त होती है और पृथ्वी स्वर्ग बन जाती है। प्रत्येक व्यक्ति यदि व्यक्तिगत लाभ के लिए संघर्ष करता रहे तो जीवन में उपभोग वृत्ति बढ़ जाती है और कष्टों की कोई सीमा नहीं रहती। यदि सुखोपलब्धियों का त्याग किया जाए तो पृथ्वी स्वर्ग हो जाए, समाज की मर्यादा बनी रहे और मानव देवता बन जाएँ। गुप्त जी ने सात्विकता की इसी ज्योति को प्रज्वलित किया है। यह सात्विक त्याग ज्ञान-जन्य नहीं है, भावुकता का परिणाम है। यही गुप्त जी का मानव-धर्म है। गुप्त जी ने धार्मिक काव्य की रचना नहीं की, मानवतावादी काव्य लिखा। वैष्णव मतावलम्बी होते हुए भी उनका दृष्टिकोण उदार एवं असाम्प्रदायिक है।

गुप्त जी ने भारतीय संस्कृति के 'निग्रह' को स्वीकार किया। पातिव्रत-धर्म और एक पत्नी-व्रत काम-वृत्ति को संयमित रखते हैं। लक्ष्मण की यह गर्वोक्ति काम-निग्रह की शक्ति को प्रकट करती है:—

'यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू ऊर्मिला को ही जाना।'

परन्तु इसमें वह जड़ता नहीं है जो पूर्ववर्ती धर्म-निष्ठ ग्रन्थों में उल्लिखित है। यह निग्रह राग-जन्य है। इससे जहाँ एक ओर समाज की मर्यादा का पालन होता है, वहाँ दूसरी ओर गार्हस्थ्य जीवन में रस की धारा भी प्रवाहित होती है। इसमें पति-पत्नी के शारीरिक आनन्द का भी वर्जन नहीं किया गया। साकेत के संयोगात्मक ऐन्द्रिक चित्र इसके प्रमाण हैं। साथ ही हृदय की यह सरलता सामाजिक जीवन को भी मधुर बनाती है। देवर-भाभी या ननद-भाभी के रोमांटिक परिहास तथा मित्रों और सह-कर्मियों के मध्य बातचीत में प्रत्युत्पन्नमतित्व जीवन को उत्साहपूर्ण एवं सरस करते है। यह गुप्त जी के रसवादी काव्य-शिल्प के अनुकूल ही है।

गुप्त जी की नारी-भावना भी इससे प्रभावित है। गुप्तजी की नारी पुरुष की

जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें, दुख सुख से औ' सुख दुख से ! (गीति ४)

इस सुख-दुख से घबराने की आवश्कता नहीं है। यह अस्थिर है किन्तु जीवन का अर्थ भिन्न है। 'स्व' को पहचानना और आत्म-विकास की परम उपलब्धि करना ही जीवन का उद्देश्य है :—

अस्थिर है जग का सुख-दुख,
जीवन ही नित्य चिरंतन ! (गीति ७)

कवि की कल्पना में एक आदर्शवादी संसार है जिसे धरती पर उतारकर वह अपूर्ण जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है। वह आशावादी है। ईश्वर उसका सम्बल है, नियति पर उसे विश्वास है। उसके जीवन-दर्शन को संचालित करने वाली शक्ति संस्कृति है। संस्कृति है, मानव-समाज की युग-युगों से होती आ रही आन्तरिक साधना का प्रतिफल। पन्त जी कहते हैं :—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का ;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन !
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे; (गीति १०)

चिन्तन-साधना के फलस्वरूप एक स्पष्ट लक्ष्य दृष्टिपथ में आ जाने के कारण कवि का उन्मन गुंजन नव उल्लास से भर उठा :—

रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु-संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन ! (गीति ११)

उल्लास से भर उठने के कारण कवि को जगत् और जीवन सुन्दर दीखने लगा है। सौंदर्य वस्तुगत और दृष्टिगत दोनों है। पन्त जी उसे यहाँ दृष्टिगत अनुभव करते हैं। उनमें जीवन जीने और उसे सजाने और सँवारने की कामना है, अटूट आस्था से ही यह सब संभव है :—

सुंदर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन, (गीति १२)

तथा मनःकल्पना की मूर्त्त स्पष्टता का बोध कराते हैं। ये चित्र सजीव हैं और इनमें अनावश्यक रेखा अथवा शब्द का प्रयोग नहीं है। कहीं कही मन पर पड़े हुए प्रभाव का (इम्प्रेशन का) चित्र स्वल्प रेखाओं द्वारा अंकित हुआ है :—

तिरछी यह दृष्टि हो उठी,
तकती-सी यह सृष्टि हो उठी।

अथवा

हिलमिल कर मिल गईं परस्पर लिपट जटाएँ।

इन चित्रों द्वारा नाटकीय रोचकता का विनियोग हुआ है और मनोभावों को मूर्त्त-रूप दिया जा सका है।

गार्हस्थ्य चित्रण में वात्सल्य, श्वश्रूत्व, भ्रातृत्व, देवर-भाभी, भगिनी, सेवक आदि के सम्बंध विविध पारिवारिक भावनाओं को व्यक्त करते हैं। वात्सल्य का उत्कर्ष दशरथ में दिखाई पड़ता है। कैकेयी की वर-याचना के अनन्तर दशरथ का आहत वात्सल्य उन्हें निश्चेष्ट बना देता है। कौशल्या का पुत्र-स्नेह मोहाभिभूत होते हुए भी भोला है, कोमल होते हुए भी निःस्पृह है और स्निग्ध होते हुए भी स्वच्छ है। कैकेयी का मातृत्व अधिकार-वृत्ति से प्रेरित और भावावेग की शक्ति से संचालित है। सुमित्रा में बलिदान की भावना सर्वप्रधान है। कौशल्या और सीता के संयुक्त चित्रण में सास-बहू के सुमधुर संबंध का निरूपण हुआ है। राम और लक्ष्मण का भ्रातृत्व ममत्व और श्रद्धा का, प्रेम और सेवा का, साहचर्य और कष्ट सहिष्णुता का निदर्शक है। भ्रातृत्व का अधिकार निरपेक्ष रूप से राम-भरत के सम्बन्ध-चित्र द्वारा व्यक्त हुआ है। एक ने धर्म-संस्थापन किया और दूसरे ने तपस्या-रत रहकर राज्य-व्यवस्था की। दशम सर्ग में सीता आदि चारों बहिनों का पारस्परिक प्रेम प्रकट हुआ है और उसी का निर्वाह समस्त काव्य में किया गया है। ननद-भाभी के सम्बन्ध में भगिनी-भाव तो है ही, पर उसके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो इस सम्बन्ध को प्राणवान बनाता है, गुप्तजी ने देवर-भाभी के सम्बन्ध को, जो दाम्पत्य और वात्सल्य की मध्यवर्तिनी भाव-स्थिति है, बड़े कौशल से चित्रित किया है। सीता ने चित्रकूट में भरत के ससैन्य आगमन के पूर्व लक्ष्मण के सम्बन्ध में कहा था—'ये तुम्हें छोड़ कब कहाँ मानते किनको ?' और भरत को आशीर्वचन 'निज अग्रज से भी अधिक सुयश तुम पाओ' दोनों में पति की सम्बन्ध-भावना के कारण सीता का ममत्व प्रकट हुआ है। इसी प्रकार मांडवी का ममत्व शत्रुघ्न पर—'घर सम्हालने वाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं', ये गम्भीर प्रसंग हैं। इस सम्बन्ध का एक दूसरा पक्ष है—हास-परिहास। ऊर्मिला-शत्रुघ्न का परिहास 'देवि, दोनों ओर मेरा रसवाद है' तथा सीता-लक्ष्मण का परिहास 'मध्य भाग की मध्य भाग में ही रहीं' आदि इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों की अवतारणा गुप्त जी की अपनी मौलिक विशेषता है।

पन्त जी 'पर' के लिए 'स्व' का विसर्जन श्रेष्ठ मानते हैं। अनेकता में एकता स्थापित करना चाहते हैं किन्तु उनका उद्देश्य अद्वैत-स्थापना नहीं है। व्यक्ति और जीवन की अस्तित्व-रक्षा उन्हें अभीष्ट है। वे जीवन-सरिता के किनारे बैठकर उसकी लहरों का आनन्द लेने में मग्न हैं। अधिक गहराई में जाने पर अपना अस्तित्व खो जाने की आशंका है:—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है भाती तट की चल जल-माली ! (गीति ३१)

इस अन्तर्साधना के उपरान्त पन्त जी पूर्णकाम हो गये हैं। मन का अवसाद घुल गया है, जीवन की सतरंगी छवि से जी खिल उठा है। बस, उनकी कामना है:—

जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय, चिर नूतन !

मानव-जीवन का आधार रूपाकार संबंधी अनेकता है और इस अनेकता से एकता की ओर गति में उसका लक्ष्य निहित है। एकता की स्थापना के लिए सब से बड़ा साधन है प्रेम। आत्मा की आत्मा से निकटता की उत्कट आकांक्षा ही प्रेम है। प्रेम के विविध रूपों में नारी-पुरुष का प्रणय अपनी सहज तन्मयता के कारण उल्लेखनीय है। नारी और पुरुष परस्पर निकट आने तथा एक दूसरे को पाने के लिए अनायास उत्कण्ठित रहते हैं और तन-मन से एकाकार हो जाने पर पूर्णता प्राप्त करते हैं। पन्त जी ने इस मधुर जीवन-रहस्य को विभिन्न गीतियों में हृदयग्राही अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पन्त जी का गीति 'भावी पत्नी के प्रति' विचारणीय है। इस में भावी जीवन-सहचरी के रूप एवं व्यक्तित्व के संबंध में सरस, कोमल कल्पना की गई है। उनका ध्यान भावी 'पत्नी' की ओर उन्मुख है, 'प्रेयसी' के प्रति नहीं। पत्नी में प्रेयसी जैसी मादक स्वच्छन्दता नहीं है; उसमें सामाजिक स्वीकृति का भाव है, नियति के विधान पर सन्तोष है। पत्नी की प्रतिमा में मर्यादा की गरिमा है, चिर साहचर्य की आत्मीयता है और पारस्परिक दायित्व का बोध है। पन्तजी ने गीति में एक अनुपम सौन्दर्यमयी नारी की पत्नी-रूप में कल्पना की है। ऐसी मनोरम कल्पना सभी सहृदय युवक साधारणतया विवाह से पूर्व करते हैं।

कवि के प्रस्तुत दिवास्वप्न में नारी के कोमल अंगों को अशरीरी अभिव्यक्ति देकर मांसलता का यथासंभव निराकरण किया गया है। भावी पत्नी की बाल्यावस्था से ही उसके निर्विकार दिव्य विकास को लक्षित किया गया है। यहां नारी के उद्दाम यौवन पर लालसा की दृष्टि नहीं है वरन् उसमें पावन सौन्दर्य की झलक पाने की ललक है जो सर्वथा निष्कलुष एवं वासना-रहित है। कवि का अन्तर् इस अजानी

तथा मनःकल्पना की मूर्त्त स्पष्टता का बोध कराते हैं। ये चित्र सजीव हैं और इनमें अनावश्यक रेखा अथवा शब्द का प्रयोग नहीं है। कहीं कहीं मन पर पड़े हुए प्रभाव का (इम्प्रेशन का) चित्र स्वल्प रेखाओं द्वारा अंकित हुआ है :—

तिरछी यह दृष्टि हो उठी,
तकती-सी यह सृष्टि हो उठी।

अथवा

हिलमिल कर मिल गईं परस्पर लिपट जटाएँ।

इन चित्रों द्वारा नाटकीय रोचकता का विनियोग हुआ है और मनोभावों को मूर्त्त-रूप दिया जा सका है।

गार्हस्थ्य चित्रण में वात्सल्य, श्वश्रूत्व, भ्रातृत्व, देवर-भाभी, भगिनी, सेवक आदि के सम्बंध विविध पारिवारिक भावनाओं को व्यक्त करते हैं। वात्सल्य का उत्कर्ष दशरथ में दिखाई पड़ता है। कैकेयी की वर-याचना के अनन्तर दशरथ का आहत वात्सल्य उन्हें निश्चेष्ट बना देता है। कौशल्या का पुत्र-स्नेह मोहाभिभूत होते हुए भी भोला है, कोमल होते हुए भी निःस्पृह है और स्निग्ध होते हुए भी स्वच्छ है। कैकेयी का मातृत्व अधिकार-वृत्ति से प्रेरित और भावावेग की शक्ति से संचालित है। सुमित्रा में बलिदान की भावना सर्वप्रधान है। कौशल्या और सीता के संयुक्त चित्रण में सास-बहू के सुमधुर संबंध का निरूपण हुआ है। राम और लक्ष्मण का भ्रातृत्व ममत्व और श्रद्धा का, प्रेम और सेवा का, साहचर्य और कष्ट सहिष्णुता का निदर्शक है। भ्रातृत्व का अधिकार निरपेक्ष रूप से राम-भरत के सम्बन्ध-चित्र द्वारा व्यक्त हुआ है। एक ने धर्म-संस्थापन किया और दूसरे ने तपस्या-रत रहकर राज्य-व्यवस्था की। दशम सर्ग में सीता आदि चारों बहिनों का पारस्परिक प्रेम प्रकट हुआ है और उसी का निर्वाह समस्त काव्य में किया गया है। ननद-भाभी के सम्बन्ध में भगिनी-भाव तो है ही, पर उसके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो इस सम्बन्ध को प्राणवान बनाता है, गुप्तजी ने देवर-भाभी के सम्बन्ध को, जो दाम्पत्य और वात्सल्य की मध्यवर्तिनी भाव-स्थिति है, बड़े कौशल से चित्रित किया है। सीता ने चित्रकूट में भरत के ससैन्य आगमन के पूर्व लक्ष्मण के सम्बन्ध में कहा था-'ये तुम्हें छोड़ कब कहाँ मानते किनको ?' और भरत को आशीर्वचन 'निज अग्रज से भी अधिक सुयश तुम पाओ' दोनों में पति की सम्बन्ध-भावना के कारण सीता का ममत्व प्रकट हुआ है। इसी प्रकार मांडवी का ममत्व शत्रुघ्न पर—'वर सम्हालने वाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं', ये गम्भीर प्रसंग हैं। इस सम्बन्ध का एक दूसरा पक्ष है—हास-परिहास। ऊर्मिला-शत्रुघ्न का परिहास 'देवि, दोनों ओर मेरा रसवाद है' तथा सीता-लक्ष्मण का परिहास 'मध्य भाग की मध्य भाग में ही रहीं' आदि इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों की अवतारणा गुप्त जी की अपनी मौलिक विशेषता है।

ने अविवाहित जीवन में पत्नी के रूप की एक कल्पना की थी। तब से अब तक कवि की प्रणय-साधना का जो टीस भरा इतिहास है उसकी भीनी स्मृतियों ने कवि के हृदय को आन्दोलित कर दिया है। साथ ही, आज के मधुर मिलन ने भविष्य की कामनाओं के मदिर स्वर अन्तरतम के तारों से झंकृत कर दिये हैं :—

आज रहने दो यह गृह-काज, प्राण रहने दो यह गृह-काज ! ···
आज उर के स्तर-स्तर में प्राण ! सजग सौ-सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगों में मधुर स्वप्न-संसार, मर्म में मदिर स्पृहा का भार। (गीति २५)

नारी-रूप की अन्य कल्पना 'अप्सरा' गीति में देखने को मिलती है। इस चित्र में नारी-प्रतिमा में विश्व के चरम सौन्दर्य को अंकित किया गया है। ठीक उसी प्रकार, जैसे विचारकों ने जगत् के श्रेष्टतम तत्त्वों को एकत्र कर उन्हें ईश्वर के रूप में देखा है। नारी अप्सरा ईश्वर की भाँति 'अकथ, अलौकिक' रहस्यमयी है :—

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि ! अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर, भावों की आधार !
गूढ़, निरर्थ, असंभव, अस्फुट भेदों की शृंगार !
मोहिनी, कुहकिनि, छल-विभ्रममयि, चित्र-विचित्र अपार ! (गीति ४२)

यह सौन्दर्य-देवी नवशिशु की ममतामयी माता है, उसके स्वप्नों की देवी और दन्तकथाओं की नायिका है। यही 'अप्सरि' सलोनी युवतियों में प्रस्फुटित हुई है जो युवकों का हृदय अनायास हर लेती है।

कहा जा चुका है 'गुंजन' में तीसरा वर्ग प्रकृति विषयक कविताओं का है। प्रकृति से तात्पर्य है जगत् का वह तत्त्व जो प्राकृतिक या स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। जिसके निर्माण में मनुष्य का हाथ नहीं लगा है। मानव-मन की विकृतियों को दूर कर उसे सहज बनाने के लिए प्रकृति से बढ़कर कौन सच्चा साथी हो सकता है। पूर्वकालीन हिन्दी काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया था किन्तु आधुनिक कवियों ने उस में चेतना, सौन्दर्य और शक्ति के दर्शन किए हैं। भाव की चरम परिणति पर प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। जिस प्रका[र] नर-नारी के मध्य आकर्षण को प्रेम की संज्ञा दी गई है, वैसे ही काव्य में प्रकृति क[े] दो वस्तुओं के बीच आकर्षण को छायावाद कहा गया है और आत्मा-परमात्मा के आकर्षण को रहस्यवाद का नाम मिला है। पं० रामकृष्ण शुक्ल की छायावाद संबंधी समीचीन परिभाषा इस प्रकार है :—

"छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है; रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्ति की, ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"

इसमें मिल जाएँ तो बहुत समझना···यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गई और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा।" (यशोधरा पृष्ठ ५-६) यशोधरा के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रष्ठिापना एवं उसके उदात्त रूप के अंकन द्वारा नारी को गौरवान्वित करना मैथिलीशरण गुप्त की इस रचना का उद्देश्य है। यशोधरा को स्वाभिमानिनी विरहिणी एवं वात्सल्यमयी मातृ-रूप में प्रस्तुत कर गुप्त जी ने उसे हिन्दी काव्य में एक अविस्मरणीय चरित्र बना दिया है।

वस्तु

'यशोधरा' की कथा प्रख्यात है, विशेषतः 'यशोधरा' के पूर्वांश में महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित महाभिनिष्क्रमण आदि के प्रसंग, परन्तु यशोधरा कवि की मंजुल कल्पना है। यशोधरा के मन में उठती हुई भाव-तरंगों की अभिव्यंजना के लिए कवि ने मौलिक प्रसंगोद्भावनाएँ की हैं। कवि की ये रमणीय कल्पनाएँ इतिहास का विरोध नहीं करतीं और सम्पूर्ण कथा ऐतिहासिक सी ही प्रतीत होती है। इस प्रकार विस्मृता यशोधरा को काव्य में प्रतिष्ठित करने का श्रेय गुप्त जी को प्राप्त है। मुख्यतः कथा में यशोधरा के विप्रलम्भ का ही अंकन हुआ है, उसके संयोग-सुख के चित्रों का अभाव है।

'यशोधरा' की कथा-शैली 'सूरसागर' की भाँति गीतात्मक-प्रबन्ध-काव्य की शैली है। साथ ही इसमें गुप्त जी के 'द्वापर' सदृश एक-एक पात्र सम्मुख आकर गीतों के रूप में आत्माभिव्यक्ति करता है, फलतः कथा विकास में नाटकीय-शैली का भी आश्रय लिया गया है। थोड़े से पात्रों को लेकर उनके आत्मकथनों एवं संवादों के माध्यम से 'यशोधरा' का कथा-निर्माण एवं कथा-विकास हुआ है। कथानक का केन्द्र-विन्दु यशोधरा है जो कि यशोधरा एवं राहुल-जननी के रूप में अनेकशः प्रस्तुत होती है। इसके अतिरिक्त सिद्धार्थ, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छन्दक आदि पात्र मुख्य रूप से गौतम की ही कथा कहते हैं, जो यशोधरा की कथा का पृष्ठाधार है। इस प्रकार 'यशोधरा' में गुप्त जी ने प्रख्यात कथा को अपनी कल्पना से सूत्रवद्ध कर इस भावात्मक-खण्ड-काव्य की रचना की है।

'यशोधरा' की कथा बीस शीर्षकों में विभाजित है। 'मंगलाचरण' 'महाभिनिष्क्रमण' एवं 'सन्धान' के अतिरिक्त शीर्षक काव्य के पात्रों के नामों के रूप में हैं। *यथा*—सिद्धार्थ, यशोधरा, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, बुद्धदेव आदि। 'मंगलाचरण' में कवि राम एवं बुद्ध की वन्दना करता है और वह मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की याचना करता है। 'सिद्धार्थ' और 'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षकों के अन्तर्गत कथावस्तु गीति-वद्ध एवं गौतमबुद्ध की आत्माभिव्यक्ति के रूप में है। संसार के प्रति गौतम की विरक्ति की भावनाएँ यहाँ सुन्दर रूप में अंकित हैं। 'यशोधरा', 'नन्द' 'महाप्रजावती', 'शुद्धोदन', 'पुरजन' में गीतों एवं मुक्तकों के रूप में सिद्धार्थ के गृहत्याग से सम्बद्ध

—शांत सरोवर का उर
—आशा के लघु अंकुर
—देखूं सबके उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल
—यह जीवन का है सागर,

'एक तारा' गीति में सजीव चित्र हैं। नीरव संध्या ढल चुकी है, शान्ति में डूबा ग्राम-प्रान्त है। पत्तों में मर्मर-स्वर सो गया है। गोपथ निर्जन है, खग-कूजन अब नहीं हो रहा, झींगुरों का स्वर प्रखर हो उठा है। अंधकार में विश्व का सब कुछ वर्ण-वस्तु से हीन हो गया है, तब पश्चिम नभ में एक नक्षत्र उभरा है :—

छाया तरु-वन में तम श्यामल !
पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक !
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक ! (गीति ४०)

कवि नक्षत्र में मानव-रूप के दर्शन करता है। इसके एकाकी जलते प्राणों की कल्पना कर विषाद से सिहर उठता है किन्तु अन्ततोगत्वा एक आध्यात्मिक आवरण पहनाकर इसमें चिर नवीनता एवं आनन्द के दर्शन कर संतोष पाता है :—

चिर अविचल पर, तारक अमंद !
जानता नहीं वह छंद-बंध !
वह रे अनंत का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !

ऐसे गीतों में पन्त जी ने एक भाव या धारणा को विभिन्न कल्पनाओं तथा विभिन्न कोणों से सजाकर चित्रात्मक रूप प्रदान किया है। चित्रों में एक ओर मानवीय आकांक्षाओं का अधीर उच्छ्वास है तो दूसरी ओर स्थितप्रज्ञ की-सी शान्ति, अविचलितता का ज्ञापन है। मानव भावनाओं की प्रतीक प्रकृति स्वयं कष्टों से पीड़ित है किन्तु जगत् के लिए 'स्व' का उत्सर्ग करने को तत्पर है।

'नौका-विहार' का चित्र कथात्मक तत्त्व के कारण विशेष गतिशील हो उठा है। चाँदनी में प्रवाहित सरिता गंगा को लेकर नारी की मृदुल कल्पना की गई है। नीरव रजनी में नौका गंगा पार करती है। यात्रा का जीवन्त वृत्त पाठक की कल्पना में सजीव हो जाता है। एक-एक शब्द चित्रफलक पर तूलिका के एक-एक स्पर्श के समान है। गंगा का रूप देखिए :—

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भूतल !

महाभिनिष्क्रमण से पूर्व का चरित्र अंकित है और अन्त में वे सिद्धि-प्राप्त बौद्ध-धर्म के प्रचारक के रूप में आते हैं। एक में उनकी साधना का पूर्व रूप है और दूसरे में उसकी परिणति-सिद्धि। राहुल 'यशोधरा' का महत्त्वपूर्ण पात्र है। यह असाधारण बालक है, उसमें शिशु-सुलभ गुणों के साथ-साथ वयस्कों जैसा आचरण भी है, प्रौढ़ों जैसा ज्ञान भी है। श्री रामदीन पाण्डेय के शब्दों में, "गौतम का प्रतिबिम्ब शिशु राहुल, वियोगिनी गोपा का मेरुदण्ड, शुद्धोदन के बुढ़ापे की लकुटी और महाप्रजावती के क्लान्त जीवन का शान्त साधन है।"[1] पिता के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा है। गौतम के चरणों में पड़कर वह अनुरोध करता है :—

"तात पैतृक दाय दो, निज शील सिखलाओ मुझे।
प्रणत हूँ मैं इन पदों में, मार्ग दिखलाओ मुझे।"

(यशोधरा पृष्ठ २००)

'यशोधरा' काव्य की नायिका यशोधरा है। प्रोषितपतिका यशोधरा की अन्त-र्व्यथा ही इसकी भाव-सम्पदा है। डा० विनयमोहन शर्मा के अनुसार 'इसमें यशोधरा ही सब कुछ है, उसकी अन्तर्व्यथा को प्रकट करके ही कवि कृतकृत्य हुए हैं।"[2] यशोधरा में नारी के सच्चे त्याग का आदर्श विद्यमान है। गुप्त जी ने यशोधरा के इस नारी रूप को इन दो पंक्तियों में अंकित किया है :—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

(यशोधरा पृष्ठ ६९)

यशोधरा के दो नारी-रूपों की सुन्दर व्याख्या उक्त पंक्तियों में है। आँचल के दूध के रूप में राहुल के प्रति वात्सल्य भावना है तथा आँखों में पानी के रूप में विरहिणी की वेदना है। एक में मातृत्व है और दूसरे में पत्नीत्व। यशोधरा के इन दोनों रूपों का सजीव चित्रण 'यशोधरा' की विशिष्टता है।

यशोधरा प्रोषितपतिका होने पर भी मानिनी नायिका है। यशोधरा में भार-तीय नारी का आत्मसम्मान अपनी चरमसीमा पर है। उसे इस बात का दुःख नहीं है कि उसके पति मुक्ति के लिए तपस्या करने चले गये, वास्तव में उसे वेदना इस बात की है कि उन्होंने उसका अविश्वास किया और इस योग्य ही नहीं समझा कि अपने मन की बात उसे कहते। पतिपरायणा सती-साध्वी यशोधरा को उन्होंने अपने कार्य की सिद्धि में बाधास्वरूप समझ कर अपने निश्चय की सूचना नहीं दी। वह कहती है :—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

(यशोधरा पृष्ठ ३१)

---

१. यशोधरा का काव्य सौन्दर्य—आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र—पृष्ठ १४२।
२. दृष्टिकोण—डा० विनयमोहन शर्मा—पृष्ठ १३५-३६।

का जीवन-दर्शन प्रतिफलित हुआ है वहाँ भाषा सरल, सहज है, पाठक को अपनी बात समझाने का प्रयास है। कवि अनायास गाता है :—

मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख;

यहाँ किसी प्रकार के सजाव-सँवार का प्रयत्न नहीं है; जो अनुभूत है उसे कवि कह चला है।

—जीवन की चंचल सरिता में फेंकी मैंने मन की जाली
फंस गईं मनोहर भावों की मछलियाँ सुघर, भोली-भाली!

सीधा-सा रूपक है, साधारण बोल-चाल के शब्द हैं।

—दूर, उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार स्वर्ग की परियों का संसार!

निम्न पद में तो नितान्त अभिधात्मक कथन है। तुकान्त के अतिरिक्त किसी अन्य विषय पर कवि की दृष्टि नहीं है :—

तेरा कैसा गान, विहंगम! तेरा कैसा गान?
न गुरु से सीखे वेद पुराण, न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान, काव्य, रस, छंदों की पहचान?
न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान, मनन कर, मनन, शकुनि नादान!

संगीतात्मक शैली में गूंज है, तरलता है। शब्दों के चयन में सतर्कता है और अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पुनरावृत्ति का बारंबार आश्रय लिया गया है। इन पंक्तियों में 'ल' के विशिष्ट प्रयोग ने सरिता के जल-प्रवाह की गति ला दी है:—

—हो उठता चंचल, चंचल?
—बज उठते प्रतिपल, प्रतिपल!
—फैलाते नव दल पर दल!
—क्यों जाता पिघल-पिघल गल! (गीति २)

शब्दों की पुनरावृत्ति देखिए :—

जल-जल है, लहर-लहर रे
गति गति, सृति-सृति चिर भरिता

इन पंक्तियों में कवि पुनरावृत्ति के फेर में सहज लय का ध्यान छोड़ बैठता है :—

सुंदर वाणी का विभ्रम
सुंदर कर्मों का उपक्रम

अनेक स्थलों पर अभीष्ट ध्वनि उत्पन्न करने के लिए शब्दों के रूप

विरहिणी-यशोधरा के विरह-वर्णन में ऊर्मिला की तरह अश्रु-प्रवाह नहीं है। वह ऊर्मिला की तरह ही पति-वियोगिनी है, किन्तु उसके विषाद में अधिक उच्चता है। दोनों की विरह-स्थिति की विषमता के विषय में गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कथन है—"ऊर्मिला के वियोग की तो अवधि निश्चित थी, लेकिन यशोधरा का वियोग निरवधि था। गौतम मुक्ति की खोज में गये थे, उसके मिलने पर ही वे अपने जन्मस्थान में फिर से आ सकते थे, यदि यशोधरा के वियोग की कोई अवधि हो सकती थी तो यही। किन्तु, मुक्ति के रूप में विरह की अवधि के समाप्त होने पर भी यशोधरा अपने पति का कौन सा उपयोग प्राप्त कर सकती? एक प्रकार से यह चिर वियोग था, यशोधरा ने अपने पति को एक बार खोकर सदा के लिए खो दिया।"[1] इस स्थिति में ऊर्मिला के आँसुओं पर यशोधरा का अधिकार होना चाहिए।[2] ऊर्मिला से परिस्थिति की विषमता में यशोधरा के पास अधिक आँसू होने चाहिएँ, गिरीश जी का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। यशोधरा का जो आदर्श-रूप कवि को अंकित करना अभीष्ट है, उसके लिए तो उसकी कुछ-कुछ मुखरित मौन-वेदना का ही वर्णन पर्याप्त है। फिर 'साकेत' महाकाव्य है, पर यशोधरा खण्ड-काव्य, इसके कलेवर में विरहिणी यशोधरा का संयमित रूप में ही वियोग-वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली, मार्मिक एवं सजीव बन पड़ा है।

यशोधरा के चरित्र का दूसरा रूप माता का है। विरह-वेदना का सन्ताप हृदय में धारण किये हुए भी वह माता के सभी कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का वहन करती है। राहुल के प्रति उसका अपार स्नेह है। वह उसके लालन-पालन का पूरा ध्यान रखती है। वह उसे कहीं कहानी सुना रही है तो कहीं उसे शिष्ट, विनम्र, कर्त्तव्य-परायण एवं सदाचरणशील होने का सन्देश देती है। वस्तुतः जननी यशोधरा के जीवन-अंकन में गुप्त जी विशेष सफल रहे हैं। यशोधरा के मातृ-रूप के चित्रण के बिना न तो उसका चरित्र-विकास ही सम्भव था और न ही कथा को ही गति मिल सकती थी। इस प्रकार 'यशोधरा' के रूप में नारी का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यंन्त भव्य एवं उदात्त है। यशोधरा विरह और विषाद में भी कर्त्तव्य का विस्मरण नहीं करती, वह अपने विश्वासों पर अडिग रहती है, साथ ही व्यक्तिगत अवसादों से पीड़ित होकर भी जन-हित का ध्यान उसे सर्वोपरि है। डा० कमलाकान्त पाठक के शब्दों में कहा जा सकता है—"गुप्त जी नारी का महिमामय रूप भी प्रस्तुत करने के आकांक्षी थे। अतएव उन्होंने यशोधरा को आत्मदर्पमयी बनाया तथा जीवन की उत्थानशील प्रवृत्तियों से उसे अनुप्राणित किया। त्याग और

---

१. गुप्त जी की काव्यधारा, पृष्ठ २१९
२. वही, पृष्ठ २२१

—मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर
तिर रही, खोल पालों के पर !
—जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल !
—वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को बिलोक !
—डाँड़ों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार !

एक-एक शब्द में गति, ध्वनि तथा रूप का बोध कराने की शक्ति है। सिहर, लहर, तरल, चंचल, अंचल, मंद, मंथर, तिर रही, पर, लुक-छिप, विकल कोक, चल करतल पसार, फेन-स्फार आदि शब्दों में चित्रात्मक शक्ति साक्षात् है।

'गुंजन' गीति-संग्रह की अनुभूति और अभिव्यक्ति-कौशल की दृष्टि से श्रेष्ठ ग्यारह रचनायें हैं। गीति १, ४, २५, ३१ तथा ३७ में किसी भाव या आदर्श की स्थापना है, ये प्रायः विचारोत्तेजक हैं। गीति १९, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ में बिम्बात्मकता के कारण सजीवता अधिक है। ये सभी गीति अति भावावेश से मुक्त हैं, इनमें संतुलन, सतर्कता और सहृदयता है।

३०
गुंजन

डा० शशिभूषण सिंहल

श्री सुमित्रानन्दन पन्त गतिशील कवि हैं। उनके लगभग पचास वर्षों के रचना-काल में छायावादी, प्रगतिवादी तथा आध्यात्मवादी विकास-सरणियाँ स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य हैं। 'गुंजन' में छायावादी पन्त की चरम अभिव्यक्ति है। इसमें भविष्य के आध्यात्मवादी कवि के अंकुर भी प्रस्फुटित होते दीख पड़ते हैं। 'गुंजन' में गीति-काव्य के मूल गुण उपलब्ध हैं। इसकी प्रायः सभी रचनायें कोमलता, विचार-संकुल भावुकता एवं झीनी अस्पष्टता से ओतप्रोत हैं। गीति-काव्य में अनुभूति की तरलता तथा अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता की प्रधानता रहती है। गीति स्वतःपूर्ण, प्रसंग-निरपेक्ष रचना है, व्यंजना और संकेत इसके प्राण हैं। इसके सम्पूर्ण कलेवर में संवेगात्मक एकता का प्रत्यक्ष तारतम्य रहता है। गीतिकार की अन्तर्मुखी वैयक्तिक अनुभूति नैसर्गिक तीव्रता से युक्त होती है तथा सहृदय मात्र पर अपनी गहरी छाप छोड़ने की असाधारण क्षमता रखती है। गीति का रूप संक्षिप्त है और विकास नियमित है। रचना की दृष्टि से इसे तीन भागों में देखा जा सकता है। गीति का श्री-गणेश कवि किसी प्रेरणा विशेष को लेकर करता है। इसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ जीवन-जगत् के किसी गूढ़ सत्य का सांकेतिक उद्घाटन कर पाठक के मर्म को किंचित आन्दोलित करती हैं। इसके दूसरे, विशद भाग में, उद्दीप्त भाव का विकास होता है। कवि अपनी बोधवृत्ति द्वारा मूल अनुभूति को स्पष्टता, गति, बिम्बात्मकता तथा गहनता प्रदान करता है। तीसरे भाग में भाव की चरम परिणति पर किसी स्थिर धारणा या मानसिक संकल्प की स्थापना कर गीति समाप्त हो जाता है। सहजोद्रेक-प्रधान गीति में संगीतात्मकता का पुट अनिवार्य है। संगीत तत्त्व अब अत्यन्त सूक्ष्म अभिव्यक्ति पाने लगा है। कवि भाषा, लय और ताल का नैसर्गिक समन्वय कर गीति में अन्तर्निहित संगीतात्मकता अथवा ध्वनि संगीत की सृष्टि करता है। इन विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि 'गुंजन' की सभी रचनायें, भले ही आकार में वे छोटी हों या बड़ी, मात्र भावात्मक

इतिहास बनने के योग्य माना है। प्रसाद जी घटनाओं के भौतिक सत्य, स्थूल, क्षणिक बाह्य रूप को उतना महत्त्व नहीं देते जितना उनके भीतर छिपे हुए भाव अथवा अनुभूति को जिसके द्वारा वे युग-युग में इतिहास की पुनरावृत्ति करती रहती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद जी काव्य में घटनाओं के भावात्मक स्वरूप पर ही बल देते हैं। इसी कारण कामायनी में भी उन्होंने घटनाओं के भावात्मक रूप के चित्रण पर ही अधिक बल दिया है। भूमिका से यह भी स्पष्ट है कि वे मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या को ग्रहण करके चलते हैं। इसीलिए अन्त में रूपक की बात भी कहते हैं। उनका यह स्पष्ट कथन है कि 'मनु, श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं'। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। कामायनी में पात्र ऐसे चुने गए हैं जो चेतन प्राणी का अस्तित्व रखते हुए अपनी भावात्मक सत्ता भी रखते हैं। भाव-विस्तार पर प्रमुख दृष्टि रखने के कारण ही महाकाव्य के अन्य तत्त्व—कथानक, चरित्र-चित्रण, वस्तु-वर्णन आदि गौण हो गए हैं। इन तत्त्वों का इसमें इतना विस्तार नहीं जितना हिन्दी तथा संस्कृत के अन्य पूर्ववर्ती महाकाव्यों में मिलता है। प्रसाद जी मुख्यतः प्रगीतकार थे। अतः कामायनी में उन्होंने प्रगीत-शैली का ही अवलम्बन लिया है। जब कभी भी प्रगीत-शैली का अवलम्बन काव्य में होगा तो उसका स्वरूप भावात्मक हो जायगा। अतः कामायनी में प्रगीत-शैली का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि वे इसे भावात्मक रूप देना चाहते थे। प्रगीत काव्यकार भाव-घनत्व पर विशेष दृष्टि रखता है। प्रसाद जी ने कामायनी में भावों में तीव्रता तथा सघनता लाने के लिए भावों की बड़ी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी हैं, अत्यन्त सुन्दर वातावरण सजाए हैं। उन्होंने व्यंजना शैली द्वारा भाव-वर्णन में मार्मिकता का समावेश कर तथा लक्षणा द्वारा गोचरता उत्पन्न कर उसमें असीम प्रभविष्णुता भर दी है। महाकाव्य में आदि से अन्त तक वक्रोक्ति शैली का प्रयोग भी यह प्रमाणित करता है कि वे इसे भावात्मक स्वरूप देना चाहते थे। प्रसाद जी अन्य महाकाव्यकारों की भाँति वस्तु-वर्णन में सूची उपस्थित करने वाली शैली अथवा ब्योरेवार वर्णन-प्रणाली का कहीं अनुगमन नहीं करते। इससे विदित होता है कि उनकी वर्णन-शैली भी भावात्मक शैली है जिसमें किसी वस्तु के उन्हीं अंशों का वर्णन होता है जो अधिक से अधिक भावात्मक होते हैं अथवा भाव को जगा सकते हैं। महाकाव्यकार ने अपने महाकाव्य की भाषा को भी उसके भावात्मक स्वरूप के अनुकूल ही सर्वत्र भावात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने सर्गों का नामकरण, पात्रों, घटनाओं, स्थानों तथा परिस्थितियों के आधार पर न करके मानवीय भावनाओं के आधार पर किया है। अतः सर्गों का नामकरण भी यही प्रमाणित करता है कि कवि इसे महाकाव्य का भावात्मक रूप प्रदान करना

को वेदना की आँच में गलाकर निखारना अनिवार्य है। यह साधना कंटकाकीर्ण है किन्तु इसमें आत्मविकास का अपूर्व आनन्द तथा उत्सर्ग का उल्लास भी निहित है। कवि 'गुंजन' में गा उठा है :—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन ! (गीति १)

भावुक अन्तर्मुखी व्यक्ति के लिए साधारण सांसारिक हलचल आकर्षण नहीं रखती। उसके अन्तर्जगत् में राग के मादक स्वर उठते हैं और कहीं से प्रत्युत्तर न मिलने पर वहीं के वहीं ठिठककर विलीन हो जाते हैं। जीवन में सूनापन आ जाता है और हृदय इस अरोचक जीवन-व्यापार से उद्विग्न हो उठता है :—

आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल ?
जब लगता सब विशृंखल, तृण, तरु, पृथ्वी, नभ-मंडल!
खो देती उर की वीणा, झंकार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में, सोती स्मृति सूनेपन की ! (गीति ३)

इस सूनेपन को भी जीवन के सहज अंग रूप में ग्रहण करना होगा। मनुष्य को जीवन जीना है, अपने भौतिक नश्वर शरीर के माध्यम से जीना है। शरीर चेतना रहते अनुभूतिशील है। मानव-शरीर की अनुभूति अथवा संवेदना सदैव एकरस नहीं रह सकती। उसमें एक विशिष्ट वैकल्पिक प्रक्रिया संचरित रहती है अभाव और भाव की। शरीर की इच्छा की तीव्रता और उसकी पूर्ति-बाधा में दुःख है और पूर्ति में सुख। दुःख के अस्तित्व पर ही सुख की अनुभूति अवलम्बित है। जहाँ सुख-दुख है वहाँ जीवन है और जहाँ जीवन है वहां सुख और दुःख दोनों हैं। पन्त जी जीवन में इस विरोधाभास की स्थिति से अभिज्ञ हैं और इसे स्वाभाविक रूप में ग्रहण करने के लिए तत्पर हैं :—

मैं नहीं चाहता चिर सुख, मैं नहीं चाहता चिर दुख,
सुख-दुख की खेल मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख ! (गीति ४)

सामाजिक जीवन के स्तर पर भी यही विषमता उग्र रूप धारण किए हुए है। यहाँ कोई अत्यधिक अभावग्रस्त है और कोई आवश्यकता से अधिक परिपूर्ण। इस प्रकार का असंतुलन मानवता के सहज विकास में बाधक है। परस्पर विनिमय के द्वारा समष्टि के जीवन को सहज, सुखद बनाया जा सकता है :—

भावना की चरम अतिशयता के कारण उनके जीवन में त्रासद तत्त्व (Tragic element) कई स्थानों पर आते हैं। भावुकता के चरम वेग के कारण उनमें अति प्राकृतिक तत्त्वों का समावेश भी एकाध स्थलों पर दिखाया जाता है। वे जीवन के सबसे प्रमुख भाव प्रेम की विशदतम व्यंजना करने में समर्थ होते हैं। पात्रों की संख्या सीमित इसलिये रक्खी जाती है कि वे महाकाव्य की भावमूलक रूपकात्मक व्यंजना में समर्थ हो सकें।

भावात्मक महाकाव्य में इतने अधिक भावों की व्यंजना मार्मिक ढंग से की जाती है कि उनसे मानव जीवन का उदात्ततम चित्र निर्मित हो सके। भावों की सफल व्यंजना के लिये उनकी रम्य भूमिकाएं बाँधी जाती हैं, सुन्दर वातावरण सजाये जाते हैं। प्रत्येक सर्ग, प्रत्येक प्रकार के वर्णन तथा प्रत्येक छन्द में भावुकता का सागर लहराता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसीलिए उसमें नखशिख आदि वर्णन परम्परागत ढंग के नहीं होते। कवि को वर्णन में जो अंश अधिक मार्मिक प्रतीत होते हैं उन्हीं का व्यंजनात्मक चित्रण कर शेष को वह उन्हीं के द्वारा ध्वनित कर देता है। उसका वर्णन बिम्ब-विधायक अथवा संश्लिष्ट न होकर संकेतात्मक शैली का अवलम्बन करता है। भावात्मक महाकाव्य में कवि उत्कृष्टतम अनुभूति तथा प्रकृष्ट भाव सघनता के कारण सर्वत्र वक्रतापूर्ण तथा व्यंजना गर्भित शैली का स्वाभाविक रूप में प्रयोग करता हुआ दिखाई पड़ता है। इसीलिये उसकी शैली में अभिधा शक्ति का अभाव तथा लक्षणा और व्यंजना का प्राचुर्य पाया जाता है।

भावात्मक महाकाव्य में कल्पना की ऊंची उड़ानों का आधिक्य पाया जाता है। इसलिये उसमें भावों के रम्य चित्र व्यंजना गर्भित रूप में निरूपित हो जाते हैं। इसकी भाषा कवि की भावाकुलता के कारण सर्वत्र अधिकाधिक मात्रा में भावात्मक होती है। छन्दों में यथासम्भव गेय छन्दों, गीतों, संगीतात्मक पदों का प्रयोग किया जाता है तथा इन छन्दों में संगीत तत्त्व का प्राचुर्य रहता है। सर्गों का नामकरण घटना, पात्र, परिस्थिति काव्य-फल के आधार पर न होकर भावों के आधार पर होता है। महाकाव्य का आरम्भ, भाव वर्णन से तथा परिणति भावात्मक ढंग से होती है। महाकाव्य का सन्देश तथा दर्शन भाववादी होता है। दोनों हृदय तत्त्व पर सर्वाधिक बल देते हैं। महाकाव्य का नाम भी नायक, प्रधान घटना अथवा अन्तिम घटनाफल के आधार पर न होकर किसी प्रधान भाव के आधार पर होना चाहिए अथवा ऐसे पात्र के नाम पर हो जो किसी सर्वातिशायी भाव का प्रतीक हो।

भावात्मक महाकाव्य को संस्कृति की भावमूलक उदात्ततम चेतना निरूपित करने में समर्थ होना चाहिये। भावात्मक महाकाव्यकार युग की समस्याओं का समाधान भावात्मक जगत, भाव-परिष्कार, भावोदात्तता या भावात्मक सन्तुलन में ढूँढ़ने में समर्थ होता है और इन सब का रूप सार्वकालिक तथा सार्वभौम कोटि का रखता

जीवन की सफलता इसी में है कि सुन्दरता को पग-पग पर अधिक से अधिक पूर्णता प्रदान की जाये। यह पूर्णता अनुभूति की गहनता पर निर्भर है :—

सुंदर से नित सुंदरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन ! (गीति १३)

यह जीवन क्षणिक है, इस वाटिका में जो खिला है वह मुरझाएगा भी। पन्त जी का मत है, जो 'क्षणिक' मिला है वह निस्सार नहीं है। यदि वह मात्र निरुद्देश्य होता तो रचयिता उस की रचना ही क्यों करता ? अतः 'प्राप्त' को प्रसन्नता से वरण करो, जी भरकर खिलो और अपने आप को समष्टि के लिए उत्सर्ग कर कृतार्थ होओ। यही जीवन की सजीवता का चिर रहस्य है :—

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ ! (गीति १४)

जीवन के आँगन में केवल हँसने-खिलने वाले ही नहीं जीते वरन् जिन्होंने कभी सुख के दर्शन नहीं किये वे प्रतिपल-प्रतिक्षण तिल-तिल कर घुलने वाले प्राणी जग-जागरण के लिए सहर्ष जीवन यापन करते हैं। कुम्हलाई हुई चाँदनी जग की वेदना आत्मसात् किए बैठी है, केवल 'स्वर्ण भोर' की आशा में जी रही है :—

रे म्लान अंग, रंग, यौवन ! चिर मूक, सजल, नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर, बस मृत्यु शेष है जीवन !
वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर,
तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर ! (गीति १६)

मानव चिन्तन एवं अनुभूति प्रधान प्राणी होने के कारण जीवन-रहस्यों को समझने में समर्थ है। उसने जीवन को एक अर्थ दिया है, दिशा दी है, गति दी है। पन्त जी की धारणा है कि जगत् के श्रेष्ठतम प्राणी मानव से ही प्रकृति ने जीवन जीना सीखा है। वे कहते हैं, मानव ! तुम्हारे मुख की मुसकान देखकर फूलों ने खिलना सीखा है। तुम्हारे नयनों की करुणा से प्रभावित हो तारों ने सजल नयन होना सीखा है। लहरों ने तुम्हारी सामाजिकता से प्रेरित हो आपस में मिलकर खो जाना सीखा है और भ्रमर ने तुम्हारे अनुकरण पर जीवन-शक्ति का पानकर स्नेहिल गीत गाये हैं। अतः हे मानव, तुम :—

पृथ्वी की प्रिय तारावली ! जग के वसंत के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो, चिर आदि और चिर अभिनव ! (गीति १७)

अनभीप्सित कही गई है। कवि ने काव्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुसार एवं अपने व्यक्तित्व तथा युग की मांग के अनुकूल महाकाव्य को जो भावात्मक रूप देने का प्रयत्न किया वह सर्वथा उचित ही था।

कामायनी में घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों का चुनाव भावात्मक दृष्टि से ही अधिक हुआ है। उन्हीं घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों का चुनाव कवि ने किया है जो मानव की मार्मिक अन्तर्वृत्तियों को जागृत करने में सहायक थीं, जिनसे मानव भावों का विस्तार सम्भव था। यदि प्रसाद जी इस महाकाव्य में कथा की विशालता की ओर ध्यान देना चाहते, यदि उन्हें इसमें कथाविस्तार का कलात्मक सौन्दर्य निर्माण अभीष्ट रहता तो उन्हें इस महाकाव्य के मूलाधार ग्रंथों में पर्याप्त कथाएँ मिल जातीं। प्रसाद जी के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे वस्तु-विस्तार की कला में निपुण नहीं थे क्योंकि जहाँ पर उनकी दृष्टि वस्तु-संविधान के कलात्मक सौन्दर्य के निर्माण पर है वहाँ पर कथानक में वस्तु-विविधता तथा उसके विस्तार का कलात्मक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जैसे तितली, कंकाल उपन्यासों में तथा उनके नाटकों में। परन्तु इस रचना में कवि की दृष्टि कथा एवं चरित्रों के विस्तार तथा विविधता की ओर उतनी नहीं है जितनी मानव भावों के विश्लेषण की ओर। दूसरे, प्रसाद जी की भावात्मक रूपक-निर्वाह की प्रवृत्ति ने भी कथा-विस्तार एवं उसके स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा पहुँचाई है। कामायनी की कथा को ऐतिहासिक मानते हुए भी उन्होंने उसको उसी रूप में ग्रहण किया तथा तत्सम्बन्धी उन्हीं पात्रों को लिया जिनसे रूपक के रूप में भावात्मक व्यंजना भी हो सके। यदि यह बात उन्हें अभिप्रेत न होती तो वे कामायनी का सांकेतिक अर्थ लेने में आपत्ति करते। परन्तु उन्होंने ग्रन्थ के आमुख में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि 'मनु, श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं'। वे स्पष्ट मानते हैं कि श्रद्धा और मनु (मनन) के संयोग से मानवता का विकास रूपक है। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग जाता है। प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा सम्बन्धी उन्हीं वृत्तों तथा पात्रों को कामायनी में ग्रहण किया जो मनोवैज्ञानिक भावात्मक दृष्टि से ठीक जान पड़ते हैं। कवि का मन घटनाओं के स्थूल बाह्य चित्रण में उतना नहीं रमता जितना उनकी भावात्मक या अनुभूत्यात्मक व्यंजना में। प्रसाद जी ऐतिहासिक सत्य का अर्थ घटना नहीं करते वरन् आत्मा की अनुभूति लेते हैं। उनके मत में ऐतिहासिक घटनाएँ हमारी मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों की क्रिया मात्र हैं। इसीलिए घटनाओं के इतिवृत्तात्मक विस्तार की ओर उनकी दृष्टि उतनी नहीं रमी जितनी उनसे व्यंजित होने वाले भावों तथा अन्तर्वृत्तियों की ओर। इसी कारण कामायनी में भावपूर्ण इतिवृत्तों का संचयन है। कामायनी में

कल्पना से विह्वल हो उठा है। यह रूपराशि उसके लिए रहस्यमयी है, अवगुंठनवती है :—

नवल मधुऋतु निकुंज में प्रात कलिका सी अस्फुट गात,
नील नभ-अंत: पुर में, तन्वि ! दूज की कला सदृश नवजात ;
मधुरता, मृदुता सी तुम प्राण ! न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात ;
कल्पना हो, जाने, परिमाण ? प्रिये, प्राणों की प्राण ! (गीति १६)

नारी के अंगों का ध्यान करते समय कवि के नेत्रों में प्रकृति का चिर नवीन सौन्दर्य उभर आता है। सौन्दर्य वस्तु की आन्तरिक और वाह्य गठन-रेखाओं के सामंजस्य में निहित है। शरीर का सौंदर्य आत्मा के, हृदय के, सौंदर्य को पाकर पूर्ण हो जाता है। ऐसे संगम में, सौंदर्य में निहित सत्य और शिव के दर्शन सुलभ हैं। कवि ने इस पूर्ण सौंदर्य के दर्शन बालक, प्रकृति और नारी में किए हैं। वह सौंदर्य-भाव में विभोर होने पर नारी और प्रकृति, प्रकृति और नारी को एकाकार पाता है :—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात, मोतियों-सा हिलता-हिम-हास
इन्द्रधनुषी पट से ढंक गात बाल-विद्युत् का पावस-लास ;
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले-अंगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये प्राणों की प्राण !

गीति के केवल अन्तिम तीन पदों में मिलन की वेला की कल्पना है, अत्यन्त सरस, सजीव। अपनी चित्रमयता, स्वाभाविकता और गरिमा से यह दृश्य वरबस पाठक का हृदय मोह लेता है :—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात ! विकंपित मृदु-उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप, जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी, प्राण ! मधुरता में-सी भरी अजान
लाज की छुई मुई-सी म्लान प्रिये, प्राणों की प्राण !

अनुभावों की हृदयहारी छटा ने पूर्ण प्रसंग साकार कर दिया है। नारी का नारीत्व यहाँ साक्षात् है।

'आज रहने दो यह गृह-काज' गीति के विषय में श्री विश्वम्भर 'मानव' का मत है कि यहाँ कवि की प्रिया परकीया है। कवि उसे घर में, एकान्त में पाकर भावाकुल हो उठा है और उसे 'गृह-काज' से विरत कर मिलन का आनन्द उठाना चाहता है। किन्तु गीति का एक अन्य पक्ष भी विचारणीय है। कल्पना कीजिए, कवि विवाहित है। उसकी यह प्रिया परकीया प्रेयसी नहीं वरन् उसकी चिर कल्पित, चिर प्रतीक्षित अपनी पत्नी है। भरे-पूरे घर में गुरुजनों के सामने उसे जी भर कर देखना भी दूभर है। आज एकांत में गृह-कार्य में संलग्न 'प्राण' को देखकर वह चंचल हो उठा है। इस चंचलता में वासना-वेग की अपेक्षा भाव विभोरता है। कवि

होता है। यदि इसका रूप घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान या वर्णन-प्रधान होता तो छायावादी शैली का प्रयोग बहुत ही अनुपयुक्त सिद्ध होता। कामायनी में आदि से अन्त तक वक्रोक्ति शैली का प्रयोग किया गया है। किन्तु कामायनी की वक्रता का कारण अनुभूति की तीव्रता है, काव्य-कौशल दिखाने का आडम्बर नहीं। प्रसाद की दृष्टि में वक्रोक्ति का मूल्य उक्ति की विचित्रता में नहीं वरन् भावना की तीव्रता और गहराई उपस्थित करने में है। इसलिए कामायनी की वक्रोक्ति सर्वत्र भावानुमोदित है अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से प्रेरित है। कामायनी की वक्रोक्ति में वह 'वैदग्धभंगी भणिति' नहीं जिसमें रीति भावों के ऊपर शासन करती हो। वे केवल कोरा चमत्कार दिखाने के लिए उक्ति वैचित्र्य का प्रयोग काव्य में कौतुक या खिलवाड़ समझते हैं। इसी कारण वे अलंकारवादी कवियों को बुद्धिवादी कहकर उनसे अरुचि प्रगट करते हैं। कामायनी की वक्रता अनुभूति की तीव्रता तथा भाव की अप्रतिहत गति के कारण आई है। इसलिए उसमें सर्वत्र स्वाभाविकता वर्तमान है। कामायनी की वक्रता हमारा ध्यान भाषा के बांकपन की ओर नहीं ले जाती वरन् लहराते हुए भावों की ओर ले जाती है। क्योंकि वह उमड़ते हुए भावों की प्रेरणा से उद्भूत हुई है। अर्थात् कामायनी की वक्रता भावना तथा अनुभूति से सम्बद्ध है। उन्होंने भावना को गोचर तथा सजीव रूप देने के लिए एवं भाव की गति को स्वच्छन्द तथा विमुक्त रखने के लिए वक्रता का प्रयोग किया है। प्रसाद की दृष्टि में वक्रता के लिए अनुभूति की तीव्रता तथा भावात्मकता अपेक्षित है, काव्य-कौशल नहीं। प्रसाद की वक्रोक्ति का सम्बन्ध कामायनी में भाव-व्यंजना के अन्तर्जगत से है वाह्य जगत से नहीं। इसी कारण कामायनी में भाव-व्यंजना से सम्बन्ध रखने वाले अलंकार—विभावना, श्लेप, विशेपोक्ति, परिसंख्या, पर्यायोक्ति, विषम आदि नहीं मिलते। वक्रोक्ति की मूलतः दो प्रणालियां होती हैं, एक अलंकाराश्रित होती है दूसरी लक्षणा मूलक। प्रसाद जी ने कामायनी में दूसरी प्रणाली का ही अवलम्बन लिया है। कामायनी में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण चेतन का वर्णन अचेतन रूप में तथा अचेतन का चेतन रूप में हुआ है। इससे भाषा में भावात्मकता का आधिक्य हो गया है। प्रगीत शैली के अवलम्बन तथा लक्षणा मूलक वक्रता के प्रयोगों से भाषा में सर्वत्र भावात्मकता वर्तमान है।

कामायनी के सभी छन्द उसके भावात्मक स्वरूप के अनुसार गेय हैं। इड़ा में गेय पदों का प्रयोग है। श्रद्धा का आत्म-गीत अत्यन्त संगीतात्मक है। छन्दों की सुगीतिता के कारण कामायनी का नाद-सौन्दर्य उसके भाव-सौन्दर्य के समान ही रमणीय तथा आकर्षक हो गया है। गीत काव्य में जिस प्रकार उद्गारों का सौन्दर्य कोमल कलेवर रूप में प्रगट होता है उसी प्रकार कामायनी में भी प्रगट हो रहा है इसलिए यह महाकाव्य गीत काव्य की आत्मा से खिल उठा है।

छायावादी कवि अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए मानव-जीवन का माध्यम-आयाम यथेष्ट नहीं पाता। वह प्रकृति के विशद मनोरम पट को चित्राधार रूप में ग्रहण करता है। प्रकृति के चित्रफलक पर मानव-जीवन की सहज अनुभूतियाँ नवीनता, कुतूहल और अनोखी सूक्ष्मता से भर उठती हैं। इस प्रकार, छायावादी काव्य का मूल तत्त्व है प्रकृति में चेतना तथा मानवीय प्रेम की उद्‌भावना। छायावादी काव्य के वर्ण्य-विषय की मृण्मयता तथा शैली की सूक्ष्मता को लक्ष्यकर लिखी हुई डॉ० कमलेश की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :—

"रहस्यवाद में अव्यक्त और अज्ञात को व्यक्त और ज्ञात प्रतीकों से प्रकट करने का प्रयत्न होता है और छायावाद में ज्ञात और व्यक्त को अव्यक्त और अज्ञात प्रतीकों से प्रकट किया जाता है। ...रहस्यवाद में अशारीरिक को शारीरिक और छायावाद में शारीरिक को अशारीरिक बनाकर प्रस्तुत किया गया है।"

'गुंजन' छायावादी पन्त की प्रौढ़ रचना है। पन्त जी के कवि को रचना की सामग्री एवं प्रेरणा प्रकृति से प्राप्त हुई है। कली, भौंरे, प्रभात, पत्ते, नभ की नीलिमा, चाँदनी और खद्योत, ये सभी उसे भावान्दोलित कर गा उठने की प्रेरणा देते हैं :—

वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ स्वप्न आते उड़-उड़ कर पास;
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान मिला कवि को निजगान। (गीति ३३)

'विहग के प्रति' गीति में प्रकृति के चेतन प्रतीक विहग को लक्ष्य किया गया है। देखिए वह कैसे अपना घर बसाता है :—

सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात, नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास,
छा दिये तूने, शिल्पि सुजात, जगत् की डाल-डाल में वास !
(गीति ३९)

गीति के अन्त में उस साधारण पक्षी को दिव्यता से मंडित कर कवि ने प्रेरणा-स्रोत रूप में स्वीकार किया है :—

दूर वन के ओ राजकुमार ! अखिल उर-उर में तेरे गान,
अमर इन गीति से सुकुमार अमर मेरे जीवन औ' प्राण !

पन्त जी ने जीवन-सत्य के उद्‌घाटन के लिए पक्षी, तारे, फूल, लहरें, चाँदनी, मधुवन, सरिता आदि प्राकृतिक अंगों को वर्ण्य-विषय बनाया है। आलम्बन-रूप में चित्रण करने के साथ इनका रूपकों एवं अन्योक्तियों में प्रचुर उपयोग किया गया है। गीति-संग्रह का शीर्षक 'गुंजन' ही कवि-वाणी के लिए भ्रमर के मधुवन में गुंजन-रूपक से ग्रहण किया गया है। रूपकों के कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

आघात तो नहीं पहुँचा ? महाकाव्य के बहिरंग पक्ष के भीतर अधोलिखित तत्त्वों का समावेश किया जाता है। सर्ग-बद्धता, अष्टाधिक सर्ग-संख्या, सर्गों का नामकरण, महाकाव्य का नामकरण -- खल-निन्दा, सज्जन शंसा, पात्र-संख्या, उदात्त नायक या नायिका, ख्यात वृत्तता, कथानक का विस्तार, उसमें नाटक की पंच सन्धियों का विकास, छन्द-विधान, वस्तु-वर्णन की विविधता, काव्यात्मक भाषा, उदात्त शैली, शृंगार, वीर तथा शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता। अब इसमें से एक-एक तत्त्व पर विचार करना चाहिए कि कामायनी में वे किस रूप में वर्तमान हैं, और वे अपने रूपों की संघटना द्वारा कामायनी के बहिरंग पक्ष को अधूरा या अपूर्ण तो नहीं बनाते, कोई विशेष क्षति तो नहीं पहुँचाते ? कामायनी में सर्ग-बद्धता, अष्टाधिक सर्गसंख्या, सर्गों का यथोचित नामकरण, महाकाव्य का उचित नामकरण, उचित छन्द-विधान, आदि तत्त्व यथाविधि रूप में विद्यमान हैं। ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण देने की प्रथा पुराने महाकव्यों में पाई जाती है। इस वैज्ञानिक युग में हिन्दी वाले उस पुरानी प्रथा को तोड़ने की प्रवृत्ति दिखला रहे हैं। प्रसाद जी ने भी कामायनी में मंगलाचरण का प्रयोग किए बिना ही कथा का आरम्भ पहले छन्द से ही कर दिया है। और उस छन्द में शुभ गण वर्तमान हैं जो मंगलाचरण के अभाव का मार्जन करने में समर्थ हैं। दूसरे, मंगलाचरण के अभाव में महाकाव्य के बहिरंग पक्ष को कोई क्षति नहीं पहुँचती। खलनिन्दा अथवा सज्जन-शंसा से महाकाव्य के आरम्भ में इतिवृत्तात्मकता आजाती है, जो प्रसाद के महाकाव्य की भावात्मक प्रकृति के विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया है। कामायनी में भाव-विस्तार, भाव-सूक्ष्मता आदि पर प्रमुख दृष्टि रखने के कारण कथानक, पात्र, वस्तु-वर्णन आदि तत्त्व गौण पड़ गए हैं। शास्त्र के कुछ स्थूल नियमों के अतिक्रमण का कारण कवि की महाकाव्य-रचना की नवीन पद्धति है। और असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि को साहित्य एवं समाज की गतिविधि, अपनी प्रवृत्ति तथा लक्ष्य के अनुसार साहित्य में नवीन पद्धति के प्रयोग का अधिकार दिया जाता है। प्रबन्ध काव्य में घटना-विस्तार, पात्र-बहुलता, वस्तु-वर्णन की विविधता का लक्ष्य होता है। मानव जीवन की यथासाध्यपूर्ण अभिव्यक्ति यदि घटनाओं तथा पात्रों के आधिक्य के बिना कोई कवि किसी महाकाव्य में मानव-जीवन की यथासम्भव पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो जाय तो स्थूल नियमों का अतिक्रमण दूषण न होकर भूषण हो जायगा। चरित्र-अंकन का विस्तार चरित्र-प्रधान महाकाव्यों के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इसी प्रकार कथा-वस्तु का विस्तार घटना-प्रधान काव्यों के लिए अनिवार्य अंग है। किन्तु कामायनी तो भावात्मक महाकाव्य है। इसलिए इसके स्वरूप के अनुसार चरित्रांकण का विस्तार, पात्र-बहुलता, कथा-विस्तार आवश्यक तत्त्व नहीं हैं। वस्तु-वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन की विविधता उसमें वर्तमान है, किन्तु उसकी शैली प्रगीत-

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल !
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुंतल ! (गीति ४३)

नौका-विहार के साधारण व्यापार में मानव-तत्त्व आ जाने के कारण एक नया चमत्कार आ गया है। सरिता पार करने के बाद कवि इस कर्म को असाधारण दार्शनिक अर्थ प्रदान कर दिव्य बना देता है :—

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार !
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर पार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार !

पन्त जी की कोमल अनुभूतियों को उपयुक्त सूक्ष्म सहज अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रधानता है। भाषा प्रांजल और कहीं-कहीं जटिल है। उसमें गतिमय शक्ति है जो ओज का आभास देने में समर्थ है। शब्दों के शिल्पी पन्त ने खड़ी बोली को जो माधुर्य दिया है वह अविस्मरणीय है। डॉ नगेन्द्र का इस संबंध में कथन उल्लेखनीय है :—

"जिस खड़ी बोली जा रूप, अनस्थिरता के वाग्जाल से निकाल कर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्थिर किया, जिसको द्विवेदीय स्कूल ने परिमार्जित और नियंत्रित किया और कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने जिसे प्रांजल और मधुर बनाकर काव्योचित रूप दिया, उसकी समस्त शक्तियों को विकसित एवं गूढ़ निधियों को प्रकाशित करने का श्रेय पंत जी को ही है। उसमें नए कटाक्ष, नये रोमांच, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन वसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान है।"

'पल्लव' में 'सा' का बाहुल्य था। 'गुंजन' मे पन्त जी 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सके हैं। 'सा' से 'रे' का क्रम पन्त जी की संगीतप्रियता का द्योतक है। सम्पूर्ण 'गुंजन'-काव्य की भाषा में एक अनुगूंज व्याप्त है। कवि मन की उन्मनता के कारण शब्दों में विषादात्मक ध्वनि है। पन्त जी की काव्य-शैली इस गीति-संग्रह में तीन प्रकार की देखने को मिलती है, प्रवाहमयी, संगीतात्मक तथा चित्रात्मक। जिन गीतियों में जीवन की सहज, साधारण अभिव्यक्ति है अथवा कवि

आघात तो नहीं पहुँचा ? महाकाव्य के बहिरंग पक्ष के भीतर अधोलिखित तत्वों का समावेश किया जाता है। सर्ग-बद्धता, अष्टाधिक सर्ग-संख्या, सर्गों का नामकरण, महाकाव्य का नामकरण -- खल-निन्दा, सज्जन शंसा, पात्र-संख्या, उदात्त नायक या नायिका, ख्यात वृत्तता, कथानक का विस्तार, उसमें नाटक की पंच सन्धियों का विकास, छन्द-विधान, वस्तु-वर्णन की विविधता, काव्यात्मक भाषा, उदात्त शैली, शृंगार, वीर तथा शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता। अब इसमें से एक-एक तत्त्व पर विचार करना चाहिए कि कामायनी में वे किस रूप में वर्तमान हैं, और वे अपने रूपों की संघटना द्वारा कामायनी के बहिरंग पक्ष को अधूरा या अपूर्ण तो नहीं बनाते, कोई विशेष क्षति तो नहीं पहुँचाते ? कामायनी में सर्ग-बद्धता, अष्टाधिक सर्गसंख्या, सर्गों का यथोचित नामकरण, महाकाव्य का उचित नामकरण, उचित छन्द-विधान, आदि तत्त्व यथाविधि रूप में विद्यमान हैं। ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण देने की प्रथा पुराने महाकव्यों में पाई जाती है। इस वैज्ञानिक युग में हिन्दी वाले उस पुरानी प्रथा को तोड़ने की प्रवृत्ति दिखला रहे हैं। प्रसाद जी ने भी कामायनी में मंगलाचरण का प्रयोग किए बिना ही कथा का आरम्भ पहले छन्द से ही कर दिया है। और उस छन्द में शुभ गण वर्तमान हैं जो मंगलाचरण के अभाव का मार्जन करने में समर्थ हैं। दूसरे, मंगलाचरण के अभाव में महाकाव्य के बहिरंग पक्ष को कोई क्षति नहीं पहुँचती। खलनिन्दा अथवा सज्जन-शंसा से महाकाव्य के आरम्भ में इतिवृत्तात्मकता आजाती है, जो प्रसाद के महाकाव्य की भावात्मक प्रकृति के विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया है। कामायनी में भाव-विस्तार, भाव-सूक्ष्मता आदि पर प्रमुख दृष्टि रखने के कारण कथानक, पात्र, वस्तु-वर्णन आदि तत्त्व गौण पड़ गए हैं। शास्त्र के कुछ स्थूल नियमों के अतिक्रमण का कारण कवि की महाकाव्य-रचना की नवीन पद्धति है। और असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि को साहित्य एवं समाज की गतिविधि, अपनी प्रवृत्ति तथा लक्ष्य के अनुसार साहित्य में नवीन पद्धति के प्रयोग का अधिकार दिया जाता है। प्रबन्ध काव्य में घटना-विस्तार, पात्र-बहुलता, वस्तु-वर्णन की विविधता का लक्ष्य होता है। मानव जीवन की यथासाध्यपूर्ण अभिव्यक्ति यदि घटनाओं तथा पात्रों के आधिक्य के बिना कोई कवि किसी महाकाव्य में मानव-जीवन की यथासम्भव पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो जाय तो स्थूल नियमों का अतिक्रमण दूषण न होकर भूषण हो जायगा। चरित्र-अंकन का विस्तार चरित्र-प्रधान महाकाव्यों के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इसी प्रकार कथा-वस्तु का विस्तार घटना-प्रधान काव्यों के लिए अनिवार्य अंग है। किन्तु कामायनी तो भावात्मक महाकाव्य है। इसलिए इसके स्वरूप के अनुसार चरित्रांकण का विस्तार, पात्र-बहुलता, कथा-विस्तार आवश्यक तत्त्व नहीं हैं। वस् वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन की विविधता उसमें वर्तमान है, किन्तु उसकी शैली प्रगी

परिवर्तित कर दिये गये हैं, जैसे प्रिय का 'प्रि', अनिवर्चनीय का 'अनिवर्च', और का 'औ', उज्ज्वल का 'उज्वल' आदि !

गीत क्रम सं० १५ में संगीतात्मकता देखने योग्य है। अकारान्त तुकों से समां बँध गया है। 'र' की छटा देखिए—

किस स्वर्ण किरण की करुण कोर कर गई इन्हें सुख से विभोर ?
किन नव स्वप्नों की सजग भोर ? हँस उठे हृदय के ओर-छोर
जग जग खग करते मधुर रोर मैं रे प्रकाश में गया बोर !

चित्रात्मक काव्य-शैली में पन्त जी का शिल्पी रूप निखरा है। किसी भाव, वस्तु अथवा व्यापार का चित्रण करते समय वे चुन-चुन कर मोती जैसे शब्द टाँकते जाते हैं। शब्दों में विषाद और निर्वेद की ध्वनि है, उनके चयन में चातुर्य है, गति में चंचलता है और छवि में चित्रात्मकता है।

शब्दों का चयन और संतुलन देखिए—

—प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर
—आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास
अखिल आकुल, उत्कलित अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश !

निम्न पंक्तियों में म्लान, मूक, सजल, नत, दुख, जर्जर तथा मृत्यु शब्दों में विषादात्मकता मूर्त हो उठी है—

रे म्लान अंग, रंग, यौवन ! चिर मूक, सजल, नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर, बस मृत्यु शेष है जीवन।

सूनापन इन शब्दों से टपक रहा है—

तुम्हारे नयनों का आकाश सजल, श्यामल, अकूल आकाश !
गूढ़, नीरव, गंभीर प्रसार, न गहने को तृण का आधार;

चित्रात्मक सजीवता की दृष्टि से 'एक तारा', 'चांदनी', 'मधुवन', 'अप्सरा' तथा 'नौका-विहार' गीति उत्कृष्ट बन पड़े हैं। क्रमात्मक गति इन पक्तियों में स्पष्ट है—

आज वन में पिक, पिक में गान, विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधु प्राण ! सलिल में लहर, लहर में लास !

'नौका-विहार' की कुछ गत्यात्मक झाँकियाँ द्रष्टव्य हैं—

—गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुंदर
चंचल अंचल सा नीलांबर !

करने का पथ बताती है, अखिल विश्व को अपना नीड़ समझती है, अन्त में विश्व-चेतना की प्राप्ति कर जगत् की मंगल-कामना बन जाती है, समरसता सिद्धान्त द्वारा जीवन में आनन्द की प्राप्ति कराती है तथा अपने कार्यों द्वारा मानव-जीवन की श्रेष्ठता तथा महत्ता को प्रतिपादित करती है। इस प्रकार कामायनी भावात्मक स्वरूप धारण करने पर भी महाकाव्य की अन्तरंग कसौटी पर सफल उतरती है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह देखना चाहिए कि इस महाकाव्य को भावात्मक रूप देने से कवि को महाकाव्यात्मक सफलता के अतिरिक्त लाभ कौन-कौन से हुए हैं। भावात्मकता के कारण यह काव्य ध्वनि-प्रधान काव्य का रूप धारण कर उत्तमोत्तम काव्य की श्रेणी में स्थान पाने योग्य हो गया है। प्रसाद का भावुक व्यक्तित्व महाकाव्य को भावात्मक स्वरूप देने के कारण कामायनी में अपनी सचाई बरतने में समर्थ हुआ है। कवि के स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व की रक्षा भी इसी भावात्मक स्वरूप के कारण ही हुई। महाकाव्य को भावात्मक बनाने के कारण कवि अन्तरंग और बहिरंग में संगतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो सका है। कथानक, पात्र, वर्णन, वातावरण, सन्देह शैली, भाषा सभी में भावात्मकता होने के कारण महाकाव्य के सभी तत्त्वों में एकरूपता तथा अन्विति की रक्षा हुई है। महाकाव्य को भावात्मक रूप देने के कारण कवि रूपकात्मकता के निर्वाह में सफल हुआ है। महाकाव्य की शैली, भाषा तथा उसके स्वरूप में अवयवपूर्ण संगति स्थापित करने में वह समर्थ हुआ है। भावात्मकता के कारण आदि से अन्त तक वक्रोक्ति शैली के स्वाभाविक प्रयोग में कवि सक्षम हुआ है तथा सभी भावों की व्यंजना सफलता पूर्वक कर सका है। महाकाव्य के सन्देश तथा उसके रूप में अनुकूलता स्थापित हो सकी है। भावात्मक रूप के कारण इसमें छायावादी शैली का प्रयोग बहुत समुचित प्रतीत होता है। सर्गों का भावात्मक नाम इसके भावात्मक स्वरूप की संगति में बहुत ही सार्थक सिद्ध हो गया है। भावात्मक स्वरूप के कारण महाकाव्य का रूप अतिव्यस्त आधुनिक युग के अनुसार निर्मित होने में सक्षम हुआ है। भावात्मक रूप के कारण ही महाकाव्य-प्रणयन के क्षेत्र में कवि अपनी प्राकृतिक शक्ति, मौलिकता तथा नवीनता को प्रमाणित करने में सफल हुआ है।

३१

कामायनी

डॉ० रामलाल सिंह

किसी महान् कवि तथा महान् कृति के साथ न्याय करने के लिए भारतीय तथा पश्चिमी दोनों समीक्षाओं में सबसे प्रमुख सिद्धान्त सहानुभूति का सिद्धान्त माना गया है। अतः प्रसाद तथा उनकी महान् कृति कामायनी के साथ न्याय करने के लिए हमें यह उचित है कि कामायनीकार की दृष्टि से उसे देखें। वहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रसाद की दृष्टि कामायनी लिखते समय उसे भावात्मक महाकाव्य का रूप प्रदान करने की थी। वहिर्साक्ष्य के लिए हमें उनके लिखे हुए निबन्धों की ओर देखना पड़ता है। प्रसाद जी ने 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में पाठ्य काव्य वाले निबन्ध में संस्कृत तथा हिन्दी के महाकाव्यों को बुद्धिवादी महाकाव्य कहकर उनसे अरुचि प्रगट की है। पाठ्य काव्यों के बाह्य वर्णन, बुद्धिवाद आदि से विराग दिखाया है और भाव-पक्ष से अनुराग। वे काव्य का सहज धर्म आत्मा की क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली संकल्पात्मक अनुभूति मानते थे। वे अन्य काव्यों की भाँति महाकाव्य की आत्मा भाव या रस में निरूपित करते थे तथा उसकी सफलता भाव-विस्तार में। इसी कारण महाकाव्य में भी उनकी दृष्टि भाव-सौन्दर्य में ही विशेष जमी है। वहिर्साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वे घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, वर्णन प्रधान आदि विवेक-परम्परा के महाकाव्यों के पक्ष में नहीं थे और इनसे भिन्न एक नये ढंग का, एक नये रूप का महाकाव्य लिखना चाहते थे जो अपनी प्रकृति तथा स्वरूप से भाव-प्रधान बन सके।

अब अन्तर्साक्ष्य की दृष्टि से देखना चाहिए कि कामायनी का महाकाव्यात्मक स्वरूप कवि की दृष्टि से किस प्रकार का है। कामायनी की भूमिका से यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने आर्य-वाङ्मय में बिखरे हुए श्रद्धा और मनु की विपुल घटना-राशि में से उन्हीं इतिवृत्तों को चुना है जो भावपूर्ण हैं। इसीलिए वे श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक की दृष्टि से देखते हैं। और उन्होंने वहीं श्रद्धा और मनु के सहयोग से रची हुई सृष्टि को मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक

स्वरूप, हिन्दी में जो थोड़े-से काव्य-शिखर निर्मित हो सके हैं, यह उनमें से एक है। कतिपय समीक्षकों ने निराला की कविता को 'काव्य, दर्शन और संगीत की त्रिवेणी' कहा है, परन्तु 'बहुजीवन की छवि' द्वारा परिभाषित होने वाली निराला की कविता का संपूर्ण व्यक्तित्व इस उक्ति के माध्यम से सामने नहीं आ पाता। 'तुलसीदास' का काव्य-शिखर निराला की कविता के लिये एक दूसरी 'त्रिवेणी' को भी संभव बना सका है, और वह कविता, इतिहास तथा मनोविज्ञान की त्रिवेणी है। सौ छन्दों की ६०० पंक्तियों में समाप्त होने वाली यह कविता, निराला के सम्पूर्ण कवि-जीवन की सबसे लम्बी कविता, उनका सबसे वृहत् प्रयास है। यह निराला के कवि की अक्षत रचना-क्षमता, उनकी घनीभूत संवेदना, इस संवेदना के ताप को कविता की रचना के समूचे दौर जीवित बनाए रख सकने की उनकी सामर्थ्य, साथ ही अभिव्यंजना के माध्यमों पर उनके सहज अधिकार की जीती-जागती मिसाल है। तभी तो यह कविता अपने समूचे विस्तार के बावजूद, इतिहास, संस्कृति तथा लोक-विश्वास के हल्के गाढ़े रंगों को लिए, प्रगीत की-सी प्रभान्विति स्थिर रखने में असाधारण रूप से सफल हुई है—मानों एक ही सांस में कवि के द्वारा लिख दी गई हो, और यहीं पर प्रश्न उठता है कि आखिर १०० बंदों में बंधी, छै सौ पंक्तियों की इस लंबी रचना को क्या कहकर पुकारा जाय? क्या खण्ड-काव्य परंतु खण्ड-काव्य की शास्त्रीय नियमावली का पालन इसमें कहाँ है? सरलता से देखा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के एक विशिष्ट तथा मार्मिक प्रसंग को लिये हुए भी, मतलब एक क्षीण कथा तन्तु के बावजूद, इसकी निर्मिति खण्ड-काव्य की निर्मिति नहीं है। शास्त्रीय भूमिका को छोड़ भी दें, तो युग के नये संदर्भों की सूचना देने वाली जो प्रबंध-कृतियाँ निराला के समकालीन कवियों द्वारा सामने लाई गई हैं, 'तुलसीदास' का निर्माण उनकी बनावट से भी अपना पार्थक्य सूचित करता है। ऐसी स्थिति में आचार्य वाजपेयी का यह मत कि 'तुलसीदास' एक 'आख्यानपरक दीर्घ प्रगीत' कहा जा सकता है, रचना को देखते हुए सर्वांशतः सत्य प्रतीत होता है। निराला ही क्यों, छायावाद के अन्य कवियों ने भी, ऐसे अनेक दीर्घ प्रगीतों की रचना की है, जो एक क्षीण आख्यान को अपने भीतर समाहित किए हुए भी तत्त्वतः प्रगीत ही हैं। प्रसाद की 'प्रलय की छाया' जैसी लम्बी कविता तथा 'आंसू' काव्य, इसी प्रकार कीं काव्य-रचना के उदाहरण हैं। एक हद तक पंत की 'ग्रंथि' को भी हम इसी कोटि में ले सकते हैं, नरेन्द्र शर्मा की 'कामिनी' भी ऐसी ही रचना है। जहाँ तक स्वतः निराला का प्रश्न है, उनकी 'राम की शक्ति पूजा,' 'सरोजस्मृति', 'वनवेला', 'शिवाजी का पत्र' आदि रचनाएं भी इसी प्रकार की हैं। देखना यह चाहिए कि किसी रचना को आख्यानक या प्रवन्ध-काव्य के भीतर समाहित करने वाले तत्त्व उस रचना में कितने हैं और कैसे हैं? केवल आख्यान की उपस्थिति ही—उसकी रेखाएँ अत्यंत क्षीण हों, अथवा उपेक्षाकृत अधिक भास्वर—किसी रचना को प्रवन्ध-काव्य

चाहता है। कामायनी का दर्शन भावात्मक है। इसलिए उन्होंने इसको प्रतिष्ठित करने वाले काव्य की आकृति एवं प्रकृति भी भावात्मक रक्खी है। कामायनीकार ने अपने युग के बुद्धिवाद को कम करने के लिए तथा उसमें हृदय तत्त्व भरने के लिए भावात्मक महाकाव्य की आवश्यकता अनुभव की, इसलिए उसे भावात्मक रूप प्रदान किया।

प्रसाद के नाटकों तथा उपन्यासों में यहाँ तक कि कहानियों में भी पात्रों की संख्या अधिक है। नाटकों तथा उपन्यासों में पात्रों, परिस्थितियों तथा घटनाओं की संख्या बहुत अधिक है। इससे विदित होता है कि वे घटना-विस्तार तथा चरित-विस्तार के निर्वाह में बहुत दक्ष थे। उन्होंने कामायनी में महाकाव्यात्मक रूप के होते हुए भी पात्रों तथा घटनाओं की संख्या इसीलिए कम रक्खी है कि इसे वे भावात्मक रूप देना चाहते थे। कामायनी की रूपकात्मकता भी यही विदित करती है कि वे इसे भावात्मक बनाना चाहते थे। आधुनिक युग की अति व्यस्तता के कारण भी प्रसाद जी महाकाव्य का रूप छोटा करना चाहते थे और यह भावात्मक रूप द्वारा ही सम्भव था। बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हो गया कि प्रसाद जी इसे भावात्मक महाकाव्य का रूप देना चाहते थे। अब हमें यह देखना चाहिए कि वे अपने इस ध्येय की दृष्टि से कामायनी के निर्माण में कहाँ तक सफल हैं।

प्रसाद के भावात्मक महाकाव्य की सफलता की परख के पूर्व यह जानना उचित है कि भावात्मक महाकाव्य के लक्षण कौन-कौन से हैं और वे कामायनी में किस मात्रा में पाये जाते हैं। भावात्मक महाकाव्य में भावना की अतिशयता तथा तीव्रता के कारण महाकाव्यकार पुरानी परम्परा, पुराने लक्षणों का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव उसमें महाकाव्य के पुराने लक्षणों—मंगलाचरण, निश्चित सर्ग-संख्या की सीमा, सर्गों का नामकरण, पात्रों की संख्या, कथानक विस्तार, छन्द-विधान, वर्णन विविधता, शैली-तत्त्व, भाषा-तत्त्व, विशिष्ट रस प्रधानता आदि स्थूल नियमों का अतिक्रमण स्वाभाविक है। इसलिये वह कवि अपनी तीव्रतम अनुभूति तथा सघन भावधारा के प्रचण्ड वेग के कारण नवीन पद्धति का अनुसरण कर सकता है।

भावात्मक महाकाव्य में महाकवि की दृष्टि भावों तथा अन्तर्वृत्तियों के वर्णन की ओर जितनी अधिक होती है उतनी घटनाओं, पात्रों तथा वस्तुओं के वर्णन की ओर नहीं होती। इसलिए इसमें घटनाओं का विस्तार नहीं होता, घटनाओं की बहुलता नहीं होती, पात्रों की संख्या कम होती है। वस्तुओं के इतिवृत्तात्मक या ब्यौरेवार वर्णन की ओर कवि की दृष्टि नहीं होती। इसमें भावपूर्ण या भावात्मक घटनाओं का संचयन होता है। और उनका चित्रण भावात्मक तथा अनुभूत्यात्मक ढंग से होता है। पात्र भी ऐसे रक्खे जाते हैं जो किसी न किसी महत्तम भाव के प्रतीक बनने में समर्थ हों। मानव-रूप में वे अत्यन्त भावात्मक तथा स्वच्छन्द वृत्ति के होते हैं।

के व्यक्तिगत जीवन की विशिष्ट घटना का विवरण भी सिवा इसके कि कवि के अन्तर्जगत को और भास्वरता से सामने लाए, उसके अन्तःसंघर्ष को एक बाहरी सन्दर्भ दे, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। सौ छन्दों में कविता का विभाजन भी ऊपरी ही है, जैसे 'आंसू' में। वस्तुतः कविता के बन्द परस्पर गुंफित हैं, उसकी क्रम संख्या की अलग से कोई खास इयत्ता नहीं। धारावाहिक रूप से सारी की सारी कविता सरलता से रखी जा सकती है। कवि ने कविता को १०० छन्दों में बाँट दिया है, या न बाँटा होता, यह प्रश्न अलग से कोई महत्त्व नहीं रखता। समूची कविता से जो प्रभाव निष्पन्न होता है, और जो बात उभर कर सामने आती है, महत्त्व उसका है, और जैसा हम कह चुके हैं यह प्रभाव प्रगीत का घनीभूत प्रभाव ही है। भारतीय संस्कृति के सूर्यास्त से प्रारम्भ होने वाली कविता 'प्राची दिगन्त-उर में पुष्कल रविरेखा'—इन पंक्तियों में समाप्त होती है। अन्धकार से प्रारम्भ कर प्रकाश की भूमिका में कविता का अंत तुलसीदास की मनोभूमि, स्वतः उनके अन्धकार से उभरकर प्रकाश में आने की स्थिति का सूचक है। इस दृष्टि से भी समूची कविता एक ही केन्द्रीय भावधारा, विचार या परिस्थिति का आकलन करती है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि 'तुलसीदास' कविता को यदि किसी भी काव्य-रूप के अन्तर्गत लिया जा सकता है, तो वह प्रगीत ही है। अधिक से अधिक इसे आख्यानक प्रगीत, या आचार्य वाजपेयी के अनुसार 'आख्यानक दीर्घ प्रगीत' कहा जा सकता है। निराला की जिन थोड़ी सी लम्बी प्रगीत कविताओं को महाकाव्यात्मक गरिमा या औदात्य से युक्त कहा गया है, 'तुलसीदास' भी उनमें से एक हैं। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, भावना, कल्पना, तथा अभिव्यंजना, तीनों भूमियों पर यह कविता महाकाव्य की गरिमा से मण्डित है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निराला की 'सरोजस्मृति,' 'वनवेला' तथा 'राम की शक्ति पूजा' आदि कविताएँ। चिन्तन की प्रौढ़ तथा परिष्कृत रेखाएँ कविता को एक गम्भीर भूमि देती हैं, जो निराला के समस्त काव्य-निर्माण के लिए सत्य है। निराला की कविता भाव-संकुल होते हुए भी भावोच्छ्वास की कविता नहीं है। प्रगीत के कई प्रकारों में एक प्रकार को meditative lyric भी कहा गया है, अर्थात् वे प्रगीत, जिनमें चिन्तन की भास्वरता भी हो! निराला का प्रगीत-निर्माण ऐसा ही है।

निराला की समस्त लम्बी प्रगीत-कविताओं में चूंकि आख्यान की अपनी रेखाओं का भी कुछ न कुछ योग अवश्य है, अतएव, इसके पूर्व कि 'तुलसीदास' कृति के अन्तरंग में प्रवेश किया जाय, उसके बाह्यरूप पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है।

कविता का प्रारम्भ भारतीय संस्कृति के सूर्यास्त की सूचना से होता है। भारत के नभ का 'प्रभापूर्ण सांस्कृतिक सूर्य' अस्त हो चुका है। दिशाएँ अन्धकार से आच्छन्न हैं। मुसलमानों का शासन क्रमशः समस्त उत्तर भारत में फैल चुका है। भार-

है। वह मानव-जीवन की महत्तम सम्भावनाओं, चरम वास्तविकताओं, मानव जीवन की महत्ता, श्रेष्ठता, सार्थकता भाव-शक्ति में निरूपित करने में समर्थ होता है। वह अपने भावात्मक महाकव्य में भली-भाँति यह प्रमाणित करने में समर्थ होता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति, सबसे बड़ी सम्पदा, सबसे बड़ा वरदान तथा उसकी निखिल सम्भावनायें उसकी भाव-शक्ति पर ही अवलंबित हैं।

भावात्मक महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों की कसौटी पर कामायनी की परीक्षा करने से यह विदित होता है कि उसमें भावात्मक महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण पाए जाते हैं। प्रमाणार्थ नीचे प्रत्येक लक्षण की दृष्टि से कामायनी का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है।

कामायनी में भावना का अतिरेक, प्रत्येक भाव के वर्णन में तीव्रता, भावों का अविरल प्रवाह, सूक्ष्मता, विस्तार आदि सर्ग से अंतिम सर्ग तक पाया जाता है। अतः कवि की अनुभूति महाकाव्य के आदि से अन्त तक तीव्रतम, विशद तथा सघनकोटि की पाई जाती है। किसी सर्ग में कहीं भी अनुभूति का वेग तथा उसकी घनता कम नहीं हुई है। अतः कवि की तीव्रतम अनुभूति तथा सघन भावधारा के वेग ने महाकाव्य की नवीन पद्धति तथा नवीन स्वरूप अर्थात् भावात्मक स्वरूप अपनाने के लिए कवि को विवश कर दिया है। कवि का भावात्मक व्यक्तित्व भी उसके भावात्मक स्वरूप के निर्माण के लिये उत्तरदायी है। कामायनीकार ने अपने बौद्धिक युग के बुद्धिवाद को कम करने के लिये तथा उसमें हृदय तत्व भरने के लिये भावात्मक महाकाव्य की आवश्यकता अनुभव की। इसलिये उसे भावात्मक रूप प्रदान किया।

प्रसाद युग की प्रवृत्तियों को देखते हुये कामायनी महाकाव्य का भावात्मक स्वरूप ही उसके लिये अधिक उपयोगी तथा अनुकूल पड़ता था। इस युग के भयंकर संघर्ष, वैषम्य, शोषण, हिंसा, अन्याय, कष्ट, प्रतारणा, छलना आदि का कारण बुद्धि का भयंकर अतिवाद है। इस भयंकर बुद्धिवाद के अतिचार, कुप्रभाव आदि को दूर करने के लिये हृदय-तत्त्व या भाव तत्त्व के प्रसार की विशेष आवश्यकता थी। कामायनी का साध्य आनन्दवाद भावात्मक है। अतः आनन्दवाद की भावात्मक प्रकृति के अनुसार काव्य की प्रकृति भी भावात्मक होनी ही चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के अन्तरंग पक्ष आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करने वाले महाकाव्य कामायनी का वहिरंग स्वरूप यदि भावात्मक रखा गया तो वह सर्वथा उचित ही है। महाकाव्य के वहिरंग तथा अन्तरंग पक्ष का अभिन्न सम्बन्ध कामायनी को चरित्र-प्रधान या घटना-प्रधान बनाने से कभी भी स्थापित न होता। काव्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुसार अनुकूल पद्धति चुनने का कार्य कर्ता का ही है, शास्त्र का नहीं। क्योंकि शास्त्र तो मार्ग-विलोकन की दृष्टि मात्र देता है, मार्ग पर पद-विन्यास करना नहीं सिखाता। कवि के लिये रचनात्मक ग्रन्थों में शास्त्र-सम्पादन की ही इच्छा

संस्कार उसी प्रकार जकड़े हैं, और वह उसी प्रकार आभाहीन हो गया है जैसे राहु-ग्रस्त सूर्य। सारा देश टुकड़ों में बँटा हुआ है, भाँति-भाँति के संप्रदाय और मत मतांतर फैले हुए हैं—यहाँ तक कि पूजा जैसे धार्मिक कार्य में भी ईर्ष्या, द्वेष और हिंसा की अग्नि जलती है। प्रत्येक मनुष्य चेतना-हीन है और फिर भी अपने को चेतन समझता हुआ अपने को धोखा दे रहा है। वर्णाश्रम व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी है। ब्राह्मण चाटुकार, क्षत्रिय किसी की भी रक्षा करने में असमर्थ। शूद्रों की स्थिति दयनीय है। उच्च वर्गों ने उन्हें बुरी तरह पीस डाला है। वे वर्णाश्रम व्यवस्था को साधने वाले चरण मात्र रह गये हैं। चारों ओर अंधकार है, दासता का, माया का, अज्ञान का। जब तक देश इस अंधकार से आच्छन्न है, वह पूर्व का-सा गौरव प्राप्त न कर सकेगा। तुलसीदास को स्पष्टतः दिखाई पड़ा कि सत्य का प्रकाश-लोक इस अंधकार के परे ही है। वे निश्चय करते हैं कि वे इस तिमिर को पार करते हुए सत्य के सूर्य द्वार तक अवश्य पहुँचेंगे—सत्य मार्ग पर स्थिर रहते हुए, विरोध से द्वन्द्व-समर ठानेंगे। फलतः कवि की चेतनोर्मियाँ असत्य पर सत्य के ज्ञानोद्धत प्रहार करने को उद्यत हो उठती हैं। परन्तु इसी समय उस छाया के ऊपर अंधकार में तारिका के समान चमकती तुलसीदास को रत्नावली की छवि दिखाई पड़ती है, और वे उस छवि में बँध से जाते हैं। तुलसीदास का जो मन अभी तक ऊर्ध्वस्थान में लीन था, रत्नावली की छवि में बँधा हुआ पुनः नीचे की ओर उतर आता है। उन्हें संपूर्ण प्रकृति रत्नावलीमय दिखाई पड़ने लगती है—'प्रेयसी बदलती वसन सृष्टि नव लेती।' वातावरण में चारों ओर उन्हें उसी की झंकृत की हुई रागिनी सुन पड़ती है। वे मित्रों के साथ चित्रकूट का भ्रमण करते हैं। सौंदर्य के पाश में दिग्दिगन्त बँधा हुआ है। वे सर्वत्र सौन्दर्य ही सौंदर्य देखते हैं। रत्नावली की छवि से पूरित उनका मन भाँति-भाँति के रंगीन भावों से भर उठता है। आगे के छन्दों में रत्नावली के रूप-गुण का वर्णन है जिसे निराला ने 'प्रिय करालम्ब को सत्य यष्टि' कहकर एक आवश्यक गरिमा आदि से ही दे दी है।

रत्नावली बहुत समय से नैहर न गई थी। उसका भाई उसे विदा कराने के लिये उसके घर आता है। सहेलियों के ताने, लोक का अपवाद, परिजनों की चुटकियाँ, माता-पिता की चिंता, सबका समाचार कहता है। रत्नावली पति की अनुपस्थिति में ही पिता के घर जाने को प्रस्तुत हो जाती है। तुलसीदास घर लौटते हैं, परन्तु घर में रत्नावली को न पाकर विह्वल हो उठते हैं। रत्नावली के प्रति उनका मोह बाँध तोड़ देता है, और वे विवेक से सर्वथा रहित उसके पीछे ही उसके घर की ओर चल देते हैं। मार्ग भर में उन्हें रत्नावली की ही याद आती रहती है। ससुराल पहुँचने पर उनका स्वागत होता है, परन्तु लोग कान-कान में बात भी करते हैं। रत्नावली की भाभी व्यंग्य करती है कि रतन की पहचान तो यही है। व्यंग्य सुनकर रत्नावली

ऐसे पात्र चुने गए हैं जो ऐतिहासिक ही नहीं वरन् किसी न किसी भाव-वृत्ति के प्रतीक हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने इतिहास के मर्म में मानव-वृत्तियों के विकास को भी देखने की चेष्टा की है।

कामायनी के सर्गों का नामकरण स्थान, घटना, पात्र, परिस्थिति के नाम पर न होकर भावात्मक वृत्तियों के नाम पर हुआ है। इस परम्परा-परिवर्तन के मूल में कवि का उद्देश्य है मानसिक वृत्तियों का ऐसा क्रम रखना जिस क्रम से वे मानव-हृदय में उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों का सम्वन्ध कामायनी में किसी एक ही पात्र से नहीं है, कुछ का सम्बन्ध पुरुष पात्र से है तथा कुछ का स्त्री पात्र से। इन दोनों के मेल से मानवता और भावात्मक वृत्तियों के सामान्य विकास को दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

किसी सर्ग के अन्तर्गत उसके शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नहीं वरन् तत्सम्बन्धी सभी भावनाओं का समावेश किया गया है। जैसे, चिन्ता सर्ग में चिन्ता के अतिरिक्त तज्जन्य अनुभावों—विस्मृति, वैवर्ण्य, जड़ता आदि का भी उल्लेख है। आशा सर्ग में तत्सम्भूत अन्य भावनायें—विश्वास, कुतूहल, जीवन के प्रति अनुराग, सहानुभूति, संवेदनशीलता, माधुर्य, अकांक्षा आदि भी वर्णित हैं। श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा सम्वन्धी दया, माया, ममता, माधुर्य, प्रेम, उत्साह, सान्त्वना, आत्म-समर्पण, लोकमंगल-कामना, आदि वृत्तियों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य सर्गों में भी यही क्रम चलता है। प्रत्येक भाव के वर्णन के पूर्व उसकी रम्य भूमिकायें बांधी गई हैं, सुन्दर वातावरण सजाए गए हैं। इस प्रकार महाकाव्य में इतने अधिक भावों की व्यंजना की गई है कि उनसे मानव जीवन का एक उदात्ततम, पूर्ण चित्र निर्मित हो जाता है। प्रत्येक सर्ग के प्रत्येक छन्द में भावुकता का सागर लहराता हुआ दिखलाई पड़ता है। वस्तुओं के इतिवृत्तात्मक वर्णन की ओर कवि की दृष्टि नहीं गई है। वह वर्ण्य विषय के मार्मिक अंशों का चयन करके इस प्रकार से उनका वर्णन भावात्मक ढंग से करता है कि व्यंजना द्वारा छूटे हुए अंशों की भी पूर्ति हो जाती है। इस संकेतात्मक प्रणाली का अवलम्बन लेने से कामायनी में नीरस या इतिवृत्तात्मक स्थल कहीं भी नहीं आने पाया है। सर्वत्र भावुकता, मार्मिकता तथा रमणीयता वर्तमान है।

महाकाव्य का आरम्भ चिन्ता नामक भाव-वर्णन से तथा अन्त आनन्द नामक भाव के वर्णन से होता है। महाकाव्य का नामकरण भी यद्यपि प्रमुख पात्र के नाम पर हुआ है किन्तु वह पात्र एक भाव का भी प्रतीक है। इसलिए यह कहने में कोई अनौचित्य नहीं कि इसका नामकरण उसके प्रमुख भाव के आधार पर हुआ है।

प्रसाद जी मुख्यतः प्रगीतकार हैं। अतः कामायनी में भी उन्होंने प्रगीत शैली का ही प्रयोग किया है। इसलिए इसका वाह्य स्वरूप भी भावात्मक हो गया है। इसके भावात्मक रूप में छायावादी शैली का प्रयोग बहुत ही औचित्यपूर्ण प्रतीत

इस प्रकार दिखाई दी मानो—'प्राची दिगंत उर में पुष्कल रवि-रेखा।' इस रवि-रेखा के प्रकाश में ही कविता का अंत होता है। तुलसीदास ज्ञान का प्रकाश जन-जीवन में बिखेरने के लिये घर से निकल पड़ते हैं।

स्पष्ट है कि यह कथा उस अर्थ में कथा नहीं है, जैसा कि सामान्यत: आख्यान परक काव्यों में दिखाई पड़ा करती है। आचार्य वाजपेयी ने इसकी इसी विशिष्टता को लक्ष्य करते हुए इसे 'मानसिक ऊर्ध्वगमन के विवरण' का काव्य कहा है। संपूर्ण कविता में निराला ने कथा कहने की इतिवृत्तात्मक प्रणाली से बचने की चेष्टा की है, कारण प्रगीत की भूमि इतिवृत्तात्मक वर्णन की भूमि हो ही नहीं सकती। भारतीय जीवन में क्रमश: छाते जाने वाले इसलामी प्रभाव का आवश्यक, किन्तु संक्षिप्त विवरण देकर निराला तुरंत अपने चरितनायक तुलसीदास को कविता के बीच उभार देते हैं। प्रकृति द्वारा तुलसीदास से निवेदित उसकी मनोव्यथा कथा का अंश न होकर, या कथा न होकर जैसे जड़ हुए संपूर्ण भारतीय जीवन की आंतरिक पीड़ा का तुलसीदास से हुआ साक्षात्कार है। इसी स्थिति में तुलसीदास का मन ऊर्ध्वमुखी होता है। ये सारे छंद अत्यंत गुँफित तथा विशुद्ध मानसिक भूमिकाओं के छंद हैं। इसके पश्चात् तुलसीदास की चेतना पुन: अपनी पूर्वस्थिति में लौटती है, और उसे संपूर्ण प्रकृति रत्नावली के रंग में रंगी दिखाई देती है। यहाँ भी प्रकृति का वस्तुपरक वर्णन न होकर, तुलसीदास के मानस में अंकित उस छवि का ही प्रत्यक्षीकरण है। रत्नावली के भाई का आना, रत्नावली का तुलसीदास की अनुपस्थिति में नैहर चले जाना, और तुलसीदास का रत्नावली के गृह की ओर प्रस्थान—कथा के ये अंश बहुत संक्षिप्त हैं और यहाँ भी कवि ने मानस-व्यापारों के भीतर ही कथा को सीमित रखने की चेष्टा की है। ससुराल में अनाहूत पहुँचे हुए तुलसीदास को देखकर रत्नावली की शाब्दिक प्रतिक्रिया को एक ही छंद में वर्णित कर कवि ने उसके भीतरी मंथन का, उसकी ज्वलित प्रतिमा, उसके तेजोमय स्वरूप का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी सामान्य चित्रों से भिन्न अपनी रेखाओं में अतीव सूक्ष्म, फिर भी व्यंजना की दृष्टि पूर्ण प्रभावशाली तथा भास्वर है। उसके पश्चात् तुलसीदास के मन में नये संस्कारों का जगना, पुन: ऊर्ध्वदेश की ओर उनकी चेतना का अभियान और वहीं पर प्राप्त तत्त्वबोध, फलत: छलछलाई आँखों वाली रत्नावली को छोड़ उनका घर से प्रस्थान आदि प्रसंग तुलसीदास के मनोजगत का बड़ा ही भव्य तथा जीवित स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। तुलसीदास के मन का द्वन्द द्वन्द्व की व्याप्ति और उसके परिशमन तथा नये बोध के साथ होने वाला उसका कायाकल्प, ये बातें ही कृति की मूल प्रतिपाद्य हैं। तात्पर्य यह कि निराला ने कृति में अपने को उन्हीं स्थलों पर केन्द्रित किया है जो तुलसीदास के मानवलोक की विविध छवियों और उसके उत्थान-पतन से संबद्ध हैं। एक निश्चित मानसिक स्तर से नीचे वे कविता भर में कहीं नहीं उतरे हैं। उन्होंने संपूर्ण कविता में आद्यंत एक घनीभत

कामायनी अपने भावात्मक स्वरूप के अनुसार हृदयवादी संस्कृति की श्रेष्ठता निरूपित कर संस्कृति की भावमूलक उदात्ततम चेतना निरूपित करने में समर्थ है। बुद्धिवादी संस्कृति का पराभव सारस्वत प्रदेश में इड़ा तथा मनु के पराभव द्वारा बताया गया है। कामायनी में सांस्कृतिक मूल्यों की प्राप्ति का पथ श्रद्धा नामक भाव के द्वारा दिखाया गया है। एक स्वस्थ संस्कृति में लौकिक तथा अलौकिक दोनों जीवनों का समन्वय अपेक्षित है। इन दोनों का समन्वय कामायनी में समरसता सिद्धान्त द्वारा बताया गया है। यह समरसता सिद्धान्त भावनात्मक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। कामायनी में मानव की भावनात्मक सत्ता तथा शक्ति सबसे मूल्यवान सिद्ध की गई है। वह हिन्दू जाति के लिए ही नहीं, हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं वरन् सारी मानवता के लिए समान रूप से मूल्यवान है। मानवता की इस भावनात्मक सत्ता का मूल्य बताने के कारण कामायनी भारतीय जीवन और भारतीय साहित्य की ही नहीं वरन् भाषा का माध्यम दूर करने पर विश्व-साहित्य तथा विश्व-जीवन की एक अमूल्य सम्पत्ति बन सकती है। कामायनीकार ने युग की समस्याओं का समाधान भावात्मक जगत में भावात्मक सन्तुलन में ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है, और वह सार्वकालिक तथा सार्वभौम रूप रखने में समर्थ है। भावात्मकता के कारण कामायनी में प्रेम का विशदतम रूप श्रद्धा के प्रेम द्वारा चित्रित किया गया है। जहां वह अखिल विश्व को अपना नीड़ समझने लगती है, जगत की मंगल कामना तथा कल्याण-धाम बन जाती है, जीते जी संसार के शाप-ताप से मुक्त हो जाती है, विश्व-चेतना का पुलकित रूप हो जाती है, सबकी सेवा को अपनी सुख-संसृति मानती है तथा द्वयता की विस्मृति से भर जाती है। महाकाव्य के भावात्मक रूप के कारण इस काव्य में अनेक स्थानों पर त्रासद तत्त्व दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, देव-सृष्टि का विनाश, श्रद्धा के पालित पशु का वध, श्रद्धा को छोड़ कर मनु का दो बार भाग जाना, सारस्वत प्रदेश के युद्ध में मनु का घायल होकर मूच्छित हो जाना : भावात्मकता की अतिशयता के कारण एकाध स्थलों पर अप्राकृतिक तत्त्वों का भी समावेश हो गया है। जैसे, श्रद्धा के सत्स्वरूप दर्शन के पश्चात् मनु को ताण्डवनृत्य का दर्शन होता है। श्रद्धा की स्मिति से इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया तीनों लोक मिल जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी भावात्मक महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर खरी उतरती है और प्रसाद जी उसको भावात्मक रूप देने में सफल हैं। कामायनीकार के निजी ध्येय की दृष्टि से कामायनी के महाकाव्यत्व की परख कर लेने के पश्चात् अब महाकाव्य के सामान्य ध्येय की दृष्टि से इसके महा-काव्यत्व पर विचार करना चाहिए, और यह देखना चाहिए कि कामायनी को भावात्मक महाकाव्य का स्वरूप देने से उसके बहिरंग तथा अन्तरंग रूप पर कोई

प्रगतिशील संदर्भ मिले हुए हैं, उससे भी इंकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार तत्कालीन इतिहास के प्रति ईमानदार रहते हुए भी निराला ने अपनी वैयक्तिक संवेदना के लिए उसमें एक आधार भूमि खोजी, यह तथ्य उनके रचनाकार को एक विशिष्टता प्रदान करता है, विशेष ध्यान देने की बात है कि व्यापक सांस्कृतिक ह्रास तथा सामाजिक विघटन के बावजूद वे तत्कालीन जन-जीवन की धारा को 'इसलाम सागराभिमुख पार' एक नये गंतव्य की ओर दिखाना नहीं भूले हैं।

कथा का जो अंश लोक-विश्वास पर आधारित है, अर्थात् रत्नावली के प्रति तुलसीदास का अनन्य प्रेम, रत्नावली का नैहर जाना, तुलसीदास का वहाँ पहुँचना, रत्नावली की फटकार, तुलसीदास को नये बोध का प्राप्त होना—इन प्रसंगों को उन्होंने पूरी मान्यता दी है। तुलसीदास का चित्रकूट-पर्यटन, प्रकृति-दर्शन, प्रकृति द्वारा उनसे अपनी मनोव्यथा का कथन, मनका ऊर्ध्वमुखी प्रयाण, रत्नावली के प्रति नया लगाव, रत्नावली द्वारा दी गई फटकार के पश्चात् पुनः नये संस्कारों का जगना, पुनः मन का ऊर्ध्वमुखी होना, रत्नावली के नये रूप के दर्शन, शारदा तथा कमला के रूप में उसकी कल्पना, ये सारी बातें कवि की अपनी समर्थ कल्पना की उपज हैं, और इन्हीं अंशों पर उसने अपने को विशेष रूप से केन्द्रित भी किया है। यही अंश संपूर्ण कविता को प्रगीत की आकृति देते हैं। भावों की सघनता, वर्णन का आवेग, अभिव्यंजना की कसावट, कल्पना का औदात्य, इन्हीं स्थलों पर अपने पूरे उत्कर्ष से सामने आया है, और ये सारी बातें संपूर्ण कविता के संदर्भ में एकदम सटीक बैठती हैं। मानोविज्ञान की जिस भूमिका की ओर हमने प्रारम्भ में संकेत किया है, उसे लाने वाले प्रसंग भी यही हैं। उसकी स्थिति विशेष रूप से तुलसीदास के मन की ऊर्ध्वगामी गति में देख पड़ती है। वैसे प्रकृति की मनोव्यथा के वर्णन, तुलसीदास द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति में रत्नावली के दर्शन, रत्नावली की छवि को आकाश में तारिका के समान चमकते देख उनकी चेतना के अधोमुखी होने, रत्नावली के गृह की ओर प्रयाण करते समय की मनः-स्थिति, रात्रि में रत्नावली से एकांत मिलन के समय रत्नावली तथा तुलसीदास दोनों की भिन्न मन:स्थितियों के चित्रण आदि में भी कविता की गहरी मनोवैज्ञानिक भूमिका को लक्ष्य किया जा सकता है। एकांत मिलन के अवसर पर तुलसीदास तथा रत्नावली की विपरीत मन:स्थिति को कवि ने बड़े ही सार्थक चित्रों के बीच स्पष्ट किया है, जो कवि की गहराई तक पहुँचने वाली दृष्टि को भी सहज ही प्रत्यक्ष कर देते हैं—

कवि रुचि में फिर छलकता रुचिर
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर

काव्य की भावात्मक शैली है, जिसमें मार्मिकता अंश का व्यंजनात्मक वर्णन होता है जिससे उसके छूटे हुए अंश प्रकाशित हो जाते हैं इसलिए इसमें वस्तु-वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन का विस्तार नहीं है।

नाटक की सन्धियों का विस्तार घटना-प्रधान एवं चरित्र-प्रधान महाकाव्यों में सम्भव है। भावात्मक महाकाव्य में घटनाओं का अतिविस्तार सम्भव नहीं। इसलिए नाटक की सन्धियों का समावेश तो इसमें हो जाता है किन्तु उनका विस्तार नहीं हो पाता। कामायनी में भी नाटक की सभी सन्धियों का समावेश तो है पर उनका विस्तार नहीं है। कामायनी की घटना, ख्यातवृत्त है तथा वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि-प्रलय तथा सृष्टि-निर्माण एवं उसमे आनन्द की स्थापना से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई घटना नहीं हो सकती। प्रलय के पश्चात् सृष्टि-निर्माण से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः कामायनी की कथा-वस्तु तथा उसके कार्य दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें नायक के स्थान पर नायिका का चरित्र उदात्त रूप में चित्रित है। अतः इसमें नायक के स्थान पर नायिका के ही चरित्र द्वारा मानव-जीवन की श्रेष्ठता, महत्ता, जीवन की चरम वास्तविकता, उच्चतम संभावना व्यक्त की गई है। पुराने महाकाव्यों में असत् कर्म के स्वरूप तथा उनके परिणाम प्रतिनायक के चरित्र द्वारा दिखलाए जाते हैं। प्रसाद ने पात्रों की संख्या के अभाव में उसे नायक मनु के चरित्र द्वारा दिखाने का प्रयत्न किया है। हम पहले यह कह चुके हैं कि कामायनी की भाषा भावात्मक, तथा शैली उदात्त है।

इसमें सभी रसों का प्रयोग है किन्तु शृंगार रस की प्रधानता है। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी किसी भी भाषा के महाकाव्यों को पढ़ने से यह विदित होता है कि सभी में बहिरंग लक्षणों की भिन्नता है। लक्षणों की एकरूपता किसी भी साहित्य के महाकाव्य में नहीं मिलती। अतः यदि कामायनी में महाकाव्य के बहिरंग नियमों तथा तत्त्वों में कुछ भिन्नता अथवा नवीनता है तो इससे उसके महाकाव्यात्मक बहिरंग स्वरूप पर कोई आंच नहीं आती। महाकाव्य के अन्तरंग पक्ष के भीतर निम्निलिखित तत्त्व आते हैं। यथासम्भव जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति जिसमें मानव-जीवन की सभी परिस्थितियाँ, सभी मानव मूल्यों, सभी लक्ष्यों, सभी भावों की व्यंजना, चिरन्तन संघर्ष का प्रतिपादन, चिरन्तन, सनातन तथा अद्यतन जीवन-तत्त्वों की अभिव्यक्ति, उच्चतम सम्भावनाओं की सिद्धि, जीवन की उच्चतम वास्तविकता, परम सत्य, परमोच्च चेतना का अंकन एवं लौकिक तथा अलौकिक जीवन की संयोगात्मक समन्विति। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी श्रद्धा के जीवन-वृत्तों, कार्यों, आदर्शों, गुणों, संघर्षों तथा सिद्धियों द्वारा महाकाव्य के अन्तरंग पक्ष को निरूपित करने में समर्थ है। वह अपने जीवन द्वारा 'असतो मा सत् गमय' का सन्देश कलात्मक ढंग से देती है। अपने चरित्र द्वारा महान् से महान् मानवीय सम्भावनाओं को पूर्ण

रत्नावली के प्रणय में विद्ध तुलसीदास के मन को निराला ने बड़ी सजीवता से कृति में आँका है। तुलसीदास का प्रारम्भिक परिचय देते हुए भी कवि ने ध्यान रखा है कि उनके बाद में उभरने वाले महत् चरित्र की संगति इस प्रारंभिक भूमिका से बैठ सके। उन्होंने उन्हें युवकों में रत्न, काव्यालोचन तथा शास्त्रों में पारंगत, पुष्ट देह तथा आयत दृगों वाला चित्रित किया है। इस संस्कारी व्यक्ति का मन यदि प्रकृति की मनोव्यथा सुनकर ऊर्ध्वमुखी होता हुआ ऐसी स्थिति पर पहुँच जाता है, जहाँ से उसे भारत का देश काल अपने अध:पतन की सारी स्थितियों को लिए दिखाई पड़ता है,

उस मानस ऊर्ध्व देश में भी
ज्यों राहु ग्रस्त आभा रवि की
देखी कवि ने छवि छाया-सी भरती सी
भारत का सम्यक देशकाल
खिंचता जैसे तम शेष जाल
खींचती, वृहत से अंतराल करती-सी'—

और भारतीय संस्कृति को अध:पतन और माया के जड़ अंधकार से मुक्त करने के लिये वह 'सत्य के मिहिर द्वार' तक पहुँचने का संकल्प बाँधता है, तो कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। परंतु यहीं रत्नावली की छवि उसके नेत्रों में सजीव हो उठती है, और उसका संकल्प धरा ही रह जाता है। तुलसीदास की मानसिक दुर्बलता का यही स्थल उनके चरित्र की मानवीय भूमिका को सामने लाता है, जिसके चित्रण में निराला को विशेष सफलता मिली है। तुलसीदास के सहज मानवीय रूप की यह भूमिका उस समय तक अक्षुण्ण रहती है जब तक पुन: रत्नावली द्वारा उन्हें नया बोध प्राप्त होता है। रत्नावली की चोट तुलसीदास के मर्म पर चोट थी। काव्यालोचन तथा अन्य शास्त्रों में पारंगत तुलसीदास के संस्कारी व्यक्तित्व को एक नये रूप में ढालने के लिये यह चोट पर्याप्त थी। प्रणय का संसार यहीं टूट जाता है, और तुलसीदास एक नई भूमिका में अपने तेजोद्दीप्त नए स्वरूप को लेकर उभरते हैं। उनका यह रूप न केवल भव्य है, लोक-मंगल का साधक, उनका सही रूप भी है। द्वन्द्व से मुक्त, संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थों से परे यह एक नये तुलसीदास का जन्म है—उस तुलसीदास का जो जनमानस में आज भी सैंकड़ों वर्षों बाद जीवित हैं। तुलसीदास के व्यक्तित्व की गरिमा को निराला की लेखनी बड़े सधे रूप में सामने ला सकी है, यह उसकी बहुत बड़ी सफलता है—

देशकाल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी,
निश्चेतन, निज तन मिला विकल

काव्य की भावात्मक शैली है, जिसमें मार्मिकता अंश का व्यंजनात्मक वर्णन होता है जिससे उसके छूटे हुए अंश प्रकाशित हो जाते हैं इसलिए इसमें वस्तु-वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन का विस्तार नहीं है।

नाटक की सन्धियों का विस्तार घटना-प्रधान एवं चरित्र-प्रधान महाकाव्यों में सम्भव है। भावात्मक महाकाव्य में घटनाओं का अतिविस्तार सम्भव नहीं। इसलिए नाटक की सन्धियों का समावेश तो इसमें हो जाता है किन्तु उनका विस्तार नहीं हो पाता। कामायनी में भी नाटक की सभी सन्धियों का समावेश तो है पर उनका विस्तार नहीं है। कामायनी की घटना, ख्यातवृत्त है तथा वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि-प्रलय तथा सृष्टि-निर्माण एवं उसमें आनन्द की स्थापना से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई घटना नहीं हो सकती। प्रलय के पश्चात् सृष्टि-निर्माण से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः कामायनी की कथा-वस्तु तथा उसके कार्य दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें नायक के स्थान पर नायिका का चरित्र उदात्त रूप में चित्रित है। अतः इसमें नायक के स्थान पर नायिका के ही चरित्र द्वारा मानव-जीवन की श्रेष्ठता, महत्ता, जीवन की चरम वास्तविकता, उच्चतम संभावना व्यक्त की गई है। पुराने महाकाव्यों में असत् कर्म के स्वरूप तथा उनके परिणाम प्रतिनायक के चरित्र द्वारा दिखलाए जाते हैं। प्रसाद ने पात्रों की संख्या के अभाव में उसे नायक मनु के चरित्र द्वारा दिखाने का प्रयत्न किया है। हम पहले यह कह चुके हैं कि कामायनी की भाषा भावात्मक, तथा शैली उदात्त है।

इसमें सभी रसों का प्रयोग है किन्तु श्रृंगार रस की प्रधानता है। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी किसी भी भाषा के महाकाव्यों को पढ़ने से यह विदित होता है कि सभी में बहिरंग लक्षणों की भिन्नता है। लक्षणों की एकरूपता किसी भी साहित्य के महाकाव्य में नहीं मिलती। अतः यदि कामायनी में महाकाव्य के बहिरंग नियमों तथा तत्त्वों में कुछ भिन्नता अथवा नवीनता है तो इससे उसके महाकाव्यात्मक बहिरंग स्वरूप पर कोई आँच नहीं आती। महाकाव्य के अन्तरंग पक्ष के भीतर निम्नलिखित तत्त्व आते हैं। यथासम्भव जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति जिसमें मानव-जीवन की सभी परिस्थितियाँ, सभी मानव मूल्यों, सभी लक्ष्यों, सभी भावों की व्यंजना, चिरन्तन संघर्ष का प्रतिपादन, चिरन्तन, सनातन तथा अद्यतन जीवन-तत्त्वों की अभिव्यक्ति, उच्चतम सम्भावनाओं की सिद्धि, जीवन की उच्चतम वास्तविकता, परम सत्य, परमोच्च चेतना का अंकन एवं लौकिक तथा अलौकिक जीवन की संयोगात्मक समन्विति। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी श्रद्धा के जीवन-वृत्तों, कार्यों, आदर्शों, गुणों, संघर्षों तथा सिद्धियों द्वारा महाकाव्य के अन्तरंग पक्ष को निरूपित करने में समर्थ है। वह अपने जीवन द्वारा 'असतो मा सत् गमय' का सन्देश कलात्मक ढंग से देती है। अपने चरित्र द्वारा महान् से महान् मानवीय सम्भावनाओं को पूर्ण

गहरे संघर्ष के लिये उतरता है—सक्रिय, सन्नद्ध तथा संकल्प से दीप्त। रत्नावली का वैशिष्ट्य यही है, और इस संदर्भ में डा० रामविलास शर्मा का यह कथन कि "रत्नावली के शब्दों में तुलसीदास को नहीं वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परंपरा को धिक्कारा गया है। उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है" सोलहो-आने सच है। नारी का यह वह रूप है, जिसे रीतिकालीन संस्कारों में बद्ध कवि न देख सके थे और जिसे इस युग के निराला-जैसे कवि ने अपनी सारी गरिमा के साथ प्रस्तुत किया। रत्नावली का चरित्र हिंदी कविता को, भारतीय नारीत्व को, निराला की एक विशिष्ट देन है, परंतु निराला का कवि-वैशिष्ट्य इस बात में है कि वे रत्नावली के चरित्र को इस भूमिका तक पहुँचाकर ही नहीं रुक गए। रत्नावली की मानवीय भूमिका, उसका सहज नारीत्व भी उनकी आँखों के सम्मुख सदैव रहा है। तुलसीदास भले ही रत्नावली की लक्ष्मी या शारदा-रूपी मूर्ति को लिये घर से निकले हों, परंतु निराला उसकी छलकती आँखों वाली उस सहज नारी मूर्ति को अपने पाठकों के सामने लाना नहीं भूले हैं, जिसकी आँखों के समक्ष उसका संसार लुट रहा हो, और असमर्थ तथा अशक्त वह चुपचाप उसे लुटता हुआ देखने के अतिरिक्त और कुछ न कर सकती हो। वस्तुतः यह वह स्थल था, जहाँ इसके अतिरिक्त और कोई स्थिति संभव ही नहीं थी कि वे रत्नावली की मानवीय मूर्ति को अपनी समूची संवेदना तथा सहज करुणा के साथ सामने ला देते—

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना
कवि ने निज मन भाव में गुना
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की
देखा सामने मूर्ति छलछल
नयनों में छलक रही अचपल
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की।

रत्नावली के चरित्र की यह मानवीय भूमिका प्रत्येक दृष्टि से स्वाभाविक है। इस प्रकार कविता की समाप्ति जहाँ एक महत्तर सुख तथा आनंद की व्यंजक है, वहाँ एक अवसाद से भी पाठक के मन को भर देती है। आनंद तथा अवसाद की मिली-जुली भूमिका में कविता का अंत, पुनः निराला की धनी तथा समर्थ कवि प्रतिभा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

तुलसीदास तथा रत्नावली के चरित्रों की जो भी छवियाँ कृति में उपलब्ध होती हैं, उनके माध्यम से कवि के अपने जीवन की ओर भी कुछ झाँका जा सकता है। तुलसीदास के प्रति कवि की आस्था इस कारण रही है कि वे हिंदी भाषी जनता की जातीय परंपरा के सबसे बड़े अनुगायक रहे हैं और निराला के कवि ने उनसे

३२
तुलसीदास

डॉ० शिवकुमार मिश्र

निराला के व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत करते हुए 'निराला' शीर्षक अपनी पुस्तक में डा० रामविलास शर्मा ने एक स्थान पर लिखा है—

"कविता लिखने का परिश्रम उनके मुंह पर साफ झलक उठता है। नारियल वाली गली में 'तुलसीदास' लिखते हुए मैंने उन्हें देखा है। आठ-नौ बजे तक हीविट रोड के 'पैरागान रेस्तरां' से चाय पीकर वह लौट आते थे। नीचे के कमरे में तीन-चार घण्टे तक वे 'मांगल दल-बल के जलदयान' से युद्ध करते थे। बारह-एक बजे अपने प्रयास के फलस्वरूप एक-दो पन्ने लिए हुए जब ऊपर आते थे, तब मालूम होता था, कोई मजदूर छः घण्टे भट्टी के पास तपकर बाहर आया है। उनके चेहरे पर एक तनाव-सा होता था, और आँखों में थकन के साथ, संतोष की झलक भी।"

रचनाकार के रूप में निराला की इस दायित्व-चेतना का सम्बन्ध केवल उनकी 'तुलसीदास' कृति से नहीं है, वस्तुतः उनका समूचा काव्य-निर्माण इस तथ्य का साक्षी है कि 'कविताई' को उन्होंने शौकिया ग्रहण न किया था; कविता 'बहुजीवन की छवि' अंकित करने की आकांक्षा वाले उनके कवि-मन की भीतरी तहों से उपजी थी। उनकी अनेक कविताएँ, और उन कविताओं के माध्यम से सामने आने वाला उनका समूचा जीवन-संघर्ष इस बात का प्रमाण है, कि अपने कवि तथा अपनी काव्य-चेतना को जीवित रखने के लिए, उसे निरन्तर अनुभवों की सान पर चढ़ाए रखने के लिये, उन्होंने क्या-कुछ नहीं किया, रचना-प्रक्रिया की किन पगडंडियों से नहीं गुजरे, और उसके लिए कौनसा मूल्य नहीं चुकाया? आत्म-संघर्ष तथा बाह्य साक्षात्कार की वे कौन-सी भूमिकाएँ हैं, जो निराला की कविता में पारदर्शी सफाई के साथ नहीं आ सकी हैं? संघर्षशील कवि-जीवन के इस समूचे दौर में अन्ततः उनकी लेखनी ने कविता के रूप में हिन्दी को जो कुछ दिया 'तुलसीदास' उसी का एक जीवंत कीर्ति-मान है। उनकी इस उपलब्धि का सम्बन्ध केवल छायावादी कविता से ही नहीं, आधुनिक युग की संपूर्ण कविता के बीच, विभिन्न कवियों की अनथक काव्य-साधना के परिणाम-

कविता अपनी यात्रा की महत्त्वपूर्ण मंजिलें तय करती हुई, लगभग अपने गंतव्य तक पहुँच गई थी। इसके बाद ही युग के संदर्भ कुछ नये प्रकार की काव्यभूमियों को सामने लाते हैं, और निराला खुद आगे बढ़कर इस नई लहर का स्वागत करते हैं। परंतु 'तुलसीदास' कृति इस बात की भी सूचना देती है, जैसे नई भावभूमियों में अग्रसर होने वाले कवि के भावजगत में अभी वैसी ही समग्रता तथा एकतानता हो, जैसी उस समय थी, जब छायावाद के कवि के रूप में उसका संपूर्ण ऐश्वर्य काल था। 'तुलसीदास' छायावादी कविता को निराला का एक महत्त्वपूर्ण प्रदेय है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'कामायनी' प्रसाद का। छः सौ पंक्तियों की यह कविता भावना के एक उच्चस्तरीय धरातल को आद्यंत स्पर्श करे, और पाठक को भी उस पर आद्यंत स्थिर रखे, इससे बड़ी सफलता और क्या हो सकती है ? भावना तथा चिंतन के बीच, हृदय तत्त्व तथा बुद्धि-तत्त्व के बीच, काव्य तथा दर्शन के बीच वैसा समाहार निराला की इससे पहले की कविताओं में देख पड़ता है, वही यहाँ भी है। दर्शन कहीं भी काव्य के सिर पर प्रतिष्ठापित नहीं हो सका और भावना प्रवणता कहीं भी उस हल्की भावुकता के स्तर पर नहीं उतरी कि वैचारिक तत्त्व को सहज आत्मसात् कर ले। भावना तथा बुद्धि का यह समदिक् धरातल ही है, जो इस कविता को आद्यंत एक मर्यादा दिए हुए है। यह सत्य है कि कविता के भीतर अनेक छंद ऐसे हैं, जहाँ कविता दुर्बोध प्रतीत होने लगी है, अर्थ के स्तर कठिनता से खुलते हैं, परंतु उलझाव यहाँ भी नहीं है। यह दुरूहता या दुर्बोधता वैसी ही है, जैसी निराला के 'कौन तम के पार रे कह' या 'पास ही रे हीरे की खान' जैसे गीतों में पाई जाती है। कवि ने भरसक प्रयत्न यही किया है कि दार्शनिक बातों को भी काव्य की भाषा में, रूपकों तथा चित्रों के माध्यम से कहे। फिर निराला जैसे एक साथ भावनाप्रवण तथा चिंतनशील कवि की कविता में थोड़ी बहुत दुर्बोधता मानकर भी चलना चाहिए। ऐसी भूमिका निराला के काव्य के प्रत्येक दौर में कुछ न कुछ रही है, इसका संबंध खास 'तुलसीदास' से ही नहीं है। उनकी कविता अर्थ-संकुल है, और सदा ही रही है। डा० रामविलास शर्मा को पुनः उद्धृत किया जाय तो कहना पड़ेगा कि—"निराला की कविता सहज सुबेध नहीं है। इसका कारण भाषा की क्लिष्टता नहीं है, भाव की गहराई, व्यंजना का बाँकपन, शब्दों की ध्वनि और छंद की लय का अनूठापन भी इसका कारण है। थोड़ा परिश्रम करने पर जैसे मिल्टन के उदात्त-काव्य का रस मिलने पर उसके आगे अन्य कवियों की रचना फीकी लगती है, वैसे ही निराला-काव्य का एक बार रस मिलने पर दूसरे कवि कम अच्छे लगेंगे। काव्य की परख जितनी निखरेगी, उतना ही दिन-प्रतिदिन निराला का काव्य आपको अधिक रुचेगा।"

कल्पना के सहज स्वाभाविक उत्कर्ष से लेकर उसकी उदात्त भूमियों तक

या खण्ड-काव्य नहीं बना देती, मुख्य प्रश्न कृति के भीतर उस आख्यान की नियोजना, उसके निर्वाह, रचना के केन्द्रीय संवेदन और अन्ततः कविता द्वारा उत्पन्न समूचे प्रभाव का है। 'आँसू' में एक हल्का आख्यान है अवश्य, परन्तु उसकी सारी निर्मिति प्रगीत की निर्मिति है। उस काव्य में आद्यन्त घनीभूत पीड़ा का ही विस्तार और क्रमशः उसकी उदात्तीकृत स्थितियाँ ही हैं, जो एक हल्की कथा का आभास देती हुई भी, अंततः कवि के आंतरिक आवेग को ही मूर्त करती है, प्रगीत की-सी भाव-संवेदना की सूचना देती हुई, वैसा ही प्रभाव छोड़ती है। 'प्रलय की छाया' में इतिहास है, रानी कमलावती की कथा है, परन्तु कवि का लक्ष्य न तो उस इतिहास का वर्णन करना रहा है, और न कमलावती के जीवन-वृत्त का। वह कविता केवल एक नाटकीय परिवेश में रानी कमलावती नामक एक रूपगर्विता नारी के मानसिक उद्वेलन को ही प्रगीत की संपूर्ण कसावट तथा भाव-संहिति के साथ प्रस्तुत करती है। ग्राहक कविता के माध्यम से रानी कमलावती के जीवन-वृत्त तथा इतिहास के विवरणों की अपेक्षा उसकी मनोव्यथा का, एक रूप गर्विता के अन्तरंग सत्य का, भावनाओं के घात-प्रतिघात का ही चित्र प्राप्त कर पाती है, और अन्त में यही प्रभाव स्थायी रूप से उसके मानस का अङ्ग बनता है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' भी इसी प्रकार राम-रावण के समर की पृष्ठभूमि में राम के मानसिक द्वन्द्व, उनके भीतर की तीखी कशमकश, और उस कशमकश से उबरने की उनकी आकुलता को ही चित्रित करती है, और यही बात 'सरोज-स्मृति' के लिए सत्य है, जिसे समीक्षकों ने हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट शोक-प्रगीत की संज्ञा दी है। अतएव, आख्यानमात्र के आधार पर इस सम्बन्ध में कोई निर्णय कभी भी असंदिग्ध नहीं हो सकता। आख्यान की स्थिति अपनी जगह है, परन्तु यदि वह इतनी प्रगल्भ नहीं, जैसी प्रबन्ध-काव्य या खण्ड-काव्य में होना चाहिए, और यदि उसके माध्यम से कवि का लक्ष्य किसी अंतरङ्ग सत्य को ही सामने रखना रहा है, तो फिर उसे प्रबन्ध या खण्ड-काव्य कहा ही कैसे जा सकता है? 'तुलसीदास' निराला की ऐसी ही कृति है, जो बावजूद इतिहास के तत्कालीन संदर्भों के, बावजूद तुलसीदास के जीवन के एक विशिष्ट प्रसङ्ग के, अंततः तुलसीदास के मानसिक उद्वेलन से ही, जीवन की स्थूल भूमिका से सूक्ष्म मनोजगत की ओर उनके प्रस्थान से ही संबद्ध है। तुलसीदास के बाहरी जीवनप्रसंगों से अधिक यहाँ उनकी मनोभूमि ही प्रत्यक्ष हुई है, बाह्य संघर्ष की अपेक्षा यहाँ उनके आत्म-संघर्ष और आंतरिक संघर्ष की भूमिकाएं ही मुखर हैं। इतिहास तथा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का जो भी विवरण कृति में है, सिवा इसके कि वह कृति को इतिहास की गरिमा अथवा एक सांस्कृतिक पीठिका दे, अलग से उसकी कोई ऐसी सक्रिय भूमिका नहीं है कि वह कृति को अनायास प्रगीत की गुंफित भावभूमि से निकालकर आख्यानक काव्य की इतिवृत्तात्मक भूमि में खींच लाए—जैसा कि द्विवेदी युगीन बहुत से आख्यानक काव्यों में। तुलसीदास

केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि तारा-हर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर-रेखा ।।

रत्नावली और तुलसीदास का रात्रि में एकांत मिलन और उनके मन की विपरीत स्थितियाँ, सारा वातावरण निस्तब्ध है, जैसे तूफान के पहले का क्षण हो—

कुछ काल रहा यों स्तब्ध भवन
ज्यों आँधी के उठने का क्षण ।

तुलसीदास के संस्कारों का जगना और रत्नावली की नई मूर्ति के दर्शन, इन स्थलों पर भी कल्पना का औदात्य और भाषा का सहज वेग द्रष्टव्य है—

जागा जागा संस्कार प्रबल
रे गया काम तत्क्षण वह जल
देखा वामा वह न थी, अनल-प्रतिमा वह:
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान
हो गया भस्म वह प्रथम भान
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह ।।

और अन्ततः रत्नावली की यह छवि, जिसे केवल निराला की कल्पना ही सामने ला सकती थी—

देखा शारदा नील-वसना
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना
जीवन-समीर शुचि-निःश्वसना, वरदात्री
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटीं तर अमृताक्षर-निर्झर
यह विश्व-हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री ।।

कल्पना की ये विविध स्तरीय छवियाँ भी हैं, जो अन्य तत्त्वों के साथ-साथ कृति को महाकाव्यात्मक ऊँचाई तक पहुँचाती हैं। विषय के प्रारम्भ से लेकर उसके समूचे प्रसार तक यह महाकाव्यीय उठान अनेक स्थलों पर पाठक को आकृष्ट करता है। निराला की कल्पना की यह स्थिति केवल कृति के रूपविधान तक ही सीमित नहीं रही है। कृति की आंतरिक बुनावट में भी कल्पना की पूरी सक्रियता विद्यमान है। वस्तुतः भावजगत के अनेक अगम स्थानों तक निराला अपनी कल्पना-प्रेरित अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ही पहुँचे हैं। प्रकृति की मनोव्यथा के जो भी वर्णन कृति में उपलब्ध हैं, उससे निराला की कल्पना ही साक्षात्कार कर सकती थी। यह वर्णन भी कृति का एक विशिष्ट अंश है, वह अंश जो तुलसीदास को अगली महत्तर भूमिकाओं

तीय जीवन के जल में कुछ हिलोरें अवश्य हैं परन्तु संस्कृति का प्रतीक कमल प्राण-हीन, निस्पन्द है। शताब्दियों की संध्या बादलों की तरह भवें टेढ़ी किए हुए भारतीय आकाश पर छाई हुई हैं। पंजाब, कोशल, विहार, सब वारी-वारी से इस जलद-जाल के कारण छाए हुए अन्धकार में घिर गये हैं। 'मोगल दल-बल के जलद-यान' आक्रमण की मूसलधार वृष्टि कर रहे हैं। आकाश से वज्र टूट रहे हैं, और नीचे जल का भयंकर प्रवाह है। बुंदेलखण्ड, कालिंजर आदि का भी प्राचीन वैभव नष्ट हो चुका है, जो सही अर्थों में राजपूत वीर थे, वे सब मुसलमानों से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके हैं। राजाओं के रूप में जो कुछ शेष बचे हैं, वे सूत और वन्दीगणों से अधिक कुछ नहीं हैं। सम्पूर्ण जन और जनपद इसलाम कलाओं से आच्छादित हो उठे हैं। जातीय जीवन की सरिताएँ एक नये संस्कृति-सागर की ओर प्रवाहित हो उठती हैं। भारतीय संस्कृति का सूर्य तो अस्त हो चुका, अब इसलामी सभ्यता का चन्द्र आकाश में उदित हुआ है, और उसकी किरणें पृथ्वी को चूम रही हैं। चारों ओर शांति है। प्रत्येक मनुष्य विलास-सुख में मग्न है सारा देश मग्न हो चुका है। नदी का जल 'छल-छल' शब्द करते हुए लोगों को सावधान करता है, परन्तु विलास-जर्जर व्यक्ति उसमें 'कलकल' की ध्वनि ही सुन रहे हैं। वस्तुस्थिति के इस संक्षिप्त चित्रण के पश्चात् तुलसीदास की जन्मभूमि 'राजापुर' का वर्णन है। अगले छन्द में तुलसीदास की बलिष्ठ देह, आयत दृग तथा चेतन मस्तिष्क का उल्लेख है। काव्य-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में पारंगत होकर वे जीवन की भूमिका में प्रविष्ट होते हैं। एक दिन वे मित्रों के साथ चित्रकूट जाते हैं। वहाँ की प्राकृतिक सुषमा उनके मन में एक नया प्रकाश भरती है। वे प्रकृति की भाषा को पढ़ने का यत्न करते हैं, और वह भाषा जितनी भी उनकी समझ में आती है, उन्हें विस्मित कर देती है। प्रकृति तुलसीदास से अपने दुःख की गाथा कहती है। उन्हें अनुभव होता है कि जनमन के संस्कारों की यह पृथ्वी किस प्रकार असुरों के चरणों से आहत हो उठी है। वह उन्हें प्रेरित करती है कि वे ऐसे त्याग से पूरित, ऊर्ध्व ध्यान से युक्त गीत गावें कि पृथ्वी का उसी प्रकार उद्धार हो सके जिस प्रकार राम ने अपने चरण के स्पर्श से जड़ अहल्या का उद्धार किया था। देश की जड़ प्रकृति को इसी प्रकार चेतन किया जा सकता है। इसलामी संस्कृति के आगमन के साथ ही देश इस प्रकार विलास-जर्जर हो गया है कि कामदेव के बाणों से झरती हुई केसर पृथ्वी और आकाश भर में छाई हुई है। वस्तुतः चारों ओर सुप्ति का साम्राज्य है, परन्तु माया के आवरण में बँधे प्राणी उसी को जागरण समझ रहे हैं।

यह संदेश तुलसीदास को एक नया बोध देता है। उनकी चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है। उनका मन रूपी पक्षी आकाश में उड़ चलता है। रंग पर रंग पार करते हुए वह ऐसी ऊर्ध्व स्थिति पर पहुँचता है, जहाँ से उसे तत्कालीन भारत का सही चित्र दिखाई पड़ता है। तुलसीदास देखते हैं—एक ऐसे भारत को जिसे ह्रासशील

भी निराला के भाषा-सामर्थ्य का ही प्रमाण है। 'तुलसीदास' में तो उनकी भाषा विशेष कसी हुई, शब्द-चयन विशेष पाण्डित्य का सूचक और पदावली की सामासिकता कुछ आयास साध्य तक मालूम देती है। बहुत से शब्द तो अप्रचलित भी हैं, जो कदाचित् निराला की कविता में क्या, समूची हिन्दी कविता में ढूंढ़े से भी न मिलेंगे—कुरल, अक्लम, चयनोत्कल, स्वप्नोत्पल, घूर्ण्य, निष्प्रश्रय, शब्दोच्छल, तमजिज्जीवन, मर्षण-मनु आदि आदि शब्द प्रायः ऐसे ही हैं। इस प्रकार की भारी भरकम, संस्कृत-गर्भित, तत्सम और आद्यंत समास-बद्ध पदावली का सम्पूर्ण कविता में निर्वाह कर सकना विशेष पाण्डित्य, कौशल तथा क्षमता की अपेक्षा रखता है, और इसमें कोई संदेह नहीं कि निराला जी ने इस क्षमता का असाधारण रूप से परिचय भी दिया है। वैविध्य की दृष्टि से यह कृति निराला की भाषा के एक विशिष्ट स्तर को सामने लाती हुई भी वह निराला की लेखनी से स्वतः प्रसूत भाषा नहीं है, कम से कम अधिकांश स्थलों पर। पीछे के उदाहरणों में निराला की भाषा के इस रूप को देखा जा सकता है।

निराला का छंद-निर्माण यों भी कुछ विशिष्ट रहता है, परन्तु 'तुलसीदास' का छन्द तो विशेष कठिन प्रकार का छन्द है। इस प्रकार के छन्द का सफलता पूर्वक निर्वाह उनकी क्षमता के एक अन्य आयाम को सामने लाता है। कदाचित् यह विशिष्ट छन्द ही है, जो इतनी कसी हुई समासगर्भ भाषा के बोझ को पूरी सफलता के साथ ढो सका है, और एक विशेष प्रकार के ओज की आद्यंत रक्षा कर सका है। आचार्य वाजपेयी ने 'तुलसीदास' कृति के छन्द-विधान पर अपना मत देते हुए लिखा है—"इसका छन्द-चयन शक्ति पूजा से भी अधिक सुदीर्घ है। 'राम की शक्ति पूजा' के कथानक की एक विकास-रेखा भी मिलती है, परन्तु 'तुलसीदास' एक बिंदु पर संस्थित है, और वह बिंदु है तुलसीदास के आत्म-चिन्तन का।" इस आत्म-चिन्तन के लिये ही जैसे निराला को इस विशिष्ट छन्द का आविष्कार करना पड़ा हो। समग्रतः 'तुलसीदास' कृति की गरिमा का एक पक्ष उसका यह छन्द प्रयोग भी सूचित करता है।

इस प्रकार 'तुलसीदास' कृति निराला की कवि-प्रतिभा तथा उनके शिल्प सामर्थ्य का एक अन्य जीवित प्रमाण है। व्यक्ति विशेष के जीवन के मार्मिक घटना प्रसंगों को लेकर हिन्दी में बहुत से काव्य लिखे गये हैं, परन्तु भावना का जो उन्मुक्त धरातल, चिंतन की जो उच्चतर भूमिका, कल्पना का जो औदात्य, साथ ही जो सहजता, इतिहास तथा मनोविज्ञान का जो साहचर्यपूर्ण उपयोग, अभिव्यंजना का जो सौष्ठव, पाण्डित्य तथा प्रौढ़ता इस कृति में उपलब्ध होती है, वह किसी दूसरी कृति में नहीं। सौ छन्दों के भीतर भावना, कल्पना, चिंतन तथा अभिव्यक्ति का इतना महत् संभार निराला ही प्रस्तुत कर सकते थे। यह हिन्दी के एक महान् जातीय कवि को, उस जातीय परम्परा पर गर्व करने वाले आधुनिक युग के एक अन्य कवि के द्वारा दी गई सब से महान् श्रद्धांजलि है।

के अंग जल उठते हैं, पर वह मौन धारण कर लेती है, और ज्वाला को भीतर ही छिपाये रहती है। ईश्वर से मन ही मन प्रार्थना करती है कि वे उसकी लज्जा तथा मर्यादा की रक्षा करें। सारे भवन में इस प्रकार शांति व्याप्त थी, जैसे तूफान के पहले का क्षण हो। रात में रत्नावली का तुलसीदास से एकांत मिलन होता है, परन्तु तुलसीदास रत्नावली से जिस स्वाभाविक व्यवहार की आशा किये हुए थे, रत्नावली के हृदय का ज्वार उलटा बह रहा था। मेघमाला के समान केशों वाली रत्नावली को देखते ही तुलसीदास का मन-मयूर उन्मुक्त होकर नाच उठा। परन्तु रत्नावली की स्थिति भिन्न थी। वह साक्षात् योगिनी के समान थी, जिसकी अलकें छूटी हुई थीं, और पलकें एकटक तुलसीदास की ओर लगी हुई। तुलसीदास को लक्ष्य कर उसके हृदय की ज्वाला फूट पड़ती है। तुम्हें धिक्कार है कि तुम इस प्रकार यहाँ बिना-बुलाए हुए दौड़े चले आए। तुम्हें कुलधर्म, मर्यादा का भी ध्यान न रहा। तुम राम के नहीं काम के भूत हो। जिस सौन्दर्य के पीछे पागल होकर तुम यहाँ तक दौड़े, वह हाड़ और चाम के अतिरिक्त और क्या है ? रत्नावली के शब्द तुलसीदास के अंतर को वेध देते हैं। उनके संस्कार जाग उठते हैं। काम-भावना जल कर राख हो जाती है। वे देखते हैं—सामने रत्नावली न होकर जैसे अग्नि की जीवित प्रतिमा खड़ी हो। विश्व रूपी हंस पर स्थित वह साक्षात् सरस्वती हो। रत्नावली की यह छवि तुलसीदास के मन को पुनः ऊर्ध्वमुखी करती है। वह ऊपर—और ऊपर उठता जाता है। आकाश में एक नई तारिका चमकती है, और रत्नावली का स्वरस्वती रूप उसी में लीन हो जाता है। तुलसीदास के मन का द्वन्द्व मिट जाता है। सारे बंधन कट जाते हैं। जब उन्हें पुनः आत्म-बोध होता है, तो वे बाहर चलने को प्रस्तुत हो उठते हैं। सारा वातावरण नए-नए भावों तथा नए-नए शब्दों से पूर्ण हो उठता है। ऋषिगण प्रसन्न हो उठते हैं। अज्ञान का अंधकार समाप्त होता है। पूर्वांचल में ज्योति का प्रपात झरने लगता है। तुलसीदास की चेतना भारत की महिमा से भर उठती है। वे जान लेते हैं कि अब एक बार पुनः जड़ और चेतन का युद्ध होगा। एक ओर भारती होगी और दूसरी ओर माया के छल-प्रपंच। परन्तु कवि जाग उठा है। उसके कंठ से सरस्वती फूटेगी। उसकी तान के आगे अन्य सारी रागनियाँ सो जाएँगी। विश्व-कवि से नया गीत प्राप्त करेगा। अचानक कवि की दृष्टि सामने की ओर उठती है, और वह देखता है कि छलछलाई आँखें लिये सामने पत्नी खड़ी है। अंतिम वाक्य जो तुलसीदास उससे कहते हैं, वह यही था कि तुमने मुझे जो प्रकाश दिया है, उसके बाद घर में बैठने का लेशमात्र भी अवकाश मुझे नहीं है। मैंने जीवन का नया व्रत ले लिया है, अब इधर फिर कर मैं कभी न देखूँगा। वह बाहर आता है। हृदय में रत्नावली की वही परिचित मूर्ति थी। परन्तु यह मूर्ति अब उसके लिये समस्त विश्व का आश्रय बनी हुई थी। वह सुख के जल में तिरती हुई कमला के सदृश्य थी वह उसे

धित करता हुआ कहता है—हे चित्तौड़ ! तू प्रत्येक हृदय में साहस और भुजा में बल का संचार कर दे। फिर प्रश्न करता है—

वीर रक्त से तू पवित्र है,
तू मेरे बल का साधन।
बोल-बोल तू एक बार फिर,
कब देगा राणा-सा धन॥

आगे चलकर कवि हल्दीघाटी के सम्बन्ध में कहता है कि यहीं राणा ने पाठ पढ़ाया था कि स्वतंत्रता के लिए मरो।

हल्दीघाटी प्रवन्ध-काव्य लिखने की प्रेरणा कवि को समसामयिक परिस्थितियों ने प्रदान की। इसका रचनाकाल १९४१ ई० है। इससे पूर्व के कुछ वर्ष भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। राणा प्रताप के समय की राजनैतिक परिस्थितियों और सन् १९४१ के आस-पास के राजनैतिक वातावरण में विलक्षण समानता दृष्टिगोचर होती है। उधर मुगल सम्राट् अकबर इस देश पर अपने शासन को स्थायी और सुदृढ़ बनाने की चिन्ता में था, इधर अंग्रेज चाहते थे कि किसी प्रकार भारत भूमि पर उनका अधिकार सदा के लिए बना रहे। अकबर ने दूरदर्शी दृष्टि से देख लिया था कि यदि उसे और उसके वंशजों को भारत-भूमि पर राज करना है तो राजपूत राजाओं की मित्रता प्राप्त करनी होगी। अतः उसने कूटनीति को ग्रहण कर अनेक राजाओं को अपने साथ मिला लिया। राणा प्रताप अकबर की इस छद्म-चाल को विफल बनाने का प्रयत्न करता है। वह अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहता है। यही संघर्ष का कारण है। इधर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वालों के लिए राणा प्रताप का चरित स्वतंत्रता-संग्राम में कूदने की प्रेरणा, इस संग्राम में डटे रहने का साहस तथा बल और विपत्तियों-कष्टों को सहने का धैर्य प्रदान कर सकेगा, इसीलिए कवि ने इसकी रचना की है।

कथावस्तु :—'हल्दीघाटी' की कथा इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी का रोमांचकारी युद्ध है जो २१ जून, १५७६ में हल्दीघाटी के प्रांगण में सम्पन्न हुआ। कवि ने इतिहास द्वारा प्रस्तुत इस युद्ध के रेखाचित्र को ग्रहण कियां है। इतिहास इसके अतिरिक्त दे भी क्या सकता है ? इसके अनन्तर कवि ने दो अन्य साधनों का आश्रय लिया है—किंवदन्ती और कल्पना। किंवदन्ती के आधार पर कवि ने कथानक के ताने-बाने को फैलाया है और वास्तविक प्राण उसने अपनी कल्पना के माध्यम से ही भरे हैं। यों ऐतिहासिक कथावस्तु में कल्पना का वृत्त बड़ा सीमित रहता है।

इस प्रवन्ध-काव्य में घटनाएँ राणा प्रताप के जीवन से सम्बद्ध हैं। यों अकबर के जीवन-चरित्र की भी कुछ घटनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, पर उनका सम्बन्ध भी राणा के जीवन से दिखाया गया है। इस रचना का नाम 'हल्दीघाटी' कहाँ तक समीचीन है,

प्रभाव बनाए रखने की कोशिश की है, और यह प्रभावान्विति—जो प्रगीत की सबसे बड़ी सचाई है—कहीं भी खण्डित नहीं होने पाई है। समूची कविता पढ़ने के उपरांत पाठक के मन में जो प्रभाव पड़ता है वह तुलसीदास के मानसिक द्वन्द्व तथा उस द्वन्द्व से मुक्त कवि के नये रूप का ही है। अंधकार से निकलकर प्रकाश में आने का है।

कथा नाम से जो भी इस कविता में है, उसके दो प्रमुख स्रोत हैं—एक इतिहास तथा दूसरा लोक में प्रचलित तुलसीदास के जीवन से संबद्ध घटना। इतिहास का जो भी विवरण कविता में है, वह महज पृष्ठभूमि है—वह पृष्ठभूमि जिस के संदर्भ में ही तुलसीदास के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की महत्ता स्पष्ट होती है। मध्य-कालीन सांस्कृतिक ह्रास तथा सामाजिक अध:पतन, वर्ण-व्यवस्था की विश्रृंखलता, शूद्र वर्गों की स्थिति, द्विजों की स्वेच्छाचारिता, मुसलमानी सेनाओं का औद्धत्य आदि बातें इतिहासानुमोदित हैं। तुलसीदास के युगांतरकारी व्यक्तित्व तथा कृतित्व की सार्थकता तत्कालीन इतिहास के संदर्भ में इसी बात में तो है कि उन्होंने ह्रासशील भारतीय सामाजिक जीवन को राम के मर्यादा पुरुषोत्तम चरित्र के आलोक में एक संतुलन देने का उपक्रम किया, और उसमें समर्थ हुए। यहाँ निराला ने न केवल इतिहास के प्रति अपनी निष्ठा सूचित की है, अपनी उस यथार्थपरक अभिरुचि को भी सामने रखा है जो आगे चलकर उनकी कविताओं—विशेषकर गद्य-कृतियों में अपनी सारी सजीवता से मूर्त हुई है। जाहिर है कि वर्णाश्रम व्यवस्था के विघटन का जो चित्र कृति में निराला ने प्रस्तुत किया है, उसे वर्णाश्रम व्यवस्था के कतिपय विशिष्ट समर्थक पसंद न करेंगे—विशेषकर शूद्र वर्गों के प्रति तुलसीदास, प्रकारांतर से निराला की अकृत्रिम सहानुभूति तो कतई प्रिय न लगेगी, परंतु यहाँ निराला ने तुलसीदास के चरित्र को उसकी सही भूमिका में प्रस्तुत किया है, इतिहास की रक्षा तो की ही है। शूद्रों की दयनीय स्थिति के विवरण में उन्होंने कृति में तीन छंद दिए हैं, जो इस विषय में उनकी अपनी संवेदना भूमियों का भी परिचय देते हैं। 'देवी', 'चतुरी चमार' तथा 'कुल्लीभाट' के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि निराला में शूद्र कहे जाने वाले वर्ग के प्रति कितनी आत्मीयता थी। यह उनका वह मानवतावाद है, जो वर्ण-व्यवस्था की कृत्रिम सीमाओं को तोड़ता हुआ पीड़ित, उपेक्षित तथा दरिद्र को कवि की निश्छल संवेदना का अधिकारी बनाता है। तुलसीदास का जो चित्र उनके मानस में था उसके प्रति उनके लगाव के अनेक कारणों में तुलसी की उपेक्षित जन सामान्य के प्रति यह करुणा भावना भी थी। 'प्रबंध पद्म' पुस्तक के अपने एक निबंध में भी निराला ने उच्चवर्गों द्वारा शूद्रों पर किए जाने वाले अत्याचारों का विरोध किया है। रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द से उन्होंने जो भी ग्रहण किया उसमें इन साधकों का यह उदार मानवतावाद भी है, यद्यपि उसमें युग के जो अन्य

अनुपस्थित पाया तो वह समझ गया। क्रुद्ध होकर अकबर की सैन्य-शक्ति और पराक्रम की डींगें हाँकी। पर राणा पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने मानसिंह को धिक्कारा और उसकी चुनौती को स्वीकार कर लिया। मानसिंह अकबर के पास जाकर रोया-चिल्लाया। अकबर को अपने अखण्ड राज्य के बीच में काँटे-स्वरूप चुभने वाले राणा को उखाड़ फेंकने का बहाना मिला। युद्ध की तैयारी होने लगी। राणा भी युद्ध की तैयारी करके हल्दीघाटी की पहाड़ियों में छिपकर मानसिंह की प्रतीक्षा करने लगा। उन्हीं पहाड़ियों में घूमते हुए मानसिंह को एक दिन भीलों ने बन्दी बना लिया। तब राणा ने उसे छुड़वाया। सावन महीने के एक दिन प्रातः ही युद्ध छिड़ गया। राणा की सेना मुगल सेना से भिड़ गई। मानसिंह की सेना को चीरता हुआ प्रताप उसके हाथी तक जा पहुँचा। उसे मुगल सैनिकों ने घेर लिया। तभी झाला-मान्ना की दृष्टि उधर पड़ी। उसने राणा का मुकुट अपने सिर पर रखकर राणा को वहाँ से निकल जाने के लिए कहा। घायल चेतक राणा को ले उड़ा। राणा के पीछे दो मुगल सैनिक घोड़े दौड़ाये जा रहे थे। राणा के पराक्रम का अलौकिक चमत्कार देखकर शक्तसिंह में भाई-प्रेम प्रकट हुआ। उसने राणा का पीछा करने वाले मुगलों को मारकर राणा के चरणों में प्रणाम किया और अपना घोड़ा देकर राणा को बचने का अवसर दिया।

राणा पर्वतों की गुहाओं में अपने परिवार को लेकर रहने लगा। खाने-पीने को कुछ शेष नहीं रहा था। घास की रोटी तक कभी-कभी दुर्लभ हो जाती थी। राणा की कन्या की रोटी बिलाव छीनकर ले गया तो राणा उसके रुदन से विचलित हो अकबर को पत्र लिखने की सोचने लगा। तब महारानी ने राणा को समझाया, सन्देश भेजने से रोका। तब राणा मेवाड़ के पहाड़ों से दूर जाने की सोचने लगा, पर ऐसा नहीं हुआ। भामा ने आकर अपना बहुत-सा धन राणा के चरणों पर चढ़ा कर कहा कि सेना तैयार करें। राणा ने देवीर और कुम्भलगढ़ जीत लिये और तब इस संसार से विदा ली। अतः वस्तु के क्रमिक विकास से स्पष्ट है कि कवि ने प्रासंगिक कथायें प्रायः नहीं आने दीं। मूल कथा की ओर ही उसका ध्यान लगा रहा है। यों मीना बाजार की घटना अनावश्यक कही जा सकती है, पर मूल कथा से उसका बिलकुल सम्बन्ध न हो, ऐसी बात नहीं है। अकबर प्रतिनायक है, अतः उसकी गतिविधियों का चित्रण अपेक्षित ही था। इसके साथ ही कवि ने कौशल से उस घटना का मुख्य घटना से यह कहकर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि घटना से राणा का अकबर के विरुद्ध रोष बढ़ा। कथानक में रोचकता बराबर बनी रहती है।

मौलिक उद्भावनाएँ और इतिहास :—कवि ने इस काव्य में अनेक नवीन उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं तथा अनेक इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को नवीन ढंग से चित्रित किया है। इससे कवि की प्रौढ़ कल्पना प्रकट होती है। सर्वप्रथम कवि ने

बहती उलटी ही आज रुधिर धारा वह
लख-लख प्रियतम मुख पूर्ण इन्दु
लहराया जो उर मधुर सिन्धु,
विपरीत ज्वार, जल-बिंदु-बिंदु द्वारा वह।
अस्तु रे, विवश, मारुत-प्रेरित
पर्वत-समीप आकर ज्यों स्थित
घन नीलालका दामिनी जित ललना वह,
उन्मुक्त-गुच्छ चक्रांक-पुच्छ
लख, नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह !

इसी प्रकार तुलसी के मानस में चलने वाले द्वन्द्व के चित्र भी सजीव होकर कृति में उभरे हैं—

उस ऊँचे नभ का गुंजन पर
मंजुल जीवन का मन-मधुकर
खुलती उस दृग छवि में बँधकर, सौरभ को
बैठा ही था सुख से क्षण भर,
मुंद गए पलों के दल मृदुतर,
रह गया उसी उर के भीतर, असम हो॥

नये बोध की भूमिका के बीच तुलसीदास का जो चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है, वह भी उसकी समर्थ प्रतिभा का परिचायक है—

थे मुंदे नयन, ज्ञानोन्मीलित
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित,
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय
जिस कलिका में कवि रहा बन्द
वह आज उसी में खुली मन्द
भारती रूप में सुरभि-छंद निस्प्रश्रय।

प्रगीत की निर्मिति के भीतर भी लघु आख्यान की जो भूमिका कृति में है, वह दो चरित्रों को भी उनके संपूर्ण अन्तर्मथन के साथ सामने लाती है। प्रमुख चरित्र तुलसीदास का है, जिसे प्रकाश में लाता है, रत्नावली का चरित्र। जैसा हम कह चुके हैं, तुलसीदास के चरित्र की मूल रेखाएँ इतिहास तथा लोकमत की संगति में ही उभारी गई हैं, परन्तु उन रेखाओं के भीतर रंग कवि की अपनी कल्पना ने भरे हैं। तुलसीदास का चरित्र व्यक्तिगत रूप से भी कवि को विशेष प्रिय रहा है, अतएव कल्पना द्वारा भरे गए रंग भी विशेष [illegible]

परिलक्षित होते हैं। प्रकृति के विभिन्न अंगों का विभिन्न परिस्थितियों में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कहीं तो आलम्बन के रूप में चित्रित है तो कहीं उसका मानवीकरण कर दिया गया है। सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि तथा ऋतुओं में ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त तथा शिशिर का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। प्रकृति के स्वाभाविक रूप की छटा देखिए—

विहँस रही थी प्रकृति हटाकर
मुख से अपना घूंघट पट।
बालक रवि को ले गोदी में
धीरे से बदली करवट॥

कहीं रवि-किरणें रज के कन-कन पर फैल रही हैं, कहीं उनके चुम्बन-स्पर्श से कमल खिल रहे हैं, तो कहीं रवि की स्वर्णिम किरणें मलयानिल के मृदु झोकों से सरोवरों में उठने वाली लहरियों पर चमक रही हैं और कहीं रवि अपनी रूप-राशि को स्वयं निहारता है—

देखी रवि ने रूप-राशि निज
ओसों के लघु-दर्पण में।

प्रस्तुत काव्य में सूर्योदय के अनेक सुन्दर दृश्य हैं। एक बड़ा आकर्षक चित्र देखिये—प्राची दिशा का द्वार खोलकर लाल-लाल सूर्य निकला है और उसे देखकर निशा गुफा में जाकर छिप गई है—

धीरे से दिनकर द्वार खोल,
प्राची से निकला लाल-लाल
गह्वर के भीतर छिपी निशा।

जैसे किसी पुरुष के आने पर कोई नारी भीतर जाकर छिप गई हो।

चन्द्रमा की फैली हुई स्निग्ध ज्योत्स्ना का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

चूम लिया शशि ने झुक कर
कोंई के कोमल गालों को
देने लगा रजत हँस-हँस कर
सागर—सरिता—नालों को।

मानवीकरण के उदाहरण तो स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं। कवि ने प्रकृति के साथ इतना गहन रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है कि प्रकृति भी मानव-भावनाओं की अभिव्यक्ति देती है। प्रकृति जड़ हो या चेतन, दोनों रूपों में कवि ने उसमें मानव-व्यापार का दिग्दर्शन कराया है। प्रकृति कवि या पात्र की मानसिक अनुभूतियों और मनःस्थितियों के अनुरूप कभी शोक में डूबती, कभी क्रोध प्रकट करती, कभी उल्लास और आनन्द में मग्न होती दिखाई देती है।

छलका शत-शत कल्मप के छल
बहतीं जो वे रागिनी सकल सोएँगी ।।

रत्नावली का चरित्र भारतीय नारीत्व की गरिमा से ग्रोतप्रोत निराला की लेखनी में ढला एक अविस्मरणीय चरित्र है। दाम्पत्य जीवन में अपने गृहिणी रूप का सर्वथा निर्वाह करती हुई वह अंततः पति को उबारने वाली, उसे महत् भूमिकाओं तक पहुँचाने वाली प्रेरणा बन जाती है। रत्नावली का यह रूप उसे सामान्य भूमिका से ऊपर उठाकर असामान्य भूमिका पर पहुंचा देता है। भारतीय नारी का आत्मसम्मान रत्नावली के चरित्र में अपनी सारी भास्वरता के साथ जीवित है। पति से अनन्य प्रेम करने वाली, अपने सुयोग्य तथा मर्यादावान् पति पर गर्व करने वाली रत्नावली के आत्मसम्मान पर चोट पहुँचती है, जब वह देखती है कि उसका पति अनाहूत उसके दरवाजे पहुंच गया है। लोगों की कानाफूसी, भाभी का व्यंग्य उसके मर्म को वेध देता है। उसके मन में एक भयानक झंझावात उठ खड़ा होता है, और स्थिति का साहसपूर्वक सामना करने के क्रम में अनायास उसकी आँखें प्रभु की ओर उठ जाती हैं। रत्नावली की भीतरी दशा का निराला ने यहाँ मार्मिक चित्र दिया है—

बोली मन में होकर अक्षम
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम !
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का
खींचता छोर यह कौन और
पैठा उनमें जो अधम चौर ?
खुलता अंचल अब नाथ, चीर साड़ी का।

परंतु रत्नावली का साहस और उसका संकल्प उसकी रक्षा करते हैं। अब उसकी वह प्रतिमा सामने आती है— मानों वह कोई योगिनी हो। रत्नावली का यह चित्र केवल निराला ही दे सकते थे—

बिखरी छूटीं शफरी अलकें
निष्पात नयन नीरज पलकें
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता;
निःसंबल केवल ध्यान मग्न,
जागी योगिनी अरूप लग्न
वह खड़ी शीर्ण प्रिय भाव-मग्न निरूपमिता ।।

रत्नावली तुलसीदास को अनल-प्रतिमा के रूप में दिखाई पड़ती है, लक्ष्मी, सरस्वती, पुरुष-पति को उबारने वाली नारी, पत्नी, गुरु! नारी द्वारा पुरुष का उद्धार—बियाट्रिस और दांते, श्रद्धा और मनु के प्रसंगों में भी होता है, परंतु यहाँ नारी पुरुष को उबार [illegible] -क्षेत्र में एक

बढ़ चली तरंगों की असि ले
चण्डी-सी वह मस्तानी थी ।

हेमन्त ऋतु की वायु की तीक्ष्णता हृदय दहला देने वाली है—

निर्धन के फटे पुराने
पट के छिद्रों से आकर
शर सदृश हवा लगती थी,
पाषाण हृदय दहला कर ॥

चरित्र-चित्रण :—हल्दीघाटी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक सफल प्रबन्ध-काव्य है। इसमें प्रमुख चरित्र राणा प्रताप का है, जो शूरवीर, स्वतन्त्रता-प्रेमी, धर्म-रक्षक, दृढ़-प्रतिज्ञ, अपनी आन पर सर्वस्व न्योछावर करने वाला और बान पर स्थिर रहने वाला है। राणा प्रताप के अतिरिक्त शक्तसिंह, मानसिंह और अकबर के चरित्र की रेखायें भी पर्याप्त स्पष्ट और पुष्ट हैं। महारानी, पुरोहित नारायण, भामा, झाला आदि के चरित्र स्पष्ट होते हुए भी अपेक्षित सजीवता लिए हुए नहीं हैं। चरित्र-चित्रण में कवि ने बहुत कुछ स्वयं कहा है। कहीं-कहीं कथोपकथन के माध्यम से चरित्रों को उभारने में सहायता ली है, यथा काव्य के आरम्भ में राणा प्रताप और शक्तसिंह तत्पश्चात् मानसिंह तथा राणा प्रताप के कथोपकथन पात्रों के व्यक्तित्वों को पृथक्-पृथक् खड़ा कर देते हैं।

राणा प्रताप का चरित्र एक आदर्श चरित्र है, फिर भी उसकी सृष्टि अमानवीय पात्र के रूप में नहीं की गई। परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों का उस पर उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि एक सामान्य मानव पर पड़ना चाहिए। पर राणा अपने मानसिक-सन्तुलन, उदार हृदय तथा आत्मिक शक्ति के कारण सामान्य व्यक्ति के स्तर से हर परिस्थिति में ऊपर उठ जाता है। आखेट करने के लिए जब राणा प्रताप, शक्तसिंह तथा अन्य लोग गये तो सिंह पर शक्तसिंह के आक्रमण का कोई प्रभाव होते न देखकर बड़े भाई के नाते राणा तुरन्त कह उठता है कि—

ठहरो-ठहरो कहा सिंह को,
लक्ष्य बनाकर ललकारा।
शक्तसिंह तुम हटो सिंह को
मैंने अब मारा, मारा ।

शक्तसिंह इसे अपना अपमान समझकर प्रताप को युद्ध के लिए ललकारता है। राणा प्रताप कितना भी आदर्श पुरुष क्यों न हो वह मूल रूप से राजपूत है। युद्ध के लिए ललकार सुनकर स्वयं को नियन्त्रण में कैसे रख सकता था? पुरोहित के पवित्र प्राणों का बलिदान देखकर राणा लज्जित होता है। तभी वह क्षमाशील और उदार हृदय बनकर शक्तसिंह से कहता है—

बहुत कुछ सीखा तथा पाया है, परंतु बंगाल की रोमानी काव्य-भूमि से अवध प्रदेश की अपनी धरती में आने वाले इस कवि को तुलसीदास और उनकी कविता— यहाँ तक कि हिन्दी भाषा और उसकी कविता की ओर प्रेरित करने वाली मुख्य शक्ति उनकी पत्नी थीं, यह तथ्य स्वतः निराला की लेखनी के माध्यम से ही सामने आ चुका है। अपनी 'गीतिका' कृति को अपनी प्रियतमा पत्नी की स्मृति में समर्पित करते हुए उन्होंने उसकी इस प्रेरणा को मार्मिक शब्दों में स्वीकार भी किया है—"जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नहीं मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हिंदी-हीन प्रांत में, बिना शिक्षक के, 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद साधना की ओर हिन्दी सीखी थी···जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षणमात्र में मेरी रुक्षता को देखकर मुस्करा देती थी; जिसने अंत में अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृंगार की पूर्ति की, उस सुदक्षिणा, स्वर्गीया प्रिया प्रकृति श्रीमती मनोहरा देवी को सादर।"

ससुराल की ओर प्रस्थान करते हुए तुलसीदास को यदि समूची प्रकृति आनंद तथा उल्लास से पूरित दिखाई पड़ती है, और निराला उनकी इस मनःस्थिति का भावपूर्ण अंकन करते है—

'मग में पिक-कुहरित डाल-डाल
हैं हरित विटप सब सुमन-माल
हिलती लतिकाएं ताल-ताल पर सस्मित;
पड़ता उन पर ज्योतिःप्रपात,
हैं चमक रहे सब कनक-गात,
बहती मधु-धीर समीर ज्ञात, आलिंगित'

तो कौन कह सकता है कि इस समूची स्थिति से स्वतः निराला के अपने व्यक्तिगत अनुभवों का लगाव न हो। रत्नावली की जो गरिमापूर्ण आकृति उन्होंने कृति में प्रस्तुत की है, उसकी अनेक रेखाएँ, कवि की अपनी प्रिया पत्नी मनोहरा देवी का चित्र भी निर्मित करती हैं। तभी रत्नावली का चित्र वे इतनी आत्मीयता से प्रस्तुत कर सके हैं, और तभी तुलसीदास के मानस में भी इतनी गहराई के साथ उतर सके हैं! लगता है जैसे रत्नावली तथा तुलसीदास—दोनों के चरित्र निराला के जाने-बूझे चरित्र हों, उनके मन की एक-एक भूमिका से वे परिचित हों। सचमुच यदि इन चरित्रों में निराला तथा उनकी अपनी पत्नी की आकृतियाँ समाविष्ट न होतीं, ये चरित्र अपनी पारस्परिकता में, अपने अन्योन्याश्रित संदर्भों में, इतने सजीव न बन पड़ते।

तुलसीदास कृति की रचना निराला ने उस समय की थी जब छायावादी

बढ़ चली तरंगों की असि ले
चण्डी-सी वह मस्तानी थी ।

हेमन्त ऋतु की वायु की तीक्ष्णता हृदय दहला देने वाली है—

निर्धन के फटे पुराने
पट के छिद्रों से आकर
शर सदृश हवा लगती थी,
पाषाण हृदय दहला कर ॥

चरित्र-चित्रण :—हल्दीघाटी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक सफल प्रबन्ध-काव्य है। इसमें प्रमुख चरित्र राणा प्रताप का है, जो शूरवीर, स्वतन्त्रता-प्रेमी, धर्म-रक्षक, दृढ़-प्रतिज्ञ, अपनी आन पर सर्वस्व न्योछावर करने वाला और बात पर स्थिर रहने वाला है। राणा प्रताप के अतिरिक्त शक्तसिंह, मानसिंह और अकबर के चरित्र की रेखायें भी पर्याप्त स्पष्ट और पुष्ट हैं। महारानी, पुरोहित नारायण, भामा, झाला आदि के चरित्र स्पष्ट होते हुए भी अपेक्षित सजीवता लिए हुए नहीं हैं। चरित्र-चित्रण में कवि ने बहुत कुछ स्वयं कहा है। कहीं-कहीं कथोपकथन के माध्यम से चरित्रों को उभारने में सहायता ली है, यथा काव्य के आरम्भ में राणा प्रताप और शक्तसिंह तत्पश्चात् मानसिंह तथा राणा प्रताप के कथोपकथन पात्रों के व्यक्तित्वों को पृथक्-पृथक् खड़ा कर देते हैं।

राणा प्रताप का चरित्र एक आदर्श चरित्र है, फिर भी उसकी सृष्टि अमानवीय पात्र के रूप में नहीं की गई। परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों का उस पर उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि एक सामान्य मानव पर पड़ना चाहिए। पर राणा अपने मानसिक-सन्तुलन, उदार हृदय तथा आत्मिक शक्ति के कारण सामान्य व्यक्ति के स्तर से हर परिस्थिति में ऊपर उठ जाता है। आखेट करने के लिए जब राणा प्रताप, शक्तसिंह तथा अन्य लोग गये तो सिंह पर शक्तसिंह के आक्रमण का कोई प्रभाव होते न देखकर बड़े भाई के नाते राणा तुरन्त कह उठता है कि—

ठहरो-ठहरो कहा सिंह को,
लक्ष्य बनाकर ललकारा।
शक्तसिंह तुम हटो सिंह को
मैंने अब मारा, मारा ।

शक्तसिंह इसे अपना अपमान समझकर प्रताप को युद्ध के लिए ललकारता है। राणा प्रताप कितना भी आदर्श पुरुष क्यों न हो वह मूल रूप से राजपूत है। युद्ध के लिए ललकार सुनकर स्वयं को नियन्त्रण में कैसे रख सकता था? पुरोहित के पवित्र प्राणों का बलिदान देखकर राणा लज्जित होता है। तभी वह क्षमाशील और उदार हृदय बनकर शक्तसिंह से कहता है—

निराला की कविता इस कृति में पहुँची हुई दिखाई देती है। कदाचित ही कोई छंद हो जिसमें निराला ने चित्रों तथा रूपकों के बिना अपनी बात कहने का प्रयत्न किया हो। कल्पना की सार्थकता भावों के प्रकाशन और उनके प्रभावशाली प्रकाशन मे है। चित्र, बिम्ब तथा रूपक वही सार्थक हैं, जो भावाश्रित हों, भाव को प्रगल्भता के साथ, सौंदर्य के आवरण में सामने रखने वाले हों। 'तुलसीदास' मे निराला की कल्पना का यही भावाश्रित रूप सर्वत्र दृष्टव्य है। सार्थक तथा सटीक-बिम्ब या चित्र-योजना इस कृति की अपनी विशेषता है। इसलामी संस्कृति के आगमन के साथ ही, भारतीय जनजीवन के बीच उसकी अपनी स्थिति को 'है ऊर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल' —इस पंक्ति के द्वारा सामने रखना, इसलामी संस्कृति को आकाश में छाए जलद-जाल के रूप में चित्रित करना, और पृष्ठभूमि में शताब्दियों की संध्या का भयानक चित्र देना, 'मोगल दल-बल के' उन 'जलद-यानों' द्वारा होने वाली आक्रमणों की मूसल-धार वृष्टि, ऊपर घना अंधकार, धरती पर वज्र का टूटना, धारा में प्रलय का सा वेग, ये सारी रौद्र कल्पनाएँ स्थिति की भयावहता को सजीवता से स्पष्ट कर देती हैं। सौंदर्य के अनेक भावभरे आकर्षक चित्र तुलसीदास के प्रकृति-दर्शन के प्रसंग में हैं, विशेषकर वे स्थल, जहाँ समूची प्रकृति ही रत्नावलीमय हो गई है।

यह श्री पावन, गृहणी उदार
गिरि-वर-उरोज, सरि पयोधार;
कर वन-तरु, फैला फल निहारती देती;
सब जीवों पर है एक दृष्टि
तृण-तृण पर उसकी सुधावृष्टि
प्रेयसी बदलती वसन सृष्टि नव लेती।

कल्पना की उदात्त छवियाँ तुलसीदास के मन की ऊर्ध्वगमन वाली स्थिति में देखी जा सकती हैं। कवि ने दूर, दूरतर···और दूरतम संचरणशील तुलसीदास के मन की गति को अत्यंत सामर्थ्य के साथ शब्दों में टाँक देने का प्रयत्न किया है। रंग पर रंग छोड़ते और ग्रहण करते उनका मन नभोदेश को पार कर रहा है—

दूर, दूरतर, दूरतम, शेष
कर रहा पार मन नभोदेश,
सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर,
छोड़ता रंग, फिर-फिर सँवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
संध्या ज्योति : ज्यों सुविस्तार अंबर तर ॥

इसी से मिलता-जुलता उनके मन के द्वितीय ऊर्ध्वगमन का चित्र—

दृष्टि से भारती से बँधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर

महारानी के व्यंग्य भरे शब्दों को सुनने के पश्चात् राणा ने ऊपर देखा तो यों लगा मानो चाँद और तारे उसकी कायरता पर हँस रहे हैं। झाला भी सामने खड़ा मुस्करा कर उसे लज्जित कर रहा है और चेतक तो स्पष्ट रूप से धिक्कारता दिखाई देता है।

राणा ने मेवाड़ के उद्धार की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे मरण-पर्यन्त पूरा किया। उस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उसे अनेक वर्षों तक पहाड़ों की गुफाओं का आश्रय लेना पड़ा, खोज में लगे हुए शत्रुओं से अपनी और परिवार की रक्षा हेतु भटकना पड़ा, भूखे-प्यासे रहना पड़ा। अन्त में भामा द्वारा दिये गये धन से सेना एकत्र कर देवीर और कुम्भलगढ़ जीतकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

'हल्दीघाटी' का दूसरा सबल चरित्र है—शक्तसिंह। उसमें संस्कार और स्वभावगत दर्प है। राणा प्रताप के आखेट के समय केवल इतना कहने पर कि तुम रुको, मैं मारता हूँ, शक्तसिंह में राजपूती आन जाग उठती है। वह तुरन्त पूछता है—'क्यों हट जाऊँ ? क्या मैं वीर रणधीर नहीं ? क्या मुझे भाला, बर्छी, तीर आदि चलाना नहीं आता ? जिसने तलवार की धार देखने के लिए अपनी अंगुली काट ली थी, उसे क्या परवाह है ? तुम भले ही तुष्ट रहो या रुष्ट रहो।' पुरोहित की हत्या के पश्चात् वह अपमान सहकर राणा के पास नहीं रह सकता था, अतः वह अकबर के पास चला गया। यहाँ उसमें विवशता-जन्य दुर्बलता है। पर उसके चरित्र में जो पतन यहाँ दिखाई देता है, उसका परिहार हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् हो जाता है। वह भाई प्रताप की अद्भुत वीरता देखकर और राणा के पीछे-पीछे दो शत्रुओं को जाते हुए देखकर उसमें नैसर्गिक भ्रातृ-स्नेह उमड़-उमड़ आता है और भाई के चरणों में सिर झुका देता है।

भावपूर्ण स्थल :—हल्दीघाटी काव्य में अनेक स्थल बड़े भावपूर्ण हैं। जिनमें प्रमुख हैं—१. राणा प्रताप और शक्तसिंह का झगड़ा और युद्ध। २. झाला का राणा के प्राणों को बचाना और अपना बलिदान देना। ३. राणा प्रताप और शक्तसिंह का हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् मिलन। ४. चेतक की मृत्यु और राणा का विलाप। ५. राणा की कन्या के हाथ से घास की रोटी छीनी जाना। ६. भामा का राणा को धन देना।

राणा नहीं चाहता कि वह शक्तसिंह से लड़े। वह शक्तसिंह को समझाने का पूरा प्रयत्न करता है—

राणा का सत्कार यही क्या,
वन्धु-हृदय का प्यार यही ?
क्या भाई के साथ तुम्हारा
है उत्तम व्यवहार यही ?

शक्तसिंह को प्रताप का आदर करना चाहिए था कि वह भाई के अतिरिक्त

की ओर उन्मुख होने की प्रथम प्रेरणा देता है। संपूर्ण कविता एक अखण्ड इकाई के रूप में निराला की प्रशस्त तथा समर्थ कल्पना-शक्ति का परिचय देती है, मानों पूरी कविता एक संपूर्ण रूपक में बँधी हो। कविता के प्रारम्भ की पंक्तियां हैं—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल

और कविता का अन्त होता है, इन पंक्तियों से—

संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची दिगंत उर में पुष्कल रवि-रेखा।

कविता का प्रारम्भ और उसका अन्त क्या इस एक और अखण्ड रूपक की आप गवाही नहीं हैं? यही कविता की प्रभावान्विति है, जिसे कविता का विवेचन करते समय विस्मृत नहीं किया जा सकता।

'तुलसीदास' कृति की भाषा तथा छंद-निर्माण भी कुछ असाधारण-सा है। भाषा के क्षेत्र में निराला अपनी सामासिक शब्दावली के लिए ख्यात हैं। वे अर्थ के गौरव वाले कवि हैं और इस गौरव की उपलब्धि वे सार्थक, सटीक, बहुत गिने-चुने व्यंजना-गर्भ शब्दों के प्रयोग के द्वारा करते हैं। उनकी भाषा में इतना कसाव होता है कि सामान्यतः शब्दों का हेर-फेर नहीं किया जा सकता। अर्थ-गौरव के साथ-साथ वे शब्दों के अपने नाद-सौन्दर्य का भी पर्याप्त ध्यान रखते हैं, और उसके आधार पर भी अर्थ के प्रभाव को विस्तृत करते हैं। सामासिकता इतनी, कि कविता की समूची की समूची पंक्ति, शब्द-शब्द बंधी, अखण्ड। प्रत्येक शब्द परस्पर गुंफित और संबद्ध, अर्थ के स्तर को आगे की ओर गतिशील करता हुआ। 'राम की शक्ति पूजा' कविता के प्रारम्भ के भाषा-प्रयोग को छोड़ भी दें तो, स्मृति के लोक में राम का जानकी की ओर देखना, लतांतराल मिलन, आदि सारे चित्र भाषा के जिस रूप को सामने रखते हैं, वह ऐसा ही समासबद्ध और सुनियोजित रूप है। स्वतः निराला के गीतों की भाषा भी इसी प्रकार की है—विशेषकर 'गीतिका' के गीतों की! भावानुरूप शब्दों की योजना में भले ही अन्तर हो, शब्दों के क्रम और भाषा की कसावट में तनिक भी अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। समास-निर्माण में वे संस्कृत की पद्धति को नहीं अपनाते। उनके इस सम्बन्ध में अपने निजी नियम हैं, जिसकी ओर समीक्षकों ने इंगित भी किया है। यही कारण है कि अपने निजी नियम में बंधी, निराला की यह सामासिक पदावली, इतनी अर्थ-संकुल हो उठती है कि जैसा हम पीछे कह चुके हैं, बहुधा पाठक को दुर्बोध भी प्रतीत होने लगती है। 'तुलसीदास' कृति में भी ऐसे अनेक स्थल सहज ही ढूँढ़े जा सकते हैं। शब्द-चयन में वैविध्य तथा भावानुरूप उनकी आकृति में परिवर्तन

महारानी के व्यंग्य भरे शब्दों को सुनने के पश्चात् राणा ने ऊपर देखा तो यों लगा मानो चाँद और तारे उसकी कायरता पर हँस रहे हैं। झाला भी सामने खड़ा मुस्करा कर उसे लज्जित कर रहा है और चेतक तो स्पष्ट रूप से धिक्कारता दिखाई देता है।

राणा ने मेवाड़ के उद्धार की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे मरण-पर्यन्त पूरा किया। उस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उसे अनेक वर्षों तक पहाड़ों की गुफाओं का आश्रय लेना पड़ा, खोज में लगे हुए शत्रुओं से अपनी और परिवार की रक्षा हेतु भटकना पड़ा, भूखे-प्यासे रहना पड़ा। अन्त में भामा द्वारा दिये गये धन से सेना एकत्र कर देवीर और कुम्भलगढ़ जीतकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

'हल्दीघाटी' का दूसरा सबल चरित्र है—शक्तसिंह। उसमें संस्कार और स्वभावगत दर्प है। राणा प्रताप के आखेट के समय केवल इतना कहने पर कि तुम रुको, मैं मारता हूँ, शक्तसिंह में राजपूती आन जाग उठती है। वह तुरन्त पूछता है—'क्यों हट जाऊँ ? क्या मैं वीर रणधीर नहीं ? क्या मुझे भाला, बर्छी, तीर आदि चलाना नहीं आता ? जिसने तलवार की धार देखने के लिए अपनी अंगुली काट ली थी, उसे क्या परवाह है ? तुम भले ही तुष्ट रहो या रुष्ट रहो।' पुरोहित की हत्या के पश्चात् वह अपमान सहकर राणा के पास नहीं रह सकता था, अतः वह अकबर के पास चला गया। यहाँ उसमें विवशता-जन्य दुर्बलता है। पर उसके चरित्र में जो पतन यहाँ दिखाई देता है, उसका परिहार हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् हो जाता है। वह भाई प्रताप की अद्‌भुत वीरता देखकर और राणा के पीछे-पीछे दो शत्रुओं को जाते हुए देखकर उसमें नैसर्गिक भ्रातृ-स्नेह उमड़-उमड़ आता है और भाई के चरणों में सिर झुका देता है।

भावपूर्ण स्थल :—हल्दीघाटी काव्य में अनेक स्थल बड़े भावपूर्ण हैं। जिनमें प्रमुख हैं—१. राणा प्रताप और शक्तसिंह का झगड़ा और युद्ध। २. झाला का राणा के प्राणों को बचाना और अपना बलिदान देना। ३. राणा प्रताप और शक्तसिंह का हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् मिलन। ४. चेतक की मृत्यु और राणा का विलाप। ५. राणा की कन्या के हाथ से घास की रोटी छीनी जाना। ६. भामा का राणा को धन देना।

राणा नहीं चाहता कि वह शक्तसिंह से लड़े। वह शक्तसिंह को समझाने का पूरा प्रयत्न करता है—

राणा का सत्कार यही क्या,
बन्धु-हृदय का प्यार यही ?
क्या भाई के साथ तुम्हारा
है उत्तम व्यवहार यही ?

शक्तसिंह को प्रताप का आदर करना चाहिए था कि वह भाई के अतिरि...

३३

हल्दीघाटी

डा० हेमराज निर्मम

स्वतन्त्रता-दीप की लौ के प्रकाश को अडिग बनाये रखने, उस पर शलभ रूप से मंडराने तथा उसके लिए शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कष्टों को सहन करने वाले अनुपम शूरवीर, अत्यन्त पराक्रमी, स्पृहणीय स्वतंत्रता-प्रेमी महाराणा प्रताप के जीवन को 'हल्दीघाटी' में श्री श्यामनारायण पांडेय ने शब्द-बद्ध किया है। हल्दीघाटी असंख्य वीरों के रक्त से आपूरित तथा उनके बलिदानों से पवित्र तीर्थभूमि है। हल्दीघाटी में राणाप्रताप और अकबर की सेना में जो युद्ध हुआ था, उसकी स्मृति वीरों के हृदय में स्फूर्ति, साहस और बलिदान की भावना सदा उत्पन्न करती आई है।

हल्दीघाटी का प्रकाशन सन् १९४१ ई० में हुआ था। यह सत्रह सर्गों का प्रबन्ध-काव्य है। इसमें प्रमुख कथा के अन्त में 'मेवाड़-सिंहासन' नाम से एक परिशिष्ट दिया गया है और कथा से पूर्व 'दिव्य-ज्योति' को नमस्कार करके प्रस्तावना लिखी गई है। प्रस्तावना में कवि घोषणा करता है—

रोम रोम जिसका वैरी था,
जो सहता था दुख पर दुख।
... ...
भाई ने भी छोड़ दिया
पर रखा देश का पानी है,
पाठक! पढ़ लो उस वीर की
हमने लिखी कहानी है।

तदुपरान्त कवि ने प्रताप, चित्तौड़, झाला मान्ना, वीर सिपाही, चेतक, हल्दीघाटी, भाला आदि शीर्षकों के अन्तर्गत स्फुट कविताएँ दी हैं, पर उन सबका मुख्य कथा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यों लगता है कि कवि मुख्य कथा में इन सबके सम्बन्ध में अपने हृदय-उद्गारों की पूर्ण अभिव्यक्ति न कर पाया हो। कवि चित्तौड़ को सम्बो-

कराहते-चीखते देखकर भी अस्थिर न हुआ, जो घास की रोटी खाकर, भूखे रहकर, स्थान-स्थान भटकने से भी विचलित न हुआ, वह अपनी कन्या के क्रन्दन से अधीर हो उठा और उसकी आँखों से अश्रु-धारा बह निकली—

आँसू की पावन गंगा,
आँखों से झर-झर निकली।
नयनों के पथ से पीड़ा
सरिता सी बहकर निकली॥

भामा का राणा के पास आगमन भी बहुत भावपूर्ण स्थल है। भामा कुछ वृद्ध और निर्बल था। फिर भी वह राणा को ढूँढता हुआ, बहुत-सा धन लेकर उसके पास पहुँचा। मेवाड़ देश को स्वतंत्र देखने की उसकी भी तीव्र इच्छा थी, इसलिए वह कहता है—

आँसू से पद को धोकर
धीमे-धीमे वह बोला।
× ×
कारागृह में बन्दी माँ
नित करती याद तुम्हें है।

रस :—हल्दीघाटी प्रबन्ध-काव्य में कवि ने अपनी रस-सिद्ध लेखनी द्वारा अनेक रसों की धारा प्रवाहित की है, जिसमें वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों का पर्याप्त वर्णन मिलता है। सबसे अधिक वीर रस का परिपाक हुआ है, जिसका वर्णन कई स्थलों पर हुआ है, यथा—आखेट के अवसर पर, हल्दीघाटी के युद्ध के अवसर पर आदि। कुछ उदाहरण देखिये—आखेट के अवसर पर शेर सामने आ गया है। शक्तसिंह ने उस पर भाले से वार किया पर शेर ने उसकी परवाह नहीं की, तभी राणा उस पर आक्रमण करता है—

काल-सदृश राणा प्रताप झट
तीखा शूल निराला ले,
बढ़ा सिंह की ओर झपटकर
अपना भीषण भाला ले।

हल्दीघाटी के युद्ध के अवसर पर सैनिक लड़ते हुए आगे बढ़ रहे हैं। उनका उत्साह देखिए—

रण-मत्त लगे बढ़ने आगे
सिर काट-काट करवालों से,
संगर की मही लगी पटने
क्षण-क्षण अरिकंठ कपालों से।

यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। इस प्रबन्ध-काव्य की समस्त घटनाएँ हल्दीघाटी में घटित नहीं हुई और न ही कोई पात्र हल्दीघाटी में बैठकर इन घटनाओं का तारतम्य मिलाता है। प्रथम ६ सर्गों की तथा अन्तिम दो सर्गों की घटनाओं का स्थान हल्दी-घाटी से दूर है, अतः इस दृष्टि से नाम उपयुक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि हल्दी-घाटी के रणांगण से राणा चेतक पर सवार हो जब चला जाता है तब कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी। पर कवि तो बाद में भी राणा के साथ-साथ चलता रहा है। अतः स्पष्ट है कि कवि इस काव्य को उपयुक्त नाम नहीं दे पाया।

घटनाओं के क्रमिक विकास की दृष्टि से यदि इस प्रबन्ध-काव्य को देखें तो इसमें कथानक का आदि, मध्य और अन्त स्पष्ट परिलक्षित होता है। घटनाएँ धीरे-धीरे घटती जाती हैं और प्रमुख घटना कथा को हल्दीघाटी के युद्ध की ओर अग्रसर करती जाती है। प्रथम सर्ग से लेकर सातवें सर्ग तक कथा का आदि भाग स्पष्ट है। इसमें राणा प्रताप के यहाँ से मानसिंह का रुष्ट होकर चले जाना, राणा का भावी युद्ध की तैयारी में लगने की घटनाओं का वर्णन है। आठवें से बारहवें सर्ग तक कथा का मध्य भाग है। हल्दीघाटी में राणा प्रताप की सेना का हारना और चेतक का राणा को सुरक्षित लेकर निकल जाने से कथा में कुछ विराम-सा आना प्रतीत होता है, जो मध्य के लिए उपयुक्त है। तेरहवें सर्ग से सत्रहवें सर्ग तक कथा का अन्त स्पष्ट है। इस दृष्टि से यह सफल प्रबन्ध-काव्य है।

कथा का आरम्भ विजय-दशमी के दिन राणा प्रताप और शक्तसिंह का अन्य लोगों सहित आखेट के लिए प्रस्थान करने से होता है। वहाँ एक सिंह का शिकार करते हुए प्रताप और शक्तसिंह में झगड़ा हो जाता है। झगड़ा युद्ध का रूप ले लेता है। पुरोहित दो भाइयों को लड़ते देखकर बीच-बचाव करने का प्रयत्न करता है और जब अनुभव करता है कि उसकी वाणी का प्रभाव नहीं पड़ रहा है तो वह आत्मबलि-दान देता है। दोनों में युद्ध रुक जाता है। राणा प्रताप शक्तसिंह को वहाँ से चले जाने का आदेश देता है। शक्तसिंह अकबर के पास चला जाता है।

सम्राट् अकबर मीना बाजार लगवाता है और नये धर्म दीन-इलाही का प्रचार करना चाहता है। ये सब बातें राणा प्रताप की क्रोधाग्नि को बढ़ाती है। अकबर ने अपने विश्वस्त सेनापति मानसिंह को शोलापुर जीतने के लिए भेजा। उसने कूटनीति से एक ही तीर से दो शिकार करने की सोची और मानसिंह को आदेश दिया कि राणा प्रताप से भी मिलता हुआ आये। शोलापुर जीतने के पश्चात् मानसिंह ने अपने आगमन का सन्देश राणा प्रताप के पास भेजा। राणा को ऐसे सब राजपूतों से घृणा थी जिन्होंने अकबर से सम्बन्ध स्थापित किये थे। अतः राणा स्वयं उसका स्वागत नहीं करना चाहता था। उसने अपने बेटे को यह कार्य सौंपा। मानसिंह स्वागतार्थ किये गए प्रबन्धों से बड़ा प्रसन्न हुआ, पर जब भोजन के अवसर पर भी राणा को

भाषा :—'हल्दीघाटी' की भाषा को समग्ररूप से देखने पर भाषा का अत्यन्त शिष्ट और प्रौढ़ स्वरूप दिखाई देता है। कवि को हल्दीघाटी जन-काव्य बनाना इष्ट है, अतः उसने भाषा को सरल रखने का प्रयत्न बराबर किया है और इसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली है। यही कारण है कि आज हल्दीघाटी के अनेक सर्ग अनेक युवकों को कण्ठस्थ हैं। कवि संस्कृत का विद्वान् और अध्यापक है, अतः यदि उसे संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करना होता तो उसे कोई कठिनाई न होती। रचना को लोकप्रिय बनाने के लिए भाषा को सरल रखना अनिवार्य था।

कवि के शब्दकोष की ओर दृष्टि डालने पर दिखाई देता है कि कवि ने शब्दों के लिए संस्कृत के अपार भण्डार की शरण ग्रहण की है। उसने पर्याप्त संख्या में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, जो प्रभाव-वृद्धि में सहायक हुए हैं। एक उदाहरण देखिये :—

शिला-शिला फट उठी, हिले तरु
टूटे व्योम वितान गिरे।
सिंह-नाद सुनकर भय से जन
चित्त-पट्ट उत्तान गिरे।

स्थानीय शब्द :—जब राणा चेतक पर चढ़कर हल्दीघाटी के रणांगन से वापस जा रहा है तो शक्तसिंह पीछे से आवाज लगाता है—

रुक जा, रुक जा, ऐ तलवार,
नीला—घोड़ारा असवार।

'नीला-घोड़ारा असवार' स्थानी बोली के प्रभाव का ही परिणाम है।

उर्दू शब्द :—प्रस्तुत रचना में उर्दू के शब्द पर्याप्त संख्या में ग्रहण किए गये हैं, यथा—जरा, अदा, यकीन, जमीन, कुर्बानी, जमाना, सलाह, परवाह आदि। पर ये शब्द केवल मुस्लिम पात्रों के लिए ही प्रयुक्त नहीं हुए हैं। शक्तसिंह सोचता है—

मैं सपूत हूँ राजपूत
मुझको ही जरा यकीन नहीं।
एक जगह सुख से बैठूं, दो
अंगुल मुझे जमीन नहीं॥

अतः स्पष्ट है कि भाषा के प्रवाह को ध्यान में रखा गया है, पात्रानुरूप भाषा बनाने का चक्कर नहीं है। अकबर भी जब बात करता है तो उसी भाषा में, जिसमें अन्य पात्र बोलते हैं। पण्डितों और मौलवियों की सम्मिलित सभा को सम्बोधित करता हुआ अकबर दीन-इलाही का सन्देश इस प्रकार देता है—

शिकार के समय एक नवीनता प्रस्तुत की है कि राणा और शक्तसिंह का शेर के शिकार पर झगड़ा हुआ। राणा जैसे महान् योद्धा और शक्तसिंह जैसे वीर राजपूत के लिए शेर का शिकार ही उपयुक्त समझा गया। पर अब तक यही माना जाता रहा है कि जंगली सूअर का शिकार किया गया था। उसके मर जाने पर यह झगड़ा हुआ कि उसे किसने मारा है। पर कवि ने यहाँ राजपूती आन को दर्शाने के लिए कहा है कि राणा के कहने मात्र से कि 'शक्तसिंह हट जाओ, शेर को मैं मारता हूँ' शक्तसिंह ने स्वयं को अपमानित समझा और झगड़ा बढ़कर युद्ध का रूप धारण कर गया।

यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण नारायण राणा और शक्तसिंह को युद्ध करने से रोकने लगा तो उसे शक्तसिंह का भाला लग गया और उसकी मृत्यु हो गई। पर कवि ने यहाँ पुरोहित के त्याग को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए कल्पना की है कि जब पुरोहित दोनों भाइयों को युद्ध करने से रोकने में असमर्थ रहा तो उसने विवश हो आत्महत्या द्वारा उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। पर इससे बात बनी नहीं। शक्तसिंह के शस्त्र से पुरोहित की मृत्यु से जो ब्रह्म-हत्या के पाप की गुरुता प्रकट होती है, वह आत्महत्या में ध्वनित नहीं होती।

मानसिंह रक्त-तलैया के समीप अपनी सेना सहित पड़ाव डालने के पश्चात् हल्दीघाटी की पहाड़ियों में सैन्य-महत्त्व की बातें जानने की इच्छा से घूम रहा था कि सहसा भीलों ने उसे बन्दी बना लिया। अकस्मात् वहीं राणा पहुँच गया और भीलों को समझा-बुझा कर मानसिंह को मुक्त करवाया। कवि की यह मौलिक उद्भावना पर्याप्त सीमा तक उपयुक्त बैठी है। फिर भी ऐतिहासिक तथ्य यह है कि मानसिंह हल्दीघाटी से कुछ दूरी पर अपनी सेना का पड़ाव डाले दो महीने तक इस-लिए पड़ा रहा कि राणा हल्दीघाटी से निकल कर मैदानों में लड़ने के लिए आये। वह हल्दीघाटी के उस दर्रे में लड़ना नहीं चाहता था। एक दिन वह शिकार खेलने उस क्षेत्र में आ निकला, जहाँ राणा प्रताप की सेना पड़ी हुई थी। राणा प्रताप के गुप्तचर भीलों ने सूचना दी कि मानसिंह के साथ लगभग एक हजार सैनिक हैं, उस पर आक्रमण कर दिया जाये। यदि उस समय आक्रमण कर दिया जाता तो आज इतिहास कुछ भिन्न होता। पर झाला ने उस आक्रमण का विरोध किया क्योंकि वह राजपूतों की रणनीति के विरुद्ध था।

भामाशाह के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि वह राणा के चरणोंमे धन भेंट करने के पश्चात्, कुछ बोलने के बाद हाँफने लगा और उसके मुख से लार गिरने लगी। भामा वृद्ध अवश्य था, पर इतना नहीं कि उसके मुख से लार गिरती। वह तो हल्दीघाटी के युद्ध से पूर्व राणा प्रताप का प्रधान-मन्त्री था और राणा ने धन भेंट में लेने के बाद भी उसे प्रधान-मन्त्री बनाया था।

प्रकृति-चित्रण :—'हल्दीघाटी' में अनेक स्थानों पर प्रकृति के सुन्दर चित्र

३४

वैदेही बनवास

डा० संसारचन्द्र

"वैदेही बनवास" श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का जितना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है उतने अनुपात में इसका अभी तक मूल्यांकन नहीं हुआ है। कुछ एक शोध-ग्रन्थों में इसकी सामान्य-सी चर्चा हुई है और कुछ एक शोध-ग्रन्थों में प्रायः इसे उपेक्षित ही कर दिया गया है। कुछ शोधेतर समीक्षा ग्रन्थों में प्रायः परम्परित प्रतिमानों पर ही इस रचना को तोला गया है। अतः इस रचना का अपेक्षित परीक्षण अभी तक प्रायः नहीं ही हुआ है। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त दो और कारण भी हैं। एक यह कि हरिऔध साहित्य के समालोचकों ने वैदेहीवनवास के कतिपय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्कालिक सन्दर्भों को सर्वथा अवहेलित किया है। दूसरा, आज के बदल रहे निकषों और मानदण्डों की भी यह मांग है कि विवेच्य रचना के स्वरूप एवं सीमाओं पर अब पुनर्विचार किया जाए।

प्रस्तुत पुनर्मूल्यांकन के अन्तर्गत उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखकर 'वैदेही बनवास' को उसके वास्तविक एवं परिवर्तित सन्दर्भों में विश्लेपित एवं मूल्यांकित किया गया है।

संदर्भों की बात :—

प्राचीन भारत का इतिहास-बोध तथ्यात्मक होने की अपेक्षा व्यंजनात्मक अधिक था। वह सर्वसाधारण के लिए रुचिकर एवं आनन्द प्रद भी था और बुद्धि-जीवी वर्ग के लिए बौद्धिक एवं दार्शनिक व्यंजनाओं से भी ओत-प्रोत था। ऐसे इतिहास-बोध ने पौराणिक साहित्य का प्रणयन किया। परन्तु धीरे-धीरे उसकी बौद्धिक व्यंजनाएं विलुप्त होने लगीं और उसका उपदेशात्मक रूप ही सर्वसामान्य में प्रचारित होने लगा। इस दिशा में राम और कृष्ण का जीवन अत्यधिक अस्वाभाविक बना है। उन्हें उनकी मानवीय गरिमा से वियुक्त कर ऐसे मानवेतर रूप में प्रस्तुत किया गया है जो कि सर्वथा अस्वाभाविक और अनेक स्थानों पर असंगत भी लगता है। भले ही वह रूप श्रद्धा को विशेप प्रिय रहा हो, परन्तु बुद्धि ने उसे

राणा प्रताप और शक्तसिंह का रण देखकर प्रकृति की प्रतिक्रिया देखिये—

युगल-बन्धु रण देख क्रोध से,
लाल हो गया था सूरज ।

रात्रि की नीरवता में राणा भील सरदारों से कुछ कहने जा रहा है। वे सब बड़ी उत्सुकता से सुनने के लिए सांस रोके बैठे हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति भी पीछे नहीं—

गिरि अरावली के तरु के थे
पत्ते-पत्ते निष्कम्प अचल
वन-बेलि-लता-लतिकायें भी
सहसा कुछ सुनने को निश्चल ।

राणा के दुःख से दुःखित होकर प्रकृति भी आंसू बहाती है। मन में संताप लेकर प्रातः दिनकर निकला है और—

रजनी भर तड़प-तड़प कर
घन ने आँसू बरसाया ।

ऋतु वर्णन :—ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता से मानव ही विह्वल नहीं पशु-पक्षी तथा जड़ प्रकृति भी उद्विग्न है—

तन झुलस रही थीं लू-लपटें
तरु-तरु पद में लिपटी छाया ।

एक अन्य स्थान पर देखिये—

हर ओर नाचती दुपहरिया
मृग इधर-उधर थे डोक रहे ।
जन भिगो-भिगो पट, ओढ़-ओढ़
जल पी-पी पंखे हाँक रहे ।

वर्षा ऋतु:—वर्षा की घनघोर घटाएँ और मेघों का उमड़-उमड़ कर रिम-झिम बरसना कवियों के आकर्षण का कारण रहे हैं। यहाँ भी कवि ने वर्षा ऋतु का चित्रण इसी रूप में किया है—

सावन का हरित प्रभात रहा
अम्बर पर थी घनघोर घटा,
फहरा कर पंख थिरकते थे,
मन हरती थी वन-मोर घटा ।

दूसरी ओर मेघों का बरसना देखिए :—

था मेघ बरसता झिमिर-झिमिर
तटिनी की भरी जवानी थी ।

है। अतः वैदेही वनवास के विवेचन का यह एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है।

कवि का अपना कार्य-क्षेत्र भी वैदेही वनवास की अनेक संयोजनाओं, विशेषकर चरित्र-निर्माण में, विशेष सहायक बन कर आता है। विश्लेष्य रचना में दाम्पत्य जीवन में पति और पत्नी के दायित्वों पर कवि ने बड़ी गम्भीर चर्चाएं की हैं। उसके लिए उन्होंने 'विज्ञानवती' नाम से एक नवीन पात्र की भी रचना की, जो सीता से दाम्पत्य-विच्छेद के बारे में सविस्तार तर्क-वितर्क करती है। कवि की इस संयोजना का महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उनका तद्युगीन कार्यक्षेत्र था। उन दिनों वे काशी विश्व-विद्यालय के महिला विभाग में प्राध्यापन कार्य करते थे और शिक्षित स्त्री समाज के सम्पर्क में रह कर उनकी अनेक प्रतिक्रियाओं से परिचित होते रहते थे। अतः दाम्पत्य जीवन के विविध पक्षों पर जो भी विचार प्रस्तुत हुए हैं वे इसी क्षेत्र का प्रभाव हैं।

वैदेही बनवास के परीक्षण का एक और महत्वपूर्ण संदर्भ है—तत्कालीन साहित्यिक परिवेश। वस्तुतः वैदेही बनवास की रचना १८ दिसम्बर सन् १९३७ में प्रारम्भ हुई और १४ जनवरी सन् १९३९ में इस की समाप्ति हुई।[1] और ५ फरवरी १९४० को यह रचना प्रकाशित हुई।[2] ऐतिहासिक काल क्रम की दृष्टि से इन वर्षों में एक ओर प्रगतिवादी चेतना ह्रासोन्मुखी हो रही थी और दूसरी ओर प्रयोगशील काव्य चेतना का नवोन्मेष हो रहा था, जिसका व्यवस्थित रूप सन् १९४१ में 'तार सप्तक' के रूप में सामने आता है। अतः वैदेही वनवास और तार-सप्तक की कालप्रक्रिया प्रायः एक ही है। 'वैदेही वनवास' के रचयिता का द्विवेदी युगीन नैतिक आदर्शबोध उस युग तक छायावादी संवेदना और प्रगतिवादी जनमंगल की भावना से अनुप्राणित हो चुका था। 'वैदेही बनवास' में इन तीनों युगों के काव्य-सौष्ठव की स्पष्ट छाया दिखाई देती है। उसमें द्विवेदी युगीन नैतिक आदर्श और मानव मंगल का संकल्प, छायावादी सौन्दर्य बोध और प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता तथा प्रगतिवादी समाज संचेतना का प्रभाव है। मैं वैदेही वनवास में प्रिय-प्रवास की महती सम्भावनाओं की सम्पूर्ण इतिश्री पाता हूं। प्रिय-प्रवास में कवि का जो आदर्शबोध पूर्ण व्याप्ति नहीं पाता है वह पारिजात (१९३७ ई०), हरिऔध के दूसरे वृहत् काव्य में कामायनी के समानान्तर दार्शनिक व्याप्ति पाता हुआ, वैदेही वनवास में विधिवत् समापन पाता है। इस दृष्टि से मुझे 'वैदेही वनवास' द्विवेदी युगीन कलाबोध का छायावादी और प्रगतिवादी संस्कारों से अनुप्राणित प्रयोगवाद पूर्व एक विशिष्ट ग्रन्थ लगता है। अतः वैदेही वनवास के मूल्यांकन का यह काल-खण्ड भी विशेष महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है।

1. डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा : हरिऔध और उनका साहित्य, पृष्ठ ४२५।
२. अयोध्यासिंह उपाध्याय, वैदेही वनवास, भूमिका, अन्तिम पृष्ठ।

बोल उठा राणा प्रताप
मेवाड़ देश को छोड़ो तुम।
शक्तसिंह, तुम हटो हटो
मुझ से अब नाता तोड़ो तुम ॥

राणा जानता था कि अकबर की सैन्य शक्ति उससे बहुत अधिक है, फिर भी वह मानसिंह का अपमान और तिरस्कार करने से स्वयं को रोक न सका। मानसिंह रुष्ट होकर चला गया तो राणा की धर्मभीरुता जाग उठी और उसने :—

इधर महाराणा प्रताप ने
सारा घर खुदवाया।
धर्मभीरु ने बार-बार
गंगा-जल से धुलवाया ॥

मानसिंह को जब भीलों ने घेर कर बन्दी बना लिया, तब राणा ने उसे मुक्त करवा कर राजपूती रण-नीति के आदर्श की रक्षा की। पर हल्दीघाटी के युद्ध में समरकेसरी राणा ने ऐसी अलौकिक वीरता और रण-कौशल का परिचय दिया कि शक्तसिंह भी विस्मय-विमुग्ध रह गया, इस पर भी राणा का हल्दीघाटी के युद्ध से बचकर चले जाना राजपूती प्रथा के विरुद्ध है। कवि ने आगे जाकर दोष-परिहार कर दिया है। राणा एक युद्ध से पीछे हटा था, अनेक युद्धों में वक्ष तानकर लड़ने के लिए और वृहद्तर कर्त्तव्य की पूर्ति (मेवाड़ के उद्धार) के लिए। उसके प्राणों की उस समय परम आवश्यकता थी। वह जीवन भर मेवाड़ देश के उद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है—

घासों की रूखी रोटी,
जब तक सोते का पानी।
तब तक जननी हित होगी,
कुर्बानी पर कुर्बानी ॥

राणा वीर सैनिक तथा सेनानी है; मेवाड़-रक्षक तथा मेवाड़-उद्धारक है, पर वह पिता भी है। उसका पितृ-हृदय, बेटी की रोटी छिन जाने पर, उसमें दुर्बलता उत्पन्न करता है जो अत्यन्त स्वाभाविक है। राणा सन्धि-पत्र लिखने लगता है तो महारानी उसे रोकने में समर्थ होती है। महारानी उसे याद दिलाती है कि तुम्हारे अनुगामी होकर कितने ही राजपूत रण में मारे गए और उनकी माताएं रोती हैं। उधर कितनी ही विधवाएँ आंसू बहा रही हैं। झाला और तुम्हारे घोड़े चेतक ने तुम्हारे लिए प्राण दिए हैं। इस पर भी माँ अभी बन्दी है और तुम सन्धि-पत्र लिखने की सोचते हो! राणा अन्त में स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है। कवि ने यहां हृदय की गुम्फित अन्तर्वृत्तियों को अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

राम ही चित्रशाला में घूमते हैं। प्रायः सभी राम ग्रन्थों में सीता गर्भावस्था में ऋषि आश्रम में जाने की इच्छा प्रकट करती है, परन्तु वैदेही बनवास में लोकापवाद की बात सुनकर राम स्वयं सीता को ऐसा सुझाव देते हैं। बाल्मीकीय रामायण में चर राम के पूछने पर लोकापवाद की चर्चा करता है, परन्तु 'वैदेही बनवास' में वह स्वयं ही यह समाचार देता है। अनेक राम ग्रन्थों में सीता को उसके परित्याग की सूचना तब मिलती है, जब लक्ष्मण उसे छोड़कर लौटने लगते हैं, परन्तु 'वैदेही बनवास' में सीता को पहले ही इस बात का ज्ञान हो जाता है और वह सहर्ष तथा स्वेच्छा से वनवास स्वीकार करती है। 'वैदेही बनवास' में कवि ने लवणासुर के प्रसंग को लोकापवाद का मूल कारण माना है जब कि अन्य ग्रन्थों में ऐसा नहीं माना गया। इसी प्रकार अन्य राम ग्रन्थों में लक्ष्मण द्वारा छोड़ कर चले जाने पर सीता विलाप करने लगती हैं और तब महर्षि बाल्मीकि उधर आ निकलते हैं, परन्तु वैदेही बनवास में सीता स्वयं बाल्मीकि आश्रम में पहुंच जाती है और यहाँ बाल्मीकि समाधि ज्ञान की बात नहीं कहते हैं प्रत्युत् वे बताते हैं कि उन्हें सीता के वनवास का पूर्ण ज्ञान गुरु वशिष्ठ के पत्र द्वारा होता है। किसी भी रामग्रंथ में यह वर्णन नहीं आता है कि जब शत्रुघ्न लवणासुर-वध को जाते हुए बाल्मीकीय आश्रम में ठहरते हैं, तब उसी रात लवकुश का जन्म होता है, परन्तु हरिऔध जी ने ही ऐसा वर्णन किया है। 'उत्तर रामचरित' के अनुसार 'राम के अश्वमेध' का बली-अश्व लव-कुश पकड़ लेते हैं तथा उसके रक्षक चन्द्रकेतु, पराजित होते हैं तथा उसी समय श्रीराम शम्बूक का वध कर वहां पर पहुँच जाते हैं। बाल्मीकीय रामायण और रघुवंश के अनुसार स्वयं बाल्मीकि लव-कुश को साथ लेकर अयोध्या जाते हैं और वे बालक यज्ञ-मण्डप में रामायण का गान करते हैं। बाल्मीकीय रामायण के अनुसार सीता को यज्ञ में बुलाया जाता है, परन्तु वहीं पर पृथ्वी गर्भ से एक सिंहासन निकलता है और सीता जी उस पर बैठ कर धरती में लीन हो जाती हैं। परन्तु 'वैदेही बनवास' में ये समस्त प्रसंग परिवर्तित होकर आये हैं। 'वैदेही बनवास' में लवकुश द्वारा रामायण का गान आश्रम में ही होता है और इसमें किसी बली-अश्व के पकड़े जाने का प्रसंग नहीं है। वैदेही राम द्वारा निमंत्रित होकर अयोध्या जाती हैं, परन्तु जैसे ही वह रथ से उतर कर राम के चरणों का स्पर्श करने लगती हैं कि उनका शरीरान्त हो जाता है। इस प्रकार श्री हरिऔध ने अनेक प्रसंगों को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है।

मौलिक संयोजनाएँ

वैदेही बनवास के प्रथम प्रसंग की सम्पूर्ण संयोजना काल्पनिक है। सीता का उत्ताप, लंका दहन के लोमहर्षक संस्मरण, युद्ध की विभीषिका, विश्व शान्ति की परि-कल्पना और राम का प्रगति-दर्शन ये सब मौलिक प्रसंग हैं। 'वैदेही बनवास' में लोकापवाद के प्रसंग में विचार-विनिमय के लिए राम का गुरु वशिष्ठ से मिलना भी

बोल उठा राणा प्रताप
मेवाड़ देश को छोड़ो तुम।
शक्तसिंह, तुम हटो हटो
मुझ से अब नाता तोड़ो तुम ॥

राणा जानता था कि अकबर की सैन्य शक्ति उससे बहुत अधिक है, फिर भी वह मानसिंह का अपमान और तिरस्कार करने से स्वयं को रोक न सका। मानसिंह रुष्ट होकर चला गया तो राणा की धर्मभीरुता जाग उठी और उसने :—

इधर महाराणा प्रताप ने
सारा घर खुदवाया।
धर्मभीरु ने बार-बार
गंगा-जल से धुलवाया ॥

मानसिंह को जब भीलों ने घेर कर बन्दी बना लिया, तब राणा ने उसे मुक्त करवा कर राजपूती रण-नीति के आदर्श की रक्षा की। पर हल्दीघाटी के युद्ध में समरकेसरी राणा ने ऐसी अलौकिक वीरता और रण-कौशल का परिचय दिया कि शक्तसिंह भी विस्मय-विमुग्ध रह गया, इस पर भी राणा का हल्दीघाटी के युद्ध से बचकर चले जाना राजपूती प्रथा के विरुद्ध है। कवि ने आगे जाकर दोष-परिहार कर दिया है। राणा एक युद्ध से पीछे हटा था, अनेक युद्धों में वक्ष तानकर लड़ने के लिए और वृहद्तर कर्त्तव्य की पूर्ति (मेवाड़ के उद्धार) के लिए। उसके प्राणों की उस समय परम आवश्यकता थी। वह जीवन भर मेवाड़ देश के उद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है—

घासों की रूखी रोटी,
जब तक सोते का पानी।
तब तक जननी हित होगी,
कुर्बानी पर कुर्बानी ॥

राणा वीर सैनिक तथा सेनानी है; मेवाड़-रक्षक तथा मेवाड़-उद्धारक है, पर वह पिता भी है। उसका पितृ-हृदय, बेटी की रोटी छिन जाने पर, उसमें दुर्बलता उत्पन्न करता है जो अत्यन्त स्वाभाविक है। राणा सन्धि-पत्र लिखने लगता है तो महारानी उसे रोकने में समर्थ होती है। महारानी उसे याद दिलाती है कि तुम्हारे अनुगामी होकर कितने ही राजपूत रण में मारे गए और उनकी माताएँ रोती हैं। उधर कितनी ही विधवाएँ आँसू बहा रही हैं। झाला और तुम्हारे घोड़े चेतक ने तुम्हारे लिए प्राण दिए हैं। इस पर भी माँ अभी बन्दी है और तुम सन्धि-पत्र लिखने की सोचते हो! राणा अन्त में स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है। कवि ने यहाँ हृदय की गुम्फित अन्तर्वृत्तियों को अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

राम ही चित्रशाला में घूमते हैं। प्रायः सभी राम ग्रन्थों में सीता गर्भावस्था में ऋषि आश्रम में जाने की इच्छा प्रकट करती है, परन्तु वैदेही बनवास में लोकापवाद की बात सुनकर राम स्वयं सीता को ऐसा सुझाव देते हैं। बाल्मीकीय रामायण में चर राम के पूछने पर लोकापवाद की चर्चा करता है, परन्तु 'वैदेही बनवास' में वह स्वयं ही यह समाचार देता है। अनेक राम ग्रन्थों में सीता को उसके परित्याग की सूचना तब मिलती है, जब लक्ष्मण उसे छोड़कर लौटने लगते हैं, परन्तु 'वैदेही बनवास' में सीता को पहले ही इस बात का ज्ञान हो जाता है और वह सहर्ष तथा स्वेच्छा से बनवास स्वीकार करती है। 'वैदेही बनवास' में कवि ने लवणासुर के प्रसंग को लोकापवाद का मूल कारण माना है जब कि अन्य ग्रन्थों में ऐसा नहीं माना गया। इसी प्रकार अन्य राम ग्रन्थों में लक्ष्मण द्वारा छोड़ कर चले जाने पर सीता विलाप करने लगती हैं और तब महर्षि बाल्मीकि उधर आ निकलते हैं, परन्तु वैदेही बनवास में सीता स्वयं बाल्मीकि आश्रम में पहुंच जाती है और यहाँ बाल्मीकि समाधि ज्ञान की बात नहीं कहते हैं प्रत्युत् वे बताते हैं कि उन्हें सीता के बनवास का पूर्ण ज्ञान गुरु वशिष्ठ के पत्र द्वारा होता है। किसी भी रामग्रंथ में यह वर्णन नहीं आता है कि जब शत्रुघ्न लवणासुर-वध को जाते हुए बाल्मीकीय आश्रम में ठहरते हैं, तब उसी रात लवकुश का जन्म होता है, परन्तु हरिऔध जी ने ही ऐसा वर्णन किया है। 'उत्तर रामचरित' के अनुसार 'राम के अश्वमेघ' का बली-अश्व लव-कुश पकड़ लेते हैं तथा उसके रक्षक चन्द्रकेतु, पराजित होते हैं तथा उसी समय श्रीराम शम्बूक का वध कर वहाँ पर पहुँच जाते हैं। बाल्मीकीय रामायण और रघुवंश के अनुसार स्वयं बाल्मीकि लव-कुश को साथ लेकर अयोध्या जाते हैं और वे बालक यज्ञ-मण्डप में रामायण का गान करते हैं। बाल्मीकीय रामायण के अनुसार सीता को यज्ञ में बुलाया जाता है, परन्तु वहीं पर पृथ्वी गर्भ से एक सिंहासन निकलता है और सीता जी उस पर बैठ कर धरती में लीन हो जाती हैं। परन्तु 'वैदेही बनवास' में ये समस्त प्रसंग परिवर्तित होकर आये हैं। 'वैदेही बनवास' में लवकुश द्वारा रामायण का गान आश्रम में ही होता है और इसमें किसी बली-अश्व के पकड़े जाने का प्रसंग नहीं है। वैदेही राम द्वारा निमंत्रित होकर अयोध्या जाती हैं, परन्तु जैसे ही वह रथ से उतर कर राम के चरणों का स्पर्श करने लगती हैं कि उनका शरीरान्त हो जाता है। इस प्रकार श्री हरिऔध ने अनेक प्रसंगों को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है।

मौलिक संयोजनाएँ

वैदेही बनवास के प्रथम प्रसंग की सम्पूर्ण संयोजना काल्पनिक है। सीता का उत्ताप, लंका दहन के लोमहर्षक संस्मरण, युद्ध की विभीषिका, विश्व शान्ति की परि-कल्पना और राम का प्रगति-दर्शन ये सब मौलिक प्रसंग हैं। 'वैदेही बनवास' में लोकापवाद के प्रसंग में विचार-विनिमय के लिए राम का गुरु वशिष्ठ से मिलना भी

राणा भी है। पर युद्ध नहीं टलता।

दोनों को युद्ध में रत देखकर पुरोहित उन्हें रोकता है। वह कहता है—

राजपूत कुल के कलंक
अब लज्जा से तुम झुक जाओ।
शक्तसिंह तुम रुको रुको,
राणा प्रताप तुम रुक जाओ।

अन्तिम दो पंक्तियों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध करते हुओं को कोई व्यक्ति पूरे वाणी-बल से रोकने का प्रयत्न कर रहा है।

झाला ने देखा कि मेवाड़-सूर्य प्रताप शत्रुओं से इतना घिर गया है कि उसके प्राण संकट में हैं तो वह अपनी दुधारी तलवार ले उसकी रक्षा हेतु बढ़ रहा है—

राणा प्रताप की जय करता
राणा तक बढ़ता चला गया।

एक और भावपूर्ण स्थल है, जब राणा रण-क्षेत्र से बचकर जा रहा था, तब शक्तसिंह उसके पीछे हो लिया। भ्रातृ-स्नेह के वश उसने मार्ग में राणा के दो शत्रुओं को समाप्त किया और स्वयं राणा को आवाज़ देकर रोका और घोड़े से उतर कर तलवार गले में डालकर राणा के पास जाकर कहा—

करुणा कर तू करुणागार,
दे मेरे अपराध बिसार,
या मेरा दे गला उतार,
तेरे कर में है तलवार।

राणा के उर में बन्धु-दुलार उमड़ा और उसने भावतिरेक में आकर—

उसे उठाकर लेकर गोद,
गले लगाया सजल-समोद।

चेतक राणा के लिए बन्धुओं से अधिक प्रिय था और एक अत्यन्त विश्वसनीय साथी। वह उसकी गति और साथ ही शक्ति था। युद्ध-क्षेत्र से राणा के प्राणों की रक्षा प्राण-पण से करके जब नाले के समीप चेतक अपने प्राण त्याग देता है तो राणा प्रताप का विलाप अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—

हा, चेतक तू पलकें खोल,
कुछ तो उठकर मुझसे बोल।
मुझको तू न बना असहाय,
मत बन मुझसे निठुर अबोल।

जो राणा युद्ध में रक्त की धाराओं और लाशों के ढेर देखकर, घायलों को

उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त राम और सीता से सम्बन्धित अनेक ऐसे लघु प्रसंग भी आते हैं जहाँ उनके मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व का रूप मिलता है। वे स्थल पर्याप्त सुन्दर हैं। कहना न होगा कि इस समय तक हिन्दी कथासाहित्य में सूक्ष्म मनोविश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रणयन आरम्भ हो चुका था। अतः इस समसामयिकता का प्रभाव एक सीमा तक 'वैदेही बनवास' में भी दिखाई देता है।

कथासूत्र दशम सर्ग से शिथिल होने लगता है और सोलहवें सर्ग तक वह शिथिल ही रहता है क्योंकि इन सभी सर्गों में सीता के दैनंदिन जीवन का ब्यौरा, आश्रम की चर्चाएँ और कुछ ऐसे अन्य प्रसंग हैं, जिनके द्वारा कथासूत्र में अपेक्षित प्राण चेतना संचरित नहीं होती है। इसी प्रकार आत्रेयी और विज्ञानवती के साथ सीता की बातचीत नाटकीय ढंग की न होकर निबन्धात्मक प्रकार की हो गई है।

कवि ने दो एक सर्गों को छोड़कर सभी सर्गों के प्रारम्भ में प्रकृति वर्णन का अनपेक्षित विस्तार किया है। इस प्रकार प्राकृतिक पश्चभूमि मूल-कथा के अनुपात से अधिक हो गई है तथा वह कथा-संयोजन में बाधा-जनक सी लगने लगती है।

उपर्युक्त कथा-संघटन के स्वरूप, सीमाओं और दिशाओं के संक्षिप्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि उसमें प्रबन्धोचित शिल्प चेतना का अपेक्षित रूप प्राप्त नहीं होता है। यहाँ महाकाव्य के मानदण्डों के परम्परित आधारों की चर्चा बहुत संगत नहीं क्योंकि कामायनी तक आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के अन्तरंग और बहिरंग में युगान्तरकारी परिवर्तन हो चुके थे। अतः इतना तो स्पष्ट है कि 'वैदेही बनवास' में न तो महाकाव्य-सा सम्पूर्ण औदात्य है और न ही प्रबन्धकाव्य की शिल्प सापेक्ष्य संघटना ही है। फिर भी इसे महाकाव्य की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य कहना ही अधिक संगत होगा। भले ही इसमें महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय अथवा पाश्चात्य लक्षणों का पर्याप्त पालन हुआ हो, परन्तु इसमें महाकाव्योचित ऊर्जा और अन्तरंग दीप्ति का प्रकृष्ट रूप नहीं मिलता है, ऐसी अवस्था में इसे ससंकोच ही महाकाव्य कहा जा सकता है।

चरित्र-चित्रण

लेखक को 'वैदेही वनवास' में सर्वाधिक सफलता राम और सीता के चरित्र चित्रण में मिली है। उसने राम और सीता का अनेक प्रसंगों में मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व चित्रित कर एक ओर उनके लोक-कल्याणकारी संकल्प का प्रतिपादन किया है दूसरी ओर राम के जीवन पर सीता-परित्याग के आक्षेप का औचित्य प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि इस दिशा में ऐसा अभिनन्दनीय प्रयास अभी तक नहीं हुआ था। साकेतकार ने केवल उपेक्षित नारी पात्रों को ही उत्थापित किया था, परन्तु सीता परित्याग का औचित्यपूर्ण प्रसंग जोड़ने में श्री हरिऔध को कितनी सफलता मिली है, यह प्रश्न विचारणीय है। रामकथा के अनेक ग्रन्थों में ऐसा प्रसंग तो आता है कि

राणा भी है। पर युद्ध नहीं टलता।

दोनों को युद्ध में रत देखकर पुरोहित उन्हें रोकता है। वह कहता है—

राजपूत कुल के कलंक
अब लज्जा से तुम झुक जाओ।
शक्तसिंह तुम रुको रुको,
राणा प्रताप तुम रुक जाओ।

अन्तिम दो पंक्तियों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध करते हुओं को कोई व्यक्ति पूरे वाणी-बल से रोकने का प्रयत्न कर रहा है।

झाला ने देखा कि मेवाड़-सूर्य प्रताप शत्रुओं से इतना घिर गया है कि उसके प्राण संकट में हैं तो वह अपनी दुधारी तलवार ले उसकी रक्षा हेतु बढ़ रहा है—

राणा प्रताप की जय करता
राणा तक बढ़ता चला गया।

एक और भावपूर्ण स्थल है, जब राणा रण-क्षेत्र से बचकर जा रहा था, तब शक्तसिंह उसके पीछे हो लिया। भ्रातृ-स्नेह के वश उसने मार्ग में राणा के दो शत्रुओं को समाप्त किया और स्वयं राणा को आवाज़ देकर रोका और घोड़े से उतर कर तलवार गले में डालकर राणा के पास जाकर कहा—

करुणा कर तू करुणागार,
दे मेरे अपराध बिसार,
या मेरा दे गला उतार,
तेरे कर में है तलवार।

राणा के उर में बन्धु-दुलार उमड़ा और उसने भावतिरेक में आकर—

उसे उठाकर लेकर गोद,
गले लगाया सजल-समोद।

चेतक राणा के लिए बन्धुओं से अधिक प्रिय था और एक अत्यन्त विश्वसनीय साथी। वह उसकी गति और साथ ही शक्ति था। युद्ध-क्षेत्र से राणा के प्राणों की रक्षा प्राण-पण से करके जब नाले के समीप चेतक अपने प्राण त्याग देता है तो राणा प्रताप का विलाप अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—

हा, चेतक तू पलकें खोल,
कुछ तो उठकर मुझसे बोल।
मुझको तू न बना असहाय,
मत बन मुझसे निठुर अबोल।

जो राणा युद्ध में रक्त की धाराओं और लाशों के ढेर देखकर, घायलों को

स्वरूप शान्तिमय और अहिंसात्मक था। अतः कवि ने राम का चरित्र भी इसी के अनुरूप प्रस्तुत किया है। राम लोकापवाद के मूल में चल रही विद्रोही लवणासुर की दुरभिसँधियों को जानते हैं, परन्तु वे नहीं चाहते कि राष्ट्र में किसी प्रकार का रक्त-पात और अशांति हो। वे शांति स्थापना के लिए दण्डनीति की अपेक्षा साम नीति को अधिक उत्तम और श्रेय्कर समझते हैं।[1] समाजव्यापी असन्तोष का निराकरण वह दमन से नहीं प्रत्युत् आत्मत्याग से करते हैं। क्योंकि दमन से लोकाराधन का का व्रतखण्डित होता है।[2] अतः दृढ़व्रती होकर उस पुण्य संकल्प में जुट जाते हैं और इसके लिए महान् त्याग करते हैं।

कवि ने राम के हृदय का मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व भी प्रस्तुत किया है। लोकापवाद की बात सुनकर राम अत्यन्त उद्वेलित हो उठते हैं। उनके सामने सीता की अग्नि परीक्षा का दृश्य घूमने लगता है और सीता की परीक्षित पावनपूत प्रतिमा उनके हृदय में प्रकट होती है।[3] तब उनका लोकव्रत उदित होता है, परन्तु फिर उनके सामने सीता का सती-साध्वी रूप उभरने लगता है। अन्त में वे यही निर्णय करते हैं कि लोकरंजन और लोककल्याण के लिए वे समस्त सुखों, हितों का परित्याग कर अपने पुनीत व्रत का पालन करेंगे।[4] राम के चरित्र में प्रगतिवादी चेतना की झलक भी मिलती है। परन्तु वह विद्रोही न बनकर लोकसंग्रहमूलक और समाज सेवी रूप धारण करती है।[5]

राम और सीता के चरित्र की ये दोनों विशिष्टताएँ ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि कवि ने इन्हें अपने समकालीन सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है।

प्रकृति-चित्रण

पीछे मैं यह कह चुका हूँ कि 'वैदेही बनवास' में प्रकृति चित्रण उसके अपेक्षित अनुपात से अधिक मात्रा में हुआ है। अठारह में से पन्द्रह सर्गों का समारम्भ प्रकृति चित्रण से ही होता है। समस्त रचना में प्रकृति चित्रण के अनेक विध रूप मिलते हैं। आदिकाल से लेकर छायावाद तक प्रकृति चित्रण की जितनी भी विधायें अनुस्यूत हुई हैं, उन सभी के दर्शन उसमें होते हैं। प्रकृति का शिक्षाप्रद रूप, उद्दीपन रूप, संवेदनशील और सचेतन रूप, उसका मानवीय व्यापारों से ओतप्रोत रूप तथा रहस्यात्मक रूप, प्रतीकात्मक रूप और आलंकारिक रूप आदि आदि, सभी का पर्याप्त रूप इस रचना में मिलता है। परन्तु जो विशेष बात मुझे इस प्रसंग में कहनी है,

---

१. वैदेही बनवास; तृतीय सर्ग, छन्द संख्या ८२।

२. वही, ६३।

३. वही, द्वितीय सर्ग, छन्द संख्या २१-२३।

४. वही, तृतीय सर्ग, छन्द संख्या ६७-१००।

५. वही; प्रथम सर्ग, छन्द संख्या ६२ तथा ६८।

बन गये वीर मतवाले थे
आगे वे बढ़ते चले गए
राणा प्रताप की जय करते
तोपों तक चढ़ते चले गये ।

रौद्र रस :—राणा प्रताप ने जब मानसिंह का स्वागत नहीं किया तो मानसिंह अपनी अवज्ञा देखकर यों रौद्ररूप धारण करता है—

घोर अवज्ञा से ज्वाला सी,
लगे दहकने त्रिकुटी ।
अधिक क्रोध से वक्र हो गई,
मानसिंह की भृकुटी ।।

बीभत्स :—हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् युद्धभूमि का जो दृश्य कवि ने चित्रित किया है, वह बीभत्स रस की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है । नमूना देखिये—

आंखें निकाल उड़ जाते,
क्षणभर उड़कर आ जाते,
शव-जीभ खींचकर कौवे
चुभला-चुभला कर खाते ।

दूसरी ओर जम्बुकों की बहादुरी देखिये :—

खा मेदा सड़ा ढुलककर
कर दिया वमन अवनी पर ।
झट उसे अन्य जम्बुक ने
खा लिया खीर सम जी भर ।।

करुण रस :—प्रस्तुत काव्य में करुण रस के भी बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । राणा प्रताप का घोड़ा चेतक, घोड़ा मात्र नहीं है, वह तो उसका संगी-साथी, रक्षक सब कुछ था । उसकी मृत्यु पर राणा को असीम वेदना हुई । अपार शोक में राणा विह्वल होकर चेतक को पुकारता है—

हा ! चेतक, तू पलकें खोल,
कुछ तो उठकर मुझसे बोल ।
× × ×
वैरी को देना परिताप
गज मस्तक पर तेरी टाप ।

यहाँ चेतक आलम्बन है, उसकी मृत्यु उद्दीपन, राणा का विलाप करना, चेतक के कार्यों का स्मरण आदि संचारी भावों से पुष्ट शोक भाव करुण रस की धारा प्रवाहित करता है ।

अतः रस की दृष्टि से हल्दीघाटी एक उत्तम रचना है ।

३५
यामा

डॉ० जयनाथ नलिन

महादेवी आधुनिक काव्यसाधना की एक गौरवपूर्ण उपलब्धि हैं।[1] युग-मानस-सिंधु-मंथन से प्राप्त अश्रु-पीयूष-कलश हैं, जिसकी झलक से आधुनिक हिन्दी काव्य जगमगाया है; जिसकी छलक से वह धुल-निखर कर अमलधवल हो निकला है, स्निग्ध सरस भी बना है। साधना की धरती इनके आँसुओं से अभिसिंचित हुई है। वेदना का अक्षय भण्डार लेकर महादेवी काव्य में उतरीं। यह वेदना ही उनकी सहज गरिमा है—अक्षुण्ण समृद्धि है; क्योंकि पीड़ा या दुखवाद से ही उनका कवयित्री-रूप उगा, पनपा और विकसित हुआ।

सामाजिक विषमताओं, मानवी बेवसियों, राष्ट्रीय दासता, आत्मग्लानि या आर्थिक अभाव-पीड़ा से उत्पन्न परिस्थितियां महादेवी की वेदना की उद्दीपक, प्रेरक या जननी नहीं। सम्भव है, उनका असफल और विनष्ट दाम्पत्य जीवन इसके मूल में हो। केवल दो कविताओं में विश्व मानव के जर्जर जीवन और क्रन्दन की ओर संकेत हुआ है,[2] शेष सम्पूर्ण काव्य में वह धरती की नहीं, आकाश की गायिका रही हैं।

---

१. महादेवी के अब तक पांच काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत और दीपशिखा। इनमें से प्रथम चार यामा में संकलित हैं।

२. (क) देखूं सूखी कलियां या
प्यासे सूखे अधरों को?
तेरी चिर यौवन-सुषमा
या जर्जर जीवन देखूं?
तुझ में अम्लान हंसी है
इसमें अजस्र आंसू जल
तेरा वैभव देखूं या
जीवन का क्रन्दन देखूं?—रश्मि, यामा, पृष्ठ ९९-१००।

(ख) मेरे हंसते अधर नहीं जगको आंसू लड़ियां देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत मुरझाई कलियां देखो। नीरजा, यामा, पृष्ठ १५०।

प्रभु का संसृति पर अधिकार उसका मैं पावन अविकार।
यह भव-सागर कठिन अपार, दीन-इलाही से उद्धार।

एक-दो स्थानों पर अनुपयुक्त शब्द आ गये हैं। भामा राणा को अपार धन देता हुआ कहता है—

'एकत्र करो इस धन से तुम सेना वेतन भोगी।'

यह तो सभी जानते हैं कि सेना वेतन-भोगी होती है। पर जब विशेष रूप से कहा जाता है तो इसका अर्थ व्यंग्य से कहना होता है जैसे वेतन भोगी सेना तो उतना ही लड़ेगी जितना उसे मिलता है।

राणा प्रताप की कन्या के हाथ से घास की रोटी को जब वन-विलाव छीनकर ले गया तो कन्या का क्रन्दन सुनकर राणा उसे गोद में बैठाकर रोने का कारण पूछता है। कवि उस कन्या के लिए तुतली भाषा का प्रयोग करता है, पर वह भाषा उपयुक्त नहीं बैठी। शिशु एक ओर 'स' अक्षर का उच्चारण करने में असमर्थ है और वह उसके स्थान पर 'छ' बोलती है, तो 'र' के स्थान पर 'ल' दूसरी ओर वह भूख, ज्वाला, मुझको, क्यों आदि शब्दों का ठीक उच्चारण कर लेती है, कन्या जो उत्तर देती है, वह भी उस आयु की कन्या के लिए बड़ा कठिन है। कन्या का प्रश्न देखिए :—

वह कौन छत्रु है जिछने छेना का नाछ किया है ?
तुझको, माँ को, हम छवको, जिसने बनबाछ दिया है ?

उद्देश्य और सन्देश—'हल्दीघाटी' की रचना करने का उद्देश्य है—(कवि के शब्दों में) 'हल्दीघाटी के छन्द निर्झर की तरह अबाध गति से बहते रहें, उनमें वह बिजली पैदा हो, जिससे मुर्दों की भुजाएँ फड़कने लगें, उनसे वह 'टानिक' उद्भूत हो जिससे पढ़ने वालों का खून बढ़ने लगे और वह प्रकाश फूट पड़े, जिससे एक बार सारा राष्ट्र जगमगा उठे।' कवि अपने उद्देश्य में निस्सन्देह सफल हुआ है। उसने देशवासियों में वीरता की भावना भरने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। स्वतंत्रता-संग्राम में इस कृति का पर्याप्त योगदान रहा होगा। १९४६ ई० तक इस रचना की पाँचवी आवृत्ति हो जाना इस बात का प्रमाण है कि जनता में यह रचना कितनी लोकप्रिय हो चुकी थी।

देशवासियों के लिए इस रचना में एक सन्देश निहित है—

बनकर राणा सदृश महान सीखें हम होना कुर्बान।
चेतक सम लें वाजि खरीद, जननी पद पर हों बलिदान॥

संस्कार का मतलब है, अटल आस्था या यह चिरन्तन विश्वास कि साधिका सृष्टि के उन्मेष से भी पहले से अनगिनत जन्मों से उसी अगोचर अनादि अनन्त साध्य की प्रणयिनी है—और परिणीता भी। उसी अंशी-ब्रह्म की वह अंश-आत्मा है :—

मैं तुम से हूँ एक, एक है जैसे रश्मि-प्रकाश,
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास।

(रश्मि, यामा, पृष्ठ १०४)

× × ×

सिंधु को क्या परिचय दे देव,
बिगड़ते-बनते वीचि-विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुदबुद प्राण,
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।

रश्मि, यामा, पृष्ठ ६४।

इन पंक्तियों में प्रियतम और प्रेयसी की जो एकरूपता और अद्वैतता स्थापित है, वह आत्मा-परमात्मा की वेदांती या अद्वैतवादी अखण्डता है। यह "दरयाव की लहर दरयाव है जी" के समान एक सैद्धान्तिक निरूपण है। इसे कवयित्री की आस्था कहा जा सकता है :—

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।
श्वास में मुझको छिपाकर वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी,
बुझ बुझ जली चल दामिनी मैं।

× × ×

दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे।
फूंक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे।
वह रहें आराध्य चिन्मय,
मृण्मयी अनुरागिनी मैं।

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २३७)

यह विश्वास कि उसका प्रणयालम्बन चिरन्तन है, उसके लिये अचल अवलम्ब है—वह क्षण-क्षण नवीन सुहागिन रहती है। चिर सुहागिनी तो वह है ही, वह भी चिरन्तन और उसका प्रियतम भी चिरन्तन; पर प्रतिक्षण अभिनव यौवन, अपूर्व उल्लास, अम्लान सौंदर्य, अनुपम मुग्धता और सद्य-अनुभूत मीठी-मीठी गुदगुदी और मदिर-मदिर धड़कनें। वह कालातीत प्रेम को पोसती हुई जीती है—एकनिष्ठ

स्वीकृत नहीं किया है। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में राम और कृष्ण का स्वरूप अनेक दिशाओं में जनसामान्य के लिए अविश्वसनीय और अवैज्ञानिक बनता गया। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक इतिहास-बोध के अभाव में इनके जीवन के अनेक पक्षों को विकृत और लांच्छित रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।

द्विवेदी काल में भारतीय आदर्शों और अध्यात्म पुरुषों को जो बौद्धिक, वैज्ञानिक और मानवीय आधार दिए गए, उनमें श्री उपाध्याय जी का योग-दान ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उन्होंने राम और कृष्ण के जीवन को मानवीय परिवेश में प्रस्तुत करने के स्तुत्य प्रयास किए हैं। उनके जीवन की अविश्वसनीय घटनाओं को वैज्ञानिक रूप में परिभाषित किया है और उनके जीवन के आक्षिप्त पक्षों का औचित्य भी प्रस्तुत किया है।

पौराणिक आख्यानों को नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का कवि का एक और ध्येय भी रहा है। वह है वर्तमान जीवन की विद्रूपताओं, विसंगतियों और विडम्बनाओं को उन आख्यानों के सन्दर्भ में विचारित और समाधीत करना। इस दिशा में उन्होंने राम और कृष्ण-जीवन से ऐसी समृद्ध प्रतीकात्मक व्यंजनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनके आलोक में समसामयिक जीवन और समाज की अनेक विषमताओं का समाधान ढूंढा जा सकता है।

इस प्रसंग में जिस सन्दर्भ की ओर अभी तक हरिऔध साहित्य के अध्येताओं ने बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया है, वह है—उस युग का पारिवेशिक परिपार्श्व। अर्थात् जिस युग-स्थिति में वैदेही बनवास' का प्रणयन हुआ, उसकी सन्दर्भ रूप में स्वीकृति। विवेच्य रचना का प्रकाशन १९४० में होता है। आलोचकों ने इसके विवेचन और विश्लेषण में तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों—राजनैतिक संघर्षों ए आन्दोलनों के स्वरूप एवं प्रभाव को ही अन्वेषित किया है जबकि सार्वजनिक सन्दर्भों की उन्होंने नितान्त उपेक्षा की है। इस दिशा में द्वितीय महायुद्ध विशेष महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है। प्रथम सर्ग में ही सीता युद्ध की विभीषिकाओं के लोमहर्षक चित्र प्रस्तुत करती है। इसी से प्रेरित होकर रचनाकार भी समग्र रचना में राम के विश्व शान्ति-व्रत, लोकाराधन और साम-नीति के माध्यम से अपने विचार युगानुकूल दृष्टि से प्रस्तुत करता है। आगे अपेक्षित प्रसंगों में इनकी सविस्तार चर्चा की गई है। यहां हमारा अभीप्सित केवल इतना ही बताना है कि द्वितीय महायुद्ध 'वैदेही बनवास' का एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ है।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने व्यक्तिगत जीवन में भी राम की तरह ही अपनी पत्नी से वियुक्त होने की पीड़ा भोगते हैं। सन् १९०५ में उनकी पत्नी दिवंगत हो जाती है।[1] तब कवि राम की तरह ही व्रतधारी जीवन व्यतीत करता

१. डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा, हरिऔध और उनका साहित्य, पृष्ठ ४४।

इन कनक रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर-तम-सिंधु जाग।

बुदबुद से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग।

बनती प्रवाल का मधुर कूल जो क्षितिज रेख थी कुहुरम्लान।

रश्मि, यामा, पृष्ठ ६९।

मल्लिका-से सुकुमार मेघों ने इन्द्रधनुषी चँदोवा ताना, निहार कणिका कलियों की ताल पर नाचने लगीं, सौरभ-कुन्तल लहराती समीर-परियाँ प्रतीक्षा में पहरा देने लगीं, कमल अलस मद में झूमने लगे—सम्भवतः प्रकृति के प्रणय और आकर्षण का आलम्बन धरती पर उतरने वाला है।

साधिका के माया-विस्मृति में भूले हृदय में सुधि का प्रभात जगमगा उठा और उसके जीवन में अश्रुहास [सुखदुख] का विलक्षण भाव जाग गया :—

रंग रहा हृदय ले अश्रुहास,
वह चतुर चितेरा सुधि विहान।

× × ×

किस सुधि वसंत का सुमनतीर।
कर गया मुग्ध मानस अधीर।

(रश्मि, यामा, पृष्ठ ७०)

× × ×

प्राकृतिक उद्दीपक परिवेश उसको भी 'पुलका-सिहरा देता है। उसकी आदि वासना भी जाग उठती है और मिलन की कामना भी :—

पुलक-पुलक उर सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली।
बुनते नव प्रवाल कुंजों में,
रजत श्याम तारों से जाली।
शिथिल मधु पवन गिनगिन मधुकण।
हर सिंगार झरते हैं झटझट।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १३१)

सात्विक भाव रोमांच [पुलक] और कम्प [सिहरन] अनुभाव अश्रु [नयन भर आना], उद्दीपन प्राकृतिक परिवेश—इन सबसे आश्रय (कवयित्री) के हृदय में उद्-बुद्ध रतिभाव की अभिव्यंजना होती है। प्रकृति द्वारा उस चिरन्तन पुरुष की प्रतीक्षा को अनेक गीतों में प्रकट किया गया है। प्रकृति का यह वासकसज्जा रूप महादेवी के काव्य में विभिन्न स्थलों पर चित्रित हुआ है।

वृत्त-विवेचन

वृत्त-विवेचन दो दृष्टियों से किया गया है। एक : यह कि वैदेही बनवास की कथा में किन-किन ग्रन्थों को आधार रूप में स्वीकार किया गया है और उसमें घटनागत और पात्रगत कौन-कौन सी परिवर्तित और नवीन संयोजनाएं हुई हैं। दो : क्या वैदेही बनवास का कथानक महाकाव्य के लिए अनुकूल एवं पर्याप्त है।

अपरिवर्तित प्रसंग

श्री उपाध्याय ने 'वैदेही बनवास' के लिए मुख्यतः श्री वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश, उत्तररामचरित और अध्यात्म रामायण को आधार रूप में स्वीकार किया है। कवि ने इन ग्रन्थों से विविध ऐतिहासिक सूत्र एकत्रित कर उन्हें वैदेही बनवास में संग्रथित किया है। इसमें द्वितीय सर्ग का प्रसंग उत्तररामचरित से लिया गया है। उसमें भी सीता संबंधी लोकापवाद की बात दुर्मुख नाम का पात्र सुनाता है। परन्तु अन्य राम ग्रन्थों में दुर्मुख का नाम नहीं आता है। रघुवंश और वाल्मीकीय रामायण में उसका नाम भद्र है और अध्यात्म रामायण में उसका नाम विजय है। इसी प्रकार सीता के वन-गमन से पूर्व 'वैदेही बनवास' में राम अपने बन्धु-बाधवों से विचार-विनिमय करते हैं। यह सूत्र रघुवंश और वाल्मीकीय रामायण से लिया गया है। वैदेही बनवास में लक्ष्मण सीता को छोड़ आने के बाद राम से समस्त वृत्तान्त कहते हैं और सीता की प्रशंसा भी करते हैं। कवि ने यह प्रसंग रघुवंश से लिया है। वैदेही बनवास में शत्रुघ्न लवणासुर के वध के लिए जाते हुए वाल्मीकि आश्रम में रुकते हैं और सीता से मिलते हैं। लेखक ने यह प्रसंग बाल्मीकीय रामायण और रघुवंश से लिया है। बनवास के दिनों में सीता पशु-पक्षियों के पालन में विशेष रुचि दिखाती है। वैदेही बनवास के इस प्रसंग का आधार उत्तर रामचरित है। वैदेही बनवास में आत्रेयी का जो प्रसंग मिलता है, वह भी 'उत्तर रामचरित' पर आश्रित है। इसी रचना में कवि ने शत्रुघ्न को लवणासुर-वध के बाद पुनः बाल्मीकीय आश्रम में आते दिखाया है, इस प्रसंग का आधार बाल्मीकीय रामायण है। इसी प्रकार 'वैदेही बनवास में राम शम्बूक वध के लिए पंचवटी जाते हैं। वहीं उन्हें सीता का स्मरण होता है और 'वनदेवी' से भी बातचीत होती है। इन सभी प्रसंगों का आधार उत्तर रामचरित है।

परिवर्तित प्रसंग

हरिऔध जी ने अनेक प्रसंगों को परिवर्तित रूप में प्रतिपादित किया है, परन्तु ऐसे परिवर्तन द्वारा एक ओर उनके मूल ऐतिहासिक रूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है और दूसरी ओर उनका काव्य-रूप उत्कृष्ट बना है। 'वैदेही बनवास' के द्वितीय सर्ग में चित्रशाला का वर्णन परिवर्तित रूप में हुआ है। 'उत्तर रामचरित' में राम और सीता को लक्ष्मण चित्रशाला दिखाते हैं, परन्तु 'वैदेही बनवास' में अकेले

एक बार, एक लघुतम क्षण के लिए ही मिल जाता, वह क्षणिक मिलन भुजपाश में कसीला बंधन, इतना मादक इतना सुखसिहरन भरा, इतना उल्लास उच्छलित और इतना अनुभूति-विस्मृत होता कि जीवन चिरन्तन आकुल तृष्णा बुझ जाती :—

तुम्हें बाँध पाती सपने में,
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में,
सासें कहती अमर कहानी,
पल पल बनता अमिट निशानी,
प्रिय मैं लेती बाँध मुक्ति सौ-सौ लघुतम बंधन अपने में।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १३२)

लेकिन वह बेदर्द स्वप्न में भी न आया—तब छलछल आँसुओं में गलगल बह जाने के सिवा चारा ही क्या—विरह-साधिका[1] सिसकती हुई अनुरोध करती है:—

मेरा सजलमुख लेते।
यह करुण मुख लेते।
साध है तुम,
बन सघनतम,
सघन अवगुण्ठन उठा,
गिन आँसुओं की रेख लेते!

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २१५)

कितनी महत्वाकांक्षा थी और कितनी लघु-सी अभिलाषा—बस एक बार घूँघट में सिसकती, लज्जाशीला, नई दुलहन का घूँघट हटाकर उसका करुण मुख देख लेता उसका प्रियतम ! यदि एक बार भी देख लेता तो जान जाता कि वह भावुक बाला इतनी रोई है कि गालों पर आँसुओं की लकीरें बन गई हैं। और देख लेता तो इतना पाषाण न बना रहता—द्रवित हो जाता। बेताबी से विरह कातर प्रणयिनी को हृदय से लगा लेता। लेकिन कामिनी की यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई ! जीवन एक उच्छ्वास-भरा पछतावा-मात्र रह गया।

मन जब ठिकाने आता है, तो पत्र द्वारा व्यथा-निवेदन करने का प्रयास करती है। पर वह भी नहीं कर पाती।[2] कभी बादलों में प्रिय का सन्देश पाती है। कभी मुस्कराते नभ से प्रिय के आगमन का संकेत।[3] पर प्रिय क्षितिज-से अप्राप्य ही रहे।

---

१. कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती ? नीरजा, यामा, पृष्ठ १५६।
२. लाये कौन संदेश नया घन ? नीरजा, यामा, पृष्ठ १८३।
३. मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ? नीरजा, यामा, पृष्ठ १७९।

एक मौलिक प्रसंग है। वन-गमन से पूर्व सीता का अपनी बहिनों और सासों से विदा लेना भी सर्वथा एक नवीन प्रसंग है।

'वैदेही बनवास' का दशम सर्ग भी पूर्णतया मौलिक है। शरत् चाँदनी में देवालय के समक्ष बैठी सीता राम के प्रिय ध्यान से भावविह्वल हो उठती हैं। ऐसा प्रसंग किसी भी अन्य रचना में नहीं मिलता है।

१४वां सर्ग भी सर्वथा मौलिक है। इसमें विज्ञानवती और वैदेही के परस्पर संवाद की चर्चा सर्वथा नवीन है। यहाँ तक कि विज्ञानवती पात्र भी पूर्णतया अनैतिहासिक है।

अन्वयन कौशल

'वैदेही वनवास' की विभिन्न घटनाओं और कथा सूत्रों का समुचित अन्वयन नहीं हुआ है। लेखक ने प्रिय-प्रवास में जो पूर्व-दीप्ति विधा (Flash Back Technique) अपनाई थी उस द्वारा 'वैदेही वनवास' का कथावृत्त पर्याप्त समृद्ध और संघटित बन सकता था, परन्तु लेखक ने उसका उपयोग नहीं किया है। वैसे 'वैदेही बनवास' में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ पर इस विधा का सफल प्रयोग हो सकता था और राम कथा के अनेक प्रसंग इसमें जुड़ सकते थे। फिर भी लेखक ने कहीं-कहीं इस विधा का जो प्रयोग किया है उससे कथानक में थोड़ी बहुत शिल्प चेतना जगी है। प्रथम सर्ग में सीता लंकादहन की बातें स्मरण करती हैं तथा त्रयोदश सर्ग में आत्रेयी सीता के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करती है और सत्तरहवें सर्ग में जब राम शम्बूक-वध के निमित्त पंचवटी जाते हैं, तो वहाँ उन्हें सीता का स्मरण हो आता है और वनवास के दिनों को याद कर वे संवेदित हो उठते हैं। इसी प्रकार सीता पन्द्रहवें सर्ग में पुत्रों को गंगावतरण का प्रसंग सुनाती है।

लेखक ने कुछ मनोवैज्ञानिक परिपार्श्व भूमियों और कथा-सूत्रों द्वारा भी वैदेही वनवास के कथानक को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया है। पंचम सर्ग में राका की मधुचाँदनी में वैदेही प्रसन्न खड़ी हैं और अचानक अनेक मेघखण्ड उमड़ने लगते हैं और वह मधुर आलोक व चन्द्र बिम्ब आच्छादित हो जाता है। इसके साथ ही राम उन्हें वन गमन की सूचना देते हैं। सीता लोकापवाद को साम नीति से शान्त करने के लिए और राम जन गल के पुनीत व्रत में सहायक बनने के लिए यह प्रस्ताव-सहर्ष स्वीकार कर लेती हैं। राम के हृदय से एक बड़ा बोझ उतर जाता है। तब वे घिर रहे बादल उड़ जाते है। इस प्रसंग से पूर्व बादलों का उमड़ना और अन्त में उड़ना अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार प्रथम सर्ग में वैदेही के मन में लोक-मंगल और लोककल्याण का संकल्प जगने लगता है और राम भी सीता के आगे अपने लोकाराधन व्रत की चर्चा करते हैं। उस समय का प्रकृति का परिपार्श्व भी वैसा ही शिक्षाप्रद है, परन्तु ऐसे प्रसंग अत्यधिक नहीं हैं।

एक बार, एक लघुतम क्षण के लिए ही मिल जाता, वह क्षणिक मिलन भुजपाश में कसीला बंधन, इतना मादक इतना सुखसिहरन भरा, इतना उल्लास उच्छलित और इतना अनुभूति-विस्मृत होता कि जीवन चिरन्तन आकुल तृष्णा बुझ जाती :—

तुम्हें बाँध पाती सपने में,
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में,
साँसें कहती अमर कहानी,
पल पल बनता अमिट निशानी,
प्रिय मैं लेती बाँध मुक्ति सौ-सौ लघुतम बंधन अपने में।
(नीरजा, यामा, पृष्ठ १३२)

लेकिन वह बेदर्द स्वप्न में भी न आया—तब छलछल आँसुओं में गलगल वह जाने के सिवा चारा ही क्या—विरह-साधिका[1] सिसकती हुई अनुरोध करती है:—

मेरा सजलमुख लेते।
यह करुण मुख लेते।
साध है तुम,
बन सघनतम,
सघन अवगुण्ठन उठा,
गिन आँसुओं की रेख लेते!
(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २१५)

कितनी महत्वाकांक्षा थी और कितनी लघु-सी अभिलाषा—बस एक बार घूंघट मे सिसकती, लज्जाशीला, नई दुलहन का घूंघट हटाकर उसका करुण मुख देख लेता उसका प्रियतम! यदि एक बार भी देख लेता तो जान जाता कि वह भावुक बाला इतनी रोई है कि गालों पर आँसुओं की लकीरें बन गई हैं। और देख लेता तो इतना पाषाण न बना रहता—द्रवित हो जाता। बेताबी से विरह कातर प्रणयिनी को हृदय से लगा लेता। लेकिन कामिनी की यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई! जीवन एक उच्छ्वास-भरा पछतावा-मात्र रह गया।

मन जब ठिकाने आता है, तो पत्र द्वारा व्यथा-निवेदन करने का प्रयास करती है। पर वह भी नहीं कर पाती।[2] कभी बादलों में प्रिय का सन्देश पाती है। कभी मुस्कराते नभ से प्रिय के आगमन का संकेत।[3] पर प्रिय क्षितिज-से अप्राप्य ही रहे।

---

१. कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती? नीरजा, यामा, पृष्ठ १५६।
२. लाये कौन संदेश नया घन? नीरजा, यामा, पृष्ठ १८३।
३. मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं? नीरजा, यामा, पृष्ठ १७९।

एक मौलिक प्रसंग है। वन-गमन से पूर्व सीता का अपनी बहिनों और सासों से विदा लेना भी सर्वथा एक नवीन प्रसंग है।

'वैदेही बनवास' का दशम सर्ग भी पूर्णतया मौलिक है। शरत् चाँदनी में देवालय के समक्ष बैठी सीता राम के प्रिय ध्यान से भावविह्वल हो उठती हैं। ऐसा प्रसंग किसी भी अन्य रचना में नहीं मिलता है।

१४वाँ सर्ग भी सर्वथा मौलिक है। इसमें विज्ञानवती और वैदेही के परस्पर संवाद की चर्चा सर्वथा नवीन है। यहाँ तक कि विज्ञानवती पात्र भी पूर्णतया अनैतिहासिक है।

अन्वयन कौशल

'वैदेही बनवास' की विभिन्न घटनाओं और कथा सूत्रों का समुचित अन्वयन नहीं हुआ है। लेखक ने प्रिय-प्रवास में जो पूर्व-दीप्ति विधा (Flash Back Technique) अपनाई थी उस द्वारा 'वैदेही बनवास' का कथावृत्त पर्याप्त समृद्ध और संघटित बन सकता था, परन्तु लेखक ने उसका उपयोग नहीं किया है। वैसे 'वैदेही बनवास' में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ पर इस विधा का सफल प्रयोग हो सकता था और राम कथा के अनेक प्रसंग इसमें जुड़ सकते थे। फिर भी लेखक ने कहीं-कहीं इस विधा का जो प्रयोग किया है उससे कथानक में थोड़ी बहुत शिल्प चेतना जगी है। प्रथम सर्ग में सीता लंकादहन की बातें स्मरण करती हैं तथा त्रयोदश सर्ग में आत्रेयी सीता के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करती है और सतरहवें सर्ग में जब राम शम्बूक-वध के निमित्त पंचवटी जाते हैं, तो वहाँ उन्हें सीता का स्मरण हो आता है और वनवास के दिनों को याद कर वे संवेदित हो उठते हैं। इसी प्रकार सीता पन्द्रहवें सर्ग में पुत्रों को गंगावतरण का प्रसंग सुनाती हैं।

लेखक ने कुछ मनोवैज्ञानिक परिपार्श्व भूमियों और कथा-सूत्रों द्वारा भी वैदेही बनवास के कथानक को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया है। पंचम सर्ग में राका की मधुचाँदनी में वैदेही प्रसन्न खड़ी हैं और अचानक अनेक मेघखण्ड उमड़ने लगते हैं और वह मधुर आलोक व चन्द्र बिम्ब आच्छादित हो जाता है। इसके साथ ही राम उन्हें वन गमन की सूचना देते हैं। सीता लोकापवाद को साम नीति से शान्त करने के लिए और राम जन गल के पुनीत व्रत में सहायक बनने के लिए यह प्रस्ताव-सहर्ष स्वीकार कर लेती हैं। राम के हृदय से एक बड़ा बोझ उतर जाता है। तब वे घिर रहे बादल उड़ जाते हैं। इस प्रसंग से पूर्व बादलों का उमड़ना और अन्त में उड़ना अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार प्रथम सर्ग में वैदेही के मन में लोक-मंगल और लोककल्याण का संकल्प जगने लगता है और राम भी सीता के आगे अपने लोकाराधन व्रत की चर्चा करते हैं। उस समय का प्रकृति का परिपार्श्व भी वैसा ही शिक्षाप्रद है, परन्तु ऐसे प्रसंग अत्यधिक नहीं हैं।

परिचय तो देती ही है, अपनी लघुता-हीनता और प्रिय की असीमता और महत्त्व की भी याद दिलाती है। जब वह नभ के निस्सीम आँगन में अपने लिये छोटा कोना भी पाने की आशा खो बैठती है। "कल थी उमड़ी मिट आज चली" में आत्मोपेक्षा निविड़ता, हताश की बेबसी की घुटन है और प्रिय की सम्पन्नता के प्रति व्यंग्य भी ! असीम होकर भी एक कोना न दे सके !

मैं नीर भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २२७)

यह आत्मोपेक्षा ही जीवन के प्रति विराग है। इस विराग के दो रूप हो सकते हैं, एक तो सभी कामनाओं का दमन कर निस्पृह हो जाना। सुख-दुख में निर्भाव या समभाव हो जाना। दूसरे तिल तिल-जलकर क्षय होना; पर प्रिय से कुछ न चाहना—बल्कि उसकी अनुकम्पा को भी ठुकरा देना। वेदना की यही स्थिति साधना की चरम शिखा है।

आत्मविराग की सर्वाधिक करुणस्थिति है, प्रियतम की कृपा करुणा की भी उपेक्षा :—

क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव अरे यह
मेरा मिटने का अधिकार।

(नीहार, यामा, पृष्ठ ७)

इसी स्थिति में एक और भी स्थिति है, प्रिय के प्रति उपालम्भ की—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम
बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा।

(नीहार, यामा, पृष्ठ ११)

और अतृप्ति उनके जीवन में केवल व्याप्त ही नहीं है, जीवन की साध्य भी बन गई है :—

मेरे छोटे जीवन में
देना तृप्ति का कण भर;

सीता गर्भावस्था में ऋषि आश्रम में जाकर रहना चाहती है, परन्तु ऐसा प्रसंग सम्भ-वतः ही किसी ग्रन्थ में मिले कि रघुकुल में पट्ट-महीषी प्रथम प्रसव के समय ऋषि आश्रम में जाया करती थी। अतः सीता परित्याग प्रसंग के इन दोनों आधारों में से एक तो पर्याप्य सशक्त है, परन्तु दूसरा नहीं। इसीलिए अनेक स्थानों पर कवि की यह उ ्भावना असंगत सी लगने लगती है।

लेखक ने सीता को परम साध्वी और आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत किया है। वह लोक-मंगल का व्रत लेकर वन-गमन स्वीकार करती है और उन्हें अपने पति के लोक-संग्रह व्रत के लिए कष्ट झेलना अत्यन्त प्रिय लगता है। लेखक ने प्रायः सभी पात्रों के मुख से सीता के मृदुस्वभाव, व्रतशीलता का महिमागान करवाया है। सीता बनवास के समय लक्ष्मण, भरत और शत्रुघन उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते है। इसी प्रकार माताएँ, बहनें, महर्षि वाल्मीकीय आश्रम की अनेक स्त्रियाँ सीता के दिव्य गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करती हैं। उसकी समस्त चारित्रिक विशेष-ताएँ भारतीय संस्कृति, आदर्श-गौरव और मर्यादा के अनुकूल हैं। परन्तु कवि ने प्रथम सर्ग में सीता के हृदय का जो उत्ताप प्रस्तुत किया है वह सर्वथा नवीन एवं मनो-वज्ञानिक है। मैं सीता के अन्य परंपरित गुणों के विश्लेषण की अपेक्षा इसकी ही अपेक्षित चर्चा करना संगत समझता हूँ। सीता प्रथम सर्ग में प्रकृति के परिवर्तित रूप को देखकर लंका-दहन की विभीषिका याद करने लगती हैं। निरपराध बालकों एवं अबलाओं का क्रन्दन, विवश वृद्धाओं का व्याकुल रोदन सीता की आंखों के आगे घूमने लगता है। युद्ध भूमि की समस्त विभीपिकाएँ उसे उद्वेलित करने लगती हैं।[1] सीता स्वयं को उस समस्त कलह का मूल समझने लगती हैं।[2] वे चाहती हैं कि विश्व में सर्वत्र सुखशान्ति, मंगल एवं कल्याण हो।[3] सीता के चरित्र का यह रूप कवि ने तत्कालीन द्वितीय विश्व युद्ध के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है और अपने विश्व-शान्ति के संकल्प को सीता के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अतः सीता का यही रूप सर्वो-परि है। उसकी अन्य चारित्रिक विशिष्टताओं की चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं।

इसी प्रकार लेखक ने राम के आदर्श को भी उसकी समस्त सांस्कृतिक और आदर्शपूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत किया है। राम अत्यन्त धीर, वीर, गुणी और विद्वान हैं, परन्तु कवि ने सीता के साथ-साथ युग सन्दर्भ के अनुरूप राम के चरित्र को भी उभारा है। मेरा विश्वास है कि कवि ने सीता का चरित्र तो विश्व राजनीति के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है और राम का चरित्र भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। तत्कालीन आन्दोलनात्मक भारतीय राजनीति का संघर्षशील

१. वैदेही बनवास; प्रथम सर्ग, छन्द संख्या ३९-४३।
२. वही, ४८।
३. वही, ४९-५०।

हो रहे भर कर दृगों से
अग्निकण भी क्षार शीतल;
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल;
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २१८)

रह-रह कर जलने से अधिक पीड़ा किसी अन्य आघात से नहीं होती। जब यह पीड़ा सह ली तो साधिका किसी भी उत्पीड़न से विचलित न होगी। यह वेदना तो उसके लिए साधन और साध्य दोनों बन गई है। इसीलिए वह इस पीड़ा को वापस नहीं करना चाहती :—

अब न लौटाने कहो अभिशाप की यह पीर,
बन चुकी स्पन्दन हृदय में वह नयन में नीर।
अमरता उसमें मनाती है अमर त्योहार
छाँह में उसकी गये आ फूलशूल समीप,
ज्वाल का मोती सँभाले मोम की यह सीप।
सृजन के शत द्वीप धारे प्रलय दीपाधार।

इसी वेदना की अक्षय विभूति के कारण उल्लास, प्रलय और सृजन, विषदंशन और वेदना और अमृत-आलेप में साधिका सम्भाव बन गई है। समभाव, समबुद्धि स्थितप्रज्ञ दशा में पहुँच कर यथार्थ ज्ञान की भी प्राप्ति होती है और प्रेम की तल्लीनता भी। साध्य बाहर नहीं साधक के हृदय में आ बसता है—शून्य मन्दिर में पुजारिन ही उसकी प्रतिमा बन जाती है। और आप से आप ही माया का जड़ पाषाण-व्यवधान टूट जाता है :—

टूट गया वह दर्पण निर्मम।
रहे खेलते आँखमिचौनी प्रिय जिसके परदे में मैं तुम।
अपने दो आकार बनाने।
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने,
जो झिलमिल-झिलमिल-सा तुमने हँस-हँस दे डाला था निरुपम।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १६७)

भ्रम का दर्पण चूर-चूर हो गया। दो आकारों का खेल समाप्त हुआ—द्वैत भाव की आँखमिचौली खत्म हुई। एक ही अंशी से विच्छिन्न हो, जो अंश अलग आकार बन गया था, वह अंशी में विलीन हो गया—दोनों एकाकार हो गया। असीम-ससीम का भेद मिट गया।

वह यह है कि कवि ने प्रकृति का जो छायावादी स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त संवेदनशील है। वस्तुतः कवि सम्पूर्ण छायावादी युग का जीवंत साक्षी है। उसकी सृजन प्रक्रिया में भी छायावादी संस्कार सम्प्रेपित होते हैं। अतः कवि ने छायावादी सौन्दर्य बोध से प्रभावित होकर प्रकृति का जो सचेतन, संवेदनशील और मानवीय व्यवहारों से पूर्ण रूप[1] प्रस्तुत किया है वह प्रस्तुत रचना की महनीय उपलब्धि है।

उपर्युक्त समस्त विश्लेषण में कतिपय नवीन सन्दर्भों की पृष्ठभूमि में 'वैदेही वनवास' के कथ्य और शिल्प को नए ढंग से मूल्यांकित करने के उपरान्त मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि 'वैदेही वनवास' द्विवेदीयुगीन आदर्शों और छायावादी संस्कारों तथा प्रगतिवादी चेतना की एक सामासिक परिणति है। यदि कामायनी से छायावाद का अन्त होता है, तो वैदेही वनवास से द्विवेदी युग और छायावाद की शेष सम्भावनाओं का समाहार होता है। अतः यह रचना एक प्रकार से इन दोनों युगों की समाप्ति का घोषणा-पत्र है।

---

१. वैदेही वनवासः १६वां सर्ग, छन्द संख्या ५-६।

साधना पक्ष है। साथ ही महादेवी की सारी अभिव्यंजना आध्यात्मिक या रहस्यवादी है। अनुभावों का चित्रण बहुत कम हुआ है, अनुभूति की तीक्ष्णता और दंशन का अधिक। प्रतिक्रिया इन्द्रिय-जनित नहीं, मानसिक है। मिलन-पक्ष का निरूपण न के बराबर है—सिद्धान्त-कथन मात्र है। अभिव्यंजना के उपकरण भी आध्यात्मिक अनुभूति-प्रधान और दर्शन-प्रधान हैं, सृष्टि व्यापक या प्राकृतिक हैं, जिनसे वह स्वयं प्रकृति में व्याप्त हो जाती है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है, आधुनिक कवियों में महादेवी ही सही अर्थ में रहस्यवादी हैं।

अन्त में महादेवी के भाव विकास को यों रखा जा सकता है। नीहार-सी सुकुमार विस्मयविमुग्ध कौतुहल-जिज्ञासा भरी चपल चमकती नवीन कामनाओं में थिरकती पलकों वाली मुग्धा, प्रणय की स्निग्धता और कामना की रंगीनी से रश्मि बनी। नीरजा बन आँसुओं के सरोवर में एकनिष्ठ साधना करते हुए प्रिय की मुस्कान किरण से खिली, उसके उच्छ्वास-समीर से स्पन्दित हुई और सान्ध्यगीत में उसके जीवन में निविड़ता छा गई। आत्म-विराग, चिरन्तन-अवसाद, एक स्पन्दनहीन सूनापन और सघन वेदना भर गई। तिमिरावृत्त सन्ध्या में प्रियतम का पथ आलोकित करने के लिये और जल-जल क्षय होकर प्रियतम में लीन हो जाने के लिए—साधिका दीप बन जल उठी। दीपशिखा उसकी साधना का आदर्श है।

महादेवी के शिल्प पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय। जैसा कि पीछे बताया गया, महादेवी का प्रियतम परोक्ष भी है, प्रत्यक्ष भी। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और गोचरागोचर ब्रह्माण्डविस्तार के अणुअणु में समाया है—वह इस रूप में विराट भी है। वह बहुत कुछ कबीर के द्वैताद्वैतविलक्षण "गुणयाले कन्त" के समान है। रति का आलम्बन हो जाने के कारण वह निर्गुण निर्विशेष नहीं रह जाता। पर उसे सशरीर तो प्रत्यक्ष किया नहीं जा सकता ; सृष्टि-विस्तार के दर्पण में उसकी झाँकी देखी जा सकती है :—

चुभते ही तेरा अरुण वाण !
बहते कण-कण से फूट-फूट, मधु के निर्झर से सजल गान।
इन कनक रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम सिंधु जाग;
बुदबुद-से वह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल, जो क्षितिज रेख थी कुहरम्लान।

(रश्मि, यामा, पृ० ६६)

यह सुकुमार प्रभात की सुषमा-स्वर्णाभ प्रथम झलक का सावयव चित्रण है इसमें उस अतीन्द्रिय सौंदर्य-राशि के सुषमाशर-वेधन से सृष्टि में उद्भूत प्रेमानुभूति

उनके काव्य में सघन अवसाद की जो छाया, निराशा का जो धुंध, और उसके तले बहती जो अश्रुधारा है, वह आत्मरुदन है—अपना ही चीत्कार है। इसलिए उनकी पीड़ा को बुद्ध की करुणा नहीं कहा जा सकता। बुद्ध की करुणा का आलम्बन भौतिक व्याधियों में आबद्ध प्राणी है। उसी की मुक्ति के लिए बुद्ध का करुणा-प्रेरित सारा प्रयास है। करुणा का अर्थ है, परदुखकातरता—अन्य प्राणी की पीड़ा से उद्दीप्त दुखानुभूति। जिसकी प्रतिक्रिया आश्रय में कभी-कभी वीरभाव भी उद्दीप्त करती है। महादेवी के काव्य की दुखानुभूति पर पीड़ा से उद्भूत नहीं; बल्कि वह तो आत्मपीड़ा निवेदन है—अपनी ही व्यथा का व्याख्यान है। इसलिए वह करुणा की आश्रय नहीं, करुणा की आलम्बन बन सकती हैं।

अश्रुमय कोमल कहाँ तू
आ गई परदेशिनी री !

जब वह कहती हैं, तब उनकी स्थिति बहुत-कुछ ऐसी होती है : एक नव-परिणीता सुकुमार कुलीन तन्वी, लाज के बंधन जिसके अभी शिथिल नहीं हुए, जिसकी मुग्ध पुतलियों ने मिलन-कक्ष से अभी बाहर झाँका नहीं, अचानक अनजान स्थान और अपरिचित भीड़ में भटक गई है। सभी पराये। चिरन्तन जीवन संगी का पता नहीं। पथ वह जानती नहीं। चारों ओर आतंकित विस्मय, छलकती पलकों, बेवस धड़कनों से करती हुई भ्रमित मृगी-सी ताकती है। प्रिय-मिलन से आकुल हो उठती है। यह स्थिति रति के अन्तर्गत है, शृंगार का वियोग-पक्ष है। महादेवी की वेदना का यही स्वरूप है। उनका सिसकियों भरा चीत्कार, अश्रुविह्वल आत्मनिवेदन, निर्पेक्ष भाव से समर्पण सभी परिणय-निवेदन मात्र है। परायों की भीड़ में परदेस में भटकी रमणी रति का आश्रय होते हुए भी अनेक बार करुणा का आलम्बन भी बन जाती है। यह सामाजिक की अपनी अनुभूति और बोध पर निर्भर करता है कि वह उसकी असहाय अवस्था से उत्पन्न पीड़ा (करुणा) की अनुभूति करता है या रति के कारण उत्पन्न शोक (विरह) की।

कवयित्री की पीड़ा वियोगजनित है। यह वियोग भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। उनकी रति लौकिक या व्यक्ति के प्रति नहीं, परोक्ष सत्ता परमात्मा के प्रति है। वह एन्द्रिय नहीं, मानसिक है। क्योंकि उनका प्रियतम (आलम्बन) शरीरधारी नहीं, वह अशरीरी निराकार ब्रह्म है, इसलिए उसकी अनुभूति भी रहस्यात्मक है। महादेवी (आश्रय) में रति का उद्दीपन या जागरण दो रूपों में होता है। एक तो जन्म-जन्मान्तर के संस्कार के रूप में, दूसरे उद्दीपनों के द्वारा। जन्मजन्मांतर या युग-युग के

विरह सन्देश भेजने के असफल प्रयास का एक प्राणवान चित्र देखिये :—

कैसे सन्देश प्रिय पहुँचाती ?
दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसि प्याली झरते तारक द्वय,
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर,
मैं अपने ही बेसुधपन में लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १५६)

आँखों में अजस्र अश्रुजल की स्याही भरी है, पर सफेद है। सफेद स्याही से सफेद कागज पर लिखा जाय तो पढ़ा कैसे जायगा? साथ ही पत्र-पृष्ठ लगातार बरसते आँसुओं से भीग जायगा, तब सारा लिखा लिखाया पुत जायगा। इसके अतिरिक्त पलों के पृष्ठ इतनी तेजी से उड़ते चले जा रहे हैं कि उन पर एक अक्षर पूर्ण और सही अंकित नहीं हो सकता। विरह की बेताबी, उच्छ्वासों की आंधी तब कांपते हाथों से अपने आप कुछ का कुछ लिखा जायगा।—सभी कुछ खण्डित, अस्पष्ट, अपाठ्य। पत्रलेखन दशा का रूपक उपस्थित करने के लिए जो उपकरण उपमान यहां चुने गए हैं वे हिन्दी-साहित्य में अलभ्य हैं। रहस्यवादी अभिव्यंजना का, इस संदर्भ में यह आदर्श नमूना है। साथ भावावेग और लेखन की असफलता और फलस्वरूप मानस की घुटन और बेबसी।

रूपकों का समृद्ध भण्डार महादेवी के काव्य में है। बहुसंख्यक रूपक विरह-सम्बन्धी हैं। "मैं नीर भरी दुख की बदली", 'विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात", "प्रिय सान्ध्यगगन मेरा जीवन", "शलभ मैं शापमय वर हूँ" आदि सांग रूपक हैं। निरंग रूपक तो अनगिनत हैं। जहाँ प्रकृति का वैयक्तिकरण करने के लिए अवयवों के उपमान तलाश कर मानव-रूप संघटित किया गया है, या स्वयं प्रकृति पर आरोपित हुई हैं, वहाँ वह उतनी ही असफल रही हैं, जितनी भाव-प्रधान, अनुभाव-प्रधान, आत्म-निवेदन-प्रधान और दृश्य-प्रधान रूपकों में सफल हैं। इस वक्तव्य की पुष्टि के लिए "धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी" (यामा, पृष्ठ १३८) "ओ विभारी" (यामा, पृष्ठ १६८) "मैं बनी मधुमास आली" (यामा, पृष्ठ १५८) आदि रचनायें देखी जा सकती हैं।

उपमा का प्रयोग जितना सरल है, उतना ही कठिन भी। कठिन इसलिए कि ऐसा उपमान तलाश किया जाय जो रूपक, प्रतीक या अन्योक्ति के समान व्यापक अर्थ का अभिव्यंजक हो। काव्योत्कर्षकारी उपमान वही है, जो उपमेय के आकार-रूप, गुण, भाव, क्रिया, प्रभाव की दृष्टि से भूत, भविष्य और वर्तमान को भी अपने में समेटे हो। कुछ उपम

पूर्णसमर्पित मुग्धा सुहागिनी के लिए इससे अधिक सशक्त और चिरस्थायी अवलम्ब नहीं हो सकता।

चिरन्तन सोहाग का यह अटल विश्वास, एक ओर तो प्रेम के दुर्गम पथ का पाथेय बनता है, उसे अबुझ प्रकाश बन रास्ता दिखाता है, समस्त प्रलोभनों और बाधाओं से बचाता है; दूसरी ओर साधिका को आँसुओं के अतल अजस्र अकूल प्रवाह में डुबा देता है। यही अमर सोहाग उसके जीवन में दाहक वेदना की छटपटाहट, चीत्कारों का कोलाहल और कराहों का तूफ़ान भर देता है। अखण्ड सुहाग का वरदान पाकर भी जिस अतृप्त अनुरागिनी मुग्धहृदया प्रणयिनी को मधुयामिनी में पलभर का मिलन-सुख भी नसीब न हो और कामना-विह्वल बाला को विरह के लाक्षागृह में छोड़कर उसका निर्दय प्रीतम चला जाय, उसका विरह-विषदंशन और तपनभरी तृष्ण उस वियोगिनी की पीड़ा से कितनी अधिक होगी, जिसने मधुयामिनी का सुख भोग कर लिया है। महादेवी ऐसी समर्पिता है, जिसकी पलकों से लाज का घूंघट भी न हटा कि उसे पीड़ा का साम्राज्य दे दिया गया।

इन ललचाई पलकों पर,
पहरा था जब व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला,
उस चितवन ने पीड़ा का।
उस सोने के सपने को,
देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोश हुए हैं,
मोती बरसा कर रीते।
अपने इस सूनेपन की,
मैं हूँ मतवाली रानी
प्राणों के दीप जला कर
करती रहती दीवाली।

(नीहार, यामा, पृष्ठ १०)

आश्रय (कवयित्री) के हृदय में आदिकाल से स्थित रतिभाव के उद्दीप्त होने की एक और भी अवस्था है—वह है प्राकृतिक उद्दीपनों द्वारा जागृत रतिभाव। इसी के अन्तर्गत अलौकिक सुषमा-भण्डार, सौन्दर्य-स्निग्धता के आगार, अनन्तरूप राशि-प्रिय के प्रति आश्रय के जिज्ञासाभाव की अभिव्यक्ति हुई है।

चुभते ही तेरा अरुण बाण।
बहते कण-कण से फूट-फूट मधु के निर्झर से सजल-गान।

में "पुलक-पुलक मेरे दीपक जल" (यामा, पृष्ठ १४५-१४६) और 'शलभ शापमय वर है' (यामा, पृष्ठ २२८) आदि गीत देखे जा सकते हैं।

महादेवी कहीं-कहीं प्राकृतिक परिवेश का उपयोग इतना अधिक करती हैं कि भाव गौण रह जाता है। साथ ही पाठक इसे शुद्ध प्रकृति-चित्रण समझ बैठता है। यामा, पृष्ठ ६ पर २२ पंक्तियों के बाद अपनी मुग्धता का निरूपण किया है। ऐसे ही यामा, पृष्ठ ४५ पर १४ पंक्तियों में प्रिय की प्रतीक्षा का उल्लेख है। इसे शिल्प का दोष ही कहा जायगा। उनके गीति-शिल्प के विषय में यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में सर्वश्रेष्ठ गीत-शिल्पी हैं। जैसे-जैसे उनकी अनुभूति तीव्र आन्तरिक और गहन होती गई है उनके काव्य में गीति शिल्प या तत्त्व का विकास होता गया है।

गीतों में संक्षिप्तता, भाव गहनता, तीव्रावेश, छन्दों की विभिन्नता, और भावानुसार स्वर गति बढ़ती गई है। 'सान्ध्य गीत' और 'दीप शिखा' में आधुनिक हिन्दी-गीत का चरम विकास देखा जा सकता है। भाव-साधना के अन्तिम शिखर पर पहुँच कर महादेवी तल्लीनता की मूर्छना भरी धूपगंध बन गई हैं। जिनकी सुवास और स्वर तरंगों से हिन्दी साहित्य अभिषिक्त है—अभिसिंचित है।

प्रकृति अभिसारिका रूप में उद्दीपन बन कर आई है। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप को पूर्ण पुरुष की प्रेयसी-पत्नी कहा जा सकता है। कवयित्री भी पुरातन पुरुष परमात्मा की प्रेयसी है, इसलिए प्रकृति ऐसे अवसर पर सपत्नी के रूप आती है। एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ हों और एक शृङ्गार-सज्जा कर अभिसार के लिये निकल पड़े तो दूसरी पत्नी में रति भाव जाग उठेगा, यह एक सामान्य सत्य है। इस रति भाव या कामोद्दीपन के कारण सहपत्नी में ईर्ष्या का उदय भी होता है, लेकिन यह रतिभाव भौतिक या दैहिक न होकर, आध्यात्मिक होने के कारण ईर्ष्या का जनक नहीं हो सकता। भोग की एकाधिकार कामना में ईर्ष्या होती है, भक्ति क्षेत्र में नहीं। वसन्त-रजनी अभिसारिका बनकर क्षितिज से उतर रही है :—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त-रजनी।
तारकमय नववेणी बंधन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सितघन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा रे चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसंत रजनी।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १३०)

प्रकृति का एक अन्य रूप परिवेश चित्रण, पृष्ठभूमि या पृष्ठ पट बनकर भी आया है। वसंती पूनम, स्वर्णिल प्रभात, निस्तब्ध सोई रजनी, थिरकती बहती मलयानिल, उमड़ते मेघ, पुकारता चातक, चटखती कलियाँ, मचलते मधुकर, नाचती ऊर्मियाँ आदि को उपस्थित कर अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें कवयित्री का प्रथम दर्शन का प्रेम, प्रिय की क्षणिक झाँकी और तुरन्त आजीवन विरह, प्रिय की रूप-सुषमा की स्मृति आदि निरूपित हुई है[1]—प्रकृति का यह रूप भी उद्दीपन के अन्तर्गत है।

कवयित्री की तृष्णा अनन्त है—अबुझ है, युगयुग से जो विरह में छटपटा रही हैं। प्रत्यक्ष कर मांसल रूप में तो कभी मिल न सका, काश में वह स्वप्न में ही

---

१. (क) निशा को धो देता राकेश—। नीहार, यामा, पृष्ठ १।
(ख) रजत करों की मृदुल तूलिका—। नीहार, यामा, पृष्ठ २।
(ग) रजनी ओढ़े जाती थी—। नीहार, यामा, पृष्ठ ६।
(घ) जिस दिन नीरव तारों से—। नीहार, यामा, पृष्ठ ४५।
(ङ) नव मेघों को रोता था—यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि प्रकृति को एक दो जगह मातृरूप में और केवल एक गीत में प्रकृति का शुद्ध आलम्बन रूप चित्रित हुआ : मातृ-रूप (१) रूपसि तेरा घन केशपाश (२) कहदे मां क्या अब देखूं? आलम्बन रूप : हे चिर महान।

और बाद में गांधी जी की परिवर्तित नीति पर भी, अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को निकल पड़े थे। सचमुच उस युग के सभी राष्ट्रीय-आन्दोलनों में प्राण फूंकने के लिए माखनलाल जी तथा इन सरीले अन्य कवियों की ऐसी ही कविताएँ उत्तरदायी थीं।

परिचय और जीवन-दर्शन

माखनलाल जी की कविता को राष्ट्रीय और क्रांतिकारी वाणी देने के लिए तत्कालीन राजनैतिक और साहित्यिक परिस्थितियों ने विशेष सुयोग जुटाए हैं। सन् १९१० में आपने लोकमान्य तिलक संचालित 'राष्ट्र-मंडल' की सदस्यता स्वीकार की और मंडल के कार्यों में तन-मन से संलग्न हो गये। इसके तीन ही वर्ष बाद वे अध्यापन-कार्य छोड़कर 'प्रभा' पत्रिका के संस्थापक-सम्पादक बन गये। सन् १९१९ से वे जबलपुर से 'कर्मवीर' भी निकालने लगे थे। दोनों पत्रिकाओं का लक्ष्य केवल अपने विचारों को जनता तक पहुँचा देना ही था। इनके तत्कालीन लेखों में विदेशी-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह और जनता में परतन्त्रता की कड़ियों को तोड़ने की प्रेरणा पैदा करने का महान् सामर्थ्य पाया जाता था। उसी के परिणाम-स्वरूप सन् १९२१, १९२३ और १९३० में तीन बार आपको बड़े घर की यात्रा भी करनी पड़ी। 'हिमकिरीटिनी' की कई-एक कविताएँ जेल की कोठरियों में ही रची गई थीं। सन् १९१९ से ४२ तक का समय राष्ट्रीय आन्दोलन की होमाग्नि में निरन्तर घी की आहुतियाँ देता रहा है। कांग्रेस में अभी तिलक का गर्म-दलीय आन्दोलन गर्म ही था। गांधीजी के सिद्धान्तों ने संस्था को एक नया रूप देना आरम्भ कर दिया था। लाख चाहते हुए भी कभी-कभी जनता राष्ट्रीय भावों से उद्वेलित हो हिंसात्मक क्रियाओं पर उतर ही आती थी। निरन्तर गौरांग-प्रभुओं की गोली-लाठी का सामना करते, जनता बलिदान का महत्त्व समझने लगी थी। हिंसात्मक आन्दोलन की विफलता अनेक बार प्रमाणित हुई थी, अतः लोग गांधी जी के सिद्धान्तों की ओर झुकने लगे थे। स्वयं माखनलाल जी पहले क्रान्तिकारी दल के सक्रिय कार्य-कर्ता थे, बाद में गांधी जी के प्रभाव में आकर उन्होंने न केवल अहिंसा का दृष्टिकोण ही अपना लिया बल्कि ब्रिटिश शासन के अत्याचारों को उन्होंने राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की ज्योति तक पहुँचने वाले देश-भक्त शलभ की सामान्य कठिनाइयाँ जानकर प्रेमपूर्वक अंग लगा लिया था। दोनों विचार-धाराओं से प्रेरित उनकी विभिन्न कविताओं में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है। १९२४ में "सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती, मुट्ठी में मन चाही; लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है मैं हूँ एक सिपाही!" गाने वाला कवि सन् १९३० में "मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किस में भर दूँ ?" की बात कहता दिखाई पड़ता है। परन्तु 'मोहन' का व्रत भी जब सफल होता नहीं दिखा, तो १९४० में कवि की वाणी में एक बार फिर से विद्रोह का तेज प्रदीप्त हो उठता है। 'जवानी' में बलिदान का महत्त्व आंक

प्रतीक्षारत प्रकृति को वासकसज्जा और मिलनाकुल अभिसारिका के रूप पाकर प्रेम-प्यासी नायिका प्रेमोत्तेजित हो जाती है। मिलन की आशा भी उसे बँध जाती है। उत्कट अभिलाषा-प्रेरित प्रणयिनी शृङ्गार कर अभिसार करने को प्रस्तुत हो जाती है।[1]

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर-केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष।
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं ?

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २०६)

प्रेयसी मुस्काते अरुण अधर, जावक-रंजित गुलाबी चरण, स्निग्ध नयन लिये अभिसार को चल देती है। न चातक की पुकार, न कोयल की काकली, विश्व जीवन नीरव नींद में बेसुध, पथिकों का संचरण वन्द, चारों ओर निस्तब्धता—पर वह निर्मम न रीझा—उससे भेंट न हो सकी। प्रकृति के विस्तृत निस्सीम आँगन में जिधर नज़र डालती है, उसी की आकुलता का स्पन्दन, स्वागत का समारोह, मिलन के लिये सारी साज-सज्जा; पर युग-युग की साधिका उसके दर्शन से वंचित। इससे अधिक बेबसी और दुर्भाग्य का निर्मम विधान और हो क्या सकता है ? तब अश्रु-छलछल चीत्कार और तिलतिल कर दहन के सिवा चारा भी क्या ?

महादेवी के काव्य में विरह की अनेक स्थितियाँ या विविध भावानुभूतियाँ बड़ी बेताबी से प्रकट हुई हैं। कहीं वह अपने जीवन को सान्ध्यगगन बताकर उसके सूनेपन, अंधकार, उदासी, उच्छ्वासों को व्यक्त करती है, साथ ही सुहाग की लालिमा का स्मरण भी प्रिय को दिलाती है;[2] कभी नीरभरी बदली बनकर अश्रुसजलता का

---

१. (क) शृङ्गार कर ले री सजनि। नीरजा, यामा, पृष्ठ १३४।
(ख) जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती, मधु बयार।
सांध्यगीत, यामा, पृष्ठ २११।

२. है सान्ध्यगगन मेरा जीवन।
वह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया-सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न सजीले घन। सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २०३।

पिघल कर सभी एकाकार हो जाते हैं"—(मिट्टी की ओर)। दिनकर जी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि माखनलाल जी में प्रेम और भक्ति तथा वीर-भावना और क्रांति की विरोधी भावनाएँ भी सन्तुलित ही रही हैं। हिमकिरीटिनी का कवि सचमुच देश के लिए व्याकुल होने के साथ-साथ अपने आराध्य से सहायता की माँग भी करता दीख पड़ता है। उसमें प्रभु के लिए प्रेम-विह्वलता भी है और स्वातन्त्र्यार्थ बलि-पंथी की ललकार भी—इसीलिए अविवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि माखनलाल जी की 'हिमकिरीटिनी' उनकी सन् १९१२ से ४० तक की सब प्रकार की उद्‌भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

वर्गीकरण और विश्लेषण

'हिमकिरीटिनी' में कुल ४४ कविताएँ हैं, जिनका विषयगत वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

१. प्रेम-प्रधान रचनाएं :—

(क) प्रकृति-जन्य प्रेम	११. छिपूं ?—किसमें ?	**(घ) आध्यात्मिक-प्रेम**
४. झरना	१५. तुम और, और मैं और	३. मनुहार
१४. कलिका से—कलिका की ओर से	२०. स्मृति	७. कुंजकुटीरे-यमुना-तीरे
	२२. खोज	
(ख) मानव-प्रेम	२४. मेरा उपास्य	२९. स्वागत
२१. वरदान या अभिशाप	३४. पूजा	३०. वेदना गीत से (करुणा)
३०. वेदना गीत से।	३५. गीतों के राजा	
(ग) रहस्यात्मक-प्रेम	३६. मील का पत्थर	३७. अन्धकार (ज्ञानमय)
८. खीझमयी मनुहार		

२. राष्ट्रीय-भावना-पोषित :—

(क) गांधीवादी भावना

५. कैदी और कोकिला	१०. मरण-त्योहार

(ख) स्वातन्त्र्य-संग्राम-भावना (आह्वान)

१७. सिपाही	३१. आंसू
२३. तिलक	३२. जवानी
२५. वीर-पूजा	

(ग) बलिदान-भावना

३. मनुहार	५. कैदी और कोकिला
२६. बन्धन मुख	२८. बलिपंथी से
६. सौदा	३२. जवानी

प्रतीक्षारत प्रकृति को वासकसज्जा और मिलनाकुल अभिसारिका के रूप पाकर प्रेम-प्यासी नायिका प्रेमोत्तेजित हो जाती है। मिलन की आशा भी उसे बँध जाती है। उत्कट अभिलाषा-प्रेरित प्रणयिनी शृङ्गार कर अभिसार करने को प्रस्तुत हो जाती है।[1]

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर-केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष।
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं ?

(सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २०६)

प्रेयसी मुस्काते अरुण अधर, जावक-रंजित गुलाबी चरण, स्निग्ध नयन लिये अभिसार को चल देती है। न चातक की पुकार, न कोयल की काकली, विश्व जीवन नीरव नींद में बेसुध, पथिकों का संचरण बन्द, चारों ओर निस्तब्धता—पर वह निर्मम न रीझा—उससे भेंट न हो सकी। प्रकृति के विस्तृत निस्सीम आँगन में जिधर नज़र डालती है, उसी की आकुलता का स्पन्दन, स्वागत का समारोह, मिलन के लिये सारी साज-सज्जा; पर युग-युग की साधिका उसके दर्शन से वंचित। इससे अधिक बेवसी और दुर्भाग्य का निर्मम विधान और हो क्या सकता है ? तब अश्रु-छलछल चीत्कार और तिलतिल कर दहन के सिवा चारा भी क्या ?

महादेवी के काव्य में विरह की अनेक स्थितियाँ या विविध भावानुभूतियाँ बड़ी बेताबी से प्रकट हुई हैं। कहीं वह अपने जीवन को सान्ध्यगगन बताकर उसके सूनेपन, अंधकार, उदासी, उच्छ्वासों को व्यक्त करती है, साथ ही सुहाग की लालिमा का स्मरण भी प्रिय को दिलाती है;[2] कभी नीरभरी बदली बनकर अश्रुसजलता का

१. (क) शृङ्गार कर ले री सजनि। नीरजा, यामा, पृष्ठ १३४।
(ख) जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती, मधु बयार।
सांध्यगीत, यामा, पृष्ठ २११।

२. है सान्ध्यगगन मेरा जीवन।
वह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया-सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न सजीले घन। सान्ध्यगीत, यामा, पृष्ठ २०३।

—कोमल रवि-किरनें आती हैं,
वे मुझे ढूंढ़ती घूम घूम ?
अपने बिजली से ओठों से
मेरा मुंह लेती चूम चूम,
—'क्या कहूँ हवा से, वह बैरिन !
चुप धीमे-धीमे आती है,
फिर मुझे हिलाती हौले से
मेरी आँखें खुल जातीं हैं ?

(ख) कवि की करुणा को कलिका के उद्‌गारों ने उद्‌भूत कर दिया है। दो पल हँसकर ही जिसका अन्त आ गया है, मरते-मरते ऐसी पुष्पिका रवि किरणों को उलाहना दे ही देती है :—

'जग आँख मूंदकर मरता है, मैं आँख खोलकर मरती हूँ,
मेरी सुन्दरता को देखो, मरने के लिए उभरती हूँ।
—'रवि की किरनों को तो देखो, वे जगा विश्व व्यापार चलीं,
मेरी क़िस्मत ! वे ही मुझको, यों हँसा हँसाकर मार चलीं।
(कलिका से—कलिका की ओर से)

कितना यथार्थ है इन पंक्तियों में ! यह कली का जीवन ही नहीं, प्रत्युत् संसार की हर जड़-चेतन वस्तु की जीवन गाथा है। 'चार दिन की चांदनी, फिर अँधेरी रात' सबकी किस्मत का गहना है। कवि की अनुभूति यहाँ सजीव हो उठी है। कलिका के अन्तर्दर्शन ने कवि को आत्माभिव्यंजना की शक्ति प्रदान की है। झरने की झरन कवि के लिए आकुल वेदना की पिघलन से कम नहीं; इसीलिए तो कवि पूछ बैठता है :—

किस निर्झरिणी के धन हो ?
पथ भूले हो किस घर का ?
है कौन वेदना ? बोलो !
कारण क्या करुण स्वर का ? (झरना)

जड़-करुणा के प्रति भी कवि की विह्वलता उसकी सहृदयता का एक ज्योतिर्मान प्रमाण है। कलिका या झरने के प्रति कवि का करुणादान उसे मानव की स्थिति पर विचार करने को बाधित करे, तो क्या अचम्भा ? मनुष्य की कठोर-परिस्थितियां जो आज उसकी मानवता पर आघात पहुँचा रही है, कवि के स्नेह का आधार बनती हैं। अपने स्नेह-पात्र को देखकर जैसे जन-साधारण स्नेह-मुग्ध होकर उससे लिपट जाते हैं और निर्दोष भाव से पूछ बैठते हैं 'आज क्योंकर रास्ता भूल गये ?', वैसे ही कवि अपने 'प्रेम' को देखकर कह उठता है :—

रहने दो प्यासी आँखें
भरतीं आँसू के सागर !
इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के।
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।

(रश्मि, यामा, पृष्ठ ७५-७६)

एक ओर तो यह विसर्जन, उत्सर्ग, और विराग भाव और दूसरी ओर निरन्तर दहन। जीवन की तिमिराच्छादित अवसादमयी सन्ध्या और विरह की निबिड़ निस्तब्ध रजनी में प्रियतम का पथ आलोकित करने के लिए और जल-जल कर क्षय होते हुए प्रिय आगमन और आत्मावसान के विहान में प्रियतम में एकाकार हो जाने के लिए साधिका अकम्पित दीप बन जलने लगती है।[1] वह इस दाह में ऐसी निष्काम हो जाती है कि शलभ से कह उठती है, मत मिलन का नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग युग प्रतिदिन प्रतिपल प्रतिक्षण
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा गल रे मृदु मन।
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल।
मधुर मधुर मेरे दीपक जल।

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १४५)

× × ×

शलभ मैं शापमय वर हूँ—किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा,
चिंगारियाँ शृंगार माला;
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।

× × ×

---

१. (क) यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
(ख) पूछता क्यों शेष कितनी रात ?

कवि की भाव-भीनी पुष्पांजली अर्पित हुई दीख पड़ती है । कवि कण-कण में उस शक्ति का आभास पाता है और नतमस्तक उसकी श्रेष्ठता को ही स्वीकार नहीं कर लेता, बल्कि उसकी प्रतीक्षा में युगल पुतलियाँ बिछाए रखता है :—

जिसे खुमारी चढ़ जाने को
पलकें पागलपन साधे हैं,
युगल पुतलियों को प्याली में !
वन में ? ना सखि वनमाली में (छिपूं ?—किसमें)

परन्तु यह छलनामय रहस्य अपने प्रेमी की पुकार पर द्रवित नहीं हो जाता । उसका व्यापकत्व ही अंश और अंशी के बीच मिलन-पथ का विघ्न है । चातक की चकित गुहार दीवानगी के पर्दे में छिपे 'तू' तत्त्व के कानों तक रेंग नहीं पाती ।

तुम बाहर के विस्तृत पर दीवाने से हो दिन रात,
मैं ? आत्म-निवेदन से कूजित करता हूँ प्राण प्रभात ।
(तुम और, और मैं और)

प्रभु-प्रेम का भिखारी उसके द्वार पर याचना करते हुए यदि ठुकराया भी गया हो, तो पावनता का अधिकारी है । प्रेमी की ठोकर भी जीवन-सामर्थ्य बढ़ाती है । इसीलिए तो कवि 'ठोकर के चित्र' को सीने से लगाए रखना चाहता है ।

यह भला किया, अपनी ठोकर
से मुझको किया पवित्र,
बन बना रहे मेरे जी पर,
तेरी ठोकर का चित्र ।(तुम और, और मैं और)

कवि उस रहस्य-सत्ता पर अपने को पूर्णतः समर्पित कर चुका है । उसके लिए 'जब निस दिन अलख जगाता हूँ, तब नई प्रार्थना क्या होगी ?' की स्थिति आ चुकी है । वे अपने इष्ट देवता पर चढ़े फूल हैं, उनका वरण किसी भौतिक आकर्षण का आकांक्षी नहीं । तभी तो 'मील का पत्थर' में वे अपनी प्रेमिका पर भी मुग्ध होने की अपेक्षा उसे आगे बढ़ने का संदेश देते दीख पड़ते हैं । मील के पत्थर से प्यार नहीं किया जाता । बस संख्या पढ़कर पथिक आगे चल देते हैं, क्योंकि वह लक्ष्य का देवता नहीं पड़ाव का साथी मात्र होता है । इस प्रकार श्री चतुर्वेदी जी अपने को सब ओर संरक्षित कर अपने आराध्य के चरण पर लौटा देने में ही सार्थकता मानते हैं--आराध्य उनकी मनुहारों पर भी न पसीजे तो और बात है—

आराधना, प्रार्थना, पूजा,
प्रेमांजली, विलाप, कलाप;
'तेरा हूँ', 'तेरे चरणों में
हूँ', पर कहाँ पसीजे आप । (मेरा उपास्य)

रोम-रोम में नन्दन पुलकित,
साँस-साँस में जीवन शत-शत,
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित,
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?
तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या !
चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसी प्रियतम का अभिनय क्या !

(नीरजा, यामा, पृष्ठ १४२)

वह एकात्मता या अद्वैतता की अनुभूति परम आनन्द दशा है। इतनी सुख-विस्मृति है, द्वंद्वभाव का तिरोभाव है कि प्रत्येक रोम में स्वर्ग-वन स्पंदित हो रहा है—ऐसी कल्पनातीत अलभ्य अभूत-पूर्व अनुभूति हो रही है कि एक साँस में सैंकड़ों जन्मों का उल्लास-वैभव भर गया है। प्रेयसी और प्रिय का अन्तर ही मिट गया।

यहाँ इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि महादेवी के काव्य में रति के संयोग पक्ष की अनुभूति बहुत ही कम है। कबीर में जो मिलन की मदिर विस्मृति है, उल्लास की जो चपलता है, मिलन-कक्ष में पहुँचने की जो आकुलता है, प्रथम मिलन की जो आशंका और कम्पन-शिथिलता है, महादेवी में उस की झलक तक नहीं मिलती। इसका कारण आधुनिक सामाजिक शालीनता अश्लीलता की आशंका या कवयित्री में अनुभूति का अभाव—कुछ भी हो सकता है। महादेवी की प्रियतम में तल्लीनता या एकरूपता सिद्धान्त-प्रतिपादन मात्र है, भावाभिव्यक्ति नहीं।[1]

महादेवी के काव्य का पीछे जो भाव-विवेचन हुआ है, वही उनका रहस्यवाद है। प्रकृति में परम पुरुष के सक्रिय सौंदर्य, उसका अजस्र करुणा-प्रवाह, प्रकृति में पुरातन पुरुष की उत्कट मिलन-कामना, उसी की प्रतीक्षा, उसी के लिए सारी साज-सज्जा आदि से उद्भूत नायिका के हृदय की जिज्ञासा, रति का उदय ; अनादि संस्कार जनित रति का उद्दीपन; मिलन के लिये उद्दाम कामना, विरह-निवेदन और अंत में प्रियतम-प्रियेसी की अद्वैतता—यही सब रहस्यवाद है। विरह-उत्पीड़न ही

१. (क) बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ। नीरजा, यामा, पृष्ठ १३९।
(ख) तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या। वही, पृष्ठ १४२।
(ग) टूट गया वह दर्पण निर्मम। वही, पृष्ठ १६७

के कारण लेखक प्रायः राष्ट्र वीरों को स्वातन्त्र्य संग्राम में आहुति डालने के लिये बलिदान के लिए ललकारता प्रतीत होता है। यह सच है कि गांधी जी के सिद्धान्त सत्य, अहिंसा और प्रेम की मेखला पर झूल रहे थे, परन्तु उसका अभिप्राय कायरता कदापि न था। गांधी जी एवं अन्य अहिंसा-पंथी जिस प्रकार हँसते-हँसते अत्याचार के आघात शान्तिपूर्वक सहन कर लेते थे, वह उनकी कायरता का नहीं वीरता का प्रमाण है। उनकी वीरता का रहस्य है अन्तर्मन की देश-भक्ति, राष्ट्र-स्वातन्त्र्यार्थ बलिदान भावना। उन दिनों सचमुच गाँधी जी के एक संकेत पर लाखों भारतीय कारावास-यात्रा के लिए इस प्रकार चल पड़ते थे, जैसे किसी की बरात में जा रहे हों। कवि माखनलाल जी ने उन दिनों की जेल-कोठरियों का सजीव और सच्चा चित्रण अपनी कविता 'कैदी और कोकिला' में प्रस्तुत किया है। उन काल-कोठरियों में कालिमा का इतिहास, दण्डित 'अपराधियों' पर अत्याचार, उनसे लिया जाने वाला शारीरिक कार्य और देश के परवानों के मन का ज्वार इस कविता में बड़े आकर्षक ढंग से चित्रित किया गया है :—

काली तू, रजनी भी काली, शासन की करनी भी काली,
काली लहर कल्पना काली, मेरी काल कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली, मेरी लौह शृङ्खला काली,
पहरे की हुंकृति की व्याली, तिस पर है गाली; ऐ आली।

(कैदी और कोकिला)

देश से प्यार करने वालों को दिया जाने वाला दण्ड सहसा निम्न पंक्तियों से साक्षात् हो उठता है :—

क्या ?—देख न सकती जंजीरों का गहना !
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज्य का गहना।
कोल्हू का चर्रक चूं ?—जीवन की तान,
मिट्टी पर अँगुलियों ने लिक्खे गान ?
हूँ मोट खींचता लगाकर पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआँ।

(कैदी और कोकिला)

मार्मिकता और गम्भीर हो उठती, जब कवि कहता है :—

जीने देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना !

(कैदी और कोकिला)

(ख) ये सब 'मोहन' की व्रतपूर्ति के लिये भरी गई जेलों के चित्रण हैं जैसा कि कहा जा चुका है, कवि स्वयं तीन बार जेल-तीर्थ की यात्रा कर चुका था

का चित्रण है और प्रभात का रूपक-चित्र भी। काव्य-शिल्पी ने प्रथम किरण को तीर के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है। किसी रस राशि को तीर से वेध दिया जाय तो रस की धाराएँ बह निकलती हैं। सृष्टि के अणु-अणु में रस भरा है, रश्मि-शर-वेधन होते ही मधु के झरनों के समान गीत बह निकलते हैं। प्रथम किरण के धरती पर उतरते ही भ्रमर-गुंजन, विहग-कलरव, लहरों का कलकल, पूजागृहों के अर्चनागीत मुखरित हो उठते हैं। कल्पना की जा सकती है कि कण-कण में संगीत भरा था। यहाँ कार्य से कारण या प्रतिक्रिया से तथ्य का अनुसंधान हुआ। 'सजल' विशेषण से 'गान' में प्रवाहशीलता और अभिसिंचनशीलता की स्थापना की गई—गीत में प्रसारित होने और मानस को तर करने के गुण होते ही है। एक बात और—आघात या टूटने से शब्द उत्पन्न होता है। किरणों के आघात से कण टूटते हैं तो शब्द उत्पन्न होगा ही—स्फोट सिद्धान्त के अनुसार।

अंधकार की जमी तह जड़ समुद्र के समान लगती है। ठीक है, किरणें पृथक्-पृथक् तारों या धागों के रूप में नहीं पड़तीं; प्रकाश के रूप में पड़ती हैं; लेकिन सूर्योदय होते ही देखा जाय तो किरणें पृथक्-पृथक् मालूम होती हैं। सूक्ष्म कल्पना की पुतलियों के सामने ऐसा ही चित्र उतरता है कि अंधकार-सिंधु में किरणें अलग-अलग पड़ रही हैं और उनके बीच तमकालिमा काँपती-सी मालूम होती है। रश्मि—आलोकित भाग ऊपर उठा हुआ और तिमिर—श्याम भाग नीचे दबा हुआ मालूम होगा। तरंगित सागर में ऐसा ही दृश्य देखा जाता है। ऊषा के उदयकाल में प्रकाश पूर्ण रूप से नहीं फैला होता, आलोक-तिमिर मिले मिले-से रहते हैं। ऐसे ही समय विहग चहचहाते-गाते हैं, इनके कलरव से प्राणी पपेली फटने के समय का—जागरण का—आभास पाते हैं, ठीक ऐसे ही जैसे बुलबुलों से समुद्र के तरंगित होने का। क्षितिज के पास तरु-पंक्तियों की फुनगियाँ रश्मियों में मूँगे के समान लगती हैं। ऐसा क्षितिज का तमसिंधु तट है। इस रूपक में सभी उपमानों का चुनाव कमाल का है। यहाँ यह बताना भी आवश्यक मालूम होता है कि यह दृश्य वसन्ती-प्रभात का है, लगभग सुबह ५ बजे का।

तीर को अनेक रचनाओं में प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्रेमानुभूति विरह वेदना, प्रेमबोध, पूर्वप्रेम-स्मृति आदि को तीर के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[1] तीर की चुभन से प्राणी छटपटा उठता है, प्रेम-पीड़ा या विरह वेदना से भी यही दशा होती है। परिणाम—प्रतिक्रिया की समानता इनमें धर्मसाम्य है। कबीर ने भी प्रेम पीड़ा को शर या हथियार माना है। इस कल्पना का मूल है मदन के पुष्प-बाण।

---

(१) किस सुधि-वसन्त का सुमन-तीर। यामा, पृष्ठ ७०।
(२) रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ। यामा, पृष्ठ २१८।

के कारण लेखक प्रायः राष्ट्र वीरों को स्वातन्त्र्य संग्राम में आहुति डालने के लिये बलिदान के लिए ललकारता प्रतीत होता है। यह सच है कि गांधी जी के सिद्धान्त सत्य, अहिंसा और प्रेम की मेखला पर झूल रहे थे, परन्तु उसका अभिप्राय कायरता कदापि न था। गांधी जी एवं अन्य अहिंसा-पंथी जिस प्रकार हँसते-हंसते अत्याचार के आघात शान्तिपूर्वक सहन कर लेते थे, वह उनकी कायरता का नहीं वीरता का प्रमाण है। उनकी वीरता का रहस्य है अन्तर्मन की देश-भक्ति, राष्ट्र-स्वातन्त्र्यार्थ बलिदान भावना। उन दिनों सचमुच गाँधी जी के एक संकेत पर लाखों भारतीय कारावास-यात्रा के लिए इस प्रकार चल पड़ते थे, जैसे किसी की बरात में जा रहे हों। कवि माखनलाल जी ने उन दिनों की जेल-कोठरियों का सजीव और सच्चा चित्रण अपनी कविता 'कैदी और कोकिला' में प्रस्तुत किया है। उन काल-कोठरियों में कालिमा का इतिहास, दण्डित 'अपराधियों' पर अत्याचार, उनसे लिया जाने वाला शारीरिक कार्य और देश के परवानों के मन का ज्वार इस कविता में बड़े आकर्षक ढंग से चित्रित किया गया है :—

काली तू, रजनी भी काली, शासन की करनी भी काली,
काली लहर कल्पना काली, मेरी काल कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली, मेरी लौह शृङ्खला काली,
पहरे की हुंकृति की व्याली, तिस पर है गाली; ऐ आली।

(कैदी और कोकिला)

देश से प्यार करने वालों को दिया जाने वाला दण्ड सहसा निम्न पंक्तियों से साक्षात् हो उठता है :—

क्या?—देख न सकती जंजीरों का गहना!
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश राज्य का गहना।
कोल्हू का चर्रक चूं?—जीवन की तान,
मिट्टी पर अँगुलियों ने लिक्खे गान?
हूँ मोट खींचता लगाकर पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआँ।

(कैदी और कोकिला)

मार्मिकता और गम्भीर हो उठती, जब कवि कहता है :—

जीने देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना!

(कैदी और कोकिला)

(ख) ये सब 'मोहन' की व्रतपूर्ति के लिये भरी गईं जेलों के चित्रण हैं जैसा कि कहा जा चुका है, कवि स्वयं तीन बार जेल-तीर्थ की यात्रा कर चुका था

मोम सा मन घुल चुका अब
दीप-सा तन जल चुका है।

(दीप शिखा, गीत २३)

चकित से विस्मृत से दृगबाल,
अकारण यह शैशव-सा हास ।

(रश्मि, यामा, पृष्ठ १२६)

नव मेघों को रोता था
जन चातक का बालक मन।

(रश्मि, यामा, पृष्ठ ८४)

मोम जरा से ताप से पिघल जाता है। मन विरह-ताप से पिघल गया है। मोमबत्ती जब पिघलती है, तो मोम की गोल गोल बूंदे रपटती दीखती हैं। सारा मोम पिघल कर अन्त में एक तरल पदार्थ बन जाता है। हृदय पिघल कर आँसू बन बन बह निकला और अन्त में तरल पदार्थ बन गया। "मोम-सा मन घुल चुका" में व्यंजना से सन्ताप के आधिक्य, मन की द्रवनशीलता, सुकुमारता, प्रिय-साधना, सम्पूर्ण विनाश—इन सबमें प्रिय की निष्ठरता, प्रेयसी की एकान्त निष्ठा और प्रिय के प्रति अनुकम्पा का अनुरोध भी लक्षित होता है। "चातक का बालक मन," "शैशव-सा हास" और 'दृगबाल' में 'बालक' और 'शैशव' दो उपमान प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ इन उपमानों के गुण, स्वभाव को उपमेयों में स्थापित किया गया है। पहले में बाल हठ, दूसरे में निर्मलता निष्कपटता, भोलापन, पवित्रता और तीसरे में भोलापन, चपलता, मुग्धता, विस्मयकारिता आदि धर्मों की स्थापना है। यहाँ पदार्थ से गुण का काम लिया गया है।

प्रतीक सर्वाधिक भावव्यंजक हैं। प्रतीक भी धर्म-साम्य को अभिव्यक्त करने में जितना सफल होगा, उतना ही उपयोगी होगा। अभिव्यक्ति की सुबोधता-दुर्बोधता का ध्यान रखकर प्रतीक-कल्पना की जाती है। 'तीर' के प्रतीक रूप में उपयोग का निरूपण पहले किया जा चुका है। पर 'दीपक' की विवेचना किए बिना महादेवी के प्रतीक-विधान की व्याख्या अधूरी रहेगी। क्योंकि 'दीपक' सर्वाधिक समर्थ प्रतीक है, जिसके द्वारा साधिका का स्वरूप अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम-साधना के एकांत लोक में विरह के बीहड बन में, सन्नाटे के निर्जन में, निष्ठा के शून्य निलय में, भावयोग के साधना कक्ष में पहुँचकर साधिका दीपक बन जाती है। दीपक स्नेह [तेल, घी आदि] साधक स्नेह [प्रेम] से अन्धेरी रात और विरह-वेदना-तिमिर-आवृत्त जीवन में जलता है। दोनों जलते हुए अन्धकार और माया अज्ञान-जड़ता को नष्ट कर आलोक फैलाते हैं। दीपक लौ जलाए रहता है, साधक लौ लगाए रहता है। स्नेह, लौ, ज्वाला ने श्लेष से दीपक को साधक का प्रतीक बना दिया है। इस प्रसंग

कहती हो क्या, 'आर्य भूमि की,
श्री गोपाल लाज राखें ?
तब तक दम मत लो जब तक
हैं, मेरी अश्रु भरी आँखें ?

तिलक का जाना भारतीय संघर्ष-शक्ति का अन्त नहीं हो सकता। भारत के जवानों की रगों में अभी रक्त संचार होता है और निश्चय ही उनमें ऐसा वैधव्य नहीं आया, जो उनके सिर एकदम झुक जाएँ। आवश्यकता है प्रेरणा और ललकार की। कवि इसीलिये तो अपना कर्त्तव्य पहचानकर चुनौती देता है :—

प्राण अन्तर में लिये, पागल जवानी !
कौन कहता है कि तू
विधवा हुई, खो आज पानी ? (जवानी)

स्वातन्त्र्य-प्रभु (देश की स्वतन्त्रता ही कवि का आराध्य है) पर फूल नहीं, नर-मुंड चढ़ाने की माँग है "चढ़ा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी।" यह मांग कवि ने संभवतः तभी की है जब उसे विश्वास हो गया कि गाँधीवादी अहिंसात्मक नीति लक्ष्य-सिद्धि का सफल साधन नहीं है। इससे निश्चय ही यह अभिप्रेत नहीं कि माखनलाल जी ने गान्धी जी के सिद्धान्तों को पूर्णतः अनाथ ठहरा दिया हो—यह तो एक ऐसा जोश है जो स्वतन्त्रता को अधिक निकट देखने को मनोद्वेलन उत्पन्न कर रहा है। विश्व भले यह माने कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नीति ही सर्वजनीन है, परन्तु गान्धी जी की संकल्पात्मक-शक्तियाँ भारतीय आत्मा के दोनों हाथों लड्डू थमा रही हैं—मर गए तो शहीद (मर का त्योहार), बच गए तो स्वतन्त्र जीवन (जीवन का यथार्थरूप) :—

विश्व है असि का ?
नहीं संकल्प का है :
हर प्रलय का कोण,
काया-कल्प का है
× × ×
खून हो जाए न तेरा देख, पानी
मरण का त्योहार जीवन की जवानी। (जवानी)

गाँधीवादी अस्त्रों—तिरंगा, चर्खा, अहिंसा आदि को भी कविताओं में स्थान दिया गया है :—

ले कृषक संदेश-कर बलिवंदना
ध्वज तिरंगे की करो सर्व अर्चना,

३६

हिमकिरीटिनी

डॉ० मनमोहन सहगल

'हिमकिरीटिनी' कविवर माखनलाल चतुर्वेदी का सर्वप्रथम कविता-संग्रह है। इसमें संगृहीत कविताएँ सन् १९१३ और सन् १९४० के बीच की लम्बी अवधि में समय-समय पर अभिव्यक्त उद्भावनाएँ मात्र हैं, जिन्हें सन् १९४३ में विधिवत् पुस्तकाकार में प्रकाशित किया गया। निश्चय ही सन् ४३ तक द्विवेदी-युग, छायावादी-युग तथा प्रगतिवादी-युग समाप्त हो चुके थे; तथापि प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में द्विवेदी-कालीन राष्ट्रीय-तेज, छायावादी युग का प्रकृति-जन्य प्रेम तथा प्रगतिवादी भावधारा के प्रभावानुरूप संघर्ष, स्पन्दन और क्रान्ति का आह्वान स्पष्ट दीख पड़ता है। यों तो कवि ने अपने इन कतिपय आरम्भिक प्रयासों को 'तुकबन्दियाँ' कहकर विनीत-भाव का प्रदर्शन किया है, कुछ सीमा तक वे हैं भी तुकबन्दियाँ ही, परन्तु उनमें तत्कालीन राजनैतिक-परिस्थितियों, ब्रिटिश-शासन के अत्याचारों, देश-हित बलिदान होने वाले वीरों, राष्ट्र-प्रेम में सर्वस्व त्याग मरण-त्योहार मनाने के जिज्ञासुओं और मानवता-ज्योति पर शलभ बन मंडराने वाले भारतीय-सपूतों के जो उद्गार-जन्य चित्र प्रस्तुत किये गए हैं, वे अविवाद रूप से कवि की रचना में राष्ट्रवाद का गहराई से एक आकर्षक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। रचना-काल में कवि की दृष्टि ने बाहर और भीतर, दोनों ओर देखा है। श्री चतुर्वेदी स्वयं 'हिमकिरीटिनी' में 'निवेदन' करते हैं, "दृष्टि का काम बाहर को देखना भी है, और भीतर को भी। जब वह बाहर को देखती है, तब रचनाओं पर समय के पैरों के निशान पड़े बिना नहीं रहते। जब वह भीतर को देखती है, तब मनोभावनाओं के ऐसे चित्र कलम पर आ जाते हैं, जिन्हें समय के द्वारा शीघ्र पोंछा नहीं जा सकता।" उनकी प्रस्तुत कविताओं पर समय के जो चरण-चिह्न अंकित हुए, या मनोभावनाओं के जो चित्र क़लम पर उतरे, वे अग-जग में जीवन-शक्ति, राष्ट्र-हित मरणाकांक्षा तथा लक्ष के प्रति श्रद्धा प्रसारित करने में खूब सफल हुए हैं। 'तिलक', 'मरण-त्योहार', 'जवानी' और 'सिपाही' आदि कविताओं ने तो अपने युग के युवक-वर्ग के सीने में उद्वेलन खड़ा कर दिया था—वे तिलक पर,

स्वातन्त्र्य-प्रभु के मन्दिर द्वार पर आ पहुँचे हैं। उनके सम्बन्ध अब केवल धारणाओं-उद्भावनाओं और वृत्तियों मात्र से हैं। अहिंसा और आत्मिक बल ही उनके भाई-बहन हैं, विश्वेश्वर स्वयं पिता हैं और प्रकृति की गोद ही जननी का घर। जीवन का तेज ही पुत्र है, सहन-शक्ति पुत्री है। कथनी उनकी हानि है, अर्थात् कथनी त्याग करनी को अपना लिया हैं उन्होंने। अमर शक्तियाँ उनकी प्राप्ति हैं। उनके लिये शरीर तुच्छ है समूचा संसार घर है। दुखी जनता की पुकार ही उनका अपना शोक है और कर्म क्षेत्र में सवीर्य द्वन्द्व उनका हर्ष है। निष्कर्मण्यता उनके लिए क्लेशदायी है, भारत देश के वे वीर सैनिक हैं और वृन्दावन-विहारी गोपाल सरीखा उदार, सहिष्णु और ससेव्य उनका वेश है। उनकी जाति मजदूरों की, मार्ग कंटकाकीर्ण सत्यपथ, वर्ण जो दासों का होता है और कला दुखियों की तान है। वे अन्यायों का प्रतिकार लेने की प्रतिज्ञा करके कर्म-पथ पर निकले हैं। वे बलिदान के मार्ग के सच्चे पथिक हैं, भारत माता के सच्चे सपूत।

बीच-बीच में श्री माखनलाल जी महात्मा गाँधी के समझौते-सुधारों के बहानों से ऊब उठते हैं। फिर से तिलक सरीखे उदण्डता-उन्मुक्तता के भाव विद्रोह करने लगते हैं। मन क्रान्ति के लिए मचल उठता है। कवि झुँझलाकर कह उठता है :—

अमर राष्ट्र, उद्दंड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र,
यह मेरी बोली !
यह 'सुधार' 'समझौतों' वाली
मुझको भाती नहीं ठठोली। (अमर राष्ट्र)

उसे तो देश प्यार का ऐसा रंग चढ़ा है, कि उसने शूलियों, फाँसियों, गोलियों, लाठियों से मैत्री स्थापित कर रक्खी है। यदि ऐसा न होता तो शूलियाँ प्रश्न-चिह्न बनकर रह जाती। 'शूलियाँ बनें प्रश्न के चिह्न, देश का चढ़ा प्यार जो न हो ? (मरण ज्वार) अभिप्राय यह कि माखनलाल जी की कविता बलिदान प्रेरणा की मधुर कथा है। राष्ट्र पर मरना ठानकर ही स्वातन्त्र्य-संघर्ष का पथ नापा जा सकता है—बस इसी वृत्ति का प्रमाण है कवि की राष्ट्रीय कविता। इसीलिए उसकी यह मनुहार है, कि :—

बलिशाला ही हो मधुशाला,
प्रितम-पथ हो देश-निकाला,
प्राणों का आसव हो ढाला,
गिरे व उसमें दाग़ री। (मनुहार)

यहाँ तक तो हुई पुरुषों की बातें। माखनलाल जी सम्भवतः एकांगी पथ पर राष्ट्र की किसी भी सफलता की सम्भावना नहीं रखते। जाति का उत्तमार्ध नारी,

हुए कवि ललकारता-सा प्रतीत होता है :—

फल दिये ? या सिर दिये ? तरु की कहानी
गूँथ कर युग में, बताती चल जवानी !

राजनैतिक क्षेत्र में सन् १९४२ के आन्दोलन में यह भावना बड़ी प्रबल दीख पड़ती है। समूची उपर्युक्त अवधि स्वातन्त्र्य-दीवानों एवं सत्ता के बीच हर प्रकार के संघर्ष की लम्बी कहानी है। ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों में द्विवेदी-युग के कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय-भावना की संगति बैठना स्वाभाविक ही था। साहित्य-क्षेत्र में उन्हें यह आलम्बन भारतेन्दुकाल से ही पैतृक-सम्पत्ति के रूप में मिल चुका था। भारतेन्दु स्वयं काव्य-क्षेत्र में राष्ट्रीयता का बीज बो चुके थे। सम्भवतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने कांग्रेस के निर्माण से बहुत पहले ही अँग्रेज़ी शासन की नीति पर असन्तोष प्रकट किया था और जिनकी दिव्य-दृष्टि यह समझने में सफल रही थी कि गोरे प्रभु सुख साज सजाकर भारतीयों की आँखों में धूल झोंकते हैं तथा यहाँ के धन को दोनों हाथों हरण कर रहे हैं। उनका राष्ट्रीय-काव्य का बीज द्विवेदी-युग में पत्रित-पुष्पित हो चुका था और उस पेड़ में श्री माखनलाल जी की रचनाओं सरीखे फल लगने लगे थे।

श्री चतुर्वेदी जी के कई काव्य-ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—हिमकिरीटिनी-१९४३, हिमतरंगिनी-१९४६, माता-१९५१, युगचरण-१९५६, वेणु लो गूंजे धरा-१९६० और मरण-ज्वार-१९६३। इन सभी रचनाओं पर समय की राजनैतिक तथा साहित्यिक विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा है, जो कहीं-कहीं अत्याकर्षक दिखाई पड़ता है। कवि का जीवन-दर्शन उपरोक्त सभी काव्य-ग्रन्थों में झलकता है। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने चतुर्वेदी जी के जीवन-व्यवहार का बड़ा सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं, उनके भीतर का योद्धा भक्त और भक्त योद्धा है··· ऐसा नहीं कि आत्मा उन्होंने भगवान् को और शरीर स्वदेश को दिया हो। देश-भक्ति उनके लिए परोपकार का प्रतिमान नहीं, आत्मविकास का ही माध्यम है। इसी प्रकार उपासना उनके लिए केवल आत्मा का ही धन नहीं, शरीर की भी सम्पत्ति है। शरीर और मन एवं अस्तित्व के सारे उपकरणों को उन्होंने एक ही आराध्य के चरणों पर न्यौछावर कर दिया है। वही आराध्य उनके मन की दुनिया में वृन्दावन का गोपेश एवं चर्मचक्षु के सामने 'हिमकिरीटिनी' का मानचित्र बन जाता है···उनका हृदय सूफ़ियों के समान प्रेम-विह्वल है। उनमें सूफ़ियों की तरह आकुलता, तड़प और विदग्धता है···(इसीलिये) पंडित माखनलाल चतुर्वेदी शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं। किन्तु साहित्य में इनके व्यक्तित्व के ये चार गुण अलग-अलग प्रतिबिम्बित नहीं होते; साधना की आग में

मान रूपी परतन्त्रता की कड़ियों का भंजन दिवस ही उसके आराधकों का त्योहार दिवस हो सकता है :—

पर न इनकी मान तू, हैं शाप, ये वरदान,
हिमकिरीटिनी ने मंगाये हैं सखी तब प्राण
जब सिपाही उठें, सेनानी उठे ललकार,
मातृ बंधन मुक्ति का जिस दिन मने त्योहार। (हिमकिरीटिनी)

त्योहार की खुशियाँ मनाना है, तो विजय का मोल चुकाना होगा :—

यह मधुर बलि, हो विजय का मोल,
मानिनी, तब तक हृदय मत खोल।
हिमकिरीटिनी की परम उपहार।
री सजनि, बन रात्रि का शृङ्गार।

राष्ट्रीय और प्रेम-प्रधान कविताओं के अतिरिक्त माखनलाल जी की कुछ रचनाएं हिमकिरीटिनी में ऐसी भी हैं जो क्षणिक कल्पना की उड़ान में किसी न किसी मानसिक उद्भावना की शाब्दिक अभिव्यक्ति मात्र कही जा सकती हैं। ऐसी कविताएँ शुद्ध विषयीगत तो हैं ही, अधिकतर गीतात्मक भी हैं। संग्रह का प्रथम गीत इसी प्रकार की एक उड़ान है—"लोग कहें बढ़ चली उभर, पर मैं नित्य उतरती हूँ सखि।" ऐसी कविताओं के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे कवि की आत्मा की वाणी हैं, उसका शत-प्रतिशत राष्ट्रीय रंग इनमें भी प्रायः उभर आया है। ऐसी उद्भावनाओं की कटु और सत्य अभिव्यक्त्यर्थ ही तो माखनलाल जी अपने छद्म-नाम 'एक भारतीय आत्मा' का प्रयोग करते रहे।

'झरना' कवि की सहृदयता का एक आकर्षक नमूना है। झरने की पावनता और शीतलता के सम्मुख कवि अपने को—मानव को—कितना तुच्छ अनुभव करता है। विश्व की गंदगी, अनीति और भ्रष्टाचार मनुष्य के गंदे मस्तिष्क की उपज ही तो है—इस महत् स्वीकृति को कवि स्पष्ट प्रकट करता है :—

मैं भूमंडल को कृति से
हूँ कुम्भीपाक बनाता,
तू स्वर्गगंगा बन करके
सुर लोक मही पर लाता, (झरना)

कभी कवि भावलोक में पहुँच अपने आराध्य 'विपिन-विहारी' से परिहास और अठखेलियाँ सी करने लगता है। प्रियतम के रूठने पर अपने गँवारपन की स्वीकृति उपर्युक्त ढंग से ही हुई है :—

गूंथ हार, प्रियतम संवार,
ऐ मोहन मोती वाले,

१०. मरण-त्योहार
१२. विदा
१४. कलिका से—
कलिका की ओर से
१८. विद्रोह
१९. नाश का त्योहार
२३. तिलक
२६. बन्धन मुख
२७. निःशस्त्र सेनानी
३३. अमर-राष्ट्र
३९. मरण-ज्वार
४०. गान
४१. सिपाहिन
४२. घर मेरा है
४३. मध्य की घड़ियाँ

(घ) राष्ट्र-प्रशस्ति
४४. हिमकिरीटिनी

कुछ कविताएँ जो उपर्युक्त दोनों खण्डों में वर्गीकृत नहीं हो सकतीं, वे क्षण-विशेष की अनुभूति-मात्र ही कही जा सकती हैं। ऐसी रचनाओं का हम तीसरा पृथक् खण्ड मान लेते हैं।

३. कल्पना का लीला-विलास :—

(क) मानसिक-उद्भावनाएँ
१. गीत
२. दो साधें
४. झरना
६. नव-स्वागत
१३. गिरि पर चढ़ते—धीरे-धीरे
१६. लाचार
३८. उपालम्भ

ऐसी कविताएँ, जो एक ही खण्ड के अन्तर्गत एकाधिक वर्गों में दिखाई गई हैं, उनमें दोनों वर्गों के तत्त्व वर्तमान कहे जा सकते हैं—यथा 'जवानी' में बलिदान-भावना और स्वातन्त्र्य-संग्राम-आह्वान, दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं।

१. (क) श्री चतुर्वेदी जी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक विह्वल कवि हैं। इनकी आरम्भिक रचनाओं में तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति-युक्त प्रेम-भावना सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जड़, चेतन तथा अध्यात्म, सभी कवि के प्रेम-पात्र हैं। प्रकृति के प्रति प्रेम भावना उस युग की विशिष्टता थी, छायावाद इसमें प्राण फूंक चुका था। हमारे कवि भी प्रकृति-सुन्दरी का आकर्षक नर्तन देख देख भाव-विभोर हो उठते थे। प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उनके भीतर का प्यार स्पंदित कर देता था। सूर्य की किरणें, मन्थर गति से चलने वाली समीर झूमती-मुसकराती कलिकाओं के साथ अठखेलियाँ करतीं, कवि साक्षी होता और प्रकृति के प्रेममय अस्तित्व की अनुभूतियाँ पाकर स्वयं झूम उठता।

रमणी से अधिक मोहक, सुधा से अधिक सरस तथा यज्ञ से भी अधिक पवित्र है। इस रस में योद्धा का तेज, भक्त की विह्वलता, प्रेमी के अश्रु और कवि की साधना, सभी मिले हुए हैं।" (मिट्टी की ओर)। यों दिनकर जी ने इन शब्दों में लच्छेदार भाषा के माध्यम से रस का प्रश्न ही गौण बना दिया है, परन्तु यह सत्य निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता कि श्री माखनलाल जी की कविता में रसों का नवरंग छलकता है, जो स्थान-स्थान पर एक दूसरे से ऐसे घुल-मिल गये हैं, कि परस्पर ठेलमठेल कर प्रत्येक रस ऊपर झांकता-सा प्रतीत होता है। 'हिमकिरीटिनी' में ऐसी बहुत-सी कविताएँ उपलब्ध हैं, जहाँ एक ही समय करुण और वीर, शृङ्गार और शांत या शृङ्गार और करुण आदि रस पाए जाते हैं। भले ही शास्त्रीय दृष्टि से इसे रस-दोष कहा जाए, परन्तु चतुर्वेदी जी का चातुर्य जुदे-जुदे पद्यांशों में विभिन्न रसों की छटा प्रदर्शित करने में ही है। यदि मैं यह कहूँ कि इनकी कविता में रस नहीं 'रस-शबलता' रहती है, तो अधिक उपयुक्त होगा। उदाहरणार्थ 'तिलक' कविता में देखिए—वीर रस तथा करुण रस का आकर्षक चित्रण।

वीर रस—"मजबूत कलेजों को लेकर,
इस न्याय दुर्ग पर चढ़े चलो,
माता के प्राण पुकार रहे,
संगठन करें, बस चढ़ो, चलो।"

करुण रस—"मैं ही हूँ, मुझ इकलौती ने,
अपना जीवन धन खोया,
रोने दो, मुझ हतभागिन ने,
अपना मनमोहन खोया।"

श्री चतुर्वेदी जी के इस कविता-संग्रह में भाव-चित्रण समूचे रस-परिपाक की अपेक्षा अधिक सफल कहा जाना चाहिए। राष्ट्र-प्रेम, साहस, प्रभु-भक्ति, विह्वलता, विपरीत परिस्थिति से संघर्ष, प्रकृति का आकर्षण, करुणा, हास या व्यंग्य, आसक्ति आदि अनेक भाव विभिन्न कविताओं में चित्रित किए गए हैं। बलिदान का भाव तो पूर्व-पृष्ठों में सविस्तार प्रस्तुत किया गया है, शेष की बानगी देखिए:—

राष्ट्र-प्रेम—अमर-राष्ट्र, उद्दण्ड-राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र
यह मेरी बोली। (अमर राष्ट्र)

साहस—क्या मिला? जो प्रलय के सपने न पाए।
धरा?—यह तरबूज है दो फांक कर दे। (जवानी)

प्रभु-भक्ति—मेरे गीतों के राजा! तुम
मेरे गीतों में वास करो। (गीतों के राजा)

कौन पथ भूले, कि आये !
स्नेह मुझसे दूर रहकर
कौन से वरदान पाये ? (वरदान या अभिशाप)

परन्तु हर्ष-प्लावित अश्रुपात युग-युग की स्मृतियों को इतना प्रकाशित कर देता है कि मनुष्य के अन्तर की सब ग्लानि, घृणा और वैर-द्वेष का एकदम नाश हो जाता है। करुणा या आँसू ही तो मानवता के यथार्थ पहलू हैं। कठोरता, हृदयहीनता, निर्ममता आदि शब्द श्री चतुर्वेदी जी सरीखे प्रेम विह्वल कवि के कोष में उपलब्ध नहीं हो सकते। उनके लिए तो आँख से आँसू टपकना, मोती टपकने जैसा मूल्यवान् है :—

आहा ! कैसे गिरे सीपियों से
ये गरम गरम मोती ?
जग मग हृदय किये देती हैं
टपक टपक जिनकी जोती।' (आँसू)

परन्तु टपकते आँसू कवि को करुणा को भले सजग कर लें, आशावादिता पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "मेरे लिये उठेंगी, आशाओं में ऐसी ध्वनियाँ" का राग अलापने में उन्हें कोई बाधा नहीं होती।

(ग) माखनलाल जी की प्रस्तुत कविताओं में प्रेम भावना का दूसरा पहलू भक्त-हृदय की तड़प है। अपने इष्ट देव वृन्दावन विहारी, आनंद-कंद, परन्तु लोक-रक्षक श्री कृष्ण के प्रति कवि की श्रद्धा इतनी गहन और प्रपत्तियुक्त है कि उसे अपने प्रत्येक लक्ष्य में उसी प्रभु की प्रेरणा प्रतीत होती है। इसीलिये तो कवि का वलिपंथ और आध्यात्मिक चित्रण, दो रंग होते हुए एक ही चित्र के विभिन्न पहलू हैं। प्रभु के आह्वान में उसे भारत-सौभाग्य दिखता है और स्वतन्त्रता-हित किए बलिदान में प्रभु का आह्वान। यह एकाकार इतना सर्वमुखी हो गया है कि कवि अकस्मात् कह उठता है :—

यमुना का कलरव दुहरा कर,
कब से स्वागत गाती हूँ,
हरि जाने स्वागत गाती हूँ,
या सौभाग्य बुलाती हूँ। (स्वागत)

और उसे चतुर्दिक् अपने प्यारे का रूप अनेकानेक आकारों, गुणों, रूपों और तत्त्वों में समाया हुआ दिखने लगता है :—

जिस ओर लखूं तुम ही तुम हो,
प्यारे, इन विविध शरीरों में।

(हिमतरंगिनी की एक कविता)

रचना के इस पक्ष पर दृष्टिपात करते हुए उस रहस्यात्मक सत्ता के प्रति

३. **विरोधाभास**—'जग आँख मूँद कर मरता है, मैं आँख खोलकर मरती हूँ।'
मेरी सुन्दरता तो देखो, मरने के लिए उभरती हूँ।' (कलिका से)

४. **अनुप्रास**—मेरी कसकों में कसक-कसक
मेरी खातिर बनवास करो। (गीतों के राजा)

५. **यमक**—'जौहर' से बढ़कर, घोड़े पर
चढ़कर, जौहर दिखलाने दो। (सिपाहिनी)

भाषा

चतुर्वेदी जी ने स्वयं एक लेख में लिखा है, "हम भी अब लौटें भाषा की सरलता की ओर। शोधक और वैज्ञानिक शास्त्रों में कठिन शब्दों का उपयोग चाहे करें, किन्तु जन-जन को रसदान करने वाली वाणी में यह कठिनता नहीं शोभेगी।" लगता है कि उन्होंने ऐसे ही संकल्प का पालन 'हिमकिरीटिनी' की सभी कविताओं में किया है। उनकी भाषा अति सरल है। कदाचित् ही उनकी कविताओं में कोई कठिन शब्द ऐसा आया हो जिसे हिन्दी भाषी विद्यार्थी बिना किसी बाह्य सहायता के न समझ सकता हो। गांधी जी द्वारा प्रभावित होने के कारण उन्हीं की नीति के अनुसार कभी-कभी हिन्दुस्तानी (उर्दू प्रधान या उर्दू-प्रभावित) शब्दों का प्रयोग माखनलाल जी अवश्य करते हैं, परन्तु वे सामान्यतः प्रचलित ही होते हैं, जैसे दिलबर, दिलदार आदि। अप्रचलित शब्दों 'बादबान', 'तकसीर' या 'सनसने-तूफान' आदि का प्रयोग 'न' के बराबर ही है।

कहीं-कहीं हिन्दी के शब्दों में चतुर्वेदी जी ने प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से फेर-बदल भी दिया है। 'हृदय-तल' के स्थान पर 'हीतल' या 'हृतल' का प्रयोग इसी धारणा का उदाहरण माना जा सकता है। यों व्याकरण के नियम मानने से तो वे पहले ही इंकार करते हैं। परन्तु 'तुम्हारा' या 'तुम्हें' की जगह 'तुमका' प्रयोग निश्चय ही अखरता है—(जो तुमका पाना इष्ट हुआ=तिलक) ध्यान रहे इतना सब होते हुए भी माखनलाल जी अपनी धारणाओं के प्रति सच्चे और ईमानदार हैं। उनकी भाषा उनके विचारों के अनुरूप ही है। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था, "शोध की मौलिकता के पथ के, पागल हम कभी-कभी आकाश की तरह ऊँचे विचारों को व्यक्त करते हैं—हम बुरा नहीं करते। किन्तु उस समय बोली भी आसमान की तरह पहुँच के बाहर बोलने लगते हैं। नहीं, आसमान के-से विचार हों, परन्तु हम ज़मीन पर हैं, यह न भूलें। हमें जो बोलना होगा, ज़मीन की बोली में बोलना होगा। वे (विचार) ज़मीन पर रहते हैं, जिसमें हम जन्मे हैं।"

यह ठीक है कि कवि माखनलाल जी की ऐसी कविताओं में कुछ अस्पष्टता का वातावरण बना रहता है, गान और प्राण एक ही सन्तुलन पर ऊँचे-नीचे होते दिखाई देते हैं, परन्तु इसे कलात्मक-द्वेष न मानकर रहस्यवाद की सीमा-भूमि कहा जा सकता है। ब्रह्म और माया सरीखे पारिभाषिक-शब्दों के जाल इनकी कविताओं को रहस्यवादी बनने की अपेक्षा असंतुलित या अस्त-व्यस्त-सी बना देता है। यथा···

फट पड़ा ब्रह्म ! क्या छिपें ! चलो माया में,
पाषाणों पर पंखे झलती छाया में,
बूढ़े शिखरों के बाल-तृणों में छिप के,
झरनों की धुन पर गायें चुपके चुपके।

(गिरि पर चढ़ते, धीरे धीरे)

(घ) आध्यात्मिक-पहलू में श्री माखनलाल जी की बड़ी गहरी पैठ है, वे सच्चे भगवद्भक्त हैं। अपने आराध्य को उन्होंने हृदय में धारण कर रखा है, वह नयनों में बसता है। वह पुतलियों और पलकों की क्रीड़ा का माधुर्य उँडेल-उँडेल कर कवि के अनुभूतिलोक में प्राणों का आसव घोल रहा है। यहाँ प्रेम का वास्तविक रूप प्रेमी और प्रेमिका के तादात्म्य में स्थित है। कवि झूम कर कह उठता है :—

पुतली की नौका पर लाई मैं दिलदार उतार।
बादबान तानी पलकों ने, हा ! यह क्या व्यापार ?
कैसे ढूंढूं हृदय-सिंधु में छूट पड़ी पतवार।

(कुंज कुटीरे, यमुना तीरे)

अतः जीवन संदेश पाकर 'राग और अनुराग' के पंखों पर उड़ चलना ही मानवात्मा का श्रेय है। अज्ञानांधकार में भटकता प्रत्येक जीव ज्ञान-ज्योति का ही तो इच्छुक होता है। इसलिये अंधकार तो वरदान है। अंधकार में ही तो 'श्याम' का प्रकाश देदीप्यमान होता है। कवि के गोपेश भी तो कृष्ण हैं; लेकिन कृष्ण के कारण दिखाई न पड़ने पर भी उसकी पग-ध्वनि का अनुकरण जीवन-साफल्य के लिए पर्याप्त है। इसीलिए अध्यात्म पथ पर अंधकार कोई भयप्रद वस्तु न होकर ज्ञानोपार्जन की प्रेरणा है, अतः ग्राह्य है :—

अंधकार है तो गरवीले। तुझे न नज़र लगा पाऊँगा,
अंधकार है तो पदध्वनि पर मैं तेरे पीछे आऊँगा।
झिड़क नहीं सुन्दर, यों कहकर, 'अंधकार का कठिन त्रास है'!
श्याम, श्याम तेरा आसन है, किन्तु अमर उज्ज्वल प्रकाश है !

२. (क) पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के प्रस्तुत कविता-संग्रह मे मुख्य स्वर राष्ट्रीय है। लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी के आन्दोलनों से प्रभावित होने

३७
कृष्णायन

डॉ० गोविन्दराम शर्मा

हिन्दीसाहित्य के आधुनिक महाकाव्यों में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र-कृत कृष्णायन को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। राम और कृष्ण के जीवन को लेकर संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक काव्यों की रचना हुई है। राम के सम्पूर्ण जीवन का चित्र तो वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस, रामचन्द्रिका और साकेत आदि अनेक काव्यों में हुआ है, पर कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र को प्रकाश में लाने वाली कोई रचना संस्कृत तथा हिन्दी में अभी तक उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के महाभारत और श्रीमद्भागवत में कृष्ण-चरित का विस्तृत वर्णन मिलता है, किन्तु इन दोनों विशालकाय कृतियों में भी कृष्ण का सर्वांगीण चरित्र चित्रित नहीं हुआ है। हिन्दी में विविध कृष्णभक्त कवियों ने अपने इष्टदेव की बाल-लीला और जीवन-लीला को लेकर अनेक गीतों एवं मुक्तक काव्यों की रचना की। उन्होंने कृष्ण के जीवन के जिस रूप को अपनाया वह महा-काव्य की भूमि पर पल्लवित नहीं हो सकता था। उसमें मानव-जीवन की अनेक-रूपता को व्यक्त करने की क्षमता न थी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रियप्रवास की रचना कृष्ण के चरित्र को लेकर हुई है पर उसमें भी कृष्ण मुख्यतया गोपीजन-वल्लभ रूप में ही हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में पूर्णावतार श्रीकृष्ण के जीवन की जन्म से लेकर स्वर्गारोहण तक की सम्पूर्ण घट-नाओं को सुसम्बद्ध रूप से उपस्थित करके उनके जीवन के विविध पहलुओं पर समु-चित प्रकाश डालने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। कृष्णायन में गोपीजनवल्लभ, भक्त-वत्सल और असुरसंहारक कृष्ण आज के युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान करते हुए एक धर्मसंस्थापक, समाजसुधारक और राष्ट्रनायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। मिश्र जी ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों को एकत्र सुसं-गठित करके उनके चरित्र को महाकाव्य के अनुरूप व्यापक रूप प्रदान किया है। विषय की व्यापकता, दृश्यचित्रण की मनोरमता, रसपरिपाक, भाषा-शैली की विशदता और उदात्त जातीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से कृष्णायन की गणना हिंदी के महाकाव्यों में की जा सकती है।

इसलिये भीतर बाहर की समूची परिस्थितियों से परम-परिचित था। 'कैदी और कोकिला' मे लिखा गया एक-एक शब्द कवि के कटु अनुभवों को ही प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि ब्रिटिश शासन पर व्यंग्य और राष्ट्र-जागृति का आह्वान भी उक्त कविता में परिलक्षित है। इसी प्रकार की भावनाओं से पंडित माखनलाल जी की अन्य कविताओं में विदेशी सत्ता से जूझने की ललकार अधिक है, गांधी जी की सहिष्णुता और निःशास्त्र आन्दोलन की नीति कम ! वे स्वातन्त्र्य-सेना के सिपाही बनकर उस शक्ति से टकरा जाना चाहते हैं, जो हमेशा से दमन, विनाश और छल-छद्म में विश्वास करती रही है। ऐसे राष्ट्र-सैनिक के पास देने को क्या है ? उसकी पूंजी क्या है ? निम्न पंक्तियों में थोड़े में बहुत कह दिया है—

अरि-मुंडों का दान,
रक्त-तर्पण भर का अभिमान,
लड़ने तक महमान
एक पूंजी है तीर-कमान। (सिपाही)

सैनिक का लक्ष्य ही तो उसका आराध्य होता है। माता का आराधक जूझता हुआ बलिवेदी की ओर बढ़ता है, और उसे ही साध्य मानकर अपनी सफलता की कल्पना करने लगता है। "मैं हूँ एक सिपाही, बलि है मेरा अन्तिम साध्य !" यह बलिभावना उस माँ भारती की शृङ्खलाएँ काटने के लिए उद्दीप्त की जा रही थी, जिसने अपने लालों को कटते देखा था, सहस्रों अत्याचारपूर्ण उपहारों की भेंट स्वीकार की थी और फिर भी जिसे उफ़ तक करने का अधिकार नहीं दिया था, उसे गौरांग प्रभुओं ने। कवि ने उसके अन्तर्मन का अध्ययन किया है और तिलक सरीखे लाल को खोने पर उसकी तड़प को यों अभिव्यक्ति दी है :—

मैं 'मुंहबन्दी' का हार हिये, 'मत लिखो' कठिन कंकण धारे,
'भारत-रक्षा' के शूलों की पावों में बेड़ी झंकारे,
'हथियार न लो' की हथकड़ियां, 'रौलट' का हिय में घाव लिये,
डायर से अपने लाल कटा, कहती थी आँचल लाल किये,

× × ×

क्यों आर्य देश के तिलक चले, क्यों कमज़ोरों के ओर चले।
तुम ही सहसा उस ओर चले, यह भारत मां किस ओर चले ?

मां ने वीर पुत्र खो दिया। अब शेष पुत्रों के सम्मुख केवल आंसू बहाना ही कर्त्तव्य नहीं, कटि कसे, दम साधे मां को बंधन मुक्त करने का प्रयास करना है। कवि की भक्ति-भावना को ऐसे में भगवान् पर भी आश्रित रहना स्वीकार नहीं। वह स्पष्ट कहता है—

३७

कृष्णायन

डॉ० गोविन्दराम शर्मा

हिन्दीसाहित्य के आधुनिक महाकाव्यों में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र-कृत कृष्णायन को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। राम और कृष्ण के जीवन को लेकर संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक काव्यों की रचना हुई है। राम के सम्पूर्ण जीवन का चित्र तो वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस, रामचन्द्रिका और साकेत आदि अनेक काव्यों में हुआ है, पर कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र को प्रकाश में लाने वाली कोई रचना संस्कृत तथा हिन्दी में अभी तक उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के महाभारत और श्रीमद्भागवत में कृष्ण-चरित का विस्तृत वर्णन मिलता है, किन्तु इन दोनों विशालकाय कृतियों में भी कृष्ण का सर्वांगीण चरित्र चित्रित नहीं हुआ है। हिन्दी में विविध कृष्णभक्त कवियों ने अपने इष्टदेव की बाल-लीला और जीवन-लीला को लेकर अनेक गीतों एवं मुक्तक काव्यों की रचना की। उन्होंने कृष्ण के जीवन के जिस रूप को अपनाया वह महाकाव्य की भूमि पर पल्लवित नहीं हो सकता था। उसमें मानव-जीवन की अनेकरूपता को व्यक्त करने की क्षमता न थी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रियप्रवास की रचना कृष्ण के चरित्र को लेकर हुई है पर उसमें भी कृष्ण मुख्यतया गोपीजनवल्लभ रूप में ही हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में पूर्णावतार श्रीकृष्ण के जीवन की जन्म से लेकर स्वर्गारोहण तक की सम्पूर्ण घटनाओं को सुसम्बद्ध रूप से उपस्थित करके उनके जीवन के विविध पहलुओं पर समुचित प्रकाश डालने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। कृष्णायन में गोपीजनवल्लभ, भक्तवत्सल और असुरसंहारक कृष्ण आज के युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान करते हुए एक धर्मसंस्थापक, समाजसुधारक और राष्ट्रनायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। मिश्र जी ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों को एकत्र सुसंगठित करके उनके चरित्र को महाकाव्य के अनुरूप व्यापक रूप प्रदान किया है। विषय की व्यापकता, दृश्यचित्रण की मनोरमता, रसपरिपाक, भाषा-शैली की विशदता और उदात्त जातीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से कृष्णायन की गणना हिंदी के महाकाव्यों में की जा सकती है।

इसलिये भीतर बाहर की समूची परिस्थितियों से परम-परिचित था। 'कैदी और कोकिला' में लिखा गया एक-एक शब्द कवि के कटु अनुभवों को ही प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि ब्रिटिश शासन पर व्यंग्य और राष्ट्र-जागृति का आह्वान भी उक्त कविता में परिलक्षित है। इसी प्रकार की भावनाओं से पंडित माखनलाल जी की अन्य कविताओं में विदेशी सत्ता से जूझने की ललकार अधिक है, गांधी जी की सहिष्णुता और निःशस्त्र आन्दोलन की नीति कम! वे स्वातन्त्र्य-सेना के सिपाही बनकर उस शक्ति से टकरा जाना चाहते हैं, जो हमेशा से दमन, विनाश और छल-छद्म में विश्वास करती रही है। ऐसे राष्ट्र-सैनिक के पास देने को क्या है? उसकी पूंजी क्या है? निम्न पंक्तियों में थोड़े में बहुत कह दिया है—

अरि-मुंडों का दान,
रक्त-तर्पण भर का अभिमान,
लड़ने तक महमान
एक पूंजी है तीर-कमान। (सिपाही)

सैनिक का लक्ष्य ही तो उसका आराध्य होता है। माता का आराधक जूझता हुआ बलिवेदी की ओर बढ़ता है, और उसे ही साध्य मानकर अपनी सफलता की कल्पना करने लगता है। "मैं हूँ एक सिपाही, बलि है मेरा अन्तिम साध्य!" यह बलिभावना उस माँ भारती की शृङ्खलाएँ काटने के लिए उद्दीप्त की जा रही थी, जिसने अपने लालों को कटते देखा था, सहस्रों अत्याचारपूर्ण उपहारों की भेंट स्वीकार की थी और फिर भी जिसे उफ़ तक करने का अधिकार नहीं दिया था, उसे गौरांग प्रभुओं ने। कवि ने उसके अन्तर्मन का अध्ययन किया है और तिलक सरीखे लाल को खोने पर उसकी तड़प को यों अभिव्यक्ति दी है:—

मैं 'मुँहबन्दी' का हार हिये, 'मत लिखो' कठिन कंकण धारे,
'भारत-रक्षा' के शूलों की पावों में बेड़ी झंकारे,
'हथियार न लो' की हथकड़ियाँ, 'रौलट' का हिय में घाव लिये,
डायर से अपने लाल कटा, कहती थी आँचल लाल किये,

× × ×

क्यों आर्य देश के तिलक चले, क्यों कमज़ोरों के ज़ोर चले।
तुम ही सहसा उस ओर चले, यह भारत माँ किस ओर चले?

माँ ने वीर पुत्र खो दिया। अब शेष पुत्रों के सम्मुख केवल आँसू बहाना ही कर्त्तव्य नहीं, कटि कसे, दम साधे माँ को बंधन मुक्त करने का प्रयास करना है। कवि की भक्ति-भावना को ऐसे में भगवान् पर भी आश्रित रहना स्वीकार नहीं। वह स्पष्ट कहता है—

(१) अवतरण-काण्ड, (२) मथुरा-काण्ड, (३) द्वारकाकाण्ड, (४) पूजाकाण्ड, (५) गीताकाण्ड, (६) जयकाण्ड और (७) आरोहण-काण्ड। प्रथम (अवतरण) काण्ड में उग्रसेन के शासन-काल में मथुरा की सुख-समृद्धि, कंस की उत्पत्ति तथा उसकी राक्षसी वृत्ति से प्रजा में अशान्ति, कंस की बहन देवकी का यदुवंशी राजा वसुदेव से विवाह और कंस के कारागार में देवकी के गर्भ से कृष्ण की उत्पत्ति का वर्णन है। तदनन्तर वासुदेव कंस के डर से अपने नवजात पुत्र कृष्ण को गोकुल में नन्द-पत्नी यशोदा के पास पहुंचा देते हैं और यशोदा की नवजात पुत्री को देवकी के पास ले आते हैं। नन्द यशोदा के घर कृष्ण अपनी मनोहर बाल-लीलाओं से ब्रजजनों को मुग्ध करते हैं। वे अपने अद्भुत पराक्रम से पूतना, शकटासुर, बकासुर आदि का संहार करते हैं। वृषभानु-कुमारी राधिका के साथ क्रीड़ा करते हुए धीरे-धीरे कृष्ण का उससे विशेष प्रेम हो जाता है। कालीदह में कालीनाग का दमन, दावाग्नि-शमन और गोवर्धन धारण करके कृष्ण ब्रजजनों की रक्षा करते हैं। उधर कंस अक्रूर को नन्द के पास जाकर धनुष-यज्ञ में सम्मिलित होने के बहाने कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आने की आज्ञा देता है। कंस की आज्ञा के अनुसार अक्रूर ब्रज में पहुंचते हैं। वहाँ नन्द को कंस का संदेश देकर कृष्ण और बलराम के साथ वे मथुरा को प्रस्थान करते हैं। ब्रजवासी गोप-गोपिकाएँ और विशेषकर राधा कृष्ण के विरह में व्याकुल दिखाई देते हैं।

द्वितीय (मथुरा) काण्ड में कंस की कुटिल योजनाओं को विफल बनाते हुए कृष्ण कुवलयापीड, मुष्टिक, चाणूर आदि का संहार करके अंत में कंस का वध करने में सफल होते हैं। कंसवध के पश्चात् कृष्ण मथुरा का राज्य उग्रसेन को सौंप देते हैं। तदनन्तर कृष्ण विद्याध्ययन के निमित्त उज्जयिनी में सान्दीपनि ऋषि के आश्रम में प्रवेश करते हैं। शिक्षा समाप्त करने पर मृतक गुरुपुत्र को यमलोक से लाकर गुरुपत्नी की इच्छा पूर्ण करके गुरुदक्षिणा चुकाते हैं। इसी अवसर पर अवन्ती की राजकुमारी मित्रविन्दा और उसकी सखी, विदर्भराज भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी कृष्ण पर मुग्ध हो जाती है। शिक्षा समाप्त करके कृष्ण मथुरा लौट आते हैं। मगध-नरेश जरासन्ध मथुरा पर चढ़ाई के लिए तैयार हो जाता है। कृष्ण जरासन्ध और उसके साथी अन्य राजाओं से युद्ध करने में निर्दोष प्रजा का रक्तपात अनुचित समझ मथुरा छोड़कर यदुवंशियों के साथ द्वारका में बसने का निश्चय कर लेते हैं और ब्रजजनों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को ब्रज में भेजते हैं। उद्धव कृष्ण के विरह में व्याकुल ब्रजजनों को समझा-बुझाकर ब्रज से मथुरा लौट आते हैं। इधर जरासन्ध अवसर पाकर मथुरा को घेर लेता है और कृष्ण को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। कृष्ण बलराम सहित प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ जाते हैं। जरासन्ध पर्वत के चारों ओर आग लगा देता

घूमता चर्खा लिये, गिरि पर चढ़ो
ले अहिंसा शस्त्र आगे ही बढ़ो (मरण-त्यौहार)

(ग) पुनः, परतन्त्रता की कड़ियों में जकड़े हुए राष्ट्र को आज़ादी सिर के मोल ही मिल सकती है, ऐसा भी चतुर्वेदी जी का निश्चित मत है। उनकी बहु-संख्यक राष्ट्रीय कविताओं में इस मत का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने प्रायः राष्ट्रमुक्ति हेतु बलिदान की बात की है। माँ-भारती के मन्दिर में सिर चढ़ाने, शशि दे देकर जय बुलवाने, मरण और नाश का त्योहार मनाने तक जीवन पाने के लिये जीवन देने के अटल प्राकृतिक नियम स्वीकारने की निरन्तर चर्चा की है। सफलता का रहस्य :—

मसलकर, अपने इरादोंसी, उठाकर
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दे?
रक्त है, या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर, तू सीस दे देकर जवानी?

जैसी पंक्तियों में प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। दूसरों की दया पर जीना भी कोई जीना है? अपने अधिकार के लिए संग्राम करना मनुष्य का पवित्र धर्म है। किसी भी मोल-भाव पर हम दूसरों के टुकड़ों पर नहीं जी सकते। यह हमारे आत्म-सम्मान को चुनौती है। कवि आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए टकरा जाना या सिर कटवा लेना भी सस्ता समझता है। 'टुकड़ों पर जीवन की श्वासें, कितनी सुन्दर दर हैं!" अंग्रेज के पिट्ठुओं पर कितना व्यंग्यकारी आघात है—आत्म-सम्मान खोकर शासन के टुकड़ों पर पलते हैं—क्या सौदा है? स्वातन्त्र्य-ज्योति का परवाना तो स्वयं "हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ, कहाँ वधिक का घर है?" द्वारा अपनी उमंगों को प्रकट करता है। कवि ने कलिका को प्रतीक बनाकर निज मानस-उद्वेगों की अभिव्यक्ति की है। कलिका जिस पेड़ का रस पी-पीकर बड़ी होती है, उसी के चरणों पर अपनी एक-एक पंखड़ी अर्पण कर देती है। ठीक वैसे ही जिस धरती पर हमने जन्म लिया, जिसकी मिट्टी में हमारा पोषण हुआ, उसकी स्वतन्त्रता के पथ पर सिर देने में भी क्या आपत्ति? कलिका के मुख से कवि वाणी गूँज उठती है :—

"मैं बलि का गान सुनाती हूँ,
प्रभु के पथ की बनकर फकीर,
माँ पर हँस-हँस बलि होने में
खिंच, हरि रहे मेरी लकीर।"

(कलिका से—कलिका की ओर से)

'निःशस्त्र-सेनानी' में कवि ने बलिदान को अपना ध्येय बना लेने वाले शस्त्र-हीन-सैनिकों का चित्र खींचा है, जो राष्ट्र-प्रेम में उन्मत्त होकर हज़ारों-लाखों अत्या-चारों से भी सहिष्णुतापूर्वक टकरा जाने को तैयार हैं। वे सब मोह-बंधन तोड़कर

समाप्ति पर युद्ध करना स्वीकार कर लेते हैं। इस धार्मिक उत्सव में भाग लेने के लिए द्वारका से यदुजन और नन्द, यशोदा, राधा आदि व्रजजन भी कुरुक्षेत्र में पहुँचते हैं। कृष्ण व्रजजनों को सान्त्वना देकर सन्तुष्ट करते हैं। सूर्यग्रहण की समाप्ति पर जब सब यात्री लौट जाते है तब कौरव और पाँडव दोनों पक्ष युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। युद्ध के भयावह परिणाम को ध्यान में रखकर अर्जुन को युद्ध से विरक्ति-सी होने लगती है, पर कृष्ण गीता का उपदेश देकर उसे प्रोत्साहित करते हैं। अर्जुन का मोह दूर हो जाने पर वह युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

षष्ठ (जय) काण्ड में महाभारत के युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन है। इस काण्ड में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है। तदनन्तर कौरव और पांडवों का तुमुल युद्ध छिड़ जाता है, जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण, भीम, अर्जुन आदि वीर अपना अद्‌भुत शौर्य प्रदर्शित करते हैं। अर्जुन और भीष्म का भयावह युद्ध होता है। भीष्म की शरवर्षा से अपने सैनिकों का संहार देख पांडवों को निराशा-सी होने लगती है, पर अन्त में शिखण्डी को आगे करके अर्जुन भीष्म को परास्त करने में सफल होता है। भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए कौरवों और पांडवों को नरसंहारी युद्ध से विरत होने का उपदेश देते हैं। तदनन्तर चक्रव्यूह में जयद्रथ के षड्‌यन्त्र से अभिमन्यु की मृत्यु होती है। कृष्ण शोकाकुल अर्जुन को सान्त्वना देकर उसे अभिमन्यु के शत्रु जयद्रथ का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन जयद्रथ का वध कर डालता है। इसके पश्चात् भीम और अर्जुन द्वारा द्रोण, दुःशासन और कर्ण आदि वीरों के संहार से विक्षुब्ध-हृदय दुर्योधन रणभूमि से भाग कर तालाब में छिप जाता है पर पांडवों के मर्मभेदी वचन सुनकर वह फिर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। युद्ध में भीम दुर्योधन का अन्त कर देता है। समस्त कुरुकुल के विनाश पर गान्धारी कृष्ण को कोसती है। इस भयावह नरसंहार के पश्चात् धर्मराज विजयी होकर भी अपनी हार स्वीकार करते हैं। भीम गुरुपुत्र अश्वत्थामा को द्रौपदी के समक्ष ले जाकर उसे उचित दण्ड देना चाहता है, किन्तु द्रौपदी उसे क्षमा कर देती है। कृष्ण द्रौपदी की उदारता की प्रशंसा करते हुए भीम के क्रोध को भी शान्त कर देते हैं।

सप्तम (आरोहण) काण्ड के आरम्भ में समरविजयी धर्मराज हस्तिनापुर के सिंहासन पर प्रतिष्ठा पाते हैं। बन्धुवध से प्राप्त राज्य के प्रति उनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। पर कृष्ण के समझाने पर वे उदासीन होकर भी राज्य करना स्वीकार कर लेते हैं। शरशय्या पर पड़े भीष्म युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए सूर्य के उत्तरायण होने के साथ-साथ प्राणत्याग करते हैं। युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करते हैं। उसकी समाप्ति पर कृष्ण द्वारिका लौट जाते हैं। वहाँ अपने पुराने मित्र सुदामा से उनकी भेंट होती है और उसके दुःख-दारिद्रय को दूर

है। जब एक नारी, जो माता है—वीरों की जननी और प्रेमिका है—वीरों की प्रेरक, स्वयं बलि-पथपर पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ाकर नहीं चल पड़ती, तब तक पुरुष का बल अधूरा है। नारी संसार के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष की पूर्णता है, तो राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की बलि वेदी पर ही वह क्यों पीछे रहे। इसी अभिवृत्ति से उद्भूत कवि राष्ट्र पर मिटने की नारी हृदय की साध का पूजन कर उठता है :—

कैसे सेनानी हो ?—जो मैं
नहीं सनिका होने पाती ?
कैसे बल हो ? अबलापन को
जो मैं नहीं डुबोने पाती ?
× × ×
तुम कैसे प्रलयंकर शंकर, जो
मैं रहूँ न दुर्गा, काली ? (सिपाहिनी)

ठीक है कि पुरुष अपनी शक्ति के गर्व में नारी को अबला ही बनाए रखना चाहता है, परन्तु चतुर्वेदी जी को यह स्वीकार नहीं। उनका स्पष्ट विचार है कि स्वातन्त्र्य-युद्ध में नारी को भी न केवल पुरुष का साथ देना होगा, बल्कि विदेशी की चुनौती का मुँह तोड़ जवाब देने के लिए उसी तरह सिर को तली पर टिकाना होगा, जैसे कभी चित्तौड़ में जौहर ज्वाला को चूमने को वे लालायित हुई थीं। परन्तु नहीं, शत्रु से बचने के लिए अपने को ज्वालाओं को सौंप देने का युग आज नहीं। आज नारी को भी शत्रु से संघर्ष करना है—दुर्गा और लक्ष्मी की तरह। आज उन्हें जौहर में जलना नहीं, अपनी शक्ति के जौहर दिखाने हैं। आधुनिक नारी इसीलिए कृत्रिम बंधनों को तोड़कर अपने सैनिक के संग सैनिका बनकर ही अपने सुहाग का यथार्थ मूल्यांकन करती है। कवि के शब्दों में :—

'जौहर' से बढ़कर, घोड़े पर
चढ़कर, जौहर दिखलाने दो,
चूड़ियाँ हों सुहागिनी, यौवन !
यौवन अपनी पर आने दो ! (सिपाहिनी)

(घ) 'हिमकिरीटिनी' की राष्ट्रीय कविताओं के वर्ग में स्वयं हिमकिरीटिनी एक विशिष्ट प्रकार की रचना है। यह रचना हिम का मुकुट पहनने वाली भारत माता का प्रशस्ति-गान कही जा सकती है। निश्चय ही किसी परम्परित प्रशस्ति का कोई प्रभाव इस कविता पर दिखाई नहीं देता। हिमालय, सागर, नदियों या हरियाली वनस्पति के शब्दचित्र इसमें कवि ने नहीं जुटाए। हिमकिरीटिनी को ऐसी मानिनी आराध्यिका बनाकर प्रस्तुत किया गया है जिसकी प्रसन्नता का मोल है बलिदान, जिसके साथ प्यार प्रदर्शनार्थ सिर की भेंट देना अपेक्षित है और जिसके

दी गई है, किन्तु कृष्णायनकार ने आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण को नायक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। महाभारत के कथानक में कोई परिवर्तन न करके भी मिश्र जी ने कृष्णचरित्र को प्रमुखता दी है। पूजाकाण्ड की राजसूय-यज्ञ, द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी-चीरहरण आदि अधिकांश घटनाएँ महाभारत से ही ली गई हैं। फिर भी उनके वर्णन में यहाँ पर्याप्त काव्योचित कवि-कौशल लक्षित होता है। गीताकाण्ड में मुख्य कथानक का प्रवाह अवरुद्ध-सा दिखाई देता है। श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर ही इस काण्ड की रचना हुई है। महाकाव्य की दृष्टि से इस काण्ड में कृष्ण का विस्तृत दार्शनिक उपदेश दोषपूर्ण अवश्य है; वह मुख्य कथा को अग्रसर करने में बाधा पहुँचाता है। इस काण्ड में कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर नन्द, यशोदा और राधा आदि व्रजजनों से कृष्ण की भेंट में भी मिश्र जी ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है।

जयकाण्ड के कथानक का मुख्य आधार महाभारत ही है। यहाँ महाभारत की कौरव-पाण्डव-युद्ध-सम्बन्धी मुख्य घटनाओं को कृष्ण-कथा से सुसम्बद्ध करने का सफल प्रयास दिखाई देता है। महाभारत की विविध घटनाओं में महाकाव्योचित धाराप्रवाह का अभाव है, किन्तु कृष्णायन में उसकी यथोचित रक्षा की गई है। जय-काण्ड के युद्धप्रसंगों में यत्र-तत्र पात्रों के कथनोपकथन महाकाव्योचित सजीवता लिए हुए कथानक की गति में तीव्रता उत्पन्न करते हैं।

आरोहणकाण्ड में घटनाओं का विस्तार अधिक नहीं है। महाभारत पर आधारित होते हुए भी शरशय्याशायी भीष्म का उपदेश तथा मैत्रेय के समक्ष कृष्ण का जीवन-दर्शन पर्याप्त मौलिकता और काव्य-सौन्दर्य से समन्वित है।

इस प्रकार मिश्र जी ने कृष्णायन में पूर्ववर्ती विविध रचनाओं में बिखरी पड़ी कथासामग्री को सुसम्बद्ध करके उसे महाकाव्योचित कथानक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कथानक के प्रवाह में कहीं-कहीं शिथिलता अवश्य आ जाती है किन्तु उसका क्रम कहीं भी टूटता हुआ नहीं दिखाई देता।

चरित्रचित्रण

पात्रों के चरित्रचित्रण में कृष्णायनकार को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्णा-यन का कथानक बहुत व्यापक है और उसका सम्बन्ध अनेक पात्रों से है। मिश्र जी के सारे पात्र ऐतिहासिक (पौराणिक) और प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी कल्पना से पात्रों की नूतन सृष्टि नहीं की है। परम्परागत होते हुए भी उनके अधिकांश पात्र अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व लिए हुए हमारे सामने आते हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, दुर्योधन आदि पात्रों के चरित्र के विकास में जहां उनके पौराणिक रूप की पूर्ण रक्षा हुई है, वहां साथ ही उनके चरित्र नवयुग की चेतना से अनुप्राणित भी दिखाई देते

खीझ नहीं, होते गँवार
ही वृन्दावन के ग्वाले। (लाचार)

और फिर जो भावना पहले से ही राष्ट्रदेव तथा आराध्यदेव में तादात्म्य स्थापित कर चुकी है, उसे किसी तीसरे के चरणों में अर्पित करने का प्रश्न बहुधा नासमझी का ही प्रतीक होगा। कवि का हृदय माता के चरणों में लोटा है। अब उसे किसी लोभ या आकर्षण में बाँधकर किसी ओर मोड़ देना प्राय: असंभव ही है। इसी भाव का निरूपण कवि की वाणी में यों हुआ है—

चढ़ चुकी है, दूसरे ही
देवता पर, युगों पहले,
वही बलि निज-देव पर देने
दृगों को मींच लाये ?
क्यों मुझे तुम खींच लाये ?

अस्तु:, उपरिर्वणित विवेचन से हम निम्न उपसंहार तक पहुंच सकते हैं :—

१. श्री माखनलाल चतुर्वेदी मनुष्य, प्रकृति और ब्रह्मसत्ता, तीनों का यथा-स्थान सत्कार करते हैं, तीनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित मानते हैं और क्योंकि वे उनके आराध्य के सत्य के प्रमाण हैं, इसलिए उन्हें इन तीनों से प्यार है।

२. राष्ट्र-स्वातन्त्र्य कवि का अन्तिम लक्ष्य है।

३. "पराधीन राष्ट्र के प्रत्येक प्रश्न का निदान बलिदान में है।" (दिनकर)

४. कवि तिलक और गांधी दोनों से प्रभावित रहा है, और समय-समय पर उसने गर्म और नर्म दोनों प्रकार की मन:लहरियाँ व्यक्त की हैं।

५. बलिपंथ के राहियों में कवि नारी को समान अधिकार देना चाहता है। नारी पुरुष के अधूरेपन की पावन-पूर्ति है।

६. कवि ने कुछ शुद्ध विषयी-प्रधान गीत भी लिखे हैं, जो क्षणिक कल्पना की उड़ान में किसी मानसिक उद्भावना की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

रस और भाव-चित्रण

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने 'हिमकिरीटिनी' में रस की दृष्टि से वीर और शृंगार की ही प्रधानता रखी है। राष्ट्रीय गीतों में प्रोत्साहन और प्रेम-प्रधान कविताओं में माधुर्य के भाव विशेष महत्त्व रखते हैं। यों भक्ति की प्रवृत्ति होने के कारण व्यग्र-भाव का समावेश भी इनकी रचनाओं में हुआ है। क्योंकि माखनलाल जी प्रेम, भक्ति या राष्ट्रीयता में एकत्व स्थापित किए हुए हैं। अत: उनकी कोई भी कविता—राष्ट्र, प्रेम या भक्ति इन तीनों ही भावों से मण्डित होती है। डा० दिनकर ने कवि की रस-योजना के सम्बन्ध में लिखा है, 'उनका रस काव्य से अधिक मधुर,

दी गई है, किन्तु कृष्णायनकार ने आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण को नायक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। महाभारत के कथानक में कोई परिवर्तन न करके भी मिश्र जी ने कृष्णचरित्र को प्रमुखता दी है। पूजाकाण्ड की राजसूय-यज्ञ, द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी-चीरहरण आदि अधिकांश घटनाएँ महाभारत से हीं ली गई हैं। फिर भी उनके वर्णन में यहाँ पर्याप्त काव्योचित कवि-कौशल लक्षित होता है। गीताकाण्ड में मुख्य कथानक का प्रवाह अवरुद्ध-सा दिखाई देता है। श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर ही इस काण्ड की रचना हुई है। महाकाव्य की दृष्टि से इस काण्ड में कृष्ण का विस्तृत दार्शनिक उपदेश दोषपूर्ण अवश्य है; वह मुख्य कथा को अग्रसर करने में बाधा पहुँचाता है। इस काण्ड में कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर नन्द, यशोदा और राधा आदि ब्रजजनों से कृष्ण की भेंट में भी मिश्र जी ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है।

जयकाण्ड के कथानक का मुख्य आधार महाभारत ही है। यहाँ महाभारत की कौरव-पाण्डव-युद्ध-सम्बन्धी मुख्य घटनाओं को कृष्ण-कथा से सुसम्बद्ध करने का सफल प्रयास दिखाई देता है। महाभारत की विविध घटनाओं में महाकाव्योचित धाराप्रवाह का अभाव है, किन्तु कृष्णायन में उसकी यथोचित रक्षा की गई है। जयकाण्ड के युद्धप्रसंगों में यत्र-तत्र पात्रों के कथनोपकथन महाकाव्योचित सजीवता लिए हुए कथानक की गति में तीव्रता उत्पन्न करते हैं।

आरोहणकाण्ड में घटनाओं का विस्तार अधिक नहीं है। महाभारत पर आधारित होते हुए भी शरशय्याशायी भीष्म का उपदेश तथा मैत्रेय के समक्ष कृष्ण का जीवन-दर्शन पर्याप्त मौलिकता और काव्य-सौन्दर्य से समन्वित है।

इस प्रकार मिश्र जी ने कृष्णायन में पूर्ववर्ती विविध रचनाओं में बिखरी पड़ी कथासामग्री को सुसम्बद्ध करके उसे महाकाव्योचित कथानक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कथानक के प्रवाह में कहीं-कहीं शिथिलता अवश्य आ जाती है किन्तु उसका क्रम कहीं भी टूटता हुआ नहीं दिखाई देता।

चरित्रचित्रण

पात्रों के चरित्रचित्रण में कृष्णायनकार को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्णायन का कथानक बहुत व्यापक है और उसका सम्बन्ध अनेक पात्रों से है। मिश्र जी के सारे पात्र ऐतिहासिक (पौराणिक) और प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी कल्पना से पात्रों की नूतन सृष्टि नहीं की है। परम्परागत होते हुए भी उनके अधिकांश पात्र अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व लिए हुए हमारे सामने आते हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, दुर्योधन आदि पात्रों के चरित्र के विकास में जहाँ उनके पौराणिक रूप की पूर्ण रक्षा

विह्वलता—'बलवंत रहे, मनमोहन के उसको उस ऊखल से जकड़ो।'
'वह चलता है, वह चलता है, वह चलती है पकड़ो! पकड़ो!' (तिलक)

प्रकृति आकर्षण—पत्तों का, इन मदमात्तों का, वह झूम-झूम कर गा देना,
कुछ भी ताल सी दे-देना, कुछ यों चुटकियाँ वजा देना। (कलिका से)

करुणा—नभ सीख चुका है, कमजोरों को खाना,
क्यों बना रही अपने को उसका दाना? (कैदी और कोकिल)

व्यंग्यहास—भारत को कुछ अधिकार मिले? ना, वह अधिकारों योग्य नहीं,
लकड़ी पानी ढोने वालों को राज्य शक्तियाँ भोग्य नहीं।

आसक्ति—भूली जाती हूँ अपने को, प्यारे, मत कर शोर,
भाग नहीं, गह लेने दे, अपने अम्बर का छोर। (कुंज कुटीरे-जमुनातीरे)

छंद और अलंकार

माखनलाल जी ऐसे सरल कवि हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अप्रस्तुत-योजना की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। मन की गहराइयों से उठते उमड़ते उबाल को अनलंकृत-तुकबन्दी में प्रस्तुत करना ही उन्होंने अपना ध्येय स्वीकार किया है। परन्तु इससे यह आशय नहीं बना लेना चाहिए कि छन्द-अलंकार श्री चतुर्वेदी जी को अविदित हैं, या उनकी कविता में इनका कोई स्थान नहीं। यह सच है कि उन्होंने 'साहित्य-देवता' में लिखा है, "ग्रन्थों के नियमों का नियमन व्यक्तियों के व्यवहारों से आया है। स्वयं-ग्रन्थों में आराध्य-आदर्श या प्रभु छिप कर नहीं बैठता। जिन दिनों तरुणाई लोह-खण्डों को तोड़ कर मुक्त होने के लिए छटपटा रही हो, उन दिनों हम व्याकरण और पिंगल के नियमों के टूट पड़ने पर शोक प्रस्ताव पास न करें।" परन्तु इससे भी यह कहीं स्पष्ट नहीं होता कि वे स्वच्छन्द कविता या रबड़-छन्द की रचना की वकालत कर रहे हैं। उनकी अभिव्यंजना समर्थ है, उसमें सुर, ताल और लय का योग्य स्थान है। यद्यपि वे विशेष परिगणन-शील छंदों के चक्कर से मुक्त रहे हैं, परन्तु उनकी कविता की गेयात्मकता उसमें वह सब कुछ प्रदान करती है, जिसकी अपेक्षा एक सफल कविता को होती है।

इसी प्रकार यद्यपि प्रयत्नपूर्ण ढंग से अलंकार-योजना भी कहीं-नहीं बनाई गई, तथापि सहज-भाव से उपमाओं, रूपकों, यमक तथा अनुप्रासों की आकर्षक छटा बिखर पड़ी है। बानगी के लिए :—

१. **उपमा**—अपने बिजली-से ओठों से,
मेरा मुख लेती चूम-चूम। (कलिका से)

२. **रूपक**—आहा! कैसे गिरे सीपियों से, ये गरम-गरम मोती,
जगमग हृदय किए देती है, टपक-टपक जिनकी जोती। (आँसू)

मिश्र जी ने राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में अंकित किया है। पर साथ ही उसे कृष्ण की पूर्वजन्म की सहचरी बताकर उसके प्रेम-सम्बन्ध को समाज की मर्यादा के अनुरूप दिखाया है :—

"एक दिवस खेलत व्रज खोरी, देखी श्याम राधिका भोरी।
जनु कछु क्षीर-सिन्धु सुधि आई, औचक मोहित भये कन्हाई।।"[1]

विविध राजकुमारियों से कृष्ण के परिणय-सम्बन्ध के मूल में विपक्षी राज्यों से साहाय्य-प्राप्ति और मैत्री-द्वारा राष्ट्रहित की भावना निहित है। कृष्ण के चरित्र में शील, सौन्दर्य और शक्ति तीनों तत्वों का समन्वय करके मिश्र जी ने अपने असाधारण कौशल का परिचय दिया है। गोपीजन-वल्लभ कृष्ण कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि आसुरी शक्तियों का दमन करते हुए आगे चलकर एक धर्मसंस्थापक और राष्ट्रसेवा में निरत महान् नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्र की समुन्नति के लिए युधिष्ठिर को एक योग्य शासक समझकर महाभारत के युद्ध में कृष्ण पाण्डवों का पक्ष लेते हैं। वे स्वयं सम्राट् बनना नहीं चाहते। अन्त में युधिष्ठिर को राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके वे स्वयं कर्मभूमि से अन्तर्हित हो जाते हैं। वास्तव में कृष्ण एक आदर्श और महान् चरित्र के रूप में चित्रित हुए हैं।

अन्य चरित्र

कृष्णायन में नन्द, यशोदा और राधा के चरित्र का पूर्ण विकास नहीं दिखाई देता। अवतरणकाण्ड में नन्द एक पुत्रवत्सल पिता, यशोदा एक ममतालु माता और राधा कृष्ण की एक बाललीला-सहचरी के रूप में दृष्टिगोचर होती है। मथुराकाण्ड में कृष्ण के सन्देशवाहक उद्धव के साथ हम उनके दर्शन करते हैं और अन्त में गीता-काण्ड में सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में उनकी एक झलक दीख पड़ती है। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल आदि पात्र आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। उनके चरित्र में दम्भ, अभिमान, विलासिता, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि तामसी वृत्तियों की प्रचुरता है।

कृष्णायन के अन्तिम चार काण्डों में महाभारत के वीरचरित्रों को प्रमुख स्थान मिला है। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, कर्ण, दुर्योधन जैसे चरित्र परम्परागत होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को लिए हुए हैं। युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा, अर्जुन की वीरता, भीष्म की कर्त्तव्यपरायणता, कर्ण का अदम्य उत्साह और दुर्योधन की कुटिलता के सजीव चित्र कृष्णायन में अंकित हुए हैं। युधिष्ठिर-जैसे महान् पात्रों पर परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनमें संस्कारों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। विभिन्न परिस्थितियों में वे अपने चरित्र को एक ही रूप में सुरक्षित रखते

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ८८

महत्त्व

'हिमकिरीटिनी' ऐसा पहला कविता संग्रह है, जिसमें राष्ट्रीय भावना के स्पष्ट और सतेज दर्शन होते हैं। निश्चय ही हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता कोई नई वस्तु नहीं थी, ना ही माखनलाल जी राष्ट्रीय-भाव के पहले कवि थे। तथापि इस बात को चुनौती नहीं दी जा सकती कि इस स्तर की बलिदान प्रेरणा 'हिमकिरीटनी' से पूर्व कहीं नहीं मिलती। इसलिए प्रस्तुत संग्रह, जो संभवतः कवि की बहुत कुछ अपरिपक्व लेखनी का परिणाम है, आधुनिक हिन्दी काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सरल-भाषा, ब्रिटिश शासन पर तीखे व्यंग्य, राष्ट्रीय बलि-वेदी पर शीश चढ़ाने के लिए स्पष्ट आह्वान, देश-प्रेम के सच्चे और सुच्चे चित्रण, प्रेम और भक्ति के संदेश और भोले कवि की भोली आकांक्षाएँ भी 'हिमकिरीटिनी' के महत्त्व के आधार हैं। इस संग्रह को कला की दृष्टि से भले ही हम लेखक के अन्य संग्रहों से नीचा मानें, परन्तु कवि को साहित्यिक जगत से परिचित करवाने का श्रेय इसी पुस्तक को है; अतः साहित्यिक ही नहीं, इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। क्योंकि 'हिमकिरीटिनी' शुद्ध व्यक्तिवादी शैली पर स्वीकृति है, इसलिए राजनैतिक क्षेत्र की सामुदायिक भावनाओं को भी कवि ने व्यक्तिगत अनुभूतियाँ बनाकर प्रस्तुत किया है। अस्तु, तत्कालीन युग-चित्रण और राजनैतिक विचारधारा को व्यंजित करने से इसे राजनैतिक महत्त्व भी प्राप्त है। इस प्रकार 'हिमकिरीटिनी' स्थिति विशेष में कलागत, साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक आदि क्षेत्र में ही महत्त्व नहीं रखती, बल्कि राष्ट्रीय-चेतना, मरण-त्योहार तथा बलिदान-उत्सव को वाणी देने के कारण भी चिरजीवी रहेगी।

नवल नागरी मधुपुरी, शिर प्रासाद उठाय ।
झाँकति वातायन-दृगन, गये प्राणपति आय[1] ।।"

यहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा-जैसे अलंकारों की योजना-द्वारा मथुरा एक सुन्दर नगरी के रूप में वर्णित है ।

यमुना-वर्णन भी इसी प्रकार कवि-कौशल का परिचायक है—

"अन्तर्वाहि जमुन-जल श्यामल, जनु महि देवि मुकुर मणि निर्मल ।
अथवा सलिल रूप अपनायी, जनु वैदूर्य-शैल महिशायी ।
नीलस्फटिक मनहुँ कमनीया, परिणत वारि वेष रमणीया ।
पुंजित त्रिभुवन पुण्य अनूपा, शोभित महि जनु सलिल स्वरूपा[2] ।।

ऊषा का मनोरम चित्र इन पंक्तियों में अंकित हुआ है—

"विहँसी उषा प्राचि दिक्प्रांगण, गूँजी अरुणशिखा-ध्वनि कानन ।
राशि राशि नीहार विनाशी, उदित अंशुमत-रश्मि प्रकाशी ।
मुदित गरुड़ चढ़ि गगन उड़ाना, मुखरित खग पुनि तरुन विताना ।
सजल धरणि, जल-कण तृण पाता, जग जनु नवल प्रलय पश्चाता[3] ।।

प्रकृति-वर्णन में परम्परागत प्राचीन शैली का अनुसरण करते हुए भी मिश्र जी ने रोचकता लाने की यथेष्ट चेष्टा की है । उनका प्रकृति-वर्णन कहीं विविध घटनाओं के चित्रण के लिए पृष्ठभूमि के रूप में, कहीं यथार्थ और कहीं आलंकारिक रूप में कृष्णायन में पाया जाता है । प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करने का प्रयास मिश्र जी ने नहीं किया है । वे अधिकतर प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य के उद्घाटन मे ही सफल हुए हैं ।

रस-निर्वाह

कृष्णायन में विविध रसों का निर्वाह भी अच्छा हुआ है । उसमें प्रधानता वीररस को प्राप्त हुई है । इसके अतिरिक्त वात्सल्य, शृंगार, शान्त, रौद्र और वीभत्स आदि रस इसमें अग रूप में वर्तमान हैं । कृष्ण के असुर-वधादि शौर्यपूर्ण कृत्यों तथा कौरव-पांडवों के युद्ध से सम्बन्धित घटनाओं के वर्णन में अनेक स्थलों पर वीररस की अभिव्यक्ति हुई है । वीररस का एक उदाहरण लीजिए—

"रोधी पांडव ध्वजिनि जयद्रथ, सकेउ न पै अवरोधि कुँवर-रथ ।
वरसी विषम विशिख-परिपाटी, मृत गज वाजि पत्ति महि पाटी ।

---

१ कृष्णायन, मथुरा-काण्ड दोहा १२-१३
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ६
३. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १२०

कृष्णायन का महाकाव्यत्व

कृष्णायन में परम्परागत महाकाव्य शैली का निर्वाह दृष्टिगत होता है। केवल सर्गसंख्या और छन्दोविधान सम्बन्धी लक्षणों को छोड़कर महाकाव्य के परम्परागत सारे लक्षणों का पालन कृष्णायन में हुआ है। महाकाव्य के प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार कृष्णायन का कृष्णचरित्र-सम्बन्धी कथानक ऐतिहासिक तथा लोक-विश्रुत है। यह कथानक अष्टाधिक सर्गों में विभक्त न होकर रामचरित-मानस की तरह सात काण्डों में विभक्त है। धीरोदात्त गुणों से युक्त श्रीकृष्ण इसके नायक हैं। शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से वीररस की इसमें प्रधानता है। शृंगार, शान्त, करुण, रौद्र आदि अन्य सभी रसों का इसमें यथास्थान समावेश हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म की प्राप्ति (न्याय की स्थापना) इसका मुख्य उद्देश्य है। इस सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना में दोहा, सोरठा और चौपाई इन तीन छन्दों को अपनाया गया है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन तथा कहीं-कहीं विविध छन्दों के प्रयोग-सम्बन्धी नियम का निर्वाह इसमें नहीं हुआ है। परम्परागत महाकाव्यों के अनुसार इसके आरम्भ में मंगलाचरण को स्थान दिया गया है। नगर, वन, ऋतु, नदी, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों तथा संयोग, वियोग, विवाह, युद्ध आदि विविध विषयों के सजीव तथा मनोहर वर्णन इसमें वर्तमान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के स्थूल नियमों का यथासाध्य पालन कृष्णायनकार ने किया है। पर वास्तव में इन नियमों का पालन ही कृष्णायन के महाकाव्यत्व की कसौटी नहीं है। महाकाव्य की सफलता केवल सर्गसंख्या, छन्दोविधान, मंगलाचरण और प्रकृति-वर्णन आदि से सम्बन्धित स्थूल शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह में नहीं, वरन् जातीय जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति, कथानक की धारावाहिकता, चरित्रांकन की कुशलता और भाषा-शैली की विशदता पर निर्भर है। महाकाव्य की इस कसौटी पर भी कृष्णायन खरा उतरता है। कृष्णायन में मिश्र जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति तथा नूतन युग की राष्ट्रीय-चेतना को पूर्णतया मुखरित किया है। उसका कृष्णचरित-सम्बन्धी कथानक प्रशस्त और व्यापक है। उसमें जीवन के विविध अंगों को आत्मसात् करने की क्षमता है। चरित्र-योजना महाकाव्योचित गरिमा को लिए हुए है और उसकी भाषा-शैली में भी प्रौढ़ता तथा हृदयग्राहिता वर्तमान है। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य की दृष्टि से कृष्णायन एक सफल कृति सिद्ध होती है।

कथानक

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में कृष्णचरित-सम्बन्धी परम्परागत काव्य-विषय और तुलसीदास के रामचरित-मानस की पुरातन रचना-पद्धति को अपनाया है। रामचरित-मानस की तरह कृष्णायन का कथानक सात काण्डों में विभक्त है—

सोचत को मैं ? का धन-धामा ? अन्त काह विषयन-परिणामा[1] ?"

इस प्रकार कृष्णायन में विविध रसों की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

अलंकार-योजना

मिश्र जी ने विविध अलंकारों की योजना से कृष्णायन के कलापक्ष को समृद्ध किया है। कृष्णायन में अलंकारों का प्रयोग कई स्थलों पर यत्न-साध्य है। पर साथ ही ऐसे स्थलों की भी उसमें कमी नहीं है, जहाँ अलंकार रसोद्रेक तथा भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। शब्दालंकारों में से अनुप्रास की मनोहर योजना कई स्थलों पर हुई है, पर केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने का प्रयास मिश्र जी ने कहीं नहीं किया है। इन पंक्तियों में अनुप्रास की स्वाभाविक और हृदयहारी छटा देखने को मिलती है—

"विकसित कुन्द, फलिनि खिली फूली,
लहि अलि-अवलि लवलि झुकि भूली[2]"
"चकित कपोत करत नहिं कूजन,
करत न कुट कुट कुक्कुट कूलन[3]।"
"तरुन प्रसून खिले हुलसायी,
भूली अवलि अलिहु कल गायी[4]।"
"विन्दुरेख कहुँ कुंजन गावत,
छादन छहरि सुछवि दरसावत[5]।"

अर्थालंकारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि परम्परागत अलंकारों को ही कवि ने अधिक अपनाया है। उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कृष्णायन में सबसे अधिक पाया जाता है। उत्प्रेक्षा की योजना ऐसे उदाहरणों में कवि की अनुपम कल्पनाशक्ति का परिचय देती है—

"दही मथति राधा तहँ ठाढ़ी,
मनहुँ मदन साँचे धरि काढ़ी।
डोलत तनु, आन्दोलित अंचल,
वेणी झूमति इत उत चंचल।

---

१. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड दो० २३
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड दोहा ११८
३. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दो० ६
४. कृष्णायन, मथुरा-काण्ट, दो० १८१
५. कृष्णायन, द्वारका-काण्ट, दो० ३१

कृष्णायन का महाकाव्यत्व

कृष्णायन में परम्परागत महाकाव्य शैली का निर्वाह दृष्टिगत होता है। केवल सर्गसंख्या और छन्दोविधान सम्बन्धी लक्षणों को छोड़कर महाकाव्य के परम्परागत सारे लक्षणों का पालन कृष्णायन में हुआ है। महाकाव्य के प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार कृष्णायन का कृष्णचरित्र-सम्बन्धी कथानक ऐतिहासिक तथा लोक-विश्रुत है। यह कथानक अष्टाधिक सर्गों में विभक्त न होकर रामचरित-मानस की तरह सात काण्डों में विभक्त है। धीरोदात्त गुणों से युक्त श्रीकृष्ण इसके नायक हैं। शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से वीररस की इसमें प्रधानता है। शृंगार, शान्त, करुण, रौद्र आदि अन्य सभी रसों का इसमें यथास्थान समावेश हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म की प्राप्ति (न्याय की स्थापना) इसका मुख्य उद्देश्य है। इस सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना में दोहा, सोरठा और चौपाई इन तीन छन्दों को अपनाया गया है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्दपरिवर्तन तथा कहीं-कहीं विविध छन्दों के प्रयोग-सम्बन्धी नियम का निर्वाह इसमें नहीं हुआ है। परम्परागत महाकाव्यों के अनुसार इसके आरम्भ में मंगलाचरण को स्थान दिया गया है। नगर, वन, ऋतु, नदी, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों तथा संयोग, वियोग, विवाह, युद्ध आदि विविध विषयों के सजीव तथा मनोहर वर्णन इसमें वर्तमान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के स्थूल नियमों का यथासाध्य पालन कृष्णायनकार ने किया है। पर वास्तव में इन नियमों का पालन ही कृष्णायन के महाकाव्यत्व की कसौटी नहीं है। महाकाव्य की सफलता केवल सर्गसंख्या, छन्दोविधान, मंगलाचरण और प्रकृति-वर्णन आदि से सम्बन्धित स्थूल शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह में नहीं, वरन् जातीय जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति, कथानक की धारावाहिकता, चरित्रांकन की कुशलता और भाषा-शैली की विशदता पर निर्भर है। महाकाव्य की इस कसौटी पर भी कृष्णायन खरा उतरता है। कृष्णायन में मिश्र जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति तथा नूतन युग की राष्ट्रीय-चेतना को पूर्णतया मुखरित किया है। उसका कृष्णचरित-सम्बन्धी कथानक प्रशस्त और व्यापक है। उसमें जीवन के विविध अंगों को आत्मसात् करने की क्षमता है। चरित्र-योजना महाकाव्योचित गरिमा को लिए हुए है और उसकी भाषा-शैली में भी प्रौढ़ता तथा हृदयग्राहिता वर्तमान है। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य की दृष्टि से कृष्णायन एक सफल कृति सिद्ध होती है।

कथानक

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में कृष्णचरित-सम्बन्धी परम्परागत काव्य-विषय और तुलसीदास के रामचरित-मानस की पुरातन रचना-पद्धति को अपनाया है। रामचरित-मानस की तरह कृष्णायन का कथानक सात काण्डों में विभक्त है—

सोचत को मैं ? का धन-धामा ? अन्त काह विषयन-परिणामा[1] ?"

इस प्रकार कृष्णायन में विविध रसों की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

अलंकार-योजना

मिश्र जी ने विविध अलंकारों की योजना से कृष्णायन के कलापक्ष को समृद्ध किया है। कृष्णायन में अलंकारों का प्रयोग कई स्थलों पर यत्न-साध्य है। पर साथ ही ऐसे स्थलों की भी उसमें कमी नहीं है, जहाँ अलंकार रसोद्रेक तथा भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। शब्दालंकारों में से अनुप्रास की मनोहर योजना कई स्थलों पर हुई है, पर केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने का प्रयास मिश्र जी ने कहीं नहीं किया है। इन पंक्तियों में अनुप्रास की स्वाभाविक और हृदयहारी छटा देखने को मिलती है—

"विकसित कुन्द, फलिनि खिली फूली,
लहि अलि-अवलि लवलि झुकि झूली[2] "
"चकित कपोत करत नहिं कूजन,
करत न कुट कुट कुक्कुट कूलन[3] ।"
"तरुन प्रसून खिले हुलसायी,
झूली अवलि अलिहु कल गायी[4] ।"
"विन्दुरेख कहुँ कुंजन गावत,
छादन छहरि सुछवि दरसावत[5] ।"

अर्थालंकारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि परम्परागत अलंकारों को ही कवि ने अधिक अपनाया है। उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कृष्णायन में सबसे अधिक पाया जाता है। उत्प्रेक्षा की योजना ऐसे उदाहरणों में कवि की अनुपम कल्पनाशक्ति का परिचय देती है—

"दही मथति राधा तहँ ठाढ़ी,
मनहुँ मदन साँचे धरि काढ़ी।
डोलत तनु, आन्दोलित अंचल,
वेणी झूमति इत उत चंचल।

---

१. कृष्णायन, आरोहण-काण्ड दो० २३
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड दोहा ११८
३. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दो० ६
४. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दो० १८१
५. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दो० ३६

है और कृष्ण को आग में जला समझ मगध को लौट आता है। उधर कृष्ण और बलराम योगबल से द्वारका पहुँच जाते हैं।

तृतीय (द्वारका) काण्ड में कृष्ण यदुजनों-सहित द्वारका में एक समृद्ध आर्य-साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न करते हैं। इस काण्ड के आरम्भ में द्वारका के सौंदर्य और अतुल वैभव का वर्णन है। इसके पश्चात् कृष्ण-द्वारा रुक्मिणी-परिणय की कथा वर्णित है। कृष्ण के कथनानुसार अक्रूर हस्तिनापुर में जाकर कौरव-पाण्डवों की स्थिति का पूर्ण परिचय प्राप्त करते हैं। इधर कृष्ण अवन्ती की राजकुमारी मित्रविन्दा को स्वयम्वर में जीतकर द्वारका ले आते हैं। तदनन्तर इस काण्ड में सत्राजित-आख्यान, स्यमन्तक मणि की कथा, जाम्बवन्त-कन्या और सत्राजित की पुत्री सत्यभामा के साथ कृष्ण के परिणय का वर्णन है। अक्रूर और विदुर से कृष्ण पाण्डवों की दुखद दशा का परिचय प्राप्त करते हैं। तदनन्तर वे सुलक्षणा के साथ विवाह करके द्रौपदी-स्वयम्वर में सम्मिलित होते हैं। पाण्डवों के पास जाकर कृष्ण उन्हें सान्त्वना देते हैं। कौरवों से आधा राज्य स्वीकार करते हुए पाण्डव इन्द्रप्रस्थ नगर में निवास करते हैं। द्वारका में कृष्ण सूर्यसुता कालिन्दी से विवाह करते हैं। अर्जुन भी सुभद्रा का हरण करके कृष्ण की सम्मति से उसके साथ विवाह कर लेता है। अर्जुन और सुभद्रा के साथ कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में पहुँचते है। सुभद्रा के गर्भ से अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का जन्म होता है। कृष्ण उसका जात-कर्म संस्कार करके द्वारका लौट आते हैं।

चतुर्थ (पूजा) काण्ड में कृष्ण युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए इन्द्रप्रस्थ में पहुँचते हैं। यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में कृष्ण की पूजा होती है। अपने विरोधी जरासन्ध और शिशुपाल का वध करके कृष्ण राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर द्वारका लौट जाते हैं। द्वारका में उत्पात मचाने वाले शाल्व से उनका युद्ध होता है। उधर धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा के लिए बुलाते हैं। शकुनि के चातुर्य से युधिष्ठिर द्यूत में सब कुछ हार जाते हैं। दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी का चीर हरण करता है, पर कृष्ण के अनुग्रह से द्रौपदी की लज्जा बच जाती है। पाण्डव बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार कर लेते हैं। शाल्व का वध करके कृष्ण पाण्डवों को धीरज बँधाकर पुनः द्वारका लौट आते हैं।

पंचम (गीता) काण्ड में दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण से युद्ध में सहायता की याचना करते हैं। कृष्ण दुर्योधन को अपनी सारी सेना और अर्जुन को अपनी व्यक्तिगत सहायता देने की प्रतिज्ञा कर दोनों को संतुष्ट करते हैं। तदनन्तर कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के दरबार में पहुँचते हैं। दुर्योधन सन्धि के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। फलतः कौरवों और पाण्डवों के दोनों पक्ष युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी अवसर पर कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के धार्मिक पर्व को मनाने की तैयारी होती है और कृष्ण के समझाने-बुझाने पर दोनों पक्ष सूर्यग्रहण के मेले की

भाषा

कृष्णायन की भाषा रामचरितमानस की-जैसी अवधी है। कृष्णायन के आरम्भ में मिश्र जी ने तुलसीदास की भाषा-शैली को मान्यता दी है :—

"तुलसी-शैलिहि मोहिं प्रिय लागी,
भाषहु बिनु विवाद, रस पागी[1]।"

कृष्णायन की भाषा ठेठ अवधी न होकर संस्कृत-गर्भित अवधी है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें मानस की अपेक्षा अधिक हुआ है। यत्र-तत्र क्रियापद भी संस्कृतमय दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत-बहुला होने के कारण कहीं-कहीं तो वह आधुनिक खड़ीबोली के अधिक निकट आ गई है। जैसे :—

"वारि-विमलता रंजति नयनन, हंस-मुखरता तोषति श्रवणन।
कमल-गन्ध आमोदित नासा, परस सुखद शीतल वातासा।
रसना-सरस तापत्रयहारी, सम सर्वेन्द्रिय मन सुखकारी[2]।"
"कान्ति हरित-मणि मही विहायी, स्वर्णिम शस्य-विपाक सोहायी।
पर्ण-अशोक विलोचन मोहन, वनश्रीचरण-अलक्तक शोभन[3]।"

मिश्र जी की भाषा सुसंस्कृत, प्रौढ़ और साहित्यिक है। उसमें बोधगम्यता और सरलता है। विविध प्रसंगों के अनुरूप वह कहीं कोमल, कहीं मधुर और कहीं ओजस्विनी दिखाई देती है। कहीं-कहीं मिश्र जी ने व्याकरण-विरुद्ध दिनप्रति (प्रतिदिन), शब्द-प्रति (प्रतिशब्द), पर्ण-अशोक (अशोक-पर्ण), जायावीर (वीर-जाया), सर्वस्वहृत (हृतसर्वस्व) जैसे समस्त पदों का प्रयोग भी किया है। पादान्त में राशि, रीति, प्रीति, नीति, भीति आदि ह्रस्वान्त शब्दों का दीर्घान्त प्रयोग अवधि-सम्मत है, उसमें कोई आपत्ति नहीं, पर संस्कृत के शब्दों के साथ जमुन, वाहिनि, आसुरि, प्राचि, महि, कामिनि आदि ह्रस्वान्त शब्द खटकते अवश्य हैं। सामान्यतया भाषा पर मिश्रजी का अच्छा अधिकार लक्षित होता है। उनकी शब्दयोजना सुसंगठित और भावानुकूल है।

काव्य-सौन्दर्य

कृष्णायन में रसनिर्वाह, अलंकार-योजना और भाषा पर विचार करने के पश्चात् हम यहाँ कुछ ऐसे स्थलों का उल्लेख आवश्यक समझते हैं, जहाँ कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति तथा रचना-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है। कृष्णायन में अनेक प्रसंग अद्भुत काव्य-सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। बाललीला-वर्णन में सूरदास अद्वितीय हैं और उनका मिश्र जी ने अनुकरण भी किया है। फिर भी मिश्र जी के

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ४
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा ६
३. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ३४

करके कृष्ण मित्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करते है। द्वारिका में यदुवंशी विलासी जीवन को अपना कर आपस में लड़-भिड़ कर नष्ट हो जाते हैं। द्वारिका को पांडव-राज्य के अधीन करके कृष्ण स्वर्गारोहण की इच्छा से वन को प्रस्थान करते हैं और वन में एक लुब्धक के वाण से घायल हो जाते हैं। इतने में मैत्रेय कृष्ण के पास पहुँच जाते हैं कृष्ण मैत्रेय को उपदेश देते हुए अपना भौतिक शरीर छोड़कर स्वर्गारोहण करते है।

कथानक-समीक्षा

कृष्णायन के अवतरण काण्ड में कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत और सूरसागर के आधार पर किया गया है, पर मिश्र जी ने बाललीला-वर्णन में व्यावहारिकता लाने की चेष्टा की है। राधा और कृष्ण के प्रेम का विकास उनकी बाल्यावस्था को ध्यान में रखकर समाज की मर्यादा के अनुकूल ही हुआ है। अवतरण और मथुराकाण्ड की असुरसंहार-सम्बन्धी विविध घटनाओं में भागवत और सूरसागर के अनुसार अलौकिकता के होते हुए भी पर्याप्त मानवीयता दीख पड़ती है।

कृष्ण के बाल्यकाल की घटनाओं का परवर्ती घटनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करके मिश्र जी ने कथानक को प्रबन्धकाव्य के अनुरूप सुसंगठित करने में अच्छा कौशल दिखाया है। मथुराकाण्ड में उज्जयिनी में सान्दीपनि के आश्रम में कृष्ण की शिक्षाप्राप्ति की योजना पर्याप्त मौलिकता लिए हुए है। यह घटना मथुराकाण्ड और द्वारकाकाण्ड को सुसंगठित रूप देने में महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। द्वारकाकाण्ड में अनेक राजकुमारियों के साथ कृष्ण के विवाह-सम्बन्ध की योजना विविध राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करके विपक्षियों के दमन के लिए मुख्यतया राजनीतिक स्तर पर की गई है।

कृष्णायन के अन्तिम चार (पूजा, गीता, जय और आरोहण) काण्डों की कथासामग्री मुख्यतया महाभारत से ली गई है। द्वारकाकाण्ड की घटनाओं की परवर्ती घटनाओं के साथ अन्विति स्थापित करने में मिश्र जी ने अच्छा कौशल दिखाया है। द्वारकाधीश कृष्ण और महाभारत के कृष्ण के चरित्र में सामंजस्य दिखाने वाली कोई रचना अब तक संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध नहीं होती। कृष्णायन में मिश्र जी ने कृष्णचरित्र के इन दोनों रूपों को सुसंगठित किया है। द्वारकाकाण्ड में रुक्मिणी-परिणय के अवसर पर अक्रूर कौरव-पाण्डवों की गति-विधि से परिचय प्राप्त करने के लिए हस्तिनापुर जाते हैं। यह घटना मिश्र जी की निजी उद्भावना है और द्वारकाकाण्ड का परवर्ती काण्डों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता पहुँचाती है। द्वारका की घटनाओं और कौरव-पाण्डवों के युद्ध से सम्बन्धित महाभारत के प्रसंगों में भी सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। महाभारत में कृष्णचरित्र को प्रधानता नहीं

कृष्ण के मथुरा-प्रवेश के अवसर पर नगर-युवतियों के हृदयगत उल्लास की मनोरम व्यंजना यहाँ हुई है :—

"युवतिन-यूथ गवाक्षन छाये, पंथ प्रतीक्षत पलक बिछाये।
जैसेहि प्रभु पुर-पथ पगु धारा, उठेउ गूँजि दिशि जयकारा।
मंगल खील झरे सब ओरा, बरसे सुमन न ओर न छोरा।
मूर्ति मनोहर मृदुल निहारी, जनु छवि-पाश-बद्ध नर-नारी[1] ॥

यहाँ कविपरम्परा-भुक्त प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग होने पर भी रूपचित्रण में पर्याप्त कविकौशल झलकता है।

कृष्ण के विरह में गोपियों को व्याकुल देख उद्धव अपना ज्ञान-ध्यान सब-कुछ भूल बैठते हैं। उनकी तत्कालीन दशा की कलापूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ हुई है:—

"लखि करुणा उद्धव अकुलाने, ज्ञान, ध्यान, श्रुति, शास्त्र भुलाने।
गये समुझि समुझाय न पावा, धैर्य देत निज धैर्य गँवावा।
आये पोंछन व्रजजन-आँसू, झलकेउ दृग जल, उष्ण उसासू[2] ॥"

विषम अलंकार की योजना-द्वारा यहाँ उद्धव की मनोदशा का सजीव चित्र अंकित हुआ है।

द्रौपदी-स्वयम्वर-प्रसंग में द्रौपदी की सुन्दरता और मुद्राओं के अंकन में कवि का अनुपम कौशल दिखाई देता है। जैसे—

"मनोराग अरुणित मुख रोचन, पुलक कपोल, प्रफुल्ल विलोचन।
मधुरस्मित बिम्बाधर भासुर, रशना क्वणित, रणित पद नूपुर।
आनंद निर्भर बाल मराली, गवनी प्रिय-समीप पांचाली।
उन्मुख कुँवरि पटांचल चंचल, तरल कर्णिका, अलक दृगंचल।
उठत हस्त कंकणमणि दमकी, भासित रंग बिज्जु जनु चमकी[3] ॥

इसी प्रकार कुन्ती की वैधव्य-दशा का मार्मिक चित्र इन शब्दों में खींचा गया है :—

"असमय गत-धव, दव जनु जारी, चीन्हि परति नहिं शूर-कुमारी।
आनन म्लान लता तनु क्षीणा, शीश शिरोरुह सुमन-विहीना।
वसन श्वेत, भूषण अंग नाहीं, अचल कपोल पाणि-तल माहीं,
दिवस उदित मानहुँ शशि-लेखा, गत-द्युति शेष रही कछु रेखा[4] ॥"

यहाँ कवि की सूक्ष्म भावुकता कुन्ती के वैधव्य का सजीव चित्र उभारने में समर्थ हुई है। 'अचल कपोल पाणि-तल माहीं' इन शब्दों में कुन्ती की विषाद-भरी मुद्रा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'दिवस-उदित शशिलेखा' के साथ क्षीण-काय कुन्ती की तुलना अत्यन्त उपयुक्त और भावपूर्ण है।

×

---

१. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा २१
२. कृष्णायन, मथुरा-काण्ड, दोहा १८०
३. कृष्णायन, द्वारकाकाण्ड, दोहा १२५
४. कृष्णायन, द्वारकाकाण्ड, दोहा ४०

हैं। इन परम्परागत पात्रों के चरित्रचित्रण में मिश्र जी मानव-हृदय की गहराइयों में अधिक नहीं उतरे है, फिर भी विविध परिस्थितियों में मानव-हृदय के असंख्य भावों के उत्थान और पतन के सजीव चित्रों की कृष्णायन में कमी नहीं है। सात्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के पात्र कृष्णायन में वर्तमान हैं। पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण मिश्र जी अनेक पात्रों के चरित्र को पूर्णतया उभारने में समर्थ नहीं हुए। हाँ, प्रमुख और महान् चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से पौराणिक पार्श्व-भूमि पर हुआ है।

कृष्ण

कृष्ण का चरित्र कृष्णायन में सबसे अधिक व्यापक है। आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। विविध घटनाओं का सम्बन्ध मुख्यतया कृष्ण के चरित्र से है। कृष्णायन का कृष्ण एक आदर्श चरित्र है। वे अपनी पौराणिकता को लिए हुए ब्रह्म के अवतार हैं। दुष्टों के दमन-द्वारा पृथ्वी का भार हरने और धर्म की स्थापना के लिए उन्होंने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है :—

"भयेउ कला षोडश सहित, कृष्णचन्द्र अवतार।
पूर्ण ब्रह्म हरि यश विमल, बरनहुँ मति अनुसार॥"[1]

कृष्ण के चरित्र में देवत्व और मानवत्व का सामंजस्य है, पर मानवत्व के साथ देवत्व का अंश अधिक मात्रा में जुड़ा हुआ है। बचपन में वे जहाँ साधारण बाललीलाओं से ब्रजजनों का मनोविनोद करते हैं, वहाँ असुरवधादि अलौकिक कृत्यों से उन्हें चकित करते हुए मानवता की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं। कृष्णायन के कृष्ण एक साथ ही गोपीजन-वल्लभ, असुरसंहारक, धर्म-संस्थापक, राजनीति-कुशल और दार्शनिक भी है। भागवत और महाभारत के कृष्ण के चरित्र में जो वैषम्य दिखाई देता है, उसे कृष्णायन में दूर करने का सफल प्रयास हुआ है। गोपियों के प्रति कृष्ण का प्रेम सात्विक और सीमित है; उसमें विलासिता या उच्छृंखलता नहीं है, लोकमंगल की भावना है। कृष्ण की गोपीचीरहरण-लीला उनके आदर्श चरित्र को आघात पहुँचाती है। मिश्र जी ने ऐसे स्थलों पर भी कृष्ण के चरित्र को गिरने से बचाया है। चीरहरण-प्रसंग में कृष्ण एक समाजसुधारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं :—

"वारि माँहि निवसत वरुण, तिनकै लाज विहाय।
लोकलाजहू त्यागि तुम, धसत नग्न जल जाय॥"[2]

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ३

२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११३

कुरुक्षेत्र में दिनकर जी युद्ध के विषय में एक नया दृष्टिकोण लेकर आए। भले ही भारतीय और पाश्चात्य धारणाएं पार्श्वभूमि और पृष्ठभूमि के रूप में हों, लेकिन स्थापनाएं और संदेश उनके अपने हैं और वे व्यावहारिक, सार्वभौम और पूर्ण हैं।

वर्तमान समस्या : पुराना माध्यम

वर्तमान समस्या के व्याख्यान और समाधान के लिए उन्होंने महाभारत का माध्यम क्यों चुना ? इसके कुछ मुख्य कारण दिखाई देते हैं।

सबसे पहली बात तो यह है, कि द्वितीय महायुद्ध के समय देश पराधीन होने के कारण, भारतीय जनता में युद्ध के प्रति न तो भावात्मक सहानुभूति थी न बौद्धिक। अंग्रेजों की प्रवंचक दमन-नीति ने तानाशाही शक्तियों से लड़ने वाली प्रजातन्त्रवादी शक्तियों के विरुद्ध भारत में विरोधी और विद्रोही वातावरण उत्पन्न कर दिया था। अंग्रेज हमारे पहले शत्रु थे। उनकी विजय हमारे मन में आत्म-गौरव का भाव नहीं भर सकती थी। हाँ, उनकी हार से हमें प्रच्छन्न सुख अवश्य मिलता था। हम एक सबल प्रजातन्त्रवादी देश की तानाशाही भोग रहे थे। ऐसी स्थिति में, युद्ध-काव्य की रचना में वर्तमान युद्ध की प्रेरणा परोक्ष ही रह सकती थी। दूसरी बात यह है कि दोनों ही विश्व-युद्ध भारत से बाहर सुदूर देशों में लड़े गये। आग की लपटों की आँच भारत तक पहुँची तो, लेकिन युद्ध की विभीषिका आँखों के सामने आती—ऐसी नौबत नहीं आई। आकाश में मंडराते हुए हवाई जहाज, बम-प्रहारों से ढहते हुए गगनचुम्बी प्रासाद, अरअराती हुई दीवारें, छतरियों से उतरते हुये हवाबाज, मशीनगनों और तोपों की गड़गड़ाहटों को कवि ने स्वयं नहीं देखा-सुना था—समाचार-पत्रों और रेडियो के विवरणों द्वारा ही उनके विषय में अनुमान और कल्पना की जा सकती थी। यह परोक्ष सम्पर्क कवि को अभिव्यक्ति का सबल माध्यम प्रदान करने के लिए काफ़ी नहीं था। इसके विपरीत लंकाकांड और महाभारत के युद्ध-वर्णन उनके मानस में संस्कार रूप में जमे हुए थे। यही कारण है कि दिनकर जी ने निकट वर्तमान की समस्या को सुदूर अतीत के माध्यम से व्यक्त किया। युद्ध-नायकों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है—कैसर, हिटलर, मुसोलिनी प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों में विश्व-संहार के लिए चाहे जितनी बड़ी सीमा तक उत्तरदायी रहे हों, लेकिन भारतीय जनता तथा कवि के मानस में बने, दुर्वृत्तियों के प्रतीक दुर्योधन और रावण के व्यक्तित्वों से अधिक निकट नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार युद्ध के सद्पक्ष के उद्घाटन में राम और युधिष्ठिर के समक्ष प्रजातन्त्रवादी सत्ताओं के अग्रणी लायड जार्ज, विल्सन, चर्चिल अथवा रूजवेल्ट को भी नहीं रखा जा सकता था। इन युद्धों में सद्-असद् का निर्णय भी कठिन था, क्योंकि दोनों

हैं। इन परम्परागत पात्रों के चरित्रचित्रण में मिश्र जी मानव-हृदय की गहराइयों में अधिक नहीं उतरे हैं, फिर भी विविध परिस्थितियों में मानव-हृदय के असंख्य भावों के उत्थान और पतन के सजीव चित्रों की कृष्णायन में कमी नहीं है। सात्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के पात्र कृष्णायन में वर्तमान हैं। पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण मिश्र जी अनेक पात्रों के चरित्र को पूर्णतया उभारने में समर्थ नहीं हुए। हाँ, प्रमुख और महान् चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से पौराणिक पार्श्व-भूमि पर हुआ है।

कृष्ण

कृष्ण का चरित्र कृष्णायन में सबसे अधिक व्यापक है। आरम्भ से लेकर अन्त तक कृष्ण प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। विविध घटनाओं का सम्बन्ध मुख्यतया कृष्ण के चरित्र से है। कृष्णायन का कृष्ण एक आदर्श चरित्र है। वे अपनी पौराणिकता को लिए हुए ब्रह्म के अवतार हैं। दुष्टों के दमन-द्वारा पृथ्वी का भार हरने और धर्म की स्थापना के लिए उन्होंने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है :—

"भयेउ कला षोडश सहित, कृष्णचन्द्र अवतार।
पूर्ण ब्रह्म हरि यश विमल, बरनहुँ मति अनुसार।।"[1]

कृष्ण के चरित्र में देवत्व और मानवत्व का सामंजस्य है, पर मानवत्व के साथ देवत्व का अंश अधिक मात्रा में जुड़ा हुआ है। बचपन में वे जहाँ साधारण बाललीलाओं से ब्रजजनों का मनोविनोद करते हैं, वहाँ असुरवधादि अलौकिक कृत्यों से उन्हें चकित करते हुए मानवता की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं। कृष्णायन के कृष्ण एक साथ ही गोपीजन-वल्लभ, असुरसंहारक, धर्म-संस्थापक, राजनीति-कुशल और दार्शनिक भी हैं। भागवत और महाभारत के कृष्ण के चरित्र में जो वैषम्य दिखाई देता है, उसे कृष्णायन में दूर करने का सफल प्रयास हुआ है। गोपियों के प्रति कृष्ण का प्रेम सात्विक और सीमित है; उसमें विलासिता या उच्छृंखलता नहीं है, लोकमंगल की भावना है। कृष्ण की गोपीचीरहरण-लीला उनके आदर्श चरित्र को आघात पहुँचाती है। मिश्र जी ने ऐसे स्थलों पर भी कृष्ण के चरित्र को गिरने से बचाया है। चीरहरण-प्रसंग में कृष्ण एक समाजसुधारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं :—

"वारि माहिं निवसत वरुण, तिनकै लाज विहाय।
लोकलाजहू त्यागि तुम, धसत नग्न जल जाय।।"[2]

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा २
२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११२

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।"

देह की लड़ाई देह से

त्याग, तप, करुणा, दया-क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते हैं, उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते हैं; इन्हीं की साधना मानव को अभीष्ट है, लेकिन यह केवल व्यक्ति-धर्म है, सामान्य धर्म है। युद्ध की स्थिति अपवाद है, क्योंकि आत्मबल मनोबल के सामने नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार हारी हुई जाति की अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का भी कोई अर्थ नहीं है। पराजित, शोषित और दलित की क्षमा कुलीन जाति का घोर कलंक है। पराजित का धर्म है प्रतिशोध, खोए हुए आत्मसम्मान की पुनः प्राप्ति। विवशता की स्थिति में की गई क्षमा अर्थहीन है, अभिशाप है—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो।"

तथा—

जेता के विभूषण सहिष्णुता अभिशाप है, किन्तु
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।

मन तथा कर्म का तादात्म्य

अधर्म और अन्याय के प्रति एक ही प्रतिक्रिया उचित मानी जा सकती है— उसके निराकरण के लिए दहकते हुए अंगारों पर चलना, और बिना किसी तर्क-वितर्क के आक्रमणकारी को मार भगाना। तर्क-वितर्क बुद्धि-जन्य होते हैं। साधारणतः जो विवेक, बुद्धि-ग्राह्य और कल्याणकारी होता है, युद्धकाल में वही विष बन जाता है। पुण्य और पाप, शान्ति और ध्वंस, मान और अपमान में कौन अभीष्ट है—अगर यह द्विधा मन में उत्पन्न हुई, अगर भुजा और मस्तिष्क अलग-अलग चले, तो युद्धकालीन कर्त्तव्य के पालन में व्याघात पहुँचता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को समझाते हैं—

"जहाँ भुजा का एक पंथ हो अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक्, रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का।
द्विधामूढ़, वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?"

हिंसा, प्रतिशोध, घृणा इत्यादि सभी विकारी भावों को आपद्धर्म के रूप में न्यायोचित स्वीकार करते पर भी, न युद्ध को दिनकर ने कहीं साध्य माना है और न

हैं। अश्वत्थामा (हाथी) की मृत्यु की सूचना-जैसी महाभारत की घटना युधिष्ठिर की सत्यवादिता को आघात पहुँचाती है, कृष्णायनकार ने उसका उल्लेख नहीं किया है। मिश्र जी ने अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में वर्णनात्मक प्रणाली को विशेष स्थान दिया है। अर्जुन, कर्ण और भीष्म का सजीव चित्र ऐसी पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :—

अर्जुन—"वदन ओज सर्वांग सुलक्षण, भुज विशाल कर्कश ज्याघर्षण।
रक्षित वर्म सुवर्ण शरीरा, वाण-प्रपूर्ण पृष्ठ तूणीरा।
करतल विलसत धनुष महाना, सुदृढ़ अँगुरियन अंगुलि-त्राणा।
जनु रवि-विद्युत-सुरधनु-द्योतित, सन्ध्या राग-युक्त घन शोभित।
मूर्त वीररस रंग विलोकी, सकी न सभा मुग्ध मुद रोकी[1]।"

कर्ण—"दर्पित पद-गति सिंह समाना, वज्र-वक्ष युग बाहु महाना।
शैल-विशाल शरीर सुहावा, विन्ध्याचलहि मनहुँ चलि आवा।
सहज कवच सजहिं श्रुति कुंडल, रवि आभा रविसुत मुखमंडल[2]।।"

भीष्म—"शूर-शिरोमणि ध्वज जनु काया, महि सम क्षमाशील उर दाया।
ब्रह्मचर्यव्रतव्रती विरागी, पितु-हित महि जीवन सुख त्यागी।
ज्येष्ठ श्रेष्ठ कुल शान्तनु-नन्दन, प्रमुदित बभ्रु करत पग-वन्दन[3]।।"

कृष्णायन के महाभारत-सम्बन्धी वीर चरित्रों के सम्वादों में उनकी चारित्रिक विशेषताओं और अन्तर्वृत्तियों की व्यंजना अच्छी हुई है। स्त्री-पात्रों में द्रौपदी, कुन्ती, अवन्ति-साम्राज्ञी और सत्यभामा का चरित्रांकन सुन्दर बन पड़ा है।

प्रकृति-वर्णन

महाकाव्यों में विविध वर्णनों के साथ-साथ प्रकृति के विविध दृश्यों की मनोरम योजना को प्रमुख स्थान दिया जाता है। कृष्णायन में भी मिश्रजी ने नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, सन्ध्या, रात्रि, वसन्त आदि विविध प्रसंगों तथा प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर, सजीव चित्र उपस्थित किए हैं। मिश्र जी का प्रकृति वर्णन प्रायः परम्परागत प्राचीन शैली को लिए हुए है। मथुरा नगरी का भव्य चित्र इन पंक्तियों में अङ्कित हुआ है—

"पुर-प्राकार मनहुँ कटि किंकिणि, पथ-जन-घोष मनहुँ नूपुर-ध्वनि।
अंजलि विपिन-प्रसून ललामा, अलि स्वर स्वस्ति-पाठ अभिरामा।
कलश उरोज, ध्वजा जनु अंचल, सँभरत नाहिं दरस-हित चंचल।
उपवन वसन, भवन आभूषण, धामछत्रजनु वेणी-बन्धन।

---

१. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ५७
२. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ६०
३. कृष्णायन, द्वारका-काण्ड, दोहा ४६

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।"

देह की लड़ाई देह से

त्याग, तप, करुणा, दया-क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते हैं, उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते हैं; इन्हीं की साधना मानव को अभीष्ट है, लेकिन यह केवल व्यक्ति-धर्म है, सामान्य धर्म है। युद्ध की स्थिति अपवाद है, क्योंकि आत्मबल मनोबल के सामने नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार हारी हुई जाति की अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का भी कोई अर्थ नहीं है। पराजित, शोषित और दलित की क्षमा कुलीन जाति का घोर कलंक है। पराजित का धर्म है प्रतिशोध, खोए हुए आत्मसम्मान की पुनः प्राप्ति। विवशता की स्थिति में की गई क्षमा अर्थहीन है, अभिशाप है—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो।"

तथा—

जेता के विभूषण सहिष्णुता अभिशाप है, किन्तु
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।

मन तथा कर्म का तादात्म्य

अधर्म और अन्याय के प्रति एक ही प्रतिक्रिया उचित मानी जा सकती है—उसके निराकरण के लिए दहकते हुए अंगारों पर चलना, और बिना किसी तर्क-वितर्क के आक्रमणकारी को मार भगाना। तर्क-वितर्क बुद्धि-जन्य होते हैं। साधारणतः जो विवेक, बुद्धि-ग्राह्य और कल्याणकारी होता है, युद्धकाल में वही विष बन जाता है। पुण्य और पाप, शान्ति और ध्वंस, मान और अपमान में कौन अभीष्ट है—अगर यह द्विधा मन में उत्पन्न हुई, अगर भुजा और मस्तिष्क अलग-अलग चले, तो युद्धकालीन कर्त्तव्य के पालन में व्याघात पहुँचता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को समझाते हैं—

"जहाँ भुजा का एक पंथ हो अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का।
द्विधामूढ़, वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?"

हिंसा, प्रतिशोध, घृणा इत्यादि सभी विकारी भावों को आपद्धर्म के रूप में न्यायोचित स्वीकार करने पर भी, न युद्ध को दिनकर ने कहीं साध्य माना है और न

बाणाहत बहु रथि निष्प्राणा, दीन्हेउ बहु पथ-संग अँगदाना।
प्रमुख भटहु तजि समर पराने, जीर्ण पर्ण जनु अनिल उड़ाने।
शोभित अरि-अनि मथत वीरवर, अम्बुधि-भँवर मनहुँ गिरि मन्दर[1]।।"

यहाँ अभिमन्यु के हृदयगत उत्साह की परिणति वीररस में हुई है।

कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन में वात्सल्य की सुन्दर व्यंजना हुई है। गोपियों के साथ कृष्ण की रास-क्रीड़ा, रुक्मिणी-परिणय, द्रौपदी-स्वयम्वर आदि प्रसंगों में शृङ्गार की सुन्दर छटा दीख पड़ती है। रुक्मिणी के पाणिग्रहण के अवसर पर कृष्ण के हृदय की रति की संयोग-शृङ्गार के रूप में सुन्दर अभिव्यक्ति इस दोहे में हुई है—

'पुलक-जाल प्रस्वेद-जल ललित बालमणि-हाथ।
गहेउ मृदु-स्मित मुग्ध मुख मुकुलित-दृग यदुनाथ[2]।।'

कृष्णायन में वीररस की प्रधानता के कारण उसके सहायक रूप में रौद्र और वीभत्स रस भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए हैं। विविध युद्ध-प्रसंगों में रौद्र, वीभत्स और भयानक रस की अभिव्यक्ति एक साथ ही दीख पड़ती है। वीभत्स की अपेक्षा रौद्र को कृष्णायन में विशेष स्थान मिला है। रौद्र और वीभत्स का क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिए—

रौद्र— "सुने सुयोधन-शब्द वृकोदर,
भयी भंग भ्रू, बदन भयंकर।
नयन अंगार अरिहिं जनु जारी,
फुरत अधर कटु गिरा उचारी[3]।।"

वीभत्स—"समर-मही शोणित-नदी प्रचलित विपुल कबन्ध।
उड़त गृद्ध, जम्बुक फिरत कर्षित मज्जा गन्ध[4]।।"

आरोहणकाण्ड में युद्ध में बन्धु-वध से प्राप्त राज्य के प्रति युधिष्ठिर के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। वहाँ शान्तरस की व्यंजना अच्छी हुई है। शान्तरस का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

"सुख सुर-दुर्लभ संचित जागे, नयन विरक्त जात जनु भागे।
राज्य रोग जनु, श्री जनु शापा, मही नरक जीवन जनु पापा।
भोग भुजंग, हार जनु भारा, मलयज अनल, गरल आहारा।
विकल विभव बिच नृप निज धामा, जनु अलि कमल-निलीन त्रियामा।।

---

१. कृष्णायन, जय-काण्ड, दोहा १२८।
२. " द्वारका-काण्ड, दोहा २३
३. " द्वारका-काण्ड, दोहा ६१
४. " द्वारका-काण्ड, दोहा २५

विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण 'कुरुक्षेत्र' के विषय में यह कहा जाता है कि उनकी दृष्टि द्वन्द्वग्रस्त और प्रतिपादन अस्पष्ट है। यह धारणा भ्रमक है। प्रत्युत, सत्य तो यह है कि कुरुक्षेत्र में आकर उनकी प्रवृत्तियाँ संतुलित हो गई हैं। उनके मूल्य निर्धारित हो गये हैं। 'कविता ज्ञान है या आनन्द' नामक लेख में आई० ए० रिचर्ड्स की जिन मान्यताओं का विश्लेषण दिनकर ने किया है, वे ही कुरुक्षेत्र पर लागू होती हैं। रिचर्ड्स के अनुसार 'कविता का महत्व ज्ञान-दान को लेकर नहीं मूल्यों को लेकर है। मनुष्य के भीतर अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। ये सभी प्रवृत्तियाँ, भूखी होती हैं और सबकी सब संतुलन खोजती हैं। अनुभूतियाँ, वे श्रेष्ठ हैं जो संख्या में कम से कम प्रवृत्तियों को विफल करके अधिक से अधिक प्रवृत्तियों की तृष्णा को पूर्ण कर दें, उनके भीतर पारस्परिक संतुलन बिठा दें। कविता मनुष्य की चेतना में जो सुगबुगाहट उत्पन्न करती है उसका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि यह सुगबुगाहट मनुष्य में कहाँ तक औदार्य की वृद्धि करती है, मनुष्य भीतर ही भीतर कहाँ तक प्रसार पाता है।'[1] यह औदार्य और प्रसार हृदय के उद्वेलन और द्वन्द्व से होता है, विचारक कवि की कविता में भी भावना ही प्रधान रहती है। यदि भावना पर विचार हावी हो जाता है तो कवि कलाकार न रह कर शास्त्रविज्ञ अथवा ज्ञानी बन जाता है। विचार प्रधान कविता की सृजनप्रक्रिया में दो शक्तियाँ साथ-साथ काम करती हैं। तर्कों से बँधे गतिहीन अथवा शिथिल-गति विचार को मानसिक प्रवृत्तियों से चंचल गतिशील भावनायें सजीव बनाती हैं। बुद्धि की स्थिरता, भावनाओं की द्रवणशीलता में बंधकर हृदय का अंग बन जाती हैं, तभी विचारक कवि, कलाकार के रूप में अपने दायित्व का निर्वाह करने में समर्थ होता है। कुरुक्षेत्र में बुद्धिजन्य विचार और प्रवृत्तिजन्य राग का यह संघर्ष आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है, इसीलिये अनेक स्थलों पर विरोधाभास का भ्रम होने लगता है, जबकि वास्तव में सत्य यह है कि कुरुक्षेत्र में, विचार दिशा-निर्देश करते हैं और दिनकर की भावनायें उन्हें गति प्रदान करती हैं। मानसिक प्रवृत्तियों के बीच संतुलन और सामंजस्य की इस प्रक्रिया के कारण विरोधी तत्त्वों का समावेश कुरुक्षेत्र में अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो गया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान में रखने की है। विचार प्रधान कविता में विरोध-तत्त्व का समाविष्ट हो जाना स्वाभाविक और सहज है, क्योंकि भाव प्रधान कविता की भांति उसमें कवि दर्शक अथवा आश्रय मात्र न होकर विचारक और द्रष्टा होता है, इसीलिए 'कुरुक्षेत्र' जैसी विचार प्रधान कविता को जब रस के शिकंजे पर चढ़ाया जाता है तो रस-सिद्धान्त में निहित सार्वभौम तत्त्वों पर विश्वास

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ११५—दिनकर

जनु विधु वदन दुग्ध अनुमानी,
नागिनि पान हेतु अकुलानी[1] ॥"

निम्नलिखित पंक्तियों में उपमा की विशद अवतारणा हुई है—

"मृदुल कुमुद-सम हरि हृदय आकुल करुणाकन्द[2] ।"

"गरजि हृष्ट शार्दूल समाना,
पियेउ उष्ण शोणित पणवाना[3] ।"

"भुजप्रचंड गज-शुण्ड प्रमाणा
गवनत धनुदिशि सिंह समाना[4] ।"

इसी प्रकार मालोपमा का एक भावपूर्ण चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है—

"दे न सकत प्रजहिं सहारा, मृतक श्वान सम सो भू-भारा ।
सो जलविरहित जलद-समाना, काष्ठ मतंग-सदृश निष्प्राणा[5] ॥"

निम्नलिखित पंक्तियों में रूपक की योजना सुन्दर बन पड़ी है। सांग रूपक की याजना में कई स्थलों पर अच्छा कोशल दिखाई देता है। जैसे :—

"नवल नागरी मधुपुरी, शिर-प्रासाद उठाय ।
झाँकति वातायन-दृगन, गये प्राणपति आय[6] ॥"

"क्रम-क्रम निशा निशाचरि आयी,
केशराशि महि नभ छिटकायी[7] ।"

अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है। जैसे:—

"व्योम-विचुम्बित नृप-भवन, राजत ध्वज अभिराम ।
फहरत, प्रेरत भानु-रथ, लहत अरुण विश्राम[8] ॥"

इन सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में मिश्र जी ने परम्परागत प्राचीन उपमानों को ही अपनाया है। मौलिकता और नूतनता के अभाव में भी उनमें पर्याप्त सजीवता और आकर्षण है।

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दो० ११५
२. " आरोहण-काण्ड, दोहा ६६
३. " जय-काण्ड, दोहा २१४
४. " द्वारका-काण्ड, दोहा १२४
५. " आरोहण-काण्ड, दोहा ७०
६. " मथुरा-काण्ड, दोहा १२
७. " जय-काण्ड, दोहा ६०
८. " द्वारका-काण्ड, दोहा ४

युधिष्ठिर 'रागानल' के बीच तप कर कुन्दन हो चुके हैं, पाप की ग्लानि का अंधकार मिट चुका है, आत्मा की किरण उसके तिमिर पर विजय प्राप्त कर चुकी है, और दीर्घकाल से चला आता हुआ दिनकर के मन का द्वन्द्व भी समाप्त हो गया है, उनकी समस्या का भी समाधान हो गया है। परिस्थितियों की विवशता के अन्धकार में से उन्हें कर्त्तव्य का आलोक दृष्टिगत हो गया है। अपराध और पाप से उत्पन्न हीन भावना और ग्लानि मिट गई है। पाप पर पुण्य की विजय घोषित करते हुए वे उस मानव की जय बोलते हैं जो पाप के गहन गर्त में गिर कर फिर उठ खड़ा होता है और आलोक के मार्ग पर अग्रसर होता है। पाप और पुण्य जीवन के दो मार्ग हैं। मनुष्य का भाग्य है कि उसे इन दोनों पर ही चलना पड़ता है। पाप और दुःख भोग कर ही उसे पुण्य के सुख की उपलब्धि होती है। मानव-जीवन का यह सत्य है। सप्तम सर्ग के आरम्भ में ही अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की जय बोलते हुए दिनकर कहते हैं—

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल अबोध पुत्र को, पुरुष ज्योति-संभव की।
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि संन्यासी[1]।

जीवन का नियम है अन्धकार के बाद आलोक की प्राप्ति। भौतिकताजन्य दुःखों और उद्वेगों के उपरान्त ही आत्मा का आलोक प्राप्त होता है। रजनी के बाद ही ऊषा का आगमन होता है। पृथ्वी के हर व्यक्ति के वस्त्र वैतरणी के जल से मलिन हैं। आरम्भ से लेकर अन्त तक किसी का पथ उज्ज्वल नहीं रहता। मनुष्य का मार्ग पुण्य के शिखरों और पाप के गर्तों से पूरित है, दोनों का सामना करते हुए वह उठता-गिरता आगे बढ़ता है। कभी गलत पैर पड़ने से वह गर्त में फंस जाता है, परन्तु फिर धूल झाड़ कर आश्वस्त होकर और सम्हल कर वह सामने की ऊँचाइयों की ओर बढ़ता है, पाप पर पुण्य की विजय की आशा और आकांक्षा ही उसे आगे की ओर बढ़ाए लिए जा रही है। जब तक यह पुण्य-बल है, इस पुण्य का विश्वास है तब तक मनुष्य हार नहीं सकता—

जब तक है अवशिष्ट पुण्य-बल की नर में अभिलाषा,
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा।[2]

'द्वन्द्व गीत' के पाप से भयभीत, जीवन और जगत की नश्वरता से सहमे हुए दिनकर को जीवन के इस सत्य पर विश्वास हो गया है कि—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ ९८

जनु विधु वदन दुग्ध अनुमानी,
नागिनि पान हेतु अकुलानी[1] ॥"

निम्नलिखित पंक्तियों में उपमा की विशद अवतारणा हुई है—

"मृदुल कुमुद-सम हरि हृदय आकुल करुणाकन्द[2] ।"
"गरजि हृष्ट शार्दूल समाना,
पियेउ उष्ण शोणित पणवाना[3] ।"
"भुजप्रचंड गज-शुण्ड प्रमाणा
गवनत धनुदिशि सिंह समाना[4] ।"

इसी प्रकार मालोपमा का एक भावपूर्ण चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है—

"दे न सकत प्रजहिं सहारा, मृतक श्वान सम सो भू-भारा ।
सो जलविरहित जलद-समाना, काष्ठ मतंग-सदृश निष्प्राणा[5] ॥"

निम्नलिखित पंक्तियों में रूपक की योजना सुन्दर बन पड़ी है । सांग रूपक की योजना में कई स्थलों पर अच्छा कौशल दिखाई देता है । जैसे :—

"नवल नागरी मधुपुरी, शिर-प्रासाद उठाय ।
झाँकति वातायन-दृगन, गये प्राणपति आय[6] ॥"
"क्रम-क्रम निशा निशाचरि आयी,
केशराशि महि नभ छिटकायी[7] ।"

अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है । जैसे:—

"व्योम-विचुम्बित नृप-भवन, राजत ध्वज अभिराम ।
फहरत, प्रेरत भानु-रथ, लहत अरुण विश्राम[8] ॥"

इन सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में मिश्र जी ने परम्परागत प्राचीन उपमानों को ही अपनाया है । मौलिकता और नूतनता के अभाव में भी उनमें पर्याप्त सजीवता और आकर्षण है ।

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दो० ११५
२. " आरोहण-काण्ड, दोहा ९६
३. " जय-काण्ड, दोहा २१४
४. " द्वारका-काण्ड, दोहा १२४
५. " आरोहण-काण्ड, दोहा ७०
६. " मथुरा-काण्ड, दोहा १२
७. " जय-काण्ड, दोहा ९०
८. " द्वारका-काण्ड, दोहा ४

कर्मबल और शक्ति से अपने लिए राह बना सकता है, जीवन की समस्याओं से डरने और सहमने वाले उन पर विजय नहीं पा सकते बल्कि जिस व्यक्ति में पैर टिकाकर संघर्षों का सामना करने की शक्ति होती है जीवन उसका होता है। जीवन-पयोधि की सतह का जल पीने वालों का मुंह खारा ही रहता है, परन्तु जिसकी भुजाओं में उसे मथने की शक्ति है, वह उसकी सुधा का पान कर सकता है। कर्म से भागने वाला, संघर्षों से मुख मोड़ने वाला व्यक्ति उस मूर्ख के समान है जो वृक्ष की शिखा पर चढ़े बिना सुधाफल प्राप्त करना चाहता है, बिना मन्दर उठाए अमृत रस पीना चाहता है। जीवन के संघर्षों का सामना करने में असमर्थ व्यक्ति ही उसे स्वाद और रसविहीन कहकर छोड़ देता है। उसकी जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है और कल्पना-लोक में महल बनाकर वह अलभ्य का सपना देखने लगता है—वह केवल मधुर और कोमल तत्त्वों की कामना करता है। केवल फूलों की इच्छा करता है। कर्म रज से भरे व्योम-खण्ड से दूर सतत प्रफुल्ल वाटिका में अपना आवास बनाना चाहता है। परन्तु यह मार्ग, मनुष्य का मार्ग नहीं है। मनुष्य कोरी कल्पना और चिन्तन के देश में नहीं रह सकता, वह आकाशगामी होने का स्वप्न नहीं देख सकता। उसके लिए आकाश का मार्ग पृथ्वी पर से होकर जाता है। विरक्ति मनुष्य को अकर्मण्य और निष्क्रिय बनाती है, असत्य में सत्य की प्रतिष्ठा करती है। जीवन की गति को मृत्यु और कर्म की जागरूकता को माया के अन्धकार का नाम देती है। अनस्तित्व को सत्ता, और हार को ही उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसी निवृत्ति-भावना का निराकरण करते हुये भीष्म कहते हैं—

दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ,
श्रेय नहीं जीवन का।
है सद्धर्म दीप्त रख उसको
हरना तिमिर भुवन का।[1]

अनासक्त रसभोगी मिट्टी पर खड़ा होकर हँसता है और दिवा-स्वप्नों के संसार में विचरण करते हुए निवृत्तिवादी के पास आंसू और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कर्मयोगी भूमि का पंक झेलता, त्रिविध ताप को सहता, अन्धकार और आलोक का अनुभव करता अपना मार्ग बनाता है, मिट्टी की महिमा गाता हुआ, संसार को पहले से कुछ और सुन्दर बना कर जाता है। दूसरी ओर अकर्मण्य व्यक्ति निर्यान अम्बुधि में भटकता रहता है। वह दृश्य पर अविश्वास और अदृश्य पर विश्वास करता है, कर्मक्षेत्र उसके लिए माया और कर्महीन दिवास्वप्न सत्य है। जीवन के प्रति यह अनास्था उसके सत्य रूप का उदघाटन नहीं कर सकती। ज्ञानमयी निवृत्ति

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १२८।

बालवर्णन-सम्बन्धी कई पद्य मौलिकता और काव्यसौन्दर्य को लिये हुए हैं। एक उदाहरण देखिए—

"माखन खाहिं, दूध ढरकावहिं, दही काढ़ि मुख अंग लगावहिं।
गृह भाजन सब डारहिं फोरी, देहिं धेनु बछरन कहँ छोरी।
दरस-परस-सुख बतरस लागी, सहहिं सकल उत्पात सभागी।
गहि सस्नेह हृदय भरि लेहीं, छटपटाहिं पै जान न देहीं।
भागहिं हरिहु हाथ झकझोरी, कंचुकि फारि हार गर तोरी[1]।।"

यहाँ बालक कृष्ण की चेष्टाओं का चित्रण बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पड़ा है।

इसी प्रकार दधिमथन में लगी हुई, कृष्ण-दर्शनोत्सुक राधा की चेष्टाओं का मार्मिक चित्र इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

"दही मथति राधा तहँ ठाँढ़ी, मनहुं मदन साँचे धरि काढ़ी।
डोलत तन, आन्दोलित अंचल, वेणी झूमति इत उत चंचल।
जनु विधुवदन दुग्ध अनुमानी, नागिनि पान हेतु अकुलानी।
देखेउ आये कुंवर कन्हाई, मथति कहूँ कहुँ दृष्टि लगाई[2]।।"

कृष्ण के साथ गोपियों की रासलीला का भावपूर्ण वर्णन इन पंक्तियों में अंकित हुआ है—

"नर्तत मुख मिलि नटवर संगा, दमकत वदन ललित भ्रूभंगा।
अनुहरि ताल चरण चलि जाहीं, थिरकत अंग, अधर मुसकाहीं।
पटकत पग उपजत उल्लासा, पद-पद बाढ़त लास विलासा।
भुज फेरत कर भाव बतावत, वलय मुद्रिका रस बरसावत।
कबरी शिथिल सुमन झरि लागी, वदन कमल कच अलि अनुरागी।
लहरत बसन, उड़त उर अंचल, अनुहरि हरिहिं विलोल दृगंचल।
दरकत कंचुकि, तरकत माला, प्रकटत आनन श्रम-कण-जाला[3]।।

यहाँ कृष्णायनकार एक चतुर कलाकार के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे उपयुक्त शब्दों के चुनाव द्वारा वे रासलीला का हृदयग्राही सजीव चित्र चित्रित करने में समर्थ हुए हैं। कृष्ण के लिए यहाँ 'नटवर' शब्द का प्रयोग बहुत ही भावपूर्ण है। शब्दों में एक प्रकार की ध्वनि और गति है, जोकि रासलीला के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है।

---

१. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ६६
२. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा ११५
३. कृष्णायन, अवतरण-काण्ड, दोहा १५७

यह कहानी दिनकर के मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्यलाभ की कहानी है। नश्वरता और क्षणभंगुरता के कोमलतम उपमान भी अब उनके सामने जीवन की स्वस्थ और आकर्षक परिभाषा उपस्थित करते हैं—

फूलों पर आँसू के मोती
और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी,
नपी तुली परिभाषा।[1]

वैयक्तिक भोगवाद पर समष्टि-हित की विजय

सप्तम सर्ग में दिनकर की उक्तियों के आधार पर उन्हें मार्क्सवादी और प्रगतिवादी घोषित किया जाता रहा है, लेकिन यह एक याद रखने की बात है कि 'साम्य' शब्द का सम्बन्ध केवल मार्क्सवाद से नहीं है। मार्क्सवाद में प्रतिपादित साम्य को दिनकर ने सदैव अधूरा माना है। कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित साम्य का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नहीं है। शोषक के प्रति घृणा, शोषित के प्रति सहानुभूति उस मानवतावादी पृष्ठभूमि में व्यक्त की गई है जिसमें आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के साम्य का संतुलन और सामंजस्य है। अगर करुणा, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा पर आधृत मानवतावाद को कुरुक्षेत्र का साध्य मान लें तो वह गांधी के बहुत निकट और मार्क्स से बहुत दूर पड़ता है। 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य की व्यापकता में अनेक ऐसे प्रश्न अन्तर्भूत हैं, जो जीवन के भौतिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं जैसे साम्राज्यवाद का विरोध, वर्ग-वैषम्य का खण्डन, राजनीतिक भ्रष्टाचार इत्यादि। लेकिन न तो इनका निरूपण मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है और न दिनकर के समाधान भौतिकवादी हैं। वर्ग-वैषम्य के प्रति उनका आक्रोश और उसके उच्छेदन के लिए हिंसात्मक मार्ग की स्वीकृति भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष के वातावरण में पल्लवित हुई है। क्रान्ति का मार्ग उन्होंने पहली बार नहीं अपनाया है। वैयक्तिक भोगवाद की प्रेरणा से शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, और शक्ति के केन्द्रीकरण से समाज में वर्गवैषम्य को संवर्द्धन मिलता है, दिनकर के पास इस वर्ग-वैषम्य का एक ही उपचार है :

रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल काल-कूट विष भर दो;

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४५।

३८

कुरुक्षेत्र

डा० सावित्री सिन्हा

कुरुक्षेत्र की रचना द्वितीय महायुद्ध के संहार और नाश की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप हुई थी, और उसमें दिनकर का शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोला था। प्रस्तुत कृति में उनके शंकाकुल हृदय का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते हैं और मस्तिष्क का भीष्म। कुरुक्षेत्र में चिन्तन, मनन और विचार प्रधान है इसलिए उसमें व्यक्त काव्य-चेतना के विश्लेपण का अर्थ है उसके विचार-तत्त्व और दर्शन का विश्लेपण। इस दृष्टि से कुरुक्षेत्र में व्यक्त दर्शन के दो रूप मिलते हैं। (१) कृति के मुख्य प्रतिपाद्य विषय युद्ध का दर्शन, तथा (२) समग्र रूप से स्थापित सामान्य जीवन-दर्शन। इन्हीं दोनों दृष्टियों से कुरुक्षेत्र के दार्शनिक प्रतिपाद्य का विश्लेपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित युद्ध-दर्शन

दिनकर जी हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होंने 'युद्ध' को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया, उसके मूल कारणों तथा पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण करके उससे उत्पन्न समस्याओं के समाधानों की ओर इंगित किया। द्वितीय महायुद्ध के भीषण संहार, हाहाकार और त्रास ने दिनकर को इस विषय पर सोचने को बाध्य किया। अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं से लड़ने में ही मनुष्य सबसे निरीह होता है। पारिवारिक परिस्थितियों की विषमताओं के दबाव से उन्हें युद्ध-प्रचार विभाग में कार्य करना पड़ा। नियति का व्यंग्य देखिए कि जिस युवा कवि की कृतियाँ देश के लिए जेल जाने वाले नवयुवकों की जेबों में रहती थीं, जिसके सशक्त और ओजपूर्ण स्वर जनता में क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर रहे थे, वही कवि परिस्थितियों के हाथ का खिलौना बन कर युद्ध-प्रचार में योग देने को अपना गला साफ कर रहा था। कुरुक्षेत्र की रचना ही इस बात का प्रमाण है कि दिनकर का मन उन दिनों कितना द्वन्द्व-ग्रस्त रहा होगा। जो भी हो, उन्हीं बाह्य परिस्थितियों और मानसिक संघर्षों के फलस्वरूप हिन्दी में विचारात्मक काव्य की नींव पड़ी और हिन्दी का प्रथम युद्ध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' लिखा गया।

समष्टि-हित की स्थापना के साथ ही दिनकर ने श्रम की मर्यादा और महत्त्व की स्वीकृति पर भी विशेष बल दिया है। भाग्यवाद में मनुष्य के शोषण के तत्त्व निहित हैं। वह पाप का आवरण है। मनुष्य का भाग्य है, उसका श्रम, वही उसकी शक्ति है।[1]

परन्तु व्यक्ति या समष्टि किसी भी स्तर पर दिनकर की दृष्टि भौतिकवाद की एकांगिता को लेकर नहीं चली है, इस प्रकार की उक्तियों के आधार पर उन्हें साम्यवादी नहीं घोषित किया जा सकता, यह दृष्टि तो उनके समग्र और व्यापक दर्शन की एक इकाई मात्र है। मानव की एकता की स्थापना का स्वप्न उन्होंने निष्काम कर्म की पृष्ठभूमि में समष्टि के प्रति कामनाओं के उन्नयन में देखा है। उनकी समष्टि साधना के दो रूप हैं—शक्ति का विकेन्द्रीकरण और उसका समान वितरण तथा वैयक्तिक भोगवाद के स्थान पर समष्टिहित समन्वित कर्मवाद की स्थापना। इसके उदाहरण रूप में ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।[2]

जीवन के विरोधी तत्त्वों में सामंजस्य की स्थापना

मानव-मन प्रवृत्तियों का जाल है। अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ अथवा अलग-अलग उठकर उसके मार्ग में उलझनें उत्पन्न करती हैं। एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं में फँस कर वह एक निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। फिर जब समस्या एक साधारण व्यक्ति अथवा साधारण जीवन की न होकर विश्वजनीन और सार्वजनीन हो तब तो उसका रूप और भी जटिल और ग्रन्थिल हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसी ही विरोधी प्रवृत्तियों की अनेक बार टक्कर हुई है, और कवि ने अनेक बार एक ही विजय और दूसरी के निराकरण में समाधान न देकर दोनों के सामंजस्य और समन्वय द्वारा स्थितियों को सुलझाया है। कहीं देहबल और मनोबल के प्रयोग का प्रश्न उठा है; कहीं शौर्य और करुणा में कौन ग्राह्य है, इस प्रश्न पर कवि की दृष्टि अटकी है। इसी प्रकार कल्पना और यथार्थ, विज्ञान और कला, मस्तिष्क और हृदय, साम्यवाद और शक्ति के केन्द्रीकरण में तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न उठने पर कवि ने दोनों विरोधी पक्षों के समन्वय में ही स्थिति के आदर्श रूप की कल्पना की है।

आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति का संतुलन

दिनकर का दर्शन पृथ्वी का सहारा नहीं छोड़ता। काल्पनिक आदर्श के मोह

१. कुरुक्षेत्र पृष्ठ १०८।
२. वही, पृष्ठ १४१।

ही महायुद्धों का मूल कारण राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की खींच-तान मात्र था।

युद्ध एक अनिवार्य विकार

'कुरुक्षेत्र' का आरम्भ युद्धान्त पर युधिष्ठिर के हृदय की ग्लानि के चित्रण के साथ होता है। प्रस्तुत प्रसंग में युधिष्ठिर के निर्वेद का केवल इतना महत्त्व है कि उसके व्याज से ही भीष्म पितामह द्वारा शौर्य की महिमा का व्याख्यान किया गया है तथा युद्ध के अनघत्व कीस्थापना की गई है। युद्ध एक तूफान है। जिसप्रकारतूफान अनायास ही नहीं टूट पड़ता उसी प्रकार मानव समाज में व्यक्तिगत, राजनीतिक और राष्ट्रीय स्तर पर जो विकारों की शिखाएं धीरे-धीरे सुलगती रहती हैं, क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या और द्वेष उनको प्रज्वलित करते रहते हैं। वही आग देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम के व्याज से युद्धाग्नि के रूप में फैल जाती है। युद्ध का आरम्भ अनय ही करता है। फिर धर्म, नीति तथा नय के मार्ग पर चलने वालों के लिए उसकी चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प रह नहीं जाता। शांतिप्रेमियों को भी युद्ध की ज्वाला में कूद पड़ना पड़ता है; तत्व-चिन्तन, गम्भीर विचार पीछे पड़ जाते हैं। युद्ध एक अनिवार्य विकार है और उसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है, क्योंकि विषम रोग का उपचार मिष्टान्न नहीं, तिक्त औषधि है। (कुरुक्षेत्र पृष्ठ १३)।

युद्ध आपद्धर्म

भीष्म द्वारा हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन कराने के कारण दिनकर जी पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है, लेकिन उन्होंने हिंसा अथवा युद्ध को जीवन के साध्य या अन्तिम लक्ष्य के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया। कोई भी कार्य चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा समष्टिगत अपने-आप में पुण्य या पाप नहीं होता, पुण्य या पाप की कसौटी उस कार्य का लक्ष्य या उद्देश्य होता है। फिर युद्ध तो बिल्कुल ही अपवाद है।

युद्ध के पाप-रूप का भी विश्लेषण उन्होंने किया है। युद्ध के मूल कारण हैं वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रकारों की प्रतियोगिताएं, स्पर्धा और ईर्ष्या तथा राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण। दिनकर जी ने किसी भी राष्ट्र के लिए सैन्य-शक्ति का संतुलन और उसके प्रयोग की सामर्थ्य को राष्ट्र का आवश्यक अंग माना है। स्वत्व, धर्म सम्मान की रक्षा के लिए जो युद्ध किया जाता है वह पाप नहीं होता। अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए उठाई गई तलवार की चमक में पुण्य खिलता है। (कुरुक्षेत्र पृष्ठ २७) अत्याचार सहना पाप है, अन्यायी को अन्याय करने की हिम्मत करने का अवसर देना पाप है।

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है।

समष्टि-हित की स्थापना के साथ ही दिनकर ने श्रम की मर्यादा और महत्त्व की स्वीकृति पर भी विशेष बल दिया है। भाग्यवाद में मनुष्य के शोषण के तत्त्व निहित हैं। वह पाप का आवरण है। मनुष्य का भाग्य है, उसका श्रम, वही उसकी शक्ति है।[१]

परन्तु व्यक्ति या समष्टि किसी भी स्तर पर दिनकर की दृष्टि भौतिकवाद की एकांगिता को लेकर नहीं चली है, इस प्रकार की उक्तियों के आधार पर उन्हें साम्यवादी नहीं घोषित किया जा सकता, यह दृष्टि तो उनके समग्र और व्यापक दर्शन की एक इकाई मात्र है। मानव की एकता की स्थापना का स्वप्न उन्होंने निष्काम कर्म की पृष्ठभूमि में समष्टि के प्रति कामनाओं के उन्नयन में देखा है। उनकी समष्टि साधना के दो रूप हैं—शक्ति का विकेन्द्रीकरण और उसका समान वितरण तथा वैयक्तिक भोगवाद के स्थान पर समष्टिहित समन्वित कर्मवाद की स्थापना। इसके उदाहरण रूप में ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।[२]

जीवन के विरोधी तत्त्वों में सामंजस्य की स्थापना

मानव-मन प्रवृत्तियों का जाल है। अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ अथवा अलग-अलग उठकर उसके मार्ग में उलझनें उत्पन्न करती हैं। एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं में फँस कर वह एक निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। फिर जब समस्या एक साधारण व्यक्ति अथवा साधारण जीवन की न होकर विश्वजनीन और सार्वजनीन हो तब तो उसका रूप और भी जटिल और ग्रन्थिल हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसी ही विरोधी प्रवृत्तियों की अनेक बार टक्कर हुई है, और कवि ने अनेक बार एक ही विजय और दूसरी के निराकरण में समाधान न देकर दोनों के सामंजस्य और समन्वय द्वारा स्थितियों को सुलझाया है। कहीं देहबल और मनोबल के प्रयोग का प्रश्न उठा है; कहीं शौर्य और करुणा में कौन ग्राह्य है, इस प्रश्न पर कवि की दृष्टि अटकी है। इसी प्रकार कल्पना और यथार्थ, विज्ञान और कला, मस्तिष्क और हृदय, साम्यवाद और शक्ति के केन्द्रीकरण में तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न उठने पर कवि ने दोनों विरोधी पक्षों के समन्वय में ही स्थिति के आदर्श रूप की कल्पना की है।

आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति का संतुलन

दिनकर का दर्शन पृथ्वी का सहारा नहीं छोड़ता। काल्पनिक आदर्श के मोह

---

१. कुरुक्षेत्र पृष्ठ १०८।
२. वही, पृष्ठ १४१।

हिंसा को। कुरुक्षेत्र के तीनों पात्रों (युधिष्ठिर, भीष्म और स्वयं कवि) का अन्तिम लक्ष्य है—प्रेम और करुणा, दया और क्षमा पर आधृत मानवतावाद। पंचम सर्ग के अन्त में दारुण ऊहापोह और उद्वेलन के बाद युधिष्ठिर के सामने से निराशा और अवसाद का कुहासा मिट जाता है। वे नाश पर निर्माण की नींव रखने के लिए फिर से सन्नद्ध हो जाते हैं। रण-छिन्नलता में शान्ति-सुधा-फल के फलने का स्वप्न देखते हुए उनके द्वन्द्व की समाप्ति होती है—

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और चलेगा;
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।

(कुरुक्षेत्र पृष्ठ ८६)

इसी प्रकार भीष्म भी सम्पूर्ण प्रसंग में शौर्य, हिंसा, क्रान्ति और युद्ध के औचित्य को सबल और समर्थ शब्दों में सिद्ध करने के बाद, रण-भीति से मुक्त पृथ्वी की कल्पना, हिंसा और बल-प्रयोग के आधार पर नहीं, मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग को मूलभूत तत्त्व मान कर ही करते हैं—

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से :
+ + +
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।[1]

षष्ठ सर्ग का क्षेपक तो कवि ने प्रेम, दया, करुणा और धर्म-दृष्टि की स्थापना के लिए ही लिखा है। उनके अनुसार आज के जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी कमी यही है कि आज मस्तिष्क की तुलना में मनुष्य का हृदय पीछे पड़ गया है। रसवती भू के मनुज का श्रेय उसके आँसू हैं, प्रणय-वायु है, मानव के लिए समर्पित मानव की आयु है। उसका श्रेय है मनुज का समता-विधायक ज्ञान और स्नेह सिंचित न्याय, पारस्परिक विश्वास, उसका श्रेय है वह मानवतावाद, वह विश्वबन्धुत्व जो मनुष्य का मनुष्य से उचित सम्बन्ध जोड़ता है—मानव मात्र के आध्यात्मिक और भौतिक साम्य-स्थापना के लिए ही उनकी सहज गर्जना याचक की नम्रता और असहायता में परिवर्तित हो गई है।[2]

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित सामान्य जीवन-दर्शन

जीवन की अनेक समस्याओं के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के साथ-साथ

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६

का आरोपण करते हुए दिनकर ने हृदय और भुजा, हृदय और मस्तिष्क में समन्वय की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। जहाँ इन तीनों का अलग-अलग विभाजन किया जाता है, वहाँ गलती होती है, मनुष्य एक पूर्ण दृष्टि प्राप्त कर सकने में असमर्थ रह जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि राग की अवरुद्ध धारा व्यक्ति को असंतुलित बना देती है और कभी न कभी किसी न किसी मार्ग से अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है। ब्रह्मचर्य के व्रत के कारण भीष्म का राग उनके लिए पाप बन चुका था। वे हर समय अपने प्राणों पर बन्ध बाँधे कोमल भावनाओं की ओर सचेत रहते थे। फलस्वरूप—

बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला,
पत्रों की झुरमुट में छिप कर विहग न कोई बोला।
चढ़ा किसी दिन फूल किसी का मान न मैं कर पाया,
एक बार भी अपने को था दान न मैं कर पाया।[1]

वही अतृप्ति हृदय के निभृत कोने में, भीष्म के अवचेतन के गह्वर में कहीं छिपी बैठी थी जो अर्जुन के प्रति प्रेम बन कर उमड़ पड़ी—और भीष्म को जीवन के उस सत्य का ज्ञान हुआ जिससे वे अभी तक वंचित थे।

मुझे शान्ति, यात्रा से पहले
मिले सभी फल मुझको
सुलभ हो गए धर्म स्नेह
दोनों के सम्बल मुझको।[2]

धर्म और स्नेह के इस संयुक्त आनन्द की उपलब्धि के पहले भीष्म के ही द्वारा मस्तिष्क और हृदय के अप्रकृत विभाजन के अनौचित्य का विश्लेषण कराया गया है।

हृदय प्रेम को चढ़ा, कर्म को
भुजा समर्पित करके,
मैं आया था कुरुक्षेत्र में
तोष मनों में भर कर,
समझा था मिट गया द्वन्द्व
पाकर यह न्याय विभाजन;
ज्ञात न था, है कहीं कर्म से
कठिन स्नेह का बन्धन।[3]

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६०।
२. वही, पृष्ठ ६६।
३. वही, पृष्ठ ५८।

हिंसा को। कुरुक्षेत्र के तीनों पात्रों (युधिष्ठिर, भीष्म और स्वयं कवि) का अन्तिम लक्ष्य है—प्रेम और करुणा, दया और क्षमा पर आधृत मानवतावाद। पंचम सर्ग के अन्त में दारुण ऊहापोह और उद्वेलन के बाद युधिष्ठिर के सामने से निराशा और अवसाद का कुहासा मिट जाता है। वे नाश पर निर्माण की नींव रखने के लिए फिर से सन्नद्ध हो जाते हैं। रण-छिन्नलता में शान्ति-सुधा-फल के फलने का स्वप्न देखते हुए उनके द्वन्द्व की समाप्ति होती है—

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और चलेगा;
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।
(कुरुक्षेत्र पृष्ठ ८६)

इसी प्रकार भीष्म भी सम्पूर्ण प्रसंग में शौर्य, हिंसा, क्रान्ति और युद्ध के औचित्य को सबल और समर्थ शब्दों में सिद्ध करने के बाद, रण-भीति से मुक्त पृथ्वी की कल्पना, हिंसा और बल-प्रयोग के आधार पर नहीं, मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग को मूलभूत तत्त्व मान कर ही करते हैं—

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से :
+ + +
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।[1]

षष्ठ सर्ग का क्षेपक तो कवि ने प्रेम, दया, करुणा और धर्म-दृष्टि की थापना के लिए ही लिखा है। उनके अनुसार आज के जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी कमी यही है कि आज मस्तिष्क की तुलना में मनुष्य का हृदय पीछे पड़ गया है। रसवती भू के मनुज का श्रेय उसके आँसू हैं, प्रणय-वायु है, मानव के लिए समर्पित मानव की आयु है। उसका श्रेय है मनुज का समता-विधायक ज्ञान और स्नेह सिंचित न्याय, पारस्परिक विश्वास, उसका श्रेय है वह मानवतावाद, वह विश्वबन्धुत्व जो मनुष्य का मनुष्य से उचित सम्बन्ध जोड़ता है—मानव मात्र के आध्यात्मिक और भौतिक साम्य-स्थापना के लिए ही उनकी सहज गर्जना याचक की नम्रता और असहायता में परिवर्तित हो गई है।[2]

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित सामान्य जीवन-दर्शन

जीवन की अनेक समस्याओं के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के साथ-साथ

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६

और क्षमा जैसे उदात्त गुणों का क्या मूल्य आंका जायेगा ?

दिनकर ने विजयी के मन में करुणा का उदय दिखाकर एक ओर युधिष्ठिर के मानसिक क्षोभ का निराकरण किया है दूसरी ओर केवल शौर्य और शक्ति-समन्वित क्षमा और करुणा की ही महत्ता स्वीकार की है। विजित और पराजित की क्षमा का कोई अर्थ नहीं है। असमर्थ और निर्बल की सहिष्णुता तो अनिवार्य है। उदात्त गुणों की स्थापना उनका अभिप्रेत है और शौर्य उसका साधन। कभी-कभी कुरुक्षेत्र के रस-विधान के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष दिया जाता है कि उसका अंगीरस है 'करुण पोषित वीर'। सबसे पहली बात यह है कि कुरुक्षेत्र में रस-विवेचना हम परम्परागत मान्यताओं के आधार पर नहीं कर सकते। न वह घटना-प्रधान प्रबन्ध है और न चरित्रप्रधान। उसमें विचारों की प्रधानता है और उन्हीं को लेकर उसकी प्रबन्धात्मकता चलती है। उसमें एक ओर करुणा का निराकरण है और दूसरी ओर शौर्य के साथ उसका समन्वय किया गया है। हारी हुई जाति अथवा हारे हुये व्यक्ति की करुणा और सहिष्णुता पाप है, क्लीव जाति का कलंक है, लेकिन दूसरी ओर वही शौर्य का साध्य है वीरता का लक्ष्य है। निराकरण और समन्वय की इन स्थितियों को करुणा द्वारा वीर का पोषक नहीं माना जा सकता। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि करुणा के साम्राज्य की स्थापना के लिए दिनकर शौर्य को अनिवार्य मानते हैं। वह करुणा ग्लानि नहीं उत्पन्न करती बल्कि सम्पूर्ण विश्व को हृदय के सूत्र में बाँधती है। विजयी की ग्लानि, शूर की करुणा ही संसार को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कर सकती है—

सच्छान्ति जगेगी इसी स्वप्न के क्रम से,
होगा जग कभी विमुक्त इसी विध यम से।
परिताप दीप्त होगा विजयी के मन में,
उमड़ेंगे जब करुणा के मेघ नयन में।[1]

ज्ञान और भावना का समन्वय

छठे सर्ग में महाभारत के पात्रों और घटनाओं में अपने मन की उड़ान को न बाँध सकने के कारण दिनकर, महाभारत के युग से बीसवीं सदी में लौटकर स्वयं हमारे सामने आए हैं, और विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में आज के वैज्ञानिक युग की सीमाओं और शक्तियों का विवेचन किया है। आज की अनेक समस्याओं का मूल कारण है बुद्धि का अतिचार। कोई भी वस्तु अपने आप में अच्छी और बुरी नहीं होती। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग ही उसकी प्रकृति का निर्णय करते हैं। विज्ञान आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य अनुदिन संहार और नाश के

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ८६।

और आस्था रखते हुये भी मेरे मस्तिष्क में बड़े-बड़े प्रश्नचिह्न बन जाते हैं।

यह तो हुई विचार प्रधान कविता में विरोधी तत्त्वों के अस्तित्व के औचित्य की बात। कुरुक्षेत्र की द्वन्द्वग्रस्त जीवन-द्रष्टि के प्रश्न पर निर्भ्रान्ति और स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि यहाँ आकर दिनकर का द्वन्द्व सदैव के लिए समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्र में उनके सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। मरण और जीवन, नाश और निर्माण में से सत्य कौन है, असत्य कौन? प्रवृत्ति और निवृत्ति में कौन धर्म है, कौन अधर्म; संसार नित्य है अथवा अनित्य: सुन्दरता सत्य है अथवा उसके भीतर छिपी हुई कुरूपता; कलिका का मुरझाना सत्य है अथवा विकास? इत्यादि प्रश्न दिनकर के मन में दीर्घकाल से चले आ रहे थे। जैसे प्रौढ़ होकर व्यक्ति अपने हृदय के उद्वेलनों का शमन दर्शन और आध्यामिकता से करता है वैसे ही जीवन की विविध विषमताओं और विरोधी परिस्थितियों से उत्पन्न अवसाद और उद्वेलन, समस्याओं और प्रश्नों के सार तत्त्वों को ग्रहण करके किया है। ऐसी स्थिति में इस कृति की मूल चेतना को द्वन्द्व ग्रस्त मानकर उसके आधार पर उसके कवि को 'द्वन्द्व का कवि' सिद्ध करना अनुपयुक्त है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्यचेतना का सम्यक् विश्लेषण हम उसके पूर्ववर्ती काव्य के परिपार्श्व में रख कर ही कर सकते हैं, और ऐसा करने पर कुरुक्षेत्र में आकर 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' की समस्याओं का स्वस्थ समाधान मिलता है, हुंकार की भावप्रधान समष्टि-चेतना दर्शन से सम्पुष्ट होकर स्थायी हो जाती है। हिंसा और अहिंसा का कितना अंश साध्य है, कितना त्याज्य इनमें से साध्य है, कौन साधन, इस विषय में भी कवि की दृष्टि निर्भ्रान्ति और स्पष्ट हो जाती है। दिनकर के मन में उठी हुई प्राय: हर शंका का स्वस्थ और संतुलित समाधान होता है, हर क्षेत्र की समस्या अभाव से भाव की ओर मुड़ कर कवि की दृष्टि को आशावादी बनाती है। युद्ध-दर्शन के प्रसंग में हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति-धर्म और समष्टि-धर्म, इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया जा चुका है। युद्ध से इतर व्यापक क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र के दर्शन की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—

(१) भावमूलक तत्त्वों की अभावमूलक तत्त्वों पर विजय।

(२) जीवन के विभिन्न विरोधी तत्त्वों में सामंजस्य।

अभाव मूलक तत्त्वों पर भावमूलक तत्त्वों की विजय

पाप पर पुण्य की विजय : कुरुक्षेत्र के प्रथम पाँच सर्गों में युग की पृष्ठभूमि प्रधान है। अतएव, उसमें विवेचित प्रश्नों का मुख्य सम्बन्ध युद्ध-विषयक विभिन्न प्रश्नों को लेकर ही है। भीष्म की अनेक उक्तियों में कहीं-कहीं जीवन-दर्शन के व्यापक सिद्धान्त संकलित अवश्य हो गए हैं, लेकिन मुख्य रूप से जीवन का विश्लेषण और जीवनगत सत्यों का निर्धारण सप्तम सर्ग में ही हुआ है। पंचम सर्ग के अन्त में

दर्शन और विचार से संपुष्ट करके निर्धारित किए गए हैं। कुरुक्षेत्र पर जिन दो विचारकों का प्रभाव दिनकर स्वीकार करते हैं, वे हैं बर्ट्रेण्ड रसेल तथा लोकमान्य तिलक। वर्तमान जीवन की समस्याओं के निरूपण में रसेल के विभिन्न ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया गया है तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति और कर्मयोग के विश्लेपण में वे तिलक की कृति गीता-रहस्य से प्रभावित रहे हैं।

कुरुक्षेत्र का काव्य-रूप

दिनकर के प्रबन्ध काव्यों के दो प्रमुख भेद हैं। प्रथम, परम्परागत प्रबन्ध-काव्य जिसमें मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-परम्परा का अनुसरण किया गया है। इसमें कथानकचयन, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य, इत्यादि तत्त्वों का निर्वाह पुरानी शैली से ही हुआ है। इस परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि काव्य है रश्मिरथी। द्वितीय कोटि के प्रबन्ध काव्यों को विचार-प्रधान काव्य की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें कृति का केन्द्र-विन्दु कोई न कोई समस्या है और उसके विकास तथा उद्घाटन के लिए कार्य-व्यापार की योजना तथा पात्रों की गतिविधियों का निर्धारण किया गया है। इस वर्ग की प्रवन्ध कृतियां हैं कुरुक्षेत्र, उर्वशी और परशुराम की प्रतीक्षा। ये तीनों ही कृतियां वर्तमान युग की किसी न किसी समस्या की प्रेरणा से लिखी गई हैं। प्रथम दो कृतियों में समस्या का रूप सार्वभौम है और तीसरी का देशीय और राष्ट्रीय। तीनों में ही ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का अनुपात किसी न किसी रूप में विद्यमान है, परन्तु ये दोनों ही तत्त्व कवि की विचारधारा के वाहक मात्र हैं और इनका उपयोग सम्बद्ध समस्या की उपस्थापना और विकास के लिए ही किया गया है।

कुरुक्षेत्र को सर्गबद्ध प्रबन्ध का रूप दिया गया है इसलिए उसमें कवि को अपनी ओर से भी बोलने का अधिकार और अवकाश है। प्रथम सर्ग में कवि स्वयं समस्या की स्थापना करता है, पंचम सर्ग तक, कभी युधिष्ठिर कभी भीष्म और कभी स्वयं कवि के द्वारा प्रश्न के विविध और परस्पर विरोधी पहलुओं का व्याख्यान और विश्लेपण हुआ है। परम्परावादी प्रबन्ध-काव्यों की तरह यहां कथा का विकास अथवा चरित्र-चित्रण कवि का ध्येय नहीं रहा है। केवल विचारसूत्र को आगे बढ़ाने के लिए ही विभिन्न सर्गों की योजना हुई है। छठे सर्ग में कवि द्वापर, युधिष्ठिर और भीष्म को छोड़कर बीसवीं शती में आकर वर्तमान युग की समस्याओं का स्वयं आख्यान करता है। सप्तम सर्ग में उस जीवन-दृष्टि की स्थापना होती है, जहाँ वह युद्ध के समाधान की सम्भावनाएं देखता है। कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध-विधान का यही विकास निम्नांकित रेखाओं द्वारा समझा जा सकता है। रेखाओं पर दिए गए अंक सर्ग-संख्या का संकेत करते हैं।

महो नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से,
जीवित है वह उसे फूंक सोना करने वालों से।
ज्वलित देख पंचाग्नि, जगत से निकल भागता योगी,
धुनी बनाकर उसे तापता अनासक्त रसभोगी।[1]

भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय

बात-बात पर ईश्वर की कृपा की याचना करने वाले, हर समस्या को लेकर भाग्य का रोना रोने वाले उदयकालीन दिनकर में अब प्रचण्ड विश्वास की किरणें फूट पड़ी हैं। उनमें मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता और शक्ति आ गई है, मनुष्य की शक्ति पर उनका विश्वास दृढ़ हो गया है। मनुष्य की कर्मशक्ति और प्रज्ञा अब उन्हें दुर्लभ से दुर्लभ अभीष्ट की प्राप्ति में समर्थ जान पड़ती है। भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय की स्थापना करते हुए वे कहते हैं—

ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा—
करते निरुद्यमी प्राणी,
धोते वीर कु-अंक भाल का
बहा भ्रुवों से पानी।[2]

निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय

ग्लानि और पश्चाताप के आँसुओं से धुल कर युधिष्ठिर के अधीर हृदय को आशा की एक किरण प्राप्त हुई। वह आशा जो पुण्य और पाप दोनों वृत्तों पर खिलती है; जो इसका रहस्य पा लेता है वही मानव-समाज का हितैषी, धर्म का प्रणेता और अग्रणी होता है। विरोगी युधिष्ठिर को धर्मक्षेत्र में प्रत्यागत पाकर भीष्म निवृत्ति और विराग का खण्डन करते हुये जीवन की समस्याओं और यथार्थवादी समाधान में ही धर्म के सच्चे रूप की स्थापना करते हैं। संन्यास मन की कायरता है, जीवन से पलायन है, मनुष्य का सच्चा धर्म है। जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना—मानवों के लिए समर्पित हो जाने में ही मानव की सार्थकता है। निवृत्ति का मार्ग वैयक्तिक मोक्ष का मार्ग है, परन्तु वैयक्तिक मोक्ष धर्म नहीं है। समष्टि के लिए मोक्ष-दान की अनवरत चेष्टा ही धर्म का सच्चा स्वरूप है। यतीधर्म जीवन से पलायन का नाम है। मनुष्य जीवन के तिक्त और कटु अंश से बचता है, केवल मधुर का ग्रहण करना चाहता है, अपनी इच्छाओं और कामनाओं के विपरीत परिस्थितियाँ उसकी आँखों में आँसू भर देती हैं; लेकिन जीवन में सफलता और असफलता सदैव अपनी इच्छानुसार नहीं प्राप्त हो सकती।—जीवन एक अरण्य है, जो चाहे अपने

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७।
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०६।

दर्शन और विचार से संपुष्ट करके निर्धारित किए गए हैं। कुरुक्षेत्र पर जिन दो विचारकों का प्रभाव दिनकर स्वीकार करते हैं, वे हैं बर्ट्रेण्ड रसेल तथा लोकमान्य तिलक। वर्तमान जीवन की समस्याओं के निरूपण में रसेल के विभिन्न ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया गया है तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति और कर्मयोग के विश्लेषण में वे तिलक की कृति गीता-रहस्य से प्रभावित रहे हैं।

कुरुक्षेत्र का काव्य-रूप

दिनकर के प्रबन्ध काव्यों के दो प्रमुख भेद हैं। प्रथम, परम्परागत प्रबन्ध-काव्य जिसमें मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-परम्परा का अनुसरण किया गया है। इसमें कथानकचयन, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य, इत्यादि तत्त्वों का निर्वाह पुरानी शैली से ही हुआ है। इस परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि काव्य है रश्मिरथी। द्वितीय कोटि के प्रबन्ध काव्यों को विचार-प्रधान काव्य की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें कृति का केन्द्र-विन्दु कोई न कोई समस्या है और उसके विकास तथा उद्घाटन के लिए कार्य-व्यापार की योजना तथा पात्रों की गतिविधियों का निर्धारण किया गया है। इस वर्ग की प्रबन्ध कृतियां हैं कुरुक्षेत्र, उर्वशी और परशुराम की प्रतीक्षा। ये तीनों ही कृतियां वर्तमान युग की किसी न किसी समस्या की प्रेरणा से लिखी गई हैं। प्रथम दो कृतियों में समस्या का रूप सार्वभौम है और तीसरी का देशीय और राष्ट्रीय। तीनों में ही ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का अनुपात किसी न किसी रूप में विद्यमान है, परन्तु ये दोनों ही तत्त्व कवि की विचारधारा के वाहक मात्र हैं और इनका उपयोग सम्बद्ध समस्या की उपस्थापना और विकास के लिए ही किया गया है।

कुरुक्षेत्र को सर्गबद्ध प्रबन्ध का रूप दिया गया है इसलिए उसमें कवि को अपनी ओर से भी बोलने का अधिकार और अवकाश है। प्रथम सर्ग में कवि स्वयं समस्या की स्थापना करता है, पंचम सर्ग तक, कभी युधिष्ठिर कभी भीष्म और कभी स्वयं कवि के द्वारा प्रश्न के विविध और परस्पर विरोधी पहलुओं का व्याख्यान और विश्लेपण हुआ है। परम्परावादी प्रबन्ध-काव्यों की तरह यहाँ कथा का विकास अथवा चरित्र-चित्रण कवि का ध्येय नहीं रहा है। केवल विचारसूत्र को आगे बढ़ाने के लिए ही विभिन्न सर्गों की योजना हुई है। छठे सर्ग में कवि द्वापर, युधिष्ठिर और भीष्म को छोड़कर बीसवीं शती में आकर वर्तमान युग की समस्याओं का स्वयं आख्यान करता है। सप्तम सर्ग में उस जीवन-दृष्टि की स्थापना होती है, जहाँ वह युद्ध के समाधान की सम्भावनाएं देखता है। कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध-विधान का यही विकास निम्नांकित रेखाओं द्वारा समझा जा सकता है। रेखाओं पर दिए गए अंक सर्ग-संख्या का संकेत करते हैं।

से न द्विधा मिट सकती है और न जगत् को छोड़ देने से मन की तृष्णा बुझ सकती है। आत्मा के सन्तोष का मार्ग आत्म-हनन नहीं उन्नयन है—उन्नयन भी काल्पनिक भगवान् के प्रति नहीं, समाज के प्रति, मानव के प्रति, विश्व के प्रति।

जीवन की मृत्यु पर विजय

कलियों के मुरझाने को ही जीवन की अन्तिम परिणति मानने वाले दिनकर की दृष्टि अब बिल्कुल ही बदल गई है। पच्चीस वर्ष की अवस्था में अपनी मृत्यु की कल्पना करने वाले कवि की कुंठा ने अब जीवन में पूर्ण विश्वास और आस्था का रूप ले लिया है। जीवन की नित्यता उसे सत्य जान पड़ती है, सृष्टि के अनवरत और अथक क्रम में उसे अमरता के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—

पर निर्विघ्न सरणि जग की
तब भी चलती रहती है,
एक शिखा ले भार अपर का
जलती ही रहती है।
झड़ जाते हैं कुसुम जीर्ण दल
नये फूल खिलते हैं;
रुक जाते कुछ, दल में फिर
कुछ नये पथिक मिलते हैं।[1]

यतीधर्म का खण्डन करते हुये भी मरण पर जीवन की विजय का प्रतिपादन किया गया है। अकर्मण्य ज्ञानी, रो-रो कर अमर नहीं हो जाता, और कर्म का भार ढोने के कारण किसी व्यक्ति की आयु कम नहीं हो जाती। जिस व्यक्ति के मन पर हर समय नश्वरता का धुआँ छाया रहता है, मृत्यु के अतिरिक्त जिसे और कुछ नहीं दिखाई देता, वह जगत् के रण में सन्नद्ध होकर लड़ने में असमर्थ रहता है—जीवन की उपेक्षा और मरण के चिन्तन से व्यक्ति अकर्मण्य हो जाता है।[2] तृष्णा को जीतने के प्रयत्न में निवृत्तिकामी यती बन जाता है, कर्मयोगी उसे अपने संयम और उन्नयन से जग में रह कर ही वश में करता है। असंख्य मनुष्यों को अपना बनाकर उनके दुःख और सुख में समभागी होकर, पंगु को अपनी बाँहों का सहारा देकर, दुर्बल-दरिद्र का बोझ उठा देने पर जिस आत्म-सुख की प्राप्ति होती है, तृष्णा के शमन और उन्नयन का सच्चा तथा सही मार्ग वही है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र में 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर की अनेक रुग्ण और असंतुलित भावनाओं और विचारों का मूलोच्छेदन हो गया है। मृत्यु पर जीवन, भाग्य पर कर्म, पाप पर पुण्य के विजय की

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३२।
२. वही, पृष्ठ १३१।

३९

अंधा युग

डा० सुरेशचन्द्र गुप्त

धर्मवीर भारती का बहुचर्चित काव्य-रूपक 'अंधा युग' वर्तमान काल की श्रेष्ठ कृतियों में से एक है। इसकी रचना १९५४ ई० में हुई थी, संक्षिप्त रूपांतरण आकाशवाणी के सभी प्रमुख केन्द्रों से प्रसारित हुआ था और इसे कन्नड़ भाषा में अनूदित किया गया था। इसमें महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या का वातावरण, कौरव-पाण्डव-युद्ध का परिणाम, युधिष्ठिर का राज्यकाल, प्रभास वनक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु आदि घटना-स्थितियाँ अंकित हैं। इसकी कथावस्तु प्रख्यात है जिसके संयोजन में एक ओर 'विष्णु पुराण' के संदर्भ विशेष से प्रेरणा ली गई है और दूसरी ओर घटना-विन्यास तथा पात्र-विधान में कल्पना का समुचित उपयोग हुआ है। काल-विस्तार की दृष्टि से इसका कथा-पट अधिक विस्तृत नहीं है तथापि लेखक ने उसे पाँच अंकों में विभाजित करने के अतिरिक्त 'स्थापना', 'अंतराल' और 'समापन' शीर्षक नाटकीय संदर्भों के अंतर्गत कथानक के आरम्भ, विकास और अन्त का आरोह-अवरोहयुक्त कुशल संयोजन किया है। किन्तु, भारती इसके काव्य-रूप के सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हैं—उन्होंने इसे 'दृश्यकाव्य', 'काव्य', 'गीतिनाट्य' और 'लम्बा नाटक' कहा है[1] जबकि इसे इनमें से किसी के भी अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। 'दृश्यकाव्य' शब्द गद्य-नाटक के लिए रूढ़ है, गद्य के अनेकत्र प्रयोग के कारण यह केवल 'काव्य' भी नहीं है, मुक्त छन्द के लयात्मक प्रवाह के बावजूद गीतितत्त्व के अभाव में इसे 'गीतिनाट्य' नहीं कहा जा सकता और 'लम्बा नाटक' यह इसलिए नहीं है कि न तो इसका वस्तु-विस्तार अधिक है और न यह केवल नाटक है। ध्वनि-प्रभाव, स्वरकंप आदि पर बल के कारण 'अंधा युग' को 'रेडियो रूपक' अथवा 'रेडियो नाटक' भी कहा जा सकता है, किन्तु क्योंकि इसकी अभिनेयता अथवा रंगधर्मिता संदिग्ध नहीं है और इसमें कवित्व तथा नाट्यगुणों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध है, अतः इसे काव्य-रूपक अथवा

१. देखिए 'अन्धा युग', द्वितीय सं०, १९६७ 'निर्देश', पृष्ठ ४-५।

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिरायें तोड़ो, डालियाँ कतर दो।[1]

हिंसात्मक क्रान्ति की यह प्रेरणा रूसी साम्यवादी व्यवस्था से नहीं बल्कि भारतीय राजनीति क्षेत्र के उन व्यक्तियों और संस्थाओं से ग्रहण की गई है जो गांधी युग में भी हिंसा और आतंकवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। 'कुरुक्षेत्र' की क्रान्ति 'रेणुका' की क्रान्ति नहीं रह गई है उसमें उत्तेजना कम उत्साह अधिक है।

वैयक्तिक भोगवाद के खण्डन और समष्टि हित-दृष्टि की स्थापना कुरुक्षेत्र में कई बार की गई है:

तज समष्टि को व्यष्टि चली थी
निज को सुखी बनाने,
गिरी गहन दासत्व गर्त के
बीच स्वयं अनजाने।[2]

समष्टि-चिन्तन के साम्य के साथ-साथ बाह्य अथवा भौतिक साम्य को सम्यक् रूप से महत्त्व दिया गया है। भौतिक साम्य के इसी प्रतिपादन के आधार पर दिनकर को कभी-कभी प्रगतिवादी सिद्ध किया जाता रहा है। परन्तु भीष्म में हमारे पौराणिक विश्वास तथा आध्यात्मिकता के साथ भौतिक तत्त्वों के समन्वय के कारण उसमें अविश्वसनीयता का दोष नहीं आने पाता। यही नहीं भीष्म के मुख से प्रतिपादित किये जाने के कारण भौतिकवाद की एकांगिता अधूरेपन के स्थान पर उसमें सार्वभौमता और व्यापकता का समावेश हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। भूमि किसी की क्रीतदासी नहीं है, मिट्टी के रस, मुक्त प्रकाश, खुली हवा पर सबका समान अधिकार है। हर व्यक्ति को अपने विकास के लिए खुला आकाश चाहिए, परन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिक और आर्थिक वैषम्य मानवता के विकास में पर्वत के समान अड़े हुए हैं—इनके निराकरण में ही दिनकर मानवता की मुक्ति की कल्पना करते हैं—

न्यायोचित सुख सुलभ नहीं, जब तक मानव मानव को,
चैन कहां धरती पर तब तक, शान्ति कहां इस मन को?
जब तक मनुज मनुज का यह, सुख-भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।[3]

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०२।
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ११४।
३. वही, पृष्ठ १०१।

अनन्तर लेखक ने जिन कथा-सूत्रों और परिस्थितियों का संयोजन किया होगा उनका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण के सन्दर्भो में भी उन्होंने अधिकतर उग्र दृश्यों को ग्रहण किया है। दावाग्नि का प्रसार, अग्नि द्वारा कुन्ती को निगल लेना, धधकते हुए बरगद के गिरने से धृतराष्ट्र और गांधारी की मृत्यु, जलती हुई शाखा के गिरने से संजय के घुटनों का झुलस जाना आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। (अंधा युग, पृष्ठ ११२-११५)। सत्य तो यह है कि भारती ने इस कृति में प्रकृति-चित्रण की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। तथापि प्रकृति के कोमल चित्र सर्वथा अप्राप्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां देखिए।

"थी वनतुलसा की गंध वहाँ, था पावन छायामय पीपल
जिसके नीचे धरती पर वैठे थे प्रभु शांत, मौन, निश्चल।"

(अन्धा युग, पृष्ठ १२०)

इसमें सन्देह नहीं कि भारती ने 'अन्धा युग' के कथानक को विस्तार और सरलीकरण की ओर न ले जाकर गहराई और एकाग्रता की ओर उन्मुख रखा है और इस प्रकार कथा-काव्यों की प्रचलित भाव-संप्रेषण-पद्धति को युक्तिपूर्वक बदला है। घटनाक्रम के संयोजन में कुछ प्रसंगों को पृष्ठभूमिस्वरूप प्रस्तुत करना इसी प्रक्रिया का अंग है। गिद्धों का कौरव-नगरी पर से उड़ते हुए कुरुक्षेत्र की ओर जाना ऐसा ही प्रसंग है जिसे विदुर और प्रहरियों ने अशकुन-सूचक माना है अर्थात् इस घटना को भावी घटनाक्रम से संवद्ध रखना कवि का लक्ष्य रहा है। (अन्धा युग, पृष्ठ १४-१५)। इसी प्रकार कहीं-कहीं पूर्वघटित घटनावली को पात्रविशेष द्वारा सूचित कराया गया है। इस दृष्टि से प्रहरियों के संवाद विशेषतः उल्लेखनीय हैं। (अंधा युग पृष्ठ १२-१३, ११५) वातावरण की सशक्त व्यंजना के लिए कवि ने कहीं-कहीं कौरवों के विगत गौरव का भी संकेतस्वरूप कथन किया है। कौरव-सभा के गलियारों के रत्नजटित फ़र्श, धृतराष्ट्र के रत्नजटित सिंहासन, दुर्योधन के स्वर्णकक्ष आदि का उल्लेख कौरव-पक्ष की दुर्दशा की प्रभाव-तीव्रता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है (अंधा युग, पृष्ठ १२, ८७, ८८)। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि इस कृति में मैथिलीशरण गुप्त जैसी वैष्णव-भक्ति का उत्कर्ष भी लक्षित होता है। कवि ने इसकी रचना कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति भावपूर्वक की है और वर्ण की सार्थक प्रस्तुति में सहायक शिल्पगुण को उन्हीं की कृपा से प्राप्य माना है :

"दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूं तुम्हारा करुण रहस्य-मरण।"

(अन्धा युग, पृष्ठ ११६)

में वे पृथ्वी से पैर उठाकर आकाश में नहीं उड़ते। बल्कि आकाश की ऊँचाई पर पहुँच कर भी धरती का आधार लिए रहते हैं। इसलिए कुरुक्षेत्र के दर्शन का क्रियात्मक पक्ष बड़ा सबल है। पुरुष के पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना वह ओज और करुणा, आध्यात्मिक बल और शारीरिक बल के समन्वय में करते हैं। मनःशक्ति और पौरुष, क्षमा और शौर्य, दया और दर्प जैसे विरोधी गुण एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा अधूरा है—

सच पूछो तो, शर में ही बसती है दीप्ति विजय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसीका, जिसमें शक्ति विजय की।
सहनशीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।[1]

दिनकर की इन मान्यताओं के मूल में उनके युग की वे विरोधी शक्तियां हैं जो भारतीय राजनीति में एक दूसरे से टक्कर ले रही थीं। गांधी की राजनीति में आध्यात्मिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि कभी-कभी उस युग के युवकों और उग्रता में विश्वास करने वाले अन्य वर्ग के लोगों को उसके प्रति खीझ होती थी। 'हुँकार' और 'कुरुक्षेत्र' से पहले लिखे गए 'सामधेनी' के गीतों में दिनकर उसके विरुद्ध आवाज उठाते आ रहे थे, परन्तु कुरुक्षेत्र में आकर उन्होंने दोनों के बीच समन्वय का मार्ग स्वीकार कर लिया है, और व्यक्ति तथा समष्टि दोनों ही स्तरों पर उदात्त की साधना के लिए शारीरिक शक्ति को साधन रूप में अनिवार्य माना है।

स्नेह और धर्म का समन्वय

राग और विवेक का द्वन्द्व मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या होती है। हृदय चाहता है वह करना जो इसे अच्छा लगता है, और मस्तिष्क उसके सामने मर्यादा तथा कर्त्तव्य के बन्धन फैला कर उससे वह करवाना चाहता है जो करना चाहिए। कामनाओं के मूल में प्रवृत्तियां होती हैं, आदर्श के मूल में विवेक। अपने वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों के निर्णय में इन्हीं तथ्यों का मूल्यांकन मनुष्य को करना पड़ता है, जब कभी इसमें गलती होती है, व्यक्ति अपने अभीष्ट से, आदर्श से च्युत होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

राग और बुद्धि मिल कर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। कर्त्तव्य के प्रति उत्साह तभी हो सकता है जब उसमें राग की प्रेरणा हो–हृदय और बुद्धि, आदर्श और यथार्थ, स्नेह और धर्म की समन्विति ही सिद्धि में सहायक होती है। कर्म अथवा धर्म के बिना स्नेह अव्यावहारिक और अर्थहीन होगा, स्नेह की प्रेरणा के बिना कर्मरत मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह जाएगा। भीष्म के व्यक्तित्व में इन्हीं सत्यों

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २९।

अनन्तर लेखक ने जिन कथा-सूत्रों और परिस्थितियों का संयोजन किया होगा उनका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण के सन्दर्भो में भी उन्होंने अधिकतर उग्र दृश्यों को ग्रहण किया है। दावाग्नि का प्रसार, अग्नि द्वारा कुन्ती को निगल लेना, धधकते हुए बरगद के गिरने से धृतराष्ट्र और गांधारी की मृत्यु, जलती हुई शाखा के गिरने से संजय के घुटनों का झुलस जाना आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। (अंधा युग, पृष्ठ ११२-११५)। सत्य तो यह है कि भारती ने इस कृति में प्रकृति-चित्रण की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। तथापि प्रकृति के कोमल चित्र सर्वथा अप्राप्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए।

"थी वनतुलसा की गंध वहाँ, था पावन छायामय पीपल
जिसके नीचे धरती पर बैठे थे प्रभु शांत, मौन, निश्चल।"

(अन्धा युग, पृष्ठ १२०)

इसमें सन्देह नहीं कि भारती ने 'अन्धा युग' के कथानक को विस्तार और सरलीकरण की ओर न ले जाकर गहराई और एकाग्रता की ओर उन्मुख रखा है और इस प्रकार कथा-काव्यों की प्रचलित भाव-संप्रेषण-पद्धति को युक्तिपूर्वक बदला है। घटनाक्रम के संयोजन में कुछ प्रसंगों को पृष्ठभूमिस्वरूप प्रस्तुत करना इसी प्रक्रिया का अंग है। गिद्धों का कौरव-नगरी पर से उड़ते हुए कुरुक्षेत्र की ओर जाना ऐसा ही प्रसंग है जिसे विदुर और प्रहरियों ने अशकुन-सूचक माना है अर्थात् इस घटना को भावी घटनाक्रम से संवद्ध रखना कवि का लक्ष्य रहा है। (अन्धा युग, पृष्ठ १४-१५)। इसी प्रकार कहीं-कहीं पूर्वघटित घटनावली को पात्रविशेष द्वारा सूचित कराया गया है। इस दृष्टि से प्रहरियों के संवाद विशेषतः उल्लेखनीय हैं। (अंधा युग पृष्ठ १२-१३, ११५) वातावरण की सशक्त व्यंजना के लिए कवि ने कहीं-कहीं कौरवों के विगत गौरव का भी संकेतस्वरूप कथन किया है। कौरव-सभा के गलियारों के रत्नजटित फ़र्श, धृतराष्ट्र के रत्नजटित सिंहासन, दुर्योधन के स्वर्णकक्ष आदि का उल्लेख कौरव-पक्ष की दुर्दशा की प्रभाव-तीव्रता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है (अंधा युग, पृष्ठ १२, ८७, ८८)। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि इस कृति में मैथिलीशरण गुप्त जैसी वैष्णव-भक्ति का उत्कर्ष भी लक्षित होता है। कवि ने इसकी रचना कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति भावपूर्वक की है और वर्ण की सार्थक प्रस्तुति में सहायक शिल्पगुण को उन्हीं की कृपा से प्राप्य माना है :

"दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य-मरण।"

(अन्धा युग, पृष्ठ ११६)

में वे पृथ्वी से पैर उठाकर आकाश में नहीं उड़ते। बल्कि आकाश की ऊँचाई पर पहुँच कर भी धरती का आधार लिए रहते हैं। इसलिए कुरुक्षेत्र के दर्शन का क्रियात्मक पक्ष बड़ा सबल है। पुरुष के पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना वह ओज और करुणा, आध्यात्मिक बल और शारीरिक बल के समन्वय में करते हैं। मनःशक्ति और पौरुष, क्षमा और शौर्य, दया और दर्प जैसे विरोधी गुण एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा अधूरा है—

सच पूछो तो, शर में ही बसती है दीप्ति विजय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसीका, जिसमें शक्ति विजय की।
सहनशीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।[1]

दिनकर की इन मान्यताओं के मूल में उनके युग की वे विरोधी शक्तियां हैं जो भारतीय राजनीति में एक दूसरे से टक्कर ले रही थीं। गांधी की राजनीति में आध्यात्मिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि कभी-कभी उस युग के युवकों और उग्रता में विश्वास करने वाले अन्य वर्ग के लोगों को उसके प्रति खीझ होती थी। 'हुँकार' और 'कुरुक्षेत्र' से पहले लिखे गए 'सामधेनी' के गीतों में दिनकर उसके विरुद्ध आवाज उठाते आ रहे थे, परन्तु कुरुक्षेत्र में आकर उन्होंने दोनों के बीच समन्वय का मार्ग स्वीकार कर लिया है, और व्यक्ति तथा समष्टि दोनों ही स्तरों पर उदात्त की साधना के लिए शारीरिक शक्ति को साधन रूप में अनिवार्य माना है।

स्नेह और धर्म का समन्वय

राग और विवेक का द्वन्द्व मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या होती है। हृदय चाहता है वह करना जो इसे अच्छा लगता है, और मस्तिष्क उसके सामने मर्यादा तथा कर्त्तव्य के बन्धन फैला कर उससे वह करवाना चाहता है जो करना चाहिए। कामनाओं के मूल में प्रवृत्तियाँ होती हैं, आदर्श के मूल में विवेक। अपने वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों के निर्णय में इन्हीं तथ्यों का मूल्यांकन मनुष्य को करना पड़ता है, जब कभी इसमें गलती होती है, व्यक्ति अपने अभीष्ट से, आदर्श से च्युत होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

राग और बुद्धि मिल कर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। कर्त्तव्य के प्रति उत्साह तभी हो सकता है जब उसमें राग की प्रेरणा हो—हृदय और बुद्धि, आदर्श और यथार्थ, स्नेह और धर्म की समन्विति ही सिद्धि में सहायक होती है। कर्म अथवा धर्म के बिना स्नेह अव्यावहारिक और अर्थहीन होगा, स्नेह की प्रेरणा के बिना कर्मरत मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह जाएगा। भीष्म के व्यक्तित्व में इन्हीं सत्यों

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २९।

है। धृष्टद्युम्न की निर्दयतापूर्ण हत्या, पांडव-शिविर का विध्वंस, अर्जुन के नाश के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग आदि प्रसंग इसी मनःस्थिति के परिणाम हैं जिनके लिए उसे व्यास, युधिष्ठिर और युयुत्सु ने तो 'नरपशु' कहा ही है, अन्ततः स्वयं अपनी दृष्टि में भी वह नरपशु रहा है।[1] दुर्योधन के प्रति अनन्य निष्ठा के कारण उसने उसकी पराजय पर दुःखावेग में धनुष तोड़ दिया, अपने 'नपुंसक अस्तित्व' पर आंतरिक विक्षोभ-पीड़ा का अनुभव किया और अंततः प्रतिशोध की बलवती इच्छा के कारण कौरव-पक्ष के अन्तिम सेनापति के रूप में पांडवों के विनाश के लिए क्रूर साधन अपनाये।[2] क्रूरता के आवेश में किसी के भी वध के लिए आकुल अश्वत्थामा ने नीति और मानवता को सर्वथा भुला दिया जैसा कि कृपाचार्य के प्रति उसकी इस उक्ति से स्पष्ट है: "वध मेरे लिए नहीं रही नीति, वह है अब मेरे लिए मनोग्रंथि।"[3] इस मनोग्रंथि के कारण ही संजय का गला दबोचना, दुर्योधन की विजय की भविष्यवाणी करने वाले वृद्ध याचक का वध, उत्तरा के गर्भनाश के उद्देश्य से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग आदि घटनाएँ घटित हुईं।[4] किन्तु अपनी वैष्णव-भावना के कारण कवि ने अश्वत्थामा के इस ओज-भाव की अन्तिम परिणति को अत्यन्त करुण बना दिया है—कृष्ण के शापवशात् उसे जो रोगजड़ता प्राप्त हुई वह तभी दूर हो सकी जब व्याध के बाण-प्रहार से कृष्ण के पैर से नीला रक्त और पीप निकली! और इस घटना ने कृष्ण के कट्टर समीक्षक अश्वत्थामा को सहसा उनके प्रति परम आस्थावान बना दिया!!

प्रस्तुत कृति में दूसरा सबल व्यक्तित्व गांधारी का है। जिस प्रकार गुप्त जी ने ऊर्मिला, कैकेयी, सैरन्ध्री, शूर्पणखा आदि उपेक्षित नारी पात्रों को वाणी दी है उसी प्रकार गांधारी के चरित्र को प्रकाश में लाने का श्रेय धर्मवीर भारती को है। पति का अनुकरण कर दृष्टि-सुख से वंचित रहने पर भी वे नारी-मर्यादा संबंधी किन्हीं रूढ़ धारणाओं में बंधकर नहीं रह गई हैं, अपितु उन्होंने अपने मंतव्यों को धृतराष्ट्र की तुलना में कहीं अधिक आवेश के साथ व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने वस्तुस्थिति का सर्वत्र विवेक और धैर्यपूर्वक विश्लेषण नहीं किया तथापि उनकी स्पष्टवादिता और उग्र प्रतिक्रियाओं में उनका तेज भलीभांति व्यक्त हुआ है। यद्यपि कृष्ण के प्रति तीव्र आक्रोश व्यक्त करना, जगत् के आडंबर के प्रति घृणा प्रकट करना, ईश्वर को वंचक कहना, धृष्टद्युम्न को वध के पूर्व अंधा कर देने वाले अश्वत्थामा को दयालु मानना आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनके लिए गांधारी को हृदयहीन कहा जा सकता है (अंधा युग, पृष्ठ २०, २१, २२, ७९)। तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि जिसके

---

१. देखिए 'अंधा युग' पृष्ठ ६२, १०६, १२३, १२३।
२. देखिए 'अंधा युग', पृष्ठ ३३, ३५, ८१-८३।
३. अंधा युग, पृष्ठ ३८।
४. देखिए 'अंधा युग', पृष्ठ ३[illegible] ४३, ९४।

और अन्त में अपने व्यक्तित्व में कर्त्तव्य और भावना के अस्वाभाविक और असंपृक्त सम्बन्ध की आलोचना करते हुए मानो वे इस बात की घोषणा करते हैं कि हृदय और मस्तिष्क की द्विधा में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के पालन में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता। कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए वे अपने इसी खण्डित व्यक्तित्व को उत्तरदायी मानते हैं—

प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।[1]

शौर्य और करुणा का समन्वय

करुणा और शौर्य विरोधी भाव माने जाते हैं। पर दिनकर की अर्धनारीश्वर भावना में 'करुणा' की कोमलता और 'वीर' की परुषता साथ-साथ चलती है। पहले पहल करुणा और शौर्य का यह समन्वय कलिंग-विजय के अशोक में किया गया था—

गिर गया हृतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अजेय।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।[2]

कुरुक्षेत्र में इस समन्वय की कल्पना पहले की अपेक्षा अधिक ठोस धरातल पर की गई है। पंचम सर्ग के आरम्भ में भीष्म और युधिष्ठिर को नेपथ्य में भेज कर कवि सूत्रधार के रूप में स्वयं समाने आकर उस पृष्ठभूमि का विवेचन करता है जिसमें उसकी मान्यताएँ घोषित होती हैं। युद्ध से संतप्त विश्व के लिए छाया खोजने के प्रयास में विफल वह सर्वत्र हिंसा और नाश के ही दृश्य देखता है। उसे इतिहास के पृष्ठ रक्त-रंजित, ज्वालामय और मनुष्य के कच्चे माँस के जलने की दुर्गन्ध से भरे हुये दिखाई देते हैं। सभ्यता के विकास के साथ शक्ति के केन्द्रीकरण में भी वह विजयी के स्वार्थ, मद, हिंसा-प्रयोग, और पराजित की कुंठा, क्रोध और घुटन देखता है, और फिर तलवार के साथ कलम का सहयोग इसी संहार की प्रतिष्ठा कर उसे अमर बना देता है। कविता और कला का आलम्बन बन कर संहार का दानव, देवता बन जाता है, उसमें समस्त दानवी कृत्यों और राक्षसी वृत्तियों को शौर्य का नाम देकर उसे अमर बना दिया जाता है। सैन्य-शक्ति ही जहाँ श्रेष्ठता का मापदण्ड हो, वहाँ जीवन के उदात्त गुणों का क्या महत्त्व रह जायेगा? सहस्रों लाखों व्यक्तियों की हत्या का पाप जहाँ पुण्य बन कर हँसता हो, वहाँ करुणा, दया,

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६२।
२. सामधेनी, पृष्ठ ४६।

अन्तर्दर्शन सम्भव रहा और वे अपने अंधेपन पर क्षुब्ध हो सके। (अंधा युग, पृष्ठ ४८-४९) इस प्रकार उनका व्यक्तित्व दुर्बल होते हुए भी सशक्त है—पुत्र-नाश, दावाग्नि-प्रसंग आदि में उन्होंने गांधारी की तुलना में अधिक धीरता प्रकट की है। युद्ध के कटु सत्य के समक्ष उन्होंने अपने वैयक्तिक मूल्यों की निस्सारता को जिस दृढ़ता से स्वीकार किया और आकार-चित्रों की दर्शनादिजनित अनुभूति के अभाव में अपने श्रुत ज्ञान को जिस ढंग से अपूर्ण माना वह अद्वितीय है। उदाहरणार्थ विदुर के प्रति उनकी निम्नलिखित उक्ति देखिए :

'मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदण्ड था ही नहीं।
(पृ० १८)।

'अंधा युग' में कृष्ण को दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और ईश्वर के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु इस संदर्भ में, विभिन्न पात्रों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न रही हैं। विदुर उन्हें प्रभु मानते हैं और 'प्रभु की मृत्यु' शीर्षक प्रकरण में कवि का मन्तव्य भी यही रहा है, किन्तु गांधारी और वृद्ध याचक को इसमें संशय है। (पृष्ठ २३,२४,९८,११९) महाभारत के परिणाम को देखकर गांधारी कृष्ण के प्रति विक्षुब्ध हो गई थीं, किन्तु पांडवों का पक्ष लेने पर भी कृष्ण ने गांधारी का सदैव सम्मान किया और उनके शाप को धैर्यपूर्वक ग्रहण किया। कवि ने इस प्रसंग को भक्ति-भाव से चित्रित किया है, किन्तु युयुत्सु के शब्दों में शाप के वशीभूत होकर कृष्ण ने 'मरने का नाटक' रचा है जो उनकी कायरता का प्रतीक है। (पृष्ठ १२३-१२४) इस सन्दर्भ में कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा, वृद्ध याचक आदि के पाप-फल का वहन करना अतिप्राकृत घटनाक्रम का उदाहरण है। (पृ० १००, १२६)। इसमें सन्देह नहीं कि कवि ने भारत की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप ईश्वर के प्रति जो आस्था प्रकट की है वह आज के भौतिकवादी युग में ज्यों की त्यों स्वीकार्य नहीं रह गई है।

प्रस्तुत काव्य-रूपक में युयुत्सु के चरित्र को भी कल्पना के आश्रयपूर्वक नव प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कवि ने उसे एक ओर अन्याय के विरुद्ध सत्य के पक्ष में लड़नेवाला योद्धा बताया है और दूसरी ओर इसे ही उसकी नियति की विडम्बना की संज्ञा दी है : 'मेरा अपराध सिर्फ इतना है, सत्य पर रहा मैं दृढ़।' (पृ० ५३) धृतराष्ट्र, कृपाचार्य और विदुर के अतिरिक्त (पृ० ९९, १०६-११०) कौरव-पक्ष के अन्य व्यक्तियों के मन में उसके प्रति जो अवमानना थी वह क्रमशः इतनी प्रत्यक्ष होती गई कि अन्ततः वह अर्द्धविक्षिप्त हो गया और अपनी विवशता में उसे आत्महत्या करनी पड़ी। जिन पांडवों के लिए उसने युद्ध किया वही, युधिष्ठिर के अतिरिक्त, उसके उपहासकर्ता सिद्ध हुए। इस परिस्थिति में कृष्ण भी उसके प्रति

तत्त्वों के स्वीकार को अपनी शक्ति के परीक्षण की कसौटी बना रहा है। फलस्वरूप वही विज्ञान जो लोक कल्याण और मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता था, मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन रहा है। ज्ञान और भावना के समन्वय का अभाव आज की अनेक समस्याओं के मूल में है।

यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास ?
चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश !
किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क कहीं निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।[1]

ज्ञान की भूख मनुष्य को अनिश्चित और उद्देश्यहीन मार्ग पर ले जा रही है। बुद्धि के पवमान में वह तिनके सा उड़ रहा है। आज का युग द्वापर की भाँति लाचार नहीं है, बुद्धि की पतवार संभाले अज्ञान के नभ को चीरता हुआ मनुष्य ज्योति की नई भूमि में आ गया है। सागर, भूमि, विद्युत्, भाप उसकी इच्छा पर कार्य करते हैं, पृथ्वी, आकाश और वरुणेश उसके हुक्म का पालन करते है परन्तु, ज्ञान, कर्म और भाव में सामंजस्य के अभाव के कारण वह अपने हाथ की तलवार से अपने ही ऊपर प्रहार करने की मूर्खता कर रहा है। विज्ञान के फूल उसके हाथ में वज्र बनकर अपना शुभ धर्म भूल गये हैं।[2]

हृदय और मस्तिष्क ज्ञान और भावना की इस असंपृक्त और खण्डित स्थिति को मिटाकर, उनके समन्वय में ही कवि ने विश्व के कल्याण का स्वप्न देखा है, विज्ञान के शिवरूप को ही मनुष्य का श्रेय माना है—

श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।[3]

इस प्रकार कुरुक्षेत्र में दिनकर की दृष्टि निर्भ्रान्त और स्पष्ट हो गई है। समष्टिमूलक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टिकोणों में कहीं अस्वस्थ और अवनयन मूलक तत्त्वों के निराकरण और कहीं विरोधी तत्त्वों के सामंजस्य के द्वारा वे स्थायी निष्कर्षों पर पहुंच गये हैं। जीवन के ये मूल्य कुरुक्षेत्र की पूर्वकालीन भावनाओं को

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९३।
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९३।
३. वही, पृष्ठ ९५।

युयुत्सु के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर उन्होंने अपनी सहृदयता का भलीभांति परिचय दिया है। कृतवर्मा ने भी वीरोचित मर्यादा का निर्वाह कर अश्वत्थामा की क्रूरताओं में उसका साथ देने में हिचकिचाहट प्रकट की है। अश्वत्थामा को 'पागल', कृपाचार्य को 'बूढ़ा' और स्वयं को 'कायर', कहकर उन्होंने स्थिति की विडंबना का स्पष्ट चित्र अंकित किया है। (पृ०६५) बलराम को प्रस्तुत कृति में केवल एक स्थान पर अभिव्यक्ति दी गई है जहाँ वे अपनी उद्धत प्रकृति के अनुरूप दुर्योधन के प्रति किये गए अन्याय के लिए कृष्ण को क्षमा नहीं कर पाते। (पृ० ६१-६२) इससे स्पष्ट है कि कवि ने वातावरण के सभी पक्षों पर सम्यक् रूप से विचार प्रकट किए हैं। वृद्ध याचक को उन्होंने मनस्वी चिन्तक के रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि उसकी प्रेतशक्ति, मन्त्रविद्या, मृत्यु के अनन्तर व्याध-रूप में मंच पर आना आदि अविश्वसनीय प्रसंग हैं तथापि इसमें सन्देह नहीं कि कवि के जीवन-दर्शन की प्रस्तुति में उसका विशेष योग रहा है। उदाहरणार्थ यह उक्ति देखिए :

"नियति नहीं है पूर्व निर्धारित—
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है (पृ० २४)

"अंधा युग के अन्य पात्रों में गूंगा सैनिक इसलिए ध्यान आकर्षित करता है कि रणक्षेत्र में अपंग और गूंगा हो जाने के कारण वह युद्ध की विभीषिका का साक्षात् उदाहरण है। अपनी वर्तमान दशा के लिए युयुत्सु को उत्तरदायी मानकर वह उसका घोर अपमान और तिरस्कार करता है तथा अन्ततः कृपाचार्य के हाथों मारा जाकर अपनी करुण नियति से मुक्त हो जाता है। कवि ने प्रहरियों को क्रियाशील पात्रों के रूप में अधिक स्थान नहीं दिया है, किन्तु समग्र घटना क्रम के तटस्थ द्रष्टा के रूप में उन्होंने अपनी अनुभूतियों को गम्भीरतापूर्वक व्यक्त किया है। व्यक्ति पर परिवेश के अनिवार्य प्रभाव को उनके माध्यम से इन शब्दों में वाणी दी गई है : "अंधे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे ?" (पृ० १४) यही कारण है कि कहीं तो वे "हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था" (पृ० २६) कहकर उदासीनता प्रकट करते हैं और कहीं "सूने गलियारे सा सूना यह जीवन भी बीत गया।" (पृ० २७) कहकर असन्तोष व्यक्त करते हैं। उनके द्वारा आस्था अनास्था, जीवन की सोद्देश्यता, मर्यादा के महत्त्व आदि का उल्लेख कवि के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति में निश्चय ही सहायक रहा है।

रंगमंचीय क्षमता

'अंधा युग' की रचना विशेषतः रंगमंच को दृष्टि में रखकर ही की गई है, भले ही इसका सफल रेडियो-रूपान्तरण हो चुका है। कवि के अनुसार, "मंच-विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंचवाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता

कुरुक्षेत्र का प्रबन्ध-विधान

कुरुक्षेत्र को प्रायः प्रबन्ध काव्य के परम्परागत तत्त्वों की कसौटी पर चढ़ा कर उसे उस दृष्टि से असफल सिद्ध कर दिया जाता है। इसे अनेक नाम दिए गए हैं। अनेक आलोचकों ने इसे महाकाव्य माना है, दूसरों ने खण्डकाव्य। केवल डा० नगेन्द्र ने उसे विचार-प्रधान प्रबन्ध कविता का नाम दिया है। प्रतिपाद्य के इस रूप को ध्यान में रखते हुए कुरुक्षेत्र का पुराने मापदण्डों पर मूल्यांकन ठीक नहीं जान पड़ता। यह बात मेरे मस्तिष्क में इसलिए प्रधान है कि अधिकतर परीक्षार्थियों के सामने प्रश्न रख दिए जाते हैं, 'कुरुक्षेत्र में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का विश्लेषण कीजिए।' कुरुक्षेत्र में उन्हीं ऐतिहासिक तत्त्वों का महत्त्व है जिनका कवि के विचारसूत्र में कुछ स्थान प्राप्त है। महाभारत में भीष्म कृत राजन्त्रविहीन समाज और ध्वसीकरण की नीति के साथ तो कुरुक्षेत्र के विचार की तुलना हो सकती है, परन्तु दिनकर के युधिष्ठिर और भीष्म के साथ महाभारत के पात्रों तथा कुरुक्षेत्र में आई हुई घटनाओं की महाभारत की घटनाओं से तुलना मेरे विचार से अनावश्यक और निरर्थक है। कुरुक्षेत्र के 'अंगीरस' के प्रश्न पर भी उसकी समस्या-प्रधानता के कारण एक प्रश्नचिन्ह सामने आ जाता है। अंगीरस के मुख्य प्रतिबन्ध ये हैं:

१. अंगीरस की निरन्तर व्याप्ति आवश्यक है।
२. अंगीरस को कृति के मूल प्रभाव का व्यंजक होना चाहिए।
३. प्रधान पात्र में उसका प्राधान्य होना चाहिए।
४. उसी के माध्यम से कृति के उद्देश्य की व्यंजना होनी चाहिए।

कुरुक्षेत्र में एक समस्या के दो पहलू एक साथ चलते हैं और प्रायः एक ही पात्र के द्वारा उसका विकास होता है। युधिष्ठिर की ग्लानि का उसमें कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह तो केवल द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करती है। 'कुरुक्षेत्र' में शौर्य और क्षमा, ओज और करुणा के जिस समन्वय का स्वर प्रधान है उसका रूप द्विविध है और इन दोनों ही पक्षों का विवेचन भीष्म करते हैं। छठे तथा सातवें सर्ग में जिस मानवतावादी, कर्मयोग की स्थापना हुई है उसे शौर्य के अन्तर्गत रखा जाएगा अथवा करुणा के? मेरे विचार से कुरुक्षेत्र के मूल प्रभाव की व्यंजना, किसी रस की निरन्तर व्याप्ति, उद्देश्य इत्यादि का उत्तर देने के लिए हमें एक नई दृष्टि से विचार करना होगा और परम्परागत रस-विधान के चौखटे से बाहर निकलना होगा, क्योंकि यहाँ कवि का राग बुद्धि-सम्पुष्ट है; उसके सामने एक समस्या है, जिस पर विचार करते समय रस-निष्पत्ति की निमग्नता और तल्लीनता नहीं आ सकती, उससे प्राप्त आनन्द बौद्धिक आनन्द है जिससे मस्तिष्क की ग्रन्थियां पहले खुलती हैं, हृदय उनका अनुसरण करता है।

प्रस्तुतीकरणविधि को प्रभावित करते हैं।"[१] वास्तव में किसी कृति के अभिनय में यह आवश्यक नहीं है कि सभी दृश्यों अथवा रंग-संकेतों का यथावत् निर्वाह किया जाये—रचना के सार-प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए निर्देशक द्वारा यथोचित परिवर्तन किये जा सकते हैं। किन्तु, इस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर ही रचना को अभिनेय अथवा अनभिनेय मान लेना भूल होगी। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या रचना विशेष में इतनी सार्थकता है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाये। जहाँ तक 'अँधा युग' का प्रश्न है, इसमें कौरव-पांडव-युद्ध के वातावरण और परिणामों का नवदृष्टि से मूल्यांकन किया गया है, अतः वस्तु-शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-नाटक रंगमंचीय अर्हता से युक्त है और यत्किंचित् परिवर्तनों तथा निर्देशक के जागरूक सहयोग से इसका प्रभावशाली अभिनय सम्भव है।

'अंधा युग' में प्रचुर रंग-संकेत हैं जो अभिनय और रेडियो से प्रसारण, दोनों में उपयोगी होंगे। यद्यपि भारती ने पात्रों की वेशभूषा की प्रायः चर्चा नहीं की है, किन्तु उन्होंने रंग-संकेतों की योजना विविध उद्देश्यों से की है—इनके द्वारा पात्रों की चेष्टाओं और भाव-भंगिमाओं को समझने में तो सुविधा होगी ही, ये मंच पर क्रियाशीलता बनाए रखने में भी सहायक हैं। पात्रों की क्रियाओं (सहारा लेकर चलना, सैनिक का घिसटते हुए आना, संकेत से पानी माँगना, हाँफना, आँख मूँदकर लेट रहना आदि) का प्रसंगानुसार विस्तृत उल्लेख इसका प्रमाण है। (पृष्ठ ४८-४९) इसी प्रकार उन्होंने उलूक और कौए से सम्बद्ध प्रासंगिक घटना को दीर्घ रंग-संकेत का रूप देकर उसे रोमांचक बना दिया है। (पृष्ठ ६८-६९) कवि ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। कृति के आरम्भ में नर्तक द्वारा नेपथ्य की उद्घोषणा के समय विभिन्न भाव-मुद्राओं का नाट्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। (पृष्ठ ९) शब्दों या वाक्यों के पुनर्पुनः प्रयोग द्वारा भी कवि ने जिज्ञासा-वर्द्धन के लिए शिल्प-प्रयोग किये हैं। उदाहरणस्वरूप गांधारी की यह उक्ति देखिए :

"फिर क्या हुआ ?
संजय फिर क्या हुआ ?" (पृष्ठ ७९)

'अंधा युग' की अभिनेयता पर विचार करने के प्रसंग में सवादों की सार्थकता और रंगधर्मिता का विवेचन भी अपेक्षित है। इस कृति के संवाद गत्वर, प्राणवान् और सशक्त है तथा उनमें अल्प विस्तार, वाक्य-विन्यास की संक्षिप्तता, प्रश्नवाचक उक्तियों, विस्मयादिबोधक वक्तव्यों आदि के माध्यम से मनोवेगों की तीव्र व्यंजना हुई है। कथानक में व्याप्त शोक और आक्रोश के अनुरूप संवादों की संक्षिप्तता

---

१. शोध और समीक्षा, डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, 'नाटक और रंगमंच' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४९।

कुरुक्षेत्र का प्रबन्ध-विधान

कुरुक्षेत्र को प्रायः प्रबन्ध काव्य के परम्परागत तत्त्वों की कसौटी पर चढ़ा कर उसे उस दृष्टि से असफल सिद्ध कर दिया जाता है। इसे अनेक नाम दिए गए हैं। अनेक आलोचकों ने इसे महाकाव्य माना है, दूसरों ने खण्डकाव्य। केवल डा० नगेन्द्र ने उसे विचार-प्रधान प्रबन्ध कविता का नाम दिया है। प्रतिपाद्य के इस रूप को ध्यान में रखते हुए कुरुक्षेत्र का पुराने मापदण्डों पर मूल्यांकन ठीक नहीं जान पड़ता। यह बात मेरे मस्तिष्क में इसलिए प्रधान है कि अधिकतर परीक्षार्थियों के सामने प्रश्न रख दिए जाते हैं, 'कुरुक्षेत्र में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का विश्लेषण कीजिए।' कुरुक्षेत्र में उन्हीं ऐतिहासिक तत्त्वों का महत्त्व है जिनका कवि के विचारसूत्र में कुछ स्थान प्राप्त है। महाभारत में भीष्म कृत राजतन्त्रविहीन समाज और ध्वसीकरण की नीति के साथ तो कुरुक्षेत्र के विचार की तुलना हो सकती है, परन्तु दिनकर के युधिष्ठिर और भीष्म के साथ महाभारत के पात्रों तथा कुरुक्षेत्र में आई हुई घटनाओं की महाभारत की घटनाओं से तुलना मेरे विचार से अनावश्यक और निरर्थक है। कुरुक्षेत्र के 'अंगीरस' के प्रश्न पर भी उसकी समस्या-प्रधानता के कारण एक प्रश्नचिन्ह सामने आ जाता है। अंगीरस के मुख्य प्रतिबन्ध ये हैं:

१. अंगीरस की निरन्तर व्याप्ति आवश्यक है।
२. अंगीरस को कृति के मूल प्रभाव का व्यंजक होना चाहिए।
३. प्रधान पात्र में उसका प्राधान्य होना चाहिए।
४. उसी के माध्यम से कृति के उद्देश्य की व्यंजना होनी चाहिए।

कुरुक्षेत्र में एक समस्या के दो पहलू एक साथ चलते हैं और प्रायः एक ही पात्र के द्वारा उसका विकास होता है। युधिष्ठिर की ग्लानि का उसमें कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह तो केवल द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करती है। 'कुरुक्षेत्र' में शौर्य और क्षमा, ओज और करुणा के जिस समन्वय का स्वर प्रधान है उसका रूप द्विविध है और इन दोनों ही पक्षों का विवेचन भीष्म करते हैं। छठे तथा सातवें सर्ग में जिस मानवतावादी, कर्मयोग की स्थापना हुई है उसे शौर्य के अन्तर्गत रखा जाएगा अथवा करुणा के? मेरे विचार से कुरुक्षेत्र के मूल प्रभाव की व्यंजना, किसी रस की निरन्तर व्याप्ति, उद्देश्य इत्यादि का उत्तर देने के लिए हमें एक नई दृष्टि से विचार करना होगा और परम्परागत रस-विधान के चौखटे से बाहर निकलना होगा, क्योंकि यहाँ कवि का राग बुद्धि-सम्पुष्ट है; उसके सामने एक समस्या है, जिस पर विचार करते समय रस-निष्पत्ति की निमग्नता और तल्लीनता नहीं आ सकती, उससे प्राप्त आनन्द बौद्धिक आनन्द है जिससे मस्तिष्क की ग्रन्थियां पहले खुलती हैं, हृदय उनका अनुसरण

प्रस्तुतीकरणविधि को प्रभावित करते हैं।"[1] वास्तव में किसी कृति के अभिनय में यह आवश्यक नहीं है कि सभी दृश्यों अथवा रंग-संकेतों का यथावत् निर्वाह किया जाये—रचना के सार-प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए निर्देशक द्वारा यथोचित परिवर्तन किये जा सकते हैं। किन्तु, इस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर ही रचना को अभिनेय अथवा अनभिनेय मान लेना भूल होगी। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या रचना विशेष में इतनी सार्थकता है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाये। जहाँ तक 'अंधा युग' का प्रश्न है, इसमें कौरव-पांडव-युद्ध के वातावरण और परिणामों का नवदृष्टि से मूल्यांकन किया गया है, अतः वस्तु-शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-नाटक रंगमंचीय अर्हता से युक्त है और यत्किंचित् परिवर्तनों तथा निर्देशक के जागरूक सहयोग से इसका प्रभावशाली अभिनय सम्भव है।

'अंधा युग' में प्रचुर रंग-संकेत हैं जो अभिनय और रेडियो से प्रसारण, दोनों में उपयोगी होंगे। यद्यपि भारती ने पात्रों की वेशभूषा की प्रायः चर्चा नहीं की है, किन्तु उन्होंने रंग-संकेतों की योजना विविध उद्देश्यों से की है—इनके द्वारा पात्रों की चेष्टाओं और भाव-भंगिमाओं को समझने में तो सुविधा होगी ही, ये मंच पर क्रियाशीलता बनाए रखने में भी सहायक हैं। पात्रों की क्रियाओं (सहारा लेकर चलना, सैनिक का घिसटते हुए आना, संकेत से पानी माँगना, हाँफना, आँख मूंदकर लेट रहना आदि) का प्रसंगानुसार विस्तृत उल्लेख इसका प्रमाण है। (पृष्ठ ४८-४९) इसी प्रकार उन्होंने उलूक और कौए से सम्बद्ध प्रासंगिक घटना को दीर्घ रंग-संकेत का रूप देकर उसे रोमांचक बना दिया है। (पृष्ठ ६८-६९) कवि ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। कृति के आरम्भ में नर्तक द्वारा नेपथ्य की उद्घोषणा के समय विभिन्न भाव-मुद्राओं का नाट्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। (पृष्ठ ९) शब्दों या वाक्यों के पुनर्पुनः प्रयोग द्वारा भी कवि ने जिज्ञासा-वर्द्धन के लिए शिल्प-प्रयोग किये हैं। उदाहरणस्वरूप गांधारी की यह उक्ति देखिए :

"फिर क्या हुआ ?
संजय फिर क्या हुआ ?" (पृष्ठ ७९)

'अंधा युग' की अभिनेयता पर विचार करने के प्रसंग में संवादों की सार्थकता और रंगधर्मिता का विवेचन भी अपेक्षित है। इस कृति के संवाद गत्वर, प्राणवान् और सशक्त हैं तथा उनमें अल्प विस्तार, वाक्य-विन्यास की संक्षिप्तता, प्रश्नवाचक उक्तियों, विस्मयादिबोधक वक्तव्यों आदि के माध्यम से मनोवेगों की तीव्र व्यंजना हुई है। कथानक में व्याप्त शोक और आक्रोश के अनुरूप संवादों की संक्षिप्तता

---

१. शोध और समीक्षा, डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, 'नाटक और रंगमंच' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४९।

काव्य-नाटक कहना उचित होगा। वैसे, इसमें उपर्युक्त काव्य-रूपों से अधिकांश की विशेषताओं का यत्किंचित् समन्वय हुआ है जिससे इसकी विभिन्न दृष्टियों से समीक्षा की जा सकती है। किन्तु, विवेचन की सुविधा के लिए हम सम्पूर्ण सम्भव सामग्री को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे : वस्तु-विन्यास, पात्र-परिकल्पना, रंगमंचीय क्षमता, शिल्प-विधान।

वस्तु-विन्यास

'अंधा युग' में सामान्यतः कथा-वृत्त के पूर्वापर क्रम का धारावाहिक निर्वाह मिलता है, भले ही दृश्य-परिवर्तन में शीघ्रता के कारण कथानक कहीं-कहीं जटिल हो गया है। लेखक ने कथा-संयोजन में परम्परागत रस-दृष्टि के स्थान पर विचार-प्रभाव पर बल दिया है अर्थात् केवल राग-तत्त्व पर दृष्टि केन्द्रित न रखकर बुद्धि-तत्त्व की भी आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठा की है। वस्तुतः यह कृति 'लोक-सामंजस्य की ओर प्रवृत्त मनःसुख' अथवा 'जीवन-संघर्ष के काव्यगत भावन से प्राप्य हर्ष-विषाद' की अभिव्यक्ति के लिए लिखी गई है।[1] जीवन मूल्यों के प्रति अखण्ड आस्था, सत्य के साक्षात्कार की अदम्य आकांक्षा और गम्भीर विश्लेषण-प्रतिभा को इसमें सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। इसमें यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समंजन मिलता है—विश्वव्यापी कुंठा, निराश मनःस्थिति, प्रतिशोध की विकृत भावना, रक्तपात, मृत्यु-बोध आदि के अन्तरंग विश्लेषण द्वारा जीवन के दुर्लभ सत्य की खोज से यही संकेतित है। इस संदर्भ में ऐतिहासिक तथ्यों, कल्पना, जीवन-दर्शन और चिन्तन को कवि ने अपने ढंग से संजोया है, कथा-काव्यों की सामान्य प्रचलित पद्धति के अनुकरण पर इतिवृत्तात्मक अथवा विवरणबद्ध प्रस्तुति उन्हें अभीष्ट नहीं रही। यद्यपि कृति का आरम्भ प्राचीन परिपाटी के अनुरूप मंगलाचरण से हुआ है जिसमें विष्णु, सरस्वती और व्यास की वन्दना है तथापि कवि का मूल उद्देश्य 'अन्तर की अंध गुफ़ाओं के वासी' *पथ-भ्रष्ट व्यक्तियों के जीवन-दर्शन को नवीन शैली* में प्रस्तुत कर उन्हें ज्योति की खोज में विकल दिखाना है : "कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से। (अंधा युग, पृष्ठ १०) इसीलिए इसमें युद्धकाल की विभीषिका, युद्धोपरान्त स्थितियों, मनोवृत्तियों और विकृत प्रतिक्रियाओं का यथार्थमूलक चित्रांकन किया गया है। लेखक ने युद्ध-काल के अन्तिम दिन की संध्या से कृति का आरम्भ किया है फलतः इसमें युद्ध के कारणों का विश्लेषण न कर युद्धकालीन हिंसा-वृत्ति और उसके भीषण परिणाम की ही चर्चा की गई है जिसमें कवि को सियारामशरण गुप्त के काव्य-रूपक 'उन्मुक्त' की भाँति यथेष्ट सफलता मिली है। कौरव-नगरी के

---

१. देखिए 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त,' पृष्ठ ५४०-५४१।

प्रस्तुतीकरणविधि को प्रभावित करते हैं।"[1] वास्तव में किसी कृति के अभिनय में यह आवश्यक नहीं है कि सभी दृश्यों अथवा रंग-संकेतों का यथावत् निर्वाह किया जाये—रचना के सार-प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए निर्देशक द्वारा यथोचित परिवर्तन किये जा सकते हैं। किन्तु, इस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर ही रचना को अभिनेय अथवा अनभिनेय मान लेना भूल होगी। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या रचना विशेष में इतनी सार्थकता है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाये। जहाँ तक 'अँधा युग' का प्रश्न है, इसमें कौरव-पांडव-युद्ध के वातावरण और परिणामों का नवदृष्टि से मूल्यांकन किया गया है, अतः वस्तु-शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-नाटक रंगमंचीय अर्हता से युक्त है और यत्किंचित् परिवर्तनों तथा निर्देशक के जागरूक सहयोग से इसका प्रभावशाली अभिनय सम्भव है।

'अंधा युग' में प्रचुर रंग-संकेत हैं जो अभिनय और रेडियो से प्रसारण, दोनों में उपयोगी होंगे। यद्यपि भारती ने पात्रों की वेशभूषा की प्रायः चर्चा नहीं की है, किन्तु उन्होंने रंग-संकेतों की योजना विविध उद्देश्यों से की है—इनके द्वारा पात्रों की चेष्टाओं और भाव-भंगिमाओं को समझने में तो सुविधा होगी ही, ये मंच पर क्रियाशीलता बनाए रखने में भी सहायक हैं। पात्रों की क्रियाओं (सहारा लेकर चलना, सैनिक का घिसटते हुए आना, संकेत से पानी माँगना, हाँफना, आँख मूँदकर लेट रहना आदि) का प्रसंगानुसार विस्तृत उल्लेख इसका प्रमाण है। (पृष्ठ ४८-४९) इसी प्रकार उन्होंने उलूक और कौए से सम्बद्ध प्रासंगिक घटना को दीर्घ रंग-संकेत का रूप देकर उसे रोमांचक बना दिया है। (पृष्ठ ६८-६९) कवि ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। कृति के आरम्भ में नर्तक द्वारा नेपथ्य की उद्घोषणा के समय विभिन्न भाव-मुद्राओं का नाट्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। (पृष्ठ ९) शब्दों या वाक्यों के पुनर्पुनः प्रयोग द्वारा भी कवि ने जिज्ञासा-वर्द्धन के लिए शिल्प-प्रयोग किये हैं। उदाहरणस्वरूप गांधारी की यह उक्ति देखिए :

"फिर क्या हुआ ?
संजय फिर क्या हुआ ?" (पृष्ठ ७९)

'अंधा युग' की अभिनेयता पर विचार करने के प्रसंग में संवादों की सार्थकता और रंगधर्मिता का विवेचन भी अपेक्षित है। इस कृति के संवाद गत्वर, प्राणवान् और सशक्त हैं तथा उनमें अल्प विस्तार, वाक्य-विन्यास की संक्षिप्तता, प्रश्नवाचक उक्तियों, विस्मयादिबोधक वक्तव्यों आदि के माध्यम से मनोवेगों की तीव्र व्यंजना हुई है। कथानक में व्याप्त शोक और आक्रोश के अनुरूप संवादों की संक्षिप्तता

---

१. शोध और समाधा, डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, 'नाटक और रंगमंच' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४९।

पात्र-परिकल्पना

'अंधा युग' में मुख्यतः पुरुष पात्रों का चरित्रांकन हुआ है, नारी पात्रों में प्रत्यक्ष रूप से केवल गांधारी की चर्चा की गई है जिसने चरित्र-शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका प्रस्तुत की है। यद्यपि अप्रत्यक्षतः विधवा कौरव बन्धुओं, उत्तरा, पांडव-शिविर में विद्यमान स्त्रियों और कुन्ती का भी उल्लेख मिलता है (अंधा युग, पृष्ठ २२, ७०, ८०, ११४), किन्तु इनकी चरित्र-रेखाओं को उभारना कवि को अभीष्ट नहीं रहा है। पुरुष पात्रों में अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, कृष्ण, युयुत्सु, विदुर, युधिष्ठिर, संजय और वृद्ध याचक की भूमिकाएँ मुख्य रही हैं तथा कृपाचार्य, कृतवर्मा, बलराम, दोनों प्रहरियों और गूंगे सैनिक को किंचित् गौण अभिव्यक्ति दी गई है। सामान्यतः कवि ने उपर्युक्त पात्रों के कथित ऐतिहासिक-पौराणिक गुणों की रक्षा की है, किन्तु वृद्ध याचक, गूंगे सैनिक और प्रहरियों के व्यक्तित्व कल्पित तथा प्रतीकात्मक हैं जिन्हें समकालीन यथार्थ की भूमिका पर चित्रांकित किया गया है। इसी प्रकार कथा-चक्र में शिव और व्यास का योगदान भी कल्पनाप्रसूत है। चरित्र-चित्रण के लिए कवि ने चार पद्धतियाँ अपनाई हैं—(अ) पात्रविशेष की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना, (आ) पात्रों की उक्तियों द्वारा एक-दूसरे की चरित्र-व्यंजना, (इ) गांधारी, अश्वत्थामा, विदुर आदि द्वारा अपने संवादों में किसी अन्य पात्र के विचारों अथवा कार्यों की समीक्षा, (ई) कवि द्वारा अपनी ओर से चरित्र-विश्लेपण। सामान्यतः काव्य-रूपक में इनमें से अन्तिम पद्धति का समावेश संभव नहीं होता, किन्तु भारती ने 'कथा-गायन' के अन्तर्गत इसका सफल निर्वाह किया है। उदाहरणार्थ भीमादि पांडव-बंधुओं का चरित्र-विश्लेपण देखिए :

"थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी।"[1]

(अंधा युग, पृष्ठ १०३)

'अंधा युग' के पात्रों में अश्वत्थामा का व्यक्तित्व सबसे अधिक ओजदीप्त रहा है। महाभारत के युद्ध के बाद बचे कौरव-पक्ष के वीरों में कृतवर्मा और कृपाचार्य की तुलना में उसका व्यक्तित्व अधिक सशक्त है। वह स्पष्टवादी, स्वाभिमानी और शूरवीर है, किन्तु युद्ध-काल की दो घटनाओं ने उसके विवेक को क्षीण कर ऐसा मानसिक तनाव उत्पन्न कर दिया कि वह मर्यादा का अतिक्रमण करने को विवश हो गया। ये घटनाएँ थीं—(अ) युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य के फलस्वरूप दुःखाभिभूत द्रोणाचार्य का धृष्टद्युम्न द्वारा वध, (आ) दुर्योधन से द्वन्द्वयुद्ध में भीम का नियमोल्लंघन। इनकी प्रतिक्रिया में उसने भाव-गोपन या वाक्छल का आश्रय न लेकर एक ओर युधिष्ठिर के पाखंड की निन्दा की है और दूसरी ओर इस घटनाक्रम के लिए कृष्ण को उत्तरदायी मानकर उनके प्रति अपने रोप को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त किया

के समय कहाँ तक साधक अथवा बाधक सिद्ध होगी। हमारे विचार में 'अंधा युग' की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट होने पर भी प्रायः व्यावहारिकता से सम्पुष्ट है। अभिनय के लिए अपेक्षित लयात्मकता, आवेश-प्रवेग, आरोह-अवरोह आदि से सम्पन्न होने के कारण इसकी भाषा में पर्याप्त नाटकीय सघनता विद्यमान है जो अभिनेय साहित्यिक कृतियों का अनिवार्य गुण है।

शिल्प-विधान

'अंधा युग' में वस्तु-संयोजन की मौलिकता की भाँति अभिव्यंजना-शिल्प की मार्मिकता की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इसमें एक ओर अभिनय के लिए उपयुक्त चित्रभाषा का प्रयोग है और दूसरी ओर रेडियो नाटक में अपेक्षित ध्वनि-प्रभाव-युक्त शब्दावली का साभिप्राय संयोजन है। शब्द-विन्यास की दृष्टि से इसमें साहित्यिक हिन्दी का सुन्दर उत्कर्ष मिलता है। इस सन्दर्भ में कवि ने न केवल संस्कृत की तत्सम शब्दावली से लाभ उठाया है अपितु कहीं-कहीं संस्कृत-उक्तियाँ ही प्रस्तुत कर दी हैं। 'उद्घोषणा' के अन्तर्गत 'विष्णु पुराण' के उद्धरण, अश्वत्थामा द्वारा शिव-स्तुति आदि इसी प्रकार के प्रसंग हैं। (पृष्ठ ९-१०, ७८) मूलतः संस्कृत-शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने कुछ स्थलों पर उर्दू अथवा अंग्रेजी के शब्द प्रयुक्त किये हैं। नफ़रते, ज्यादा, जख्म, ग़लत, स्टेज, विंग, विंग्स आदि शब्दों को उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। (पृष्ठ २१, ३८, ७३, ७४, १२, २७, ११५) इसी प्रकार उन्होंने 'अँधियारा', 'उसाँस', 'पाँखुरिया' आदि के रूप में बोलचाल की शब्दावली का भी उदारतापूर्वक प्रयोग किया है। (पृष्ठ ७५, १२०, १२०) 'नित', 'बरस', 'सपने', 'पात' आदि तद्भव शब्द भी इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। (पृष्ठ ५१, १०३, १०३, १२०) इसी प्रकार 'हरी-भरी', 'अस्त-व्यस्त' आदि समतुकान्त सहयोगी शब्दों का प्रयोग भी भाषा की व्यावहारिकता में सहायक रहा है। (पृष्ठ १०३) उर्दू-प्रभाववश सिर के लिए 'सर' (पृष्ठ ५८) जैसे प्रयोगों द्वारा उन्होंने शब्द-विकार का आश्रय लेकर भी भाषा को व्यावहारिकता प्रदान करने की चेष्टा की है जिसकी सराहना नहीं की जा सकती।

'अंधा युग' की एक विशेषता विशेषणों के साभिप्राय प्रयोग में निहित है। इस दशा में उन्होंने 'उन्मुक्त' के कवि सियारामशरण गुप्त जैसी मौलिकता, विविधता, जागरूकता और औचित्य-प्रवृत्ति तो नहीं रखी है तथापि उनका दृष्टिकोण उपेक्षात्मक भी नहीं रहा है। यद्यपि उन्होंने 'कलुषित कथा', 'दिव्य दृष्टि' आदि अनुप्रास-संयोजक विशेषणों (पृष्ठ ५४, ८१) का कम प्रयोग किया है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि 'अंधा युग' में प्रायः विशेष्य को गरिमा या विशिष्टता प्रदान करने वाले विशेषण ही प्रयुक्त हुए हैं। 'अजब युद्ध', 'उद्धत अनास्था', 'काला लोहू', 'अलौकिक

पात्र-परिकल्पना

'अंधा युग' में मुख्यतः पुरुष पात्रों का चरित्रांकन हुआ है, नारी पात्रों में प्रत्यक्ष रूप से केवल गांधारी की चर्चा की गई है जिसने चरित्र-शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका प्रस्तुत की है। यद्यपि अप्रत्यक्षतः विधवा कौरव वन्धुओं, उत्तरा, पांडव-शिविर में विद्यमान स्त्रियों और कुन्ती का भी उल्लेख मिलता है (अंधा युग, पृष्ठ २२, ७०, ८०, ११४), किन्तु इनकी चरित्र-रेखाओं को उभारना कवि को अभीष्ट नहीं रहा है। पुरुष पात्रों में अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, कृष्ण, युयुत्सु, विदुर, युधिष्ठिर, संजय और वृद्ध याचक की भूमिकाएँ मुख्य रही हैं तथा कृपाचार्य, कृतवर्मा, वलराम, दोनों प्रहरियों और गूंगे सैनिक को किंचित् गौण अभिव्यक्ति दी गई है। सामान्यतः कवि ने उपर्युक्त पात्रों के कथित ऐतिहासिक-पौराणिक गुणों की रक्षा की है, किन्तु वृद्ध याचक, गूंगे सैनिक और प्रहरियों के व्यक्तित्व कल्पित तथा प्रतीकात्मक हैं जिन्हें समकालीन यथार्थ की भूमिका पर चित्रांकित किया गया है। इसी प्रकार कथा-चक्र में शिव और व्यास का योगदान भी कल्पनाप्रसूत है। चरित्र-चित्रण के लिए कवि ने चार पद्धतियाँ अपनाई हैं—(अ) पात्रविशेष की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना, (आ) पात्रों की उक्तियों द्वारा एक-दूसरे की चरित्र-व्यंजना, (इ) गांधारी, अश्वत्थामा, विदुर आदि द्वारा अपने संवादों में किसी अन्य पात्र के विचारों अथवा कार्यों की समीक्षा, (ई) कवि द्वारा अपनी ओर से चरित्र-विश्लेषण। सामान्यतः काव्य-रूपक में इनमें से अन्तिम पद्धति का समावेश संभव नहीं होता, किन्तु भारती ने 'कथा-गायन' के अन्तर्गत इसका सफल निर्वाह किया है। उदाहरणार्थ भीमादि पांडव-बंधुओं का चरित्र-विश्लेषण देखिए :

"थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी।"[1]

(अंधा युग, पृष्ठ १०३)

'अंधा युग' के पात्रों में अश्वत्थामा का व्यक्तित्व सबसे अधिक ओजदीप्त रहा है। महाभारत के युद्ध के वाद बचे कौरव-पक्ष के वीरों में कृतवर्मा और कृपाचार्य की तुलना में उसका व्यक्तित्व अधिक सशक्त है। वह स्पष्टवादी, स्वाभिमानी और शूरवीर है, किन्तु युद्ध-काल की दो घटनाओं ने उसके विवेक को क्षीण कर ऐसा मानसिक तनाव उत्पन्न कर दिया कि वह मर्यादा का अतिक्रमण करने को विवश हो गया। ये घटनाएँ थीं—(अ) युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य के फलस्वरूप दुःखाभिभूत द्रोणाचार्य का धृष्टद्युम्न द्वारा वध, (आ) दुर्योधन से द्वन्द्वयुद्ध में भीम का नियमोल्लंघन। इनकी प्रतिक्रिया में उसने भाव-गोपन या वाक्छल का आश्रय न लेकर एक ओर युधिष्ठिर के पाखंड की निन्दा की है और दूसरी ओर इस घटनाक्रम के लिए कृष्ण को उत्तरदायी मानकर उनके प्रति अपने रोष को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त किया

"सब विजयी थे लेकिन सब थे विश्वास-ध्वस्त
थे सूत्रधार खुद कृष्ण किन्तु थे शाप-ग्रस्त।" (पृष्ठ १०३)

प्रतीकात्मक काव्य में भावों का स्पष्ट कथन न कर उनमें वैशिष्ट्य लाने के उद्देश्य से सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है जो 'संवृति-वक्रता' का लक्षण है। भारती ने "वह जो सम्राटों का अधिपति था" (पृष्ठ ३१) और "यह जो अनुभूति मिली है क्या यह आस्था है" (पृष्ठ१२३) आदि उक्तियों में 'यह' और 'वह' के प्रयोग से सहृदय को सम्बद्ध वर्ण्य-विषय का सीधा अभिधात्मक चित्र न देकर उसकी कल्पना-शक्ति का उन्मेष किया है। संवृति-वक्रता के ऐसे उदाहरण 'अंधा युग' में विभिन्न स्थलों पर प्राप्य हैं। इसी प्रकार 'निपात-वक्रता' की योजना भी अनेक स्थलों पर की गई है। उदाहरणार्थ संजय की निम्नलिखित उक्ति देखिए :

"आह माता गांधारी
वहीं बैठ गई।
माता, ओ माता !" (पृष्ठ ११३)

प्रस्तुत उक्ति में 'आह' और 'ओ' का प्रयोग शब्दार्थ की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण न हो, पात्रविशेष की मनःस्थिति का बोध कराने और भाव-विशेष की व्यंजना में वक्रता के इस प्रकार का असाधारण योग रहता है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कवि ने एकाधिक स्थलों पर 'पर्याय-वक्रता' की भी सुष्ठु योजना की है। अन्यत्र 'शंकर' शब्द का प्रयोग करने पर भी (पृष्ठ ७७) निम्नलिखित उक्ति में आशीर्वाद देते हुए शीघ्रतोषी शिव के लिए पर्याय-शब्द 'आशुतोष' का कितना सटीक प्रयोग हुआ है।

"वे आशुतोष हैं
हाथ उठाकर बोले
अश्वत्थामा तुम विजयी होगे निश्चय।" (पृष्ठ ७८)

'अंधा युग' के कवि ने प्रतीकों की स्वच्छन्द योजना की है, उन्हें रूढ़ प्रतीक उतने स्वीकार्य नहीं रहे हैं। धृतराष्ट्र और गांधारी के लिए 'बुझती लपटें' का प्रयोग इस दिशा में उनकी मौलिक प्रवृत्ति का उदाहरण है : "अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाकी।" (पृष्ठ २७) प्रतीक-विधान की भाँति वे काव्य-गुणों की समवेत योजना में भी निष्णात हैं। उन्होंने विशेषतः ओज गुण का प्रयोग किया है, यद्यपि प्रसाद गुण भी विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता से प्राप्य है। निम्नलिखित उक्ति में ओज गुण और परुषा वृत्ति के अनुरूप संयुक्ताक्षरों, टवर्ग आदि कठोर वर्णों और दीर्घ मात्राओं का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है।

"खंडित कबंधों में
टूटी पसलियों में

पुत्र युद्धक्षेत्र में निरन्तर मृत्यु को प्राप्त होते रहे हों उसके लिए मनःसन्तुलन बनाए रखना कितना कठिन होगा। फिर भी, गांधारी में स्त्रियोचित दया-ममता का अभाव नहीं है। कृष्ण को शाप देने के अनन्तर उन्होंने जो पश्चात्ताप प्रकट किया है उसमें नारी-प्रकृति के अनुरूप स्नेह की सहज व्यंजना मिलती है। पुत्र-प्रेम की उत्कट भावना के सन्दर्भ में भी उनके मनोरागों का कोमल-पक्ष व्यक्त हुआ है जिसकी अभिव्यक्ति विशेषतः उस समय हुई है जब वे कौरव-पक्ष की पराजय का समाचार सुनकर जड़वत् हो जाती हैं—न क्रोध अथवा शोक व्यक्त करती है और न आँसू बहाती हैं (अंधा युग, पृष्ठ ४६-५०) इस सन्दर्भ में उनकी पीड़ा बहुत गहरी है। इसीलिए विपक्ष की ओर से युद्ध करने वाले पुत्र युयुत्सु के लौटने पर वे विदुर की आशा के विपरीत व्यंग्यपूर्ण आक्रोश से उसका स्वागत करती हैं : "भुजाएँ ये तुम्हारी थकी तो नहीं अपने बंधुजनों का वध करते करते।" (अंधा युग, पृष्ठ ५५) इसी प्रकार निम्नलिखित उक्ति में भी व्यंग्य की तीव्रता, आक्रोश की कटुता, विरोधी स्थितियों के तुलनात्मक संघात आदि को सहज ही लक्षित किया जा सकता है :

"थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की
कीचड़ में।" (अंधा युग, पृष्ठ ५६)

'अंधा युग' के अन्य पात्रों में धृतराष्ट्र को गांधारी की भांति तेजयुक्त न दिखाकर परिस्थितियों के समक्ष विवश दिखाया गया है। पराजय की विभीषिका ने सहसा उनके विवेक को प्रबुद्ध कर मोह भंग कर दिया और उन्होंने यह अनुभव किया कि अंधेपन के कारण वस्तुजगत् का सीमित ज्ञान, स्वपक्ष के प्रति पूर्वाग्रह और बाह्य यथार्थ की अपेक्षा वैयक्तिक संवेदनों की प्रमुखता ही वे मूल कारण है जिन्होंने युद्ध के पूर्व अथवा युद्ध-काल में उनकी दूरदर्शिता को बाधित किये रखा। गांधारी की भांति पुत्र-मोह में बंधकर उन्होंने निस्संग भाव से निर्णय नहीं किये, फलतः उन्होंने सद्भाव-प्रसार की भूमिका प्रस्तुत नहीं की। पुत्रों के प्रति उनकी ममता इतनी प्रबल थी कि उत्तरा के संभावित गर्भनाश पर उन्हें युधिष्ठिर का राजत्याग स्वतः परिणामित लगा और उन्होंने युयुत्सु के राज्याभिषेक की कल्पना कर डाली। (अंधा युग, पृष्ठ ६५) सर्वनाश होने पर भी महत्वाकांक्षा की इस तीव्रता को नियति की विडंबना के अतिरिक्त और क्या कहा जाए! तथापि यह उल्लेखनीय है कि धृतराष्ट्र ने पराजय को भी दृढ़ता के साथ सहा—ऐसे अवसर पर भी उनके लिए

चित्र-शैली, व्यंग्य-शैली, विवरणात्मक-शैली और सूक्ति-शैली का प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय है। चित्र-शैली का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जिससे कथा-वृत्त की प्रस्तुति में नाट्यगुण को बल मिला है। भीम द्वारा दुःशासन की छाती से उबलते रक्त को अंजुली से पीना, युधिष्ठिर के अर्द्ध-सत्य के कारण अश्वत्थामा के मनोभावों की भ्रूण-हत्या, रोगी या मुर्दे के मुख के गन्दे और बासी थूक की तरह जीवित अश्वत्थामा आदि ऐसे प्रसंग हैं (पृष्ठ १८,१६,३४,३५, ३५) जिनमें चित्रभाषा का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि ये चित्र प्रायः उद्वेगजनक, वीभत्स या उग्रतामूलक है क्योंकि कथानक की मूल प्रकृति बहुत-कुछ वैसी ही है। इस सन्दर्भ में अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न के वध से सम्बद्ध निम्नलिखित उक्ति भी द्रष्टव्य है जिसमें उपमा और रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग भी चित्र की भयावहता को कम नहीं कर पाया है : "आंखों के कोटर से दोनों साबित गोले कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गए।" (पृष्ठ ७६) व्यंग्य शैली के प्रयोग द्वारा उक्ति को प्रभाव-सघन बनाने की ओर भी कवि ने विभिन्न स्थलों पर ध्यान दिया है। अश्वत्थामा, गांधारी, विदुर और प्रहरियों के संवाद इस दृष्टि से विशेषतः अवलोकनीय हैं। कहीं-कहीं कवि ने सूक्ति शैली का भी सफल उद्बोधनात्मक प्रयोग किया है। "वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं", "पत्थर की खानों से मणियां निकलती हैं", "मर्यादित आचरण कवच है जो व्यक्ति को बचाता है" आदि उक्तियों में सूक्ति शैली का स्वतन्त्र अथवा अन्योक्तिगर्भित प्रयोग वर्ण्य में गम्भीरता के समावेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। (पृष्ठ ४२, ८०, ६७) किन्तु, विवरणात्मक-शैली के प्रयोग में कवि को सर्वत्र एक-जैसी सफलता नहीं मिली है। एक ओर कवि ने पाण्डव शिविर की नाश-कथा को संजय और विदुर के शब्दों में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है (पृष्ठ ७६,८०) और दूसरी ओर युधिष्ठिर के सन्तस्वरूप व्यवहार के प्रति प्रहरियों की प्रतिक्रिया को निर्जीव प्रश्न-शैली में निम्नलिखित अभिव्यक्ति प्रदान की है :

"ज्ञान और मर्यादा
उनका करें क्या हम ?
उनको क्या पीसेंगे ?
या उनको खायेंगे ?
या उनको ओढ़ेंगे ?
या उन्हें बिछायेंगे ?" (पृष्ठ १०७,१०८)

'अंधा युग' में अलंकार-विधान की स्वाभाविकता को विभिन्न स्थलों पर लक्षित किया जा सकता है। कवि ने अर्थ-गौरव और शब्द-श्री दोनों की अभिवृद्धि में सहायक अलंकारों की सुचारु योजना की है। एक ओर उन्होंने 'सुरभित पवन-तरंगों सी (गति)' और 'फूलों सी वधुओं' में धर्मलुप्ता उपमा की योजना के लिए माधुर्यपरक

उदासीन रहे, फलतः कथान्त में कृष्ण-मरण के अवसर पर युयुत्सु के प्रेत को उनके कट्टर विरोधी के रूप में चित्रित किया गया है। इस सन्दर्भ में कवि ने युधिष्ठिर के दुर्बल व्यक्तित्व की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि इच्छा रहने पर भी वे भीम को युयुत्सु का अपमान करने से न रोक सके। वास्तव में युधिष्ठिर विजयी होने पर भी युद्ध के विकट प्रभाव से मनःशान्ति खो बैठे हैं। एक ओर वे शापग्रस्त कृष्ण को लेकर चिन्तित हैं जिससे उनकी मित्रता और पराश्रित मनोवृत्ति दोनों की व्यंजना होती है और दूसरी ओर सहोदरों की उच्छृङ्खलता भी उनकी मानसिक अशान्ति का कारण है। (पृ० १०४-१०५) उनकी विरक्ति यहाँ तक बढ़ती है कि धृतराष्ट्रादि की मृत्यु का समाचार सुनने पर वे तपश्चर्या के लिए हिमालय पर जाने की इच्छा प्रकट करते हैं। वास्तव में युधिष्ठिर के चिन्तन के माध्यम से कवि ने जीवन-दर्शन की सुनिश्चित अभिव्यक्ति कराई है, किन्तु उनके गृहस्थ-धर्म का संकेत न करना और अश्वत्थामा तथा प्रहरियों के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र का उनके विषय में मत-प्रकाश न करना निश्चय ही कवि की अनुपलब्धियाँ हैं।

'अंधा युग' के अन्य पात्रों में संजय, विदुर, कृपाचार्य, कृतवर्मा, बलराम, वृद्ध याचक, गूंगे सैनिक और प्रहरियों ने भी कथा-विकास में अपने-अपने ढंग से योग-दान किया है। संजय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत कृति में अनेक स्थलों पर हुआ है। धृतराष्ट्र और गांधारी को कौरवों की पराजय की सूचना देने की विडम्बना, युद्धक्षेत्र में सात्यकि द्वारा आक्रमणार्थ शस्त्र उठाने और कालान्तर में अश्वत्थामा के आक्रमण पर आसन्न मृत्यु के त्रास का अनुभव, दूत होने के कारण किसी भी पक्ष की ओर से युद्ध में भाग न ले पाना, कृष्ण के प्रति निष्ठा आदि ऐसे सन्दर्भ हैं। (पृ० ३०-३१, ३७) जिन्होंने उनकी चरित्र-रेखाओं को भलीभाँति उभारा है। "मुझसा निरर्थक और होगा कौन।" (पृ० ११५) कहकर उन्होंने अपनी मनोव्यथा को ठीक ही प्रकट किया है। विदुर को कवि ने दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और मानववादी दृष्टि से युक्त पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। धृतराष्ट्र और गांधारी को सान्त्वना प्रदान करना, परिस्थितियों से प्रताड़ित युयुत्सु के प्रति ममत्व-भाव की अभिव्यक्ति, कृष्ण और पांडवों के प्रति निरन्तर सद्भाव रखना, धृष्टद्युम्न आदि की हत्या-कथा सुनते समय भाव-विह्वलता प्रकट करना आदि ऐसे प्रसंग हैं जिन्होंने उनके व्यक्तित्व को सर्वत्र आदर्शप्रेरित रखा है। कृपाचार्य को द्रोणाचार्य-जैसे क्षत्रियोचित स्वभाव वाले ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु उनमें अश्वत्थामा-जैसी क्रूरता के स्थान पर विवेक-बुद्धि रही है। जहाँ वे कौरव-पक्ष के प्रति आस्था रखकर दुर्योधन की व्यथा से पीड़ित होते हैं और अश्वत्थामा के साथ पांडवों के नाश में भाग लेते हैं वहाँ उन्होंने अभिमन्यु-वध के सन्दर्भ में कौरवों की अनीति का भी संकेत किया है। (पृ० ६६-६७, ८३-८४, ४५) महाभारत के बाद पांडव-पुत्रों को शस्त्र-संचालन की शिक्षा देकर तथा

हूँ सैंकड़ों कोस" आदि को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। (पृष्ठ ११, १२२) इसी प्रकार उत्साह, शोक आदि मनोवेगों की अभिव्यक्ति के लिए किसी शब्द-समूह के पुनर्पुनः प्रयोग द्वारा उन्होंने वीप्सा अलंकार से भी प्रचुर लाभ उठाया है। युयुत्सु की निम्नलिखित उक्ति में शोक की व्यंजना में शब्दावृत्ति निश्चय ही सहायक रही है : "मुझको क्या मिला विदुर, मुझको क्या मिला ? (पृष्ठ ५७) अपने मन्तव्य पर बल देने के लिए वाक्यांशादि की साभिप्राय पुनरुक्ति का यह मार्ग भारती को अनेकशः ग्राह्य रहा है। वचन-भंगिमा के लिए उन्होंने विशेषण-विपर्यय का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। "**अंधी आशा** माता गांधारी की" और "मेरे **भूखे पंजे** जाकर दबोचेंगे वह गला युधिष्ठिर का" में मोटे अक्षरों में छपे अंश विशेषण-विपर्यय के उदाहरण हैं। (पृष्ठ २७,३७) "वह चली हवा, वह खड़ खड़खड़ कर उठे ताड़"(पृष्ठ ११९) जैसी उक्तियों में अनुरणनमूलकता से समृद्ध ध्वन्यर्थव्यंजना अलकार का प्रयोग हुआ है, किन्तु माधुर्य के मार्दव के लिए अधिक अवकाश न होने के कारण प्रस्तुत कृति में यह अलंकार केवल ओजगुणपरक शब्दावली से युक्त रहा है।

'अंधा युग' की शिल्प-समृद्धि में मुक्त छन्द का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। एक-सी लयात्मकता से युक्त पंक्तियों से सन्तुष्ट न होकर उन्होंने पात्रों के संवादों में प्रायः लय को बदलते रहने की पद्धति अपनाई है जिससे प्रस्तुत कृति में अभिव्यक्ति की एकरसता का दोष नहीं आ पाया है। पात्रविशेष की उक्तियों में भिन्न स्थलों पर भिन्न लय का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का सूचक है, किन्तु प्रहरियों के संवादों में प्रायः लय की एकरूपता रखी गई है। वैसे, कवि ने मुख्यतः दृश्य-परिवर्तन के समय अन्तराल-स्वरूप प्रस्तुत किये गये कथागायन और सामान्यतः कुछ अन्य प्रकीर्ण स्थलों पर 'मुक्त-वृत्तगंधी गद्य' का भी प्रयोग किया है जिसमें लयाधार की भिन्नता को स्पष्ट देखा जा सकता है। (पृष्ठ ४-५) इसी प्रकार उन्होंने एकरसता से बचने के लिए तुकान्त-अतुकान्त पद्धतियों का भी सुविधानुसार प्रयोग किया है, यद्यपि इसमें मुख्यतः अन्त्यानुप्रासरहित पदावली का ही प्रयोग मिलता है।

मूल्यांकन

हिन्दी में काव्य-रूपक-कला के विकास में योग देनेवाले कवियों में जहाँ जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा और सिद्धनाथ कुमार उल्लेखनीय हैं वहाँ तुलनात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से 'अंधा युग' के यशस्वी कवि धर्मवीर भारती की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस भावप्रधान काव्य-नाटक में इतिहास की चेतना और वैयक्तिक चेतना का अपूर्व समीकरण मिलता है जो एक ओर रागात्मक
... वातावरण के प्रति जागरूकता और गम्भीर जीवन-दर्शन क

है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।" (निर्देश पृ० ५) वास्तव में अंक-परिवर्तन अथवा दृश्यान्तर के समय कथा-गायन की पद्धति को उन्होंने लोकनाट्य से ही ग्रहण किया है। अभिनेयता के प्रति जागरूक रहने के कारण उन्होने रंगमंच पर प्रकाश और पदों की यवस्था के सम्बन्ध में भी प्रायः स्फुट टिप्पणियाँ दी हैं। रंगधर्मिता के उपयुक्त निर्वाह के लिए उन्होंने दोहरे पट (ट्रांस्फर सीन)की व्यवस्था की है और आगे तथा पीछे के पर्दों को प्रसंगानुसार प्रकाश अथवा अंधकार में रखा है। इस प्रकार एक ही अंक में बार-बार दृश्य-परिवर्तन हुआ है जिससे कहीं-कहीं अस्वाभाविकता भी आ गई है। उदाहरणार्थ चौथे अंक में प्रायः चार बार दृश्य-परिवर्तन हुआ है जो अभिनय की सुकरता में बाधक है।

अभिनय की दृष्टि से 'अंधा युग' दीर्घ-कलेवर नहीं है। यद्यपि इसमें मनोवेगों की सघन अवधारणा मिलती है, किन्तु यह दोष नहीं है। वैसे भी, न इसमें आवश्यकता से अधिक पात्र हैं और न परस्पर उलझे हुए प्रासंगिक कथा-वृत्त। फलस्वरूप अभिनय के समय सामान्यतः निर्देशक को इससे दृश्य-विभाजन का क्रम बदलने की आवश्यकता नहीं होगी, यद्यपि काल-सूचना अथवा स्थान-निर्देश में विशेष कौशल की अपेक्षा रहेगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस कृति में दृश्य-विभाजन सर्वथा दोषमुक्त है। कौरव-नगरी पर लाखों गिद्धों का उड़ना, दावाग्नि फैलना आदि ऐसे दृश्य हैं जिनका रंगमंच पर अभिनय नहीं हो सकता, भले ही इन्हें ध्वनि-प्रभाव से रेडियो पर प्रस्तुत किया जा सके। इसी प्रकार कुछ स्थल विशेष काव्यात्मक हैं जो कार्य-व्यापार की क्षिप्रता और सघन भावात्मकता के कारण दर्शक के लिए सर्वत्र सुबोध नहीं हो सकते, किन्तु एक तो ऐसे स्थलों पर दीर्घ संवाद न होने से प्रभावात्मकता बनी रही है और दूसरे कार्य-गति की क्षिप्रता से नाटकीय औत्सुक्य में भी वृद्धि हुई है। इसके लिए कवि ने संवादों का आश्रय लेने के अतिरिक्त एक-पात्री अभिनय का भी संयोजन किया है। इस सन्दर्भ में अश्वत्थामा, वृद्ध याचक, युधिष्ठिर, संजय आदि पात्रों को प्रसंगानुसार मंच पर एकाकी चित्रित किया गया है जहाँ उनकी उद्विग्न मनःस्थिति को भावावेगयुक्त आत्मसंवादों द्वारा भलीभाँति व्यक्त किया गया है।[२] इन मनःस्थितियों का अभिनय जटिल हो सकता है, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि अभिनय की सफलता केवल निर्देशक और पात्रों पर ही निर्भर नहीं करती, नाट्यवस्तु और नाट्यशिल्प से भी उसे बल प्राप्त होता है: यह आवश्यक नहीं है कि सब नाटकों का एक ही विधि से अभिनय किया जाये और वे सभी एक ही ढंग से सफल हों। नाटक के अभिनय में केवल निर्देशक और पात्रों की कला ही सब कुछ नहीं होती, नाटक का विषय, मूल भाव और शैली भी रंगमंच की

२. देखिए 'अन्धा युग', पृष्ठ ३३-३६, ४०, १०४-१०५, १२१।

४०
उर्मिला

प्रो० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

'उर्मिला' रस-सिद्ध कवि 'नवीन' की प्रबन्धात्मक काव्य-कृति है और उनके समग्र काव्य-साहित्य में वह उसी स्थान की अधिकारिणी है, जो स्थान तुलसी-साहित्य में रामचरितमानस और गुप्त साहित्य में 'साकेत' का है। राम-कथा की चली आती हुई सुदीर्घ-सुख्यात परम्परा-सरणि में अपनी नवनवोन्मेषकारिणी काव्य प्रतिभा और मौलिक विचारणा-शक्ति के आधार पर 'नवीन' ने 'उर्मिला' के माध्यम से न केवल काव्य की उपेक्षिता-विस्मृता उर्मिला का ही विरह-दग्ध जीवन चित्रित किया है, अपितु राम कथा को भी नवीन आयामों में प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। उर्वर कल्पना-शक्ति और गहनतम अनुभूति ने कथा-योजना में प्रयुक्त नवीनता को सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा मानवतावादी आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में रखकर उर्मिला के वियोग के करुणापूरित चरित्र में नारी के दिव्यत्व और कर्म-कर्त्तव्य-निष्ठ स्नेहिल व्यक्तित्व को प्रदर्शित किया है।

कृति का प्रेरणास्रोत और रचनाकाल

साहित्य में आदि काल से आज तक महान् पुरुषों-व्यक्तित्वों की सेवा-त्याग-परायणा और समर्पणशीला नारियों की प्रायः उपेक्षा हुई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने सर्वप्रथम एक लेख 'काव्येर उपेक्षिता'[1] लिखकर काव्य की उपेक्षिताओं की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। इसी से अनुप्रेरित हो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उपेक्षिता उर्मिला के प्रति हिन्दी कवियों-साहित्यकारों का दायित्व प्रदर्शित किया।[2] उर्मिला विषयक हिन्दी कविता के मूल में यही प्रेरणा-स्रोत सबल और प्रभावशाली रहा है। इसी से प्रेरित हो हरिऔध ने 'उर्मिला' नामक लघु प्रबन्ध लिखा; गुप्तजी

---

१. "प्राचीन साहित्य"—पृष्ठ ६६—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

२. सरस्वती जुलाई १६४८, भाग ६ संख्या ७—"कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" पृष्ठ ३१२-३१४।

सर्वथा स्वाभाविक है जो कहीं-कहीं विशृङ्खल शब्द-विन्यास के रूप में भी व्यक्त हुई है। भावाविष्ट उक्तियाँ कहीं तो सूक्ति-गाम्भीर्य से युक्त हैं और कहीं शब्द विशेष, शब्द-समूह अथवा पंक्तिविशेष की आवृत्ति द्वारा कथोपकथन को बलवत्ता प्रदान की गई है। कुछ स्थलों पर भावावेग की अभिव्यक्ति के लिए अर्थगर्भ मौन का आश्रय लेकर उक्तियों को अधूरा छोड़ दिया गया है। पांडव-वंश को निर्मूल करने की अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा, तत्सम्बद्ध वृत्त के विषय में गांधारी की उत्कट जिज्ञासा आदि के सन्दर्भ में '...' पद्धति का उपयोग इसी शैली का उदाहरण है। (पृष्ठ ६२, ८०) संवादों में प्रखरता लाने के लिए कवि ने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व अथवा संकल्प-विकल्प को प्रकट करने की ओर भी यथोचित ध्यान दिया है। अश्वत्थामा, संजय और युयुत्सु के संवादों में इस प्रवृत्ति को प्रायः लक्षित किया जा सकता है। घटनाक्रम की यथातथ्य अभिव्यक्ति और कथन की भंगिमाओं ने भी संवादों को प्रखरता प्रदान की है। गांधारी और अश्वत्थामा का वचन-वैदग्ध्य और विदुर द्वारा संजय के स्थान पर एक स्थल पर स्वयं युद्ध-वृत्त की सूचना इसके उदाहरण हैं। (पृष्ठ ८०, ६४, ८०)। इन पात्रों के संवाद न केवल ओजदीप्त हैं, उनमें व्यंग्यगर्भत्व को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। युद्ध की समाप्ति पर कौरवों की नियति पर कृतवर्मा का व्यंग्य, युद्ध से लौटे युयुत्सु का गांधारी द्वारा व्यंग्यपूर्ण स्वागत, गांधारी और विदुर का व्यंग्य-विदग्ध संवाद, प्रहरियों की यथार्थप्रेरित व्यंग्यात्मक उक्तियाँ आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनसे इस काव्य-रूपक के सजीव अभिनय में निश्चय ही सहायता मिलेगी।[1]

'अंधा युग' में पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप संवाद-योजना द्वारा तो अभिनय की स्वाभाविकता को सुकर बनाया ही गया है, कवि ने उद्बोधन, दार्शनिकता, कटुता आदि की अभिव्यक्ति में सहायक संवादों द्वारा जिस प्रभाव-वैविध्य की योजना की है उससे अभिनय में एकरसता का दोष भी नहीं आ पायेगा। संवादों में उत्तर-प्रत्युत्तर का सहज क्रम भी इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक रहा है। पात्रों की स्वगतोक्तियों, व्यास की आकाशवाणी, वृद्ध याचक और युयुत्सु-जैसे प्रेतात्मा-पात्रों के कल्पित संवादों द्वारा भी कवि ने नाटकीय औत्सुक्य का विधान किया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कहीं-कहीं उन्होंने संवादों द्वारा कथा-गति को भी तीव्रता दी है। संजय, अश्वत्थामा, वृद्ध याचक आदि के संवादों द्वारा विगत घटनाओं अथवा भविष्य में घटित होने वाले प्रसंगों का संकेत कर उन्होंने इसी ओर ध्यान दिया है जो पाठ्य नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होने पर भी यथास्थान सजीव अभिनय में भी सहायक हो सकता है।

अन्त में यह विचार कर लेना उचित होगा कि प्रस्तुत कृति की भाषा अभिनय

---

१. देखिए 'अन्धा युग', पृष्ठ ४४, ५५-५६, ८०. १६, १०७-१०८।

राम-कथा के संस्कृत साहित्य में 'वाल्मीकि रामायण', 'रघुवंश', 'उत्तर-रामचरित', 'अध्यात्म रामायण', आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। हिन्दी के राम-कथा-काव्य इन्हीं से विशेषतया प्रभावित हैं। तुलसी का रामचरितमानस इसी परम्परा का अद्वितीय ग्रन्थ है। 'उर्मिला' की कथा के ग्रहण में भी ये ही ग्रन्थ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुख्याधार रहे हैं।

'उर्मिला' की सर्गानुसार कथा इस प्रकार है :—

प्रथम सर्ग :

प्रथम सर्ग कई उप-शीर्षकों में विभक्त है। 'प्रोत्साहन' में लेखनी को 'लेखन के जीवन की चाँदनी' उर्मिला की आहें सुनने तथा करुण रस की सृष्टि करने के लिये प्रोत्साहन है। 'प्रार्थना' में करुणा की मूर्ति उर्मिला की वन्दना है और आशीर्वचनों की याचना। 'ध्यान' की चतुष्पदी में—

"अकथित करुणा कथा वहती है जिसके कल कल झरनों में,
नत हो जा हे नास्तिक मस्तक उसके युग श्री चरणों में।"

कवि उर्मिला के श्री चरणों का ध्यान करता है। 'पुर-प्रदक्षिणा' में नगर वर्णन है। 'जनकपुर प्रवेश' में जनकपुर का रंगीन चित्र है। 'प्रसाद-प्रांगण' नामक शीर्षक का आरम्भ एक अनुप्रासमय, मधुर, श्रुति-सुखद चतुष्पदी से है जिसमें जनक-दुहिताओं के वालपन का चित्र है—

"रुनझुन रुनझुन नन्हीं नन्हीं पैंजनियाँ झंकारें,
चरण-चलन की प्रांगण भर में फैल रहीं गुंजारें।
किलक किलक मधुस्रोत वहाती हैं विदेह की ललियाँ,
प्रात पवन में चिटकी हैं दो छोटी छोटी कलियाँ।"

सीता-उर्मिला का सौन्दर्य वर्णन करता हुआ कवि उनके साथ हमें उपवन में ले जाता है जहाँ वे दोनों आपस में कहानियाँ कहती हैं। यहीं सीता के चरित्र में गम्भीरता के और उर्मिला के चरित्र में चपलता के दर्शन होते हैं। सीता की कहानी में एक राजा दूसरे राजा की कन्या को हरने के लिये आक्रमण करता है पर परास्त होता है। उर्मिला की कहानी में एक कबूतर निर्जन वन में आत्म-चिंतन के लिये चला जाता है। उसकी कबूतरी उसके विरह में रोती है, कलपती है और एक दिन मर जाती है। दोनों की कथाओं में दोनों के भावी जीवन का पूर्वाभास है। उर्मिला की कथा को लेकर सीता और उर्मिला में हुए विवाद में दोनों के सामने आने वाली भावी परिस्थितियों की ओर भी संकेत है। सीता कहती है कि यदि मैं कपोती होती तो कपोत के साथ वन में चली जाती, पर उर्मिला कहती है कि क्या ऐसे समय में हठधर्मी सम्भव है?—"वह कबूतरी बड़ी मृदुल थी, वह हठ कैसे करती?"

सर्वथा स्वाभाविक है जो कहीं-कहीं विशृङ्खल शब्द-विन्यास के रूप में भी व्यक्त हुई है। भावाविष्ट उक्तियाँ कहीं तो सूक्ति-गाम्भीर्य से युक्त हैं और कहीं शब्द विशेष, शब्द-समूह अथवा पंक्तिविशेष की आवृत्ति द्वारा कथोपकथन को बलवत्ता प्रदान की गई है। कुछ स्थलों पर भावावेग की अभिव्यक्ति के लिए अर्थगर्भ मौन का आश्रय लेकर उक्तियों को अधूरा छोड़ दिया गया है। पांडव-वंश को निर्मूल करने की अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा, तत्सम्बद्ध वृत्त के विषय में गांधारी की उत्कट जिज्ञासा आदि के सन्दर्भ में '·' पद्धति का उपयोग इसी शैली का उदाहरण है। (पृष्ठ ६२, ८०) संवादों में प्रखरता लाने के लिए कवि ने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व अथवा संकल्प-विकल्प को प्रकट करने की ओर भी यथोचित ध्यान दिया है। अश्वत्थामा, संजय और युयुत्सु के संवादों में इस प्रवृत्ति को प्रायः लक्षित किया जा सकता है। घटनाक्रम की यथातथ्य अभिव्यक्ति और कथन की भंगिमाओं ने भी संवादों को प्रखरता प्रदान की है। गांधारी और अश्वत्थामा का वचन-वैदग्ध्य और विदुर द्वारा संजय के स्थान पर एक स्थल पर स्वयं युद्ध-वृत्त की सूचना इसके उदाहरण हैं। (पृष्ठ ८०, ६४, ८०)। इन पात्रों के संवाद न केवल ओजदीप्त हैं, उनमें व्यंग्यगर्भत्व को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। युद्ध की समाप्ति पर कौरवों की नियति पर कृतवर्मा का व्यंग्य, युद्ध से लौटे युयुत्सु का गांधारी द्वारा व्यंग्यपूर्ण स्वागत, गांधारी और विदुर का व्यंग्य-विदग्ध संवाद, प्रहरियों की यथार्थप्रेरित व्यंग्यात्मक उक्तियाँ आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनसे इस काव्य-रूपक के सजीव अभिनय में निश्चय ही सहायता मिलेगी।[1]

'अंधा युग' में पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप संवाद-योजना द्वारा तो अभिनय की स्वाभाविकता को सुकर बनाया ही गया है, कवि ने उद्बोधन, दार्शनिकता, कटुता आदि की अभिव्यक्ति में सहायक संवादों द्वारा जिस प्रभाव-वैविध्य की योजना की है उससे अभिनय में एकरसता का दोष भी नहीं आ पायेगा। संवादों में उत्तर-प्रत्युत्तर का सहज क्रम भी इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक रहा है। पात्रों की स्वगतोक्तियों, व्यास की आकाशवाणी, वृद्ध याचक और युयुत्सु-जैसे प्रेतात्मा-पात्रों के कल्पित संवादों द्वारा भी कवि ने नाटकीय औत्सुक्य का विधान किया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कहीं-कहीं उन्होने संवादों द्वारा कथा-गति को भी तीव्रता दी है। संजय, अश्वत्थामा, वृद्ध याचक आदि के संवादों द्वारा विगत घटनाओं अथवा भविष्य में घटित होने वाले प्रसंगों का संकेत कर उन्होंने इसी ओर ध्यान दिया है जो पाठ्य नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होने पर भी यथास्थान सजीव अभिनय में भी सहायक हो सकता है।

अन्त में यह विचार कर लेना उचित होगा कि प्रस्तुत कृति की भाषा अभिनय

---

१. देखिए 'अन्धा युग', पृष्ठ ४४, ५५-५६, ८०. १६, १०७-१०८।

कवि के अनुसार विरह सारे विश्व में व्याप्त है। टहनी पर रोती कलियाँ, डाली पर बिलखते फूल-पत्तियाँ, विटपों के वक्षस्थल पर रोकर लिपटती लतिकायें आदि सब विरह के कारण हैं। जग की क्यारी क्यारी में करुणा-जल सिंचा हुआ है। करुणा घोलती कोयलिया अंतस्तल की ज्वाला से ही काली पड़ गई है। 'दरद दीवाना' काग भी तो 'काँ-ओ' की ध्वनि में निष्ठुर प्रिय के विरह में रो रहा है। सारा संसार विरह-व्याकुल किसी 'अलख' के लिये रो रहा है। इस विरह के ही कारण उर्मिला के हृदय में टीस उठ रही है। उसके आँगन में करुणा उसी प्रकार उमड़ रही है जिस प्रकार उसके, 'हिय में निदाघ रहता है, नयनों में बसता सावन।' प्रतीक्षा-मग में अपना दीप ले जोगिन सी उर्मिला बाट जोह रही है। अपने योगी के नाम की माला जपती यह योगिन अंतरतर की ज्वाला को आँसुओं से बुझा रही है।

पंचम सर्ग :

यह सर्ग दोहों में रचित है। दोहों के बीच-बीच में सोरठे भी हैं। खड़ी बोली मिश्रित व्रजभाषा में लिखे गए इन दोहों में प्रत्येक अपने आप में पूर्ण व समर्थ है और इस काव्य-ग्रन्थ से पृथक् यह सर्ग एक छोटा-विरह-काव्य भी बन सकता है।

लक्ष्मण का साथ स्वप्न सा छूट गया। वियोगिनी उर्मिला की मधुर स्वप्निल रातें, चुपचुप की बातें, सब हृदय में विलीन हो गईं—"साँसों के तार बिछे हैं अब तो यहाँ। प्रिय पीछे मुड़कर मत देखना, कहीं तुम्हारे दृग उलझ न जाएँ।"

प्रिय वियोग में सारा संसार सूना-सूना लगता है। ऋतुएँ आ-जा रही हैं और इनमें उर्मिला की दशा और अधिक दयनीय हो गई है। पावस में आँगन में फुहियाँ बरसती हैं तो उर्मिला के हृदय में सुईयाँ चुभती हैं। चारों ओर अँधेरा है। उसका मन अकुला रहा है और मौन रुदन द्वारा प्रिय को बुला रहा है। नींद भी इन आँखों को छोड़कर परदेस में प्रिय के पास चली गई है।

उर्मिला की व्यथा जगद्व्यापिनी है। उसके कम्पन से संसार का हृदय-प्रदेश काँप उठता है। उसके जीवन की डगर सूनी है। वियोगिनी उर्मिला प्रेम-संन्यासिनी बन गई है। विरहाग्नि धूनी को तपती हुई अन्तस्तल में बैठे 'सजन-ध्यान-मग्ना' हो गई है। प्रिय के दुस्सह वियोग में प्राण निकल भी तो नहीं सकते क्योंकि वे स्मरण-ध्यान के पाश में अटके हुए हैं।

षष्ठम् सर्ग :

इस अन्तिम सर्ग का आरम्भ रावण-वध के पश्चात् राम द्वारा विभीषण को लंका का राज्य दिये जाने से होता है। विभीषण को राजतिलक होता है। सभा में राम धर्मप्रसार के अपने लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति पर व्याख्यान देते हैं। बाद में विभीषण कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं। पुष्पक विमान में बैठे राम-सीता-लक्ष्मण अयोध्या

सर्वथा स्वाभाविक है जो कहीं-कहीं विशृङ्खल शब्द-विन्यास के रूप में भी व्यक्त हुई है। भावाविष्ट उक्तियाँ कहीं तो सूक्ति-गाम्भीर्य से युक्त हैं और कहीं शब्द विशेष, शब्द-समूह अथवा पंक्तिविशेष की आवृत्ति द्वारा कथोपकथन को बलवत्ता प्रदान की गई है। कुछ स्थलों पर भावावेग की अभिव्यक्ति के लिए अर्थगर्भ मौन का आश्रय लेकर उक्तियों को अधूरा छोड़ दिया गया है। पांडव-वंश को निर्मूल करने की अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा, तत्सम्बद्ध वृत्त के विषय में गांधारी की उत्कट जिज्ञासा आदि के सन्दर्भ में '...' पद्धति का उपयोग इसी शैली का उदाहरण है। (पृष्ठ ६२, ८०) संवादों में प्रखरता लाने के लिए कवि ने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व अथवा संकल्प-विकल्प को प्रकट करने की ओर भी यथोचित ध्यान दिया है। अश्वत्थामा, संजय और युयुत्सु के संवादों में इस प्रवृत्ति को प्रायः लक्षित किया जा सकता है। घटनाक्रम की यथातथ्य अभिव्यक्ति और कथन की भंगिमाओं ने भी संवादों को प्रखरता प्रदान की है। गांधारी और अश्वत्थामा का वचन-वैदग्ध्य और विदुर द्वारा संजय के स्थान पर एक स्थल पर स्वयं युद्ध-वृत्त की सूचना इसके उदाहरण हैं। (पृष्ठ ८०, ६४, ८०)। इन पात्रों के संवाद न केवल ओजदीप्त हैं, उनमें व्यंग्यगर्भत्व को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। युद्ध की समाप्ति पर कौरवों की नियति पर कृतवर्मा का व्यंग्य, युद्ध से लौटे युयुत्सु का गांधारी द्वारा व्यंग्यपूर्ण स्वागत, गांधारी और विदुर का व्यंग्य-विदग्ध संवाद, प्रहरियों की यथार्थप्रेरित व्यंग्यात्मक उक्तियाँ आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनसे इस काव्य-रूपक के सजीव अभिनय में निश्चय ही सहायता मिलेगी।[1]

'अंधा युग' में पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप संवाद-योजना द्वारा तो अभिनय की स्वाभाविकता को सुकर बनाया ही गया है, कवि ने उद्बोधन, दार्शनिकता, कटुता आदि की अभिव्यक्ति में सहायक संवादों द्वारा जिस प्रभाव-वैविध्य की योजना की है उससे अभिनय में एकरसता का दोष भी नहीं आ पायेगा। संवादों में उत्तर-प्रत्युत्तर का सहज क्रम भी इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक रहा है। पात्रों की स्वगतोक्तियों, व्यास की आकाशवाणी, वृद्ध याचक और युयुत्सु-जैसे प्रेतात्मा-पात्रों के कल्पित संवादों द्वारा भी कवि ने नाटकीय औत्सुक्य का विधान किया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कहीं-कहीं उन्होने संवादों द्वारा कथा-गति को भी तीव्रता दी है। संजय, अश्वत्थामा, वृद्ध याचक आदि के संवादों द्वारा विगत घटनाओं अथवा भविष्य में घटित होने वाले प्रसंगों का संकेत कर उन्होंने इसी ओर ध्यान दिया है जो पाठ्य नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होने पर भी यथास्थान सजीव अभिनय में भी सहायक हो सकता है।

अन्त में यह विचार कर लेना उचित होगा कि प्रस्तुत कृति की भाषा अभिनय

१. देखिए 'अन्धा युग', पृष्ठ ४४, ५५-५६, ८०. १६, १०७-१०८।

कवि के अनुसार विरह सारे विश्व में व्याप्त है। टहनी पर रोती कलियाँ, डालों पर विलखते फूल-पत्तियाँ, विटपों के वक्षस्थल पर रोकर लिपटती लतिकायें आदि सब विरह के कारण हैं। जग की क्यारी क्यारी में करुणा-जल सिंचा हुआ है। करुणा घोलती कोयलिया अंतस्तल की ज्वाला से ही काली पड़ गई है। 'दरद दीवाना' काग भी तो 'कॉं-ओ' की ध्वनि में निष्ठुर प्रिय के विरह में रो रहा है। सारा संसार विरह-व्याकुल किसी 'अलख' के लिये रो रहा है। इस विरह के ही कारण उर्मिला के हृदय में टीस उठ रही है। उसके आँगन में करुणा उसी प्रकार उमड़ रही है जिस प्रकार उसके, 'हिय में निदाघ रहता है, नयनों में बसता सावन।' प्रतीक्षा-मग में अपना दीप ले जोगिन सी उर्मिला बाट जोह रही है। अपने योगी के नाम की माला जपती यह योगिन अंतरतर की ज्वाला को आँसुओं से बुझा रही है।

पंचम सर्ग :

यह सर्ग दोहों में रचित है। दोहों के बीच-बीच में सोरठे भी हैं। खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा में लिखे गए इन दोहों में प्रत्येक अपने आप में पूर्ण व समर्थ है और इस काव्य-ग्रन्थ से पृथक् यह सर्ग एक छोटा-विरह-काव्य भी बन सकता है।

लक्ष्मण का साथ स्वप्न सा छूट गया। वियोगिनी उर्मिला की मधुर स्वप्निल रातें, चुपचुप की बातें, सब हृदय में विलीन हो गईं—"साँसों के तार बिछे हैं अब तो यहाँ। प्रिय पीछे मुड़कर मत देखना, कहीं तुम्हारे दृग उलझ न जाएँ।"

प्रिय वियोग में सारा संसार सूना-सूना लगता है। ऋतुएँ आ-जा रही हैं और इनमें उर्मिला की दशा और अधिक दयनीय हो गई है। पावस में आँगन में फुहियाँ बरसती हैं तो उर्मिला के हृदय में सुईयाँ चुभती है। चारों ओर अँधेरा है। उसका मन अकुला रहा है और मौन रुदन द्वारा प्रिय को बुला रहा है। नींद भी इन आँखों को छोड़कर परदेस में प्रिय के पास चली गई है।

उर्मिला की व्यथा जगद्व्यापिनी है। उसके कम्पन से संसार का हृदय-प्रदेश काँप उठता है। उसके जीवन की डगर सूनी है। वियोगिनी उर्मिला प्रेम-संन्यासिनी बन गई है। विरहाग्नि धूनी को तपती हुई अन्तस्तल में बैठे 'सजन-ध्यान-मग्ना' हो गई है। प्रिय के दुस्सह वियोग में प्राण निकल भी तो नहीं सकते क्योंकि वे स्मरण-ध्यान के पाश में अटके हुए हैं।

षष्ठम् सर्ग :

इस अन्तिम सर्ग का आरम्भ रावण-वध के पश्चात् राम द्वारा विभीषण को लंका का राज्य दिये जाने से होता है। विभीषण को राजतिलक होता है। सभा में राम धर्मप्रसार के अपने लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति पर व्याख्यान देते हैं। बाद में विभीषण कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं। पुष्पक विमान में बैठे राम-सीता-लक्ष्मण अयोध्या

प्रकाश', 'समवेत अट्टहास', 'अमानुषिक विनोद', 'मरणासन्न ईश्वर' आदि में विशेषण अपने विशिष्ट विन्यास के कारण सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। (पृष्ठ ११, २२, ७६, ६०, १०१, १०५, १२६) किन्तु, 'अंध', 'अन्धापन' आदि कुछ विशेषणों के प्रति उनके मन में पूर्वाग्रह या मोह रहा है जो उचित नहीं है। 'अन्ध गुफा', 'भय का अन्धापन', 'अंधी संस्कृति', 'अंधी प्रवृत्तियाँ, 'अंधा पशु', 'अंधे साँप', 'अंधा समुद्र', 'अंधलोक', 'अंधा युग' आदि इसी प्रकार के प्रयोग हैं जिनमें अंधेपन के वाचक शब्दों के बार-बार प्रयोग से कवि के अभिप्रेत की मार्मिकता निश्चय ही कुछ कम हो गई है। (पृष्ठ १०, ११, १३, २१, २१, ७३, ७३, १२४)

'अंधा युग' में मुख्यतः लक्षणा, वक्रोक्ति और प्रतीकात्मकता को स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु कवि ने विशेषतः 'कथा-गायन' में और सामान्यतः कुछ अन्य प्रसंगों में अभिधा शक्ति को भी स्थान दिया है। कथा-खण्डों की पृष्ठभूमि, प्रसंगविशेष के सम्पूर्ण दृश्यांकन, कथावृत्त की विवरणात्मक प्रस्तुति आदि में अभिधा के सशक्त-स्वाभाविक प्रयोग को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। वैसे, भारती ने प्रायः शब्दार्थ में नवीनता लाने के उद्देश्य से अथवा कृतिगत अर्थ-गाम्भीर्य के उत्कर्ष-साधन के लिए 'अन्धा युग' की भाषा को लाक्षणिक भंगिमाओं द्वारा प्राणवन्त बनाया है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्ति में गौणी लक्षणा का निर्वाह द्रष्टव्य है : "गांधारी पत्थर थी; उस श्रीहत मुख पर जीवित मानव सा कोई चिह्न न था।" (पृष्ठ ४७) यहाँ अभिधार्थ के अनुसार गांधारी को पत्थर मानने में अर्थ-बाधा है, किन्तु संजय से युद्ध-कथा सुनते समय पत्थर-जैसी निष्प्राण मनःस्थिति का होना स्वाभाविक है, अतः इस उक्ति में गौणी लक्षणा है। कहीं-कहीं भारती ने निरूढ़ा लक्षणा के रूप में मुहावरों का भी प्रयोग किया है, किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। "जनता उनसे पीड़ित होकर गहन गुफाओं में छिप-छिपकर दिन काटेगी", "बूढ़ा भूठा भविष्य याचक सा है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे", "लोहा मैं लूंगी कृष्ण से आज उसके लिए", "मरने का नाटक रचकर वह चाहता है बाँधना हमको" आदि उक्तियों (पृष्ठ १०,२७,६८,१२४) में प्रचलित मुहावरों का सार्थक प्रयोग हुआ है।

भाषा में वैशिष्ट्य लाने के लिए भारती ने वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों का भी सहज प्रयोग किया है। 'विशेषण-वक्रता' की चर्चा हम प्रकारान्तर से पहले कर चुके हैं जिसके अन्तर्गत विशेषणों द्वारा विशेष्य में अपूर्व चमत्कार का समावेश अभीष्ट रहता है। "सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित" (पृष्ठ २१) जैसी उक्तियों में 'प्र', 'परि' आदि उपसर्गों के सार्थक प्रयोग से विशिष्ट वर्णन-प्रभाव उत्पन्न कर उन्होंने कहीं-कहीं 'उपसर्ग-वक्रता' का भी सफल प्रयोग किया है। इसी प्रकार निम्न-लिखित उक्ति में नाद-सौन्दर्य और श्रुति-सुखदता के लिए 'स', 'श' और 'क' की आवृत्ति द्वारा 'वर्णविन्यास-वक्रता' की योजना की गई है :

कवि के अनुसार विरह सारे विश्व में व्याप्त है। टहनी पर रोती कलियाँ, डाली पर विलखते फूल-पत्तियाँ, विटपों के वक्षस्थल पर रोकर लिपटती लतिकायें आदि सब विरह के कारण हैं। जग की क्यारी क्यारी में करुणा-जल सिंचा हुआ है। करुणा घोलती कोयलिया अंतस्तल की ज्वाला से ही काली पड़ गई है। 'दरद दीवाना' काग भी तो 'कां-ओ' की ध्वनि में निष्ठुर प्रिय के विरह में रो रहा है। सारा संसार विरह-व्याकुल किसी 'अलख' के लिये रो रहा है। इस विरह के ही कारण उर्मिला के हृदय में टीस उठ रही है। उसके आँगन में करुणा इसी प्रकार उमड़ रही है जिस प्रकार उसके, 'हिय में निदाघ रहता है, नयनों में बसता सावन।' प्रतीक्षा-मग में अपना दीप ले जोगिन सी उर्मिला बाट जोह रही है। अपने योगी के नाम की माला जपती यह योगिन अंतरतर की ज्वाला को आँसुओं से बुझा रही है।

पंचम सर्ग :

यह सर्ग दोहों में रचित है। दोहों के बीच-बीच में सोरठे भी हैं। खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा में लिखे गए इन दोहों में प्रत्येक अपने आप में पूर्ण व समर्थ है और इस काव्य-ग्रन्थ से पृथक् यह सर्ग एक छोटा-विरह-काव्य भी बन सकता है।

लक्ष्मण का साथ स्वप्न सा छूट गया। वियोगिनी उर्मिला की मधुर स्वप्निल रातें, चुपचुप की बातें, सब हृदय में विलीन हो गईं—"साँसों के तार बिछे हैं अब तो यहाँ। प्रिय पीछे मुड़कर मत देखना, कहीं तुम्हारे दृग उलझ न जाएँ।"

प्रिय वियोग में सारा संसार सूना-सूना लगता है। ऋतुएँ आ-जा रही हैं और इनमें उर्मिला की दशा और अधिक दयनीय हो गई है। पावस में आँगन में फुहियाँ बरसती हैं तो उर्मिला के हृदय में सुईयाँ चुभती हैं। चारों ओर अँधेरा है। उसका मन अकुला रहा है और मौन रुदन द्वारा प्रिय को बुला रहा है। नींद भी इन आँखों को छोड़कर परदेस में प्रिय के पास चली गई है।

उर्मिला की व्यथा जगद्व्यापिनी है। उसके कम्पन से संसार का हृदय-प्रदेश काँप उठता है। उसके जीवन की डगर सूनी है। वियोगिनी उर्मिला प्रेम-संन्यासिनी बन गई है। विरहाग्नि धूनी को तपती हुई अन्तस्तल में बैठे 'सजन-ध्यान-मग्ना' हो गई है। प्रिय के दुस्सह वियोग में प्राण निकल भी तो नहीं सकते क्योंकि वे स्मरण-ध्यान के पाश में अटके हुए हैं।

षष्ठम् सर्ग :

इस अन्तिम सर्ग का आरम्भ रावण-वध के पश्चात् राम द्वारा विभीषण को लंका का राज्य दिये जाने से होता है। विभीषण को राजतिलक होता है। सभा में राम धर्मप्रसार के अपने लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति पर व्याख्यान देते हैं। बाद में विभीषण कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं। पुष्पक विमान में बैठे राम-सीता-लक्ष्मण अयोध्या

विचरण करता था अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ।" (पृष्ठ ८१)

भारती ने नयी कविता की प्रयोगशीलता के अनुरूप प्रस्तुत काव्य-नाटक में कुछ स्थलों पर शब्दों को नये सन्दर्भ देने की चेष्टा भी की है। "आस्था नामक घिसा हुआ सिक्का" (पृष्ठ १२३) जैसे प्रयोग इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। सामान्यतः उनकी भाषा स्वच्छ और व्याकरणविहित है, किन्तु कहीं-कहीं काव्य-दोष भी लक्षित होते हैं। उदाहरणस्वरूप जिन कृष्ण के लिए वे 'नील मेघ-सा तन सांवल' कह चुके थे उन्हीं के लिए "पीपल के दो चंचल पातों की छायाएँ रह रह उनके कंचन माथे पर हिलती थीं" कहना 'अनौचित्य दोष' का उदाहरण है क्योंकि श्यामवर्ण शरीर में माथे का रंग कंचन-जैसा नहीं हो सकता। (पृष्ठ १२०) इसी प्रकार अश्वत्थामा के हाथों धृष्टद्युम्न के वध का वर्णन करते समय संजय की निम्नलिखित उक्ति में 'अश्लीलत्व दोष' को स्थान दिया गया है : "फिर चूर चूर कर दिये ठोकरों से उसने मर्मस्थल···" (पृष्ठ ७९) निश्चय ही इसे परिष्कृत उक्ति नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शंकर पर शस्त्र-प्रहार के प्रसंग में कवि की यह उक्ति 'अप्रतीतत्व दोष' से युक्त है : "शर, शक्ति, प्रास, नाराच, गदाएँ सारी—लो क्रोधित हो अश्वत्थामा ने मारी।" (पृष्ठ ७८) इस उक्ति में शस्त्र-सूची इतनी पारिभाषिक है कि साधारण पाठक के लिए बोधगम्य नहीं है—विशेषतः इस कारण कि उपर्युक्त शस्त्रों में से कुछ का प्रयोग अब नहीं होता। भारती 'च्युत संस्कृति दोष' के अन्तर्गत कुछ स्थलों पर लिंग-दोष और वचन-दोष को भी नहीं बचा सके हैं। "हलक भी जमी होगी" (पृष्ठ ८३) में पुंल्लिग-शब्द 'हलक' का स्त्रीलिंगवत् प्रयोग लिंग-दोष का उदाहरण है। इसी प्रकार "जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल" (पृष्ठ १६) में वचन-दोष है क्योंकि 'किसकी' के स्थान पद 'किन' या 'किनकी' का प्रयोग होना चाहिए था। "यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें" (पृष्ठ २१) 'जो हैं प्रजायें (पृष्ठ १०४) और "तलवों में बाण बिंधते ही" (पृष्ठ १२३) भी वचन-दोष से युक्त हैं क्योंकि इनमें क्रमशः 'यह' के स्थान पर 'ये', 'प्रजायें' के स्थान पर 'प्रजा' और 'तलवों' के स्थान पर 'तलवे' का प्रयोग अभीष्ट है। इसी प्रकार संजय द्वारा 'अंधों' शब्द का कटु तिरस्कारयुक्त प्रयोग 'ग्राम्यत्व दोष' का उदाहरण है :

"जाकर अंधों से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।" (पृष्ठ ३८)

भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताओं अथवा दुर्बलताओं के विवेचन के अनन्तर 'अन्धा युग' की शैली पर विचार करना उपयुक्त होगा। इस काव्य-नाटक में

करना, कैकेयी पर लगे लांछन का समाहार और उसके उदात्त चरित्र का स्पष्टीकरण एक नये ही परिप्रेक्ष्य में देना, विभीषण की राज-सभा और उसमें राम का वक्तव्य देना, विभीषण द्वारा कृतज्ञता प्रदर्शित करना आदि ऐसे मौलिक प्रसंग हैं जिनके निर्माण में नवीन जी की प्रतिभा और कल्पना तथा विचारणा-शक्ति के प्रमाण मिलते हैं।

चरित्र-चित्रण :

'उर्मिला में प्रबन्ध-काव्य के अनुरूप घटनाओं की तारतम्यता तो है ही नहीं, साथ ही उर्मिला को चरित्र-प्रधान काव्य भी नहीं कहा जा सकता। पूरे ग्रन्थ में दो-एक पात्र ही प्रमुखता पा सके हैं और वे भी इसलिये कि उनके माध्यम से उर्मिला एवं उसके चरित्र को महत्त्व प्रदान करना कवि को अभीष्ट है। घटनात्मकता के अभाव के कारण कुछेक पात्रों के द्वारा ही कवि अपने लक्ष्य की सिद्धि कर लेता है। कवि की दृष्टि उसके स्वयं के कथनानुसार सीता-राम तथा उर्मिला-लक्ष्मण के गुणगायन तक ही सीमित रही है—(भूमिका—पृ० ज)।

चरित्र-चित्रण की विशेषता यह रही है कि वे मानवीय भूमि पर ही अधिक चित्रित किए गए हैं। कवि की दृष्टि पात्रों के मनस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर अधिक होने से पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का चित्रण श्रेष्ठ रूप में हुआ है। साथ ही ये पात्र युगीन प्रभाव भी ग्रहण किए हुए हैं और इसीलिये एक आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अग्रसरित होते हैं। प्रमुख पात्रों में उर्मिला एवं लक्ष्मण तथा अन्य पात्रों में राम, सीता विभीषण, जनकादि हैं। एकाध स्थल पर उर्मिला की ननद और सासों का भी परिचय मिलता है पर स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अभाव में ये पात्र कोई महत्त्व नहीं रखते।

उर्मिला :

उर्मिला इस काव्य की नायिका है। काव्य का नामकरण 'उर्मिला' ही इसके नायिका प्रधान होने की सूचना देता है। उर्मिला के बचपन का प्रसंग कवि ने विशेष तूलिका से अंकित किया है। यहीं से कवि ने भावी कथा की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उर्मिला के बचपन की छोटी-छोटी घटनाओं का वर्णन किया है, जो कि उर्मिला के चरित्र की प्रमुख विशेषताओं को उभारती हैं। बचपन से ही उर्मिला चंचल और नटखट है। सीता के साथ उपवन में खेलना, कहानी सुनना-सुनाना, मन लगाकर अध्ययन करना—ये सब उसे बचपन में विशेष प्रिय हैं। विवाह से पूर्व का उसका यह जीवन उल्लास से पूर्ण है। माता-पिता की स्नेहिल छाया में वह बड़ी हो रही है; दुःख अभी उससे कोसों दूर है। लेकिन बचपन से ही उसके चरित्र में धर्म और दृढ़ता के गुण पनप रहे हैं जो भावी जीवन में उसके सम्बल रहे। विवाह के पूर्व ही वह

उपमान-संयोजन की पद्धति अपनाई है (पृष्ठ १२,२२) तो दूसरी ओर विदुर द्वारा 'माता' सम्बोधन को लेकर कौरव-पराजय से क्षुब्ध गांधारी की उग्र मनःस्थिति का उपमा के माध्यम से निम्नलिखित अंकन किया है : "शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों सा, मेरी पसलियों में धंसता है।" (पृष्ठ २२) उपमान-संयोजन के प्रति कवि की यह जागरूकता रूपक अलंकार के सन्दर्भ में भी अनेकशः व्यक्त हुई है। "असमंजस का वन', 'मोह-निशा' आदि (पृष्ठ २६) में रूपक के संयोजनार्थ अमूर्त के लिए मूर्त अथवा मूर्त के लिए अमूर्त उपमान देने की प्रक्रिया का उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है। भावाभिव्यक्ति में चमत्कार के समावेश के लिए उन्होंने विरोधाभास अलंकार का भी कहीं-कहीं स्वच्छ प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ अश्वत्थामा की यह उक्ति देखिए : "मैं हूँ दंडित, लेकिन मुक्त हूँ !' (पृष्ठ १२७) अश्वत्थामा की उक्तियों में प्रायः रूपकातिशयोक्ति का भी अनायास समावेश हो गया है। 'सुन लो यह घोषणा इस अंधे वर्बर पशु की।'(पृष्ठ ३८) रूपकातिशयोक्ति और संक्ति-वक्रता के समन्वय का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार अश्वत्थामा ने निम्नलिखित उक्ति में स्वयं को 'पागल कुंजर' और उत्तरा को 'कमल-कली' कहकर उपमा और रूपकातिशयोक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है :

"पागल कुंजर
से कुचली कमल-कली की भाँति
छोड़ूँगा नहीं उत्तरा को भी। (पृष्ठ ७०)

भारती द्वारा प्रयुक्त अन्य अर्थालंकारों में 'मानवीकरण' भी उल्लेखनीय हैं, यद्यपि इसका प्रयोग बहुत कम स्थलों पर हुआ है। "नगर द्वार अपलक खुले ही हैं," "बूढ़ा भूठा भविष्य याचक-सा है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे", "करोड़ों यम-लोकों की यातना कुतर रही है मेरे माँस को" आदि उक्तियों में जड़ पदार्थों अथवा अमूर्त स्थितियों का मानवीकरण कवि की मौलिक अभिव्यंजना-शक्ति का परिचायक है। (पृष्ठ २६, २७, १२१) निम्नलिखित उक्ति में चपलातिशयोक्ति का प्रयोग भी द्रष्टव्य है जो चित्रगुण से समन्वित होने के कारण सहजप्रभावी बन पड़ा है :

"स्वीकार किया यह शाप कृष्ण ने जिस क्षण से
उस क्षण से ज्योति सितारों की पड़ गई मंद।" (पृष्ठ १०१)

'अंधा युग' में शब्दालंकारों की स्वाभाविकता और गरिमा भी उल्लेखनीय है। वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों की सहजप्रयुक्ति का उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है, "अंधों को सत्य दिखाने में क्या मुझको भी अंधा ही होना है" (पृष्ठ ८६) जैसी उक्तियों में श्लेष का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। कवि ने श्रुति-माधुर्य और भावावेग की अभिव्यक्ति के लिए शब्दविशेष की पूर्ण आवृत्ति द्वारा पुनरुक्तिप्रकाश का भी बहुलता से समावेश किया है। "टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा", "घिसट-घिसट कर आया

निस्सार हैं। चौदह वर्ष के लिये उसे पति से विलग होना ही होगा। उसके जीवन-धन वन वन में भटकेंगे और वह—

"यहाँ उर्मिला राज करेगी,
प्रासादों में, उपवन में,
हृदय अरे ओ निष्ठुर निर्मम
फटता क्यों न एक क्षण में।"

अगर पति को वन जाते देख वह विलाप करती है तो लक्ष्मण को चाहिये कि वह उसे रोके नहीं, प्रलाप करने दे और उसके विलाप पर ध्यान न देकर कान मूंद ले। उमड़ते आँसुओं को कैसे रोके वह? वह विवश है—

"तड़पन तो होगी, होने दो,
रोऊँगी, रो लेने दो।"

लक्ष्मण वन चले जाते हैं। उर्मिला रोती कलपती रह जाती है। लक्ष्मण के वियोग में उसका निस्वार्थ और पवित्र प्रेम निखरता जाता है। चौदह वर्षों की लम्बी अवधि के लिये वह अवध में अकेली रह जाती है। ऋतुएँ आती जाती हैं, किन्तु कदाचित् विरहाग्नि को प्रज्वलित करने ही आती हैं। वह इस भरेपूरे राजमहल में भी अकेली है। ऊषा, प्रातःकाल, मध्याह्न, सांझ, नक्षत्र, चन्द्र, रात्रि, नित्यप्रति आते हैं और जाते हैं पर प्रिय की अनुपस्थिति में इन सबको उर्मिला स्वीकार नहीं कर पाती। सर्वस्व समर्पित कर देने के बाद भी उसका वाक्य है :—

"आत्मदान की चरम वेदना में भी प्रिय कितनी कल है।"

उर्मिला का विरह प्रसार पाता है और चराचर में व्याप्त हो जाता है। सारा संसार विरह में लिप्त है। उर्मिला का एक मर्मस्पर्शी चित्र देखिये—

"आँसू, हिचकी आहें ये,
हृदय-स्पन्दन आकुलता,
यह लगन बावरी भोली
यह हिय-वेदना, अतुलता।"

संसार भर की करुणा उमड़ कर उर्मिला के आंगन में आ बरसी है। पति के वियोग में वह योगिनी बन जाती है। आँसू के बहाने अन्तर से श्रद्धा की अंजलि टपक रही है। अवधि के दीप में प्रियतम की स्मृति रूपी बाती रख कर उसके हृदय का प्रेम लौ बन कर मंजुल प्रकाश फैला रहा है। प्रतीक्षा रूपी मार्ग में इस दीपक को रख कर जोगिन उर्मिला अपलक बाट जोहती है। उसे प्रिय के साथ बिताये जीवन की मधुर घड़ियों की; चुपचुप की बातों की याद आती है। इस वियोग में उर्मिला का प्रेम उस उच्चतम मानसिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि कवि अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन चित्र भी अंकित नहीं कर सकता।

परिणाम है और दूसरी ओर चित्रभाषा, मौलिक बिम्ब-विधान और आधुनिकता के संस्पर्श से युक्त प्रतीकों की देन है। परम्परागत भारतीय संस्कृति और वैष्णव भावना में ही न खोकर कवि ने इसमें अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सूक्ष्म विश्लेषणपूर्वक नये भाव-बोध को स्थान दिया है। इसी प्रकार अलंकृत भाषा, लयात्मक प्रभाव, सशक्त व्यंग्य, कथा-गायन-शैली, 'पंख, पहिये और पट्टियाँ' जैसे शीर्षकों आदि ने इसमें जिस कलात्मक प्रौढ़ता का संचार कर दिया है उसे भी कृत्रिम या आरोपित नहीं कहा जा सकता। रंगधर्मिता और रेडियो-प्रसारण पर एक साथ दृष्टि रखना भी दुष्कर उपलब्धि है, किन्तु भारती ने इसके माध्यम से नवीन शिल्पसम्भावनाओं को जन्म दिया है।

'अंधा युग' में परिचित जीवन व्यवहार का ही समक्षीकरण न कर अश्वत्थामा की अमानवीयता और आक्रामकता, युधिष्ठिर की घोर आत्मलीनता, प्रहरियों की उदासीनता और सम्बन्धहीनता आदि का चित्रण किया गया है जो भारती के सर्जनात्मक बोध का परिचायक है। इस सन्दर्भ में उनकी मनोविश्लेषण-क्षमता भी विभिन्न स्थलों पर प्रमाणित हुई है। इसीलिए उन्होंने दुर्योधन और अश्वत्थामा को पूर्वाग्रहपूर्वक सर्वत्र दुर्जन के रूप में चित्रित न कर दुर्योधन के प्रति पांडवों के अन्याय, परिस्थितिवश उसकी असहाय अवस्था, अश्वत्थामा की अन्तर्वेदना आदि का साभिप्राय वर्णन किया है। वास्तव में इनके प्रति कवि के सद्भाव ने ही गांधारी के व्यक्तित्व को नई भूमिका प्रदान की है। कृष्ण के प्रति विभिन्न पात्रों की आस्था अथवा आक्षेपों को भी परिस्थितियों के तुलनात्मक मूल्यांकन के उद्देश्य से चित्रित किया गया है। इसी प्रकार कौरवों के शासन के बाद युधिष्ठिर का शासन-काल संक्रमण की परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें विभाजित व्यक्तित्व के कारण पात्र किसी एक दिशा को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। यहाँ यह टिप्पणी अप्रासंगिक न होगी कि यदि कवि ने दुर्योधन, युयुत्सु, कृतवर्मा, भीम, अर्जुन आदि को अधिक क्रियाशील दिखाया होता तो पात्रों की मनः स्थितियों के निर्धारण में अधिक व्यापकता और स्पष्टता आ सकती थी। किन्तु, यह इसलिए सम्भव नहीं हो सका कि उनका लक्ष्य विस्तृत चरित्र-निरूपण की अपेक्षा युद्ध-दर्शन की तलखी को साकार करना था। इसीलिए 'अंधा युग' के कथानक की बुनावट संक्षिप्तता और मितव्ययता के साथ की गई है—गौण कथा-प्रसंगों और तत्सम्बद्ध चरित्र-रेखाओं को उन्होंने महत्त्व नहीं दिया। परिणामस्वरूप इस कृति में कवि का मूर्तिभंजक स्वर मुख्य रहा है—उन्होंने कटु यथार्थ, आत्मसजग पात्रों, उद्देश्यगर्भित संवादों, चित्रमयी भाषा आदि के माध्यम से अपने प्रतिपाद्य को मात्र स्थूल और सतही नहीं रखा, अपितु उसे मार्मिक तीखापन प्रदान किया है।

का भेदभाव नहीं। लक्ष्मण के धनुष की टंकार और उर्मिला के नूपुर की झंकार 'एकोहं' के स्वर ही उत्कम्पित करती है—"उर्मिला लक्ष्मण रूप हो गई, हुए उर्मिला-रूप सौमित्र।"

वन गमन के समय लक्ष्मण एक धीर वीर के रूप में दीख पड़ते हैं। उर्मिला से विदा माँगते समय उन्होंने अपनी कमजोरी को प्रकट नहीं होने दिया। आँसू बहाती उर्मिला से वे वन जाने की अनुमति माँगते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रेम से कर्त्तव्य महान् है। वन में उन्हें आर्यों की संस्कृति का प्रसार करना है; आर्यों के धर्म को, उसके मंगलमय संदेश को वनवासियों के सम्मुख प्रस्तुत करना है। अतः वे राजसी सुखों से दूर वन के कष्टों को झेलने के लिए तैयार हो जाते हैं। लेकिन फिर भी उर्मिला तो उनकी आराध्या है। चौदह वर्ष तक उससे दूर रहना है। उनके प्रेम का प्रसार व्यापक है। निर्जन वन में भी उर्मिला उनके मन में बसी रहेगी। वन में भी वे उर्मिला को भूल नहीं पायेंगे—(पृ० १९१)। यह बात नहीं कि लक्ष्मण को उर्मिला से बिछुड़ने का दुःख नहीं। उनके हृदय में भी प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व मचता है। उर्मिला जैसी वस्तु को छोड़ना उनके प्राणों के लिए फाँसी है जो कि वर्षों तक उन्हें गाँसती रहेगी—वे घुटते रहेंगे पर दम नहीं निकल पायेगा, चरम वियोग वेदना सहनी पड़ेगी। लेकिन क्या करें?

"प्राणों में तड़पन होती है, अकुलाता है प्रिये हृदय,
किन्तु करूँ क्या? खड़ा सामने, यह कर्त्तव्य, निठुर, निर्दय।"

लक्ष्मण वन चले जाते हैं। काव्य में सर्वत्र हमारे सम्मुख लक्ष्मण का एक ही रूप आता है और वह है लक्ष्मण का प्रेमी रूप। लक्ष्मण-उर्मिला मानों प्रेम की सजीव मूर्तियाँ हैं। वन में रह कर लक्ष्मण का प्रेम स्थिर होता है। उर्मिला का प्रेम उन्हें शान्ति प्रदान करता है। उनके हृदय में भी उर्मिला के दर्शनों की उत्सुकता रहती थी किन्तु इस उत्सुकता में दाह एवं अशान्ति-भ्रान्ति का लेश भी नहीं था—

"नहीं उर्मिला है अब मेरी, वह-मैं एक स्वरूप हुआ।"

वन से वापिस आते समय लक्ष्मण-सीता के संवाद में लक्ष्मण के हृदय की कोमल वृत्तियों का स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जब लक्ष्मण के समक्ष चौदह वर्षों बाद आँखों में आँसू लिए उर्मिला आयेगी, उस समय—

"निश्चय प्राणों में आकुलता, चंचलता होगी तड़पन।"

और कवि इस महा-मिलन को चित्रित करने में असमर्थ है।

सीता :

सीता के चरित्र में कवि ने सर्वत्र ही एक मर्यादा का ध्यान रखा है। अतः सीता का राम के प्रति प्रेमिका और पत्नी रूप उर्मिला के समान वर्णित नहीं हो सका है—एक संकोच कवि को घेरे हुए है। बचपन से ही सीता के स्वभाव में गम्भीरता

ने 'साकेत' महाकाव्य की रचना की और नवीन की 'उर्मिला' का भी यही प्रेरणा-स्रोत है।

स्व० नवीन ने 'ऊर्मिला' की रचना सन् १९२१ में आरम्भ की थी और अनेक व्यवधानों के पश्चात् वह १९३४ में समाप्त हुई। किन्तु वास्तव में इस सम्पूर्ण कृति के निर्माण में नवीन जी को कुल सवाचार-साढ़ेचार मास का ही समय लगा था।[1] उन्होंने अपने इस ग्रन्थ को अपनी बन्दीग्रह-यात्राओं में ही पूरा किया। इसका प्रथम सर्ग लखनऊ कारावास में लिखा गया था। १९३१ में हुए ढाई वर्ष के कारावास में उन्होंने इसे पूरा किया था। ग्रन्थ १९५७ में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो सका। इसका कारण भी नवीन जी स्वयं ही रहे। वे आत्मप्रकाशन के सर्वदा विरोधी रहे।

यह निस्संदेह है कि यदि ग्रन्थ की रचना में समय का इतना दीर्घ व्यवधान न होता और उसके पश्चात् इसके प्रकाशन में यदि इतना विलम्ब न होता तो "उर्मिला" का हिन्दी में अपना विशिष्ट ही स्थान होता जिसे इस विलम्ब ने पर्याप्त क्षति पहुँचाई है।

कथा-स्रोत और कथा-सार

'उर्मिला' में परम्परित रामकथा ही मुख्यतया आधारस्वरूप में ग्रहीत है; तथापि उसमें युगानुकूल चेतना-दृष्टिकोण-संस्कृति और मनोविज्ञान जन्य नूतन परिवेश का समावेश है। नवीन जी ने लिखा है—"मेरी इस 'उर्मिला' में पाठकों को रामायणी कथा नहीं मिलेगी। रामायणी कथा से मेरा अर्थ है क्रम से रामजन्म से लगाकर रावण-विजय और फिर अयोध्यागमन तक की घटनाओं का वर्णन। ये घटनाएँ भारतवर्ष में इतनी अधिक सुपरिचित हैं कि इनका वर्णन करना मैंने उचित नहीं समझा। इस ग्रन्थ को मैंने विशेषकर मनस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है।" और आगे लिखा है—"मैंने राम-वन-गमन को एक विशेष रूप में देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की वन-यात्रा मेरी दृष्टि में एक महान् अर्थपूर्ण आर्य-संस्कृति-प्रसार यात्रा थी।"[2]

---

१. "प्रथम सर्ग और बाद के सर्गों के लिखे जाने में प्रायः बारह वर्षों का व्यवधान है। हां, एक बात आश्चर्यजनक है। मैं जितना नित्य लिखता था, तो नीचे तिथि डाल दिया करता था। एक बार मैंने पाण्डुलिपियों से सब तिथियों को जोड़कर यह जानना चाहा कि अन्ततः मुझे लिखने में कितना समय लगा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को लिखने में मैंने सवाचार-साढ़ेचार मास से अधिक समय नहीं लिया।"

"उर्मिला" भूमिका—पृष्ठ 'ग'

२. उर्मिला—श्री लक्ष्मणचरणार्पणमस्तु—पृष्ठ ६।

मेरे प्रिय तुम विपिन पधारो,
ममता-मोह छुटाते से।"

वह अपने आँसुओं पर बरबस रोक लगा देना चाहती है—

"देखूँगी कि कहीं न तुम्हारे,
पथ की बाधाएँ होवें।"

वह नारी है जिसने वियोग में दीक्षित होना ही सीखा है। उर्मिला भी द्वार-देहली पर चिर स्नेह का दीपक रखकर युग-युग तक बाती उकसाती रहेगी। यही तो नारी जीवन है। प्रेम और रुदन ही उसके जीवन में समाया हुआ है।

विरह में उर्मिला बौखला सी जाती है। उसकी यह बौखलाहट विस्मृति की परिचायक है। क्षणिक भावावेश में वह कैकेयी को कोसती भी है और लक्ष्मण का अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने को भी कहती है।

आवेश की अवस्था में वह स्वयं अपने ही ऊपर व्यंग्य करने लगती है—यहाँ उर्मिला राज करेगी, प्रासादों में, उपवन में।" अपनी दीन अवस्था का कितना चुभता हुआ उपहास है उसकी इन पंक्तियों में। सब कुछ सहना ही होगा उसे, कोई उपाय ही नहीं है। किसी भी प्रकार हो, इस लम्बी अवधि तक अवध में उसे रहना ही पड़ेगा। विदा माँगते लक्ष्मण और विदा देती हुई उर्मिला का विस्तृत सजीव और मर्मस्पर्शी चित्र कवि की विशेष करुण तूलिका से अंकित चित्र है। विशेषता यह है कि कवि ने पति-वियुक्ता वियोगिनी उर्मिला का चित्र काफी सीमा तक पति को विदा देती हुई उर्मिला के प्रसंग में ही चित्रित कर दिया है। बाद में तो कवि ने उर्मिला के विरह को व्यापक रूप में लिया है-पर विरह वर्णन, विदाप्रसंग में उर्मिला के मुख से लक्ष्मण के सम्मुख करा दिया है।

ऋतुओं का आना-जाना, मदोन्मत्त पवन का बहना, ऊषा, प्रातःकाल, साँझ, नक्षत्र, चन्द्रादि का नित्यप्रति क्रीड़ाएँ करना, उर्मिला कैसे सहेगी। ये सभी उसके वियोग की ज्वाला को भड़काएँगे। वह अपने हृदय की व्यथा किससे कहेगी? लेकिन कितना ही कष्ट उठाना पड़े, वह सह लेगी उसने लक्ष्मण को विदा दे दी। सीता भी उसके त्याग और साहस की प्रशंसा किए बिना नहीं रहती पर उससे भी उर्मिला का यही उत्तर है कि "मैं न कहीं हो जाऊँ बाधा, उनकी परम साधना की।" उर्मिला के विरह की कल्पना कर राम तक विचलित हो उठते हैं।

सीता-राम के साथ लक्ष्मण के वन चले जाने पर उर्मिला अकेली रह जाती है—चौदह वर्षों तक अश्रु बहाने के लिए। उर्मिला के विरह का कवि ने बड़ा विस्तृत चित्रण किया है। चतुर्थ सर्ग में "विरह मीमांसा" है तथा पंचम सर्ग एक अलग ही विरह वर्णन से भरा दोहा-सप्तशती सा बन गया है।

उर्मिला के इस विरह ने प्रसार पाकर व्यापक रूप धारण कर लिया है। यह

द्वितीय सर्ग :

धनुष-यज्ञ, विवाहादि की विश्रुत घटनाओं को छोड़कर इस सर्ग में कवि एक-दम अयोध्या नगरी में राम और उनके भाईयों के विवाहोपरान्त छाए उल्लास का सरस वर्णन करता है। इस सर्ग में सीता और उर्मिला का चरित्र ही प्रधान रूप में उभरा है। दोनों के सद्गुणों की प्रशंसा सबके मुख से कराई गई है। पर विशेषता उर्मिला को दी गई है। इस सर्ग के उत्तरार्द्ध "मुकुलित कुसुम दर्शन" में विन्ध्यादि में भ्रमणार्थ गए उर्मिला-लक्ष्मण के प्रणय-दृश्यों का अभिराम चित्रण है। नव विवाहित दम्पत्ति का यह प्रणय वासना का उद्दाम वेग नहीं, माधुर्य की शीतल सरिता है। उर्मिला पूछती है—"प्रेम के शुद्ध रूप में कहो सम्मिलन है प्रधान या गौण?" लक्ष्मण का उत्तर है—"प्रेम के शुद्ध रूप में पार्थिवता की चाह कहां? सम्मिलन-अवस्था में प्रेमी-प्रिय का भेद कहां? प्रेमी-प्रिय-प्रेम सब एक हो जाते हैं। उर्मिला, इस आदर्श अवस्था की प्राप्ति के लिए ही तो तुम मुझ में आ मिली हो।"

तृतीय सर्ग :

प्रारम्भ में 'आँसू' पर कुछ पंक्तियाँ हैं—"ओ अंतस्तल के अधिवासी आँसू, आज कुछ विप्रयोग की कथा लिखवा दो। तुम प्रज्वलित हृदयवन्हि के मृदुल प्रसून हो। आज तुम उर्मिला-लक्ष्मण के चरणों में ढरक पड़ो।"

सीता-राम-लक्ष्मण वन जा रहे हैं। लक्ष्मण उर्मिला से विदा मांग रहे हैं। दो गहरे हृदय-समुद्रों का मन्थन हो रहा है जिनमें कर्मशीलता और स्नेह का गठ-बंधन है। उर्मिला के नयनों की गहराई में आँसू आ गये तो लक्ष्मण पूछते हैं—"तनिक सुनो, आंखों में भर क्यों यह मुक्ता धन लाई हो?" क्योंकि उर्मिला तो लक्ष्मण के हृदय में समाई हुई है। वन में भी वे उसी का ध्यान करेंगे—

"मैं खोजूंगा तुम प्रसून को उन जंगल के शूलों में।
तुम्हें पुकारूंगा पद पद की प्रति ठोकर की भूलों में॥"

वे वन में भौतिकता को दूर कर आध्यात्मिकता का प्रसार करने जा रहे हैं। सतत प्रवासी, तिमिर निवासी, मूढ़ वनवासियों को प्रबोध दिलाने जा रहे हैं। यही राम-वन-गमन का कारण है। इसीलिये तो दूरदर्शिनी माता कैकेयी ने ऐसे वर माँगे हैं। उर्मिला आँसुओं को रोककर, हृदय थामकर लक्ष्मण को विदा देती है। उसके कथनानुसार तो नारी चिर-प्रतीक्षिका है, चिर-परीक्षिता है। माता का आशीष ले, लक्ष्मण भाई-भाभी के साथ वन चले गये।

चतुर्थ सर्ग :

इस सर्ग का नाम 'विरह-मीमांसा' है। इसमें कवि ने विरह की महत्ता और विश्व में इसका प्रसार दिखाया है। अन्तिम अंक को छोड़कर यह पूरा सर्ग एक पृथक अस्तित्व लिये है।

वियोग' कह कर वियोग को वरदान माना है।

उर्मिला के वियोग वर्णन में परम्परागत षट्ऋतु वर्णन भी है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद आदि सभी ऋतुएँ क्रमशः आती हैं और उर्मिला का दुखी हृदय और अधिक व्याकुल हो उठता है। किन्तु इस वर्णन में मौलिकता नहीं, न ही मार्मिकता की वांछनीय तीव्रता। उर्मिला के विरह में यहाँ से वहाँ तक दीनता है, समर्पण है। प्रेम का प्रतिपादन वह कहीं नहीं माँगती। उसने सभी कुछ प्रिय को समर्पित कर दिया है। यही उसके प्रेम की उत्कृष्टता है। मन रूपी तालाब में खिले निर्मल हृदय रूपी कमल को लक्ष्मण के चरणों में लीन कर अब वह कुछ नहीं चाहती, केवल उन चरणों की आराधना माँगती है।

उसके जीवन का सारा सौन्दर्य, सारा माधुर्य प्रिय के बिना अस्तित्वहीन हो गया है। फिर भी उसे विश्वास है कि लक्ष्मण उसके बिना पूर्ण नहीं—"मो बिनु पिय किमि होउगे, तुम सम्पूर्ण अनूप?"

उर्मिला के इस वियोग वर्णन में यद्यपि प्रेम का उच्च स्वरूप चित्रित है, विरह का भी सुन्दर और विशद निरूपण है फिर भी उर्मिला का यह विरह दयनीय ही है। उसके प्रेम में स्वावलम्बन की और प्रेम में अपने को हीन न समझने की भावना नहीं है। जैसे एक भक्त अपनी दीन दशा का बखान करता हुआ अपने भगवान के समक्ष रोता है, कुछ वैसा ही उर्मिला का यह विरह-वर्णन है। उर्मिला के विरह में वह तीव्रता और तिलमिला देने की वह शक्ति नहीं जो कि चौदह वर्षों की लम्बी अवधि के लिए पति-वियुक्ता नारी के लिए अपेक्षित हो सकती है।

कहीं जहाँ पर कवि ने विरह को रहस्यवादी रूप देने की चेष्टा की है, वहाँ उर्मिला का लौकिक विरह हीन पड़ गया है। विरह-चित्रण लौकिक धरातल पर अधिक स्वाभाविक और सहज होता है और अलौकिक धरातल पर उसे चित्रित करने की चेष्टा उसकी स्वाभाविकता का हनन कर देती है। 'उर्मिला' की उर्मिला के विपरीत 'प्रियप्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला हैं जो प्रिय वियोग में आँसू बहाती हुई भी कर्त्तव्य का विस्मरण नहीं करतीं, प्रत्युत लोकमंगल और लोकसेवा की ओर अग्रसर होती हैं तथा दुखियों के प्रति उनका हृदय सम्वेदना प्रकट करता है।

विरह-वर्णन की विशेषता यह है कि कवि ने प्राचीन और नूतन पद्धतियों के समन्वय का प्रयास किया है। षट्ऋतु-वर्णन में ऋतुओं का क्या प्रभाव विरहिणी पर पड़ा, मात्र यही देखने का प्रयास कवि ने नहीं किया प्रत्युत उसने यह मनोवैज्ञानिक चित्रण भी किया कि किस प्रकार प्रकृति के विभिन्न दृश्यों-उपकरणों-तत्त्वों में उर्मिला अपने प्रिय के व्यक्तित्व के विविध अंशों को अवतरित और आभान्वित देखती है।

सम्वाद-योजना :

प्रबंध काव्य में सम्वादों का अपना स्थान और महत्त्व है। औचित्य औ

को चल पड़ते हैं। मार्ग में सीता-लक्ष्मण संवाद होता है। ध्यानमग्न लक्ष्मण को देख सीता परिहास में पूछती है—"लक्ष्मण, किसका ध्यान कर रहे हो? क्या उर्मिला का?" लक्ष्मण इसे स्वीकार करते हैं क्योंकि "मत समझो कि नरों के हिय में नारी-हृदय विभूति नहीं।"

उर्मिला-लक्ष्मण-पुनर्मिलन-दृश्य कवि अंकित नहीं करता क्योंकि वह मिलन नहीं पूर्ण आत्म-दर्शन है और "कल्पने, असम्भव ही है दिखलाना हिय का स्पन्दन।" सर्ग राम के अयोध्या-आगमन पर समाप्त हो जाता है।

कथानक : एक दृष्टि :

'उर्मिला' काव्य की रचना का मुख्य उद्देश्य है—उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को व्यापक रूप में प्रस्तुत करना। भूमिका के 'समर्पण' में कवि ने एक मित्र की आपत्ति कि उर्मिला पर काव्य ग्रन्थ क्यों लिखा? वही पुरानी बात का खंडन किया है। क्योंकि पुराने विषयों को भी नवीनता से सुसज्जित किया जा सकता है (पृष्ठ घ)। 'उर्मिला' में कवि ने कथा को कोई प्रमुखता नहीं दी है, वरन पात्रों के मनस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को ही उसने महत्त्व दिया है। ६१६ पृष्ठों के ६ सर्गों में विभक्त इस काव्य में सर्वत्र उर्मिला का चरित्र ही छाया हुआ है। कथा की शृङ्खला में तारतम्यता नहीं है—कथा है भी नहीं। उर्मिला-सीता के बचपन से कथा का प्रारम्भ हुआ है। फिर एकदम दोनों ससुराल में दीख पड़ती हैं। इसके बाद वन-गमन के अनन्तर उर्मिला का विरह आता है। अन्त में राम-लक्ष्मण-सीता का वन से वापिस आने का वर्णन है। लक्ष्मण-उर्मिला-पुनर्मिलन का वर्णन भी नहीं है। अन्तिम सर्ग काव्य के प्रमुख उद्देश्य-उर्मिला चरित्रांकन—के साथ मेल नहीं खाता। एकदम अलग से जुड़ा हुआ जान पड़ता है। किन्तु राम-वन-गमन के उद्देश्य की नवीनता जिसे हम ग्रन्थ का गौण लक्ष्य मान सकते है—की पुष्टि यह सर्ग करता है। प्रसिद्ध घटनाओं—धनुष-भंग, वन-गमन, पंचवटी-प्रसंग, राम-रावण-युद्ध, भरत-मिलाप आदि का इसमें समावेश नहीं है। हाँ, कवि ने ग्रहीत कथा में कुछ सर्वथा नवीन और मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएँ अवश्य प्रस्तुत की हैं जो कथा को गरिमामय तथा श्रेष्ठ बनाने में सफल सिद्ध हुई हैं। ये नवीन प्रसंगोद्भावनाएँ नवीन जी की समृद्ध कल्पना-शक्ति और भावुक दृष्टिकोण की परिचायक हैं। इनमें जनक के उपवन में बाल-केलि-रत सीता-उर्मिला के बालाजीवन का वर्णन और उनके द्वारा कहलाई कथाओं में जीवन की भावी घटनाओं का पूर्वाभास, नवीन जी की नितान्त अपनी सूझ है। धनुर्यज्ञ इसलिये होता है क्योंकि इसके माध्यम से जनक आर्य-सिंहों के छौनों को देखना-परखना चाहते हैं। उर्मिला-लक्ष्मण का विन्ध्य-वटी में पर्यटन के हेतु जाना, 'कला' और 'प्रेम' जैसे विषयों को लेकर उर्मिला का शत्रुघ्न और लक्ष्मण से विवाद करना, राम-वन-गमन की घटना को आर्य-संस्कृति-प्रसार के रूप में ग्रहण

में दिया गया राम का भाषण सबसे लम्बा है। विभीषण, सुग्रीव और दशरथ के वक्तृत्व भी काव्य में हैं, किन्तु वे इतने लम्बे नहीं हैं; हाँ विभीषण का इन तीनों में लम्बा वक्तृत्व है। ऐसे लम्बे सम्भाषणों और वक्तृत्वों को कथानक की तारतमयता की दृष्टि से अधिक अनुकूल और उचित नहीं कहा जा सकता। ये कथा के प्रवाह में प्रायः बाधक ही हुए हैं। इनके पक्ष में युगीन प्रभाव को ही प्रस्तुत किया जा सकता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि अपनी विशिष्ट चिंताधाराओं और मान्यताओं को प्रकट करने के लिये भी इनका अवलम्ब लिया गया है। ऐसे भाषणों का रोचक बनाया जा सकना प्रायः ही दुष्कर है। अतः इनकी शुष्कता कथा में अपेक्षित प्रभाव के निरूपण में बाधा डालती है। "उर्मिला" के प्रायः सभी लम्बे भाषण और दीर्घ सम्वाद दुरूह ही अधिक बन पड़े हैं।

प्रकृति-वर्णन :

महाकाव्यों और प्रबन्ध-काव्यों में प्रकृति-चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यों ने प्रकृति के अनेकशः रूपों की अवतारणा प्रबंध-काव्यों के लिये अनिवार्य बताई है। "उर्मिला" में प्रकृति के अनेक अभिराम चित्र उपलब्ध होते हैं, किन्तु कहीं भी ये वर्णन कथा-विकास में बोझिल और दूभर नहीं बन पाए हैं। स्थिति के अनुकूल ही प्रकृति-चित्रण है। पृष्ठभूमि के रूप में भी और स्वतंत्र भी प्रकृति के दृश्यों का अंकन किया गया है। वर्णनात्मक, संवेदनात्मक, भावोद्दीपक, आलंकारिक, पृष्ठभूमि निरूपक और उपदेशपरक आदि प्रायः सभी रूपों के प्रकृति चित्रण के उदाहरण "उर्मिला" में मिल जाएँगे।

गार्हस्थिक चित्र :

"उर्मिला" में ग्रहीत राम कथा पारिवारिक संदर्भ में होते हुए भी सांस्कृतिक रूप में ही अधिक विकसित हुई है, किंतु तो भी पात्रों का मर्यादानुकूल पारिवारिक स्थिति जो उस युग की एक महती आदर्शवादी स्थिति थी—भुलाई नहीं जा सकती और इसलिये "उर्मिला" में भी परिवार के कई सुन्दर चित्र आ खड़े हुए हैं। प्रायः दो ही परिवारों के जीवन "उर्मिला" में हैं—जनक परिवार और दशरथ परिवार; उर्मिला का नेहर और पीहर। उर्मिला के बाल जीवन के सुन्दर चित्र जनक के प्रासाद-प्रांगणों और उद्यानों में उकेरे गए हैं और साथ ही जनक तथा जनक-भार्या के आदर्श पति-पत्नी जीवन की झाँकियाँ भी वहाँ हैं। दाम्पत्य जीवन की झाँकियाँ उर्मिला-लक्ष्मण के ही जीवन से अधिक ग्रहीत हैं। राम-सीता के दृश्य भी महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि कि कम हैं। केवल जनक के ही घर-आँगन में उर्मिला वात्सल्य नहीं पाती, दशरथ के यहाँ भी उर्मिला को गुरुजनों से वही स्नेह मिलता है। गार्हस्थिक मर्यादा और भारतीय परिवार-परम्परा के अनुकूल सीता-उर्मिला अपनी सासों की सेवा करती हैं। पात्र की स्थिति के अनुसार नियत उसकी मर्यादा का सब कहीं कवि ने

को चल पड़ते हैं। मार्ग में सीता-लक्ष्मण संवाद होता है। ध्यानमग्न लक्ष्मण को देख सीता परिहास में पूछती है—"लक्ष्मण, किसका ध्यान कर रहे हो ? क्या उर्मिला का ?" लक्ष्मण इसे स्वीकार करते हैं क्योंकि "मत समझो कि नरों के हिय में नारी-हृदय विभूति नहीं।"

उर्मिला-लक्ष्मण-पुनर्मिलन-दृश्य कवि अंकित नहीं करता क्योंकि वह मिलन नहीं पूर्ण आत्म-दर्शन है और "कल्पने, असम्भव ही है दिखलाना हिय का स्पन्दन।" सर्ग राम के अयोध्या-आगमन पर समाप्त हो जाता है।

कथानक : एक दृष्टि :

'उर्मिला' काव्य की रचना का मुख्य उद्देश्य है—उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को व्यापक रूप में प्रस्तुत करना। भूमिका के 'समर्पण' में कवि ने एक मित्र की आपत्ति कि उर्मिला पर काव्य ग्रन्थ क्यों लिखा ? वही पुरानी बात का खंडन किया है। क्योंकि पुराने विषयों को भी नवीनता से सुसज्जित किया जा सकता है (पृष्ठ घ)। 'उर्मिला' में कवि ने कथा को कोई प्रमुखता नहीं दी है, वरन पात्रों के मनस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को ही उसने महत्त्व दिया है। ६१६ पृष्ठों के ६ सर्गों में विभक्त इस काव्य में सर्वत्र उर्मिला का चरित्र ही छाया हुआ है। कथा की शृङ्खला में तारतम्यता नहीं है—कथा है भी नहीं। उर्मिला-सीता के बचपन से कथा का प्रारम्भ हुआ है। फिर एकदम दोनों ससुराल में दीख पड़ती हैं। इसके बाद वन-गमन के अनन्तर उर्मिला का विरह आता है। अन्त में राम-लक्ष्मण-सीता का वन से वापिस आने का वर्णन है। लक्ष्मण-उर्मिला-पुनर्मिलन का वर्णन भी नहीं है। अन्तिम सर्ग काव्य के प्रमुख उद्देश्य-उर्मिला चरित्रांकन—के साथ मेल नहीं खाता। एकदम अलग से जुड़ा हुआ जान पड़ता है। किन्तु राम-वन-गमन के उद्देश्य की नवीनता जिसे हम ग्रन्थ का गौण लक्ष्य मान सकते हैं—की पुष्टि यह सर्ग करता है। प्रसिद्ध घटनाओं—धनुष-भंग, वन-गमन, पंचवटी-प्रसंग, राम-रावण-युद्ध, भरत-मिलाप आदि का इसमें समावेश नहीं है। हां, कवि ने ग्रहीत कथा में कुछ सर्वथा नवीन और मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएँ अवश्य प्रस्तुत की हैं जो कथा को गरिमामय तथा श्रेष्ठ बनाने में सफल सिद्ध हुई हैं। ये नवीन प्रसंगोद्भावनाएँ नवीन जी की समृद्ध कल्पना-शक्ति और भावुक दृष्टिकोण की परिचायक हैं। इनमें जनक के उपवन में बाल-केलि-रत सीता-उर्मिला के बालाजीवन का वर्णन और उनके द्वारा कहलाई कथाओं में जीवन की भावी घटनाओं का पूर्वाभास, नवीन जी की नितान्त अपनी सूझ है। धनुर्यज्ञ इसलिये होता है क्योंकि इसके माध्यम से जनक आर्य-सिंहों के छौनों को देखना-परखना चाहते हैं। उर्मिला-लक्ष्मण का विन्ध्य-वटी में पर्यटन के हेतु जाना, 'कला' और 'प्रेम' जैसे विषयों को लेकर उर्मिला का शत्रुघ्न और लक्ष्मण से विवाद करना, राम-वन-गमन की घटना को आर्य-संस्कृति-प्रसार के रूप में ग्रहण

मानते।

नारी-उत्थान के स्वर बीसवीं शती के ही महत्त्वपूर्ण स्वर हैं। इसी शती में उपेक्षिता नारियाँ भी प्रकाश में आईं। 'उर्मिला' में यत्र-तत्र नारी-जागरण के स्वर मुखर हुए हैं। भारतीय ललनाएँ जहाँ एक ओर करुणामयी हैं वहीं अत्याचारों का सामना करने के लिए भी वे रण-चंडी बन सकती हैं—

"कहे न कोई आर्य-देश की ललनाएँ कायर हैं,
दिखला दो तुम हृदय तुम्हारे मृदु हैं पर तत्पर हैं।"

तथा—

"आर्य-पुत्रियाँ रण-चंडी बन थामें निज धनु-डोर।"

इस काव्य का प्रणयन उस समय हुआ जब भारत परतंत्र था। कवि स्वयं महान् देश-प्रेमी और स्वतन्त्रता-संग्राम का अडिग सेनानी रहा है, अतः इस काव्य में राष्ट्र-प्रेम के स्वरों का मुखरित होना स्वाभाविक है—

"स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी, जन्मभूमि का पल्ला,
खींचा है दुष्टों ने, बोला है स्वदेश पर हल्ला।
कौन हृदय है जोकि न उबले निज समाज की क्षति में,
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति में।

लक्ष्मण का जो सौंदर्य-प्रेमी रूप चित्रित है, वह उनकी (कवि की) स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का परिणाम है।

'हालावाद' का "उर्मिला" की रचना के दिनों में पर्याप्त प्रभाव था। स्वयं नवीन हिन्दी साहित्य में हालावाद के उन्नायकों में से थे। 'उर्मिला' इस प्रभाव से अछूती नहीं रह सकी। लक्ष्मण-उर्मिला प्रेम-प्रसंग में लक्ष्मण प्रेम-हाला के दीवाने हैं—

"तुम रसदात्री, मैं मधुपायी,
तुम प्याली, मैं मतवाला,
मैं मदिरा, तुम पात्र मनोहर,
मैं गाहक, तुम मधुशाला।"

'सुधा मधुर हाला की मस्ती' में मधुशाला का अपना स्थान है—

"होवेगा बदनाम तुम्हारी,
मधुशाला का नाम प्रिये।"

'उर्मिला' में रस और भाव

विरह प्रधान काव्य होने से 'उर्मिला' में शृंगार रस की ही प्रधानता है। शृङ्गार के अंतर्गत भी विप्रलम्भ को ही प्रमुखता मिली है। वात्सल्य हास्य आदि रस अप्रधान हैं।

को चल पड़ते हैं। मार्ग में सीता-लक्ष्मण संवाद होता है। ध्यानमग्न लक्ष्मण को देख सीता परिहास में पूछती है—"लक्ष्मण, किसका ध्यान कर रहे हो? क्या उर्मिला का?" लक्ष्मण इसे स्वीकार करते है क्योंकि "मत समझो कि नरों के हिय में नारी-हृदय विभूति नहीं।"

उर्मिला-लक्ष्मण-पुनर्मिलन-दृश्य कवि अंकित नहीं करता क्योंकि वह मिलन नहीं पूर्ण आत्म-दर्शन है और "कल्पने, असम्भव ही है दिखलाना हिय का स्पन्दन।" सर्ग राम के अयोध्या-आगमन पर समाप्त हो जाता है।

कथानक : एक दृष्टि :

'उर्मिला' काव्य की रचना का मुख्य उद्देश्य है—उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को व्यापक रूप में प्रस्तुत करना। भूमिका के 'समर्पण' में कवि ने एक मित्र की आपत्ति कि उर्मिला पर काव्य ग्रन्थ क्यों लिखा? वही पुरानी बात का खंडन किया है। क्योंकि पुराने विषयों को भी नवीनता से सुसज्जित किया जा सकता है (पृष्ठ घ)। 'उर्मिला' में कवि ने कथा को कोई प्रमुखता नहीं दी है, वरन पात्रों के मनस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को ही उसने महत्त्व दिया है। ६१६ पृष्ठों के ६ सर्गों में विभक्त इस काव्य में सर्वत्र उर्मिला का चरित्र ही छाया हुआ है। कथा की शृङ्खला में तारतम्यता नहीं है—कथा है भी नहीं। उर्मिला-सीता के बचपन से कथा का प्रारम्भ हुआ है। फिर एकदम दोनों ससुराल में दीख पड़ती हैं। इसके बाद वन-गमन के अनन्तर उर्मिला का विरह आता है। अन्त में राम-लक्ष्मण-सीता का वन से वापिस आने का वर्णन है। लक्ष्मण-उर्मिला-पुनर्मिलन का वर्णन भी नहीं है। अन्तिम सर्ग काव्य के प्रमुख उद्देश्य-उर्मिला चरित्रांकन—के साथ मेल नहीं खाता। एकदम अलग से जुड़ा हुआ जान पड़ता है। किन्तु राम-वन-गमन के उद्देश्य की नवीनता जिसे हम ग्रन्थ का गौण लक्ष्य मान सकते हैं—की पुष्टि यह सर्ग करता है। प्रसिद्ध घटनाओं—धनुष-भंग, वन-गमन, पंचवटी-प्रसंग, राम-रावण-युद्ध, भरत-मिलाप आदि का इसमें समावेश नहीं है। हां, कवि ने ग्रहीत कथा में कुछ सर्वथा नवीन और मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएँ अवश्य प्रस्तुत की हैं जो कथा को गरिमामय तथा श्रेष्ठ बनाने में सफल सिद्ध हुई हैं। ये नवीन प्रसंगोद्भावनाएँ नवीन जी की समृद्ध कल्पना-शक्ति और भावुक दृष्टिकोण की परिचायक हैं। इनमें जनक के उपवन में बाल-केलि-रत सीता-उर्मिला के बालाजीवन का वर्णन और उनके द्वारा कहलाई कथाओं में जीवन की भावी घटनाओं का पूर्वाभास, नवीन जी की नितान्त सूझ है। धनुर्यज्ञ इसलिये होता है क्योंकि इसके माध्यम से जनक आर्य-। छोनों को देखना-परखना चाहते हैं। उर्मिला-लक्ष्मण का विन्ध्य-वटी में हेतु जाना, 'कला' और 'प्रेम' जैसे विषयों को लेकर उर्मिला का शत्रुघ्न और से विवाद करना, राम-वन-गमन की घटना को आर्य-संस्कृति-प्रसार के रूप

इसके अतिरिक्त काव्य में भक्ति रस की मंदाकिनी भी प्रवाहित हो रही है। स्थान-स्थान पर कवि ने उर्मिला का स्मरण माँ के रूप में किया है और अपने भक्त हृदय का अनुराग प्रकट किया है।

'उर्मिला' का महाकाव्यत्व

वर्तमान युग को महाकाव्य या प्रबंधकाव्य के लिये अनुपयुक्त समझा जाता है। उसके लिये अनेक कारण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। नवीन ने 'उर्मिला' में पृष्ठ 'घ' (श्री लक्ष्मणचरणार्पणमस्तु) पर इन बाधाओं को गिनाया है, बाद में अपना स्पष्ट मत दिया है—

"मैं वर्तमान युग को विराट काव्य वृत्तियों या महान् काव्यों के सृजन के लिये अनुपयुक्त नहीं मानता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रबंध काव्यों की ओर आज भी प्रवृत्ति है। अतः मैं यह बात मानने में असमर्थ हूँ कि महाकाव्यों, प्रबंध काव्यों का सृजन-प्रयास इस युग की प्रवृति के प्रतिकूल है।" (पृष्ठ ङ)

महाप्रबन्ध और खण्डप्रबन्ध—प्रबंधकाव्य के इन दोनों रूपों में क्रमबद्धता का आधार प्रमुख है। प्रबंध काव्य में संगठन कथानक के द्वारा उपलब्ध होता है जिसमें एक अपेक्षित तारतम्यता आद्योपान्त रहती है। राम कथा ही प्रायः महाकाव्य का विषय अधिक रही है और 'उर्मिला' में रामकथा ही है। किन्तु 'उर्मिला' महाकाव्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जीवन के विविध अंगों का तथा घटनाओं का विशद व्यापक चित्रण इसमें नहीं है। यद्यपि कथा कल्पित न होकर प्रख्यात है फिर भी शैली की नवीनता कल्पना का आश्रय लेकर ही अधिक चली है। रामकथा में से कवि ने उर्मिला के चरित्र को ही लेकर बढ़ना चाहा है। इस प्रकार एक पक्ष को लेकर चलने से काव्य में खण्ड-काव्यत्व आ जाता है, किन्तु कवि ने उर्मिला जन्म से लेकर विवाह, पति से बिछुड़ने पर चौदह वर्ष का वियोग आदि को विषय बनाकर काफी दीर्घ अवधि ले ली है। सर्ग ६ पृथक् सा जान पड़ता है। इन ६ अनतिविस्तृत सर्गों में प्रसंग के अनुकूल केवल उर्मिला संबंधी कथाभाग में संगठन है। काव्य नायिका प्रधान है। प्रकृति वर्णन में परम्परा का निर्वाह है। नगर, उपवन, पर्वत आदि का स्थान-स्थान पर चित्रण है। प्रारम्भ में ही 'पुर-प्रदक्षिणा' और 'जनकपुर प्रवेश' में नगर का विशद चित्रण परम्परागत है। यह वर्णन काव्य के प्रबन्धकाव्यत्व की ओर संकेत करता है। किन्तु क्रमबद्ध कथा को अग्रसर करने के लिये इस काव्य में स्थल-स्थल पर अनेक प्रकार के वर्णन नहीं मिलते। उर्मिला-सीता के प्रारम्भिक जीवन काल में वात्सल्य रस की झाँकी मिलती है, लेकिन करुण रस सारे काव्य में छाया हुआ है। 'विरह मीमांसा' सर्ग में तो इसी रस की प्रमुखता है। शृंगार का संयोग-पक्ष उर्मिला-लक्ष्मण के गिरि-भ्रमण-अवसर पर ही चित्रित है। वियोग-पक्ष

पति-पत्नी कर्त्तव्य को समझती है। कपोत-कपोतनी की कहानी में उसके जीवन का पूर्वाभास ही नहीं है, उसके चारित्रिक गुणों का निदर्शन भी है।

विवाहोपरान्त उर्मिला पति-गृह जाती है। अपने गुणों से वह सबको मोह लेती है। सास-ननद, राज-परिवार की ललनाएँ, सभी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करती हैं—"कितना सुन्दर मुख, क्या लोचन और कैसी मीठी बोली ?" लक्ष्मण उर्मिला को पाकर धन्य हो उठते हैं—

"वह लज्जा की मूर्ति उर्मिला वह सौम्य सुठि की प्रतिमा
आत्म-निवेदन की छोटी-सी मूरत है वह गुण-गरिमा।"

लक्ष्मण और उर्मिला का आपस का प्रेम एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करता है। यह प्रेम का वह विशुद्ध रूप है जिसमें पार्थिवता की चाह नहीं और वियोग का दाह नहीं। संयोगकालीन अवस्था में प्रेम के संबंध में पूछे जाने पर लक्ष्मण ने उर्मिला को यही उत्तर दिया था। इस प्रेम की साधना के लिये ही उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन हुआ है। लक्ष्मण कहते भी हैं—

"इसी आदर्श प्राप्ति के लिये,
उर्मिले, मुझ में तुम आ मिलीं,
प्रेम की मृदु पूजा के हेतु
कली-सी तुम इस हिय में खिलीं।"

लेकिन संयोग का यह सुख क्षणिक था। राम के साथ लक्ष्मण को वन जाना पड़ा। वे उर्मिला से विदा माँगने आए। यहाँ उर्मिला के प्रेम की परीक्षा थी। जब लक्ष्मण कहते हैं—"सह जाओ यह विषम वेदना तुम मेरी अच्छी रानी," तो उर्मिला अपने को सँभाल नहीं सकी। हृदय हाहाकार कर उठा, आँखें बरस पड़ीं। लेकिन उसने पति को वन जाने से रोका नहीं—

"आग लगा, सुख-बाग जलाए, राग-सुहाग लुटाते से,
मेरे प्रिय तुम विपिन पधारो, ममता-मोह छुटाते से।"

"तुम जाओ, सुखेन जाओ," कहकर उसने अपनी आँखों को रोक लिया, पथ की बाधा नहीं बनने दिया। वह तो नारी है—चिर प्रतीक्षिका और चिर परीक्षिता जोकि चिर वियोग की यज्ञाहुति से दीक्षिता होती है। वह अब कुटी की द्वार-देहली पर चिर-नेह प्रदीप को धर युग-युग तक बाती उकसाती रहेगी। लक्ष्मण चौदह युगों तक वन में रहें, वह प्रेम के सहारे अवध में ही रहेगी।

कभी उसके मन में विद्रोह के भाव भी उठते हैं—"यह कैकेयी कौन, उर्मिला का जो उपवन करे दहन ?" वह लक्ष्मण को अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने को कहती है; पिता की आज्ञा को चुपचाप मान लेने का विरोध करती है; और पति को विप्लव के हेतु प्रस्तुत करती है, परन्तु यह सब तो भावावेश है। ये सब उक्तियाँ

समंजन"[1] इसमें नहीं हो सका है। दूसरे प्रबंध-काव्य में भावों-विचारों की जो उदात्त और युग-युग व्यापी गरिमा होती है, तथा कथानक के माध्यम से वैविध्यपूर्ण जीवन का जो अनुपातिक और संतुलित दिग्दर्शन होता है, वह भी 'उर्मिला' में नहीं है। प्रबंध निर्वाह इसमें हो नहीं सका है। प्रबंध-काव्य के लिये आवश्यक है कि कथा अनेकानेक मोड़ों से विविध भंगिमाओं का प्रदर्शन करती हुई गुजरे। 'उर्मिला' में यह अभाव है। फिर भी इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो किसी भी कृति को महा-काव्य सिद्ध करें, चाहे उसमें महाकाव्य की परिभाषा के अंतर्गत् आए हुए आचार्यों द्वारा निर्देशित लक्षणों का अभाव हो। 'उर्मिला' में एक नूतन सांस्कृतिक दृष्टि की, उर्जस्वी कल्पना-शक्ति के सहारे अभिव्यंजना है जो निस्संदेह आधुनिक मानव के लिये कई महत्त्वपूर्ण संदेशों का वहन करती है।

और चाहे हम इसे महाकाव्य मानें या न मानें, यह 'नवीन' जी के ही अनुसार 'परम काव्य' अवश्य है।[2]

भाषा शैली

'उर्मिला' काव्य की भाषा प्रौढ़ और संस्कृत-गर्भित है। उनके प्रारम्भिक कविता-संग्रहों की भाँति भाषा का चलता हुआ रूप यहाँ नहीं है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रन्थ में प्राचुर्य है। कहीं-कहीं अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भी है। फिर भी कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा भावों के अनुकूल ही चली है। अप्रचलित शब्दों जैसे क्वासि, यः कश्चित्, याँचा, मम, तव आदि के प्रयोग से कहीं-कहीं स्वाभाविकता का हनन अवश्य हुआ है। कहीं-कहीं प्रान्तीय अथवा साधारण शब्दों ने प्रवाह के माधुर्य को नष्ट किया है। ब्रजभाषा में रचित दोहों वाला सर्ग सिद्ध करता है कि कवि का ब्रज भाषा पर भी हिन्दी के समान ही अधिकार है। सम्पूर्ण काव्य हिन्दी भाषा का है, किन्तु उसके बीच में पाँचवां सर्ग ब्रजभाषा में रचा गया है। चाहे यह सर्ग माधुर्य की उत्पत्ति करने में सहायक हो, चाहे विरह के भाव की अनुकूलता के उपयुक्त ब्रजभाषा ही है, ऐसा भाव प्रकट करने के लिये हो, किन्तु यह सत्य है कि इसने प्रवाह के मध्य में एक अस्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है। कहा जा सकता है कि यह कवि के मन में ब्रजभाषा के प्रति बसे मोह के कारण है।

अलंकारों का प्रयोग जहाँ सौन्दर्य और भावों के चित्रण में हुआ है, वहीं सफलता मिली है। सौन्दर्य-चित्रण में उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक आदि का स्वाभा-विक तथा मधुर चित्रण है। भाषा व्याकरणानुमोदित है। किन्तु कहीं-कहीं तुकों के

---

१. डा० नगेन्द्र—अरस्तू का काव्य-शास्त्र पृष्ठ १४१।
२. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य—डा० लक्ष्मीनारायण दुबे पृष्ठ-२६६।

उर्मिला के चरित्र में सहज जिज्ञासा की वृत्ति का दर्शन उसके जीवन के प्रारम्भिक चरणों में ही हो जाता है। यह जिज्ञासा प्रायः गम्भीर विषयों को लेकर ही अधिक उपस्थित होती है। विवाहोपरान्त उसका रूप-सौन्दर्य और उसका वाक्चातुर्य सारे अयोध्या को मोहित कर लेता है। वार्तालाप में वह सहज ही विनोदशील वृत्ति की है, किन्तु विनोद वृत्ति में कहीं भी वह अपनी स्त्रियोचित लज्जा का परित्याग नहीं करती। मर्यादा का पूरा ध्यान रखती है। इन्हीं गुणों के कारण वह सबके हृदयों में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लेती है। जिज्ञासा वृत्ति के ही परिणामस्वरूप उसके स्वभाव में चिन्तनशीलता-मननशीलता भी है। अपने द्वारा बनाये चित्र 'नव-मृगया' का वह जो विश्लेषण करती है, वह इस बात का प्रतीक है—(पृ० १०५)। प्रेम के सम्बन्ध में उसकी जो चर्चा लक्ष्मण से होती है वह भी उसकी विचारशीलता और उसके चिन्तक रूप को प्रकट करती है।

यद्यपि वह सात्विक वृत्तियों वाली भावुक और कोमल-हृदया नारी है तथापि उसके चरित्र में नारी का दर्प और वीरत्व भी सम्मिलित है। दशरथ की राम-वन-गमन विषयक नीति; कैकेयी का वर तथा शाप और लक्ष्मण का कर्त्तव्य आदि विषयों की वह जिस धैर्य के साथ समीक्षा करती है और लक्ष्मण को अधर्म और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने का परामर्श देती है; वह उसके इन्हीं गुणों का परिणाम है। किन्तु हठी वह नहीं है। लक्ष्मण के द्वारा अपने कर्त्तव्य के स्पष्टीकरण को सुन लेने पर वह उन्हें वन जाने की अनुमति दे देती है और अपनी आत्मोत्सर्ग, बलिदान और त्याग की पवित्र और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का परिचय देती है।

उर्मिला के चरित्र की श्रेष्ठ दिव्यता राम तक भी यह कहकर कि वह किसी की भी पहुँच के बाहर है, निरूपित करते हैं—(पृ० ३१५)।

लक्ष्मण :

लक्ष्मण इस काव्य के नायक हैं। उर्मिला से विवाह होने के उपरान्त ही उनका परिचय हमारे सम्मुख आता है। उर्मिला-लक्ष्मण का युगल रूप आदर्श पत्नी-पति का रूप है। लक्ष्मण उर्मिला को पाकर धन्य हुए। उर्मिला के कथनानुसार लक्ष्मण उसके जीवन के आदर्श शिकारी हैं, "जो व्रत पालन को उद्यत हैं, करके सर्वस्व निछावर।" उसने अल्प अवधि में ही जान लिया था कि लक्ष्मण में एक सुदृढ़ता है—

"थोड़े से सहवास-काल में मैं यह जान सकी हूँ अब तक।
कि वे महायोगी, वे इन्द्रियजित, वे गुड़ाकेश, वे अपलक।"

लक्ष्मण धीरोदात्त नायक हैं। वे एक आदर्श प्रेमी व पति हैं। उर्मिला से उनका प्रेम पार्थिव नहीं है। इसमें तो चिरकालीन मिलाप है; दर्शन का मोह नहीं; हृदय में ही प्रिय का निवास होता है। यह निरीन्द्रिय प्रेम ही वह आदर्श प्रेम है जिसे लक्ष्मण उर्मिला से प्राप्त करना चाहते हैं—(पृ० १४१)। इस प्रेम में "मैं" और "तू"

४१

एकलव्य

डॉ० वीरेंद्रसिंह

'एकलव्य' महाकाव्य, हिंदी महाकाव्यों की परम्परा में एक नई कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी ओर उसके प्रति यह कहना कि वह प्राचीन परम्पराओं को ही लेकर चला है, उसके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि कवि ने प्राचीन परम्पराओं की जान बूझकर अवहेलना नहीं की है, पर उन्हें आधुनिक काव्य-शिल्प में यथोचित स्थान देने का प्रयत्न अवश्य किया है। उदाहरणस्वरूप मंगलाचरण, देवी-देवताओं की प्रशस्तियाँ, कथानक के संगठन में संधियों, अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं की योजना आदि ऐसे संकेत मिलते हैं, जो आलोचकों को बरबस प्राचीन मान्यताओं के प्रकाश में विवेचन के लिए कटिबद्ध करते हैं। श्री राधेकृष्ण श्रीवास्तव[१] तथा श्री प्रेमनाथ त्रिपाठी[२] ने अपने ग्रन्थों में एकलव्य के कथानक को इसी दृष्टि से विवेचित किया है। मैं उस दृष्टि को अपने विवेचन में अपनाने में असमर्थ रहा हूँ क्योंकि 'एकलव्य' के कलात्मक सौंदर्य को, उस दृष्टि से देखने पर उसे सीमित बँधी बंधाई परम्पराओं में बाँधना ही होगा जो उसके प्रति अन्याय ही कहा जा सकता है। मैं शिल्प-विधान के अन्तर्गत, इस विषय को आगे के पृष्ठों में लूंगा।

आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण से माना जा सकता है जब गुप्त जी तथा हरिऔध ने अनेक खंडकाव्यों तथा महाकाव्यों का प्रणयन प्रारंभ किया। इस समय के महाकाव्यों का सबसे प्रमुख स्वर पौराणिक कथाओं का नवीन संदर्भ में अवतीर्ण करना था। इसी कारण, इस काल के महाकाव्यों में वर्णनात्मकता तथा घटनाओं का क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है। 'प्रियप्रवास', 'जयद्रथ-वध', 'साकेत' आदि काव्यों में घटना तथा वर्णन का मुखरित रूप मिलता है; परंतु गुप्त जी के 'साकेत', 'जय-भारत' तथा 'यशोधरा'

१. एकलव्य एक अध्ययन, पृ० ३७-५४
२. डा० रामकुमार वर्मा का काव्य प्रेमनाथ त्रिपाठी, पृष्ठ १६९-१७३

है। उर्मिला के समान वह चंचल और नटखट नहीं है। रोने-धोने की बातों से वह चुप रहना अच्छा समझती है। सीता दृढ़ निश्चय वाली है और उर्मिला के समान माता-पिता से वह कभी किसी प्रकार की हठ नहीं करती। बचपन से ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति वह जागरूक है और पत्नीत्व को समझती है। बचपन में कहे गये उसके शब्द—

"यदि कबूतरी मैं होती तो कभी न रहती घर में,
साथ साथ मैं उड़ती फिरती वन में और नगर में।
कभी न उसका संग छोड़ती चाहे जो हो जाता,
चाहे वह कपोत कितने ही मेरे हा हा खाता।"

—वह आगे जाकर अपने भावी जीवन में चरितार्थ करती है।

विवाह के पश्चात् ससुराल में वह कभी भी नव-वधू के रूप में दिखाई नहीं देती। मातृत्व जैसे उसके रूप में साकार हो उठा है। वह करुणामयी है और माता के समान सबको स्नेह देती है। यदा-कदा परिहास भी कर उठती है। लक्ष्मण को वन-गमन के समय विदा देती हुई उर्मिला के दुःख को वह समझती है और अनुभव करती है। वह उर्मिला को सान्त्वना देती है और उसका सच्चे हृदय से गुणगान करती है। लक्ष्मण को वह पुत्र के समान मानती है—

"पर मातृत्व उमड़ता मेरा, मुख देखूं जब लक्ष्मण का।"

सीता के चरित्र का परिचय माता सुमित्रा के वन-गमन के अवसर पर कहे गये शब्दों में स्पष्ट झलकता है—

"पति-परायणा, पतित-पावना,
भक्ति भावना, मृदु तुम हो।
स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, श्री
राम-कामना मृदु तुम हो।"

राम :

राम का चरित्र रामायण के राम की भाँति आदर्श और मर्यादायुक्त है। चरित्र अधिक प्रकाश में नहीं आता फिर भी कुल मिलाकर पूरे काव्य में कथानक की गति में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उनका प्रमुख भाग है। वे आर्य-संस्कृति के प्रसार हेतु वन जाते हैं और कर्त्तव्य की पूर्णाहुति पर ही घर लौटते हैं।

मां सुमित्रा को वे अपनी माता से भी अधिक आदर देते हैं। उनकी यह मातृपरायणता ही उन्हें यह कहने को विवश कर देती है कि यदि माता सुमित्रा कहें तो मैं वन-गमन की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता हूँ।

सीता के समान ही राम के प्रति सबके मन में आदर का भाव ही अधिक है। कवि की राम-सीता के प्रति श्रद्धेय भावना ने राम को एक वयो-वृद्ध का सा रूप दे

है जो इस तथ्य को प्रकट करता है कि व्यक्ति जन्म से नहीं, पर कार्य से महान् होता है। जहाँ तक आदर्श का प्रश्न है, उसे डा० वर्मा ने 'एकलव्य' के चरित्र द्वारा व्यंजित किया है और उस आदर्श-निर्माण में आधुनिक भावबोध का भी यथोचित सहारा लिया है जो स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी। प्रसिद्ध इतिहास-दार्शनिक टायनबी का मत है कि हम सम्पूर्ण इतिहास को अपने समय की दृष्टि से ही आँकते हैं और उसका मूल्यांकन करते हैं[1]; यही बात कवि के लिये भी सत्य है जो किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आख्यान को ग्रहण कर, अपने 'समय की दृष्टि' को उसमें अन्तर्हित भी करता है और साथ ही साथ, उस आख्यान को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में अवतीर्ण करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से, 'एकलव्य' महाकाव्य आधुनिक दृष्टि को और आधुनिक विचारधारा को सुन्दर रूप में समक्ष रखता है। इस विचारधारा का क्या रूप है और उसकी अन्विति किस धरातल पर हुई है, इसका सम्यक् विवेचन यथास्थान किया जायगा ?

शिल्प-संगठना

शिल्प-संगठना महाकाव्य का प्राण है क्योंकि इसी के आधार पर कवि अपने विषय को संप्रेषित करता है। अनेक सौंदर्य-शास्त्रियों ने शिल्प को विषय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है; परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से दोनों का समान महत्त्व है, क्योंकि 'विषय' उसी समय महत्त्व ग्रहण करता है (जहाँ तक सर्जनात्मक साहित्य का प्रश्न है) जब वह 'शिल्प' के सौंदर्य का निखार प्राप्त करता है। 'एकलव्य' के शिल्प में ऐसा ही सौंदर्य प्राप्त होता है क्योंकि उसका विषय जहाँ दो संस्कृतियों के संघर्ष को लेकर चलता है, वहीं एकलव्य एवं आचार्य द्रोण के मानसिक संघर्ष को भी अपना विषय बनाता है। वैसे तो 'विषय' का विस्तार सीमित है, पर कवि ने उस सीमा के अन्दर ही शिल्प के सौंदर्य को इस प्रकार उभारा है कि महाकाव्य में शिल्प और विषय दोनों एक-रस हो गये हैं।

(१) **कथावस्तु की संगठना**—कथावस्तु में विषय के प्रतिपादन को कलात्मक रूप में रखा जाता है। 'एकलव्य' की 'वस्तु' महाभारत की एकलव्य कथा से ली गई है जिसकी ओर स्वयं कवि ने 'भूमिका' के अन्तर्गत संकेत किया है। इस कथा को, जहाँ तक वस्तु-नियोजना का प्रश्न है, कवि ने अतीव कलात्मकता से उसे कल्पना तथा मनोविज्ञान के आधार पर संगठित किया है। इस दृष्टि से, जिन आलोचकों ने 'एकलव्य' की कथावस्तु को प्राचीन नाट्य सिद्धांत पर आधारित माना है और उसी के प्रकाश में 'वस्तु' का विवेचन प्रस्तुत किया है, उनके दृष्टिकोण को मैं गलत नहीं मानता, पर

---

१. ए स्टेडी इन हिस्ट्री, टायनबी, पृ० २६

मात्र उर्मिला का विरह लक्ष्मण के प्रति नहीं है, यह प्रत्येक पत्नी का पति के प्रति है, जीव का ब्रह्म के प्रति है, प्रकृति का पुरुष के प्रति है और प्रेमी का प्रिय के प्रति है। सारे जगत् में विरह छाया हुआ है। उस वेदना-दानी ने सारे संसार में वेदना फैलायी है और प्राणी युगों से उस दानी को खोज रहा है। संसार में अनन्त युगों से व्यथा व्याप्त है। संसार अपने को भूला हुआ है, केवल वेदना है जो उसे रात-दिन भटकाती है और उसके अन्तस् को जलाती रहती है। प्रियतम के इस विछोह की वेदना बड़ी गहरी है, स्वप्निल अतीत की संस्कृति सी आकर्षक है। जब से प्रभु ने अपने को अपने संसार से अलग किया है उसी समय से संसार में पुनर्मिलन की उत्कंठा उमड़ी हुई है।

प्रतिक्षण इस संसार में हाहाकार मचा हुआ है। बादल उमड़ते हैं तो उर्मिला का ही नहीं सारे संसार का हृदय उमड़ पड़ता है। बादलों के बरसने के साथ आँसू भी बरस पड़ते हैं। ग्रीष्म में हृदय में भी लू चलने लगती है। उर्मिला पुकार उठती है अपने लक्ष्मण को और संसार अपने 'अलख' को। संसार की क्यारी-क्यारी में करुणा-जल सिंचा हुआ है। जीवन की झारी में व्यथा का पानी भरा हुआ है। कोयलिया विरह-भरी सी विष-बुझे बोल बोलती है और कुहू-कुहू के मिस आकाश में करुणा घोलती है। यह कोयल अन्तस्तल की ज्वाला से ही काली पड़ गई है। 'दरद दीवाना काग' भी विरह के ही कारण रो-रोकर विलख रहा है। खंजन, मैना, कैक, कबूतर सब ही तो विरह के मारे रुदन कर रहे हैं—(पृ० ३५७)।

सारी प्रकृति में ही विरह फैला हुआ है। सूफी कवि जायसी के पद्मावत में जिस प्रकार वियोग-वर्णन के प्रसंग में आध्यात्मिकता का सन्निवेश है और सारे संसार में विरह व्याप्त-प्रसारित हो गया है, उसी प्रकार उर्मिला में भी सारी प्रकृति और प्रकृति का सारा कार्यव्यापार विरह द्वारा संचालित है। ज्योति के विरह ने अंधेरे को काला कर दिया है—"जल-भुनकर ज्योति विरह से, पड़ गया अंधेरा काला।" नभोमंडल के चमकते तारे दुख भरी रात्रि के छाले हैं। धीर पवन के मिस आहों का पुँज उठ रहा है। रात चुपके से ओस के आँसू टपका कर रोती है। अतिशयोक्तिपूर्ण ये सारे वर्णन जायसी के ऊहात्मक पद्धति के विरह-चित्रण के ही समान हैं।

पति के वियोग ने उर्मिला को योगिनी बना दिया है। उसके हृदय में तप की साधना जाग उठी। इलाचन्द्र जोशी का कथन है कि "अदम्य आत्मप्रकाश की प्रवृत्ति के कारण विरह का भाव स्फुरित होता है। कला का मूल यही विश्वव्यापी विरह का भाव है—और फिर आश्चर्य यह है कि विरह आनन्द की ही सृष्टि है। दोहा-सप्तशती के ढंग पर विरचित 'उर्मिला' का पंचम सर्ग इस दार्शनिक तथ्य का भली-भाँति निरुपण करता है कि मिलन में प्रेम का अन्त है और विरह में उसकी गति। इस सर्ग का एक-एक दोहा उर्मिला के अश्रु से सिक्त है। प्रारम्भ में ही 'चिर वरदान

और आत्मनिवेदन) महाभारत के अन्य प्रसंगों से जुड़े हुए हैं जिसमें आचार्य द्रोण की विगत कथा तथा एकलव्य से उनका सम्बन्ध-निर्देश प्राप्त होता है जो कथा की पृष्ठ-भूमि तथा वस्तु-संगठना को एक निश्चित रूप प्रदान करता है। इस प्रकार, प्रारम्भ के ये सर्ग प्रधानतया क्षत्रिय-नीति के संदर्भ में आचार्य द्रोण के मनोविज्ञान को समझने के लिए आवश्यक हैं। सबसे बड़ी विशेषता इन सर्गों की यह है कि इनका सम्बन्ध घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के मनोविज्ञान को मुखर करने में अधिक सहायक होते हैं; और यही कारण है कि महाकाव्य में घटनाओं का जो भी तारतम्य है, वह मनो-विश्लेषण पद्धति पर अधिक आश्रित है न कि घटनाचक्र के घात-प्रतिघात में। इसी प्रकार, अंत के पाँच सर्ग (साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व और दक्षिणा) मुख्यतः एकलव्य से सम्बन्धित हैं जो उसके चरित्र को मुखर करते हैं और महाकाव्य के उद्देश्य को व्यंजित मात्र करते हैं।

(२) **चरित्र-विश्लेषण-शिल्प**—सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सर्गों का विभा-जन, पात्रों के चरित्र-विश्लेषण के अनुसार ही किया गया है। इस शिल्प के अन्तर्गत कवि ने मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार ही ग्रहण किया है। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को कवि ने अनेक रूपों में रखने का प्रयत्न किया है जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में रखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोविज्ञान का यांत्रिक प्रयोग काव्य की कसौटी है, पर इतना निश्चय है कि यदि, कृतिकार को मनोविज्ञान का ज्ञान है, तो वह अपने पात्रों को विभिन्न स्थितियों में डालकर, उनकी मनोवृत्तियों को अधिक स्वाभाविक-विकास दे सकता है। यदि 'एकलव्य' के चरित्र-विश्लेषण-शिल्प का निरीक्षण किया जाय तो उसके प्रमुख पात्रों (एकलव्य, द्रोण, अर्जुन आदि) को अनेक स्थितियों में डालकर, आत्मकथन-शैली के द्वारा, उनके चरित्र की रेखाओं को उभारा गया है। 'एकलव्य' में यह आत्मकथन शैली, पात्रों को स्व आत्म-विश्लेपण की ओर प्रेरित करती है जिसके द्वारा पाठक स्वयं पात्रों के मनोविज्ञान में क्रमशः प्रविष्ट होता जाता है और कृतिकार पात्रों को एक स्वतन्त्र वातावरण देता है कि वे नाटकीयता से अपना स्वयं विकास कर सकें।

दूसरा तत्त्व जो चरित्र-विश्लेपण शिल्प के अन्तर्गत प्राप्त होता है, वह मनो-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों का है। इसके अन्तर्गत स्वप्न-मनोविज्ञान, परा-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान तथा ओडीपस-ग्रंथि का एक 'सम्मिलित' रूप मिलता है। एक अन्य विशेषता जो इस महाकाव्य में प्राप्त होती है, वह यह है कि उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रकारों का एक सम्मिलित रूप ही प्राप्त होता है, उन्हें हम एक दूसरे से नितांत विलग कर नहीं देख सकते। उदाहरणस्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत आचार्य द्रोण का स्वप्न अचेतन मन की प्रक्रिया भी है और दूसरी ओर 'एकलव्य' का वह बाल-हठ

अनुकूलता को साधते हुए प्रभावशाली, सजीव और गतिशील सम्वादों की रचना काव्य में अपेक्षित और सराहनीय है। "सम्वाद के गुणों की चर्चा करते हुए आचार्यों ने स्वाभाविकता अर्थात् परिस्थिति और पात्र की अनुरूपता, सजीवता अथवा उद्दीप्ति, गतिशीलता एवं रसात्मकता पर जोर दिया है।"[1] "उर्मिला" में सम्वादों की योजना और प्रधानता स्पष्ट दीखती है। कथा का विकास मुख्यतः सम्वादों पर ही आश्रित है। संवादों के उचित और आवश्यक प्रयोग से 'नवीन' जी ने कई कार्य साधे हैं। कहीं वे कार्य को प्रेरित और प्रवृत्त करते हैं और कहीं पात्रों की परिस्थिति का और मनस्थिति का मनोवैज्ञानिक रूप और प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। एकाधिक स्थानों पर ये संवादात्मक कथन सांस्कृतिक-सामाजिक स्थिति की विवेचना करते हैं और कहीं गम्भीर चर्चा विमर्श की अभिव्यंजना भी प्रस्तुत करते हैं। आवश्यकतानुसार रोचक तथा सरस और विनोदी संवादों की भी रचना की गई है।

संवादों की इतनी गतिमयता तथा विविधमुखता होने के उपरान्त भी कहीं वे पात्रों के प्रतिकूल नहीं होने पाये हैं; यह विशेषता है। सारगर्भित और स्वाभाविक संवाद यत्र-तत्र चरित्रों का उद्घाटन-विश्लेषण करते चलते हैं। लक्ष्मण-उर्मिला संवाद, उर्मिला-सीता संवाद, राम-उर्मिला संवाद, राम-सुमित्रा संवाद आदि ऐसे ही प्रभावशाली संवादों के उदाहरण हैं। पात्रों के अनुकूल संवाद कितने हैं यह उर्मिला-सीता के प्रथम सर्ग में हुए वार्तालाप में ही देखा जा सकता है। सीता के कथन गम्भीर हैं और उर्मिला के जिज्ञासा-प्रेरित किन्तु चपल। लक्ष्मण अपने संवादों में प्रेमी, चिन्तक, विवेकी आदि उनकी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल ही प्रकट होते हैं और राम की वाणी उत्तरदायित्वपूर्ण तथा गम्भीर है। परिस्थिति की अनुकूलता का भी ध्यान रखा गया है। चपल और विद्रोही उर्मिला वियोग काल में अत्यन्त विनीत और करुणाशील, मार्मिक वाणी ही प्रकट करती दीखती है।

सम्वादों की लघुता, उनकी सजीवता तथा प्रभविष्णुता के लिए अपेक्षित है। ऐसे लघु सम्वाद "उर्मिला" में अनेक हैं। भावपूर्ण, सजीव और प्रभावशाली सम्वादों में पात्रों के अनुकूल ही उनकी वचन-चातुरी भी देखने को मिल जाती है। यह चरित्र के सम्यक् निरूपण में बहुत सहायक सिद्ध हुई है। प्रायः सभी प्रमुख पात्र वाक्-पटु हैं, किन्तु उर्मिला की चातुरी सर्वोपरि है।

लम्बे सम्भाषण और वक्तृत्व भी सम्वादों के ही अंग हैं। "उर्मिला" में वक्तृत्वों की खूब संयोजना है। तृतीय सर्ग में ही उर्मिला-लक्ष्मण के संवाद लम्बे-लम्बे सम्भाषणों के रूप में हैं। उर्मिला का कला-विषयक और लक्ष्मण का प्रेम विषयक सम्भाषण पर्याप्त लम्बा है। लंका-विजयोपरान्त विभीषण की राज-सभा

---

१. साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र पृष्ठ १६८

और आत्मनिवेदन) महाभारत के अन्य प्रसंगों से जुड़े हुए हैं जिसमें आचार्य द्रोण की विगत कथा तथा एकलव्य से उनका सम्बन्ध-निर्देश प्राप्त होता है जो कथा की पृष्ठ-भूमि तथा वस्तु-संगठना को एक निश्चित रूप प्रदान करता है। इस प्रकार, प्रारम्भ के ये सर्ग प्रधानतया क्षत्रिय-नीति के संदर्भ में आचार्य द्रोण के मनोविज्ञान को समझने के लिए आवश्यक हैं। सबसे बड़ी विशेषता इन सर्गो की यह है कि इनका सम्बन्ध घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के मनोविज्ञान को मुखर करने में अधिक सहायक होते हैं; और यही कारण है कि महाकाव्य में घटनाओं का जो भी तारतम्य है, वह मनो-विश्लेषण पद्धति पर अधिक आश्रित है न कि घटनाचक्र के घात-प्रतिघात में। इसी प्रकार, अंत के पाँच सर्ग (साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व और दक्षिणा) मुख्यतः एकलव्य से सम्बन्धित हैं जो उसके चरित्र को मुखर करते हैं और महाकाव्य के उद्देश्य को व्यंजित मात्र करते हैं।

(२) **चरित्र-विश्लेषण-शिल्प**—सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सर्गों का विभाजन, पात्रों के चरित्र-विश्लेषण के अनुसार ही किया गया है। इस शिल्प के अन्तर्गत कवि ने मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार ही ग्रहण किया है। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को कवि ने अनेक रूपों में रखने का प्रयत्न किया है जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में रखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोविज्ञान का यांत्रिक प्रयोग काव्य की कसौटी हैं, पर इतना निश्चय है कि यदि, कृतिकार को मनोविज्ञान का ज्ञान है, तो वह अपने पात्रों को विभिन्न स्थितियों में डालकर, उनकी मनोवृत्तियों को अधिक स्वाभाविक-विकास दे सकता है। यदि 'एकलव्य' के चरित्र-विश्लेपण-शिल्प का निरीक्षण किया जाय तो उसके प्रमुख पात्रों (एकलव्य, द्रोण, अर्जुन आदि) को अनेक स्थितियों में डालकर, आत्मकथन-शैली के द्वारा, उनके चरित्र की रेखाओं को उभारा गया है। 'एकलव्य' में यह आत्मकथन शैली, पात्रों को स्व आत्म-विश्लेपण की ओर प्रेरित करती है जिसके द्वारा पाठक स्वयं पात्रों के मनोविज्ञान में क्रमशः प्रविष्ट होता जाता है और कृतिकार पात्रों को एक स्वतन्त्र वातावरण देता है कि वे नाटकीयता से अपना स्वयं विकास कर सकें।

दूसरा तत्त्व जो चरित्र-विश्लेपण शिल्प के अन्तर्गत प्राप्त होता है, वह मनो-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों का है। इसके अन्तर्गत स्वप्न-मनोविज्ञान, परा-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान तथा ओडीपस-ग्रंथि का एक 'सम्मिलित' रूप मिलता है। एक अन्य विशेपता जो इस महाकाव्य में प्राप्त होती है, वह यह है कि उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रकारों का एक सम्मिलित रूप ही प्राप्त होता है, उन्हें हम एक दूसरे से नितांत विलग कर नहीं देख सकते। उदाहरणस्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत आचार्य द्रोण का स्वप्न अचेतन मन की प्रक्रिया भी है और दूसरी ओर 'एकलव्य' का वह बाल-हठ

ध्यान रखा है। देवर-भाभी के प्रसंग रोचक और मधुर हैं, साथ ही सम्मानपूर्ण और अधिकतर गम्भीर विषयों से संबंधित। भाई-भाई के संबंधों का निरूपण राम-लक्ष्मण में और बहिनों का संबंध सीता-उर्मिला में दर्शनीय है।

इतने पर भी इसमें गार्हस्थ्य जीवन के विविधपक्षी रूपों का वैसा और उतना समायोजन नहीं है, जैसा और जितना 'साकेत' में।

विभिन्न वादों का प्रभाव और आधुनिकता

प्रत्येक कृति पर अपने युग की छाप पड़ती है। युगीन प्रभाव उसे प्रभावित करते हैं। युग के प्रभाव से तात्पर्य है—युग की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव तथा इन सारभूत स्थितियों पर आधारित युग के चल रहे विभिन्न वादों और चिन्ता-धाराओं का प्रभाव। "उर्मिला" का कथानक यद्यपि वही परम्परागत प्राचीन रामकथा से लिया गया है किन्तु यहाँ वहाँ उस पर युग के अनेक वादों का न्यूनाधिक अंशों में प्रभाव पड़ा है।

"उर्मिला" में बुद्धिवाद और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रभाव उसके कथानक पर है। राम की वन-यात्रा के प्रचलित कथानक को इस ग्रन्थ में नवीन रूप देकर उसे आर्य संस्कृति के प्रसार व प्रचार का माध्यम बनाया गया है। राम दक्षिण में इस संस्कृति के प्रसारण के हेतु ही जाते हैं और दूरदर्शिनी माता कैकेयी इसीलिये दशरथ से ऐसे वर माँगती है।

ग्रंथ-प्रणयन के युग में प्रचलित गांधीवादी विचारधारा से नवीन जी बहुत प्रभावित थे, उसी के फलस्वरूप "उर्मिला" की ये पंक्तियाँ हैं—

"असद्विचार पराजित, कुंठित, भू लुंठित, उन्मूलित हो।
सत्यमेव विजयी हो राजन्, प्रेम-विटप फल-फूलित हो।
आगे आगे ध्वजा सत्य की, पीछे पीछे जन-सेना।"

राम ने रावण को जीत लिया किन्तु उनके मन में यह दुख रहा कि विजय हिंसा द्वारा प्राप्त हुई—"यदि अशस्त्र जय होती तो वह होती पूर्ण विशुद्ध नयी" और हृदय की ही जीत को बड़ी विजय मानते हुए वे यह भी दुःख प्रकट करते हैं कि—"रावण हृदय न जीत सका"।

इसी प्रकार साम्राज्यवाद का विरोध जहाँ राम यह कहकर करते हैं कि "है साम्राज्यवाद का नाशक, दशरथ-नन्दन राम सदा", वहाँ भी आधुनिक जनवादी परम्पराओं का ही प्रभाव है। राम उन विचारधाराओं पर भी अपने विचार प्रकट करते हैं जो आधुनिक जीवन में प्रवल हो रही है और उन्हें निन्दनीय-अग्राह्य सिद्ध करते हैं। भौतिकवादिता और अर्थवादिता ऐसी ही आधुनिक विचारधाराएँ हैं। मानवतावादी नवीन ने यहाँ भी मानववाद को ही प्रतिष्ठित किया है। दिनोंदिन [illegible]वशील हो रहे विज्ञान के अस्वस्थ और नाशक [illegible]

जिसमें आचार्य द्रोण छिप जाते हैं। तत्पश्चात् एक मृत्तिका के ढेर में अनेक पुष्प दृष्टि-गोचर होते हैं। उनमें द्रोण का मुख दिखाई देता है और तभी, एकलव्य अपना दाहिना हाथ बढ़ाता है और उसी समय एक सर्प उसके अंगूठे को डस लेता है। इस प्रसंग में अनेक बिम्बों का प्रयोग किया गया है जो भावी घटनाओं का संकेत करते हैं। द्रोण का बादल के पीछे छिप जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि वे एकलव्य की साधना में सहयोग न देंगे। वीटिका का आश्वासन एकलव्य की सफलता का प्रतिरूप है। मृत्तिका का ढेर, एकलव्य द्वारा निर्मित द्रोण की मूर्ति है; पुष्प, श्रद्धा भावना के प्रतीक हैं तथा सर्प वह राजनीति का दंश है जो एकलव्य का अहित करता है। इस प्रकार, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग (Jung) का यह मत "कि स्वप्न भावी जीवन का भी संकेत करते हैं"[1] एक सत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ममता' सर्ग में एकलव्य जननी का स्वप्न और एकलव्य-साधना का आचार्य द्रोण को आने वाला स्वप्न—ये ऐसे प्रसग हैं जिनके द्वारा कवि ने एकलव्य और आचार्य द्रोण के मनःसंघर्ष को तीव्र-तम करने की भूमिका प्रस्तुत की है जो आगे विकास को प्राप्त करती है। इस परा-विज्ञान के अंतराल में, चरित्र-विश्लेषण की दृष्टि से, एक अन्य तत्त्व भी प्राप्त होता है जो अध्यात्म की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा कोई ऐसी आंतरिक शक्ति अवश्य है जो साधना के कठिन व्रत को पूरा करने में समर्थ होती है जबकि साधक के सामने साध्य तो है, पर प्रेरणा तथा मार्ग देने वाला गुरु नहीं। स्पष्टतः, यहाँ पर मनोविज्ञान आकर रुक जाता है और आत्मिक शक्ति का ऊर्ध्व-लोक प्रकट होता है। यही भारतीय चिन्तन पर आश्रित आध्यात्मिक-मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) है जिसका संधिस्थल हमें एकलव्य के अंतिम सर्गों में प्राप्त होता है। इन सब प्रसंगों के द्वारा एकलव्य और द्रोण के चारित्रिक वैभव को साकार ही नहीं किया गया है, पर द्रोण के घुटते हुए मनोविज्ञान को सुन्दरता से उभारा गया है।

(३) **बिम्ब-विधान**—स्वप्न-मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक भाषा प्रयोग में 'बिम्ब' प्रयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैं 'एकलव्य' की भाषा और बिम्ब-विधान को ही लूंगा। पर भाषा के विवेचन के अन्तर्गत नाद, अर्थ, गुण और अलंकारों की परम्परागत परिपाटी का पालन करना मैं व्यर्थ समझता हूँ क्योंकि इस दृष्टि से भी 'एकलव्य' पर अनेक समीक्षकों ने विचार किया है।[2]

काव्य-भाषा में बिम्ब विधान एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि जीवन में एक

---

१. साइकलाजी आफ दी अन्कांसेस, युंग, पृ० १३।
२. उदाहरणस्वरूप- "एकलव्य एक अध्ययन" में तथा "डा० रामकुमार वर्मा का काव्य" नामक पुस्तकों में इसी दृष्टिकोण का पालन किया है।

शृङ्गार के संयोग पक्ष का कवि ने उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन प्रसंग में, जबकि वे दोनों विंध्य-गिरि में एकांत भ्रमण कर रहे हैं, अच्छा चित्रण किया है। दोनों की प्रेमक्रीड़ा में शृङ्गार रस मूर्तिमान हो उठा है—

"रखा लक्ष्मण ने मस्तक आन,
उर्मिला की जंघा पर। और—
मूँद कर नेत्र, बढ़ा दी भुजा,
प्रियतमा की ग्रीवा की ओर।
डोर अरुझी ग्रीड़ा की। रम्य-
रमण के सुरझ गए सब तार।"

यहाँ शृङ्गार का स्थायी भाव रति है। आश्रय-आलम्बन हैं—लक्ष्मण-उर्मिला। उद्दीपन हैं—प्रकृति और रूप-सौन्दर्य। संचारी हैं—लज्जा, हर्षादि और अनुभाव हैं—मस्तक जंघा पर रखना आदि।

किन्तु काव्य विरह-प्रधान है और विरह का मर्मस्पर्शी स्वर ही इसमें सर्वोपरि है। लक्ष्मण के वन चले जाने पर उर्मिला प्रोषितभर्तृका नायिक के रूप में दिखती है। यह प्रवास विरह की अवस्था है। विरह की दश दशाएँ मानी गई हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण। इनमें से व्याधि, जड़ता और मरण के चित्र 'उर्मिला' में नहीं हैं।

अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक आदि रस इस शृंगार-प्रधान काव्य के लिये अनुपयुक्त होने के कारण वर्णित नहीं हैं। वीर रस का हल्का सा चित्रण उर्मिला के उन शब्दों में है जब वह वन जाते समय लक्ष्मण को अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठा लेने के लिये कहती है—

"आज धनुष की डोर सजाए,
शर संधाने, सज्जित हो—
कूद पड़ो, ललकार भरे, तब,
प्राण रण-नदी मज्जित हों।"

वीर और रौद्र का (साथ में किंचित् भयानक और बीभत्स का भी) स्वाभाविक चित्र उन पंक्तियों में है जब सीता उर्मिला को बचपन में एक राजा द्वारा दूसरे राज्य की राजकुमारी के लिए किए गए आक्रमण की कहानी सुनाती है। हास्य रस के छींटे सीता-लक्ष्मण के संवाद और उर्मिला-शत्रुघ्न की वार्ता में कहीं-कहीं हैं। वात्सल्य रस उर्मिला-सीता के बचपन की क्रीड़ाओं में छलकता दीखता है। वैसे तो रानी सुमित्रा और सीता ममतामयी हैं और लक्ष्मण-ऊर्मिला आदि के प्रति उनका सर्वत्र वात्सल्य भाव सर्वोपरि है, फिर भी इस रस का सुन्दर निदर्शन उर्मिला-सीता के बाल स्वरूप में है।

इसी प्रकार एक शरद्-चित्र में, शरद् आगमन का संकेत 'मंथन' के बिम्ब से लिया गया है—

आया शरद् प्रकृति का मीत।
वर्षा के मंथन से निकला जैसे यह नवनीत ॥[1]

यहाँ पर हमें परम्परागत षट् ऋतुओं का वर्णन मिलता है। जिसमें रीति-कालीन वियोगी नायिका के दर्शन तो होते हैं, पर संदर्भ परिवर्तन के कारण, वैसी अनुभूति नहीं होती, क्योंकि यह माँ के पवित्र ममत्व से अद्भुत उद्गार हैं। इसके अतिरिक्त, मुझे 'एकलव्य' में और सुन्दर बिम्ब नहीं मिल सके, उदाहरण, दृष्टांत तथा उपमाओं का एक अनोखा कल्पना-विलास ही मिला है जो सदा से कवि की प्रवृत्ति ही रही है।

वैचारिक-परिप्रेक्ष्य

उपर्युक्त शिल्प संगठना के विभिन्न तत्त्वों के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'एकलव्य' का कला-पक्ष जितना उन्नत है, उससे कम उसका वैचारिक-पक्ष भी नहीं है। मैं तो इस निष्कर्ष तक पहुँचा हूँ कि इस महाकाव्य में विचार और शिल्प का एक संयमित रूप प्राप्त होता है। अधिकांशतः वैचारिक स्थलों पर शिल्प-पक्ष कमज़ोर नहीं होने पाया है और महाकाव्य की महत्ता इसी तथ्य पर मूल्यांकित की जाती है।

'एकलव्य' का वैचारिक-वैभव दो आयामों को स्पर्श करता है और इन आयामों का सम्बन्ध, मानवीय ज्ञान का एक समन्वित धरातल है जो आधुनिक भाव-बोध का सुन्दर परिचय देता है। ये दो आयाम हैं—१. जीवन-दर्शन, २. वैज्ञानिक-दर्शन।

१. जीवन-दर्शन—एकलव्य का समस्त जीवन-दर्शन जगत-सापेक्ष है। उसका मूल है गतिशीलता और पूर्णता। एकलव्य तथा द्रोण के चारित्रिक-विकास के द्वारा इस तत्त्व का समाहार किया गया है। वहाँ जीवन एक धनुर्वेद है जिसमें प्रतिशोध की गतिशीलता है[2], परन्तु 'एकलव्य' महाकाव्य इस प्रतिशोध को ही ध्येय नहीं मानता है, पर इस शक्ति के द्वारा जीवन में गति-का समावेश चाहता है जो मिलती नहीं है, पर अवतार लेती है[3]। यही कारण है कि जीवन-नद का प्रवाह चिरन्तन है जिसका ध्येय सिंधु में विलयन है।

---

१. एकलव्य, ममता सर्ग, १५७।
२. वही; दर्शन सर्ग पृ० १४।
३. वही, दक्षिणा सर्ग, पृष्ठ २७६.

ही प्रधान है। उद्देश्य वर्ण्य-विषय के अनुरूप स्पष्ट है। कवि ने उर्मिला के चरित्र को प्रमुखता देते हुए विशुद्ध-प्रेम का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

लेकिन प्रश्न उठता है कि यह काव्य क्या प्रबंध-काव्य कहा जा सकता है ? यही प्रश्न कवि ने भूमिका में भी उठाया है। पुराने विषय पर उन्होंने लेखनी उठाई, तो शंका होती है—क्या प्रबंध-काव्य के लिये नये विषय नहीं मिल सकते ? कवि ने इसका उत्तर दिया है—"अभिनवता, नवीनता, मौलिकता बहुत अंशों में रचनाकार की अनुभूति पर अवलम्बित है। अतः काव्य के लिये ऐतिहासिक-पौराणिक विषय केवल मात्र चर्वित-चर्वण के तर्क के आधार पर त्याज्य या वर्ज्य नहीं हो सकते।" पुराने विषयों को यदि नवीनता से सज्जित कर प्रस्तुत किया जा सके तो कवि की सम्मति में आज का युग प्रवन्ध-काव्यों के लिये अनुपयुक्त नहीं है।

वस्तुतः कथानक इतना सूक्ष्म है कि काव्य के प्रवन्धकाव्यत्व में आक्षेप किया जा सकता है। रामायण की प्रचलित घटनाएँ न सहीं, उर्मिला का चरित्र-चित्रण भी बाल्यावस्था और वियोग के अतिरिक्त अधिक विस्तृत और विविध रूपों में व्यक्त नहीं हुआ है। 'साकेत' की उर्मिला और 'प्रियप्रवास' की राधा के समान 'उर्मिला' की उर्मिला का वियोग काल में उतना गौरवान्वित और प्रशंसनीय चरित्रांकन नहीं है। यह ठीक है कि उसका प्रेम सामान्य से ऊपर विशिष्ट प्रेम है जिसमें प्रेमी-प्रियतम का विशुद्ध प्रणय, प्रेम की असीमता, उच्चता और व्यापकता का परिचय है फिर भी उसमें एक घुटन और रोदन है। जहाँ तक कथा की सूक्ष्मता का प्रश्न है, यह समाधान किया जा सकता है कि इस बुद्धिवादी युग में प्रबंधकाव्य में घटना को महत्व देना उचित नहीं, विचारों को प्रमुखता मिलनी चाहिये। रामायणी कथा रहे न रहे, होती भी तो विश्रुत होने से संभव है नयापन न रहता, किन्तु भावों का विशद चित्रण अनिवार्य-सा है जो काव्य को गौरव प्रदान करता है। इस काव्य में पुराने मनोरागों की अभिव्यक्ति में नवीनता लाने का प्रयास है।

यद्यपि कथा भाग में उर्मिला-लक्ष्मण की ही कथा प्रधान है तथापि सीता-राम की कथा को आनुसंगिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि लक्ष्मण राम के अनुगामी हैं और राम-वन-गमन, रावण-विजय आदि की कथा में सीता-राम ही प्रमुख हैं।

ग्रन्थ-प्रणयन की शैली में प्राचीन और नूतन शैलियों का समन्वय किया गया है। प्रबंध-शैली के आधार पर होते हुए भी इसमें गीति-शैली भी सम्मिलित है।

कथानक संबंधी नव्य उद्भावनाओं में जीवंतता है। आर्य संस्कृति के प्रसार-प्रचार को कवि नई दृष्टि से देखता है। और उर्मिला के महच्चरित्र को उत्कर्ष और उन्नयन प्रदान करता है। फिर भी "मानव-मन की समस्त सम-विषम वृत्तियों का

सापेक्षता में है न कि निरपेक्षता में। वैज्ञानिक विचार सत्य अथवा ईश्वर को सापेक्ष मानता है, उसे संसार के साथ मानता है। वह ईश्वर को एक शक्ति रूप देता है जो एक परिवर्तनशील मूल्य है। हर युग की एक अपनी आस्था होती है और आधुनिक युग की भी अपनी विशिष्ट आस्था है, जो विज्ञान की देन है, जो निरन्तर दर्शन तथा धर्म की आस्थाओं में परिवर्तन कर रही है। अस्तु, आज के जितने भी मूल्य माने गए हैं, वे सापेक्षिक ही हैं। असीम भी सीमा के परिवेश में बंध चुका है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक आइंस्टीन ने सापेक्ष सत्य को ही मूल्यवान् माना है। दिक्-काल का महत्त्व ही सापेक्षिक है और असीम की सीमा भी सापेक्षिक हो चुकी है। डा० वर्मा ने इस सम्पूर्ण स्थिति का इस प्रकार संकेत किया है—

नभ की दिशायें चौगुनी सी हुई जाती हैं,
सीमाहीन की भी सीमा दृष्टिगत होती है।[1]

चार आयामों से युक्त दिक्काल ही सत्य है जिसके अंदर समस्त ब्रह्माण्डों की सीमायें अन्तर्निहित है। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की यह सबसे बड़ी प्रस्थापना है। यही कारण है कि जब हम दिक् और काल (Space and Time) के सापेक्षिक सत्य को ग्रहण करते हैं, उसी के साथ हमें 'गति' की महत्ता भी माननी पड़ती है। जीवन-दर्शन के संदर्भ में 'गतिशीलता' के महत्त्व पर विचार किया गया था, और वैज्ञानिक चिंतन में गति तो समस्त सृष्टि का एक मूलभूत तत्त्व ही है। प्रत्येक परमाणु अपनी क्रियाशीलता में ही सृष्टि करता है; प्रत्येक ग्रह और नक्षत्र गति सिद्धांत का पालन करता है; इन अणुओं का उल्लास (Veracity) ही सृष्टि का रहस्य है—

सृष्टि के समस्त कण गति के प्रवाह में,
हैं रहस्य-चक्र बीच नृत्य में निरत से।
मौन में उल्लास किस भांति सूक्ष्म रूप से,
करता निवास चेतना से ओतप्रोत हो।[2]

यदि अणु की रचना पर ध्यान दें, तो लगता है जैसे "एक-एक विश्व मौन एक-एक कण में"[3] है और उसकी अन्तर्रचना सौर-मंडल के समान ही प्राप्त होती है।

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन विश्व रचना के प्रति एक अन्य दृष्टि को भी समक्ष रखता है जो विकासवाद (Evolution) से सम्बन्धित है। सृष्टि-रचना में जैव (चेतन) और अजैव (जड़) दोनों का समान महत्त्व है अथवा जिसे हम अजैव कहते हैं, वह ही जैव का रूप धारण करता है। इस प्रकार जैव और अजैव

१. एकलव्य, साधना सर्ग, पृष्ठ ११६।
२. एकलव्य, साधना सर्ग, पृष्ठ २१३
३. एकलव्य, स्तव पृष्ठ ५।

आग्रह ने भाषा को लचर बना दिया है। 'देखो' के साथ सर्वत्र तुक के लिये 'पेखो' शब्द ही मिलता है। 'जानो हो,' 'मानो हो', आदि का विचित्र प्रयोग है। प्रत्येक सर्ग में कवि ने अलग छन्द का प्रयोग किया है। शार्दूलविक्रीड़ित, दोहे और सोरठों का रसानुकूल प्रयोग है।

'साकेत' और 'उर्मिला'—एक तुलना

दोनों प्रायः एक ही समय की लिखी गई रचनाएँ हैं। दोनों के प्रेरणा-स्रोत भी एक ही हैं। दोनों में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में हुई भारतीय जन-जीवन की विविध हलचलों का प्रभाव है। दोनों ग्रन्थों में प्रेरणा, अनुभूति की अंतर्हित भावधारा और प्रेष्य समान ही हैं। फिर भी दोनों कृतियों में बहुत अन्तर है। एक समय से प्रकाशित होकर उचित स्थान पा गई और दूसरी कदाचित् नहीं। 'साकेत' में प्रबंध काव्य का स्वरूप स्पष्ट है किन्तु 'उर्मिला' में प्रबंध-काव्यत्व का अभाव है। 'साकेत' और 'उर्मिला' के पात्रों के चरित्र चित्रणों में भी विषमता है। चरित्रों के मानवीय रूप और कथा के मार्मिक स्थल 'साकेत' में ही अधिक संवेदनशील हृदय और तूलिका से चित्रित हो पाए हैं; 'उर्मिला' में उतने नहीं। उर्मिला का वह रूप जो 'साकेत' में है अर्थात् गम्भीर, संयत और मर्यादित, 'उर्मिला' में नहीं है। यहाँ उसमें शृङ्गारिकता अधिक है। इसी प्रकार लक्ष्मण के चरित्र में भी अन्तर है। पर 'साकेत' के लक्ष्मण से 'उर्मिला' के लक्ष्मण अधिक परिमार्जित रूप में उपस्थित हुए हैं। प्रबंध-काव्य के दूसरे अन्य लक्षणों की जहाँ 'साकेत' में उचित पूर्ति है, वहाँ 'उर्मिला' में नहीं। नवीन और पुरातत्व का भी जो समानुपातिक संयोजन 'साकेत' में है वह 'उर्मिला' में नहीं। यही बात दोनों कृतियों के कलात्मक सौष्ठव की है। वास्तव में दोनों कृतियों का अन्तर दोनों कवियों का अन्तर है। गुप्त जी का कवि प्रबंध-काव्य के लिये सिद्धहस्त था और नवीन का कवि गीतकार श्रेष्ठ था। सत्य तो यह है कि प्रबंध-काव्य लिखने की प्रकृति नवीन जी की थी ही नहीं।

सापेक्षता में है न कि निरपेक्षता में। वैज्ञानिक विचार सत्य अथवा ईश्वर को सापेक्ष मानता है, उसे संसार के साथ मानता है। वह ईश्वर को एक शक्ति रूप देता है जो एक परिवर्तनशील मूल्य है। हर युग की एक अपनी आस्था होती है और आधुनिक युग की भी अपनी विशिष्ट आस्था है, जो विज्ञान की देन है, जो निरन्तर दर्शन तथा धर्म की आस्थाओं में परिवर्तन कर रही है। अस्तु, आज के जितने भी मूल्य माने गए हैं, वे सापेक्षिक ही हैं। असीम भी सीमा के परिवेश में बँध चुका है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक आइंस्टीन ने सापेक्ष सत्य को ही मूल्यवान् माना है। दिक्-काल का महत्त्व ही सापेक्षिक है और असीम की सीमा भी सापेक्षिक हो चुकी है। डा० वर्मा ने इस सम्पूर्ण स्थिति का इस प्रकार संकेत किया है—

नभ की दिशायें चौगुनी सी हुई जाती हैं,
सीमाहीन की भी सीमा दृष्टिगत होती है।[1]

चार आयामों से युक्त दिक्काल ही सत्य है जिसके अंदर समस्त ब्रह्माण्डों की सीमायें अन्तर्निहित है। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की यह सबसे बड़ी प्रस्थापना है। यही कारण है कि जब हम दिक् और काल (Space and Time) के सापेक्षिक सत्य को ग्रहण करते हैं, उसी के साथ हमें 'गति' की महत्ता भी माननी पड़ती है। जीवन-दर्शन के संदर्भ में 'गतिशीलता' के महत्त्व पर विचार किया गया था, और वैज्ञानिक चिंतन में गति तो समस्त सृष्टि का एक मूलभूत तत्त्व ही है। प्रत्येक परमाणु अपनी क्रियाशीलता में ही सृष्टि करता है; प्रत्येक ग्रह और नक्षत्र गति सिद्धांत का पालन करता है; इन अणुओं का उल्लास (Veracity) ही सृष्टि का रहस्य है—

सृष्टि के समस्त कण गति के प्रवाह में,
हैं रहस्य-चक्र बीच नृत्य में निरत से।
मौन में उल्लास किस भाँति सूक्ष्म रूप से,
करता निवास चेतना से ओतप्रोत हो।[2]

यदि अणु की रचना पर ध्यान दें, तो लगता है जैसे "एक-एक विश्व मौन एक-एक कण में"[3] है और उसकी अन्तर्रचना सौर-मंडल के समान ही प्राप्त होती है।

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन विश्व रचना के प्रति एक अन्य दृष्टि को भी समक्ष रखता है जो विकासवाद (Evolution) से सम्बन्धित है। सृष्टि-रचना में जैव (चेतन) और अजैव (जड़) दोनों का समान महत्त्व है अथवा जिसे हम अजैव कहते हैं, वह ही जैव का रूप धारण करता है। इस प्रकार जैव और अजैव

---

१. एकलव्य, साधना सर्ग, पृष्ठ ११६।
२. एकलव्य, साधना सर्ग, पृष्ठ
३. एकलव्य, स्तव पृष्ठ ५।

काव्यों में हमें नाटकीय गीति-शैली का भी यदा-कदा संकेत मिलता है जो वर्णनात्मकता को अधिक संवेदनशील बनाने में समर्थ है। आगे के महाकाव्यों में इस वर्णनात्मकता तथा घटनात्मकता का अभाव प्रतीत होता है जो 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी' के शिल्प-विधान में दृष्टव्य है। इन महाकाव्यों की शैली कहीं अधिक संकेतात्मक एवं व्यंजनापूर्ण हो गई है। 'कुरुक्षेत्र' में कथानक नहीं के बराबर है, और उसमें विचारों का जो आलोड़न प्राप्त होता है, वह आधुनिक भावबोध को मुखर करता है। इसी परम्परा मे 'एकलव्य' महाकाव्य एक नई कड़ी के रूप में आता है जिसमें आधुनिक युग-बोध के साथ, पौराणिक आख्यान के एक धूमिल पात्र का सहारा लेकर, कवि ने नाटकीयता एवं संकेतात्मकता के साथ जो वैचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, वह सत्य ही, एकलव्य की महानता का परिचायक है। इस महाकाव्य का वैचारिक वैभव, कथानक के घटना-चक्र में समाहित न होकर, पात्रों तथा स्थितियों के संघर्ष में सन्निहित है। इस मत का पूर्ण विवेचन यथास्थान किया जायगा।

प्रारम्भ के महाकाव्यों में उद्देश्य अथवा आदर्श का स्वर इतना प्रमुख हो जाता था कि कहीं-कहीं पर वह ऊपर से थोपा हुआ सा प्रतीत होता था। गुप्त जी तथा हरिऔध जी में यह प्रवृत्ति अत्यंत स्पष्ट है। यहाँ तक कि 'कामायनी' में भी इस प्रवृत्ति को कवि बचा नहीं सका है, यह दूसरी बात है कि कवि ने उसे अधिक व्यंजनात्मक रूप से रखने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से, 'एकलव्य' का स्थान अपनी विशिष्टता को लिये हुए है। इस कृति में उद्देश्य तो है, पर वह उद्देश्य ऊपर से थोपा हुआ सा ज्ञात नहीं होता है। मेरा यह अर्थ नहीं है कि कोई भी महान् कृति उद्देश्यहीन होती है, पर इतना स्वयंसिद्ध है कि उसका उद्देश्य इस प्रकार से व्यंजित होना चाहिए कि वह पात्रों तथा स्थितियों के विकास में इस प्रकार से घुला मिला हो कि पाठक एक को दूसरे से अलग करके देखने में असमर्थ हों। 'एकलव्य' के उद्देश्य का विकास कवि ने इसी शिल्प से प्रस्तुत किया है। एकलव्य तथा आचार्य द्रोण की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं में उद्देश्य जैसे स्वयं मुखर सा हो जाता है; कवि को इसकी आवश्यकता कहीं पर भी नहीं पड़ी है कि वह स्वयं अपने विचारों को पाठकों के ऊपर थोपने का प्रयत्न करे।

आधुनिक महाकाव्यों की प्रारम्भिक दशा में नायक के महत्त्व तथा महानता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। 'साकेत', 'यशोधरा', 'कृष्णायन', 'कामायनी', 'उर्वशी' आदि महाकाव्यों में नायक अथवा नायिका के कुल-शील का ध्यान अवश्य रहता था। परंतु 'एकलव्य' की स्थिति इस परम्परा से नितांत भिन्न है। यहाँ पर 'नायक' निषाद या अनार्य संस्कृति का प्रतीक है जिसे कवि ने एक ऐसे व्यक्तित्व का रूप दिया है जिसकी महानता, उसके 'कुल-शील' का परिचायक

धरातल पर उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि रस निष्पत्ति केवल भावना तथा कल्पना के स्तर पर न होकर, विचारों तथा संवेदनाओं के स्तर पर होती है। उपर्युक्त वैचारिक परिप्रेक्ष्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि की रचना प्रक्रिया में 'रस' केवल एक प्राचीन परम्परा का द्योतक न होकर वह आधुनिक-भाव-बोध की भूमि पर भी प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि डा० रामकुमार वर्मा ने इस महाकाव्य के द्वारा रस को विचारात्मक तथा संवेदनात्मक धरातलों पर एक साथ प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि रस की धारणा सभी स्थानों पर घटित नहीं की जा सकती है। आज की 'नई कविता' को हम रस-सिद्धांत पर घटित नहीं कर सकते क्योंकि 'रस' की अपनी सीमाएँ हैं और आज की कविता की अपनी सीमायें; उन दोनों को परस्पर मिला देने पर, हम दोनों के प्रति अन्याय ही अधिक कर सकते हैं। डा० वर्मा के 'एकलव्य' 'महाकाव्य' की महत्ता इसी बात में निहित है कि उसमें कवि ने बड़े कौशल से आधुनिक भाव-बोध तथा शिल्प को रसाश्रित किया है। और फिर कवि सदैव से 'रसवादी' परम्परा का पोषक रहा है, वह कैसे उस परम्परा से दूर हो सकता था।

'एकलव्य' का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्विति में निहित है जो सम्पूर्ण रूप से रस-प्रक्रिया पर आधारित है। प्रभावान्विति मूलतः कथावस्तु के स्वरूप पर निर्भर करती है। 'एकलव्य' की कथावस्तु का विकास मूलतः क्रमागत है एवं व्यवस्थित है। वह यूरोपीय महाकाव्य के 'रेचन' (Catharsis) सिद्धान्त को भी ग्रहण कर सका है, और उसे भी 'रस' के अन्तर्गत समाहित कर सका है। रेचन सिद्धांत में दो विरोधी भाव (भय और करुणा) कथावस्तु में तीव्रता को प्राप्त होते हैं और मन इन दोनों के मध्य 'रेचन' द्वारा संतुलन तथा शांति की स्थापना करता है।[1] कथावस्तु को गति देने में नियतिशक्ति का भी हाथ रहता है। 'एकलव्य' में ऐसी स्थितियाँ अनेक हैं। उदाहरणस्वरूप एकलव्य अपने अध्यवसाय द्वारा धनुर्वेद में अपूर्ण लाघव प्राप्त कर लेता है और उसी समय द्रोण तथा राजनीति द्वारा उद्भूत विरोधी शक्तियों का उद्भव होता है और अंत में, नियति 'स्वप्न' के द्वारा द्रोण को एकलव्य की साधना का संकेत देता है और इस प्रकार, नियति एकलव्य के अनिष्ट की तैयारी करता है। इस स्थान पर रेचन प्रक्रिया के दो रूप दिखाई देते हैं। एक का सम्बन्ध द्रोण से है और दूसरे का एकलव्य जननी से। आचार्य द्रोण में प्रतिशोध भावना और वर्ण-भेद भाव से उत्पन्न ग्लानि का रेचन होता है। वे अपने पुराने गुरु एवं गुरुकुल के आदर्शों को पुनः पहचानते हैं; और इस तरह अपने व्यक्तित्व को संतुलित करते हैं। इसी प्रकार एकलव्य जननी अपने पुत्र के कटे

१. एकलव्य, एक अध्ययन, पृ० २२५

वह एक पिटी पिटाई परम्परा मात्र है जो यांत्रिक (Mechanical) सी हो गई है। मैं तो समझता हूँ कि आलोचक अपनी भी एक दृष्टि रखता है, वह केवल परम्परा से चालित नहीं होता। जैसा कि कहा गया है कि 'एकलव्य' की 'वस्तु' नियोजना में तीन तत्त्व प्रमुख हैं—

(क) कल्पना
(ख) मनोविज्ञान
(ग) राजनीति

और इन्हीं तीन तत्त्वों के सम्मिलित प्रकाश में, कवि ने दो संस्कृतियों के संघर्ष तथा मनोविज्ञान को, राजनीति के फलक पर उभारने का प्रयत्न किया है।

महाकाव्य में कल्पना का प्रयोग अत्यंत दुर्लभ कार्य है। कल्पना कदापि दूर की उड़ान नहीं है, वह सर्जनात्मक प्रक्रिया में मूलतः सृजनात्मक (Creative) है। उसके द्वारा रचनाकार कथा तंतुओं को एक तर्कमय रूप में अनुस्यूत करता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक कल्पना का प्रयोग तर्क तथा संयम से करता है, उसी प्रकार एक कृतिकार की कल्पना, जब संयम को तिलांजलि दे देती है, तो वह कल्पना सृजनात्मक नहीं हो सकेगी। आज के वैज्ञानिक युग में कल्पना इसी रूप में मान्य हो सकती है। वह अब केवल उपमानों तथा असंयमित भावनाओं का रंगस्थल नहीं है। 'एकलव्य' में 'कल्पना' कहीं अधिक सृजनात्मक हो सकी है क्योंकि कवि ने उच्छृङ्खल कल्पना का बहुत कम आश्रय लिया है। एकलव्य का आचार्य द्रोण के द्वारा अस्वीकृत होने का कारण कल्पना द्वारा शासित होने के साथ ही साथ, समसामयिक राजनीति के प्रकाश में एक नवीन संदर्भ उपस्थित करता है। 'एकलव्य' में 'कल्पना' अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष में, एकलव्य जननी तथा नागदंत जैसे पात्रों का सृजन, जिनके द्वारा कथावस्तु के संवेदनशील स्थलों को कवि सुन्दरता से उभार सका है। इसी प्रकार आचार्य द्रोण का एकलव्य विषयक साधना का स्वप्न देखना और एकलव्य द्वारा सार्थवाहों से अपनी मां के पास संदेश भेजना आदि प्रसंग कल्पित हैं, पर कथानक की गति में, और पात्रों के चरित्र विकास में, इनका योगदान अत्यन्त स्पष्ट है। इसी स्थान पर पात्रों का जो मनोवैज्ञानिक संघर्ष दिया गया है, वह भी कथावस्तु को एक गरिमा देने में समर्थ है। संक्षेप में, उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का एक समन्वित रूप हमें इस महाकाव्य में प्राप्त होता है जिसका यदा-कदा विवेचन प्रसंगवश होता रहेगा।

कथावस्तु के संदर्भ में कल्पना का तर्कमय रूप हमें सर्ग-विभाजन में प्राप्त होता है। कवि ने चौदह सर्गों के अन्तर्गत एकलव्य कथा को सत्य तथा कल्पना के आयामों में बांधा है। प्रारम्भ के ६ सर्ग (दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन

४२
कनुप्रिया

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

धर्मवीर भारती कृत 'कनुप्रिया' (१९५९) में हमें दो केन्द्र-बिन्दु मिलते हैं—'क्षण' और 'सहज'। कनुप्रिया कृष्ण की प्रिया है और उसमें कैशोर्य-सुलभ मनःस्थितियाँ विद्यमान हैं जो विवेक से अधिक तन्मयता, इतिहास की उपलब्धियों से अधिक सहज जीवन में सार्थकता पाती है। वह 'चरम तन्मयता का क्षण' खोजती है जिसमें समस्त बाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमट कर पुंजीभूत हो गया है। क्षण की यह साधना इस गद्यगीतात्मक कृति के प्रथम खंड तथा द्वितीय खंड में विकसित हुई है। पहले खंड के तीन चरण हैं—पूर्वराग, मंजरी परिणय और सृष्टि-संकल्प। इन चरणों में सहज मन से जीवन जिया गया है। इनका केन्द्र प्रधानतया कैशोर्य-सुलभ मुग्धा-रति है। इस तरह इसमें क्षणवाद को एक मिश्रित नई भावभूमि में संस्थित किया गया है जो 'सिद्ध-साहित्य' के अनुसंधाता धर्मवीर भारती के करिश्मे का सबूत है। इस भूमि में एक ओर सिद्धों की सहज साधना का महासुख है, दूसरी ओर वैष्णवों का महाभाव है, और तीसरी ओर पश्चिम के अस्तित्ववादी दार्शनिकों का क्षण-बोध है। इस समन्वय या सामंजस्य विन्दु को पकड़ लेने पर लेखक का सामर्थ्य भी प्रस्फुटित हो जाता है।

इस श्रव्य-काव्य का दूसरा खंड इतिहास तथा समापन नामक चरणों से अभिहित हुआ है। इसमें 'महाभारत काल से जीवन के अन्त तक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार कृष्ण के इतिहास-निर्माण को कनुप्रिया की दृष्टि से देखने' का संधान है। इसमें इतिहास तथा चौथे खंड समापन ('प्रलय' या 'संहार' कहा जा सकता है—दार्शनिक शब्दावली में) की स्थिति है। कनुप्रिया अर्थात् राधा पूर्वराग एवं मंजरी-परिणय वाली स्थितियों से इस स्थिति के बीच कम संगति पाती है और सामंजस्य नहीं कर पाती। यह तीसरा खंड मानों लेखक के पहले लिखे हुए दृश्य-काव्य 'अन्धा युग' के परवर्ती चिंतन का विकास है—दूसरे भावस्तर पर। इस खंड में तथा 'अंधा युग', दोनों में एक महाभारतीय परिवेश है—पहले में स्मृतिमूलक, दूसरे में साक्षात्!

(मनोविज्ञान) है जो असम्भाव्य को संभाव्य बना देता है। इसी प्रकार, बाल-मनोविज्ञान का वह प्रसंग जब एकलव्य अपनी माता से हठ करता है और वह उसके हठ को स्वाभाविक रूप से 'स्वीकारती' है, पर इस प्रसंग में मनोविज्ञान की बहुचर्चित मान्यता 'ओडीयस-ग्रंथि' का वह रूप भी मिलता है जो माता तथा पुत्र का एक दूसरे के प्रति आकर्षण भाव है। यह मान्यता सभी स्थितियों तथा सम्बन्धों में मान्य नहीं है, पर इस स्थल पर हम उस मान्यता के केवल एक अंश को कार्यान्वित देखते हैं। ये सभी सम्बन्ध (माता-पुत्र, पिता-पुत्री तथा बहन-भाई) यौनपरक (sexual) माने गए हैं और मैं समझता हूं कि इसमें कोई अन्याय नहीं है क्योंकि संसार के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब यौन पर ही आधारित हैं, परन्तु उनका रूप सभी स्थलों पर एक सा नहीं होता है। प्रत्येक सम्बन्ध में भावना का बदलता हुआ रूप प्राप्त होता है और इसी भावना के परिवर्तन के साथ, यौन-सम्बन्ध भी परिवर्तित होते जाते हैं। 'एकलव्य' का माता-पुत्र सम्बन्ध, इस दृष्टि से, पवित्र तथा महान् ही है क्योंकि उसमें भावना का परिवर्तित रूप है। स्वयं कवि ने बाल-हठ को इसी रूप में ग्रहण किया है जिसमें नाटकीयता भी है और माता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध भी—

"एक बात मेरी भी पड़ेगी तुम्हें माननी"
"कौन सी रे एकलव्य ? बात कभी टाली है ?"
"तब तो मां ! कह दो कि बात तेरी मानूंगी
कह दो न, मां कि तेरी बात·········।"

अन्तिम दो पंक्तियों में बाल-हठ का सुन्दर रूप प्राप्त होता है।

'एकलव्य' में स्वप्न और परा-मनोविज्ञान का भी सुन्दर समाहार मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ इंद्रियों की सहायता के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाता है¹, उसे परा-मनोविज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इसे ही हम प्रातिभ-ज्ञान (intintion) भी कहते हैं जिसका सुन्दर विवेचन आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'रहस्यवाद' में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से, 'एकलव्य' के 'प्रेरणा' सर्ग का स्वप्न महत्वपूर्ण है क्योंकि स्वप्न-बिम्बों के द्वारा कवि ने एकलव्य के भावी जीवन का संकेत प्रस्तुत किया है। स्वप्न में वह देखता है (पृ० ७४-७६) कि उसके सम्मुख आचार्य द्रोण खड़े हैं। मन्त्र का एक चक्र आता है और वह भयभीत हो जाता है। पास ही कूप की बीटिका पड़ी है। वह आश्वासन देती है कि—

"मंत्र शक्ति तुमको भी कूप से उठायेगी" फिर एक मेघ-खण्ड आता है

---

१. एकलव्य, प्रेरणा सर्ग, पृ० ७८।

आतंकित न होकर अपनी भावाकुल तन्मयता की सहज कसौटी पर ही सबको कसना चाहता है। यह उसका आग्रह है। इसमें संशय और जिज्ञासा की गुंजाइश नहीं है। लेखक ने इस कृति को इसी प्रश्न एवं आग्रह का एक धीरे-धीरे विकास बताया है। कह सकते हैं कि यह लेखक की शिल्पगत योजना है जो पाँच चरणों (पूर्वराग, मंजरी-परिणय, सृष्टि-संकल्प, इतिहास एवं समापन) तथा दो खंडों [रति (पहले तीन चरण) और इतिहास (अंतिम दो चरण)] में क्रमशः गुँथी है।

[२]

'कनुप्रिया' (१९५९) में भागवत तथा महाभारत, दोनों को ही 'सहज की कसौटी' पर कसा गया है। यह कसौटी 'अस्तित्व के अर्थ' की है और इसका बिन्दु है 'क्षण'। इस तरह हम कृति को सूत्रभाप दे सकते हैं।

इसका परिणाम त्रासदी न होकर एक त्रासद वेदना है। और यह त्रासद वेदना त्रासद शांति की दशा के बजाय आधुनिक त्रासदी के (परिणाम अर्थात्) फूहड़-पन (absurdity) की दशा में अन्वित हुई है। यही इसकी सिद्ध-रति से अस्तित्ववादी क्षण-भोग की यात्रा है।

इस कृति के भाव वोध का आयत्तीकरण चरवाही अर्थात् पेस्टोरल भूमिका पर हुआ है। चरवाही भूमिका में ही विश्व का अंतर्मुखी लिरिकल वोध जागरूक और मधुमय रहा है। चरवाही भूमिका पर यूनान में शोक-गीतियों (elegies) की एक ज्योतिर्मय परम्परा है। चरवाही भूमिका पर भारत में अष्टछाप के कवियों की वैष्णव भक्ति का 'महाभाव' अंकित हुआ है। अतः 'कनुप्रिया' में पुराण का महाभाव आधुनिक त्रासद वोध से मंडित हुआ है जिसका विचार विन्दु है क्षण। लिरिक या वेणु-गीति स्वयं ही क्षण की प्रगाढ़ सहजता में जीवंत होता है। धर्मवीर भारती ने इस पर वैष्णव और अस्तित्ववादी दर्शनों की छौंक लगा दी है। पहले चरण 'पूर्वराग' में पाँच गीत शामिल किये गए हैं जिनमें मूलतः क्षणभोगी अस्तित्व का अभिज्ञान है। चरवाही फलक को भारतीय बनाने के लिए कवि-समयों तथा गोप-संस्कृति तथा वैष्णव भाव का भी इस्तेमाल हुआ है। इस चरण में राधा एक-एक क्षण का अनुभव करती है और एक एक कण से तादात्म्यीकरण करती है। तन्मयीभवन का अनुभव परिवेश है। इस चरण के पहले गीत में अशोक वृक्ष को संबोधित किया गया है जोकि कवि-समय के अनुसार, प्रमदा के चरणाघात से खिलने की प्रतीक्षा में जन्मों से पुष्पहीन खड़ा रहता है। राधा इस पावन अशोक ही में है (being)। वही अशोक के रेशों में कलियाँ, कोंपल, सौरभ एवं लाली बन चुपके से सो गई है। दूसरे गीत में स्वर्णिम संगीत को सम्बोधित किया गया है। इसमें लाज की अभिव्यंजना हुई है। मिलन वेला की लाज के क्षण की प्रतीक्षा में वह संगीत राधा में छिपा सो रहा है। तीसरे गीत

(मनोविज्ञान) है जो असम्भाव्य को संभाव्य बना देता है। इसी प्रकार, बाल-मनोविज्ञान का वह प्रसंग जब एकलव्य अपनी माता से हठ करता है और वह उसके हठ को स्वाभाविक रूप से 'स्वीकारती' है, पर इस प्रसंग में मनोविज्ञान की बहुचर्चित मान्यता 'ओडीयस-ग्रंथि' का वह रूप भी मिलता है जो माता तथा पुत्र का एक दूसरे के प्रति आकर्षण भाव है। यह मान्यता सभी स्थितियों तथा सम्बन्धों में मान्य नहीं है, पर इस स्थल पर हम उस मान्यता के केवल एक अंश को कार्यान्वित देखते हैं। ये सभी सम्बन्ध (माता-पुत्र, पिता-पुत्री तथा बहन-भाई) यौनपरक (sexual) माने गए हैं और मैं समझता हूँ कि इसमें कोई अन्याय नहीं है क्योंकि संसार के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब यौन पर ही आधारित हैं, परन्तु उनका रूप सभी स्थलों पर एक सा नहीं होता है। प्रत्येक सम्बन्ध में भावना का बदलता हुआ रूप प्राप्त होता है और इसी भावना के परिवर्तन के साथ, यौन-सम्बन्ध भी परिवर्तित होते जाते हैं। 'एकलव्य' का माता-पुत्र सम्बन्ध, इस दृष्टि से, पवित्र तथा महान् ही है क्योंकि उसमें भावना का परिवर्तित रूप है। स्वयं कवि ने बाल-हठ को इसी रूप में ग्रहण किया है जिसमें नाटकीयता भी है और माता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध भी—

"एक बात मेरी भी पड़ेगी तुम्हें माननी"
"कौन सी रे एकलव्य? बात कभी टाली है?"
"तब तो माँ! कह दो कि बात तेरी मानूँगी
कह दो न, माँ कि तेरी बात.........।"

अन्तिम दो पंक्तियों में बाल-हठ का सुन्दर रूप प्राप्त होता है।

'एकलव्य' में स्वप्न और परा-मनोविज्ञान का भी सुन्दर समाहार मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ इंद्रियों की सहायता के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाता है[1], उसे परा-मनोविज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इसे ही हम प्रातिभ-ज्ञान (intintion) भी कहते हैं जिसका सुन्दर विवेचन आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'रहस्यवाद' में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से, 'एकलव्य' के 'प्रेरणा' सर्ग का स्वप्न महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्वप्न-बिम्बों के द्वारा कवि ने एकलव्य के भावी जीवन का संकेत प्रस्तुत किया है। स्वप्न में वह देखता है (पृ० ७४-७६) कि उसके सम्मुख आचार्य द्रोण खड़े हैं। मन्त्र का एक चक्र आता है और वह भयभीत हो जाता है। पास ही कूप की वीटिका पड़ी है। वह आश्वासन देती है कि—

"मंत्र शक्ति तुमको भी कूप से उठायेगी" फिर एक मेघ-खण्ड आता है

१. एकलव्य, प्रेरणा सर्ग, पृ० ७८।

इस क्षण की अंतिम परिणति उस स्वतन्त्रता का चुनाव है जब कृष्ण 'असफल इतिहास को जीर्ण-वसन की भांति त्याग देते हैं।' 'इस क्षण' दर्द से पके हुए कृष्ण को राधा की याद आई है और वे एक पकी हुई पुकार हैं (पृ० ८३)। व्यथा में स्वतन्त्रता का बोध अस्तित्ववादी मंजिल है। इस तरह एक चरवाही परिदृश्य में कृष्ण राधा की रोमांटिक प्रणयलीला के इर्द-गिर्द क्षण-भोग और कण-लीनता के दर्शन का परिपाक हुआ है। यह परिणति है।

आरम्भ है सिद्ध रति की छायाओं से। परमभोगवादी सिद्ध (६वीं से १०वीं शती तक लगभग) महासुख को लक्ष्य मानते थे, चित्तवृति के निरोधी थे। उनके अनुसार रतिसुख महासुख का अंश है। वे विषयों से अनासक्त थे लेकिन त्याग के फिलसफे के क़ायल नहीं थे। इनका 'स्वेच्छाचार' ही 'सहज' साधना है। इनका भोग ही योग में परिणत होता है। एवं भोग अतः इनके सहज में योग का सामरस्य है। इनके 'भोग' की तुलना में वैष्णवों का लक्ष्य 'भक्ति' है जिसमें अनासक्ति अनिवार्य है। उनकी सहज साधना भक्ति है—पूर्ण समर्पण और अनासक्ति। इस तरह सिद्धों की महामुद्रा और महाभोग का रूपान्तरण वैष्णवों की महाभक्ति और महाभाव में हुआ है। 'कनुप्रिया' के रचयिता ने सिद्ध साहित्य पर एक शोध-पुस्तक भी लिखी है। अतः वह वैष्णव राधा को आधुनिक राधा, त्रिपुर सुन्दरी राधा और दार्शनिक राधा—तीनों ही एक संग बनाता है। यदि यह निर्मिति प्रकट नहीं है, तो प्रवृत्यात्मक अवश्य है। मूल रेखाएं वैष्णव राधा की हैं जो कृष्ण की शक्ति है [तुम मेरे कौन हो' पृ० ३८; और 'सृजन संगिनी, पृ० ४३-४७)]। वह अपने त्रिपुर सुन्दर रूप की भी झांकी देती है (पृ० ४८-४६); छायावादी अप्सरा भी बनती है (पृ० २६)। उपर्युक्त तीन चार नख-शिख वर्णन नये ढंग के हैं जिनमें कई दृष्टि प्रवोध घुलमिल गए हैं। हम सिद्ध रति की छायाएँ स्पष्ट करना चाहेंगे : रहस्यमयी लीला की एकांत संगिनी राधा (भक्ति क्षण के बजाय) चरम सुख के क्षणों का अनुभव करती है। वह शवरण की शवरी साधिका की तरह पोई की जंगली लतरों के पके फलों को तोड़कर मसलकर उनकी लाली से अपने पांवों में महावर लगवाती है। कनु की गोद में धनुपमुद्रा में आसीन हो जाती है और इस महामुद्रा में निश्चल बैठ जाती है। सिद्ध रति-जैसी स्थिति में 'यह समस्त सृष्टि रह नहीं जाती लीन हो जाती है : जब मैं (राधा) प्रगाढ़ वासना, उद्दाम क्रीड़ा और गहरे प्यार के बाद थककर तुम्हारी (कनु की) चंदन बाहों में अचेत बेसुध सो जाती हूँ; यह निखिल सृष्टि लय हो जाती है' (पृ० ४५)। आधी-रात के प्रलय शून्य सन्नाटे में यह संकल्प है, इच्छा है। इस प्रवाह में असंख्य सृष्टियों का क्रम है। महासुख के इन क्षणों में राधा ने अवसर आकाश गंगा के सुनसान (शून्य) किनारों पर खड़े अथाह शून्य में अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को देखा है (पृ० ४६), वज्र की चट्टानों को घायल फूल की तरह बिखरते देखा है (पृ० ५०) और चन्द्र

विम्ब का प्रस्तुतीकरण कहीं अधिक महत्त्व रखता है अपेक्षाकृत बहुत सी कृतियों की रचना से।[1] यही कारण है कि आधुनिक विम्बवादियों ने केन्द्रीभूत अर्थ को काव्य भाषा का प्राण माना है। बिम्ब का कार्य अनुभूत वस्तु का प्रस्तुतीकरण है और प्रतीक का कार्य किसी विचार या प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करना है। विम्बात्मक-प्रतीक में प्रस्तुत तथा प्रतिनिधित्व दोनों का संयोग होता है। 'एकलव्य' के विम्ब इसी कोटि में आते हैं। उनमें से सबसे प्रमुख बिम्ब 'धनुर्वेद' का है जो जीवन तथा दर्शन दोनों क्षेत्रों की प्रस्तुति तथा प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण-स्वरूप, प्रकृति-वर्णन के संकेत के लिए धनुष-संधान का जो विम्ब कवि ने लिया है, वह सृष्टि को ही एक संधान-रूपक दे देता है। इस बिम्ब में प्रस्तुति ही मुख्य है, यथा—

रवि रश्मियाँ उठी ज्यों सूची-मुख तीर हो।
छूटने ही वाले हों, जो क्षितिज के चाप से।
मात्र संधान में ही तिमिर वेध हो गया
प्रेरित हुआ है, खग कलरव मंत्र से।[2]

इसी प्रकार धनुर्वेद का विम्ब एकलव्य की साधना का चित्र ही खड़ा कर देता है और वहाँ पर एकलव्य का संधान चित्र भूत, भविष्य और वर्त्तमान का संधिस्थल हो जाता है।[3] ऐसे स्थलों पर हमें विम्बात्मक-प्रतीक की प्रस्तुति मिलती है।

'एकलव्य' महाकाव्य के विराट-फलक पर हमें कुछ ऐसे प्रकृति-चित्र भी प्राप्त होते हैं जो चित्र-विम्ब की सृष्टि करते हैं। इसमें ऐसे उदाहरण आते हैं जो किसी विम्ब के द्वारा, प्रकृति के किसी पक्ष का चित्र साकार करते हैं। डा० वर्मा ने प्रकृति-चित्रों में ऐसे प्रयोग अनेक ग्रन्थों में किये हैं, पर 'एकलव्य' में ऐसे चित्र 'विम्ब' की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रातःकाल का वर्णन है जब आकाश पर श्वेत रंग आ जाता है और नक्षत्र धूमिल पड़ने लगते हैं। इस चित्र को, कवि ने, स्वप्न और नींद के विम्ब-विधान से सांकेतिक प्रस्तुति की है :—

अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु बही धीरे से।
जैसे स्वप्न सरक रहे हैं मंदगति से,
और जीर्ण नींद-पत्र गिरा दृग-वृन्त से।[4]

---

१. एजरा पाउंड का अभिमत, उद्धृत 'नई कविता' डा० जगदीश गुप्त के निबंध से, पृ० १८८
२. एकलव्य, पृ० ६७, प्रदर्शन सर्ग।
३. वही, पृ० १२५।
४. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० १६१।

उदासी-वेपथु, रोमांच, जड़ता, निद्रा, मूर्छा आदि में तब्दील हो जाती हैं भारतीवादी 'जिस्मचर्या' के संदर्भ में (उदा० पृ० ५४ और पृ० ५६, ६१)।

सारांश में हम कह सकते हैं कि कनुप्रिया (राधा) वैष्णव राधा, आधुनिक रोमांटिक राधा और त्रिपुरसुन्दरी राधा है। किंवा वह इन तीनों की कान्तमैत्री है। इन स्वरूपों के अंकित करने में रचयिता ने सिद्धरति से वैष्णव समर्पणभक्ति तथा अस्तित्ववादी क्षणभोग तक का प्रयाण किया है।

[३]

'इतिहास' चरण में कृष्ण महाभारत के लोक मे पहुँचते हैं जहाँ वे एक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार हैं और अंततः एक आधुनिक मनुष्य हैं जो आधुनिक जगत के युद्ध-संघर्ष-विषमता से जूझ रहे हैं (मिथकीय संदर्भ मे)। इस 'इतिहास' को अर्थात् इस यथार्थता (reality) को भी राधा अपने सरल मन से सहज की कसौटी पर ही कसती है अर्थात् मिथक धर्मा बनी रहती है। वह मिथकबोध को लाँघकर यथार्थता बोध को स्वीकार नहीं कर सकती। यही कनुप्रिया की आधुनिक त्रासदी है, यही रोमांटिक दर्शन की फूहड़ता है; और यही भारतीवाद का छद्म पाखंड है। मिथक से इतिहास की ओर आने में, रोमांस से यथार्थ की ओर आने में, अराजकता से क्रांति की ओर आने में, दमन से विद्रोह की ओर आने में, विध्वंस से निर्माण की ओर आने में जो माध्यम एवं प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे द्वंद्वात्मक हैं। भारती और उनकी कनुप्रिया इन जटिलताओं को नकराती हैं। वे शून्य (nothing) हैं—इन दोनों के लिये! क्या आज हम राधा को या कवि के प्रणय बोध को सिद्धों-सूफियों के आवेगात्मक स्तर पर, वैयक्तिक भोग की गोपनीयता के साथ ग्रहण करें? क्या लेखक इसी तरह का प्रेमधर्म प्राप्त करके धर्मयुग में रमण करना—करवाना चाहता है? 'ज्ञान के समाज शास्त्र' (sociology of knowledge) की व्याख्या करते हुए कार्ल मानहाइम का मत है कि किसी प्रक्रिया का केवल अर्थ ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि मंतव्य (intention) भी महत्त्व का है। कवि की गूढ़ता असंख्य क्रियाओं में से चुनाव करने में लक्षित होती है क्योंकि वह चुनाव के द्वारा ही अपने समाज के प्रति अभियोजित होता है तथा चुने गये अनुभव का नामकरण करता है। उसका विवरण देता है। वह यह निर्देशित करता है कि व्यक्ति किस प्रकार समाज के दबावों के प्रति प्रतिक्रिया करता है। समाज की सामाजिक एवं मनस्तात्विक शक्तियाँ उसे समाज के औचित्य या विरोध में ला खड़ा करती हैं। इस कृति में कृष्ण इतिहास भी हैं। राधा पहले के कृष्ण अर्थात् भागवत का ही वरण करती है, किन्तु सामाजिक-ऐतिहासिक कृष्ण अर्थात् महाभारत के प्रति उदासीन रह जाती है। भागवत में वह कृष्ण के साथ है, लेकिन महाभारत में अर्जुन कृष्ण के साथ है। राधा केवल अर्थ पूछती है। अर्जुन मंतव्य पूछते हैं। अतः राधा का

"और स्वयं अपना प्रवाह देता सिंधु को"[1]

यही 'विलयन' ही पूर्णता का द्योतक है क्योंकि जीवन की गहराइयों में ही ऐसी शक्तियाँ हैं जो परिवर्तन का और अपने को पूर्ण करने का निरन्तर प्रयास करती हैं।[2] यहाँ पर कवि ने लय-समाधि का जो महत्त्व प्रदर्शित किया है, वह एकलव्य की साधना का चर्मोत्कर्ष है। जीवन की गतिशीलता, जब अहंकार तथा द्वेष का तिरोभाव कर, साध्य से एकीभूत हो जाती है, तभी इस समाधि का रूप मुखर होता है। यह समाधि-दशा एक विशेष प्रकार की चैतन्यता है जो सुप्त रहती है, और कोई प्रबल प्रेरणा पाकर गतिशील हो जाती है। यह प्रेरणा ही वह शक्ति है जो—

चेतना में व्यक्त हुई गतिशील आत्मा सी
सत्य के भी सत्य में प्रवेश चली पाने को, दृष्टि एकलव्य की" ॥[3]

यह दृष्टि उसी समय प्राप्त होती है, जब दृष्टि और लक्ष्य में समभाव हो, उसमें परस्पर कर्षण हो और उनके मध्य कोई व्यवधान न हो। आचार्य द्रोण के शब्दों में, जब तक दृष्टि और लक्ष्य में अनेक दृष्टियाँ तथा व्यवधान रहेंगे, तब तक लक्ष्य-भेद असम्भव है—

"जब लक्ष्य भेदने में ये अनेक दृष्टियाँ
हैं तो लक्ष्य भेद होगा कैसे एक वस्तु का।"[4]

अस्तु जीवन-दर्शन का सबसे बड़ा तत्त्व गतियुक्त समदृष्टि है जो लक्ष्य के प्रति आस्थावान् हो। एकलव्य की आस्था श्रद्धा और त्याग की कसौटी पर खरी ही नहीं उतरती है, पर वह अपने में एक ऐसा मूल्य (Value) है जिसके बगैर जीवन का अस्तित्व अर्थहीन माना गया है। इसी 'आस्था' के कारण स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं और साथ ही कल के भूले हुए स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं।[5] इसी से श्रद्धा और आस्था में एक शक्ति होती है जो 'एकलव्य' का कथानक प्रकट करता है।

२. वैज्ञानिक-दर्शन—जब हम आस्था का प्रश्न उठाते हैं, तो यह कहा जाता है कि विज्ञान ने हमारी आस्था को खंडित किया है और हमारे अस्तित्व को निरर्थक साबित किया है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक-दर्शन में आस्था का जो रूप प्राप्त होता है वह कोरी अंधभक्ति का पोषक नहीं है, उसकी आस्था सत्य की

---

१. एकलव्य, दक्षिणा सर्ग, पृष्ठ २७६।
२. एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, राधाकृष्णनन्, पृष्ठ ६१।
३. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० १९९-२००।
४. वही, अभ्यास सर्ग, पृ० ५८-५९
५. वही, साधना सर्ग, पृ० १९०

उदासी-वेपथु, रोमांच, जड़ता, निद्रा, मूर्छा आदि में तब्दील हो जाती हैं भारतीवादी 'जिस्मचर्या' के संदर्भ में (उदा० पृ० ५४ और पृ० ५६, ६१)।

सारांश में हम कह सकते हैं कि कनुप्रिया (राधा) वैष्णव राधा, आधुनिक रोमांटिक राधा और त्रिपुरसुन्दरी राधा है। किंवा वह इन तीनों की कान्तमैत्री है। इन स्वरूपों के अंकित करने में रचयिता ने सिद्धरति से वैष्णव समर्पणभक्ति तथा अस्तित्ववादी क्षणभोग तक का प्रयाण किया है।

[३]

'इतिहास' चरण में कृष्ण महाभारत के लोक मे पहुँचते हैं जहाँ वे एक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार हैं और अंततः एक आधुनिक मनुष्य हैं जो आधुनिक जगत के युद्ध-संघर्ष-विषमता से जूझ रहे हैं (मिथकीय संदर्भ मे)। इस 'इतिहास' को अर्थात् इस यथार्थता (reality) को भी राधा अपने सरल मन से सहज की कसौटी पर ही कसती है अर्थात् मिथक धर्मा बनी रहती है। वह मिथकबोध को लाँघकर यथार्थता बोध को स्वीकार नहीं कर सकती। यही कनुप्रिया की आधुनिक त्रासदी है, यही रोमांटिक दर्शन की फूहड़ता है; और यही भारतीवाद का छद्म पाखंड है। मिथक से इतिहास की ओर आने में, रोमांस से यथार्थ की ओर आने में, अराजकता से क्रांति की ओर आने में, दमन से विद्रोह की ओर आने में, विध्वंस से निर्माण की ओर आने में जो माध्यम एवं प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे द्वंद्वात्मक हैं। भारती और उनकी कनुप्रिया इन जटिलताओं को नकराती हैं। वे शून्य (nothing) हैं— इन दोनों के लिये! क्या आज हम राधा को या कवि के प्रणय बोध को सिद्धों-सूफियों के आवेगात्मक स्तर पर, वैयक्तिक भोग की गोपनीयता के साथ ग्रहण करें? क्या लेखक इसी तरह का प्रेमधर्म प्राप्त करके धर्मयुग में रमण करना—करवाना चाहता है? 'ज्ञान के समाज शास्त्र' (sociology of knowledge) की व्याख्या करते हुए कार्ल मानहाइम का मत है कि किसी प्रक्रिया का केवल अर्थ ही महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि मंतव्य (intention) भी महत्त्व का है। कवि की गूढ़ता असंख्य क्रियाओं में से चुनाव करने में लक्षित होती है क्योंकि वह चुनाव के द्वारा ही अपने समाज के प्रति अभियोजित होता है तथा चुने गये अनुभव का नामकरण करता है। उसका विवरण देता है। वह यह निर्देशित करता है कि व्यक्ति किस प्रकार समाज के दबावों के प्रति प्रतिक्रिया करता है। समाज की सामाजिक एवं मनस्तात्विक शक्तियाँ उसे समाज के औचित्य या विरोध में ला खड़ा करती हैं। इस कृति में कृष्ण इतिहास भी हैं। राधा पहले के कृष्ण अर्थात् भागवत का ही वरण करती है, किन्तु सामाजिक-ऐतिहासिक कृष्ण अर्थात् महाभारत के प्रति उदासीन रह जाती है। भागवत में वह कृष्ण के साथ है, लेकिन महाभारत में अर्जुन कृष्ण के साथ है। राधा केवल अर्थ पूछती है। अर्जुन मंतव्य पूछते हैं। अतः राधा का सरल

(Organic and Inorganic) में तारतम्य है—दोनों अन्योन्याश्रित हैं । डा० वर्मा ने इसी तथ्य को काव्यात्मक रूप दिया है और 'एक नाद' की जो धारणा सम्मुख रखी है, वह जड़ और चेतन का एक तारतम्यमूलक आधार है, केवल उनमें प्रकार-भेद है—

टूट गये बंध, जड़ और चेतन सभी
एक नाद में हो लीन, स्पन्दित से हो उठे ।
यदि जड़ उस दिव्य राग का स्थायी है
तो समस्त चेतना है अन्तरा आलाप सा ।।

अथवा

संचरणशील है, सदैव कण कण में,
जड़ नहीं जड़, वह चेतनावरण है ।[1]

यही नहीं, डा० वर्मा ने जड़ और चेतन को दृष्टि का भेद माना है अथवा दूसरे शब्दों में, यह दृष्टि का संकोच ही है जो हमें जड़ और चेतन को अलग-अलग देखने को प्रेरित करता है ।[2] यही दृष्टि 'अद्वैत-दृष्टि' है जिसकी ओर विज्ञान गतिशील है ।

महाकाव्यत्व

उपर्युक्त तत्त्वों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष स्वयं साक्ष्य है कि 'एकलव्य' महाकाव्यों की परम्परा की दृष्टि से, कथावस्तु तथा चरित्रांकन-शिल्प की दृष्टि से, वैचारिक-वैभव तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से, यथार्थ में, महाकाव्य के सभी प्रमुख तत्त्वों से समन्वित है । इसके अतिरिक्त शैली की उदात्तता एवं विराट भावों के अंकन की दृष्टि से, 'एकलव्य' महाकाव्य की भावभूमि की सफल अभिव्यक्ति करता है । इस पक्ष का अत्यधिक विवेचन समीक्षा ग्रंथों में किया जा चुका है जिसकी ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है, उसकी पुनरावृत्ति यहाँ व्यर्थ है । दूसरी ओर, मैंने उपर्युक्त जिन संदर्भों एवं प्रकरणों का विवेचन किया है, वे भी अपरोक्ष रूप से इसी तथ्य को सम्मुख रखते है कि 'एकलव्य' महाकाव्य की उदात्त-भावना का परिचय देता है ।

इस दृष्टि से, 'एकलव्य' का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्विति में तथा उसकी रसवत्ता में समाहित है । 'रस' की एक अबाध धारा मुक्त छंदों में मुक्त होकर प्रवाहित हुई है । मेरे विचार से, रस-परम्परा को एक गतिशील आयाम इस महाकाव्य में दिया गया है । उसे मनोविज्ञान, विचार और भावनाओं के समन्वित

---

१. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० २१२ ।
२. वही, लाघव सर्ग, पृष्ठ १५३ ।

वह मन्वंतर, सृष्टि-लय-प्रलय, अवतार, चतुर्युग के आधार पर नहीं है। उसका आधार है मृत्यु भोग; और मृत्युभोग का केन्द्र एवं शीर्ष है युद्ध। अतः इतिहास राधा को महाभारत के 'अजनबीपन' में ले जाता है।

फलतः उसमें 'पूर्वराग' एवं 'मंजरी परिणय' वाले पूर्ववर्ती चरणों के अनुभवों एवं अर्थों के बावत संशय उठते हैं। 'उसी आम के नीचे' उसके मात्र क्षणभोगी अंतर्मुखी इतिहास की पुनरावृत्ति होती है (पृ० ६५)। इतिहास-भूमि पर वह मात्र स्मृति बटोरती है: आम की डाल (पृ० २३), सूनी मांग (पृ० २५, ३३) शिशुवत् कृष्ण (पृ० ३७), आम्रमंजरी (पृ० २३) आदि के अर्थों के प्रति उसमें संशय उठते हैं। स्थिति के परिवर्तन से अर्थ बदल जाते हैं। अस्तु

युद्ध की 'अमंगल छाया' में राधा की सहज की कसौटी असमर्थ साबित होती है। 'पूर्वराग' के तीसरे गीत में कदंब के नीचे खड़े ध्यानमग्न देवता से कनु को प्रणाम करने वाली राधा आज उस राह से कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाओं को युद्ध में भाग लेने जाते हुए पाती है। आम की वह डाल काट दी जाती है क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के वायु वेगगामी रथों की गगनचुम्बी ध्वजाओं में यह नीची डाल अटकती है। इसी तरह आज वह छायादार (छायावादी!) पावन अशोक वृक्ष भी खंड-खंड हो जायगा (दे० पृ० ६८-७०)। निर्वासित (Alienated) राधा वर्तमान में फेंक दी गई है। वह एक अजनबी (stranger) है। वह स्वयं कहती है: 'कनु के ये वर्तमान अपने, तेरे उन तन्मय क्षणों की कथा से अनभिज्ञ हैं ···इस भीड़ भाड़ में तू और तेरा प्यार नितांत अपरिचित छूट गये हैं' (पृ० ७१)। इसी संशय के बीच वह थोड़े क्षणों के लिये ही सही मान लेती है कि 'ये सारे *तन्मयता* के गहरे क्षण सिर्फ भावावेश थे, सुकोमल कल्पनाएँ थीं, रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे' (पृ० ७२)। किन्तु वह युक्ति (rationality) को सत्य और अर्थ नहीं मान सकती। युक्ति सत्य (Truth) को खंडित कर देती है! यह आत्मनिर्वासन (self-alienation) की मिथकीय एवं चरवाही भूमिका पर आधुनिक विषमता और उसकी फूहड़ त्रासदी है! यही राधा का आधुनिक बोध—निर्वासन और मृत्यु का अजनबी अनुभव!! 'अन्धायुग' में भी इसे ही ऐतिहासिक परिवेश में कूता गया है।

उसके लिये समस्या है इस नई 'सार्थकता' को समझने की। इस नये अव-बोध को 'समुद्र-स्वप्न' (पृ० ७९-८३) नामक उपशीर्षक में उत्सरित किया गया है। इसमें मनोवैज्ञानिक आर्केटाइपल प्रतीकों जैसे समुद्र, सूरज, मछलियां, जलप्रलय, अभिमंत्रित गांडीव, कांपती हुई दीप-लौ का भी चतुर विन्यास हुआ है। यह अंश काफ्कीय कल्पना अर्थात् आधुनिक फान्तासी की सम्भावनाओं का उद्घाटन करता है। राधा क्षीरसिंधु को अर्थात् कृष्ण के अवतारी रूप में से एक के साक्ष्य को स्वप्न में देखती है। आज वहाँ सिंदूरी गुलाब जैसे सूरज के बजाय सैकड़ों निष्फल सीपियां

(Organic and Inorganic) में तारतम्य है—दोनों अन्योन्याश्रित हैं । डा० वर्मा ने इसी तथ्य को काव्यात्मक रूप दिया है और 'एक नाद' की जो धारणा सम्मुख रखी है, वह जड़ और चेतन का एक तारतम्यमूलक आधार है, केवल उनमें प्रकार-भेद है—

टूट गये बंध, जड़ और चेतन सभी
एक नाद में हो लीन, स्पन्दित से हो उठे।
यदि जड़ उस दिव्य राग का स्थायी है
तो समस्त चेतना है अन्तरा आलाप सा ॥

अथवा

संचरणशील है, सदैव कण कण में,
जड़ नहीं जड़, वह चेतनावरण है ।[1]

यही नहीं, डा० वर्मा ने जड़ और चेतन को दृष्टि का भेद माना है अथवा दूसरे शब्दों में, यह दृष्टि का संकोच ही है जो हमें जड़ और चेतन को अलग-अलग देखने को प्रेरित करता है।[2] यही दृष्टि 'अद्वैत-दृष्टि' है जिसकी ओर विज्ञान गतिशील है ।

महाकाव्यत्व

उपर्युक्त तत्वों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष स्वयं साक्ष्य है कि 'एकलव्य' महाकाव्यों की परम्परा की दृष्टि से, कथावस्तु तथा चरित्रांकन-शिल्प की दृष्टि से, वैचारिक-वैभव तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से, यथार्थ में, महाकाव्य के सभी प्रमुख तत्वों से समन्वित है । इसके अतिरिक्त शैली की उदात्तता एवं विराट भावों के अंकन की दृष्टि से, 'एकलव्य' महाकाव्य की भावभूमि की सफल अभिव्यक्ति करता है । इस पक्ष का अत्यधिक विवेचन समीक्षा ग्रंथों में किया जा चुका है जिसकी ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है, उसकी पुनरावृत्ति यहाँ व्यर्थ है । दूसरी ओर, मैंने उपर्युक्त जिन संदर्भों एवं प्रकरणों का विवेचन किया है, वे भी अपरोक्ष रूप से इसी तथ्य को सम्मुख रखते हैं कि 'एकलव्य' महाकाव्य की उदात्त-भावना का परिचय देता है ।

इस दृष्टि से, 'एकलव्य' का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्विति में तथा उसकी रसवत्ता में समाहित है । 'रस' की एक अबाध धारा मुक्त छंदों में मुक्त होकर प्रवाहित हुई है । मेरे विचार से, रस-परम्परा को एक गतिशील आयाम इस महाकाव्य में दिया गया है । उसे मनोविज्ञान, विचार और भावनाओं के समन्वित

---

१. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० २१२ ।
२. वही, लाघव सर्ग, पृष्ठ १५३ ।

भने की बुद्धि और जीवन में विकास करने की गति दोनों को अस्वीकारती है। क्रियात्मकता (activity) के सभी रूपों में मनुष्य की संवृद्धि अमल (practice) के द्वारा ही हो सकती है और राधा कर्म से तटस्थ है। ऐसे आधुनिक बुद्धिजीवी युग को अंधा मानते हैं क्योंकि वे स्वतन्त्रता (freedom) को सुव्यवस्था (order) से समान्यस्त नहीं कर सकते। उनके हेतु स्वतन्त्रता का लक्ष्य अंतर्मुखी अराजकता (anarchy) है। यही जीवनदृष्टि 'अंधायुग' में झाँकती हुई मिल जाएगी। अतः इस अस्तित्ववादी बुद्धिमीमांसा की बुनियाद पर 'कनुप्रिया' की फान्तासी खड़ी की गई है। जो गहराई में पहुँचने पर एक विकृत राजनीतिक-दर्शन की परम्परा को भारतीय बनाकर रोपना चाहती है। इसका परिणाम आत्मनिर्वासन है।

'समापन' (पृ० ८७-८९) के अन्तर्गत इस दुहरेपन पर आभास मिलता है जब राधा कनु से कहती है की 'प्रगाढ़ केलिक्षणों में अपनी अंतरंग सखी को तुमने बाँहों गूँथा पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गए प्रभु ?' (पृ० ८८)। यहाँ सिद्धरति (केलिसखी के केलिक्षण), वैष्णव भक्ति (प्रभु) तथा अस्तित्वबोध (इतिहास) तीनों का संक्षेपण हुआ है। यहाँ लेखक राधा को केवल 'अंतरंग केलिसखी' के रूप में ही भावोन्मिषित करता है। अतः एक अंशरूप युद्धकेन्द्रित इतिहास की तरह कृष्ण की शक्ति राधा को भी केलिसखी बनाकर संकुचित कर दिया गया है। इसीलिए राधा की तरस महाभारत के कृष्ण की अंगुलियाँ 'कनुप्रिया' में अब सन् १९५९ में अर्थ नहीं गूँथ पातीं (पृ० ८९)। राधा भी इतिहास से कट गई है, वह अडिग खड़ी है (पृ० ८९)।

इसीलिये हमने कहा है कि 'कनुप्रिया' सिद्धरति से वैष्णव महाभाव और अस्तित्ववादी क्षणभोग तक की गड्डमड्ड यात्रा हुई है।

[४]

मिथकीय फलक पर अंकित वैष्णव राधा की इस आत्मान्तर कथा में सर्वाधिक चित्रण 'जिस्म' का है; जिस्म की मधुचर्या का। 'पूर्वराग' के दूसरे गीत से ही राधा के जिस्म के एक-एक तार झंकार उठते हैं; कृष्ण उसके एक-एक अंग की एक-एक गति को पूरी तरह बांध लेते हैं; राधा की लाज सिर्फ जिस्म की ही नहीं है बल्कि मन की भी है; कृष्ण उसे अपनी लंबी चंदन-बाँहों में भर कर बेसुध कर देते हैं; कृष्ण राधा का नये ढंग का भारतीवादी नखशिख वर्णन करते हैं (पृ० २९-३०); कृष्ण के चन्दन-कसाव के बिना राधा की देह-लता के बड़े-बड़े गुलाब टीसते हैं; आधी रात का प्रलय शून्य सन्नाटा काँपते हुए गुलाबी जिस्मों, गुनगुने स्पर्शों, कसती हुई बाँहों, अस्फुट सीत्कारों, गहरी सौरभ-भरी उसासों और अंत में एक शिथिल मौन से (रत्योपरांत ?) आबाद हो जाता है (पृ० ४६); राधा के अधखुले होंठ काँपने लगे हैं और कंठ सूख रहा है और पलकें आधी मुंद गई हैं और सारे जिस्म में जैसे प्राण

अंगुष्ट को तथा आचार्य द्रोण के रक्त-रंजित वस्त्र को देखकर भय और करुणा से भर उठती है। इसी के साथ पुत्र की दुर्दशा देखकर वह क्रोधित एवं क्षुब्ध हो जाती है। इस प्रकार क्रोध का आलम्बन ग्रहण कर उसके भय और करुणा के भावों का रेचन होता है। इसी प्रकार, पाठक के भावों का रेचन एकलव्य जननी के साथ होता है। इन प्रसंगों के द्वारा, कवि ने सारे महाकाव्य में एक प्रभावान्विति का समावेश किया है और इस प्रभाव की तीव्रतर अनुभूति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब कवि द्रोण तथा एकलव्य के अन्तर्द्वन्द्व की सम्पूर्ण कथावस्तु में प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

इन मूलभूत तत्वों के प्रकाश में, 'एकलव्य' महाकाव्य की उदात्तता और उसकी जीवंत शक्ति स्वयं-साक्ष्य है। परन्तु, फिर भी 'समय' की गति ही यह बता सकेगी कि यह महाकाव्य उस उदात्तता को कहाँ तक कायम रख सकेगा ? संभावित सत्य यह माना जा सकता है कि जिस मूल-विषय तथा उससे सम्बन्धित जो चिंतन का अनुभूति परक रूप है, वह अवश्य ही उसकी महानता को भविष्य में स्थापित करेगा ! जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अनुमान तथा प्रयोग के आधार पर भावी घटनाओं की कल्पना करता है, उसी प्रकार आलोचक कृति के विषय तथा विचारों की गहनता के आधार पर उसके भावी स्थान के प्रति केवल अनुमान कर सकता है। और यही कार्य मैंने भी किया है, और ईमानदारी से किया है, क्योंकि आलोचक की ईमानदारी ही उसका सम्बल है और उसकी दृष्टि ही उस ईमानदारी का परिचायक है। 'एकलव्य' महाकाव्य के रूप में एक ऐसी रचना है जो डा० वर्मा की सर्जनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष माना जा सकता है, कम से कम इस तथ्य को मैं बिना किसी पूर्वाग्रह के कह सकता हूँ। खामियाँ तो प्रत्येक कृति में होती हैं, पर वे खामियाँ पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। जब समग्र रूप से उस कृति के पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन उचित रूप से किया जाता है।

शोखी की तुर्शी को भी उद्घाटित करते हैं। इनसे उनकी शैली का 'परियों-जैसा जादू' भी खुल जाता है।

इस कृति में उर्दू शब्दों का प्रयोग वहुधा अस्वाभाविक लगता है क्योंकि राधा का मिथक और आर्केटाइप वैष्णव संस्कार की आराध्य भावना में पल्लवित-पुष्पित हुआ है। *अज्ञेय ने भी कहा है—कि इन बोलचाल के उर्दू शब्दों का राधा-कृष्ण के* प्रसंग में विनाशकारी, प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उन्होंने कुछ उदाहरण बताये हैं— शोख चंचल विचुम्बित अलकें, महासागर मेरे ही जिस्म का उतार चढ़ाव है, निर्वसना जलपरी, शिथिल गुलाबतन, साबित मणिजटित दर्पण, तुम्हारी बावरी मित्र, तुम्हारी मुँहलगी जिद्दी नादान मित्र, वह मेरी तुर्शी है जिसे तुम मेरे व्यक्तित्व में विशेष रूप से प्यार करते हो (भारती के नाम लिखे गये एक निजी पत्र का अंश)।

परियों और जादू का रोमांस सँजोये इन रोमांटिक लिरिकल गद्यगीतात्मक कृति में आद्यंत राधा की आलापात्मक आत्मकथा तथा आत्मवक्तव्य हैं जिनका *विन्यास बहुत अधिक व्याकरणात्मक है। लेकिन फिर भी कुछ शैली प्रयोग भी उभरे* हैं : भावों की गहराई को आत्मसात् करने के निमित्त।

उदाहरण (क) 'और बैठे रहे, बैठे रहे, बैठे रहे,
मैं नहीं आयी, नहीं आयी, नहीं आयी (पृ० २४)

(ख) करूँगी !
वार-बार नादानी करूँगी
तुम्हारी मुँहलगी, ज़िद्दी, नादान मित्र भी तो हूँ न ! (पृ० ३२)

(ग) तुम्हारे चन्दन कसाव के विना मेरी देहलता के
बड़े-बड़े गुलाब धीरे धीरे टीस रहे हैं
और दर्द उस लिपि के अर्थ खोल रहा है (पृ० ३२)

(घ) फिर
काँपते हुए गुलावी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शों
कसती हुई बाहों
अस्फुट सीत्कारों···से आवाद हो जाता है (पृ० ४६)

(ङ) बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद,
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा—
—मेरा यह जिस्म
कल तक जो जादू था, सूरज था, वेग था
तुम्हारे आश्लेप में (पृ० ६१)

तीसरे और चौथे खंड की राधा कृष्ण की महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं है। किन्तु उनमें वह एक फूहड़पन या फूहड़ता (Absurdity) पाती है और स्वयं को आत्मनिर्वासित (Self-alienated)! यहाँ राधा की भावाकुल तन्मयता वैष्णव महाभाव जैसी तो हो ही सकती है, लेकिन अस्तित्ववादी बोध वाली भी है। वर्तमान की विद्रूपता को प्रकट करने के लिए, आधुनिक बोध की समसामयिकता (क्षण) को इतिहास से पृथक् और विरुद्ध करने के लिए भी धर्मवीर भारती ने यहां अतीत का इस्तेमाल किया है।

काल की सबसे छोटी इकाई 'क्षण' है; और बोध की सबसे प्रारम्भिक एवं तीव्र स्थिति 'तन्मयता' है। क्षण हमें इतिहास की असंगतियों, विरोधी स्थितियों के विवेक (रेशनालिटी), समस्यायों के समाधान की खोज से विमुक्त कर देता है। इसी तरह 'तन्मयता' के खतरे भी हैं कि यह बौद्धिक परम्परा, आदर्श, अवश्यंभावी योजना, अरहस्यवादी स्पष्टता, विकास बोध आदि से हमें बेफिक्र कर देती है। तन्मयता स्वतंत्रता को व्यवस्था से समंजित करने के प्रश्न को दबा देती है। काव्य कृति के धरातल पर राधा अस्तित्ववादी 'स्वतन्त्रता' का भी 'चुनाव' करती है, तथा हरेक सामाजिक स्थिति को 'सहज' (='भावाकुल तन्मयता') की कसौटी पर कसती है। यह विधि काव्यात्मक अभिव्यंजना की गहराई का अभिज्ञान तो दे देती है; किन्तु विषय-वस्तु के उपचार की व्यापकता, समझ और व्याख्याओं से उद्भूत 'जटिल' के प्रति रोमांटिक दृष्टि का पलायनवाद और गोप सौन्दर्य (Pastoral beauty) की आशंसा मात्र ही प्रदान कर पाती है।

इसीलिए हम मान सकते हैं कि कृति दो भूमियों का संतरण करती है—सिद्ध रति से अस्तित्ववादी भोग (सफरिंग) तक का। 'क्षण' दोनों में अभिपेकित है। अतः इन दोनों प्रकार के जीवनदर्शनों का सामंजस्य हुआ है। लेखक ने इस सामंजस्य में तो कमाल कर दिखाया है!

कृति में एक ओर 'महासुख' (सिद्ध) एवं 'महाभाव' (वैष्णव) की समरसता है, तो बाद में चलकर अस्तित्ववादी 'स्वतन्त्रता' तथा 'भोग' के स्वर नेपथ्य से उभरते चले जाते हैं।

कनुप्रिया (राधा) के माध्यम से ही लेखक ने अपना प्रश्न और आग्रह पेश किया है। प्रश्न 'व्यक्ति' का है—एक आधुनिक व्यक्ति का जो रोमांटिक बोध के बजाय अस्तित्व बोध से संनद्ध है। 'सहज मन से जीवन जीने तथा तन्मयता के क्षणों में डूबकर' उसमें ही सार्थकता पाने वाले व्यक्ति के सामने तब एक जटिल प्रश्न खड़ा होता है जब वह दो असंगतियों, दो विरोधी परिस्थितियों, दो विभिन्न सामाजिक अनुभवों के आमने-सामने होता है और जब वह सामंजस्य नहीं कर पाता। यह उसका प्रश्न है।···किन्तु वह इतिहास और समाज और मूल्यों से अभिभूत एवं

दे० 'जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल बैठि काँकरी चुन्यौ करैं'—आलम)।

अब अंतिम बात रह जाती है कृति में प्रतीकबंध की। कृष्ण द्वारा आम्रबौर को तोड़कर रखने अथवा उसे चूर-चूर कर श्यामल वनघासों में बिछी उस माँग सी उजली पगडंडी पर बिखेर देने का ठीक-ठीक संकेत राधा नहीं समझ पाती। किन्तु लेखक स्पष्ट करता है कि ये पगडंडियाँ तो राधा की विचुंबित पलकें, गोरी अनावृत बाहें तथा सारी चंपकवर्णी देह है। बिखरी हुई आम्रबौर और राधा की पतली उजली चुनौती देती हुई (क्वाँरी) माँग के आमने-सामने आने पर एक पार्थक्य रेखा का प्रतीक खुलता है (पृ० ३०)। आम्रबौर तथा अर्द्धोन्मीलित कमल के उभय रूढ़ प्रतीकों को लेखक ने नये संदर्भों में प्रवाहित किया है। रीतिकाव्य में यदि सहेट स्थल पर प्रिया या प्रियतमा नहीं पहुंचती तो पहुँचने वाला एक आम्रबौर रख आता है (हसि रही ब्रजलाल के सामुहें आइ रसाल की मंजरी राखी; जगद्विनोद, ३४३)। इसी तरह कवि राधा को प्रतीकत्व प्रदान करते हुए उसे कृष्ण की 'शक्ति' एवं 'योगमाया' से आगे अंततोगत्वा कालवधू-दिग्वधू बना डालता है जो पुरुष के साथ युगल रूप में अनंतकाल से अनंतदिशाओं में चलती चली आ रही है और चलती चली जाएगी (पृ० ३६)। आर्केटाइपल प्रतीक का यह चरम बिंदु है! इस कड़ी में राधा की माँग का प्रतीक विकसित होता है और राधा उद्‌घाटित करती है कि 'क्या वह आकाशगंगा मेरी माँग नहीं है?' (पृ० ५०) इस तरह वनघास की पगडंडी राधा की पतली उजली माँग हो जाती है; और यह प्रकारांतर से आकाशगंगा में अन्वित हो जाती है जो राधा के केशविन्यास की शोभा है (पृ० ५१)। इसी दशा में राधा का अस्तित्ववादी 'अज्ञात भय' (पृ० २७) महाभावपरक 'आदिम भय' में विराटीकृत हो जाता है (जिसमें अस्तित्ववादी छाप भी मौजूद रहती है) इस अंधेरे 'भय के जाल में ('thrown into darkness'—Heideggar) उलझी हुई राधा शीतल चट्टानों पर निर्वसना जलपरी की तरह छटपटा रही हैं (पृ० ५२)। सारांश में राधा (अब) भावविभोर न होकर 'भयभीत' है, आदिम भय से भीत!

इतिहास राधा के युग्म भावकल्प को कितना छोटा (लघु) कर देता है। तब वह समग्र को ललकारती थी, तब उसकी अलकों में जगत की समस्त गति बँध कर पराजित थी, तब उसके चरमसाक्षात्कार का एक गहरा क्षण सारे इतिहास से बड़ा और सशक्त था (पृ० ६२)। किन्तु अब सिर्फ मैं (राधा) हूँ, यह तन है, और याद है! राधा का यह सेतु-जिस्म कृष्ण को लीलाभूमि से युद्धभूमि में पहुंचा कर निमित्त मात्र हो जाता (becoming) है। इतिहास कनु को राधा की बाँहों से ले जाता है अर्थात् राधा सूनी माँग आती है और असमर्पिता ज्यों की त्यों लौट जाती है (cf. सृजन की थकन भूल जा देवता···)। इतिहास की भीड़ कृष्ण की एकांतसंगिनी राधा को अपरिचित-सी बनकर छूट जाती है। (पृ० ७१)। इस तरह राधा 'वर्तमान'

में लज्जा के उदय के साथ-साथ आत्मपीड़नरति का भावस्तर मुखर है। राधा का 'तुम' सम्पूर्ण का लोभी होकर भी एक वन देवता के समान वीतराग और निर्लिप्त है। अतः पहले और दूसरे गीत में अशोक एवं स्वर्णिम संगीत के प्रतीक से राधा के अंतःस्थित 'तुम' की पहचान है जो कितने ही जन्मों से, और कब से उसमें छिपा है, और वह उसमें छिपी है। तीसरे गीत में बन्धन का उदय है। चौथे गीत में राधा के द्वारा घण्टों जल में निहारने की मुद्रा के माध्यम से आत्मरति का उन्मीलन हुआ है। अब राधा क्षण के बजाय घंटों अपने को यमुना के जल में निहारती है। अन्तिम पाँचवें गीत में राधा को यह पछतावा हर क्षण सालता रहता है कि वह उस रास की रात कनु के पास से क्यों लौट आई। मंडलाकार रास में वेणुवादन की लय और नृत्य की परिक्रमा और तन्मयता में अंग-संचालन की सहजता होती है। रास प्रयत्नज न होकर सहज है और कृष्ण की रमणेच्छा का आह्वान है। राधा पूर्वराग की दशा में कनु के पास से लौट आती है।

स्पष्ट है कि ये पाँच गीत आम्र और कंदब, जल और संगीत के रोमांटिक प्रतीकों का पौराणिक अन्वयन भी करते हैं। सभी में राधा के अंतर्कथन हैं और कनु के प्रति सीधे अथवा अशोक और स्वर्णिम संगीत के [कवि समय एवं रोमांटिक प्रतीक के] माध्यम से निवेदित हैं। इनमें क्षण-क्षण की खोज है, कण-कण में घटित हुए भोग के द्वारा। क्षण और कण! कण और क्षण!!

यही राधिका कभी-कभी चरम साक्षात्कार के क्षणों में बिल्कुल जड़ और निस्पंद हो जाती है अर्थात् 'अव्यक्त' (प्रकृति) हो जाती है (पृ० २३)। यह जड़ता और निस्पंदता राधा की लाज का परिणाम है जो तन की ही नहीं, मन की भी होती है। इस मन की लाज के कारण ही चरम साक्षात्कार के अनूठे क्षण छूट जाते हैं। फलतः भय, संशय, गोपन और उदासी के संचारी जैसे अस्तित्ववादी भाव [anguish-'निर्व्याख्या वेदना-पृ० २३] उदित-अस्त होते हैं। मानों यह राधा के अस्तित्व का प्रारब्ध है, और यह प्रारब्ध व्यथामय है (उदा०, 'उदासी जो मुझे बार बार चरम सुख के क्षणों में भी अभिभूत कर लेती है' पृ० २३)। कृति के 'इतिहास चरण' के अंतर्गत इसी क्षण का फूहड़पन उद्घाटित हुआ है। राधा कहती है कि 'मानलो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—तो सार्थक फिर क्या है कनु? (पृ० ७४) अर्थात् यदि क्षण शब्द है तो शब्दों की सार्थकता क्या है? और फिर सहज मन वाली राधा को कनु इस सार्थकता को कैसे समझाएँगे? राधा के लिए तन्मयता के गहरे क्षण बिना शब्द अर्थहीन हैं। इन अनेक शब्दों का अर्थ वही है जो राधा की संवेदना है। कनु के अगणित शब्दों का अर्थ मात्र एक है: केवल मैं! इन शब्दों में मात्र संवेदना है, इतिहास का विकल्प-संकल्प नहीं। सारांश में तन्मयता के गहरे क्षणों का अर्थ केवल एक है: 'मैं' अर्थात् भाविता (becoming)। अंततः

४३

उर्वशी

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश

छायावाद-युग की समाप्ति के बाद से हिन्दी काव्य ने एक लम्बा पथ पार करके प्रगति और प्रयोग की नाना दिशाओं की यात्रा की है। इधर गत कई वर्षों से नई कविता, जो प्रयोगवाद का ही परिवर्तित रूप है, अपनी धूम मचाती हुई नृत्य-भंगिमा से नवयुवकों को आकृष्ट कर रही है। इन सब काव्य-धाराओं का दावा है कि वे यथार्थवादी जीवन-दृष्टि लेकर चल रही हैं और कविता को अपनी प्रकृत भूमि पर प्रतिष्ठित कर रही हैं। लेकिन हिन्दी कविता ने छायावाद-युग में 'कामायनी' के रूप में विकास के जिस सोपान पर अपने चरण रखे थे उससे अधिक आगे बढ़ना उसके लिये सम्भव नहीं हो पाया था क्योंकि कवि-समुदाय कभी इधर तो कभी उधर भटकता रहा था। सौभाग्य की बात है कि हिन्दी के प्राणवान् कवि दिनकर ने 'उर्वशी' द्वारा न केवल महाकाव्य-रचना की ही नई राह दिखाई है वरन् कवियों को यह भी बता दिया है कि साधना और तप से काव्य का ऐसा श्रृंगार किया जा सकता है, जो अनर्गल प्रलाप के युग में सबको अपनी ओर आकृष्ट कर ले।

'उर्वशी' की कथा वेदों और पुराणों में बिखरी हुई है। कवि दिनकर ने अपने युग की भावाभिव्यक्ति के लिए उसे अपने ढंग से श्रृंखलित करके उपस्थित किया है। आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवियों में से प्रत्येक की भाँति दिनकर जी का ध्येय कथा कहना नहीं है प्रत्युत कथा सूत्र के माध्यम से सनातन नारी और सनातन नर के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालना है। इसके लिए कवि ने गीति-नाट्य पद्धति का सहारा लिया है और पूरे ग्रंथ को पाँच अंकों में विभाजित किया है। संक्षेप में उसकी कथा इस प्रकार है:—

राजा पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप एक पुण्य कानन में शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात में नटी और सूत्रधार प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे हैं। स्वच्छ आकाश में खिले तारे, पृथ्वी पर फैली चाँदनी, आकाश और पृथ्वी का मिलन आदि की प्रशंसा में वे दोनों खो जाते हैं कि तभी उन्हें स्वर्ग से भूमि पर उतरती अप्सराओं के नूपुरों की झंकार सुनाई देती है। सूत्रधार के शब्दों में वे अप्सराएँ

उसके माथे का सौभाग्य विन्दु बन गया है (पृ० ५०)। इस भांति सूर्य, चन्द्र, नौ लाख तारे, शून्य, कमल-कुलिश, लय-प्रलय, आदि बड़े मर्म भरे संकेत करते हैं।

इसी फ़लक पर गाढ़े रूमानी रंग वैष्णव भावस्तर पर भरे गए हैं। कनु या कृष्ण ने जो यह विशाल सुंदर प्रकृति व्यापार फैलाया है—इसका अंतिम अर्थ है कृष्ण का संकल्प और इच्छा। सारे सृजन, विनाश, प्रवाह और अविराम जीवन प्रक्रिया का अर्थ केवल कृष्ण की इच्छा है, संकल्प है। किन्तु कृष्ण की इच्छा का, संकल्प का अर्थ कौन है? वह है राधा। इस भांति कृष्ण के सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है मात्र उनकी सृष्टि; उनकी संपूर्ण सृष्टि का अर्थ है—मात्र उनकी इच्छा; और उनकी संपूर्ण इच्छा का अर्थ है मात्र राधा (मैं) (— व 'सृष्टि संकल्प' के अंतर्गत 'सृजनसंगिनी' पृ० ४३-४७)। 'तुम मेरे कौन हो' (पृ० ३५) के अंतर्गत राधा संबंधों के माध्यम से एक ओर वैष्णव रतियों का उन्मीलन करती है, दूसरी ओर अनेक संचारी भावों का प्रस्फुटन करती है और तीसरी ओर अपनी स्थितियों (Situations) को पहचानती है। अंततः वह जान जाती है कि कनु की शक्ति तो वह ही है, उसका संबल, उसकी योगमाया; इस निखिल पारावार में वह ही परिव्याप्त है-- विराट, सीमाहीन, अदम्य, दुर्दान्त' (पृ० ३८)। वह कालवधू है जो अनंत काल से अनंत-दिशाओं में कनु के साथ-साथ चलती चली आ रही है और चलती-चली जाएगी (पृ० ३६)। पुरुष एवं प्रकृति के शाश्वत संवंध के अंतराल ने अनेक संबंध तलाश किये हैं—आग्रह से, विस्मय से, और तन्मयता से (अर्थात् महाभाव से)—यह कनु तेरा कौन है?'···कनु सखा है, वन्धु है, रक्षक है, लक्ष्य है, आराध्य है, शिशु है, सहचर है। और राधा सखी है, साधिका है, बांधवी है, मां है, वधू है, सहचरी है किन्तु फिर भी अकूल संबंध नहीं बांध पाते (पृ० ४०)। और आधुनिक बोध के अनुकूल—अस्तित्व का अर्थ सृष्टि हो जाता है; एवं राधा सृजन-संगिनी बन जाती है। वह पहले लौकिक अर्थ ले बैठती है (पृ० ३१); फिर निजत्व के आंतरिक अर्थ को मर्यादित, रसमय और पवित्र रखती है (पृ० ३३) और अंततः अस्तित्व के अन्तिम अर्थ के रूप में सृष्टि को समझती है (पृ० ४७)। वह वैष्णवधारा की एक अन्तरंग केलि सखी भी है, जो अपनी प्रगाढ़ केलिकथा का अस्थायी विराम-चिह्न अपने आधारों से कनु के वक्ष पर लिखती है (पृ० ५७)। इसी के साथ वह त्रिपुर सुन्दरी भी है जो प्रगाढ़ अन्धेरे के कंठ में झूमती ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों की माला भी है तथा असंख्य ब्रह्माण्डों का, दिशाओं का, समय का अनंत प्रवाह भी है (पृ० ५५)। वह लीला पुरुष की आद्याशक्ति भी हो सकती है। भावविह्वल राधा के अनेक, सूक्ष्म संचारी भावों के अंकन में कवि निष्णात है। कई स्थलों पर अस्तित्ववादी-मनोविज्ञान रसवादी-संचारीभावों में कुलबुला उठा है। जैसे अज्ञात भय, अपरिचित संशय, आग्रह भरा गोपन और सुख के क्षण में घिरने वाली निर्व्याख्या

औशीनरी पश्चात्ताप करती है कि मैं सर्वस्व समर्पण करके जहाँ सदा को पराजित हो गई वहाँ अप्सरा प्रिय के मन में ललक जमाकर जीत गई। वह यह भी कहती है कि मैंने राजा की प्रसन्नता के लिये सब कुछ किया पर मैं उनका मधुर प्रेम न पा सकी। यहाँ मदनिका पुरुष की प्रणय-क्षुधा की भयंकरता बताती है और इस सत्य का उद्घाटन करती है कि असफलता में पुरुष को मां की गोद याद आती है और संकट में युवती का शैया-कक्ष। जो जितना पौरुषवान् है वह उतना ही अमर्यादित रहना चाहता है, यह भी एक तथ्य है। इसका कोई उपचार नहीं है और जब तक पुरुषों की यह दशा है, नारियों को आंसू छिपाकर हंसना और हंसते-हंसते रोना होगा। रानी के इस निर्णय पर पहुँचने के समय ही कंचुकी द्वारा सूचना मिलती है कि महाराज गन्धमादन पर पहुँच गये हैं। उन्होंने रानी को कहलाया है—"वंश वृद्धि के लिये प्रार्थना एवं धर्म-साधन में त्रुटि न हो। मैं भी ईश्वर की आराधना में लीन हूँ।" रा को अप्सरा के साथ रमने को ईश्वर की आराधना कहने पर खीझ होती है पर नारी व विवशता के कारण वह उसका प्रतिकार करने में असमर्थ है अतः वह प्रियतम व कल्याण कामना करके ही मन को शान्त कर लेती है।

तृतीय अंक में गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी के विलास का वर्ण है। यह अंक इस महाकाव्य का प्राण है। नर-नारी का तन्मयतापूर्वक एकीकरण ही प्रणय की सार्थकता है। इस अंक के प्रारम्भ में पुरूरवा और उर्वशी दोनों समय के शीघ्र व्यतीत होने पर आश्चर्य करते हैं। फिर उर्वशी उपालम्भ देती है कि उसे ललना की मर्यादा गँवाकर स्वयं मिलने आना पड़ा, जबकि स्वयं प्रेमी को जाना चाहिए था। इस पर पुरुरवा अपने प्रेम की प्रामाणिकता के लिये अपनी विरह-जन्य स्थिति बताता है। उर्वशी का कथन है कि उसे स्वयं आने में प्रसन्नता नहीं हुई। कितना अच्छा होता कि वह हरण करके अथवा विजय करके लाई गई होती। पुरूरवा अपहरण को अपने स्वभाव के विरुद्ध कहता है। साथ ही अनासक्ति भाव का उल्लेख भी करता है, जिस पर उर्वशी को आश्चर्य होता है। वह असमंजस में पड़ जाती है। सोचती है—'एक ओर देवता हैं जो गन्धों के घेरे से निकलकर मधुपूर्ण चुम्बन लेने को आतुर हैं और दूसरी ओर मनुष्य हैं, जो गन्ध के नभ में उड़ना चाहता है।' पुरूरवा और उर्वशी दोनों परस्परालिंगनबद्ध हैं। पुरूरवा कहता है कि—'न तो दृष्टि का पेय रक्त का भोजन है और न रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन है।' उसे एक ओर धरा का आकर्षण खींचता है दूसरी ओर इससे परे अदृश्य का छोर पकड़ने की विकलता खाये जाती है। देवताओं की शीतलता और मनुष्यों की ज्वलनशीलता का भेद वह उर्वशी को समझाता है। उर्वशी उसकी ज्वाला-वासना को ही श्रेयस्कर मानती है। वही जैसे जीवन की कान्ति है। उसी के कारण कला, संस्कृति और विज्ञान का विकास होता है। जिस शोणित की विभीषिका विराग का कारण है वही उर्वशी के लिये सत्य है लेकिन पुरूरवा उससे ऊपर उठने का अभिलाषी है।

मन और सहज अनुभव जटिल बुद्धि और यथार्थ विषमताओं को नहीं झेल सकता। वह एक आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक की तरह इतिहास का निषेध-सा करती है तथा केवल काल के सबसे छोटे खंड—क्षण—को भोगती है जहां क्रम, परिवर्तन, जटिलता, विश्लेषण, व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हम इस दृष्टिकोण की अंतर्निहित विसंगति का उद्घाटन करना चाहते हैं ताकि 'कनुप्रिया' का रोमांटिक—ऐंद्रियिक जादू सही हाशिये में कायम हो जाय। राधा इतिहास के जटिल क्षणों के बजाय तन्मयता के अनूठे क्षणों की भावविह्वल आराधिका है! वह इतिहास का अर्थ नहीं स्वीकारती यदि वह व्यक्ति के माध्यम से प्रवाहित न हुआ हो (शब्द, शब्द, शब्द,……मेरे लिये सब अर्थहीन हैं यदि वे मेरे पास बैठकर मेरे रूखे कुंतलों में उंगलियाँ उलझाये हुए तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते'—पृ० ७५)। वह स्वयं कहती है कि 'अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो, मैं इनको सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय' (पृ० ७६)। वस्तुतः वह अनेक शब्दों का—संख्यातीत शब्दों अर्थात् इतिहास और जीवन के व्यतीत का—एक मात्र अर्थ जानती है—'मैं, मैं, केवल मैं!" (पृ० ७८)। अतः उसके लिये गति नहीं है; 'और सेनाएं स्तब्ध खड़ी हैं और इतिहास स्थगित हो गया है और तुम मुझे समझा रहे हो' (पृ० ७७)।

इसका अर्थ क्या है? प्रतिबद्धता (commitment) एवं अनुबद्धता (engagements) से विमुक्ति! राधा स्वयं कहती है कि 'कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व……मैंने भी गली गली सुने हैं ये शब्द। अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो; मैं इन्हें सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय' (पृ० ७६)। राधा कर्म-कर्त्तव्य की ओर पग धरना ही नहीं चाहती; वह एक चिरंतन मोह की स्थिति में ही क्षण भोगना चाहती है (पृ० ७६)। इतिहास और संस्कृति की समस्याएँ जो 'कर्म, स्वधर्म, निर्णय' जैसे शब्दों द्वारा धारणीकृत होती हैं, वे राधा को केवल 'राधन्' रूप में सुनाई पड़ती हैं। केवल 'अस्तित्व' है, विकास नहीं! केवल मात्र अस्तित्व (existence) भाविता (essence) कम! 'कनुप्रिया' की राधा स्वयं स्वीकारती है कि वह लीला-भूमि (भागवत) और युद्धभूमि (महाभारत) के बीच एक सेतु थी (दे० 'सेतु: मैं' उपशीर्षक पृ० ६४)। वह कृष्ण को संबोधित करती है: 'हाय तुम्हीं पर पग रख मेरी बांहों से इतिहास तुम्हें ले गया!' (पृ० ६४)।

इस इतिहास भूमिका पर उसके अपने पुराने संदर्भ मात्र संशय रह जाते है ('अब सिर्फ मैं हूँ, यह तन है—और संशय है' पृ० ६३)। अब कनु मंत्रपढ़े वाण से छूट जाते हैं और वह कांपती प्रत्यंचा सी शेष रह जाती है। अब इतिहास बोध उसके शरीर अर्थात् भोगायतन को 'बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चांद, रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा' (दे० 'विप्रलब्धा' शीर्षक पृ० ६१) टूटा मकान और सनसान रह जाता है। सारांश में, इतिहास की यहाँ जो अस्तित्ववादी व्याख्या हुई है

रहने चली जाती है।

पंचम अंक के प्रारम्भ में पुरूरवा एक स्वप्न देखते हैं। स्वप्न में एक नव्य-वट-पादप को रोपने और राजा द्वारा उसे क्षीरघट से सींचने का उल्लेख है। उसके आगे च्यवन ऋषि के आश्रम में एक कुमार (आयु) को प्रत्यंचा मांजते देखने की बात है, जिसका मुख उर्वशी से मिलता था। ज्योतिषी विश्वमना इस स्वप्न का फल यह बताते हैं कि पुरूरवा को आज ही प्रव्रज्या लेनी है और राजमुकुट अपने वीर पुत्र को देना है। राजा को आश्चर्य है कि पुत्र है नहीं और अभिषेक कर प्रव्रज्या लेनी है। तभी प्रतिहारी द्वारा सुकन्या और आयु को उपस्थित किया जाता है। उर्वशी राजा के आश्चर्य को शमन करती हुई सोलह वर्ष पूर्व आयु के गर्भ में आने की बात कहती है। यह वह समय था जब राजा पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे थे। इधर यज्ञ हो रहा था उधर च्यवन ऋषि के आश्रम में आयु का जन्म हो रहा था। इसके बाद उर्वशी अदृश्य हो जाती है। शाप फल जाता है। राजा क्रुद्ध होकर स्वर्ग को नष्ट करने तक की सोचते हैं पर महामात्य के समझाने से प्रव्रज्या लेते और राज्य आयु को देकर चले जाते हैं। रानी औशीनरी के दुःख का पार नहीं रहता। सुकन्या उसे शान्त करती है और गृहस्थ नारी का कर्त्तव्य बतलाती है। नारी की श्रेष्ठता पर यहाँ कवि ने अपनी प्रतिभा का अपूर्व अर्घ्य चढ़ाया है। औशीनरी द्वारा कवि ने भरत वाक्य कहलाया है कि भविष्य की नारी को अधिक उज्ज्वल और उदार युग मिले। अन्त में आयु कहता है कि मैं भावी जीवन का अग्रदूत हूँ और मैंने जीवन में मातृ ममता से ही सब कुछ प्राप्त किया है। इस प्रकार यह गीतिनाट्य के रूप में लिखा महाकाव्य समाप्त हो जाता है।

'उर्वशी' में नारी पात्रों का बाहुल्य है। रंगमंच पर उन्हीं की बार-बार उपस्थिति हमें दिखाई देती है। उन नारी पात्रों के दो स्पष्ट प्रकार हैं—प्रमुख नारी पात्र और अप्रमुख नारी पात्र। प्रमुख नारी पात्रों में उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या की गणना की जा सकती है जबकि अप्रमुख नारी पात्रों में चित्रलेखा, सहजन्या, रंभा, मेनका आदि अप्सराओं और निपुणिका तथा मदनिका नामक औशीनरी की सखियों का समावेश हो सकता है।

'उर्वशी' इस अप्रतिम महाकाव्य की नायिका है और आदि से अन्त तक व्याप्त है। प्रथम अंक में चित्रलेखा द्वारा यह सूचना देना कि वह उर्वशी को राजा के उपवन में छोड़ आती है और द्वितीय अंक में औशीनरी तथा उसकी सखियों की बातचीत में पुरूरवा और उर्वशी की उपवन में भेंट का वर्णन दोनों अंकों की कथा-वस्तु का केन्द्र है और कथा की शृंखला को जोड़ता है। तृतीय अंक में तो उर्वशी और पुरूरवा ही व्याप्त हैं, अन्य का वहाँ नाम तक नहीं। चतुर्थ अंक में उर्वशी का आयु को देखने आना, शाप के कारण अपने को पृथ्वी पर न रख पाने की विवशता जतलाना, गन्धमादन पर किये गये विलासों की स्मृति में खो जाना और ८।

मन और सहज अनुभव जटिल बुद्धि और यथार्थ विषमताओं को नहीं झेल सकता। वह एक आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक की तरह इतिहास का निषेध-सा करती है तथा केवल काल के सबसे छोटे खंड—क्षण—को भोगती है जहाँ क्रम, परिवर्तन, जटिलता, विश्लेषण, व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हम इस दृष्टिकोण की अंतर्निहित विसंगति का उद्घाटन करना चाहते हैं ताकि 'कनुप्रिया' का रोमांटिक—ऐंद्रियिक जादू सही हाशिये में कायम हो जाय। राधा इतिहास के जटिल क्षणों के बजाय तन्मयता के अनूठे क्षणों की भावविह्वल आराधिका है! वह इतिहास का अर्थ नहीं स्वीकारती यदि वह व्यक्ति के माध्यम से प्रवाहित न हुआ हो (शब्द, शब्द, शब्द,··· ··मेरे लिये सब अर्थहीन हैं यदि वे मेरे पास बैठकर मेरे रूखे कुंतलों में उंगलियाँ उलझाये हुए तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते'—पृ० ७५)। वह स्वयं कहती है कि 'अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो, मैं इनको सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय' (पृ० ७६)। वस्तुतः वह अनेक शब्दों का—संख्यातीत शब्दों अर्थात् इतिहास और जीवन के व्यतीत का—एक मात्र अर्थ जानती है—'मैं, मैं, केवल मैं!" (पृ० ७८)। अतः उसके लिये गति नहीं है; 'और सेनाएं स्तब्ध खड़ी हैं और इतिहास स्थगित हो गया है और तुम मुझे समझा रहे हो' (पृ० ७७)।

इसका अर्थ क्या है? प्रतिबद्धता (commitment) एवं अनुबद्धता (engagements) से विमुक्ति! राधा स्वयं कहती है कि 'कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व ·····मैंने भी गली गली सुने हैं ये शब्द। अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो; मैं इन्हें सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय' (पृ० ७६)। राधा कर्म-कर्त्तव्य की ओर पग धरना ही नहीं चाहती; वह एक चिरंतन मोह की स्थिति में ही क्षण भोगना चाहती है (पृ० ७६)। इतिहास और संस्कृति की समस्याएँ जो 'कर्म, स्वधर्म, निर्णय' जैसे शब्दों द्वारा धारणीकृत होती हैं, वे राधा को केवल 'राधन्' रूप में सुनाई पड़ती हैं। केवल 'अस्तित्व' है, विकास नहीं! केवल मात्र अस्तित्व (existence) भाविता (essence) कम! 'कनुप्रिया' की राधा स्वयं स्वीकारती है कि वह लीलाभूमि (भागवत) और युद्धभूमि (महाभारत) के बीच एक सेतु थी (दे० 'सेतु: मैं' उपशीर्षक पृ० ६४)। वह कृष्ण को संबोधित करती है: 'हाय तुम्हीं पर पग रख मेरी बाँहों से इतिहास तुम्हें ले गया!' (पृ० ६४)।

इस इतिहास भूमिका पर उसके अपने पुराने संदर्भ मात्र संशय रह जाते है ('अब सिर्फ मैं हूँ, यह तन है—और संशय है' पृ० ६३)। अब कनु मंत्रपढ़े बाण से छूट जाते हैं और वह कांपती प्रत्यंचा सी शेष रह जाती है। अब इतिहास बोध उसके शरीर अर्थात् भोगायतन को 'बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चांद, रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा' (दे० 'विप्रलब्धा' शीर्षक पृ० ६१) टूटा मकान और सुनसान रह जाता है। सारांश में, इतिहास की यहाँ जो अस्तित्ववादी व्याख्या हुई है

का सार कहती है क्योंकि वे पुरुष और प्रकृति के ही प्रतीक हैं। पुरूरवा जब आलिंगन में उर्वशी को बांधे हुए शरीरी मिलन के चरम आनन्द की स्थिति में भी उस विराट छवि को देखने की लालसा व्यक्त करता है तो वह उसे ठीक नहीं समझती और कहती है—

अतिक्रमण सुख की तरंग, तन के उद्वेलित मधु का,
तुम तो जगा रहे मुझमें फिर उसी शीत महिमा को,
जिसे टाँग कर पारिजात-द्रुम की अकंप डाली पर,
मैं चपलोष्ण मानवी-सी भू पर आई हूँ।

इसके पश्चात् वह इस बात का प्रत्याख्यान करती है कि नर-नारी के मिलन का सुखोपभोग करने वालों को देशकाल से ऊपर उठने का अधिकार नहीं है। वह प्रकृति को माया कहना भ्रम मानती है। पुरुष और प्रकृति दोनों का शाश्वत संगम उसके कथन का सार है। अकाम काम ही मनुष्य का अभीष्ट होना चाहिए। सकामता से द्वन्द्व उत्पन्न होता है और यह बुद्धि या मन की ही देन है। वह योग, विधि, निषेध आदि को व्यर्थ बताती है। उसका आत्म-परिचय है—

जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली।
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली॥

यद्यपि पुत्र कामना को उसने निष्काम काम का ध्येय नहीं माना है, तथापि सुकन्या की गोद से बच्चे को लेकर (चतुर्थ अंक, पृष्ठ ११९) जब वह अपनी गर्भ-काल की मनोदशा का वर्णन करती है तब लगता है कि मातृत्व भी असार्थक नहीं है। लेकिन उर्वशी के व्यक्तित्व का निर्माण काम के अकाम भोग के लिये ही हुआ है, जिसमें सौन्दर्य नर-नारी के मिलन की निस्तल समाधि में इसी लोक में किसी अतीन्द्रियता की अनुभूति कराता है।

औशीनरी और सुकन्या दोनों पतिव्रता की महिमा से मंडित हैं। एक राजा की पत्नी है तो दूसरी ऋषि की। औशीनरी के पुत्र का न होना एक दारुण शाप है और राज्य के लिए पुत्र न हो, यह ठीक नहीं। उसे यह अनुभव होता है कि गृहिणी सर्वस्व समर्पण करके सदा को गृहस्वामी से पराजित हो जाती है और अप्सरा ललक उत्पन्न करके जीत जाती है। वह पति की प्रसन्नता के लिये क्या नहीं करती। चन्द्रमा पर व्रत, पूजा-पाठ आदि सब में रत रहती है और स्वामी का मुख देखती रहती है फिर भी स्वामी अप्सरा के साथ विहार को चले जाते हैं। उसे आश्चर्य तब होता है जब स्वामी अप्सरा के साथ रमण करने को ईश्वर की आराधना बताते हैं। सब कुछ जानकर भी वह भारत की परम्परागत सामान्य नारी के स्वर में स्वर मिलाकर कहती है कि नारी अत्यन्त असहाय है और उसके भाग्य में चुपचाप दुःख भोगना ही बदा है। इतना होने पर भी—स्वामी को विलास-लीला में रत होता जानकर

(निरर्थक घटनाएँ) छटपटा रही हैं (पृ० ७९)। उसकी लहरें युद्धमुद्रा में सांगरूपक समेत आतुर हैं (पृ० ८०); वे नियंत्रणहीन होती जा रही हैं (पृ० ८०); और कनु हारकर कनुप्रिया के वक्ष के गहराव में एक छोटे-से छौने के भांति—क्षणिक सुख लेने के लिये भी—लहरों के पालने में सो जाते हैं (पृ० ८१)। यहां कनु को संदेश मिलते हैं: जागरण स्वप्न है, छलना है, मिथ्या है; निद्रा समाधि है (पृ० ८१)। अत: वे जुए पांसे की तरह निर्णय को फेंक देते हैं। उन्हें स्वधर्म, न्याय-अन्याय, सदसद्, विवेक, अविवेक की कसौटी नहीं मिलती। कनु इतिहास को बैसाखियों के सहारे चलता हुआ पाते हैं (पृ० ८२)। अत: वे असफल इतिहास को जीर्ण वसन की भाँति त्याग देते हैं (पृ० ८३)। वे तटस्थ और उदास हो जाते हैं। इस प्रकार इस कृति के कृष्ण राधा के स्वप्नों में अपने महाभारत-चरित्र में निरर्थकता पाकर पुनश्च एक अंधेरे में भरी हुई 'गहरी पुकार' हो जाते हैं। कृष्ण के अस्तित्व की सार्थकता यही है! इस तरह तटस्थ एवं उदास कृष्ण एक अस्तित्ववादी कृष्ण का दर्शन भी प्रस्तुत करते हैं जिसके 'चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण सारे इतिहास से बड़ा है और सशक्त है' (पृ० ९२)।

हम देखते हैं कि राधा अयुक्ति (irrationality) में ही सत्य और अर्थ पाने का जीवनदर्शन प्रस्तुत करती है। राधा के लिये इतिहास केवल युद्ध है—'युद्ध की अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ' (पृ० ७३)। राधा की उस रूमानी नीली यमुना में अब (अर्थात् इतिहास में) शस्त्रों से लदी हुई अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज जाती हैं, धारा में टूटे रथ जर्जर पताकाएँ वह बहकर आती हैं, चारों दिशाओं से गिद्ध उड़ उड़कर आते हैं। (पृ० ७३-७४)। इतिहास के इन अमानुषिक युद्ध वाले तथा फूहड़ प्रतीकों को चुनने में शायद 'अंधायुग' के अश्वत्थामा की घृणा के प्रसंग धर्मवीर भारती की अंतश्चेतना में दिप रहे हैं। किंतु 'कनुप्रिया' के संदर्भ में इतिहास को—और कृष्ण से जुड़े इतिहास को—इतना एकांगी, विकृत, भयानक, निरर्थक, तटस्थ और अंतर्मुखी बना देना एक अवैज्ञानिक, असमाजशास्त्रीय और अनुत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण है जो रूमानी और जिस्मचर्या वाले कवि का छद्म मोहक गोरखधन्धा फैलाता है। इसमें वैष्णव महाभाव, सिद्ध महासुख और अस्तित्ववादी स्थिति की त्रिपुटी का ऐसा संयोग हुआ है कि भावावेश में बहता हुआ जागरूक सहृदय भी इस संस्कृति के पतन को गौरव मान बैठता है। तथाकथित 'आधुनिक' बुद्धिजीवी अयुक्ति (irrationality) और स्वतन्त्रता (Freedom) की कांत मैत्री करा रहे हैं, ऐतिहासिक समझ को कुहरे से धुँधला बना रहे हैं, ज्ञेयता के प्रश्न को असंम्भव बनाते हुए संश्लिष्ट चिंतन की धारा की परम्परा को अस्वीकार कर रहे हैं, प्रमाण और प्रमापन के सारे मानक स्वेच्छा से नष्ट कर रहे हैं। घटनाओं की गति से इतिहास की गति का भी अनुमान लग सकता है, किन्तु इस कृति की राधा इतिहास को सम-

नहीं है तब वह कहती है कि अप्सरा चाहे जो कर सकती है पर हम योषिताओं के लिये तन के स्थान पर मन ही आनन्द कोष है, जो तन के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होता।

वह अत्यन्त उदार और ममतामयी भी है। आयु को सोलह वर्ष तक बड़े प्रेम से पालती है। जब पुरूरवा के संन्यास लेकर चुपचाप चले जाने पर रानी औशीनरी को पश्चात्ताप होता है तब उसके *आश्वासन के शब्दों में नारी की महत्ता उद्घोषित होती* है। उसके विचार में नारी मात्र क्रिया नहीं क्षमा और करुणा है, जिसके स्पर्श से इतिहास कविता बन जाता है। नारी नर की अपेक्षा मानवता के भी अधिक निकट है। नर का हृदय प्रभुत्व-तृषा से जितना पीड़ित होता है उतना नारी का नहीं। उसका विचार है कि नारी पुरुष की सृष्टि है अतः पुरुष को तो उसने स्वत्व हरण की प्रवृत्ति दी और नारियों को अधिकार गंवाकर कृतार्थ होने की। लेकिन यदि हमें सृजन का सुयोग मिला तो —

हम होकर निष्पक्ष सुकोमल ऐसा पुरुष रचेंगी,
कोलाहल कर्कश निनाद में भी जो श्रवण करेगा
कातर मौन पुकार दूर पर खड़ी हुई करुणा की
और बिना ही कहे समझ लेगा, आँखों-आँखों में
मूक व्यथा की कसक, आंसुओं की निस्तब्ध गिरा को

अप्रमुख नारी पात्रों में चित्रलेखा सर्वाधिक मुखर है। उर्वशी की सखी होने के कारण भी वह कवि के लिये महत्त्वशाली बन गई है। वही उर्वशी को राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़कर आती है। वह पुरुष की भ्रमर वृत्ति, नारी के आकर्षण और प्रेम की तीव्रता पर बार-बार नाना प्रकार से विचार करती है। उसके द्वारा कवि ने शारीरिक एवं अशारीरिक प्रेम का अन्तर स्पष्ट कराया है। वह शारीरिक प्रेम का गुणगान इन शब्दों में करती है—

बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर में
केवल मन ही नहीं, अंग-संज्ञा भी खो जाती है।

वह च्यवन ऋषि की इसलिये *प्रशंसा करती है कि उन्होंने नारी को तप की* सिद्धि बताकर सम्मानित किया—जब सुकन्या उर्वशी को दिये गये भरत के शाप की भयंकरता की चर्चा करती है तब वह देवताओं पर तीखा प्रहार करती हुई कहती है—

सरल मानवी क्या जानो तुम कुटिल रूप देवों का
भस्म समूहों के भीतर चिनगियां अभी जीती हैं
सिद्ध हुए पर सतत चारिणी तरी मीन के तन की
अब भी मन्द-मन्द चलती है अमित रक्त धारा में।

ऐसा लगता है कि कवि ने निरन्तर प्रसाधन-युक्त रहने वाली और उ

नहीं हैं (पृ० ५४) ; राधा का जिस्म बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद, रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण सा है (पृ० ६१) ; कृष्ण हार कर लौटकर थक कर राधा के वक्ष के गहराव में अपना चौड़ा माथा रख कर गहरी नींद में सो जाते हैं (पृ० ८१) ; कृष्ण की अन्तरंग केलिसखी केवल उनके सांवरे तन के नशीले संगीत की लय बनकर रह जाती है (पृ० ८८) ; इत्यादि। इस चिरपरिचित (भारतीवादी) जिस्मचर्या में वैष्णव संस्कारों पर सूफ़ियाना और खैय्यामी रूमानी संस्कार थोपे गए हैं। यह संस्कार भाषा के उर्दू-फारसी संस्कार से और भी विचित्र और असंगत लगने लगता है। लगता है कि भारती की राधा उर्दू की गजलें और छायावादी गान भी गा लेती है और वातावरण के देशकाल-गत प्रभाव की हत्या कर देती है।

इसी क्रम में कुछ नखशिख वर्णन हुए हैं जो नये ढंग के प्रयोग प्रस्तुत करते हैं।

पहला वर्णन 'आम्रबौर का अर्थ' (पृ० २६) के अन्तर्गत हुआ है। इसके अन्तर्गत राधा की अंगमाधुरी का मात्र माध्यम होना वर्णित है जो (राधा को) कृष्ण तक पहुँचा कर रीत जाती है अथवा चरम साक्षात्कार के क्षणों में अस्तित्वविहीन हो जाती है (शोख चंचल विचुंबित पलकें, अधर, बाहें, चरण, अंगप्रत्यंग, चंपकवर्णी देह मात्र 'पगडंडियाँ हैं)। दूसरे प्रसंग में अन्ततः रमणीय रहस्यवान सौन्दर्य की अन्वीक्षा 'कौन'—प्रश्नों के द्वारा हुई है (वह कौन है जिसकी खोज में कनु ने सूरज और चाँद को भेज रक्खा है। जिसे झंझा के उद्दाम स्वरों में पुकारा है, जिसके लिये महासागर की उत्ताल भुजाएँ फैला दी हैं—पृ० ४४)। स्पष्ट है कि वह कौन प्रकृति है—पुरुष कृष्ण की केलिसखी प्रकृति राधा! इसी बोध का विस्तार 'आदिम भय' (पृ० ४८-४६) के अन्तर्गत हुआ है। जब राधा=प्रकृति एकरूप हो जाती है और कृष्ण भी विराट् रूप (उदा० उत्तुंग हिमशिखर राधा के रूपहली ढलान वाले गोरे कंधे है जिन पर गगन-सा चौड़ा और सांवला और तेजस्वी माथा टिकता है; चाँदनी में हिलोरें लेता हुआ महासागर राधा के ही निरावृत जिस्म का उतार-चढ़ाव है; उमड़ती हुई मेघघटाएँ, राधा की ही बल खाती हुई अलकें हैं; सूर्यास्त वेला में पच्छिम की ओर झरते हुए अजस्र प्रवाही झरने राधा की ही स्वर्ण-वर्णी जंघाएँ हैं; दिन उसकी हँसी; फूल उसके स्पर्श तथा हरियाली उसका आलिंगन है : आदिकवि)। यहाँ नव्य स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यबोध की उदात्त दृष्टि का अनूठा समुपरंजन हुआ है। एक विवरण और है जो भारती की जीवन दृष्टि के अत्यधिक अनुकूल है : कृष्ण का मनसवी शैली वाला भारती रूप (तुम्हारा साँवला लहराता हुआ जिस्म, तुम्हारी किंचित् मुड़ी हुई शंख-ग्रीवा, तुम्हारी उठी हुई चंदन बाहें, धीरे-धीरे हिलते हुए जादू भरे होंठ; पृ० ७६)। ये तीनों उदाहरण धर्मवीर भारती की सखुनगोई और रूमानी

होने की चेष्टा करता है पर तरंगित अंग के रोमांच-कंपन, स्वर्ण कर्ण वल्लरी में फूल-सा खिला मुख और निशा के ज्वार में उन्माद का सुख उसे याद आ जाते हैं। तब उसकी कामनाएँ उसके प्राणों को हिलका देती हैं और उसकी त्वचा में चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते हैं। अपने व्यक्तित्व के विषय में उसकी गर्वोक्ति है—

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुण्डली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का बल है,
मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं,
अन्ध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादल के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ,
पर न जाने बात क्या है !
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बांहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता,
विद्ध हो जाता सहज वंकिम नयन के बाण से,
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से।
मैं तुम्हारे बाण का वींधा हुआ खग।
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूँ।
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

वस्तुतः उसके इस व्यक्तित्व का ही प्रसार उर्वशी में सर्वत्र हुआ है। प्रथम अंक में पृष्ठ २२ पर चित्रलेखा एक रानी के होते उर्वशी से प्रेम करने के विषय में पुरूरवा को इसलिये न्याय पथ पर चलने वाला कहती है कि श्रीमन्त प्रेम का नित नया बोध करते रहते हैं और नई सुन्दरताओं पर मरना उनका स्वभाव होता है। तृतीय सर्ग में तो उसका यह विलासी रूप ही प्रधान है। कभी-कभी वह तन का अतिक्रमण कर उस स्थिति को भी प्राप्त करना चाहता है जहाँ सब द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। उर्वशी यह नहीं चाहती कि पुरूरवा मिलन-सुख के परे की किसी वस्तु को देखे, पर पुरुष का स्वभाव ऊर्ध्व और निम्न दोनों गतियों के झूले में झूलने का है। विधि-निषेध, योग आदि को व्यर्थ ठहरा कर वह सौन्दर्य—मानवी या प्राकृतिक—पर मुग्ध होकर लीन

उन्होंने भाषा के प्रधानतया रूपकात्मक (metaphorical), फिर प्रतीकात्मक (symbolic) तथा सामान्यतः इतिवृत्तात्मक (narrative) प्रयोग किये हैं। विशेषणों और क्रियाविशेषणों के द्वारा भारती जो भाषा क्रीड़ा करते हैं वह उनके रूमानी संस्कार की गहराई प्रकट करती है।

[५]

इस कृति में कुछ अनूठी मुद्राएँ (gestures) अभिनयांकित हुई हैं जिनका लालित्य अनूठा है। इनके स्रोत बहुधा पूर्ववर्ती परंपराएँ हैं अथवा संस्कृत एवं रीति काव्य की रूढ़ियाँ। मुद्राओं में चित्रोपमता (graphicness) दृष्टव्य है: माथे पर पल्ला डालकर झुककर तुम्हारी चरणधूलि लेकर तुम्हें प्रणाम करने नहीं आयी (पृ० २५); जब मेरे पाँवों को महावर रचने के लिये अपनी गोद में रखते हो तो मैं लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूँ (पृ० २६); मैं वही बावली लड़की हूँ न जो पानी भरने जाती है तो भरे हुए घड़े में अपनी चंचल आँखों की छाया देखकर उन्हें कुलेल करती हुई चटु मछलियाँ समझकर बार-बार सारा पानी ढलका देती है (पृ० ३१, दे० 'नीर भरी गगरी ढरकावे); तुमने मुझे साहसपूर्ण अपने दोनों हाथों में फूल की थाली सी सहेजकर उठा लिया (पृ० ३६); तुम छोटे-से शिशु हो असहाय— वर्षा में भीग-भीग कर मेरे आँचल में दुबके हुए (पृ० ३७, दे० एक समानार्थक रीति-कालीन पद्य); जब तक मैं अपनी प्रगाढ़ केलि कथा का अस्थायी विरामचिह्न अपने अधरों से तुम्हारे वक्ष पर लिखकर थक कर शैथिल्य की बाँहों में डूब न जाऊँ (पृ० ५७); इत्यादि। ये मुद्राएँ मानों 'काव्य में मूर्तियाँ' की भाँति होते हैं जो अर्थ की व्यंजना और रूप की नवीनता का नया-नया संधान करते हैं। मुद्राएँ बिना रूप (form) तथा आकृति (figure) के रची ही नहीं जा सकतीं। और, रूपाकृति का स्वधर्म है अनुभूति (feeling) की प्रगाढ़ता अर्थात् तन्मयता। चित्रात्मक या चित्रोपम काव्य की आवेशी तन्मयता का एक रहस्य यह भी है जहाँ शब्द जादू का विवधर्म निभाते रहते हैं। कृति को एक विपुल पुरातन परंपरा से जोड़े रखने में भी लेखक ने सिद्धों, वैष्णव भक्तों के भावलोकों का भी भरपूर ग्रहण किया है। कई प्रसंग तो सिद्धों के चमत्कारी दूहों और केलिकथाओं के अनुवाद से लगते हैं। कई चित्रण भक्तिकाव्य से ढलकर लुढ़क आए हैं। कुछ रीतिकाव्य की छायाएँ भी हैं—कृष्ण द्वारा अर्द्धोन्मीलित कमल भेजने पर राधा तुरन्त समझ जाती है कि उन्होंने उसे संझा बिरियाँ बुलाया है (पृ० २८); कृष्ण के पीछे राधा साधारण भाषा भी इस हद तक भूल गई है कि श्याम ले लो! श्याम ले लो! पुकारती हुई हाटबाट में नगर डगर में अपनी हँसी कराती घूमती है (पृ० ३४); जहाँ कृष्ण ने राधा को अमित प्यार दिया था। वह वहीं बैठकर कंकड़, पत्ते, तिनके, टुकड़ चुनती रहती है (पृ० ६७,

होने की चेष्टा करता है पर तरंगित अंग के रोमांच-कंपन, स्वर्ण कर्ण वल्लरी में फूल-सा खिला मुख और निशा के ज्वार में उन्माद का सुख उसे याद आ जाते हैं। तब उसकी कामनाएँ उसके प्राणों को हिलका देती हैं और उसकी त्वचा में चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते हैं। अपने व्यक्तित्व के विषय में उसकी गर्वोक्ति है—

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुण्डली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का बल है,
मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं,
अन्ध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादल के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ,
पर न जाने बात क्या है !
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बांहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता,
विद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से,
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से।
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग।
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूँ।
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

वस्तुतः उसके इस व्यक्तित्व का ही प्रसार उर्वशी में सर्वत्र हुआ है। प्रथम अंक में पृष्ठ २२ पर चित्रलेखा एक रानी के होते उर्वशी से प्रेम करने के विषय में पुरूरवा को इसलिये न्याय पथ पर चलने वाला कहती है कि श्रीमन्त प्रेम का नित नया बोध करते रहते हैं और नई सुन्दरताओं पर मरना उनका स्वभाव होता है। तृतीय सर्ग में तो उसका यह विलासी रूप ही प्रधान है। कभी-कभी वह तन का अतिक्रमण कर उस स्थिति को भी प्राप्त करना चाहता है जहाँ सब द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। उर्वशी यह नहीं चाहती कि पुरूरवा मिलन-सुख के परे की किसी वस्तु को देखे, पर पुरुष का स्वभाव ऊर्ध्व और निम्न दोनों गतियों के झूले में झूलने का है। विधि-निषेध, योग आदि को व्यर्थ ठहरा कर वह सौन्दर्य—मानवी या प्राकृतिक—पर मुग्ध होकर लौ

से अनभिज्ञ है, इतिहास से 'घृणा'-सी करती है (दे० 'अंधायुग')। भारती ने इतिहास को सामूहिक मानव कर्म, संस्कृति के अशोक स्तवक, जीवन-मृत्यु चक्र, उत्थान पतन, समाज के विकास एवं प्रगति के रूप में नहीं दिखाया है बल्कि उसे मात्र 'भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई अकल्पनीय अमानुषिक युद्ध-घटनाओं' के रूप में छायांकित किया है। राधा महाभारत-युद्ध के पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दंड, क्षमा-शील वाले मूल्यों तथा दर्शनशास्त्र के ज्ञान को समझने में 'असमर्थ' बनी रहना चाहती है (पृ० ७३)। इस भाँति इतिहास को युद्ध एवं गृद्ध का प्रतीक बनाया गया है (पृ० ७३-७४)। ज़ाहिर है कि ऐसी फूहड़ता (absurdity) में कोई सार्थकता (meaning) नहीं मिल सकती है, और न ही मिलनी चाहिये। इतिहास को ऐसी फान्तासी अथवा समुद्र-स्वप्न में सैंकड़ों निष्फल सीपियाँ (individuals) छटपटाती ही रहेंगी, सूर्य निर्जीव होगा, कृष्ण के गीता (कर्मबोध वाले) के श्लोकों से अभिमंत्रित गांडीव गले हुए सिवार-सा उतरा आएगा। एक 'असफल' इतिहास फ़ासीवाद से जला दिया जाएगा। ऐसे में अब कृष्ण अर्थात् लीलाबंधु और कर्त्तव्यमंत्रदृष्टा भी तटस्थ और उदास हो जाएँगे अर्थात् अप्रतिबद्ध! अंधेर है कि इतिहास की सबसे बड़ी 'निश्चयवादी शक्ति' अर्थात् कृष्ण को भारती ने तटस्थ एवं उदास बना दिया है और इतिहास को घटनाओं से गूँथने वाले माध्यम अर्थात् गांडीव को सिवार बना दिया है!!!

इस मौके पर हम आस्वाल्ड स्पेंग्लर को याद क्यों नहीं करें? स्पेंग्लर ने कहा है कि सभी समाज शरीरी से सूक्ष्म, जीवंत से मशीनी, अंतर्मुखी से बहिर्मुखी दशाओं की ओर विकसित होते हैं। उनके अनुसार पश्चिमी संस्कृति शीत की ठिठुरी हुई दशा में पदार्पण कर चुकी है। तब क्या जीवन को अभिव्यक्त करने का कोई रास्ता नहीं है? है! अमानुषिकता और युद्धोन्माद के द्वारा। इसका परिणाम जर्मन नाज़ीवाद हुआ। स्पेंग्लर ने कहा मनुष्य के लिये इतिहास से सीखने को कुछ भी नहीं बचा है। शेष है तो केवल 'विशुद्ध कर्म'। अतः स्पेंग्लर की थीसिस एक पराजय की कविता है जिसकी परिणति मनुष्य की मानवीयता पर फासिस्ट हमले के औचित्य में होती है। पतन और उदासी और कर्मविहीनता के प्रति राधा का यह मोह सहज को, अयुक्ति (irrationality) को कहाँ ले जा सकता है! 'कनुप्रिया' में भी इतिहास मात्र अमानुषिकता एवं युद्ध-बर्बरता के रूप में प्रस्तुत हुआ है! 'कनुप्रिया' में भी व्यक्ति निष्फल सीप है!

तो क्या 'कनुप्रिया' के रचयिता धर्मवीर भारती भी अस्पष्टतः कुछ ऐसा ही संदेश तो नहीं दे रहे हैं, हमारी आर्केटाइपल कनुप्रिया राधा के माध्यम से अपनी 'कनुप्रिया' में??

मर्त्य नर को देवता कहना मृषा है।
देवता शीतल, मनुज अंगार है।
देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं।
किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है।
घूर्णियाँ चिनगारियों की नाचती हैं।
नाचते उड़कर दहन के खंड पत्तों-से हवा में।
मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है।

लेकिन देवत्व की कामना पुरूरवा करता है, उर्वशी नहीं। उर्वशी के लिए तो देवता वह है जिसके मन में कामना, द्वन्द्व और परिताप शेष न हो। लेकिन वे व्यर्थ हैं क्योंकि एक रस हैं। लेकिन नर, जो मन्दिर में साधक-व्रती और पुष्पवन में कंदर्प है, देवताओं से अधिक आकर्षक है। कवि ने मनुष्य की उच्चता ही नहीं, पृथ्वी की गरिमा का भी आख्यान किया है। शापग्रस्त उर्वशी पृथ्वी के सौन्दर्य को छोड़ने में कसक का अनुभव करती है —

यह धरती, यह गगन मृगों से भरी, हरी अटवी यह।
ये प्रसून, ये वृक्ष स्वर्ग में बहुत याद आयेंगे।
झलमल झलमल सरित-सलिल वह ऊषा की लाली से।
शस्यों पर बिछली-बिछली आभा वह रजत किरण की।
चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुंज-पुंजों में।
स्वर्ग वासिनी मैं श्रद्धा से नमस्कार करती हूँ।
अविनश्वर सौन्दर्य पूर्ण नश्वर इस महा मही को।
कितना सुख! कितना प्रमोद! कितनी आनन्द लहर है।
कितना कम स्वर्गीय स्वयं सुरपुर है इस वसुधा से।

सूर्य और चन्द्र की विभा से आलोकित पृथ्वी और गगन, विकसित वन-पर्वत, क्रीड़ा-रत पशु-पक्षी आदि का सौन्दर्य मर्त्य-लोक में ही सुलभ है, इसे उर्वशी ही नहीं अन्य अप्सराएँ भी बार-बार दुहराती हैं। यों उर्वशी पृथ्वी की गरिमा का ऐसा काव्य है, जिस पर स्वर्ग निछावर है।

नारी और पुरुष

उर्वशी में नारी और पुरुष की प्रकृति पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार हुआ है। नारी की प्रकृति किसी बलशाली पुरुष के क्रोड़ में अपने को शान्तिपूर्वक समर्पित कर देने में है। आलिंगन पाश में आबद्ध उर्वशी का अनुभव है —

कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को,
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में।

लेकिन नारी का यही रूप नहीं है। उर्वशी में वस्तुतः उसके विविध रूप हैं। प्रणयिनि और जननी दोनों रूपों को उद्भासित कर नारी का मनोवैज्ञानिक चित्र

अपने मदिर नयनों से देवों की रणक्लान्ति हरने वाली हैं और खेल-खेल में कभी-कभी भूमि पर भी आ जाती हैं। कारण, स्वर्ग में भी कुछ अभाव है, जिसे पूर्ण करने के लिए देवता तक शरीर धारण करना चाहते हैं। वे अप्सराएँ धरती की शोभा में निमग्न होकर नाचती-गाती हैं। स्वर्ग और पृथ्वी, देवता और मनुष्य, अमरत्व और नश्वरता आदि पर वे वार्तालाप करती हैं कि सहजन्या द्वारा अन्य अप्सराओं को उर्वशी के पुरूरवा के प्रेम में पड़ने की बात मालूम होती है। कुवेर के घर से लौटती अप्सराओं के दल में से उर्वशी को अपनी बाहों में उठाकर उड़ने वाले दैत्य को पराजित कर पुरूरवा ने उसकी रक्षा की थी, जिसके कारण उर्वशी अप्सरा होते हुए भी मर्त्य-लोकवासी की ओर आकृष्ट हो गई। रंभा को आश्चर्य होता है कि स्वर्ग की अप्सरा भी मानवी बनकर मिट्टी की व्यथा सहने को तत्पर हुई है लेकिन कवि ने सहजन्या के मुख से प्रणय की महत्ता का आख्यान कराकर उसके आश्चर्य का समाधान किया है। जब सहजन्या और रंभा में यह वार्तालाप चल रहा होता है कि चित्रलेखा आ जाती है और सूचना देती है कि वह उर्वशी को राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़ आई है। अप्सराओं को जब यह पता चलता है कि राज्य में एक रानी पहले से विद्यमान है तो उनको संशय होता है कि उर्वशी का न जाने क्या होगा, पर चित्रलेखा नित नई सुन्दरताओं के लिये लालायित रहना राजाओं का स्वभाव बताती है और कहती है कि पहली रानी कुल की रानी होगी, जबकि उर्वशी हृदय की रानी बनकर रहेगी। चित्रलेखा राजा द्वारा उर्वशी के सौन्दर्य की प्रशस्ति माने और पहली रानी द्वारा राजा को प्रसन्न करने के लिए चन्द्र-देवता की आराधना की बात भी बताती है। तभी रात समाप्त प्रायः जानकर वे अम्बर में उड़ जाती हैं। यह प्रथम अंक की कथा है।

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में पुरूरवा की महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों—निपुणिका और मदनिका—के साथ बातचीत करती दिखाई देती है। निपुणिका कहती है कि महाराज उर्वशी के साथ विहार करने चले गये हैं। एक ओर रानी पति की पूजा में निरत और दूसरी ओर पति का यह स्वरूप! रानी की व्यथा की सीमा नहीं रहती। राजा ने किस प्रकार कातर होकर उर्वशी से अपनी विरह-व्यथा कही, यह सुनकर रानी को आघात लगता है और चाहती है कि मर जाय लेकिन उसके लिये मर जाना भी संभव नहीं है। कारण, राजा जाते समय मंत्रियों से कह गये हैं कि हम एक वर्ष तक गन्धमादन पर्वत पर विहार करेंगे और लौटकर नैमिषेय नामक यज्ञ करेंगे। इस यज्ञ के लिये कुलवनिता की उपस्थिति अनिवार्य है। विवश रानी जीने को बची रहती है। उर्वशी को अपना सुहाग छीनने वाली कहकर बुरा-भला कहती है। निपुणिका और मदनिका दोनों नर और नारी के आकर्षण एवं प्रेम की तीव्रता का स्वरूप उपस्थित करती हैं। मदनिका प्रथम अंक की चित्रलेखा की भाँति नर की भ्रमर वृत्ति का उल्लेख करती है। यहाँ

दो दीपों की सम्मिलित ज्योति वह दीपशिखा जब जगती है
मनके अगाध रत्नाकर में यह देह डूबने लगती है
दो हृदयों का वह मूक मिलन, तन शिथिल, सुप्त अतिशय सुख से
अलसित आँखें देखतीं, न कोई शब्द निकलता है मुख से
कितनी पावन वह रस समाधि जब सेज स्वर्ग बन जाती है
गोचर शरीर में विभा अगोचर सुख की झलक दिखाती है
देवता एक है शापित कहीं इस मंदिर शान्ति की छाया में
आरोहण के सोपान लगे हैं त्वचा, रुधिर में, काया में
परिरंभ पाश में बँधे हुए उस अम्बर तक उठजाओ रे
देवता प्रेम का सोया है, चुम्बन से उसे जगाओ रे !

इस भूमिका में दिनकर का उर्वशी महाकाव्य एक नूतन जीवन-दर्शन लेकर आया है। आज तक जिस काम को—स्थूल वासना को हमने मानव-शत्रु के रूप में माना और उससे भागकर वनों में भटकने को आत्म-साक्षात्कार की संज्ञा दी है उसे दिनकर जी ने जीवन का श्रेय पक्ष बना दिया है। यह काम का स्वरूप निरुद्देश्य और निष्काम है। केवल शारीरिक मिलन को उन्होंने पाप माना है। वस्तुतः अकाम काम का आनन्द उस मनुष्य को ही सुलभ हो सकता है, जो फलासक्ति को छोड़ चुके हैं। हम जैसे प्रकृति अप्रयास यंत्र हैं, जो क्रिया करते जाने में ही अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। ऐसा प्रेम विधि-निषेधों से ऊपर है और मुक्ति प्रदाता है —

मुक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं।
विधि-निषेध से परे छूट कर सभी कामनाओं से।
किसी ध्येय के लिये नहीं केवल बहते रहने को।
क्योंकि और कुछ भी करना संभवया योग्य नहीं है।

नारी और नर का यह प्रगाढ़ मिलन प्रकृति और पुरुष का ही मिलन है। प्रकृति को पुरुष से अलग मानना व्यर्थ है। भूत, वर्तमान और भविष्य की-चिन्ता से रहित केवल प्रेम के आधार पर मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है तो नारी सौंद की उपासना द्वारा—क्योंकि वह अदृश्य सत्ता देह धारण कर धरा पर ही विचरर करती रहती है। कवि का कथन है —

चिन्तन की लहरों के समान सौन्दर्य लहर में भी है वल।
सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसी नारि का स्वर्णांचल।
जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन-तरंग पहुँचाती है।
उस दिव्य लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।

यह शुद्ध शारीरिक स्तर का प्रेम है, जिसकी महत्ता का गान कवि ने किया है। चित्रलेखा द्वारा चतुर्थ सर्ग में उसने मानसिक या सूक्ष्म प्रेम को अधूरा माना

वह कहता है कि तन के अतिक्रमण द्वारा हम ऊपर के दीप्तिमान जीवन को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि वहीं हमें चिर शान्ति मिल सकती है। इस अतिक्रान्ति को पुरूरवा वियोग नहीं मानता प्रत्युत आलिंगित नर-नारी का देह-धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना कहता है। उर्वशी उसका प्रतिरोध करने के लिये विवाद छोड़ आलिंगन-पाश को तनिक शिथिल करने और प्रकृति के सौन्दर्य में लीन हो जाने का सुझाव देती है और दोनों रात्रि, आकाश, चाँदनी, काल, महाशून्य आदि पर नाना प्रकार से विचार करते हैं। कवि यहाँ सबको परिचालित करने वाली शक्ति की विशेषता भी बताता है। प्रकृति की प्रफुल्लता का कारण नर-नारी के मिलन का समाधि सुख है। इस समाधि-सुख में कवि ने पुरूरवा को सनातन पुरुष का प्रतीक और उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक मानकर प्रकृति-पुरुष की शाश्वत एकता का प्रतिपादन किया है। प्रकृति को माया कहना अथवा प्रकृति पुरुष में से केवल एक की स्थिति बताना कवि को पसन्द नहीं। वह तो पुरूरवा को पुरुष और उर्वशी को प्रकृति मानकर उनके तादात्म्य का समर्थक है। मुक्ति का तिरस्कार और विधि-निषेधों की व्यर्थता के साथ वह गीता के निष्काम कर्म की भाँति आनन्दोपभोग में अकामता की सार्थकता बताता है। लीलामय की सहज शान्त आनन्द धारा में बहना ही मानव का ध्येय है। यह सब उर्वशी कहती है और पुरूरवा उसको स्वीकार करता है। द्वैत को दूर कर अद्वैत की साधना का मार्ग यही है। इस प्रकार तृतीय अंक में कवि ने काम-धर्म को ही प्रतिष्ठापित किया है पर हो वह निरुद्देश्य और सहज। एक वर्ष का समय बीतने पर दोनों अलग होते हैं। उर्वशी वियुक्त होने से पहले निर्झर, लता और फूलों से जी खोलकर मिल लेना चाहती है जो भूमि के प्रति उसकी अगाध ममता का द्योतक है।

चतुर्थ अंक में महर्षि च्यवन के आश्रम में उनकी पत्नी सुकन्या उर्वशी के नवजात पुत्र को गोद में लिये दिखाई देती है। उर्वशी की सखी चित्रलेखा के आ जाने से कथा आगे चलती है। चित्रलेखा स्वर्ग और पृथ्वी को एक ही मानती है। वह महर्षि च्यवन की भी प्रशंसा करती है, जिन्होंने तप को प्रेम पर उत्सर्ग कर पुनः यौवन धारण किया और विश्व को दिखा दिया कि इन्द्रिय-तर्पण में कोई दोष नहीं है। चित्रलेखा की शरीरी एवं अशरीरी प्रेम की चर्चा पर सुकन्या पतिव्रता की प्रकृति पर प्रकाश डालती है और अप्सराओं तथा मर्त्यलोक वासिनियों का अन्तर स्पष्ट करती है। आगे चलकर दोनों च्यवन के गुणों का वर्णन करती हैं और नारी के जननीत्व का गौरव बताती हैं। इतने में ही उर्वशी का प्रवेश होता है, जो अपने बेटे आयु को देखने आई है। इससे वात्सल्य वर्णन का प्रसंग भी उपस्थित हो गया है। उर्वशी को भरत ने शाप दिया था कि तुम पति या पुत्र में से एक को ही देख सकोगी और जब कभी तुम्हारा पति तुमसे उत्पन्न पुत्र को देखेगा तभी तुम्हें दोनों से वियुक्त होना पड़ेगा। यह शकुन्तला को दुर्वासा द्वारा प्रदत्त शाप से मिलता-जुलता है। सुकन्या आयु का पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व लेती है और उर्वशी पुरूरवा के साथ

पूर्ण सफलता मिली है। प्रेम के नानास्वरूपों और तज्जन्य नर-नारी की मनोदशाओं का अंकन अत्यन्त नैपुण्य के साथ किया गया है। यों कथा में १६-१७ वर्ष का समय है पर कथा कहना, आज के अन्य महान् कवियों की भांति, दिनकर जी का भी ध्येय नहीं है। प्रारम्भ से अन्त तक उन्होंने नाटकीय धरातल पर प्रेम का प्रसार दिखाया है। नारी की महत्ता का प्रतिपादन इसी से होता है कि अन्त में जब पुरूरवा को प्रव्रज्या लेकर जाना पड़ता है तब आयु (मनुष्य) को भविष्य के लिए संभाल कर चलाने का भार नारी (माता स्वरूपा औशीनरी) पर पड़ता है, जिसे वह सहर्ष वहन करती है। महाकाव्य का महाकवित्व उसका महान् सन्देश होता है। वही कसौटी आधुनिक युग में वांछनीय है। इस दृष्टि से उर्वशी का सन्देश है—स्वर्ग और पृथ्वी में कोई अन्तर नहीं बल्कि स्वर्ग से पृथ्वी अधिक महिमाशाली है। नारी और नर का निष्काम मिलन ही सृष्टि के कल्याण के लिए वांछनीय है और उसी से अमरत्व की प्राप्ति संभव है। अमरत्व भी गन्धप्रेमी देवों का नहीं स्थूल धरातल का, जिसे आयु के रूप में पुरूरवा का वंश चलता रहे। फिर पुरुष के वश का रोग सृष्टि-संचालन नहीं, वह नारी ही है जो यह कार्य कर सकती है उर्वशी के रूप में पुरुष को जन्म देकर, सुकन्या के रूप में उसे पाल-पोस कर और औशीनरी के रूप में उसे सृष्टि-शासन के योग्य बनाकर। ठीक भी है, द्वन्द्व-चालित पुरुष यह कार्य कर भी नहीं सकता। वह कर रहा है यह सृष्टि का दुर्भाग्य है क्योंकि युद्ध और संघर्ष उसी के शासन के फल हैं। कभी नारी ही शासिका हुई तो फिर संहारक विषाक्त आयुधों को सदा को नष्ट कर दिया जायगा। तब तक के लिए आयु (मनुष्य) का जननी रूपा नारी के संकेत से सृष्टि शासन चलाना ही आशास्पद माना जाना चाहिए।

कला की दृष्टि से उर्वशी पर विचार किया जाय तो दो-तीन बातों पर विशेष ध्यान जाता है। एक तो इसे कवि ने गीतिनाट्य की दृष्टि से लिखा है, जो सफल है। इस दृष्टि से नांदी और सूत्रधार का समावेश प्रारंभ में हुआ है। सूत्रधार स्वर्ग और पृथ्वी को समान बताकर मानो नांदीपाठ की कमी पूरी करता है। अन्त में औशी-नरी की यह कामना कि आगे की नारी अधिक उज्ज्वल एवं उदार युग पावे भरत वाक्य का काम देती है। तृतीय अंक में सर्वोच्च शिखर है जिसमें पुरूरवा एवं उर्वशी के अतिरिक्त किसी पात्र का समावेश नहीं। प्रथम-द्वितीय और चतुर्थ-पंचम अंक क्रमशः चढ़ाव और उतार के सूचक हैं। तृतीय अंक कवि के जीवन-दर्शन का मेरुदण्ड है अतः वह बड़ा भी है। यों पूरा महाकाव्य वस्तु-विन्यास की दृष्टि से सुविभाजित है। अप्सरा, ऋषि-पत्नी और महारानी सबका स्वरूप अपने-अपने वातावरण के अनुकूल है। यह पात्रों की सुनियोजित रूपरेखा भी उर्वशी का आकर्षण है।

छन्द की दृष्टि से उर्वशी में विविध प्रयोग हैं। उसमें प्रारम्भ के परियों के गीत जहां संगीतात्मकता के तत्त्व को लिये हैं वहां कहीं तुकान्त और कहीं अतुकान्त

साथ निवास करने प्रतिष्ठानपुर जाने का वर्णन है। पंचम अंक में भी उर्वशी की प्रधानता है। वह जब राजा के साथ है तभी आयु का सुकन्या के साथ प्रवेश होता है। वह आयु-जन्म का रहस्य बताकर अदृश्य हो जाती है। और राजा पुरूरवा के शौर्य का दर्शन हमें होता है। यों उर्वशी ही इस ग्रंथरत्न का प्राण है और इसका नामकरण अत्यन्त सार्थक और सुन्दर है।

वैसे उर्वशी अप्सरा है। देवों की भाँति अप्सराएं भी अमर यौवना होती हैं। सौंदर्य तो उनकी निधि ही होता है। दिनकर जी ने एक बार नहीं अनेक बार उसके सौंदर्य को अनेक विध वर्णन का विषय बनाया है। प्रथम अंक में पृष्ठ २४ पर चित्र-लेखा द्वारा पुरूरवा के उर्वशी के रूप पर मुग्ध होने के समय के उद्‌गारों का परिचय, द्वितीय अंक में पृष्ठ ३० पर निपुणिका द्वारा चांदनी में उर्वशी की शोभा का वर्णन और तृतीय अंक में पृष्ठ ६१ पर स्वयं पुरूरवा द्वारा उर्वशी के सौन्दर्य का विवरण विशेष रूप से उल्लेख्य है। दृष्टव्य यह है कि तीनों ही स्थलों पर एक-से-एक अभिनव उपमाएँ खोजकर कवि ने उर्वशी के अनिर्वचनीय रूप को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। लगता है जैसे कवि को उर्वशी के सौन्दर्य के वर्णन से सन्तोष ही नहीं होता। वर्णन करते-करते अन्त में वह उस अनिर्वचनीयता का संकेत करना नहीं भूलता। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

एक मूर्ति में सिमट गईं किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती है नारी ?
लाल, लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम-से, जावक-से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, जो धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई-सी,
आँखों में वारुणी-रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी।
तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता सम्पूर्ण जगत् की संचित हरियाली-सी।
पद पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम-प्रवाल धूलों से,
जहां खड़ी हो, वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।
दर्पण जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है,
वह सौन्दर्य, कला जिसका सपना देखा करती है।
नहीं, उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।

सौन्दर्य की यह निधि अम्बर से भू पर आती है मानवीय प्रेम का रसास्वादन करने। अपनी समग्र चेतना से वह शरीरी प्रेम का आलिंगन करती है और उसमें डूबना जीवन की सार्थकता मानती है। वह नर-नारी के मिलन को ही समस्त दर्शनों

या

विधि-निषेध, सत्य ही स्यात् जल पर की रेखाएँ हैं।
कोई लेख नहीं उगता भीतर के अगम सलिल पर।

८. स्यात्, योग संन्यास उपेक्षा भर है इस स्वीकृति की।
हम निसर्ग के वन्द कपाटों को न खोल सकते हैं,
स्यात्, साधनाएँ प्रयास हैं थकी हुई प्रज्ञा के।
अन्वेषण में, किसी भाँति भी निरत किये रहने का।

९. सदा छाँह में पलो प्रेम यह भोग-निरत प्रेमी का।
पर योगी का प्रेम धूप से छाया में आना है।

१०. वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु मौन कंचन है।

११. नर का भूषण विजय नहीं केवल चरित्र उज्ज्वल है।

कवि की भाषा बड़ी सशक्त और चित्रांकन-सामर्थ्य से पूर्ण है। चाहे बाह्यस्थिति हो या आन्तरिक मनोदशा, वह उसे झट से मूर्त कर देता है। तृतीय सर्ग में नर-नारी मिलन की जितनी स्थितियाँ संभव हैं उन सबको उसने शब्दों में उतार दिया है। उदाहरण के लिए एक स्थिति वह है जो नर-नारी पूर्णतः आलिंगित होकर भी एक-दूसरे को पूरा ग्रहण न कर पाने का अनुभव करते हैं। इस मनोदशा को कवि ने कितनी सहजता से इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

तुम अनन्त सौंदर्य, एक तन में बस जाने पर भी
निखिल सृष्टि में फैल चतुर्दिक कैसे व्याप रही हो?
तुम अनन्त कल्पना, अंक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं
एक किरण तब भी बाहों से बाहर रह जाती है।

अथवा प्रेम के नानाविध रूप का यह चित्रण देखिए—

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग निभ मन में।
प्रथम दीखती प्रिया एक देही, फिर व्याप्त भुवन में।
पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी।
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।

उर्वशी और पुरूरवा के हृदय की स्थिति का चित्र मिलन और वियोग दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त साफ उतरे हैं। कहीं भी अस्पष्टता नहीं है।

उनकी भाषा की दूसरी विशेषता विशेषणों का प्रयोग है। विशेषणों से उनकी भाषा की व्यंजना शक्ति शतगुणित हो जाती है—

१. तुम पर्वत, मैं लता, तुम्हारी बलवत्तर बाहों में
विह्वल, रस-आकुलित-क्षाम मैं मूर्च्छित हो जाऊंगी।

२. प्रिय मुझे प्रखर कामना-कलित, संतप्त, व्यग्र, चंचल चुम्बन
प्रिय मुझे रसोदधि में निमग्न उच्छल हिल्लोल-निरत जीवन।

तब भी मरुत अनुकूल हों,
मुझको मिलें जो शूल हों
प्रियतम जहां भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।

अन्त में जब पुरूरवा प्रव्रज्या लेकर चले जाते हैं तब रानी को पश्चात्ताप होता है कि मुझे निभृत निलय में अखण्ड व्रत का आचरण करते हुए बिना मिले क्यों चले गये। कम से कम जाते समय चरणों की धूल तो ले लेने दी होती। स्वामी से इस प्रकार वियुक्त होने में उसे अपनी एक कमी यह दिखाई देती है—

पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ व्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझमें भी छिपी हुई थी ?

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि गृहिणी अपनी व्रीड़ा के कारण प्रमदा नहीं हो पाती और पुरुष तंरग में आने पर प्रमदा की खोज करता है। उसके अभाव में वह बाहर भटकता है। उसे अपना सतीत्व भी व्यर्थ लगता है—

हाय सती ! मैं ही कदर्य, दोषी अनुदार कृपण हूँ,
केवल शुभ कामना, मंगलेपा से क्या होता है ?
मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी।

आयु को ग्रहण करने पर उसका मातृत्व जाग उठता है और उसे वह अपने गर्भ से उत्पन्न बच्चे की भाँति अपनाती है। सुकन्या भी पतिव्रता है और पुत्रहीना भी, पर उसमें कहीं भी असन्तोष नहीं है। शारदीय सरिता की भाँति उसका जीवन शान्त और मंथर गति से बहता है। चित्रलेखा जब भोगी और योगी के प्रेम का विश्लेषण करती है तब वह उससे विनम्रतापूर्वक कहती है—

एक चारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का ?
मेरे तो आनन्द धाम केवल महर्षि भर्त्ता हैं।
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीड़ा है।
× × ×
शिखर-शिखर उड़ने में; जाने, कौन प्रमोद-लहर है।
किन्तु, एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल, घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये नये फूलों पर नित उड़ती फिरने-वाली को ?

उसका विश्वास है कि नारी के भी एक से अधिक प्राण नहीं होते। न जाने से वह विभिन्न पुरुषों को पालती है। और पुरुष भी हृदय पाये बिना कैसे जी लेता। वह तो अप्सरा चित्रलेखा से भी किसी एक का होकर रहने को कहती है। जब त्रलेखा यह कहती है कि मैं अखण्ड यौवना हूँ और मुझे किसी पुरुष की आवश्यकता

कनेग्र विध अभिव्यक्ति पाता है। जिसके दो स्पष्ट रूप मिलते हैं। एक : विशुद्ध आत्म जिज्ञासा, दो : समाज से प्रतिबद्धता। कवि अपनी पूर्व रचनाओं में उपर्युक्त दोनों दिशाओं की ओर बढ़ता है समाज से अलग वह अपनी स्वतन्त्र इकाई के प्रति चिन्तित और प्रतिक्रियान्वित होता है और अपनी मनःस्थितियों की ईमानदार अभिव्यक्ति करता है। ऐसी रचनाओं में कवि का आत्मप्रतिबद्ध रूप प्रकट होता है और वह बार-बार आत्म संबोधित हो स्वयं को परिभाषित करना चाहता है। परन्तु वह अपने पक्ष, परिप्रेक्ष्य, परिवेश और सौंदर्य के प्रति भी जागरूक है। वह स्वयं को अपने भोगता और द्रष्टा को परीक्षित कर अपने परिवेशों की भूमिका में मूल्यांकित करना चाहता है। यही उसकी अन्वेषण यात्रा की दिशा है। वह द्वार से मुक्तिद्वार की ओर बढ़ने लगता है। उसकी आस्था अन्तर्मुखी हो कर आत्म प्रतिबद्धता बन जाती है और बहिर्मुखी होकर परिवेश प्रतिबद्धता। इनमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। प्रत्युत ये एक ही मूल आस्था के दो विलग रूप हैं, जो मूलतः एवं अंततः एक ही संश्लिष्ट और अन्विति में समाए हैं।

'आंगन से पार द्वार' में जिस अन्वेषण का इतना विशद रूप मिलता है, उस की मूल संभावनाओं का यथेष्ट रूप अज्ञेय की पूर्व कृतियों में मिल जाता है। कवि अपने आत्म, उसकी प्रेरणा दोनों के परस्पर संबन्ध स्वरूप और सीमा के प्रति निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

किन्तु जो भी हो निजि तुम प्रश्न मेरे........
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्‌भव-निधन, मेरी मुक्ति,
तुम मेरी पहेली हो ![1]

अतः अज्ञेय का पूर्व काव्य 'आंगन के पार द्वार' का मूल शक्तिकोश है, जिसके गंभीर संकेतों का विशद विस्तार 'आंगन के पार द्वार' में हुआ है।

वस्तुतः 'आंगन के पार द्वार' की अज्ञेय की अन्वेषण प्रक्रिया का एक उदात्त रूप है। इसे उनके आत्म अनुसन्धान का श्रद्धापूत रूप कहा जा सकता है, जो अत्यन्त स्वच्छ, पावन, पुनीत, निर्मल एवं स्फीत है। यह रचना अपने शीर्षक का समुचित निर्वाह करने में समर्थ हुई है। यदि 'आंगन के पार द्वार' नाम की सम्पूर्ण कविता को इस रचना की भूमिका अथवा लेखक का लघु आत्म वक्तव्य मान लिया जाए, तो उसे रचना विवेचन का गंभीर सन्दर्भ स्वीकारा जा सकता है। क्योंकि यहां कवि ने एक ऐसा रहस्य द्वार खड़ा किया है, जिसके इस ओर भी आंगन खुलता है और उस ओर भी आंगन खुलता है, और जिस आंगन में भवन के समस्त ओर-छोर एक रूप हो गए हैं और उसी में भवन भी लीन हो गया है तथा उस भवन का 'द्वारी' कौन है और 'आगारी' कौन है—यह जानना कठिन है। और उसके 'भीतर का देवता' प्रतिहारी वन्दन करता है।

---

१. हरी घास पर क्षण भर।

विहार करने वाली नारियों की ओर चित्रलेखा द्वारा संकेत कराया है।

रंभा और सहजन्या भी किसी न किसी रूप में मानव जीवन के भोगपक्ष का समर्थन करती हैं और उसे भूमि निवासियों का सौभाग्य मानती हैं पर वे प्रेम को क्रीड़ा मानती हैं। रंभा के शब्दों में—

प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद मानवी की आकुल पीड़ा है।

लेकिन मातृपद उनको प्रिय नहीं है। कारण, नारी माता बनकर अपने यौवन को गला देती है और प्राणों की ऊष्मा समाप्त कर देती है। फिर उसका स्वप्न-लोक नष्ट हो जाता है। लेकिन मेनका जैसी कुछ अप्सराएं मातृत्व को ही सौन्दर्य का जनक मानती हैं—

रूपमती सखी भी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है
जो गोदी में लिये क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।

निपुणिका और मदनिका का महत्त्व रानी औशीनरी को सान्त्वना देने भर के लिये है।

पुरुष पात्रों में पुरूरवा प्रमुख है। वही काव्य का नायक है। वह प्रतापी और पराक्रमी है। कदाचित् कोई भी ऐसा गुण हो, जो उसमें न हो। निपुणिका के शब्दों में—

महाराज भी क्या कोई दुर्बल नर साधारण हैं,
जिसका चित्त अप्सराएँ कर सकतीं सहज हरण हैं
कार्तिकेय सम शूर, देवताओं के गुरु-सम ज्ञानी
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी
धनद सदृश संग्रही, व्योमवत् मुक्त, जलद-निभ त्यागी
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध-से अनुरागी।

लेकिन ऐसा सर्वगुण सम्पन्न पुरुष अपनी पतिव्रता रानी को छोड़ अप्सरा के प्रेम पाश में आबद्ध हो जाता है और उर्वशी के लिये अत्यन्त विकल दिखाई देता है। यद्यपि राजा के रूप में वह अपने आदर्श की घोषणा इन शब्दों में करता है—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को
तब भी प्रतिष्ठानपुर वन्दित है सहस्र मुकुटों से
और राज्य सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है
इसी भाँति प्रत्येक सुयश, सुख, विजय, सिद्धि जीवन की
अनायास स्वयमेव प्राप्त मुझको होती आई है।

तथापि वह अपने हृदय की कामाग्नि से व्यथित है। बार-बार वह सजग

कनेक विध अभिव्यक्ति पाता है। जिसके दो स्पष्ट रूप मिलते हैं। एक : विशुद्ध आत्म जिज्ञासा, दो : समाज से प्रतिबद्धता। कवि अपनी पूर्व रचनाओं में उपर्युक्त दोनों दिशाओं की ओर बढ़ता है समाज से अलग वह अपनी स्वतन्त्र इकाई के प्रति चिन्तित और प्रतिक्रियान्वित होता है और अपनी मन:स्थितियों की ईमानदार अभिव्यक्ति करता है। ऐसी रचनाओं में कवि का आत्मप्रतिबद्ध रूप प्रकट होता है और वह बार-बार आत्म संबोधित हो स्वयं को परिभाषित करना चाहता है। परन्तु वह अपने पक्ष, परिप्रेक्ष्य, परिवेश और सौंदर्य के प्रति भी जागरूक है। वह स्वयं को अपने भोगता और द्रष्टा को परीक्षित कर अपने परिवेशों की भूमिका में मूल्यांकित करना चाहता है। यही उसकी अन्वेषण यात्रा की दिशा है। वह द्वार से मुक्तिद्वार की ओर बढ़ने लगता है। उसकी आस्था अन्तर्मुखी हो कर आत्म प्रतिबद्धता बन जाती है और बहिर्मुखी होकर परिवेश प्रतिबद्धता। इनमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। प्रत्युत ये एक ही मूल आस्था के दो विलग रूप हैं, जो मूलतः एवं अंततः एक ही संश्लिष्ट और अन्विति में समाए हैं।

'आंगन से पार द्वार' में जिस अन्वेषण का इतना विशद रूप मिलता है, उस की मूल संभावनाओं का यथेष्ट रूप अज्ञेय की पूर्व कृतियों में मिल जाता है। कवि अपने आत्म, उसकी प्रेरणा दोनों के परस्पर संबन्ध स्वरूप और सीमा के प्रति निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

किन्तु जो भी हो निजि तुम प्रश्न मेरे........
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्‌भव-निधन, मेरी मुक्ति,
तुम मेरी पहेली हो ![1]

अतः अज्ञेय का पूर्व काव्य 'आंगन के पार द्वार' का मूल शक्तिकोश है, जिसके गंभीर संकेतों का विशद विस्तार 'आंगन के पार द्वार' में हुआ है।

वस्तुतः 'आंगन के पार द्वार' की अज्ञेय की अन्वेषण प्रक्रिया का एक उदात्त रूप है। इसे उनके आत्म अनुसन्धान का श्रद्धापूत रूप कहा जा सकता है, जो अत्यन्त स्वच्छ, पावन, पुनीत, निर्मल एवं स्फीत है। यह रचना अपने शीर्षक का समुचित निर्वाह करने में समर्थ हुई है। यदि 'आंगन के पार द्वार' नाम की सम्पूर्ण कविता को इस रचना की भूमिका अथवा लेखक का लघु आत्म वक्तव्य मान लिया जाए, तो उसे रचना विवेचन का गंभीर सन्दर्भ स्वीकारा जा सकता है। क्योंकि यहाँ कवि ने एक ऐसा रहस्य द्वार खड़ा किया है, जिसके इस ओर भी आंगन खुलता है और उस ओर भी आंगन खुलता है, और जिस आंगन में भवन के समस्त ओर-छोर एक रूप हो गए हैं और उसी में भवन भी लीन हो गया है तथा उस भवन का 'द्वारी' कौन है और 'आगारी' कौन है—यह जानना कठिन है। और उसके 'भीतर का देवता' प्रतिहारी वन्दन करता है।

१. हरी घास पर क्षण भर।

होने को ही मायावरण का हट जाना मानता है।

अन्तिम सर्ग में उसका रौद्र रूप देखने को मिलता है। वह उर्वशी को स्वर्ग से लाने के लिए युद्ध का शंख फूंकने को प्रस्तुत हो जाता है। उसका विश्वास है —

जब मनुष्य चीखता व्योम का हृदय दरक जाता है।
सहम-सहम उठते सुरेन्द्र उसके तप की ज्वाला से।
और कहीं हो क्रुद्ध मनुज करदे आह्वान प्रलय का।
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जायेगा।

च्यवन ऋषि के चरित्र की विशेषताएं उसकी पत्नी सुकन्या और चित्रलेखा द्वारा ज्ञात होती हैं। सुकन्या च्यवन के हृदय की कोमलता और उदारता के सम्बन्ध में उनके, उर्वशी को गर्भावस्था में दया दृष्टि से देखने की बात कहती है। वे मातृत्व की सार्थकता के हामी हैं। उनकी धारणा है—

नारी ही वह महा सेतु जिसपर अदृश्य से चलकर।
नये मनुज, नवप्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ देव, दानव, मनुष्य से छिपकर।
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकर ग्रहण करता है।

चित्रलेखा इस रागी ऋषि की इसलिए भक्त है कि तपोव्रत उनके व्यग्र-उदग्र प्रणय का बाधक नहीं है। उसका मत है कि च्यवन ऋषि ने सुकन्या के निमित्त अपने तप का उत्सर्ग कर जगत् भर की सीमन्तिनियों को त्रिलोकजयी गौरव का दान दिया है।

आयु भविष्य के उस स्वर्ण जीवन का अग्रदूत है, जिसमें आगे की नारी को वर्तमान अभिशाप से मुक्ति मिलेगी। राजमुकुट से अधिक वह मातृ-चरणों की खोज में रत है। उसे तीन-तीन माताओं का आश्रय मिला है अतः उसमें पुत्रत्व की प्रबलता है।

स्वर्ग और पृथ्वी का एकीकरण

उर्वशी स्वर्ग और पृथ्वी के एकीकरण का काव्य है। सूत्रधार के —

एक स्वाद है त्रिदिव लोक में, एक स्वाद वसुधा पर।
कौन श्रेष्ठ है, कौन हीन, यह कहना बड़ा कठिन है।
जो कामना खींच कर नर को सुरपुर ले जाती है।
वही खींच लाती है मिट्टी पर अम्बर वालों को।

देवता गन्धों के प्रेमी होते हैं और उनका मन स्थूल के उपभोग को लालायित रहता है, इसको कवि ने अनेक बार अप्सराओं के मुंह से कहलाया है। उर्वशी अप्सरा होते हुए भी मानव शरीर धारी पुरूरवा के प्रेम पाश में आबद्ध होती है। उसे इन्द्र के क्रोध की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। रम्भा मर्त्यलोक की सुन्दरता को नश्वर बता कर स्वर्ग से उसे हेय ठहराती है पर मेनका अमरत्व को 'समीर पान करना' और 'धूम समेट कर शान्ति से जीना' कहती है। मानव की आग में जो आकर्षण है वह देवों की शान्ति में कहाँ। पुरूरवा कहता है —

रितनाने लगता हो :—

दिया जलाया :
अर्थहीन आकारों की यह
अर्थहीन नर भीड़—
निरर्थकता का संकुल—
निर्जल पारा-वार न-कारों का।
यह उमड़ा आया।[1]

अन्तःसलिला का अनुसन्धित्सु कवि अभिव्यक्त होने में डरता है। उसे विश्वास है कि चिन्तन का एक ऐसा स्तर भी रहता है, जहाँ व्यक्ति अभिव्यक्त होकर रिक्त होने लगता है अथवा अभिव्यक्ति के अधिकाधिक माध्यमों और उपादानों के प्राप्त होने पर अभिव्यक्ति का तीव्रतम आवेग मन्द पड़ने लगता है। जैसे-जैसे कवि का अनुभूत्यात्मक चक्र गतिशील होने लगता है वह स्वयं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाता है :—

बाहर वह
खोया-पाया मैला-उजला
दिन-दिन होता जाता वयस्क
दिन-दिन धुँधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था,
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और बूझता शब्द,
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था :
दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बंधती जाती थी ?[2]

कवि इस भाग में अनाभिव्यक्ति की पीड़ा भी भोगता है। सृजन का यह भी एक स्तर है कि जब प्रवेग पूर्ण अनुभूति अभिव्यक्ति के समुचित उपकरण नहीं जुटा पाती है, तब कवि अभिव्यक्त न होने की घोर यन्त्रणा भोगता है :—

यों न जाने कब यहाँ
वह सांझ
ओझल हो गयी
और मेरे लिए यह
सूने न रहने की
रीते न होने की

१. अन्धकार में दीप, पृष्ठ १८।
२. सरस्वती पुत्र, पृष्ठ ११।

होने को ही मायावरण का हट जाना मानता है।

अन्तिम सर्ग में उसका रौद्र रूप देखने को मिलता है। वह उर्वशी को स्वर्ग से लाने के लिए युद्ध का शंख फूंकने को प्रस्तुत हो जाता है। उसका विश्वास है —

जब मनुष्य चीखता व्योम का हृदय दरक जाता है।
सहम-सहम उठते सुरेन्द्र उसके तप की ज्वाला से।
और कहीं हो क्रुद्ध मनुज करदे आह्वान प्रलय का।
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जायेगा।

च्यवन ऋषि के चरित्र की विशेषताएं उसकी पत्नी सुकन्या और चित्रलेखा द्वारा ज्ञात होती हैं। सुकन्या च्यवन के हृदय की कोमलता और उदारता के सम्बन्ध में उनके, उर्वशी को गर्भावस्था में दया दृष्टि से देखने की बात कहती है। वे मातृत्व की सार्थकता के हामी हैं। उनकी धारणा है—

नारी ही वह महा सेतु जिसपर अदृश्य से चलकर।
नये मनुज, नवप्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ देव, दानव, मनुष्य से छिपकर।
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकर ग्रहण करता है।

चित्रलेखा इस रागी ऋषि की इसलिए भक्त है कि तपोव्रत उनके व्यग्र-उदग्र प्रणय का बाधक नहीं है। उसका मत है कि च्यवन ऋषि ने सुकन्या के निमित्त अपने तप का उत्सर्ग कर जगत् भर की सीमन्तिनियों को त्रिलोकजयी गौरव का दान दिया है।

आयु भविष्य के उस स्वर्ण जीवन का अग्रदूत है, जिसमें आगे की नारी को वर्तमान अभिशाप से मुक्ति मिलेगी। राजमुकुट से अधिक वह मातृ-चरणों की खोज में रत है। उसे तीन-तीन माताओं का आश्रय मिला है अतः उसमें पुत्रत्व की प्रबलता है।

स्वर्ग और पृथ्वी का एकीकरण

उर्वशी स्वर्ग और पृथ्वी के एकीकरण का काव्य है। सूत्रधार के —

एक स्वाद है त्रिदिव लोक में, एक स्वाद वसुधा पर।
कौन श्रेष्ठ है, कौन हीन, यह कहना बड़ा कठिन है।
जो कामना खींच कर नर को सुरपुर ले जाती है।
वही खींच लाती है मिट्टी पर अम्बर वालों को।

देवता गन्धों के प्रेमी होते हैं और उनका मन स्थूल के उपभोग को लालायित रहता है, इसको कवि ने अनेक बार अप्सराओं के मुंह से कहलाया है। उर्वशी अप्सरा होते हुए भी मानव शरीर धारी पुरूरवा के प्रेम पाश में आबद्ध होती है। उसे इन्द्र के क्रोध की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। रम्भा मर्त्यलोक की सुन्दरता को नश्वर बता कर स्वर्ग से उसे हेय ठहराती है पर मेनका अमरत्व को 'समीर पान करना' और 'धूम समेट कर शान्ति से जीना' कहती है। मानव की आग में जो आकर्षण है वह देवों की शान्ति में कहाँ। पुरूरवा कहता है —

रचना के इसी भाग में कवि की 'अन्तःसलिला' अपने व्यक्तिगत उत्स के प्रति विशेष रूप से संबोधित हुई है। वह अपनी उत्प्रेरक भूमि के प्रति विशेष रूप से आस्तिक है। कवि अपनी प्रेरणा स्वप्न का एक कण बनना चाहता है :—

सपने की एक किरण मुझ को दो ना,
है मेरा इष्ट तुम्हारे उस सपने का कण होना !
और सब समय पराया है
बस उतना क्षण अपना।
तुम्हारी पलकों का कंपना।[1]

कवि 'तुम' से जहाँ-जहाँ इस भाग में सम्बोधित हुआ है वहाँ 'तुम' के प्रति उसकी अगाध आस्था और निष्ठा व्यक्त हुई है। उसके स्मरण मात्र से कवि एक मानसिक स्नान का आनन्द अनुभव करता है।

तुम
वही थी ?
किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—
ढलती उमर के दाग़ उसने धो दिये थे।
भूल थी
पर
बन गयी पहचान—
मैं भी स्मरण से
नहा आया।[2]

कवि के ऐसे अभिव्यक्त रूप में एक रोमानी संस्पर्श भी मिलता है। मानो वह प्रणय की पुन अनुभूति से आन्दोलित हो रोम-रोम से प्रणय गान बनकर फूट पड़ा हो। कवि तो उसके दिव्य स्पर्श से स्रष्टा बन जाता है परन्तु वह प्रेरक भूमि कोई भी उदात्त परिणति नहीं पाती है :—

यों
तुम से पायी ज्योति-शिखा के शुभ्रवृत्त में
मैंने अपना
पल-पल जलता जीवन जीया :
पर तुमने—तुम, गुरु, सखा, देवता !—
तुमने क्या किया।[3]

कवि इस भाग में प्रणय को ही अपने जीवन का अध्यात्म-दर्शन स्वीकारता

१. पलकों का कंपन, पृष्ठ २४।
२. पहचान, पृष्ठ २०।
३. एक प्रश्न, पृष्ठ २६।

दिनकर जी ने इस महाकाव्य में दिया है। यद्यपि अकाम काम का दर्शन प्रस्तुत करते हुए दिनकर जी ने उर्वशी के मुख से कहलाया है—

"और पुत्र कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है
पर निष्काम काम का सचमुच वह भी ध्येय नहीं है।

तथापि मातृत्व की सार्थकता पर उनका ध्यान वरावर रहा है। सब के मन में मोह भरने के लिये उत्पन्न अप्सरा मेनका माँ वनने वाली त्रिया को वहुत ऊँचा मानती है, योग और भोग का संयम करके चलने वाले च्यवन को गर्भवती उर्वशी अधिक कल्याणी जान पड़ती है और सुकन्या तथा औशीनरी दोनों ही उर्वशी के पुत्र को जिस प्रेम से पालती तथा ग्रहण करती हैं वह मातृत्व की सार्थकता नहीं तो और क्या है ? हाँ प्रणयिनी उर्वशी के लिये तप्त शोणित ही सत्य है, जवकि औशीनरी के लिये पति की कल्याण कामना। यह स्थिति का भेद है। एक रूप सुकन्या का है, जो तपस्वी को अपनाकर शान्त है। लेकिन दिनकर जी की नारी सर्वत्र द्वन्द्व से ऊपर है।

पुरुष को दिनकर जी ने प्रणय-क्षुधा से आकुल व्याकुल ही चित्रित किया है। मदनिका के शब्दों में—

पुरुष सदा आक्रान्त विचरता मादक प्रणय क्षुधा से
जय से उसको तृप्ति नहीं सन्तोष न कीर्ति सुधा से
असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है
संकट में युवती का शैया-कक्ष याद आता है।

यह पुरुष का स्वभाव है। फिर जो पुरुष जितना ही पौरुषवान् है वह उतना ही मुक्त और निर्वन्ध होता है। पुरूरवा में यही तत्त्व काम कर रहा है। तभी औशीनरी के पतिव्रत को उसका व्यग्र काम ठुकराकर गन्धमादन पर उर्वशी के साथ विहार करने को ले जाता है। उसकी भ्रमर वृत्ति को भी कवि ने उसका स्वभाव ही कहा है। द्वन्द्व ग्रसित जो ठहरा।

प्रेम देवता के जागरण का काव्य

उर्वशी प्रेम देवता के जागरण का काव्य है। प्रथम प्रेम से लेकर संभोग के निविड़ क्षण तक का चित्र उर्वशी में इतनी कुशलता से अंकित किया गया है कि कवि के चिन्तन की पारदर्शिता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। प्रथम प्रेम के समय नर-नारी की क्या स्थिति होती है, इस पर मदनिका और चित्रलेखा ने द्वितीय और चतुर्थ अंक में वहुत सुन्दरता से विचार किया है। इसका पूर्ण विकास तृतीय अंक में है। उर्वशी कहती है कि तुम (पुरूरवा) मेरे प्राणेश, ज्ञानगुरु, सखा, मित्र और सहचर हो। तुम ने मेरे शोणित के कण-कण में सुप्त-प्रणय को जगा दिया है। पुरूरवा उर्वशी को प्राप्त कर यह अनुभव करता है कि उसके प्राणों का निभृत निकेतन स्वरित रंगों के कोलाहल से भर गया है। एक ओर यह काम की मनोदशा है और दूसरी ओर मिलन-सुख का यह अनुभव भी है—

निरपेक्ष होने लगता है। माध्यम के प्रति उसमें आसक्ति नहीं रहती है। अभिव्यक्त होने के लिए माध्यम की अनिवार्यता भी उसे नहीं महसूसती है। वह उस अनिर्वच को मौन अभिव्यक्ति देना चाहता है :—

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा,
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूं :
मैं, मौन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द मुक्त को
गाता हूं।[1]

कवि स्वयं अपने आप में उस दिव्य आलोक को अभिव्यक्त हुए पाता है। उसके अभाव में वह स्वयं को सर्वथा अनुर्वर समझता है :—

फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने, अनपहचाने,
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूं।[2]

कवि का रोम-रोम सम्वेदनशील हो उठता है और विश्व के कण-कण में परिव्याप्त उस महासंगीत के 'अश्रव्य-रूप' को सुनने लगता है। अमुखर की ऐसी अनुभूति कवि को आन्दोलित कर देती है :—

तू नहीं कहेगा
मैं फिर भी सुन ही लूंगा।

• • • •

मैं गुन लूंगा।
तू नहीं कहेगा ?
आस्था है,
नहीं अनमना हूंगा तब—
मैं सुन लूंगा।[3]

श्री अज्ञेय महामौन में ही उस महाशक्ति के गीत सुनते हैं। उसी मौन में सभी माध्यम अपना अस्तित्व और इयत्ता खो बैठते हैं और सभी वाणी-विधान उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। अतः उसकी वास्तविक अनुभूति मौन में ही है।

---

१. यह महाशून्य का शिविर, पृ० ३९।
२. जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है, पृ० ४७।
३. तू नहीं कहेगा ?, पृ० ५१।

है क्योंकि मन की मलिनता से तन की उज्ज्वलता की रक्षा असंभव है। पूर्णता तो तन और मन दोनों के एकाकार होने में है—

मृषा तर्क, मन मलिन हुआ तो तन में प्रभा कहाँ है।
तन-मन का यह भेद सुकन्ये ! मुझे नहीं रुचता है।
बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर मे।
केवल मन ही नहीं अंग संज्ञा भी खो जाती है।

इसीलिये उर्वशी पुरूरवा के चेतना-सिन्धु के ऊपर पार जाने की तृषा को यह कहकर व्यर्थ बताती है कि आलिंगन पाश में बद्ध नर-नारी भी ऊपर उठ सकने में समर्थ हैं क्योंकि —

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से।
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

लेकिन नर को कवि रूप में नारी का ग्रहण करना चाहिए। कारण, नर नारी के जिस रूप को सदेह हृदय से लगाना चाहता है, कवि उसका अतिक्रमण कर जाता है। कवि का प्रेम-दर्शन यह है —

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की।
सारी लीला भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा में।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में।
जहाँ रूप को लिये अरूप की छवि अँका करती है।

'उर्वशी' का शिल्प

शिल्प की दृष्टि से उर्वशी पर कुछ कहने से पूर्व हम यह कहना चाहते हैं कि हमने इसे गीतिनाट्य के रूप में लिखित महाकाव्य माना है। महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर आधुनिक काल का कोई भी महाकाव्य खरा नहीं उतरता। यह बात प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, पार्वती आदि में से किसी भी महाकाव्य पर लागू हो जाती है। युग परिवर्तन के साथ महाकवित्व ही किसी काव्य को महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बना सकता है। इसी तत्त्व के आधार पर आधुनिक युग के सभी महाकाव्य, महाकाव्य कहे गये हैं। उर्वशी भी इसी कोटि का महाकाव्य है। उसमें प्रेम का समग्र रूप समाविष्ट है और प्रेम आज के मानव की बहुत बड़ी समस्या है। रोटी की समस्या यद्यपि प्रेम से अधिक प्रखर है पर वह आन्तरिक होने से उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। शृंगार को रसराज मानने वाले आचार्यों ने फ्रायड से बहुत पहले इस सत्य का उद्घाटन कर दिया था कि सभी रसों में आकीट-पशु-पतंग इसी भाव की स्थिति है। जीवन की दोनों भूखों—सैक्स और उदर—में से किसी का भी तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसको विषय-वासना या माया कहकर भी ठुकराना संभव नहीं। कदाचित् इसीलिए दिनकर जी ने अपने युग की इस समस्या को महाकाव्य का विषय बनाया है। हम निस्संकोच यह बात कह सकते हैं कि दिनकर जी को अपने प्रयास में

सृजन विसर्जन में वह उदित-अस्त होता है और एक महाचेतन का सचेतन अंग बन जाता है :—

मैं सोते के साथ बहता हूं,
पक्षी के साथ गाता हूं,
वृक्षों के, कोंपलों के साथ थरथराता हूं,
और उसी अदृश्य क्रम में, भीतर ही भीतर
झरे पत्तों के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूं।
नये प्राण पाता हूं।[1]

कवि ने 'चक्रान्तशिला' में अनुभूति के एक और आयाम में विस्तार पाया है। उसके आगे महामौन की समाधि में जैसे-जैसे उस अश्रव्य का विराट् रूप अनावृत होने लगता है वैसे-वैसे उसे अपनी लघु इयत्ता का ज्ञान होने लगता है :—

धुन्ध से ढकी हुई
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अंजली हमारी।[2]

तब कवि विराट् और लघु में सम्बन्धों को ढूंढ़ने लगता है। इस दिशा में कवि ने अपने और विराट् के मध्य परिणय मूलक, वात्सल्य मूलक सम्बन्धों की परिकल्पना की है। वह अपनी कंवारी आत्मा के परिणीत रूप को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है :—

अरी ओ आत्मा री,
कन्या भोली कंवारी
महाशून्य के साथ भांवरे तेरी-रची गयी।[3]

सम्बन्धों के ऐसे मधुर धरातल पर वह विराट् से अवगुंठनहीन समर्पण चाहता है :—

अकेली और अकेली।
प्रियतम धीर, समुद सब सहने वाला,
मनचली सहेली।
● ● ●
वह
इसलिए निरस, निर्वन, निस्साधन, निरीह,
इसलिए
अकेली।[4]

---

१. वन में एक झरना बहता है, पृ० ४०
२. धुन्ध से ढकी हुई, पृ० ४९।
३. अरी ओ आत्मा री, पृ० ५२।
४. अकेली और अकेली, पृ० ५४।

छन्द कवि के भाव और विचारों के अनुसार स्वतः आते-जाते हैं। प्रथम अंक में जहाँ वार्तालाप की गति शिथिल है वहाँ छंद भी शिथिल है और परियाँ तुकान्त छन्द में ही बात करती हैं। यही बात द्वितीय अंक में है जहाँ औशीनरी एवं उसकी सखियाँ मदनिका और निपुणिका के संवाद हैं। लेकिन तृतीय अंक में भावनाओं के वेग के साथ छन्द के बन्ध टूट जाते हैं। अतुकान्त छन्द और मुक्त छन्द दोनों का प्रयोग है। कहीं-कहीं तुकान्त बीच में आकर और भी आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं। तृतीय अंक के अन्तर्गत मुक्त छन्द का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

अलंकारों में कवि को उत्प्रेक्षा, उपमा और सन्देह विशेष प्रिय हैं। ये तीनों अलंकार मानव या प्रकृति-सौंदर्य के वर्णन में प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः कवि की वर्णन शक्ति का रहस्य यही अलंकार हैं। ज्योत्स्ना-स्नात प्रकृति का यह चित्र देखिए--

हाँ, समस्त आकाश दीखता हरा शान्त सुषमा से।
चमक रहा चन्द्रमा शुद्ध, शीतल, निष्पाप हृदय-सा।
विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं।
लगता है चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है।
और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं।
लगते हैं धुंधले आरण्य में हीरों के कूपों से।
चन्द्रभूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में ?
या नभ के रन्ध्रों में सित पारावत बैठ गये हैं।
कल्पद्रुम के कुसुम या कि ये परियों की आंखें हैं।

जितने मोहक ये अलंकार हैं उतनी ही आकर्षक कवि की ये सूक्तियाँ भी हैं, जो उसके शिल्प का प्राण कही जा सकती हैं—

१. कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है।
जो अलभ्य, जो दूर उसी को अधिक चाहता मन है।
२. प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में।
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।
३. नींद जल का स्रोत है, छाया सघन है।
नींद श्यामल मेघ है, शीतल पवन है।
४. नर चाहता सदेह खींच रख लेना जिसे हृदय में।
कवि नारी के उस स्वरूप का अतिक्रमण करता है।
५. तिमिर शान्ति का व्यूह, तिमिर अन्तर्मन की भाषा है।
६. प्रकृति नहीं माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का।
बीचोंबीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है।
७. विधि-निषेध कुछ नहीं नियम हैं वे अर्जन-वर्जन के।

इस प्रकार चक्रान्त के विवर्त में कवि की 'अन्तःसलिला' विराट् से सानिध्य पाती है। वह अभिव्यक्ति के माध्यमों के प्रति अनासक्त हो मौन को ही अपना माध्यम मानती है तथा विराट् से पूर्ण विलय प्राप्त कर उसके साथ अनेक विध सम्बन्धों की परिकल्पना करती है। यहां एक बात विशेष ध्यातव्य है कि अन्तःसलिला में कवि के प्रणय का रंगभीना रूप उसकी महक तथा गन्ध थी। परन्तु चक्रान्तशिला में वह अंतःसलिला उस प्रणय-गन्ध से मुक्त हो सर्वथा अम्लान रूप में आगे बढ़ती है।

तीन :—असाध्या वीणा : विसर्जन और उपलब्धि—असाध्य वीणा 'आंगन के पार द्वार' का तीसरा खण्ड है। सम्भवतः पाठक को वह रचना के पूर्व खण्डों से अलग लगे। परन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः असाध्य वीणा अन्तःसलिला और चक्रान्तशिला का ही एक विशद उदाहरित रूप है। अन्तःसलिला और चक्रान्तशिला में कवि का जो अन्वेषित है, उसे ही उसने असाध्य वीणा में एक कथात्मक प्रस्तुती दी है। यदि सृजन प्रक्रिया के सन्दर्भ में समस्त रचना पर विचार किया जाए, तो यह स्थिति और अधिक स्पष्ट हो सकती है। हम समग्र रचना को एक ही प्रणयन प्रक्रिया की परिणति मानते हैं। दोनों खण्डों के बाद असाध्य वीणा के कथावृत का प्रक्रियात्मक औचित्य भी है। कवि एक अत्यन्त अव्याहत गतिमान सृजन चक्र में समस्त कविताओं का प्रणयन करता है। भले ही उन कविताओं की रचना अनेक 'सिटिंगस' में हुई हो परन्तु वे सब की सब अन्वेषण की एक सतत जिज्ञासा से जुड़ी हैं। उनमें साधक की आत्म यात्रायें हैं। यही साधक 'असाध्य वीणा' में 'प्रियंवद' के रूप में आता है। अतः प्रियंवद अन्तःसलिला और चक्रान्तशिला के अन्वेषक का प्रतिरूप है। प्रियंवद के रूप में 'आंगन के पार द्वार' का अनुसन्धित्सु राजदरबार में असाध्य वीणा पर स्वर साधना करता है। अतः असाध्य वीणा आंगन के पार द्वार का कोई अलग खण्ड न होकर पूर्व खण्डों का उदाहरणात्मक पक्ष है।

'असाध्य वीणा' का कथ्य अत्यन्त विशद है। इसमें अनेक गम्भीर प्रतीकात्मक व्यंजनाएं हैं। वह प्राचीन 'किरीटी तरु' कल्पान्त अनुभव का प्रतीक है। और 'वज्र कीर्ति' आत्मान्वेषी है जो अपने निर्माण में अभिव्यक्त होकर उससे निःसृति नहीं पाता है। उसका निर्माण है, उसकी वीणा। उसी में उसका अन्वेषण और उपलब्धि समया है। परन्तु उसे कोई भी स्वरित नहीं कर पाता है। प्रियंवद भी एक सतत जिज्ञासाशील आत्मान्वेषी है, जो युग-युगान्त के अनुभवों के पूंजीभूत रूप वीणा को स्वरित करने के लिए आगे आता है। विगत युगों की मौन उपलब्धियों को स्वीकारने और परिभाषित करने में भाष्यकार को उनके साथ एकात्म होना पड़ता है। वे उपलब्धियां जिस साधना प्रक्रिया का दिव्य परिणाम हैं उन सभी का उसे आत्म साक्षात्कार करना

३. किन्तु हाय री लहर वह्नि की, जिसे रक्त कहते हैं ।
किन्तु हाय री, अविच्छिन्न वेदना पुरुष के मन की ।
कर्पूरित, उन्मद, सुरम्य इसके रंगीन धुएं में ।
जाने कितनी पुष्पमुखी आकृतियां उतराती हैं ।

प्रेम जैसी कोमल भावना को महाकाव्य का विषय बनाने वाले दिनकर ने ओज को यहां भी अपने साथ रखा है । सबसे बड़ी बात यह है कि जो कुछ भी कवि के चिन्तन का फल है उसे उसने स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है । पूरे काव्य में एक पंक्ति भी ऐसी नहीं जो शिथिल कहकर अनावश्यक ठहराई जा सके । इससे बड़ी सफलता किसी कवि के लिये और क्या हो सकती है ।

'कामायनी' और 'उर्वशी'

अभी हम इस स्थिति में नहीं हैं कि 'कामायनी' और 'उर्वशी' की तुलना कर सकें । लेकिन इधर जो आलोचनाएं उर्वशी की हुई हैं वे दो ध्रुवों के बीच की दूरी बताती हैं । कुछ लोग 'उर्वशी' को 'कामायनी' के आगे का चरण बताते हैं और कुछ इसे केवल आलिंगन-चुम्बन की पुनरुक्ति से परिपूर्ण निकृष्ट कोटि की रचना कह कर नगण्य ठहराते हैं । वस्तुतः ये दोनों ही पक्ष अतिवादी हैं । हमारा अपना मत यह है कि ये दोनों कृतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं । स्वयं कवि ने भी भूमिका में यही कहा है—

"सृष्टि विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है ।"

और यह उसने पुरूरवा को सनातन नर और उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक मानकर किया है । यों हम दर्शन और वैराग्य की ललक में आदर्शवादी की दृष्टि से 'उर्वशी' को 'कामायनी' से हीन कह सकते हैं पर आधुनिक युग में काम के जिस रूप को कवि ने उपस्थित किया है वह क्या एक यथार्थवादी के दृष्टिकोण से अनावश्यक है ? ऐसा कहना सत्य से आँखें मूंदना होगा । हम काव्य को कवि की दृष्टि से न देख कर अपनी मान्यता अथवा परम्परागत दृष्टि से ही क्यों देखें ? जो कुछ उसने कहा है वह कैसे कहा है । यह पहले देखा जायगा, क्या कहा है यह पीछे ? 'कामायनी' का सन्देश शैवतत्त्व की छाया में आनन्द लाभ का है, जबकि 'उर्वशी' का सन्देश द्वन्द्व-रहित होकर कामोपभोग का है । हमारा जगत् आज जहाँ आ पहुँचा है वहाँ क्या मार्ग हमारा अभीष्ट है, इसकी ओर संकेत कवि का लक्ष्य है । कामायनी में 'जड़चेतन समरस' होकर रह गये हैं पर हमारे युग में भौतिकता के प्रतीक काम के भीतर से ही मुक्ति का मार्ग खोजा जाना एक प्रमुख प्रवृत्ति है । दिनकर जी ने उसे काव्य का रूप दिया है । उसमें गीता की निष्काम कर्म की दार्शनिक विचारधारा को काम के साथ मिलाने का प्रयत्न है । नारी की महत्ता नर को शिवरूप में न रख सृष्टि-क्रम की रक्षा में प्रवृत्त रखने में है । यह 'उर्वशी' का दूसरा पक्ष है । फिर पुरूरवा की विवश

साधित हो मुखरण पाती हैं।

वस्तुतः अन्त में साधुवादित होने पर प्रियंवद जो वक्तव्य देता है, वह उसका वक्तव्य न होकर 'आंगन के पार द्वार' के वास्तविक अन्वेषक का वक्तव्य है।

श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन,
सब में गाता है।[1]

यही वक्तव्य समस्त रचना का वास्तविक सन्दर्भ है। अन्वेषक ने पूर्व अन्वेषित सत्यों को समर्पित होकर स्वयं को व्यंजित किया है। आंगन के पार द्वार का आत्मान्वेषी 'पंक्ति को विसर्जित दीप' है। वह स्वयं दीप ज्योति की सी अलग इयत्ता रखता हुआ भी पंक्ति से प्रतिबद्ध है। उसके अपने सत्य पूर्व सत्यों से विलय पा भास्वर होते हैं। इस प्रकार असाध्य वीणा आंगन के पार द्वार की उपलब्धि है, आत्मान्वेषी का अन्वेषण है, समस्त रचना का एक अविभाज्य भाग है। और समस्त रचना एक संश्लिष्ट इकाई है।

इस प्रकार 'आंगन के पार द्वार' में अज्ञेय के आत्मान्वेषक की विभिन्न दिशाएं खुलती हैं : अन्वेषक के प्रणय का आस्तिक दर्शन ही एक विशद स्तर पर उसका अध्यात्म-दर्शन बन जाता है। और उसका सृजन संकल्प अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति से आनुपातिक सापेक्षता और निरपेक्षता पाने लगता है। माध्यमों से अतीत हो, वह अश्रव्य और अनिर्वच की मौन अनुभूति और मौन अभिव्यक्ति के प्रति एकनिष्ठ बनने लगता है तथा युग-युग के अन्वेषित की कल्पांत प्रक्रिया के प्रति समर्पित होकर वह अपने उपलब्ध और अन्वेषित को प्रतिष्ठित करता है। उसकी प्रत्येक दिशा एक द्वार बनकर उसके सामने खुलती है। उसके आगे फिर उसे एक विस्तृत आंगन खुला मिलता है। यह अन्वेषक उसमें अभिव्यक्ति पाता फिर आगे बढ़ता है और तब पुनः उसके समक्ष एक द्वार खुल जाता है। आंगन के ओर-छोर द्वार ही द्वार है और प्रत्येक द्वार के आगे आंगन है। अतः आंगन के पार द्वार में आत्मान्वेषण की अविराम और अव्याहत प्रक्रिया का स्वरूप विस्तार पाता है।

१. असाध्य वीणा : आंगन के पार द्वार, पृ० ८७।

उपर्युक्त वक्तव्य गंभीर एवं रहस्य पूर्ण ध्वनि संकेतों से गर्भित है। भले ही कुछ पाठकों को इसमें विक्षिप्त मस्तिष्क की विसंगति-पूर्ण अभिव्यक्ति लगे और कुछ लोग कबीर की उलटबासियों से इसका सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी दिखाएं, परन्तु वस्तुस्थिति अत्यधिक गंभीर है। लेखक आत्म चिन्तन के उस विशद एवं गंभीर स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है, जहाँ सब भेद मिट जाते हैं। पूर्ण अद्वैत के दर्शन होते हैं। और अनुसन्धाता आंगन को पार कर ऐसे द्वार पर पहुँच जाता है जिसके पार उसे एक और आगन दिखाई देता है। कवि का यह वक्तव्य चिर-अन्वेषण की ओर संकेत करता है अर्थात् कोई भी अन्तिम सत्य नहीं, कोई भी उपलब्धि अन्तिम उपलब्धि नहीं और कोई भी द्वार अन्तिम द्वार नहीं अथवा विश्राम-स्थल नहीं। अन्वेषण एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है, जिसके रुकने से सत्य का अर्थ बदल जाएगा। उपलब्धियां अपना मूल्य खो बैठेंगी। अतः प्रत्येक द्वार के बाद आंगन दिखाई पड़ेगा। द्वार-आंगन, द्वार-आंगन, द्वार-आंगन फिर कहाँ भवन, कहाँ उसका ओर-छोर, सभी भवन ही भवन, अन्वेषण की दिशायें, अन्वेषण के आयाम। जहाँ सभी आगारी देवता बन जाते हैं और अनुसन्धेतव्य, अनुसन्धाता का अभ्यर्थन करता है।

उपर्युक्त वक्तव्य को 'आंगन के पार द्वार' रचना का सन्दर्भ मानने पर इस रचना में कौन-सा आंगन है और कौन-सा द्वार यह जानना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक कविता अपने आप में ऐसा आंगन है, जिसके दोनों छोरों पर द्वार खड़े हैं। कवि एक द्वार से प्रवेश पाता है और दूसरे द्वार तक फैले आंगन में अभिव्यक्ति पा कर उस द्वार से निष्कृति पा अगले आंगन में प्रवेश पाता है। इस प्रकार सभी कवितायें एक-दूसरे के बाद खुला आंगन हैं,जिन के मध्य में द्वार खड़े हैं। यह सारी बात रचना प्रक्रिया के स्तर की है। कवि अपनी एक रचना में अभिव्यक्त होकर ही शांत नहीं हो जाता अथवा उस आंगन में ही पड़ाव नहीं डाल देता प्रत्युत वह उस आंगन से नए द्वारों की ओर बढ़ता है। नये आंगनों में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यह क्रिया अविराम गति से चलती रहती है। प्रत्येक आंगन के पार द्वार खुलता है, और प्रत्येक द्वार के पार फैला हुआ आंगन दिखाई देता है।

विवेच्य रचना की कविताओं को कवि ने तीन भागों में विभाजित किया है :

एक : अन्तःसलिला।

दो : चक्रान्तशिला।

तीन : असाध्य वीणा।

एक : अन्तःसलिला :—प्रणय का आस्तिक दर्शन, सृजन का संकल्प स्वरूप सीमाएं—अन्तःसलिला में कवि का व्यक्ति ईमानदार अभिव्यक्ति पाता है। वह अपनी आत्म कंदरा को आलोकित करना चाहता है। इसीलिए उसमें आत्म अन्वेषण की व्यग्रता है परन्तु नये-नये अन्वेषित सत्य जैसे-जैसे उद्भासित होते जाते हैं, वैसे-वैसे व्यक्ति स्वयं को अर्थहीन अनुभव करने लगता है। आत्मानुसंधान से जैसे वह

उद्‌घाटित करने के कवि-प्रयास को 'प्रक्रिया' की इन पंक्तियों में लक्षित किया जा सकता है।

"काली शिलाएँ चमक कर गिर रही हैं।

यह सीमांत रेखा है। एक दुनिया के अक्षांश मिटकर लुप्त होते जा रहे हैं, दूसरी के अधबने भी नहीं हैं। संस्कृतियों का सदियों पुराना लम्बा, आततायी न्यायों के मूलाधार पर उठा एक आतंकबद्ध अध्याय समाप्त हो रहा है। दूसरा अधकचरा, भोंडा, 'क्रूड', भ्रूणावस्था में भविष्य की कोख से झांक रहा है। दोनों एक बिन्दु पर आकर,— आधे कालिख-पुते चेहरे की तरह संयुक्त हो रहे हैं। आज हर वस्तु पर आधी कालौंच लगी है और सब एक वेगवती मथानी से बिलोई जा रही हैं। ....कितनी अभूतपूर्व सम्भावनाएँ हैं और कैसे आत्यांतिक अवरोध। हम ग्रहलोकों के विराट् की ओर मुड़ रहे हैं, हम निम्नतम कर्दम में लोट रहे हैं। चीज़ों की शक्ल बेहद बदल गई है। आदमी पहिचान में नहीं आ पाता कि यह नव बर्बर आदमी ही है या सामग्री। चरम संक्रमण की पछाड़ में उसका पिछला सांस्कृतिक रूप टूट-फूट कर टुकड़े हो गया है। मूल्यगत प्रतिभा की देह टेढ़ी-मेढ़ी विकलांग हो गई है।........पूर्ववर्ती मूल्य सूखे, जीर्ण छिलकों की तरह झरकर गिर गए हैं, और विज्ञानकालीन नए परिधानों का आभास भी नहीं है। कपास में फूल आने में ही अभी देर है। आदमी आत्मा से इस समय एकदम नंगा है।

एक मनवन्तर बीत रहा है।

चमकीली शिलाएँ पंख फैलाकर उड़ गई हैं।"

कवि का यह वक्तव्य 'शिलापंख चमकीले' के प्रतीकार्थ को समझाने में सहायक है। पिटे-पुराने, गलित पर चमकीले सिद्धान्तों एवं मूल्यों के टूटने से पैदा हुई मोहभंग की विभक्त मनःस्थितियों और मूल्यगत संक्रान्ति को यह शीर्षक उजागर करता प्रतीत होता है। कवि के सामने 'एक ओर आनन्द का उघटता अधूरा परस है और हर स्थिति से असंगति की क्रमबद्धता। अक्षुण्ण वर्तमान का समाप्तिहीन एहसास। हर चीज़ पर एक अजीब वीरानेपन की छाप। सत्य और मिथ्या की मिटती सीमा रेखाएँ। प्रदर्शित स्वरूप के अनेक परोक्ष चेहरे, सार्वजनिक आदर्शों के प्राइवेट कुत्सित कंकाल, लुके-छिपे स्वार्थ तथा कायर समझौते, रंगपुछी, भोंडी और टूटी तस्वीरें, बदलते संदर्भ, छुटती हुई केंचुलें,' हैं। पर, प्रतीकार्थ के सम्बन्ध में यह तो कवि का कथन मात्र है। यह मानकर नहीं चला जा सकता कि कवि की कविताओं में यह प्रतीकार्थ है ही। बहुत सम्भव है कि कवि का चिंतन तो बढ़ा-चढ़ा हो, पर उसकी संवेदना चिंतन से सर्वथा भिन्न या असंपृक्त ही रहे। अतः देखना यह होगा कि कवि ने चिन्तन के स्तर पर जो बातें कही हैं, उनकी संगति रचना-स्तर पर भी बैठती है या नहीं अथवा कवि प्रतीकार्थ की काव्याभिव्यक्ति में सफल हुआ है या नहीं ? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि संग्रह की कुछ कविताओं में कवि का

उपर्युक्त वक्तव्य गंभीर एवं रहस्य पूर्ण ध्वनि संकेतों से गर्भित है। भले ही कुछ पाठकों को इसमें विक्षिप्त मस्तिष्क की विसंगति-पूर्ण अभिव्यक्ति लगे और कुछ लोग कबीर की उलटबासियों से इसका सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी दिखाएं, परन्तु वस्तुस्थिति अत्यधिक गंभीर है। लेखक आत्म चिन्तन के उस विशद एवं गंभीर स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है, जहां सब भेद मिट जाते हैं। पूर्ण अद्वैत के दर्शन होते हैं। और अनुसन्धाता आंगन को पार कर ऐसे द्वार पर पहुँच जाता है जिसके पार उसे एक और आगन दिखाई देता है। कवि का यह वक्तव्य चिर-अन्वेषण की ओर संकेत करता है अर्थात् कोई भी अन्तिम सत्य नहीं, कोई भी उपलब्धि अन्तिम उपलब्धि नहीं और कोई भी द्वार अन्तिम द्वार नहीं अथवा विश्राम-स्थल नहीं। अन्वेषण एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है, जिसके रुकने से सत्य का अर्थ बदल जाएगा। उपलब्धियां अपना मूल्य खो बैठेंगी। अतः प्रत्येक द्वार के बाद आंगन दिखाई पड़ेगा। द्वार-आंगन, द्वार-आंगन, द्वार-आंगन फिर कहां भवन, कहां उसका ओर-छोर, सभी भवन ही भवन, अन्वेषण की दिशायें, अन्वेषण के आयाम। जहां सभी आगारी देवता बन जाते हैं और अनुसन्धेतव्य, अनुसन्धाता का अभ्यर्थन करता है।

उपर्युक्त वक्तव्य को 'आंगन के पार द्वार' रचना का सन्दर्भ मानने पर इस रचना में कौन-सा आंगन है और कौन-सा द्वार यह जानना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक कविता अपने आप में ऐसा आंगन है, जिसके दोनों छोरों पर द्वार खड़े हैं। कवि एक द्वार से प्रवेश पाता है और दूसरे द्वार तक फैले आंगन में अभिव्यक्ति पा कर उस द्वार से निष्कृति पा अगले आंगन में प्रवेश पाता है। इस प्रकार सभी कवितायें एक-दूसरे के बाद खुला आंगन हैं,जिन के मध्य में द्वार खड़े हैं। यह सारी बात रचना प्रक्रिया के स्तर की है। कवि अपनी एक रचना में अभिव्यक्त होकर ही शांत नहीं हो जाता अथवा उस आंगन में ही पड़ाव नहीं डाल देता, प्रत्युत वह उस आंगन से नए द्वारों की ओर बढ़ता है। नये आंगनों में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यह क्रिया अविराम गति से चलती रहती है। प्रत्येक आंगन के पार द्वार खुलता है, और प्रत्येक द्वार के पार फैला हुआ आंगन दिखाई देता है।

विवेच्य रचना की कविताओं को कवि ने तीन भागों में विभाजित किया है :

एक : अन्तःसलिला।

दो : चक्रान्तशिला।

तीन : असाध्य वीणा।

एक : अन्तःसलिला :—प्रणय का आस्तिक दर्शन, सृजन का संकल्प स्वरूप सीमाएं—अन्तःसलिला में कवि का व्यक्ति ईमानदार अभिव्यक्ति पाता है। वह अपनी आत्म कंदरा को आलोकित करना चाहता है। इसीलिए उसमें आत्म अन्वेषण की व्यग्रता है परन्तु नये-नये अन्वेषित सत्य जैसे-जैसे उद्भासित होते जाते हैं, वैसे-वैसे व्यक्ति स्वयं को अर्थहीन अनुभव करने लगता है। आत्मानुसन्धान से जैसे वह

की मौलिकता को यहाँ देखा जा सकता है। कुछ कविताओं का प्रधान स्वर शुभाकांक्षा, आशा और आश्वासन का है जैसे 'सूरज का पहिया', 'माटी और मेघ', 'खत' आदि कविताएँ। कवि की यह सहज कामना है कि 'मन के विश्वास का यह सोनचक्र रुके नहीं', 'मन में संघर्ष फाँस गड़कर भी दुखे नहीं' और 'जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं।' (सूरज का पहिया) 'जनभविष्य' और भविष्य संदली आदि शब्दावली का प्रयोग देखकर लगता है कि कवि मानव भविष्य के प्रति निष्ठावान है। कवि का यह भी अडिग विश्वास है कि इंसान चाहे जितनी कोशिश कर ले, वह जीवन दीपक रूपी लौ नहीं बुझा सकता। (माटी और मेघ) 'खत' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ भी शुभ-कामना के लहजे में हैं जैसे 'खत नए आलोक का पन्ना बने, हर घर में हंसी की धूप का झरना बने, स्वस्थ साबित जिन्दगी का आइना नन्हा बने'। इसी प्रकार 'नई आग की खोज' कविता में इंसानी मूल्यों के सोन-तार डालकर जीवन को फिर विराट् गीत का आलाप देने की बात कथित है। यह बिना किसी खतरे के कहा जा सकता है कि इन कुछेक कविताओं की रचना-प्रक्रिया कवि के पिछले काव्य-संस्कारों से एक हद तक प्रभावित है। इन कविताओं में कवि की मूल्यनिष्ठा सीधे-सीधे व्यक्त हुई है-- लगभग 'धूप के धान' की शैली में, जिससे कवि की काव्यगत बुनियादी निष्ठा का पता चलता है।

पर, इस काव्य वृत्ति में अनेक कविताएँ ऐसी भी हैं जिनसे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि कवि में अपने पिछले काव्य-संस्कारों के 'प्रभाव' से छूटने की पूरी क्षमता है। यह बात विशेष रूप से लक्षित करने योग्य है कि कवि इस क्षमता को अर्जित कर सका है अपनी विशेषीकृत संवेदना के बल पर। इस संवेदना ने ही कवि को प्रेरणा दी है कथ्य और शिल्प के पुराने मुहावरे को तोड़ने की और नए प्रयोग करने की। कवि का मूल्य-बोध भी इसी संवेदना के सूक्ष्म स्तर पर व्यंजित है। 'क्रानिक-मरीज' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ, 'लौह मकड़ी का जाल' कविता की मुक्ति की चीख— 'मुझे निकाल लो, ओ जीवन देवता, खंड-खंड होने से पहले उबार लो', 'विश्वास की साँझ', 'व्यक्तित्व का मध्यान्तर', 'पुरुष-मेघ' आदि कविताओं में अपने ही पूर्व-संस्कारों से मुक्त होने के कवि प्रयास को, उसके नये भाव-बोध और मूल्य-दृष्टि को देखा जा सकता है। कवि की ऐसी ही अन्य अनेक कविताएँ सन् ५०-६० में उदित सन्दर्भों से उत्पन्न भावबोध की पहचान कराने की कोशिश करती हैं।

यह सवाल हो सकता है कि 'शिलापंख चमकीले' की मूल संवेदना क्या है? निश्चय ही यह सवाल जरा टेढ़ा है। चूंकि काव्यानुभूति शब्द अर्थ के सूक्ष्म स्तरों में वेष्टित रहती है, अतः किसी काव्य-वृत्ति की मूलभूत या केन्द्रीय संवेदना को पकड़ पाना आसान नहीं होता। इस काव्य-संग्रह के शब्द अर्थ के सूक्ष्म अध्ययन और अवगाहन के बाद लगता है कि इसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ एक साथ गुम्फित हैं और कहीं-कहीं तो दो कविताओं की अनुभूतियों में संगति बैठाना कठिन प्रतीत होता है।

वांझ अनुकंपा समाज की
कितनी बोझल हो गयी।[1]

कवि की अन्त:सलिला की उपर्युक्त कविताओं—'सरस्वती पुत्र' और 'सूनी-सी सांझ' में दो सीमाएं प्रकट हुई हैं। माध्यम की अत्यधिकता में अभिव्यक्ति का आवेश मन्द पड़ने लगता है और उपादानों की न्यूनता में अभिव्यक्ति की मितलाहट बढ़ने लगती है। परन्तु कवि दोनों स्थितियों में अपने सृजन संकल्प के प्रति सजग रहता है। वह अपनी अनुभूतियों को ईमानदारी से यथासम्भव अन्वेषित और उपलब्ध माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त कर आत्मतोष प्राप्त कर लेता है :—

अच्छा, मां, मुझे खाली मिट्टी दे दो—
मैं कुछ नहीं मांगूंगा :
मेले जाने का हठ नहीं ठानूंगा—
जो कहोगी मानूंगा।[2]

कवि की 'अन्त:सलिला' उपर्युक्त सीमाओं में सृजनव्रता हो कर चलती है। सृजन विशेष के क्षणों में अनुभूति माध्यमों में इस प्रकार रूपान्तरित हो जाती है कि अनुभूति और माध्यम एकान्वित लगते हैं। यही अभिव्यक्त स्वरूप व्यक्ति को कवि बना देता है। सृजन प्रक्रिया का यही रूप 'चिड़िया ने ही कहा' की इन पंक्तियों में प्रतिपादित हुआ है :

खो गयी थी क्षण भर को स्तब्ध चकित सी वाणी,
शब्द गये थे बिखर, फटी धीमी से जैसे
फट कर खो जाते हैं बीज
अनयना रव हीना धरती में
होने को अंकुरित अजाने—
तब—जाने कब
चिड़िया ने ही कहा :
कि चिड़िया।
चिड़िया ने ही देखा।
वह चिड़िया थी
चिड़िया।
चिड़िया नहीं रही है तब से :
मैं भी नहीं रहा मैं।
कवि हूं।
कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।[3]

१. सूनी सी सांझ एक, पृष्ठ २८।
२. अनुभव परिपक्व, पृष्ठ २६।
३. चिड़िया ने ही कहा, पृष्ठ ३२।

कवि-प्रयास के फलस्वरूप ही आए हैं। कवि की भाषा प्रायः कलात्मक उपकरणों से युक्त बिम्बमयी और प्रतीकात्मक है और उसमें भाषा की लक्षणा-शक्ति का चमत्कारक प्रयोग विशेष रूप से दृष्टव्य है। कवि के प्रतीक बहुधा बिम्ब में संक्रांत या रूपान्तरित हुए हैं। क्रिया और विशेषण के लघु और सूक्ष्म साँचों में कवि ने जो बिम्बगत सौंदर्य भरा है, वह उसकी शब्द-प्रयोग-प्रतिभा का द्योतक है, 'रात फुटपाथ और गीत', 'तूफान एक्सप्रेस की रात', 'व्यक्तित्व का मध्यान्तर', 'हब्स देश', 'पत्ते, लकीरें और इतिहास' आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कविताओं में इस सौंदर्य के अनेक सूक्ष्म स्तरों को देखा जा सकता है।

कवि की दृष्टि रोमांटिक है या आधुनिक, यह सवाल भी 'शिलापंख चमकीले' के आधार पर उठाया जा सकता है। इस काव्य-रचना की विवेचना करते हुए श्री बालकृष्ण राव ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। (माध्यम मार्च ६७) और विराट् निष्कर्ष है कि माथुर रोमांटिक न होकर के मूलतः रोमानी कवि हैं—यानी भावुकता है कल्पनाशीलता, तरलता और रंगीनी का बोध कराने वाले कवि। उनकी धारणा से एक माथुर 'जहूरे तरतीब' को सौंदर्य मानते हैं जो एक क्लासिकल प्रवृत्ति है। त हुई है-- श्री राव श्री माथुर को भावबोध के स्तर पर रोमानी मानते हैं और सौंदर्य निष्ठा का स्तर पर क्लासिकल। श्री माथुर, निस्संदेह, एक भावप्रवण कवि हैं औ. तत्त्वों के साथ एक विशेष तरह की संपृक्ति उनकी कविताओं में है। प्रेम, य प्रमाणित रूपगत आकर्षण से सम्बद्ध कई कविताएँ इस संग्रह में भी हैं जिनमें रो पूरी क्षमता पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। पर, क्या इन कुछेक कविताओं के आधार पर अर्जित कर कृतित्व को भावबोध के स्तर पर 'रोमानी' और सौंदर्य-चेतना ही कवि को प्रेरणा 'क्लासिकल' घोषित कर देना उचित है? वास्तव में, इस प्रश्न ए प्रयोग करने की। संवेदना, मूल्यबोध और भाषा के स्तर पर विवेचित करना चाहि 'क्लासिक-मरीज़'

है और इसे अपना मोक्ष मार्ग मानता है। कवि की यह प्रणय निष्ठा छायावादी संस्कारों का ही एक अन्य विशद रूप है।

सांस का पुतला हूँ मैं :
जरा से बंधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ :
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ।
काल की दुर्वह गदा को एक
कौतुक-भरा बाल क्षण तोलता है।[1]

कवि इसी भाग में भीड़ की पीड़ा से व्यथित है। चारों ओर अजनबीयत में जब कोई भी आत्मीयता भरा चेहरा नहीं दिखाई पड़ता है, तब कवि को उसकी रिक्तता नजरने लगती है। वह समता के अनौपचारिक और अन्तरंग धरातल को पाने के लिए व्याकुल हो उठता है :

अरे ये उपस्थित
घेरते, घूरते, टेरते
लोग-लोग-लोग-लोग
जिन्हें पर विधाता ने
मेरे लिए दिया नहीं।।
निजी एक अन्तरंग चेहरा।[2]

ऐसी सीमाओं में घिरे कवि के भीतर 'दाता' जगता है और वह चितेरे से' चित्र बनाने के लिए प्रार्थित होता है। अपने अभावों में घुट रहे कवि के मन में एक विवेक ज्योति जगती है, जो चिर जिज्ञासा लेकर आगे बढ़ती है।

इस प्रकार कवि की 'अन्तःसलिला' प्रणय के आस्तिक उत्स से अनुस्यूत हो कभी अभिव्यक्ति की ढलान पर गतिमान होती है और कभी अनभिव्यक्ति की चट्टानों में रुद्ध होने लगती है। वैसे उसकी गम्भीर जलधार में प्रणय की ऊष्म शीतलता है, जो विराट् की ओर अनेक जिज्ञासायें लेकर बढ़ती जाती है।

दो : चक्रांतशिला :—माध्यम निरपेक्षता, अभिव्यक्ति का मौन रूप, और आत्मा का अन्वेषित—'चक्रान्तशिला' विवेच्य रचना का दूसरा खण्ड है। कवि की 'अन्तःसलिला' यहां चक्रान्तशिला को परिक्रमित करने लगती है, फलतः 'चक्रान्तशिला' के गतिरोध से अन्तःसलिला को अतिरिक्त आवेश मिलता है जो उसे विराट् की ओर अग्रसर बनाता है। वस्तुतः इस भाव की कविताओं में कवि का सृजन संकल्प अभिव्यक्त

१. सांस का पुतला, पृष्ठ २६।
२. अन्तरंग चेहरा, पृष्ठ २२।

कवि-प्रयास के फलस्वरूप ही आए हैं। कवि की भाषा प्रायः कलात्मक उपकरणों से युक्त बिम्बमयी और प्रतीकात्मक है और उसमें भाषा की लक्षणा-शक्ति का चमत्कारक प्रयोग विशेष रूप से दृष्टव्य है। कवि के प्रतीक बहुधा बिम्ब में संक्रांत या रूपान्तरित हुए हैं। क्रिया और विशेषण के लघु और सूक्ष्म साँचों में कवि ने जो बिम्बगत सौंदर्य भरा है, वह उसकी शब्द-प्रयोग-प्रतिभा का द्योतक है, 'रात फुटपाथ और गीत', 'तूफान एक्सप्रेस की रात', 'व्यक्तित्व का मध्यान्तर', 'हब्स देश', 'पत्ते, लकीरें और इतिहास' आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कविताओं में इस सौंदर्य के अनेक सूक्ष्म स्तरों को देखा जा सकता है।

कवि की दृष्टि रोमांटिक है या आधुनिक, यह सवाल भी 'शिलापंख चमकीले' के आधार पर उठाया जा सकता है। इस काव्य-रचना की विवेचना करते हुए श्री बालकृष्ण राव ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। (माध्यम मार्च ६७) और विराद् निष्कर्ष है कि माथुर रोमांटिक न होकर के मूलतः रोमानी कवि हैं—यानी भावकता हैं कल्पनाशीलता, तरलता और रंगीनी का बोध कराने वाले कवि। उनकी धारणा से एक माथुर 'जहूरे तरतीब' को सौंदर्य मानते हैं जो एक क्लासिकल प्रवृत्ति है। क्त हुई है-- श्री राव श्री माथुर को भावबोध के स्तर पर रोमानी मानते हैं और सौंदर्य निष्ठा का स्तर पर क्लासिकल। श्री माथुर, निस्संदेह, एक भावप्रवण कवि हैं औ तत्त्वों के साथ एक विशेष तरह की संपृक्ति उनकी कविताओं में है। प्रेम, य प्रमाणित रूपगत आकर्षण से सम्बद्ध कई कविताएँ इस संग्रह में भी हैं जिनमें र पूरी क्षमता पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। पर, क्या इन कुछेक कविताओं के आधार अर्जित कर कृत्तित्व को भावबोध के स्तर पर 'रोमानी' और सौंदर्य-चेतना ही कवि को प्रेरणा 'क्लासिकल' घोषित कर देना उचित है? वास्तव में, इस प्रश्न ए प्रयोग करने की। संवेदना, मूल्यबोध और भाषा के स्तर पर विवेचित करना चाहि। 'क्रानिक-मरीज़' कवि की मूल-संवेदना और नवगीत प्रयोगों का विवेचन करते हुए लिमुक्ति की चीख— ने अन्तरात्मा के संताप, संक्रान्त मनःस्थितियों और मूल्यों के विघ्नों', 'विश्वास की आंतरिक द्वंद्वात्मकता को वाणी दी है। इस अर्थ में वे निश्चय ही आधुनिक ही पूर्व-संस्कारों रोमांटिक नहीं। आधुनिक-बोध को रूपायित करने वाली उनकी सौंदर्यदृष्टि को देखा जा 'क्लासिकल' नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत संग्रह की कविताओं के सन्दर्भ उदित सन्दर्भों से प्रियता' और 'जहूरे तरतीब' आदि शब्दों का प्रयोग असंगत लगता है। इ की प्रवृत्ति कहना चाहिए जो कवि-कर्म का सहज धर्म कही जा सकती है। ग क्या है? कुमार माथुर के प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में यह संश्लिष्टता वर्तमान है। म स्तरों में समृद्ध बिम्ब-दृष्टि और शब्द-शिल्प (जो इस संग्रह की अन्यतम विशेषताएँ हैं) उसकी सौंदर्य-चेतना के आधुनिक होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

एक चिकना मौन
जिसमें मुखर-तपती वासनाएं
दाह खोती
लीन होती है ।
उसी में रव हीन
तेरा
गूंजता है छन्द :
ऋत विज्ञात होता है ।[1]

कवि का अभिव्यक्ति सम्बन्धी यह दृष्टिकोण 'अन्तःसलिला' में अभिव्यक्त धारणाओं का अत्यधिक उदात्त रूप है। सृजन प्रक्रिया के स्तर पर, अभिव्यक्ति का यह रूप एक विशद आत्म साक्षात्कार का परिणाम माना जाता है। 'चक्रान्तशिला' में कवि विराट् से जुड़ने के अनेक प्रयासों में ऐसे ही आत्म साक्षात्कार कर पाता है। चेतना के स्पर्श से यह चक्रान्तशिला संद्रवित हो वहने लगती है, उसकी प्रस्तर जड़ता पिघल जाती है।

किरण बोली।
भला ? ऐसा !
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं :
तुम्हीं से मन्दिर गढ़ूंगी—
तुम्हारे अन्तःकरण से
तेज की प्रतिभा उकेरूंगी।[2]

किरण स्नात अन्तःकरण से स्वयं ज्ञान का अजस्र स्रोत फूट पड़ता है और कवि के आगे अन्वेषण के नये द्वार खोल देता है :—

तब क्वचित्
कहीं मेरे भीतर ही कोई संगीत वृन्द आया है।
वन-खंडी की दिशा-दिशा से
गूंज-गूंज कर आते हैं आह्वान के स्वर।
भीतर अपनी शिरा-शिरा से
उठते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर।[3]

तब कवि का अन्वेषक उस विराट् से जुड़ जाता है। यह अन्वेषक का उपलब्धि में सम्पूर्ण विलय है। कवि विराट् से जुड़ कर उसी के रचना विधान का अंग बन जाता है या स्वयं को सृष्टि के प्रत्येक स्पन्दन में स्पंदित हुआ पाता है। सृष्टि के

१. एक चिकना मौन, पृ० ४३।
२. किरण जब मुझ पर झरी, पृ० ४२।
३. सुनता हूं गान के स्वर, पृ० ४१।

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणो वाणी बभूव ह ॥

बाण के व्यक्तित्व में महाकाव्यात्मक गरिमा के एकाधिक कारण हैं । पहली बात यह है कि बाणभट्ट काव्य-कला के ही नहीं, काव्यशास्त्र के भी विपश्चित् ज्ञाता थे । इनके रीति-प्रतिपादन से इस तथ्य का पता चलता है । इन दिनों हम जिसे शैली कहते हैं, वह 'रीति' का ही अर्थ-विकसित रूप है । रीति के अर्थविकास की तीन स्थितियाँ मानी जाती हैं । पहली स्थिति में विशिष्ट पद-रचना या संघटन को ध्वनित करने वाली रीति का सम्बन्ध देश-विशेष से था । दूसरी स्थिति में रीति का भौगोलिक अनुषंग लुप्तप्राय हो गया तथा इसका प्रधान सम्बन्ध विषय-बोध से हो गया । और, तीसरी स्थिति में रीति का सम्बन्ध भूगोल, देश या काव्य-विषय से उठकर कवि के शील के साथ जुड़ गया । कहा जाता है और जैसा कि डॉ० राघवन ने भी प्रमाणित किया है, राष्ट्रीय शील और प्रवृत्ति के आधार पर रीतियों का प्रथम सुस्थ निरूपण बाण के 'हर्षचरित' में मिलता है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

इसे ही अरुण जी ने त्रयोदश सर्ग में इस प्रकार कहा है—

उदीच्य जनों में श्लेष-प्रधान शैली,
प्रतीची में अर्थपूर्ण कथावस्तु
दाक्षिणात्य में उत्प्रेक्षा या कल्पना की उड़ान

और
प्राची में शब्द-संघटन की विशेषतायें हैं । —पृ० २८३ ।

तदनन्तर, काव्यगत सौंदर्य-चेतना की दृष्टि से बाण ने भारतीय काव्य में अप्रतिम रंग-परिज्ञान की प्रतिष्ठा की थी । उदाहरण के लिये, बाण द्वारा निर्दिष्ट लाल रंग के अनेक प्रकारों में विश्लेषण की पैनी पैठ को देखा जा सकता है—पल्लवारुणा, प्रहत-हरिणरुधिरानुरक्त शार्दूल नख कोटिपाटलेन, अकठोर शेफालिका कुसुमनाल पिञ्जरेण, गजरुधिररक्तहरिसटालोमलोहिनीभिः पारावत चरण पाटलराग, पद्मरागानुरागिणी, सन्ध्यारागारुणा, लाक्षालोहित, विकसिताशोकपाटलम्, गैरिक गिरि सलिल प्रताप पाटलेषु, इत्यादि । बाण के काव्य की इस रंगामेजी और वर्ण-परिज्ञान का कुछ प्रभाव अरुण जी के वर्णनों में भी मिलता है । इस रंग-परिज्ञान के अलावा बाण वर्णन-विविधता और चित्रमयता के लिये भी प्रसिद्ध हैं । इन्द्रायुध अश्व के सजीव वर्णन के कारण इन्हें 'तुरंग बाण' की पदवी मिली थी । घटना-वर्णन के साथ ही चित्राभि-विन्यसन इनके काव्य की शीर्षस्थानीय विशेषता है । इन्होंने केवल घटनाओं का वर्णन नहीं किया है, घटनायें तो इनके समक्ष चित्रों का वस्तुसम्पृक्त आधार-मात्र हैं, अर्थात्,

कभी-कभी कवि के मन में उस अनन्त के प्रति शिशु का सा प्यार उमड़ता है, उसे अपना समर्पण अपनी पूजा और नैवेद्य एक शिशु आयोजन के से लगते हैं। और उसके पूजापे को 'अनन्त' सहर्ष स्वीकारता है तथा उसे गद्गद् भाव से ग्रहण करता है :—

और मुझको वात्सल्य-मेरा आशिष देकर—
ओक भर पिया।[1]

इसी दिशा में कवि स्वयं को उस महामहिम का भाष्यकार और उद्गाता भी मानता है। वह चिरन्तन, गम्भीर अर्थध्वनि से युक्त महाकाव्य है, और रचनाकार अन्वेषक और कवि है :—

मैं कवि हूं,
द्रष्टा, उन्मेष्टा,
सन्धाता,
अर्थवाह,
मैं कृत व्यय।
● ● ●
तू काव्य :
सदा वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भार हीन, गुरु,
अव्यय।[2]

कवि चक्रान्तशिला के आंगन में आत्मविवेक की टेक से अन्धकार में रास्ता ढूंढ़ता हुआ अगले द्वार तक पहुंचता है :—

इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार बार द्वार तक :[3]

वहां पहुंचने पर उसे लगता है कि इस द्वार के आगे एक और आंगन फैला है, तब वह अपने द्वार का दिया उस विस्तृत आंगन में रख आता है :—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आंगन में
सहम भर-सा रख दिया गया।[4]

---

१. जो कुछ सुन्दर था, प्रेय काम्य, पृ० ५६।
२. मैं कवि हूं, पृ० ५७।
३. अन्धकार में चली गई है, पृ० ५९।
४. दूज का चांद, पृ० ७२।

माता का नाम राज्यदेवी और पिता का नाम चित्रभानु था। बाल्यावस्था में ही वाण की माता का देहान्त हो गया, तब पिता ने इनका लालन-पालन किया। अरुण जी ने भी इन बातों का रोचक वर्णन किया है—

चित्रभानु की वधू राजदेवी न रही अब
मन की मही सिहरती सुधि उसकी आती जब। —पृ० ७।

और, वाण का लालन-पालन करने वाले माता-सदृश पिता का उद्गार भी इन्होंने प्रस्तुत किया है—

ऐसा दशरथ हूँ जिसको एक ही राम है

... ...

वाण प्राण-नक्षत्र दीप्त उर-अभिलाषा का
एक प्रात-उद्यान सांध्य अम्बर-आशा का। —पृ० ८।

वाण का मूल निवास हिरण्यवाह शोण के तट पर प्रीतिकूट नामक ग्राम था, जिसके समीप मल्लकूट और यष्टिगृह नामक दो गाँव थे, जिनके बाद हर्ष का राज्यारम्भ होता था।

रुक जा चन्द्र-चकोर, शोण में ज्वार उठा है,

... ...

मेरे मन में व्यर्थ व्याप्त है घोर उदासी
प्रीतिकूट की पुण्यभूमि का वह है वासी। —पृ० १०।

बाण जब चौदह वर्ष के थे, तभी उनके पिता चित्रभानु भी मर गये—

वृद्धभानु का पीपल तरु-तन गिरा उसी क्षण
उमड़े द्रवित दृगों में विस्मय के पावस-घन
मूर्च्छित-सा हो गया तपस्वी-जर्जर जीवन
दौड़े दुख सुन-सुनकर प्रीतिकूट के जनगण। —पृ० १६।

अतः अभिभावक के अभाव में वाण का यौवन-काल बहुत ही अव्यवस्थित रहा। इन्होंने बहुत दिनों तक देशाटन किया और ये एक तरह से यायावर ही रहे। कहा जाता है कि इनकी कुछ शिकायत तत्कालीन सम्राट् हर्षवर्धन तक पहुँची, तब सम्राट् ने इन्हें बुलवाया और व्यंग से इन्हें 'महानयं भुजंगः' कहा। अरुण जी ने भी इस लोक-विश्रुति को दशम और एकादश सर्ग में उपस्थित किया है—

वधू-बन्धु कविवर मयूर ने पत्री दी है
किसी दुष्ट ने नृप से मेरी चुगली की है। —पृ० १९३।

और

वात्स्यायनवंशी युवा वाण भारी भुजंग
कलुषित कर्मों में केवल दूपित राग-रंग। —पृ० २१५।

होता है। तभी जब प्रियंवद उस असाध्य वीणा को गोद में लेता है और स्वयं को उसे स्वरित करने के लिए प्रस्तुत करने को होता है, तो उसे लगता है :—

पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था, उसी किरीटी तरु को।[1]

प्रियंवद का यह समर्पण वीणा के प्रति नहीं प्रत्युत वीणा निर्माण की समस्त प्रक्रिया के प्रति है और उस किरीटी तरु के जीवन काल के प्रति है। मानो प्रियंवद उस समस्त काल खण्ड का स्वयं भोक्ता बन जाता है। उसके आगे वृक्ष का अनुभूत साक्षात् होने लगता है। उसे लगता है कि वह स्वयं वही वृक्ष है। उसे लगता है कि वह स्वयं वज्रकीर्ति है। उसने स्वयं ही वीणा का निर्माण किया है। वह स्वयं आत्मान्वेषक है और उसका अन्वेषण और उपलब्ध उसके सामने पड़ा है। तब उसे लगता है कि वह स्वयं अपने अन्वेषित की गोदी में एक सहज जिज्ञासु की तरह बैठा हो :—

नहीं, नहीं। वीणा यह मेरी गोद रखी है, रहे,
किन्तु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठ मोद-भरा बालक हूं
ओ तरु-तात! संभाल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक में डूब जाय :
मैं सुनूं,
गुनूं
विस्मय से भर आंकू
तेरे अनुभव का एक-एक अन्तःस्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूं मैं तन्मय—
गा तू :
तेरी लय पर मेरी सांसें
भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पायें।[2]

यही विलय भाव प्रियंवद को उन्हीं आत्म साक्षात्कारों से सम्पर्कित करता है। उसकी अंगुलियों में वह महामौन संगीत रूप में अवतरित होता है। असाध्य वीणा

१. असाध्य वीणा : आंगन के पार द्वार, पृ० ७७-७८।
२. असाध्य वीणा : आंगन के पार द्वार, पृ० ७९।

माता का नाम राज्यदेवी और पिता का नाम चित्रभानु था। बाल्यावस्था में ही बाण की माता का देहान्त हो गया, तब पिता ने इनका लालन-पालन किया। अरुण जी ने भी इन बातों का रोचक वर्णन किया है—

चित्रभानु की वधू राजदेवी न रही अब
मन की मही सिहरती सुधि उसकी आती जब। —पृ० ७।

और, बाण का लालन-पालन करने वाले माता-सदृश पिता का उद्गार भी इन्होंने प्रस्तुत किया है—

ऐसा दशरथ हूँ जिसको एक ही राम है
... ...
बाण प्राण-नक्षत्र दीप्त उर-अभिलाषा का
एक प्रात-उद्यान सांध्य अम्बर-आशा का। —पृ० ८।

बाण का मूल निवास हिरण्यबाह शोण के तट पर प्रीतिकूट नामक ग्राम था, जिसके समीप मल्लकूट और यष्टिगृह नामक दो गाँव थे, जिनके बाद हर्ष का राज्यारम्भ होता था।

रुक जा चन्द्र-चकोर, शोण में ज्वार उठा है,
... ...
मेरे मन में व्यर्थ व्याप्त है घोर उदासी
प्रीतिकूट की पुण्यभूमि का वह है वासी। —पृ० १०।

बाण जब चौदह वर्ष के थे, तभी उनके पिता चित्रभानु भी मर गये—

वृद्धभानु का पीपल तरु-तन गिरा उसी क्षण
उमड़े द्रवित दृगों में विस्मय के पावस-घन
मूच्छित-सा हो गया तपस्वी-जर्जर जीवन
दौड़े दुख सुन-सुनकर प्रीतिकूट के जनगण। —पृ० १६।

अतः अभिभावक के अभाव में बाण का यौवन-काल बहुत ही अव्यवस्थित रहा। इन्होंने बहुत दिनों तक देशाटन किया और ये एक तरह से यायावर ही रहे। कहा जाता है कि इनकी कुछ शिकायत तत्कालीन सम्राट् हर्षवर्धन तक पहुँची, तब सम्राट् ने इन्हें बुलवाया और व्यंग से इन्हें 'महानयं भुजंगः' कहा। अरुण जी ने भी इस लोक-विश्रुति को दशम और एकादश सर्ग में उपस्थित किया है—

बधू-बन्धु कविवर मयूर ने पत्री दी है
किसी दुष्ट ने नृप से मेरी चुगली की है। —पृ० १६३।

और

वात्स्यायनवंशी युवा बाण भारी भुजंग
कलुषित कर्मों में केवल दूषित राग-रंग। —पृ० २१५।

४५

शिलापंख चमकीले

डॉ० नरेन्द्र मोहन शर्मा

श्री गिरिजाकुमार माथुर नयी कविता के एक श्रेष्ठ हस्ताक्षर हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा में किसी को सन्देह नहीं, पर चूंकि वे कई काव्यधाराओं से संबद्ध रहे हैं, अतः उनकी काव्य-स्थिति, मूल काव्य-प्रवृत्ति और काव्य-निष्ठा के सम्बन्ध में कई तरह की धारणाएँ एवं मत प्रचलित हैं। इन मतों-धारणाओं का विवेचन-मूल्यांकन यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ तो इतना कहना ही अलम् होगा कि 'मंजीर' से 'शिलापंख चमकीले' तक कवि माथुर ने कई मंजिलें तय की हैं—वे छायावादी काव्य-परिधि और मूल्य-पद्धति से बाहर आए हैं और उन्होंने आधुनिकता को रचनात्मक और वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वे कई काव्यान्दोलनों के बीच से गुज़रे हैं—कई वादों को उन्होंने मरते देखा है और कई नयों को जन्म लेते। पर, वे कहीं किसी वाद-विशेष से बन्ध गए हों, ऐसा नहीं लगता। उनकी संवेदना का धरातल युग-जीवन के यथार्थ या 'टेम्पर' के अनुकूल बदलता गया है। वे संवेदना में कितने सच्चे रहे हैं और आधुनिक-बोध की अभिव्यक्ति में कितने खरे, इस बात को उनकी काव्य-भाषा, प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से पहचाना और परखा जा सकता है। वे प्रायः आग्रह-मुक्त रहे हैं और इस अर्थ में निस्संग भी। उनका काव्य-विकास, सही अर्थों में रचनात्मक-विकास माना जाएगा।

पहले तो यही जानना ज़रूरी है कि प्रस्तुत संग्रह को 'शिलापंख चमकीले' नाम देने के पीछे कवि का क्या अभिप्राय रहा है? इस प्रकार के संग्रह से एक प्रकार की अन्विति की अपेक्षा करना बिल्कुल सहज लगता है। यह अन्विति भावगत, विचारगत या मूल्यगत हो सकती है। प्रश्न उठता है कि क्या यह नामकरण इस अन्विति को संकेतित या व्यंजित करता है या नहीं अथवा यह नामकरण कविताओं के सन्दर्भ में सार्थक है या निरर्थक? इस प्रश्न को देखना और जाँचना इसलिए ज़रूरी लगता है कि यह प्रश्न कवि की मूल्य निष्ठा और मूल संवेदना के साथ जुड़ा हुआ है। इतना तो साफ़ है कि यह एक प्रतीक-शीर्षक है और कवि ने पूरी सतर्कता और दायित्व भावना से इस प्रतीक-शीर्षक को ग्रहण किया है और इसे अपनी संक्रान्त अनुभूतियों के माध्यम के रूप में अपनाया है। इस प्रतीक अभिधान के अर्थ को मूल्य-स्तर पर

मणिमय प्रासाद-विलास-विभा
किन्नरी परी
सुन्दरी-सुरा-सौन्दर्य सकल
मधुमत्त रूप-राका निर्मल
निखरी, बिखरी। —पृ० ६५-६६।

यह 'रेखा' अरुण जी की ऊर्णनाभ कल्पना की वैसी ही कोमल सृष्टि है, जैसी 'ध्रुव-स्वामिनी' नाटक की कोमा या 'अम्ब्रपाली' की मधूलिका। इतना ही नहीं, इस रेखा-सृष्टि से 'बाणाम्बरी' में 'प्रेम' का एक त्रिभुज (वाण, वेणी और रेखा) पैदा हो गया है, जो स्वभावतः कला-वरेण्य होता है। यह साधारण सत्य है कि 'द्विभुज प्रेम' आन्दोलनकारी नहीं हुआ करता है, क्योंकि वह स्थिर और मातदिल होता है। किन्तु, त्रिभुज प्रेम में ऐन्द्रिय दृष्टि से परकीया रति की रवानी रहती है और इन्द्रियातीत दृष्टि से भागवत प्रेम की तड़पनभरी अडिग अनाविल निष्ठा भी। इस तरह रेखा की सृष्टि से इस काव्य पर 'प्रेम के महदम्बर' का वितान छा गया है। और, अंधवधू वेणी की तो बात ही निराली है। एक अंधी तरुणी के यौवनाकुल-उद्वेलित अन्तर्मन में और उसके यौवन के टीसते-फुल्ल गुलाबों में विभिन्न प्रकार के मधुर-तिक्त सलील भावों का जो उज्भित आलोड़न-विलोड़न चलता है, उसकी रोमराजि में विद्युत्-पुलक की जो मधुवेष्टित अंगड़ाइयाँ उठती हैं, और, ये सभी ज्वार किस तरह अन्धेपन की पथरीली वेला से टकराकर लौटते भाटे की तरह असमय चूरचूर हो जाते हैं—इन सब का अलभ्य सहानुभूतिपूर्ण चित्रण हमें वेणी के चरित्रांकन में मिलता है। सचमुच, किसी अंधी सुहागिन की दीर्ण अन्तर्दशा, उसके प्रणयावेश और नेत्रहीनता से उज्भित उसके तरंग-मद का ऐसा मर्मन्तुद चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है—

उग-उग उमंग के उडु विलीन हो जाते
मन में गंधाकुल फूल नहीं खिल पाते
लज्जिता पिकी पंचमी निकाल न पाती
मधुऋतु-बयार उठ उठकर ही रह जाती।
... ...
वासन्ती बन में प्राण-कली रोती-सी
अंधी सुन्दरता अनल-स्वप्न ढोती-सी। —पृ० १७।

इस तरह 'गंध नयन वाली कली वेणी' करुणा और शृंगार के मिश्रण की एक पुरनम सृष्टि है। किन्तु, इस वेणी के पास अन्धेपन की केवल निर्वेदमयी करुणा ही नहीं है, बल्कि इसके पास अप्रतिम आत्म-चैतन्य और अन्धेपन के प्रति एक पक्षधर क्रान्तिकारी कोण भी है। जैसे—

अंधी हूँ लेकिन प्यार नहीं अंधा है
सुन्दरता का संसार नहीं अंधा है। —पृ०२६।

प्रतीकार्थ—मूल्यगत संक्रमण और आन्तरिक द्वंद्व का तीखा बोध संवेदनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है। 'चन्द्र खण्डों की आत्मा' कविता हमारी इस बात को पुष्ट करती है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

छिपती, दिपती मद्धिम पड़ती
धुन्धली, पूरी, फिर कटी फांक
यह मैं
मेरा व्यक्तित्व-बोध
क्षण जीवन का उपभोग परम
पंखों सी गिरीं शिलाएँ
जिसकी चमकदार
पंखों की नियति छूट जाना
पर्वत की नियति शिला होना
दुख की अनुभूति नियति क्षण की
आगम की नियति विलय होना

और 'अंध शिलाओं की दुनिया' कविता की ये पंक्तियाँ—

आसन पड़े ही रहे
टूट गईं मूर्त्तियाँ

ये पंक्तियाँ इस संग्रह के नामकरण के प्रतीकार्थ को स्पष्ट कर देती हैं। कवि की हरेक कविता में इस प्रतीकार्थ को खोजने का प्रयत्न करना तो अनुचित ही है, पर इसमें सन्देह नहीं कि संग्रह की अनेक कविताओं में यह संक्रमित एवं द्वंद्वात्मक भाव-बोध सूक्ष्म स्तर पर व्यंजित है। शीर्षक के तीन प्रतीक शब्दों में कवि ने अपने अनुभूति-चक्र और मूल्य-प्रक्रिया को अत्यन्त लाघव से बाँध दिया है।

'शिलापंख-चमकीले', गिरिजाकुमार माथुर का चौथा कविता-संग्रह है। उनके पहले तीन कविता-संग्रह हैं—'मंजीर', 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान'। किसी भी कवि से सामान्यतः और माथुर जैसे प्रतिष्ठित कवि से विशेषतः यह आशा की जा सकती है कि उसका नव्यतम कविता-संग्रह कथ्य और शिल्प के पुराने और पिछले मुहावरे को तोड़ सकने में समर्थ हो और उसमें नये मुहावरे की तलाश और बानगी भी हो जिससे यह पता चल सके कि कवि कथ्य में कहाँ और कितना मौलिक है और नये बोध को व्यक्त करने की उसमें कितनी क्षमता है? हाँ, कवि के पिछले काव्य-संस्कार काव्यगत निष्ठा के अर्थ में उसकी अगली रचनाओं में रह सकते हैं और उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में दोनों ही बातें हैं—एक ओर तो स्वनिर्मित मुहावरे को निष्ठापूर्वक अपनाता हुआ कवि पिछले काव्य संस्कारों से जुड़े होने का आभास देता है, तो दूसरी ओर पिछले काव्य-संस्कारों के 'प्रभाव' से छूटने की द्वंद्वमयी प्रक्रिया और उसके पीछे रहने वाला संवेदना

आधुनिक हिन्दी कविता में अर्थप्रेषण के एक नये 'गेस्टॉल्ट' की स्थापना की है। किन्तु, जहाँ भाषा अधिक रूपकाश्रित है या कवि ने जहाँ दूरारूढ़ अर्थ-व्यंजना के लिये अधिक भावानीत भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ औसत से अच्छे पाठक की ग्राहिका-शक्ति को भी अर्थ समझने के लिये मण्डूक-प्लवन करना पड़ता है। यों अधिकांश स्थलों पर वर्ण्य और अवर्ण्य की योजना सांगोपांग तथा वाचक शब्द-सहित है। अतः उपमेय या उपमानों का निगरण कम मिलता है और रूपकों के बीच एकदेशविवर्ती का स्तुत्य अभाव है। इस तरह इस कृति में प्रायः वर्ण्य और अवर्ण्य की समानान्तर तथा समन्त योजना मिलती है। जैसे—

रजत रात में प्रिया झांक कर ठहर गई यों
मृगी मालती-कली सूँघ लेती क्षण भर ज्यों। —पृ० ४।

या

शिशु-पुकार उद्‌गार-धरा को हरित बनाती
पीत पत्र में ज्यों पिक स्वर-गंधा बिखराती। —पृ० ४।

किन्तु, इन सहकार बौर-जैसे सुरभित रूपकों के बीच कहीं-कहीं कंटकित करील-रूपक भी मिल जाते हैं। जैसे—

नेत्र-नीड़ में ज्योति-क्रौंच आनन्द-तरंगित। —पृ० ६।

या

ले गया हर कर दशानन दृष्टि-सीता हाय। —पृ० ११३।

'बाणाम्बरी' के रूपकों के प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इसमें व्यक्तिवाची नामों से रूपक रचने का विशेष प्रयास किया गया है और ऐसे रूपक विशद अवतरणिका से युक्त होने पर अरम्य और इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। जैसे—

कैकेयी-निशा समस्त दिशाओं में क्रन्दित
मारुत-मंथरा अनीति-तिमिर-भू संचालित
सद्‌भाव-सुमित्रा करुणा-कौसल्या बिम्बित
शत्रुघ्न-स्नेह में लक्ष्मण-मन-भ्रातृत्व-विदित

... ...

शुचि मन-विमान से शुभागमन सीमास्थल पर
भावना-भरत नतमस्तक निज निश्छल वल पर। —पृ० २४९।

अथवा

जब व्याप्त हिरण्यकशिपु-दानव-यवनान्धकार
पाषाण-काल में स्तंभित नरसिंहावतार
युग प्रह्लादित।

सतही तौर से देखने से लगेगा कि ये अनुभूतियाँ किसी केन्द्रीय संवेदना से जुड़ी हुई नहीं हैं, पर थोड़ा गहरा झांकने पर प्रतीत होगा कि व्यक्ति और समाज की विघटित स्थितियों और प्रक्रियाओं को केन्द्र में रखकर ही अनुभूतियों का ताना-बाना बुना गया है। ये अनुभूतियाँ कवि के भावगत, विचारगत और मूल्यगत संक्रमण और अन्तरात्मा के द्वंद्वजन्य संताप और पीड़ाबोध के विविध आयाम हैं। ये कवितायें कवि के प्रेमजन्य दर्द और बृहत्तर मानवीय करुणा और समवेदना को तो व्यक्त करती ही हैं, साथ ही उसके अकेलेपन और करुण-निरुपाय स्थिति को भी व्यंजित करती हैं। यह पीड़ा सर्वत्र एक संवेदनशील भावप्रवण-प्रबुद्ध व्यक्ति की पीड़ा है, पराजित निराश और हताश व्यक्ति की नहीं। यह उस व्यक्ति की पीड़ा है जिसने मूल्य-भ्रष्टता की स्थितियों को भोगा है और जो नए मूल्यों की प्रतिमाएँ लाने का आकांक्षी है।

'शिलापंख चमकीले' के शिल्प-पक्ष को देखना-परखना भी ज़रूरी है। यह ज़रूरत इसलिए है कि कविता का शिल्प दृष्टि देता है संवेदना की गहराई तक पहुँचने की। काव्यरूप, भाषा, अप्रस्तुत विधान, प्रतीक, बिम्ब आदि के विवेचन-मूल्यांकन से संवेदना के खरेपन या जालीपन को भी परखा-पहचाना जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस संग्रह की बहुतेरी कविताओं का रूप-विधान नई कविता का है, पर इसमें कुछ कवितायें ऐसी हैं जिन्हें नवगीत कहा जा सकता है। कवि ने प्रगीत की परम्परागत रूढ़ियों, छन्दों, परिपाटीबद्ध लय की बन्दिशों को तोड़ा है। उनके नवगीतों में नूतन लय-विधान को देखा जा सकता है। उनके गीत लोक-गीतों से प्रभावित लोकधुनों से प्रायः स्पन्दित रहते हैं जैसे 'जूड़े के फूल', 'वसन्त एक प्रगीत स्थिति', आदि कविताओं में, उनके नवगीतों में रोमानी-बोध के साथ-साथ समसामयिक बोध की भी अभिव्यक्ति हुई है। गीत रोमैंटिक-चेतना से ही सम्बद्ध है, ऐसा भ्रम प्रचलित है। पर, कवि ने अपने प्रयोगों द्वारा इस भ्रम को निर्मूल सिद्ध किया है और संक्रांत मनःस्थितियों और आन्तरिक द्वंद्वात्मकता के वहन में गीत को समर्थ माध्यम बनाया है। 'अनकही बात', 'पत्ते, लकीरें और इतिहास', 'भूले हुओं का गीत' आदि कविताओं में यदि रोमानी भावबोध है तो 'विश्वास की साँझ' और 'नई आग की खोज' आदि कविताओं में नए युग-यथार्थ की अभिव्यक्ति है।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि से इस काव्यकृति का विशिष्ट महत्व है। भाषा-प्रयोग के विषय में श्री माथुर अत्यन्त सजग कवि हैं। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि ने शब्द में अन्तर्निहित शक्ति को पहचाना है और उसे स्फुट किया है। उनके शब्द-प्रयोगों से काव्य-भाषा की शक्ति बढ़ी है, वह अधिक सौन्दर्य-सम्पन्न हुई है। इस काव्य-कृति में भी कतिपय ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है जो कदाचित् काव्य में पहली बार प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे कुछ शब्दों की सूची प्रकाशक की ओर से संग्रह के प्रारंभ में दी गई है। कविताओं में इन शब्दों के प्रयोग-औचित्य और अर्थ-व्याप्ति को देखने-जाँचने से लगता है कि ये शब्द संवेदना को उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त करने के

द्रिमिर, तथा अनेक वर्णबिम्ब—किचकिच, खर्मर खर्मर, चूं चूं चूं चूं चिन चिन कलरव, हिः हिः हिः हूः हूः हूः, त्रा त्रा फिर त्राक् त्राक्, घुट्टुरघुट घुट्टुर घुट्ट, चिह चिह चुह चुहित, इत्यादि मिलते हैं। इस तरह यह 'बाणाम्बरी' सचमुच 'शब्द-तपस्या-कानन' (पृ० २२१) है, जिसमें भाषा की समास शक्ति का अद्भुत प्रकर्ष मिलता है। कुछ स्थलों पर तो यह समास शक्ति हमें आपातरमणीय प्रहेलिकाओं की सामासिकता का स्मरण करा देती है और कहीं श्रुतिपेशल शब्दों की मसृण पदशय्या देखते ही बनती है। कुल मिलाकर 'बाणाम्बरी' में अधिकपदत्व या कथितपदत्व और न्यूनपदत्व—दोनों की प्रचुरता है। कारण, भाषा की जिस समास-शक्ति को प्रदर्शित करने की कवि में आकांक्षा है, उसके लिये अपेक्षित अभिव्यक्ति का अनुशासन वह पूरी मात्रा में अभी अर्जित नहीं कर सका है। इसलिए 'बाणाम्बरी' की भाषा यत्र-तत्र उपरिनिर्दिष्ट आकांक्षा की अति के स्खलनों से मुद्रित है।

कहा जाता है कि प्रबन्धकाव्यों की अवतरणिका विशद होती है, अतः उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य में जीवन और जगत् के अनेक प्रखर सत्यों को विविक्त ढंग से उपस्थित करने वाली कुछ सूक्तियाँ अवश्य रहती हैं। इस दृष्टि से 'बाणाम्बरी' बहुत समृद्ध रचना है और इसमें अनेक सूक्ति-मुक्तायें बिखरी हुई हैं। जैसे—

बहिर्जगत ही नहीं सत्य, कुछ भीतर भी है
मर्मस्थल में प्राण तत्त्व का निर्झर भी है। —पृ० ३।

कर लूं विधु-वक्षालिंगन अन्तर्मन से
आकाश न कुत्सित होता चन्द्रग्रहण से —पृ० १६।

साहित्य काल का दर्पण जिसमें जीवन—
चेतना-तरंगों को करता प्रतिबिम्बित
अनुभूत सत्य के हंसिल हिमशिखरों पर
सौंदर्य-शक्ति होती शाश्वत शिव-चुम्बित। —पृ० १४६।

सच है, सोने में सुगंध होती न कभी भी
मणि-मंडित आँखें परहित रोतीं न कभी भी। —पृ० १६३।

है धर्म वही जो रोके तममय अनाचार
जैसा युग वैसा ही जीवन मंथित विचार। —पृ० २४५।

संसार में वियोग ही संयोग का तप है। —पृ० ३५१।

अन्त में 'बाणाम्बरी' का नामकरण भी विचारनीय है। कवि ने एक दो स्थलों पर इस नाम की सार्थकता को इंगित करने की चेष्टा की है—

चन्द्रिका-लिप्त नैशावसान
दृग-निद्रित बाणाम्बरी-गान —पृ० ३८८।

४६

बाणाम्बरी

डॉ० कुमार विमल

रामावतार अरुण प्रबन्धात्मक प्रतिभा के सुपरिचित कवि हैं। 'बाणाम्बरी' के इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु 'बाणाम्बरी इनकी अद्यावधि कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। इन्हीं की अद्यावधि प्रकाशित कृतियों में क्यों, डॉ० ाथ मिश्र माधव के अनुसार 'आज तक के लिखे गये समस्त खड़ी बोली के बाणाम्बरी' का स्थान श्रेष्ठ है।' अत: 'बाणाम्बरी' निश्चय ही स्वागत- आधुनिक गीति-युग की खड़ी बोली हिन्दी कविता को विगत एक-डेढ़ दशक ाव्यों से भूपित करने में बिहार के कवियों का विशिष्ट स्थान रहा है, और न 'प्रबन्धक' कवियों में अरुण जी कृति-संख्या की दृष्टि से काफी अच्छे हैं। री' बीस सर्गों का एक विस्तृत प्रबन्धकाव्य है, जिसे 'काव्य-संस्कृति का प्रथम महाकाव्य' कहा गया है। बड़े राज-नायकों, वीरों या रूप को छोड़कर यह प्रबन्धकाव्य एक कवि के जीवन और साहित्य को गया है, क्योंकि अरुण जी की दृष्टि में कवि इन सबों से बड़ा है—

कवि तो त्रिकालदर्शी ब्रह्मा, वह परा और अपरा-द्रष्टा
अक्षर-वसुन्धरा पर सस्वर आत्माम्बर का सुन्दर स्रष्टा।—पृ० ३०३।

यही इसकी विलक्षणता है और इसके सारस्वत सांस्कृतिक शील का इतना ही नहीं, कवि के जीवन पर कविता करने के लिये जैसा पुंगव भाप, वैसा कवि अरुण जी में है—यह संदेहों से अतीत है। यों तो, 'हे राम रित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है' की तरह बाण या चरित्र महाकाव्यात्मक गरिमा से स्वयं ही इतना युक्त है कि उस पर 'सहज काव्य लिखा ही जा सकता था, तथापि अरुण जी ने अपनी कृति में उस अलंकरण-स्फीत भाषा और शब्दाडम्बर का निर्वाह किया है, जिनकी प्रगल्भता के लिये बाण का साहित्य अत्यन्त प्रसिद्ध है और जिनकी प्रगल्भता के कारण ही बहुत पहले गोवर्धनाचार्य ने बाण में वाणी के अवतार को देखा था :—

४७

प्राणार्पण

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

'ऊर्मिला' तथा अन्य रचनाओं के सदृश्य, 'नवीन' जी की यह, स्वातन्त्र्य-पूर्वयुग की कृति, स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रकाशित हुई। इस कृति के प्रकाशन-रूप को, अपने स्रष्टा के मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

यह कृति अमर शहीद स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के ज्वलंत आत्मोत्सर्ग पर आधारित है। बुधवार, ता० २५ मार्च, १९३१ ई०[1] को कानपुर में हुए साम्प्रदायिक झगड़े में गणेश जी ने अपनी आत्माहुति दी थी। कवि ने इसी घटना के आधार पर, लगभग १० वर्ष पश्चात्, सन् १९४१ में नैनी के केन्द्रीय कारागृह में, इस रचना की सृष्टि की।[2] यह घटना, कवि के लिए इस वर्ष की धरोहर न होकर, आजीवन-निधि के रूप में विद्यमान रही है :—

इस पागल बलिदानी को भी भूल जायेंगे सब नर-नारी,[3]
पर रक्खूंगा बड़े जतन से मैं इसकी स्मृति-कथा पुरानी ।[4]

सन् १९४१ में लिखित यह कृति सन् १९६२ में प्रकाशित हुई। इस सम्पूर्ण कृति का अत्यल्प काव्यांश ही, इस बीच प्रकाशन के क्षेत्र में आ सका और प्रायः समूचा काव्य पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़ा रहा।

आलोच्य-कृति के मूलांश में पाँच सर्ग अथवा 'आहुतियाँ' थीं, परन्तु प्रकाशन-प्रारूप में चार सर्ग ही हैं। पंचम सर्ग या 'पंचमाहुति' जिसका नाम 'गीतिमाला'

---

१. 'गणेशशंकर विद्यार्थी', आत्मोत्सर्ग, पृष्ठ १०६।

२. (क) यह ग्रन्थ —'प्राणार्पण' लेखक ने अपनी गत जेलयात्रा की अवधि में लिखा है। अभी अप्रकाशित है।'—'वीणा', टिप्पणी, जुलाई, १९४२, पृष्ठ ७७४।
(ख) 'प्राणार्पण' की 'पंचमाहुति', के १९ गीतों में से १२ गीतों का स्थानांकन नैनी है तथा समय के अनुसार, जुलाई-अक्तूबर, १९४१ ई० की अवधि अंकित हुई है।
—'मृत्युधाम' या 'सजन झांझ' के आधार पर।

३. प्राणार्पण, प्रस्तावना, प्रथम गीत, पृ० १—२।

४. वही, पृ० २।

४६

बाणाम्बरी

डॉ० कुमार विमल

रामावतार अरुण प्रबन्धात्मक प्रतिभा के सुपरिचित कवि हैं। 'बाणाम्बरी' के इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु 'बाणाम्बरी इनकी अद्यावधि कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। इन्हीं की अद्यावधि प्रकाशित कृतियों में क्यों, डॉ० ाथ मिश्र माधव के अनुसार 'आज तक के लिखे गये समस्त खड़ी बोली के बाणाम्बरी' का स्थान श्रेष्ठ है।' अतः 'बाणाम्बरी' निश्चय ही स्वागत- आधुनिक गीति-युग की खड़ी बोली हिन्दी कविता को विगत एक-डेढ़ दशक ाव्यों से भूषित करने में बिहार के कवियों का विशिष्ट स्थान रहा है, और न 'प्रबन्धक' कवियों में अरुण जी कृति-संख्या की दृष्टि से काफी अच्छे हैं। री' बीस सर्गों का एक विस्तृत प्रबन्धकाव्य है, जिसे 'काव्य-संस्कृति का प्रथम महाकाव्य' कहा गया है। बड़े राज-नायकों, वीरों या रूप को छोड़कर यह प्रबन्धकाव्य एक कवि के जीवन और साहित्य को गया है, क्योंकि अरुण जी की दृष्टि में कवि इन सबों से बड़ा है—

कवि तो त्रिकालदर्शी ब्रह्मा, वह परा और अपरा-द्रष्टा
अक्षर-वसुन्धरा पर सस्वर आत्माम्बर का सुन्दर स्रष्टा।—पृ० ३०३।

यही इसकी विलक्षणता है और इसके सारस्वत सांस्कृतिक शील का। इतना ही नहीं, कवि के जीवन पर कविता करने के लिये जैसा पुंगव भाव, वैसा कवि अरुण जी में है—यह संदेहों से अतीत है। यों तो, 'हे राम रित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है' की तरह बाण या चरित्र महाकाव्यात्मक गरिमा से स्वयं ही इतना युक्त है कि उस पर 'सहज काव्य लिखा ही जा सकता था, तथापि अरुण जी ने अपनी कृति में उस अलंकरण-स्फीत भाषा और शब्दाडम्बर का निर्वाह किया है, जिनकी प्रगल्भता के लिये बाण का साहित्य अत्यन्त प्रसिद्ध है और जिनकी प्रगल्भता के कारण ही बहुत पहले गोवर्धनाचार्य ने बाण में वाणी के अवतार को देखा था:—

वस्तु-योजना

गणेशजी का बलिदान राष्ट्रीय-संग्राम के इतिहास की चिर स्मरणीय घटना है। इस घटना ने ऐसा ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया था कि वह अपना सानी नहीं रखता। सत्याग्रहियों, राजनीतिज्ञों तथा राष्ट्रभक्तों को नहीं, प्रत्युत 'कविर्मनीषियों' को भी इस घटना ने झकझोर दिया था। उनका मानस आन्दोलित हो उठा था। उसी मंथन का अमृत, यहाँ हमें, 'नवीन' जी की इस कृति के रूप में प्राप्त होता है।

गणेशजी 'नवीन' जी के निर्माता तथा पथ-प्रदर्शक रहे हैं। उन्होंने ही 'नवीन' को गढ़ा, साजा-संवारा और राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी प्रतिमूर्ति बनाकर गतिशील कर दिया। इस वृत्ति से ही नहीं, अपितु पूर्व रूप से ही 'नवीन' जी ने अपने 'अग्रज'[1], 'रक्षक'[2], 'बलिदानी'[3] तथा 'आराध्य'[4] को भाव-सुमन अर्पित करने प्रारम्भ कर दिये थे। 'प्रभा'[5] में प्रकाशित कवि की गणेशजी विषयक रचनाओं ने इस प्रौढ़ तथा सुगठित काव्य-कृति की भूमिका बनाना शुरू कर दिया था। कालांतर में, कवि के भाव-प्रसून, श्रद्धा तथा भक्ति के रसाल में परिवर्तित हो गये जिनके काव्य-रस का आस्वाद इस रचना में लिया जा सकता है।

आलोच्य कृति की कथा-वस्तु का आधार न तो कोई कपोल-कल्पना ही है अथवा निर्जीव स्पन्दन। इसमें तो कवि की जीवन्त अनुभूतियां ही अपनी यथार्थवादिता तथा निष्ठा के साथ मचल कर बिखर पड़ी हैं—'घटनाओं का यह चित्र नहीं, कोई कल्पना उड़ान नहीं, यह कोई कला-विलास नहीं, मेरा स्पन्दन निष्प्राण नहीं, जो-जो देखा है आंखों से, जो-जो झेला है इस तन पर, जो-जो भोगा है जीवन में, जो-जो बीती है इस मन पर, उसका यह किंचिन्मात्र यहां छोटा-सा दिग्दर्शन भर है, ये हैं मेरे पूजा-प्रसून, मेरी श्रद्धा का निर्झर है।'[6]

'नवीन' भी सन्त कबीरदास के समान, 'तू कहे कागद की देखी, मैं कहूँ आंखिन की देखी', अपनी प्रत्यक्ष दर्शी घटनाओं के आरोहावरोह को काव्य के तन्तुओं के रूप में परिणत करते हैं :—

'अपने अभिशप्त दृगों से हैं देखी मैंने वे घटनाएं,
देखी हैं इन आंखों से वे अति घोर राक्षसी रचनाएं।

---

१. 'तेरा अनुज बता देने से तुझे सिखाये यों फंसना ?'—'कुकुंम', पृष्ठ २।
२. 'तेरे वरद हस्त छाए हैं, अब भी मेरे मस्तक पर।'—'कुकुंम', पृष्ठ २
३. 'बलिदानी, बलिदान प्रथाएं सिखलाऊं तुझको क्यों कर ?'—'कुकुंम', पृष्ठ २।
४. 'आंसुओं को कठिनता से रोकते जप रहे जो नाम तेरा ही सदा वे बने उन्मत्त से जो फिर रहे खिन्न उठेंगे देख अपने ढीठ को।'—'प्रभा', अप्रैल, १९२३, पृष्ठ ३१९।
५. (क) 'प्रभा', आगमन की चाह, अप्रैल, १९२३, पृष्ठ ३१९, (ख) 'प्रभा' जाने पर, अप्रैल, १९२३, पृष्ठ ३२१।
६. 'प्राणार्पण', अथ श्री प्रथम आहुति, छन्द १।

घटनायें चित्रों को उपस्थित करने का माध्यम भर हैं। और, बाण के ये चित्र भी अलंकरणप्रचुर भाषा की मणिकुट्टिम पदशय्या से इतने भाराक्रान्त हैं कि कीथ महोदय को बाण की इस दारुण प्रगल्भ शैली पर लिखते समय घने जंगल का रूपक खड़ा करना पड़ा था।[1] 'अरुण जी के इस काव्य में भी चित्रों की उपरिनिर्दिष्ट प्रगल्भता है, जिससे 'बाणाम्बरी' का प्रत्येक सर्ग खचाखच भरा हुआ है और इसमें कुछ वैसे शब्द भी हैं, जिन्हें लक्ष्य कर कीथ को इतना कहना पड़ा था। जैसे—अंघ्रिप अन्तश्छद, ग्रामेयक, आटविक, क्रिकटास, पंचतितिक भास्वती, पर्यापियों, आन्दन पतवार, ओपश, अहीन, चक्रोचित, नैचिकी, इत्यादि। निश्चय ही, ऐसे शब्द हमें 'बाणाम्बरी' की प्रभविष्णु भाषा के बीच ऊंटपीठा शब्दशय्या की तरह मिलते हैं। फिर भी 'बाणाम्बरी' की भाषा-शैली की सफलता इसी से प्रमाणित है कि इसमें अरुण जी ने बाण द्वारा निर्दिष्ट 'दुष्करम्'—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽश्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥

को भी 'सुकर' बना दिया है।

प्रस्तुत कृति में अरुण जी ने 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' का विशेष ढंग से उल्लेख किया है तथा इनके कथा-सार का बहुत ही काव्यात्मक वर्णन उपस्थित किया है। यद्यपि इसके अतिरिक्त समावेश से प्रबन्धकाव्य की कथायष्टि का अंग-संघटन कुछ अनगढ़ हो गया है। इन्हीं दो कृतियों के कारण बाणभट्ट संस्कृत गद्यकारों में असाधारण हो गये हैं। दण्डी और सुबन्धु के बाद इन्होंने संस्कृत गद्य को एक नई दिशा दे दी, जिससे परवर्ती गद्य-कृतियाँ—शिवराज विजय, प्रबन्धमंजरी, इत्यादि भूरिशः प्रभावित हुईं। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक काव्य लिखने में भी बाणभट्ट ने वाक्पतिराज, पद्मगुप्त, बिल्हण और कल्हण के लिये भी मार्ग-दर्शक आकाशदीप का काम किया। उपर्युक्त दो प्रसिद्ध कृतियों के अलावे बाणभट्ट की कुछ और भी रचनायें गिनाई जाती हैं—चण्डीशतक, पार्वती-परिणय और मुकुटताड़ितक जिनकी प्राप्ति और प्रामाणिकता सर्वथा संदिग्ध हैं। प्रस्तुत कृति में अरुण जी ने यद्यपि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'हर्षचरित : एक अध्ययन' और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रति विस्तृत आभार प्रदर्शित किया है, तथापि काव्य में वर्णित बाण के प्रमुख जीवनवृत्तों और घटनाओं का आधार 'हर्षचरित' के वे प्रारम्भिक तीन उच्छ्वास ही हैं, जिनमें बाण ने लगभग अपनी आत्मकथा लिखी है। 'कादम्बरी' के प्रारम्भ में भी इन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। इन सभी आधारों पर बाण का जीवन-वृत्त कुछ इस प्रकार निरूपित होता है—बाण की

1. "Ban's prose is an Indian wood where progress is impossible through the undergrowth until the traveller cuts out a path for himself, and where even then he is confronted by malicious wild beasts in the shape of unknown words to terrify him."

अपने सामर्थ्य पर त्रस्त, भीतिग्रस्त, मृत्युमुख में पड़े हुए हिन्दू-मुसलमानों को उबारने का भार अपने ऊपर ले ले। कानपुर के बंगाली मोहाल नामक क्षेत्र में प्रायः दो सौ मुस्लिम नर-नारी घिरे पड़े थे। रात में कुछ मार डाले गए थे। ये बचे हुए डेढ़ सौ, दो सौ लोग उस रात को मारे जाने वाले थे। गणेश शंकर बिना खाये-पिये प्रातः घर से निकल गए। बंगाली मोहाल पहुँचे। वहाँ के आक्रान्तक हिन्दू गणेश शंकर को देखकर सहम गए। गणेश शंकर ने वहाँ के घिरे हुए मुसलमान नारी-नर बालकों को निकाला और उन्हें मुसलमान मोहल्लों में पहुँचाया। गणेश शंकर को हृदय से आशीस देते हुए ये भयग्रस्त लोग सुरक्षित स्थान पर पहुँच गए।

इतने में गणेशजी को समाचार मिला कि कोई सौ दो सौ हिन्दू कानपुर के चौबे गोला नामक मुस्लिम मोहल्ले में मौत की बाट जोह रहे हैं। बंगाली मोहाल से सीधे वे चौबे गोला चल दिये। चौबे गोला तथा उसके आस-पास के क्षेत्र मुस्लिम क्षेत्र थे। वहाँ किसी हिन्दू को जाने का साहस नहीं पड़ सकता था। हिन्दू को देखते ही छुरियाँ चमक उठतीं और वह ढेर कर दिया जाता। यह स्थिति थी। पर गणेश शंकर चल पड़े।

वहाँ जाने का मार्ग चौक बजाजे से होकर था। यह हिन्दू क्षेत्र था। जब गणेशजी चौक पहुँचे तो हिन्दुओं ने उन्हें घेर लिया। "नहीं जाने देंगे आपको, गणेशजी"! गणेशजी बोले, "भाइयो, वहां प्रायः दो सौ हिन्दू स्त्री-बच्चे घिरे पड़े हैं। रात होते ही वे समाप्त कर दिये जायेंगे। मैं उन्हें निकालने जा रहा हूँ। लोग बोले, नहीं गणेश जी हम नहीं जाने देंगे।" पर, वे झगड़ कर आगे बढ़े। लोग चिल्लाए, "क्यों जा रहे हो गणेशजी ?" गणेशजी ने उत्तर दिया "मरने के लिये। तुम भी चलोगे ?" और यों कहते हुए वे आगे बढ़ गए। हां, इतने आगे बढ़ गए कि उत्तर प्रदेश आज तक उनके आने की बाट जोह रहा है।

चौक से चलकर वे उस मुस्लिम क्षेत्र में पहुँचे। उनके साथ एक हिन्दू और एक मुसलमान स्वयंसेवक था। वे एक दो मोटर लारियाँ, घिरे हुओं को लिवा लाने के लिए लेते गए थे। वहाँ जो पहुँचे तो वहाँ के बड़े-बूढ़े मुसलमानों ने उनके माथे चूमे। बंगाली मोहाल में जो उन्होंने किया था, उसका समाचार वहाँ फैल चुका था। लोग बोले "गणेशजी, आप इंसान नहीं, आप फरिश्ते हैं।" गणेशजी ने हिन्दू स्त्री बच्चों और पुरुषों को निकाला। लारियां भर गईं। इतने में पास के एक अन्य मुस्लिम मोहल्ले से "अल्लाहो अकबर" के नारे लगाता हुआ और "मारो मारो" का घोष करता हुआ एक उन्मत्त दल आता दिखाई दिया। गणेशजी बोले, "तुम लारियाँ ले जाओ, मैं इन्हें रोकता हूँ।"

लारियाँ चल दीं। इतने में एक मुस्लिम युवक दौड़ा आया। वह गणेशजी से बोला, "विद्यार्थीजी, आप भागिए। वे लोग अभी कुछ दूर हैं। आप अपनी जान बचाइये। वे लोग पागल हैं। आप को मार देंगे।" यों कहकर, वह गणेशजी को

किन्तु, बाद में प्रसन्न होकर हर्ष ने इन्हें 'वश्यवाणी कविचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया। यह भी प्रसिद्धि है कि 'कादम्बरी' के समाप्त होने के पूर्व ही बाण की मृत्यु हो गई। तब 'कादम्बरी' की समाप्ति बाण के पुत्र ने की। बाण के पुत्र के नाम के विषय में अब तक कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है। डॉ० ब्हूलर इत्यादि ने बाण के पुत्र का नाम भूषण बाण माना है, जिसे कुछ लोग भूषण भट्ट कहते हैं। एस० आर० भण्डारकर की रिपोर्ट के अनुसार 'कादम्बरी' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में कवि-पुत्र का नाम पुलिन्द अथवा पुलिन भी मिलता है। अरुण जी ने कवि-पुत्र का नाम भूषणभट्ट माना है—

द्वय पुत्र तरुण नित छन्दायित
पैतृक प्रतिभा आश्चर्य-चकित
'भूषण' में शास्त्रोचित प्रवाह
उद्भासित उर-उच्छ्रल उछाह।—पृ० ३२७।

इस तरह 'बाणाम्बरी' की कथा-यष्टि प्रधानतः बाण के प्रसिद्ध जीवनवृत्त के आधार पर ही रची गई है। किन्तु, इस जीवन-कथा में जीवन्त प्राण भरने के लिये कवि ने अपनी द्रवित कल्पना से जीव-शैवाल का काम लिया है। विशेषकर कल्पक कवि ने बाण की अंघबधू वेणी और उसकी बौद्धिक कला-प्रेरिका रेखा के नन्दतिक काव्यात्मक अंकन में जिस आलिम्पन कौशल से काम लिया है, वह प्रशंसनीय है। रेखा को उसने स्थूल शारीरिकता और उत्तान शृंगार की ऊष्मा से ऊपर रखकर उस अतीन्द्रिय सौंदर्य की ऐन्द्रिय सृष्टि की है, जिससे प्रायः श्रेष्ठ कला का स्रोत शतधा सहस्रमुख होकर प्रवाहित हुआ करता है।

उर्वशी-सदृश उत्फुल्ल वदन
पुलकांग-अंग ज्यों पुष्पित वन
मन झनन-झनन
झरते वसन्त-तन-मदन-सुमन
प्राणों में गुंजन ही गुंजन
स्वर सनन सनन
कल्पना-कामिनी-तनु-कदम्ब
गति-तालबद्ध कटि, पट, नितम्ब
भुज में तरंग
रुनझुन-रुनझुन-रुनझुन नूपुर
उर्मिल-उर्मिल-उर्मिल नव उर
सुर-स्वर अभंग
दृग में इन्द्रासन, देव-सभा

जिसमें प्रासांगिक कथाओं के सूत्र अधिकाधिक कथा को बढ़ाने में सहायक हो सकें। अतः महाकाव्य में कथा के अविच्छिन्न प्रवाह के लिये सर्गों का बंधन नितांत आवश्यक हो जाता है। किन्तु खण्ड-काव्य के लिए यह नियम अनिवार्य नहीं। उसकी कथा सर्गों में होकर भी गूंथी जा सकती है और उसके बिना भी उसका प्रणयन हो सकता है क्योंकि जीवन जिस विच्छिन्न अंश को अथवा घटना को लेकर कवि चलता है, उसमें विस्तार का क्षेत्र बहुत छोटा होता था। फलतः खण्ड-काव्य में कथा की धारा आद्यन्त एक रस भी चल सकती है और सर्गों में बंधकर भी।[1]

'नीवन' जी ने सुविधा तथा उचित प्रस्तुतीकरण के दृष्टिकोण से, 'प्राणार्पण' का, सर्गों में विभाजन किया है। प्रस्तावना तथा प्रथम सर्ग में काव्य की पृष्ठभूमि अंकित है। द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में, तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति, राष्ट्रीय-भावना, महात्मा गान्धी के सत्याग्रह आंदोलन तक का उत्कर्ष स्वाधीनता प्रतिज्ञा-पत्र, गांधी-इरविन समझौता, भगतसिंह को प्राणदण्ड, गृह-युद्ध, जन-जागृति, साम्प्रदायिक झगड़ों का श्रीगणेश आदि का चित्रण किया गया है। इस प्रकार प्रथम दो सर्ग भूमिका निर्माण में जुटाए गए हैं। जहां प्रथम सर्ग में तत्कालीन परिस्थितियों का भाव पूरक एवं उत्तेजना प्रधान वर्णन है, वहां द्वितीय सर्ग में वस्तु-परक एवं राजनैतिक राष्ट्रवाद विषयक चित्रण है।

काव्य-कथा का वास्तविक अंश दिनांक २४ तथा २५ मार्च, १९३१ ई० से सम्बन्ध रखता है और वह तृतीय सर्ग से प्रारंभ होता है। तृतीय सर्ग में गणेशजी के २४ मार्च की स्थिति का वर्णन है। वे श्लथ तथा चिंतित हैं। रात्रिभर वे विचार-विमर्श करते हैं। कवि ने इसी विचार-वीथिका में हिंसा-अहिंसा, आंग्ल-शासन की उदासीनता, विदेशियों के प्रति अपना आक्रोश आदि के दृश्यांकन किये हैं। गणेशजी दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाते हैं। जन-जन की पीड़ा-मुक्ति के लिए वे कटिबद्ध हो जाते हैं। रात्रि, ऊषा में परिणत हो जाती है। चतुर्थ सर्ग में गणेशजी की जन-सेवा, वीर-भावना तथा आत्मोत्सर्ग का चित्रण है।

प्रबन्धात्मकता तथा कथा-प्रवाह के दृष्टिकोण से इस कृति का चतुर्थ सर्ग ही महत्त्वपूर्ण है जो सबसे अधिक सक्रिय तथा दीर्घ है। प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में कथा का प्रायः अभाव ही है और तृतीय सर्ग में कथानक की क्षीण रेखाएं ही आ पाई हैं। चतुर्थ सर्ग में, कथानक का उत्कर्ष, सघनता, क्रियाशीलता तथा समाप्ति, सभी कुछ ही, आकर एकत्रित हो जाते हैं।

कवि की गीतात्मिका-वृत्ति तथा उससे बढ़कर विचार मंथन के उपकरणों से प्रबन्धात्मकता पर आघात पहुँचा है। कवि का दृष्टिकोण भी, इसे घटना-पटल काव्य बनाने का नहीं प्रतीत होता। कवि की श्रद्धा का निर्झर होने के कारण, जहां इसमें

१. 'डॉ० शकुन्तला दुबे—'काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास', खण्ड-काव्य का स्वरूप, पृष्ठ १४६-१४७।

किन्तु, बाद में प्रसन्न होकर हर्ष ने इन्हें 'वश्यवाणी कविचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया। यह भी प्रसिद्धि है कि 'कादम्बरी' के समाप्त होने के पूर्व ही बाण की मृत्यु हो गई। तब 'कादम्बरी' की समाप्ति बाण के पुत्र ने की। बाण के पुत्र के नाम के विषय में अब तक कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है। डॉ० व्हुलर इत्यादि ने बाण के पुत्र का नाम भूषण बाण माना है, जिसे कुछ लोग भूषण भट्ट कहते हैं। एस० आर० भण्डारकर की रिपोर्ट के अनुसार 'कादम्बरी' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में कवि-पुत्र का नाम पुलिन्द अथवा पुलिन भी मिलता है। अरुण जी ने कवि-पुत्र का नाम भूषणभट्ट माना है—

द्वय पुत्र तरुण नित छन्दायित
पैतृक प्रतिभा आश्चर्य-चकित
'भूषण' में शास्त्रोचित प्रवाह
उद्भासित उर-उच्छल उछाह। —पृ० ३२७।

इस तरह 'बाणाम्बरी' की कथा-यष्टि प्रधानतः बाण के प्रसिद्ध जीवनवृत्त के आधार पर ही रची गई है। किन्तु, इस जीवन-कथा में जीवन्त प्राण भरने के लिये कवि ने अपनी द्रवित कल्पना से जीव-शैवाल का काम लिया है। विशेषकर कल्पक कवि ने बाण की अंधबधू बेणी और उसकी बौद्धिक कला-प्रेरिका रेखा के नन्दतिक काव्यात्मक अंकन में जिस आलिम्पन कौशल से काम लिया है, वह प्रशंसनीय है। रेखा को उसने स्थूल शारीरिकता और उत्तान शृंगार की ऊष्मा से ऊपर रखकर उस अतीन्द्रिय सौंदर्य की ऐन्द्रिय सृष्टि की है, जिससे प्रायः श्रेष्ठ कला का स्रोत शतधा सहस्रमुख होकर प्रवाहित हुआ करता है।

उर्वशी-सदृश उत्फुल्ल वदन
पुलकांग-अंग ज्यों पुष्पित वन
मन झनन-झनन
झरते वसन्त-तन-मदन-सुमन
प्राणों में गुंजन ही गुंजन
स्वर सनन सनन
कल्पना-कामिनी-तनु-कदम्ब
गति-तालबद्ध कटि, पट, नितम्ब
भुज में तरंग
रुनझुन-रुनझुन-रुनझुन नूपुर
उर्मिल-उर्मिल-उर्मिल नव उर
सुर-स्वर अभंग
दृग में इन्द्रासन, देव-सभा

जिसमें प्रासंगिक कथाओं के सूत्र अधिकाधिक कथा को बढ़ाने में सहायक हो सकें। अतः महाकाव्य में कथा के अविच्छिन्न प्रवाह के लिये सर्गों का बंधन नितांत आवश्यक हो जाता है। किन्तु खण्ड-काव्य के लिए यह नियम अनिवार्य नहीं। उसकी कथा सर्गों में होकर भी गूंथी जा सकती है और उसके बिना भी उसका प्रणयन हो सकता है क्योंकि जीवन जिस विच्छिन्न अंश को अथवा घटना को लेकर कवि चलता है, उसमें विस्तार का क्षेत्र बहुत छोटा होता था। फलतः खण्ड-काव्य में कथा की धारा आद्यन्त एक रस भी चल सकती है और सर्गों में बंधकर भी।[1]

'नीवन' जी ने सुविधा तथा उचित प्रस्तुतीकरण के दृष्टिकोण से, 'प्राणार्पण' का, सर्गों में विभाजन किया है। प्रस्तावना तथा प्रथम सर्ग में काव्य की पृष्ठभूमि अंकित है। द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में, तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति, राष्ट्रीय-भावना, महात्मा गान्धी के सत्याग्रह आंदोलन तक का उत्कर्ष स्वाधीनता प्रतिज्ञा-पत्र, गांधी-इरविन समझौता, भगतसिंह को प्राणदण्ड, गृह-युद्ध, जन-जागृति, साम्प्रदायिक झगड़ों का श्रीगणेश आदि का चित्रण किया गया है। इस प्रकार प्रथम दो सर्ग भूमिका निर्माण में जुटाए गए हैं। जहाँ प्रथम सर्ग में तत्कालीन परिस्थितियों का भाव पूरक एवं उत्तेजना प्रधान वर्णन है, वहाँ द्वितीय सर्ग में वस्तु-परक एवं राजनैतिक राष्ट्रवाद विषयक चित्रण है।

काव्य-कथा का वास्तविक अंश दिनांक २४ तथा २५ मार्च, १९३१ ई० से सम्बन्ध रखता है और वह तृतीय सर्ग से प्रारंभ होता है। तृतीय सर्ग में गणेशजी के २४ मार्च की स्थिति का वर्णन है। वे श्लथ तथा चिंतित हैं। रात्रिभर वे विचार-विमर्श करते हैं। कवि ने इसी विचार-वीथिका में हिंसा-अहिंसा, आंग्ल-शासन की उदासीनता, विदेशियों के प्रति अपना आक्रोश आदि के दृश्यांकन किये हैं। गणेशजी दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाते हैं। जन-जन की पीड़ा-मुक्ति के लिए वे कटिबद्ध हो जाते हैं। रात्रि, ऊषा में परिणत हो जाती है। चतुर्थ सर्ग में गणेशजी की जन-सेवा, वीर-भावना तथा आत्मोत्सर्ग का चित्रण है।

प्रबन्धात्मकता तथा कथा-प्रवाह के दृष्टिकोण से इस कृति का चतुर्थ सर्ग ही महत्त्वपूर्ण है जो सबसे अधिक सक्रिय तथा दीर्घ है। प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में कथा का प्रायः अभाव ही है और तृतीय सर्ग में कथानक की क्षीण रेखाएं ही आ पाई हैं। चतुर्थ सर्ग में, कथानक का उत्कर्ष, सघनता, क्रियाशीलता तथा समाप्ति, सभी कुछ ही, आकर एकत्रित हो जाते हैं।

कवि की गीतात्मिका-वृत्ति तथा उससे बढ़कर विचार मंथन के उपकरणों से प्रबन्धात्मकता पर आघात पहुँचा है। कवि का दृष्टिकोण भी, इसे घटना-पटल काव्य बनाने का नहीं प्रतीत होता। कवि की श्रद्धा का निर्झर होने के कारण, जहां इसमें

१. 'डॉ० शकुन्तला दुबे—'काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास', खण्ड-काव्य का

या

शापित सुन्दरता की मुकुलित क्यारी हूँ

... ...

अंधी हूँ पर यौवनवाली नारी हूँ। —पृ० २९।

या

... ...

अंधी हूँ, फिर भी नारी हूँ
कुछ भी हूँ नहीं परन्तु एक
यौवन की जीवित क्यारी हूँ। —पृ० ९६।

या

नयनों से ही तो नहीं बनी है नारी
कुछ और लिये आई अबला बेचारी।

और, अंधेपन का पक्ष धारण करने वाला वेणी का सर्वाधिक समर्थ तर्क तो यह है—

वस्तुएं स्पर्श से भी पहचानी जातीं
सुन-सुनकर भी स्वर्णाभा जानी जाती।
निःश्वास गंध से भी तो अनुभव होता
केवल लोचन ही नहीं ज्ञान को ढोता। —पृ० ३१।

इस तरह 'बाणाम्बरी' के पात्र-निवेश में ये दो नारियाँ सुरुचिपूर्ण कल्पना से संवारी गईं अभिराम कलंगियाँ हैं। अरुण जी बाण के प्रसिद्ध जीवन-वृत्त के साथ योजित अपनी एतादृश क्षेपक कल्पना के प्रति सचेत हैं, क्योंकि इन्होंने 'सत्य और स्वप्न' शीर्षक प्राक्कथन में 'बाणाम्बरी' के इस पक्ष पर पर्याप्त विचार किया है। ललित गद्य में अपने काव्य के मुख्य प्रयोजन का अनावरण करते हुए इन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे यह ध्वनित होता है कि द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की अपूर्णता का यह काव्य-ग्रन्थ पूरक है। और, इस 'पूरण' का श्रेय है अरुण जी की उस कल्पना को, जो 'इतिहास की शरत् शालिका पर खड़ी होकर अपने अतृप्त मुख में चन्द्र-प्रवेश का स्वर्गीय स्वप्न' देख सकी है। इस तरह 'बाणाम्बरी' की 'ऐतिहासिक कल्पना' अनन्वय है, जिसमें 'फैंसी' का विनियोग अत्यधिक है। आधुनिक प्रबन्धकाव्य, प्रायः कल्पना, चिन्तन, अनुभूति और विवृति (नैरेशन) के तत्वों से परिपूर्ण रहते हैं। 'बाणाम्बरी' में चिन्तनपक्ष का किंचित् अभाव तथा कल्पना और विवृति की प्रधानता है। अतः हम 'बाणाम्बरी' को गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'नूरजहाँ' जैसे विवृति-प्रधान प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा में रख सकते हैं।

'बाणाम्बरी' का कला-पक्ष भी कुछ दृष्टियों से विचारणीय है। पहली बात यह है कि अरुण जी की भाषा में अर्थ-विरलता अधिक है। शायद, इसके द्वारा इन्होंने

या कि नर हिय की विशुद्ध नारायणी लीला,
लहराती मस्त होके, उस व्रत चारी में।"[1]

२४ मार्च, १९३१ को दिन भर के थके हारे गणेश जी रात्रि से, खाट पर पड़ रहे और मानवता के उस पुजारी के समक्ष नृशंस हत्या तथा साम्प्रदायिक विद्वेष के सब काण्ड नृत्य करने लगे :—

"घर आकर पड़ रहे खाट पर श्री गणेश जी शिथिल चरण,
सजल नयन, जर्जर हृत, उन्मन, म्लान वदन, अति मूक वचन,
एक-एक सब काण्ड दिवस के आये नयनों के आगे,
वैसे जब उन्माद-ग्रस्त से फिरते वे भागे-भागे,
लूटपाट की, मार काट की, सदन पहन की सब क्रीड़ा,
घूम गयी आंखों के आगे, बढ़ी और हिय की पीड़ा।"[2]

चिन्तक तथा पीड़ित गणेश जी विचार करते हैं :—

"हिन्दू-मुस्लिम क्यों लड़ते हैं? उनको क्या मिल जाता है? आपस में हत्याएं करना, उनको क्यों यह भाता है? भारत देश जगन्नायक की है अप्रतिम प्रयोगशाला, पृथिवी भर के सब धर्मों का फैल रहा यां उजियाला, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, पारसी, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, भारत में हैं सभी कर्म के एकत्रित, प्रतिनिधि भाई।"[3]

अन्ततोगत्वा निश्चयी गणेश जी इस निष्कर्ष पर आ जाते हैं :—

"जीवन और मरण की उलझन मन में अगर न सुलझ सके तो भी निज कर्तव्य कर्म में क्यों हिय हारे, बुझे, थके? महामृत्यु का आलिंगन हो यदि स्वधर्मव्रत पालन में, तो भी क्यों झिझकूं निज पथ पर अपने पद-परिचालन में? यदि केवल भौतिकता की ही क्रीड़ा है यह महामरण, तब भी तो जड़ तत्त्वों का ही होगा केवल पृथक्करण।"[4]

२५ मार्च, १९३१ के सुबह ही यह अहिंसा का पुजारी बलिदान के मार्ग पर चल पड़ा। लोगों के अनर्गल बकने पर भी, उसकी हानि की चिन्ता न कर, वे अपने असि-पथ पर अडिग रहे। उन्होंने हिन्दू बस्ती से मुसलमान नर-नारी और बालकों को उठाकर उबारा। दोपहर हो गई। गणेश जी का मुख कुम्हला गया। एक वृद्धा ने जल पीने का आग्रह किया, तो उन्होंने उत्तर दिया :—

"माता इस हत्यारे मुहल्ले में क्या पिऊं जल,
छूऊंगा न प्राण रहते मैं जल चुल्लू भर।"[5]

---

१. 'प्राणार्पण', पृ० ४२, छंद २२।
२. वही, पृ० २२, छंद १३।
३. वही, पृ० २५, छंद २४।
४. वही, पृ० ३०, छंद ४६।
५. वही, पृ० ३८, छंद १९।

भूपित वलि-सम्मुख वामन-पग-विस्तार प्रखर
... ... —पृ० ३३२ ।

भाषा की दृष्टि से द्वादश सर्ग, जिसमें 'हर्षचरित' की रचना-कथा कही गई है, बहुत ही प्रभविष्णु है। उदाहरण के लिये शिल्पित भाषा की अमोघ शक्ति से मंडित ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

रक्ताभ नयन में भद्र भाव का विप्र-यमक ।

या

बीती घुघुआती-सी अटपटी अलर्क निशा

या

आई न कभी ऐसी अरालकेशी विपदा

या

चन्दन-मन में चम्पई रात अस्तमिता ।

कवि ने भाषा-सौष्ठव के आधान के लिए विशेषण-विच्छित्तियों और ध्वन्यर्थक शब्दों के प्रयोग पर विशेष बल दिया है। विशेषण-विच्छित्तियाँ तो सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं, फलस्वरूप, नये-नये विशेषणों को गढ़ने में कवि ने अपनी प्रतिभा का मुक्त व्यय किया है। जैसे—मर्मरित, जामुनी, भृंगिल, चन्द्रिल, ब्रह्मिल, श्वासिल, कंठिल, व्यामिल, घनिल, शशिवर्णा, शब्दगंधा, ओजस्वित, नीरित, टपकित, तिमिरित, रश्मिल, हरश्रृंगारित, कूकित, रसित, प्रीतित, निशीथित, रत्निल, टिकोलित, लिपित, तिरित, अनिलित, मृदंगायित, दर्पणित, मणित, दंभित, लोभित, शिशिरित, श्वेदित, घिरित, अभियानित, चन्द्रीय, उत्सवित, ज्वारित, तांडवित, नारीय, गगनीय, कणित, खिलित, वेगित, उत्सर्गित, क्रन्दित, इत्यादि। किन्तु कुछ स्थलों पर विशेषणों को गढ़ने की अनावश्यक प्रवृत्ति मिलती है, जहाँ विशेषणों को फिर से विशेषण बनाने का प्रयास किया गया है। जैसे—शीतलित, अल्पित, उत्सुकित, अलसित, वीरित, इत्यादि। इस तरह 'बाणाम्बरी' में अनेक ऐसे विशेषण हैं, जो अच्छी तरह व्याकरण-समर्थित नहीं माने जा सकते हैं। ऐसे लचर विशेषणों के अलावा इसमें 'कुलकुलित', 'फुरफुरित', 'कड़कड़ित' जैसे शब्द भी प्रयुक्त हैं, जिन्हें हम विशेषण-लौल्य ही कह सकते हैं। भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से विशेषणों के बाद ध्वनि-बिम्बों, ध्वन्यर्थक शब्दों, श्रावण बिम्बों और वर्ण बिम्बों की बारी आती है। कवि ने बहुत ही बारीक सौंदर्य-चेतना और दीक्षित श्रवण से ऐसी ध्वन्यर्थताओं और वर्णबिम्बों को उपस्थित करने की चेष्टा की है, जिनके अन्तर्गत अनेक 'सोनिक वर्ड' (sonic word)—झरर-झरर झर-झरित, रणरणित, अनेक ध्वन्यर्थ चित्रण—झकझिझक झाल, टिनिक टुनुक, झिर्र-झिर्र, झर्मर-झर्मर, ढिमि ढिमिमि ढिमिक ढिमि-ढिमिकि ढिमिकि, द्रिम द्रिमिर

इस प्रकार गणेश जी ने प्राणोत्सर्ग का अभूतपूर्व दृष्टांत प्रस्तुत किया। दुनिया के इतिहास में यह घटना विरल है :—

"विरले हैं मानवेतिहास में प्रयाण ऐसे,
उदाहरण कहां हैं ऐसे दिखलाओ तो ?
× × ×
कर लो शताब्दियों का इतिहास-मंथन औ,
हमें दस बीस नाम ऐसे बतलाओ तो।"[1]

गणेश जी के बलिदान का महत्व विशिष्ट एवं अनूठा है। कवि ने इस आत्मोत्सर्ग को ईसा और दधीचि के आत्म-त्याग से भी, एक दृष्टि से, श्रेयस्कर बताया है :—

"ईसा औ' दधीचि तुंग गिरि-शिखरों पै चढ़,
देते हैं सन्देश नये जग-जन-गण को,
इन ऋषि कल्प, देव कल्प आर्य मुनियों ने,
उर्ध्व बाहु होके ललकारा है मरण को।
पर ये थे साधारण जनगण से बहुत भिन्न,
इनने तो सिद्ध किया ईशावतरण को।
किन्तु श्री गणेश जन-पंक्ति में प्रतिष्ठित हो,
करने चले हैं सिद्ध मानवाचरण को।"[2]

इस प्रकार 'नवीन' जी के चरित्र नायक में, महिमामय बलिदान, कर्तव्य-परायणता, महान् संकल्प-वृत्ति, साहसिकता, सात्विकता, मानवता के प्रति निष्ठा, अहिंसा-प्रेम' साम्यवादिता तथा समन्वयवादिता के वन्दनीय गुण प्राप्त होते हैं।

युग-चेतना

आधुनिक युग की राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की, इस काव्य में, सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टिकोण से, इस काव्य का 'नवीन' साहित्य में सर्वथा पृथक् एवं अनुपमेय स्थान है।

प्रथमतः, काव्य-कथा का सम्बन्ध ही आधुनिक युग से है। गणेश जी का व्यक्तित्व राष्ट्रीय-आंदोलन के इतिहास में प्रतिष्ठित तथा ख्याति प्राप्त रहा है। वे उत्तर प्रदेश के अग्रणी नेताओं में से थे।

'नवीन' जी ने सन् १९३०-३१ की राष्ट्रीय-चेतना को इस काव्य में वाणी प्रदान की है। इस कालावधि की घटनाओं के लिए ही द्वितीय सर्ग का निर्माण किया

१. 'प्राणार्पण' पृ० ४४, छंद ३८।
२. वही, पृ० ४४, छंद ३७।

या

मैं सोम-सिक्त अम्बरित बाण —पृ० ४०० ।

किन्तु, बात बहुत खुल नहीं सकी है। लगता है, 'कादम्बरी' की 'फॉल्स एनालाजी' पर ही 'बाणाम्बरी' का नामकरण हुआ है अथवा आधुनिक हिन्दी काव्य में चिदम्बरा, 'ऋतंबरा,' 'रूपाम्बरा' इत्यादि के नाम से जिन 'अम्बराओं' की सृष्टि हुई है, उन्हीं के किंचित् परिवर्तित अनुकरण पर यह 'बाणाम्बरी' अवतरित है।

सन् १९३० में सत्याग्रह आन्दोलन का नूतन अध्याय प्रारम्भ होता है। गांधी जी ने इस मृत देश में नवल प्राणों का संचार किया था :—

"दिन लुढ़कते गये एक-एक, आया उन्नीस सौ तीस वर्ष,
भारत के हिय में फिर उमड़ा नव नवोल्लास, बलिदान-हर्ष,
गांधी का शंख-निनाद हुआ, फिर चले देश के नौजवान,
सर पर बांधे बलिदान कफ़न, हिय में ले अच्युत स्वाभिमान।"[1]

कवि ने विश्ववंद्य बापू का प्रशस्ति-गायन किया है :—

"इस खड्गधार पथगामी ने क्या-क्या न हमें वरदान दिये।
हम निर्बलों की खातिर इसने कितने-कितने विष-पान किये !
जब भू लुण्ठित था, विवश, दीन, घनघोर तिमिर-आक्रान्त देश,
तब इसी लंगोटी वाले ने अपना दीपक प्रज्वलित किया,
अपनी नव-पथ रेखा खींची, जन-गण-चरणों को चलित किया।"[2]

जन-जागरण तथा रौरव की उत्ताल तरंगों से समूचा भारत खलबला उठा :—

"अंजलि भर सैन्धव के पीछे लहराया भारत महासिन्धु,
उत्ताल तरंगें उठीं, हुआ जब समुदित गांधी पूर्ण इन्दु,
पंजाब हिला, बंगाल हिला, उठ धाया सूबा हिन्द बली,
भारत की कीर्ति श्री चमकी जब गुर्जर कामिनियां निकलीं।
विश्वास जगा, हिय प्रेम पगा, उत्साह-समाया अंतर-तर,
ज्यों-ज्यों डांडी की ओर बढ़े गांधी के चरण धीर, भयहर।"[3]

स्वतन्त्रता प्राप्ति की दृढ़ प्रतिज्ञा तथा गांधी जी की डांडी यात्रा ने भारत में नई स्फूर्ति फैला दी :—

'इकतीस दिसम्बर, मध्य रात्रि, रावी का तट, लाहौर नगर,
था उन्नीस सौ उन्तीस वर्ष, जागा नव मंगल भाव भ्रमर,
घोषणा हुई, है ध्येय अटल, भारत-स्वतन्त्रता पूर्ण, शुद्ध,
भारत के नर-नारी मिल कर उसको पाने को करें युद्ध।
फिर क्या था, कुछ मासोपरान्त डांडी की ओर चला गांधी,
भारत में नयी स्फूर्ति फैली, दशदिशि से उठ आयी आंधी।"[4]

गांधी जी के नमक सत्याग्रह से जनगण के भावोद्दीप्त हो गये। नौकरशाही भी आतंकित हो गई :—

१. 'प्राणार्पण' पृ० १६, छंद १६।
२. वही, पृ० १६, छंद १७।
३. वही, पृ० १६, छंद १७।
४. वही, पृ० १६, छंद १९।

था,[1] मरण-गीतों के एक पृथक् काव्य-संग्रह के रूप में प्रकाशित हो रहा है जोकि कवि की षष्ठ अप्रकाशित काव्य कृति है ।[2]

नामकरण

'नवीन' जी ने इस कृति का नामकरण हुतात्मा गणेश जी के अमर आत्मोत्सर्ग के आधार पर किया है। इसमें कोई अनौचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। हमारे आचार्यों ने यद्यपि खण्ड-काव्य के नामकरण के लिए कोई पृथक् तथा विशिष्ट निर्देश नहीं दिये हैं, फिर भी आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणों का वर्णन करते हुए महाकाव्य के नाम के सम्बन्ध में लिखा है कि महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथावस्तु, नायक या अन्य पात्र के नाम के आधार पर आधारित हो, पर प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर रखा जाय।[3] इस आधार पर, प्रस्तुत काव्य गणेश जी के बलिदान की कथावस्तु को प्रस्तुत करता है, एतदर्थ, उसका 'प्राणार्पण' नामकरण युक्तिसंगत है। साथ ही, इस शैली के नामकरण हिन्दी में प्रचुर मात्रा में प्रचलित भी हैं यथा श्री सियारामशरण गुप्त ने गणेश जी के प्राणार्पण पर लिखित काव्य का नामकरण 'आत्मोत्सर्ग' किया।[4]

इसके अतिरिक्त, इस कृति का नामकरण, यदि कवि गणेशजी के नाम पर करता तो उसे उनके जीवन-वृत्त को भी समाहित करना पड़ता जिसके फलस्वरूप यह कृति खण्ड-काव्य की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती और कवि के अभीष्ट की सटीक पूर्ति भी नहीं हो पाती। कवि गणेशजी के जीवन के सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तथा प्रोज्ज्वल रूप को ही चित्रित करना चाहता था जिसके लिए प्रस्तुत विधि के अतिरिक्त, अन्य कोई श्रेष्ठ युक्ति नहीं थी। कवि ने धनंजय की भाँति, समग्र चिड़िया को लक्ष्य न बनाकर, उसकी एकाक्ष को ही अपने शर-संधान का केन्द्र बनाया है। इस प्रकार, सर्व दृष्टिकोण से रचना का नामकरण उपयुक्त तथा सारगर्भित है। कवि भी अपनी तद्विषयक सार्थकता की विवेचना करता है :—

"घोर अन्धकार में जगायी आत्म-दीप-बाती, दिशाएँ संगाथी, किया आलोकित आसमान, विस्मृत, विकृत जग-मग जग-मग हुआ, भ्रमित समाज को मिला ज्वलन्त दीप-दान, निर्भय हो मृत्यु पाहुने को दिया आमन्त्रण, रखकर हथेली पर अपने अमल प्राण, अरे इतिहास, वह तो था निज प्राणार्पण, केवल नहीं था वह भीति-त्रस्त-जन-त्राण।[5]

---

१. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'नवीन' स्मृति अंक, पृष्ठ २६।
२. 'मृत्युधाम' या 'सृजन झांझ'—षष्ठ अप्रकाशित काव्य-संकलन, पृष्ठ १२१।
३. 'वीणा', जुलाई, १९४२, पृष्ठ ७७४।
४. 'प्राणार्पण', पृष्ठ १।
५. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, पृ० ४५-४६, छन्द ४२।

वे घटनाएं मज्जा-लथपथ, वे घटनाएं शोणित-मज्जित,
जिनका टुक स्मरण मात्र करके मनु-संतति होवेगी लज्जित।
मैं भी हूँ आखिर एक-अंश इस गरलमयी मानवता का,
हूँ किसी रूप में मैं भी तो कुछ दायी इस दानवता का।[1]

'नवीन' जी ने न तो इसे कोई काव्य ही माना है और न कोई बड़ी उपलब्धि। इस कृति को वे अपने अग्रज गणेशजी के अर्चन, श्रद्धा-तर्पण तथा गाथा गाने का प्रयास मात्र मानते हैं और इस प्रयत्न को वे पावन तथा श्रेयस्कर रूप में ग्रहण करते है। अपनी सम्पूर्ण आस्था तथा भक्ति को गणेशजी के चरणों में समर्पित करके, भक्त तुलसीदास के समान "राम सो बढ़ो है कौन, मोसो कौन छोटो, राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो", पूजा के प्रसूनों को अंकस्थ किये अपने श्रद्धा-निर्भर को विद्यार्थी जी की ओर उन्मुख कर देते हैं —

"मेरे गणेश की यह गाथा, मेरे अग्रज का है अर्चन, है कोई काव्य नहीं, यह तो है केवल मम श्रद्धा-तर्पण, मैं आज यहां जो कुछ भी हूं, है यह उनका प्रसाद केवल, अस्तित्व अन्यथा क्या मेरा ? मैं निपट अकिंचन औ निर्बल, उनके आत्मार्पण की गाथा गाने का यह प्रयत्न भर है,मैं इतना जानूं हूँ कि यत्न यह है पुनीत, श्रेयस्कर।"[2]

कवि के इस काव्य-श्राद्ध तथा भाव-तर्पण ने ही, प्रस्तुत खण्ड-काव्य का प्रभ-विष्णु आकार धारण कर लिया है।

वस्तु-विश्लेषण

'नवीन' जी ने अपने एक निबन्ध में,[3] पुण्यालोक गणेश जी के बलिदान की घटना के आख्यान को प्रस्तुत किया था, अतएव, उसके ही शब्दों को, इस काव्य के कथानक के विश्लेषण में, उद्धृत किया जा सकता है—१९३१ का कानपुर का हिन्दु-मुस्लिम तुमुल युद्ध विभीपिकापूर्ण था। तत्कालीन शासन उस तुमुलता को बढ़ाने में सहायक ही नहीं उसका प्रेरक भी था। खुले रूप में, दिन दहाड़े मार-काट, लूट-खसोट गृह-दाह, स्त्री-घर्षण, बलात्कार, बाल-हत्या सब कुछ होता रहा। अधिकारीगण हंसते-मुस्कराते रहे। वे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया। गणेश शंकर ने यह सब देखा और उनका हृदय विक्षोभ, करुणा और कुछ करने की भावना से भर गया।

अधिकारीगण दानव हो गए। कानपुरवासी दानव हो गए। मानवता का अवशेष लुप्त हो गया। तो क्या ? एक मानव कानपुर में बच रहा था। क्यों न वह

१. 'प्राणार्पण', प्रथम सर्ग, पृष्ठ ६, छन्द ५।
२. वही, पृष्ठ ५, छन्द २।
३. श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—'आजकल', पुण्यालोक गणेश जी, मार्च १९५५, वर्ष १०, अंक ११, पृष्ठ १४-१७।

'गांधी के पुण्य प्रयत्नों से फैला था जो जागरण प्रबल,
वह नष्ट हो गया कुछ क्षण में, हो गए प्रयत्न सभी असफल,
धनजन का प्रचुर विनाश हुआ, मसजिदें ढहीं, मंदिर टूटे,
फैला विद्वेष, घृणा फैली, भारत के विवश भाग्य फूटे,
राष्ट्रीय ऐक्य का सुखद स्वप्न, राष्ट्रीय मुक्ति का नवोत्साह,
सब नष्ट हो गया क्षण भर में जब हुआ हृदय में द्वेष-दाह।'

इस प्रकार 'नवीन' जी ने अपने युग की नब्ज को इस कृति में मार्मिकता तथा प्रभावोत्पादकता के साथ प्रस्तुत किया है।

खण्ड-काव्यत्व

हमारे आचार्यों ने खण्ड-काव्य को प्रबन्ध-काव्य का एक भेद माना है।[1] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, महाकाव्य के एक देश या अंश का अनुसरण करने वाला काव्य, खण्ड-काव्य कहलाता है :—

'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।'[2]

खण्ड-काव्य में जीवन का एक पक्ष या अंश अथवा चरित्र का एक पार्श्व अभिव्यक्त होता है। उसमें मानव-जीवन की सामान्य अथवा असामान्य अनुभूति का सुन्दर रूप से प्रस्फुटन होता है। डा० गुलाबराय के मतानुसार, खण्डकाव्य में प्रबन्ध-काव्य होने के कारण कथा का तारतम्य तो रहता है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। जो महाकाव्य में होती है वह जीवन की अनेकरूपता उसमें नहीं रहती। उसमें कहानी और एकांकी की भांति एक ही प्रधान घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है।[3]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर, 'प्राणार्पण' में गणेशजी का समग्र जीवन-वृ[illegible] न गृहीत कर, उसमें एक पक्ष या घटना को ही लिया गया है जिसने गान्धीजी को भ[illegible] ईर्ष्यालु बना दिया। गणेशजी का आत्मोत्सर्ग ही कथा-वस्तु की धुरी है अ[illegible] णेशजं[illegible] काव्य के प्रतिष्ठित नायक। इस रचना का स्थायीभाव करुणा है और अं[illegible] रुण-रस है। प्रमुख रस के साथ, सहायक के रूप में वीर, रौद्र और शांत र[illegible] आये हैं। कवि ने घटना को, तत्त्व परक रूप में न देखकर, भाव तथा विचारोद्दीपन के रूप में, ग्रहण किया है। घटना की अपेक्षा चरित्र को प्राधान्य मिला है। प्रबन्धात्मकता के दृष्टिकोण से इस कृति को सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

चरित्र, रस सृष्टि तथा प्रौढ़ काव्याभिव्यक्ति के आधार पर, इसे सफल खण्ड-काव्य माना जा सकता है।

---

१. श्री रामदहन मिश्र—'काव्य-दर्पण', पृष्ठ २४६।
२. 'साहित्य दर्पण,' षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३२६।
३. डॉ० गुलाबराय—'सिद्धांत और अध्ययन', भाग २, पृष्ठ १०४।

खींचकर भागने लगा। गणेशजी ने हाथ छुड़ा लिया और अत्यन्त शांत स्वर में बोले, 'मैंने जीवन में कभी पीठ नहीं दिखाई है। भागकर मैं अपनी जान नहीं बचाना चाहता। मुझे यदि मारकर भी इन लोगों की खून की धारा बुझे तो भी ठीक है।'

उन्मत्त समूह ने उन्हें घेर लिया। जिन लोगों ने गणेशजी के बंगाली मोहाल के कार्यों का समाचार जान लिया था वे चिल्लाते रहे कि ये फरिश्ते हैं, इन्हें न मारो। पर, कौन सुनता ? एक ने एक भाला पीछे से उनकी कमर में भोंक दिया। भाले की नोक आगे अण्ड-कोष तक निकल आई थी। वे खड़े थे। इतने में एक दूसरे ने हुमक कर उनके सिर पर लाठी का प्रहार किया। और, यों मानवता का एक अनन्य पुजारी खेत रहा।'[1]

प्रबन्ध-शिल्प

प्रस्तुत कृति को चार सर्गों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक सर्ग को कवि ने 'आहुति' के नाम से सम्बोधित किया है। यह असंगत भी नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की बलिवेदी पर गणेशजी ने अपने प्राणों की आहुती चढ़ा दी थी। कवि भी, इसलिए, प्राणों के बलिदानी के जीवनान्त की कथा का आज आकलन करते समय, अपनी काव्यमयी आहुतियाँ डालता चला जाता है।

'प्रस्तावना' में कवि ने गणेशजी की वन्दना की है। काव्य के आरम्भ में, अपने इष्ट की स्तुति करना, हमारे काव्य तथा शास्त्र की परम्परा रही है। गणेशजी का नाम भी 'करिबर वदन' गणपति जी का स्मरण दिलाता है, एतदर्थ, इस दृष्टि-कोण से भी वंदना सार्थक ही सिद्ध होती है। 'प्रस्तावना' के द्वितीय गीत में तत्कालीन साम्प्रदायिक विद्वेष तथा उद्वेग की भयावह स्थिति की तीक्ष्ण झलक प्रदान की गई है। श्रीमद्भगवत् गीता की वाणी 'यदा यदा हि धर्मस्य' और लोकनायक तुलसी के कथन 'जब जब होय धर्म की हानि' का चित्र उपस्थित किया गया है :—

"लपटों की जीह्वाएं लपकीं लप-लप-लप करती अम्बर तक,
धू-धू करती औ बलखाती फैलीं धूम्र शिखाएं नभ तक—
भभकी प्रज्वलिता विभीषिका दहक उठे अंगारे घर-घर,
ऐसे समय राक्षसीगर्जन, कर उठ्ठी मानव की बोली।
वह थी एक भयानक होली।"[2]

संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य की भाँति खण्ड-काव्य की चर्चा में सर्ग-बद्धता का नियम अनिवार्य नहीं बताया। महाकाव्य के लिए सर्ग-बद्ध होना अनिवार्य तत्त्व है। कारण यह है कि उसमें मानव-जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समावेश होता है और कवि अनेक प्रासंगिक कथाओं को भी अपने साथ लेता चलता है। फलतः कवि सम्पूर्ण कथा को इस प्रकार अनेक सर्गों में विभक्त करता चलता है कि

१. 'आजकल', मार्च, १९५५, पृष्ठ १६-१७।
२- 'प्राणार्पण', प्रस्तावना, द्वितीय गति, पृष्ठ २, छंद १।

कथा-वस्तु की पृष्ठभूमि का जितना भव्य, प्रशस्त तथा विस्तृत अंकन 'प्राणार्पण' में हुआ है, उतना 'आत्मोत्सर्ग' में नहीं। 'नवीन' जी ने तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय चेतना का उदात्त तथा प्रखर रूप प्रस्तुत किया है। गुप्तजी ने इसके संकेत मात्र ही किए हैं। साम्प्रदायिकता तथा हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व को सांस्कृतिक तथा चिन्तन की भूमिका पर 'प्राणार्पण' में अधिक उठाया गया है। 'प्राणार्पण' की ध्वनि में ओज, आक्रोश तथा गाम्भीर्य है, जबकि 'आत्मोत्सर्ग' में सौम्यता तथा सुष्ठुता को प्राधान्य मिला है। इसके लिये दो दृष्टांत पर्याप्त हैं :—

:१: 'आत्मोत्सर्ग : पृष्ठ १६।'

'ओ निठुर नौकरशाही, भगतसिंह को फांसी देकर,
कर ली तू ने मन-चाही ?
आजीवन बन्दी रख जिसको, दुख दे सकती थी तूने,
चिर विमुक्त कर घर घर उसको, स्वयं बिठाल दिया तूने।'

प्राणार्पण : पृष्ठ १३।

'फांसी पर झूले भगतसिंह, उनके साथी भी झूल गये,
भारतवासी हो उठे क्रुद्ध, वे अपनी सुध-बुध भूल गये—
भड़की घृणाग्नि, उमड़ी ज्वाला, आवाज़ लगीं, हड़ताल हुई,
विद्रोह जगा, उठ पड़ा त्वेष, जनता की आंखें लाल हुईं,
उन्मत्त विजातीयों के प्रति उठ भड़का क्रोधानल अपार,
भारत का शांत महासागर, उफ़ना, उसमें आ गया ज्वार।'

: २ : 'आत्मोत्सर्ग' : पृष्ठ २८।

'कहा एक अधिकारी ने है—'जाओ गांधी जी के पास।'

× × ×

चकित हो गये विद्यार्थी जी, सुन आगन्तुक की बातें—
'गांधीजी के पास—आह ! वे, निपट निन्द्य, ओछी घातें,
हंसी कर रहा दुखियों से तू, ओ निष्ठुर कर्त्तव्य-भ्रष्ट,
हंसी सत्य हो जावेगी, तो हो जावेगी बुद्धि विनष्ट।'

'प्राणार्पण' : गणेशजी का चिन्तन : पृष्ठ २६।

'देख हमारी दानव लीला वे तो करते हैं उपहास,
सुन कातर पुकार वे कहते, 'टुम जाओ गेन्डी के पास'।
गांधी के ही पास जायेंगे मत घबराओ ताने कश !
गांधी से हम अभी दूर हैं, इसी लिये हैं तेरे वश,
तेरी उकठ काठ की हांडी चढ़ न सकेगी बारम्बार,
खूब पका ले अपनी खिचड़ी, कर ले जी भर वचन प्रहार।'

भावना की प्रधानता है, वहां अग्रज का अर्चन होने के नाते, चरित्र तथा मनन-चिन्तन के तत्वों का प्राधान्य है।

चरित्र-चित्रण

वस्तुतः 'प्राणार्पण' चरित्र-प्रधान काव्य है। कवि ने प्रारम्भ में ही इस बात का स्पष्ट संकेत कर दिया है।[1]

रचनाकार ने गणेशजी के उद्भव तथा महत्त्व को अलौकिक दिव्यता प्रदान की है :—

"अतिशय करुणा से मुसकाया मानव का इतिहास पुरातन,
अति करुणा से "एवमस्तु" कह, कर उठे शिवशंकर नर्तन—
विधि बोले, 'मैं न कर सकूंगा शीघ्र-शीघ्र ऐसों का सर्जन,
बोले विष्णु, 'धन्य हो विधि तुम, जो रच डाले ऐसे प्राणी',
ये निज प्राणों के बलिदानी'।[2]

कवि ने अपने चरित्र-नायक के व्यक्तित्व की रूप-रेखाएं भी प्रस्तुत की हैं :—

"अपनी डेढ़ पसलियां लेकर जब तुम आगे आये नर वर।"[3]

× × ×

"डेढ़ पसली का, मुट्ठी भर हड्डियों का यह,
दुर्बल सा पुतला है, सूक्ष्म देह धारी यह।"[4]

'कृशता तपस्विनः' के अनुसार, कवि ने उनका दिव्यतर रूप भी प्रस्तुत किया है :—

"शुभ-वस्त्र खद्दर के, नग्नशिर, हंसमुख,
कृशतन, तेजोमय लोचन, प्रसन्न रूप,
अभय जगाते औ भगाते नैश-मय, आये,
बालरवि संग बलिदान के ज्वलन्त रूप।"[5]

काव्य-नायक गणेश जी के इस ऐतिहासिक व्यक्तित्व का रूप वन्दनीय है :—

"दुर्बल से, मुट्ठी भर अस्थियों के पुंज रूप,
सकरुण, अनुपम, उस तन धारी में,
आ कर समाया था शताब्दियों का अनुभव,
मानव विकास खिला उस प्राणधारी में,
अथवा समूचे संशयों को ललकार कर,
प्रकटी थी चिर आस उस भयहारी में,

---

१. मेरे गणेशजी को यह गाथा मेरे अग्रज का है अर्चन।
है कोई काव्य नहीं, यह तो है केवल मय श्रद्धा-तर्पण।'
.........'प्राणार्पण', प्रथम सर्ग, पृ० ५, छंद २।

२. 'प्राणार्पण', प्रस्तावना, प्रथम गति, पृ० २।

३. वही, पृ० १।

४. वही, पृ० ३५।

५. वही, पृ० ३२।

विस्मृत, विकृत जग-मग जग-मग हुआ,
भ्रमित समाज को मिला ज्वलंत-दीपदान,
निर्भय हो मृत्यु पाहुने को दिया आमन्त्रण,
रख कर हथेली पर अपने अमल प्राण,
अरे इतिहास, वह तो था निज प्राणार्पण,
केवल नहीं था वह भीति-त्रस्त-जन-त्राण !'[१]

काव्याभिव्यक्ति की प्रौढ़ता के दृष्टिकोण से, 'प्राणार्पण' श्रेष्ठतर कृति है। इसका कारण यह है कि 'आत्मोत्सर्ग' जहां गुप्तजी के काव्य-जीवन के पूर्वार्द्ध की कृति है, वहां 'प्राणार्पण' कवि के जीवन के उत्तरार्द्ध की रचना है। 'प्राणार्पण' में गीत तथा मुक्तक दोनों को ही स्थान प्राप्त हुए हैं ? परन्तु 'आत्मोत्सर्ग' में मुक्तक का ही आधार है।

भारत के अमर शहीद के चरणों में चढ़ाई गई, ये दोनों श्रद्धांजलियां, भारत भारती के मन्दिर के दो महान् ज्योतिर्मय दीप-स्तम्भ हैं।

निष्कर्ष

'नवीन' जी के 'प्राणार्पण' का अनेक दृष्टियों से विशिष्ट महत्त्व है। कवि के बन्दी जीवन से प्रसूत काव्य-साहित्य में प्रेम-काव्य को ही शीर्ष तथा प्रमुख पद प्राप्त हुआ है, परन्तु इस रचना में कवि पूर्णतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक 'काव्य-धारा के सघन पक्ष को ही अपना वर्चस्व प्रदान करता है। प्रायः कवि अपने कारावास के जीवन में राज-नैतिक कारणों के प्रति उदासीन तथा वीतराग रहा है परन्तु इस कृति में विपरीत स्थिति ही दृष्टिगोचर होती है।

आलोच्य रचना में अपनी युग-चेतना, राष्ट्रीय-आन्दोलन तथा सम-सामयिक राजनीति के प्रति कवि ने जितनी मुखरता तथा प्रमुखता के साथ अपनी वाणी की आस्था उड़ेली है, वैसी, कवि की किसी भी रचना में, दुर्लभ है। यद्यपि इस कारण से कवि को हानि भी उठानी पड़ी है और वह अपनी कृति के प्रबन्ध-शिल्प को सुविन्यस्त रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका है।

यहां कवि के राष्ट्रवाद ने वस्तु एवं चिन्तनपरक रूप ग्रहण कर लिया है। कवि ने तत्कालीन राष्ट्रीयता के विभिन्न अवयवों, उसके विकास-अवरोध तथा निरा-करण पर भी, गम्भीरता पूर्वक मनन किया है। गणेशजी के बलिदान की कथा को प्रस्तुत करके न केवल उसने अपनी भक्ति की अभिव्यंजना ही की है, प्रत्युत भारतीय इतिहास के आधुनिक युग के साम्प्रदायिकता-रूपी विष को कुरेद कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है जिससे विकृत होकर, कई तद्विषयक घटनाएं घटित हो चुकी हैं और यह विष बार-बार पैदा होकर, हमारे भारतीय समाज को हिला दिया करता है। इस विष के उन्मूलन के व्यावहारिक तथा शाश्वत आदर्श के रूप में, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का भव्य व्यक्तित्व, हमारे समक्ष आता है।

---

१. 'प्राणार्पण', पृष्ठ ४५-४६।

भावना की प्रधानता है, वहां अग्रज का अर्चन होने के नाते, चरित्र तथा मनन-चिन्तन के तत्वों का प्राधान्य है।

चरित्र-चित्रण

वस्तुतः 'प्राणार्पण' चरित्र-प्रधान काव्य है। कवि ने प्रारम्भ में ही इस बात का स्पष्ट संकेत कर दिया है।[1]

रचनाकार ने गणेशजी के उद्भव तथा महत्त्व को अलौकिक द्विव्यता प्रदान की है :—

"अतिशय करुणा से मुसकाया मानव का इतिहास पुरातन,
अति करुणा से "एवमस्तु" कह, कर उठे शिवशंकर नर्तन—
विधि बोले, 'मैं न कर सकूंगा शीघ्र-शीघ्र ऐसों का सर्जन,
बोले विष्णु, 'धन्य हो विधि तुम, जो रच डाले ऐसे प्राणी',
ये निज प्राणों के बलिदानी'।[2]

कवि ने अपने चरित्र-नायक के व्यक्तित्व की रूप-रेखाएं भी प्रस्तुत की हैं :—

"अपनी डेढ़ पसलियां लेकर जब तुम आगे आये नर वर।"[3]

× × ×

"डेढ़ पसली का, मुट्ठी भर हड्डियों का यह,
दुर्बल सा पुतला है, सूक्ष्म देह धारी यह।"[4]

'कृशता तपस्विनः' के अनुसार, कवि ने उनका दिव्यतर रूप भी प्रस्तुत किया है :—

"शुभ-वस्त्र खद्दर के, नग्नशिर, हंसमुख,
कृशतन, तेजोमय लोचन, प्रसन्न रूप,
अभय जगाते औ भगाते नैश-मय, आये,
बालरवि संग बलिदान के ज्वलन्त रूप।"[5]

काव्य-नायक गणेश जी के इस ऐतिहासिक व्यक्तित्व का रूप वन्दनीय है :—

"दुर्बल से, मुट्ठी भर अस्थियों के पुंज रूप,
सकरुण, अनुपम, उस तन धारी में,
आ कर समाया था शताब्दियों का अनुभव,
मानव विकास खिला उस प्राणधारी में,
अथवा समूचे संशयों को ललकार कर,
प्रकटी थी चिर आस उस भयहारी में,

---

१. मेरे गणेशजी को यह गाथा मेरे अग्रज का है अर्चन
है कोई काव्य नहीं, यह तो है केवल मय श्रद्धा-तर्पण
.........'प्राणार्पण', प्रथम सर्ग, पृ० ५, छंद २।
२. 'प्राणार्पण', प्रस्तावना, प्रथम गति, पृ० २।
३. वही, पृ० १।
४. वही, पृ० ३५।
५. वही, पृ० ३२।

४८

लोकायतन

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नवीनतम महाकाव्य 'लोकायतन' सन् ४० के पश्चात् उन पर अरविन्द-दर्शन के प्रभाव के कारण लिखे गए स्वर्णकिरण, स्वर्ण-धूलि, उत्तरा, आदि की शृंखला है। पन्त जी की काव्य-चेतना प्रारम्भ से लोकायतन तक विभिन्न विचारधाराओं को ग्रहण करके चली है। प्रारम्भ में कवि विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और उपनिषदों के सर्ववाद अथवा विश्वात्मवाद से प्रभावित थे जो द्विवेदी-युगीन सतही सुधारवाद के सन्दर्भ में दृष्टिपरिधि की एक व्यापकता लेने के कारण और साथ ही इतिवृत्तात्मक कला के विपरीत नूतन लक्षणा, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और नवीन शब्द-शिल्प के कारण ही नहीं, मनोरम कल्पना के कारण भी सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित कर सका था। शेली, कीट्स और टैनीसन की काव्य-कलाओं के सन्निवेश के कारण पन्त जी की ग्रन्थि, वीणा, पल्लव, गुञ्जन आदि प्रारम्भिक कृतियों ने प्रकृति के सुन्दर चित्रों, कोमल कल्पना के बल पर आगत दृष्टियों (Visions) और आकर्षक शैली के कारण हिन्दी काव्य को एक विशिष्ट रोमानी सौन्दर्य से अभिमण्डित कर दिया था। एक स्वर से यह स्वीकार कर लिया गया था कि पन्त जी के पल्लव और गुंजन योरोप के रोमांटिक कवियों और रवीन्द्र नाथ ठाकुर के काव्यों के साथ तुलना करने पर अपना स्थान बना सकते हैं।

इस प्रथम सोपान में पन्त जी में विचार, कल्पना और भाव का कई रचनाओं में सामञ्जस्य मिलता है। यद्यपि उनके कल्पना-चित्र ही अधिक मोहक और रंगीन हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त भावोच्छ्वास भी मिलता है। उनकी नौकाविहार, छाया, अप्सरा, तारा आदि रचनाओं में जहाँ उनकी कल्पना का चमत्कार मिलता है, वहीं उनकी वेदना से कसकते शब्द-चित्र भी अमरकाव्य की सृष्टि कर चुके हैं। उनकी कविता का मूल-तत्त्व यद्यपि कल्पना था तथापि हिन्दी-जगत् में उनकी निम्न पंक्तियां ही अधिक प्रसिद्ध हुईं, जो उनकी भावुकता की परिचायक हैं—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।

गणेश जी के जनहितकारी तथा निर्भय कार्यों ने उनको सर्व-प्रिय-भाजन बना दिया। लोगों की सद्भावनाएं इस शान्ति दूत के प्रति बरबस ही प्रकट होने लगीं :—

"बालाएं, वृद्धाएं, भीति त्रस्ताएं समुद चलीं,
देतीं हिय से असीस उस उपकारी को,
शत-शत कण्ठ से कृतज्ञता प्रपूर्ण बैन,
भेंट में चढ़ाये उस दुःखहारी को।"[1]

हिन्दू बस्ती से जब वे मुस्लिम बस्ती की ओर हिन्दू नर-नारी के उद्धारार्थ गये तो वहाँ भी स्नेह की वृष्टि होने लगी। बूढ़े और नौजवान कहने लगे :—

"हम हैं बहुत मशकूर आप के जनाब,
आपने निभायी आज सच्ची इन्सानी आन।"[2]

और

"किसी ने सलाम किया, किसी ने आ चूमा हाथ,
कोई गले मिला आके सहज सद्भाव से।
कोई रह गया देखते ही खड़ा का खड़ा औ,
किसी ने सुनाये कुछ स्नेह-बैन चाव से॥"[3]

वहां उन्होंने अपने कर्तव्य को पूरा किया। विपत्तिग्रस्त हिन्दू नर-नारी को प्राण-दान दिया और उन्हें उस स्थल से विदा कराया। वे दृढ़ चेता और वीर पुरुष थे। कापुरुषता को उन्होंने गले नहीं लगाया था। क्रोध-मद-मत्त, हत्या-दत्त-चित्त और रक्तपायी मुस्लिम दल को देखकर, अपने सहयोगी मुस्लिम स्वयं-सेवक के अनुरोध तथा खींचने पर भी, उन्होंने खेत छोड़कर भागना कायरता तथा पाप समझा। हत्यारों ने वहीं उनका काम तमाम कर दिया। कवि की वाणी भी बिलख उठी :—

"दया माया रोयीं, लोक-रंजन बिलख उठा,
जब धराशायी हुआ वह चिर धीर श्रेष्ठ,
अम्बर का छोर कंपा, धरित्री सिहर उठी,
जब धरती पर गिरा वह वीर श्रेष्ठ,
आत्मोत्सर्ग वेदी को प्रपूर्ण हव्य भाग मिला,
यज्ञ भावना की हुई प्राप्त आहुति यथेष्ट,
लेकिन कलंकिनी सदा को हुई मानवता,
जब श्री गणेश का शरीर हो गया अचेष्ट।"[4]

---

१. 'प्राणार्पण', पृ० ३९, छंद २२।
२. वही, पृ० ४८, छंद ४९।
३. वही, पृ० ४८, छंद ५०।
४. वही, पृ० ५१, छंद ५९।

४८

लोकायतन

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नवीनतम महाकाव्य 'लोकायतन' सन् ४० के पश्चात् उन पर अरविन्द-दर्शन के प्रभाव के कारण लिखे गए स्वर्णकिरण, स्वर्ण-धूलि, उत्तरा, आदि की शृंखला है। पन्त जी की काव्य-चेतना प्रारम्भ से लोकायतन तक विभिन्न विचारधाराओं को ग्रहण करके चली है। प्रारम्भ में कवि विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और उपनिषदों के सर्ववाद अथवा विश्वात्मवाद से प्रभावित थे जो द्विवेदी-युगीन सतही सुधारवाद के सन्दर्भ में दृष्टिपरिधि की एक व्यापकता लेने के कारण और साथ ही इतिवृत्तात्मक कला के विपरीत नूतन लक्षणा, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और नवीन शब्द-शिल्प के कारण ही नहीं, मनोरम कल्पना के कारण भी सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित कर सका था। शेली, कीट्स और टैनीसन की काव्य-कलाओं के सन्निवेश के कारण पन्त जी की ग्रन्थि, वीणा, पल्लव, गुञ्जन आदि प्रारम्भिक कृतियों ने प्रकृति के सुन्दर चित्रों, कोमल कल्पना के बल पर आगत दृष्टियों (Visions) और आकर्षक शैली के कारण हिन्दी काव्य को एक विशिष्ट रोमानी सौन्दर्य से अभिमण्डित कर दिया था। एक स्वर से यह स्वीकार कर लिया गया था कि पन्त जी के पल्लव और गुंजन योरोप के रोमांटिक कवियों और रवीन्द्र नाथ ठाकुर के काव्यों के साथ तुलना करने पर अपना स्थान बना सकते हैं।

इस प्रथम सोपान में पन्त जी में विचार, कल्पना और भाव का कई रचनाओं में सामञ्जस्य मिलता है। यद्यपि उनके कल्पना-चित्र ही अधिक मोहक और रंगीन हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त भावोच्छ्वास भी मिलता है। उनकी नौकाविहार, छाया, अप्सरा, तारा आदि रचनाओं में जहाँ उनकी कल्पना का चमत्कार मिलता है, वहीं उनकी वेदना से कसकते शब्द-चित्र भी अमरकाव्य की सृष्टि कर चुके हैं। उनकी कविता का मूल-तत्त्व यद्यपि कल्पना था तथापि हिन्दी-जगत् में उनकी निम्न पंक्तियाँ ही अधिक प्रसिद्ध हुईं, जो उनकी भावुकता की परिचायक हैं—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

गया है। स्वयं रचनाकार तथा उसका चरित्र-नायक, दोनों ही, इस युग से घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध हैं। अतएव, कवि की प्रत्यक्ष अनुभूतियों को ही यहां स्थान प्राप्त हुआ है।

कवि ने युग चेतना के अन्तर्गत, तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन, क्रान्तिकारियों के कार्य, गान्धी जी तथा उनका सत्याग्रह आन्दोलन, जन-जागृति, ब्रिटिश सरकार की फूट की नीति और साम्प्रदायिकता के विष को फैलाने की चालों पर प्रकाश डाला है। सन् १९३१ की दो प्रमुख घटनाएं, गांधी जी का नमक सत्याग्रह तथा गांधी-इरविन समझौता हैं :—

"उस लवण-चोर की लीलाएं अपना कुछ-कुछ रंग लायी थीं,
गांधी-इरविन समझौते ने शासन की कमर लचायी थी।"[1]

इस युग के क्षितिज पर तीन घटना रूपी नक्षत्रों का उदय हुआ था जिन्होंने तत्कालीन भारत को मथ डाला था :—

(क) क्रान्तिकारियों को प्राण-दण्ड।

(ख) गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन का नूतन उत्थान।

(ग) साम्प्रदायिक विष-वृद्धि।

देश के हेतु, अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले कतिपय क्रान्तिकारी लाहौर कारागृह में बैठे, अपनी बलिवेदी की आतुरता पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे और उधर समग्र भारत में क्षोभ की लहरें परिव्याप्त थीं :—

"लाहौर जेलखाने में थे वे सरफरोश कुछ नौजवान,
जिनने इक सपना देखा था, जिनमें थी यौवन की उड़ान,
न्यायालय का हुक्म कि वे झूलेंगे अमर हिंडोले पर,
भारतवासी थे क्षुब्ध और थे चिंताकुल उनके अंतर तर।"[2]

भगतसिंह की फांसी ने तो भारत में तूफान ला दिया। भूकम्प आ गया! रोष का ज्वार सुरसा सा मुख फाड़ने लगा :—

"फांसी पर झूले भगतसिंह, उनके साथी भी झूल गये,
भारतवासी हो उठे क्रुद्ध, वे अपनी सुध-बुध भूल गये,
भड़की घृणाग्नि, उमड़ी ज्वाला, आवाज लगी, हड़ताल हुई,
विद्रोह जगा, उठ पड़ा त्वेष, जनता की आँखें लाल हुईं,
उन्मत्त विजातीयों के प्रति उठ भड़का क्रोधानल अपार,
भारत का शांत महासागर उपजा, उसमें आ गया ज्वार।"[3]

---

१. 'प्राणार्पण', पृ० १२, छंद २।
२. वही, पृ० १२, छंद २।
    १३, छंद ४।

ये पंक्तियाँ भी एक सिद्धान्त-वाक्य के रूप में प्रचलित हो गईं। पन्त जी के युगान्त-युगवाणी काव्यों में काव्य-तत्त्व की हानि हुई है, यह सभी मानते हैं। कारण यही है कि पन्त जी किसी एक काव्य-तत्त्व पर ही बल देकर चले हैं। किन्तु 'ग्राम्या' में उनकी प्रिय कल्पना-शक्ति को स्वतन्त्र और नवीन क्षेत्र मिल गया है। 'ग्राम्या' में ग्रामीण-सौन्दर्य और ग्रामीण जीवन के सुन्दर चित्र हैं परन्तु ग्राम्य-जीवन को वह केवल 'बौद्धिक-सहानुभूति' ही दे सके। पन्त जी जनता के दुःख को दूर से देखने वाले कवि हैं, अतः 'ग्राम्या' में कविता चुपचाप आँखों से नहीं उमड़ पड़ती; वह एक तरस खाने की प्रवृत्ति के साथ; एक राजा के अतिथि कवि के अधरों से प्रकट हुई। फलतः ग्राम्य-जनता की आत्मा के साक्षात्कार से कवि वंचित रहा है और साथ ही उसकी कला ग्रामों को एक 'दृश्य' के अतिरिक्त आत्मांश के रूप में नहीं देख सकी। फिर भी ग्राम्या ने कवियों के सम्मुख एक नूतन क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया और यह प्रमाणित कर दिया कि नक्षत्रों, सरिताओं, उपवनों, पल्लवों, षड्ऋतुओं आदि के अतिरिक्त ग्रामों के सहज जीवन पर भी आकर्षक काव्य रचे जा सकते हैं।

सन् ४० के पश्चात् पन्त जी योगी अरविन्द के दर्शन के सम्पर्क में आए। उन्हें लगा कि अरविन्द-दर्शन उनकी सारी शंकाओं का समाधान बनकर आ गया है। अपने मार्क्सवादी सोपान में भी पन्त जी हिन्दू संस्कार के रूप में प्राप्त अध्यात्म-वाद को नहीं छोड़ सके थे। उन्हें मार्क्सवाद का जनभावकारी रूप प्रिय था किन्तु उसके 'प्रयत्न-पक्ष' से अरुचि थी, क्योंकि मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन था, वह गांधी-वाद के 'हृदय-परिवर्तन' को एक प्रवंचना मानता था। फलतः पन्त जी ने गांधीवाद और मार्क्सवाद अथवा अध्यात्मवाद का एक मिश्रण ही पसन्द किया है। मार्क्सवाद जहाँ अनेक प्रश्नों के उत्तर देता है, वहीं वह कई प्रश्नों के उत्तर नहीं भी देता। वह दृढ़ता के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक-आस्था को अन्धविश्वास घोषित करता है, क्योंकि वह विज्ञान को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि वस्तुवादी है, आत्मवादी नहीं। जगत् क्या है, ब्रह्म क्या है, जीव क्या है—इन प्रश्नों के उत्तरों में मार्क्स ने सभी अध्यात्मवादियों को, विशेषकर सिर के बल खड़े हीगेल को, सीधा पैरों के बल धरती पर खड़ा कर दिया है, अर्थात् चेतना पदार्थ का गुणात्मक परिवर्तन है—यह सिद्ध किया है। पदार्थ चेतना से आविर्भूत नहीं हुआ, स्वयं चेतना ही पदार्थ की गुणात्मक परिणति है। यह सीधा समाधान अध्यात्मसंस्कार-ग्रस्त भारतीयों के गले नहीं उतरता क्योंकि शताब्दियों से इस देश में अध्यात्मवादी धारणाओं के प्रचार ने जड़ जमा ली है और वे इन्हें अपनी 'संस्कृति' का अंग समझने लगे हैं। उनके पूर्वजों ने इन धारणाओं को ही जीवन-लक्ष्य मान लिया था, अतः नए जीवन-मूल्यों के अनुसंधान में जब एक झटके के साथ भारतीयों के सम्मुख विश्वासों से अलग होने का क्षण आता है तब स्वभावतः वे विज्ञानगत धारणाओं और प्राचीन आस्थाओं में 'समन्वय'

"जूझा भारत का युवक वृन्द, जूझे भारत के नारी-नर,
जूझा भारत का गांव-गांव, आन्दोलित हुए विशाल नगर,
डटा कानपुर युद्ध बीच, भिड़ गया बहादुर पेशावर,
पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन, सब ओर उठी विद्रोह लहर।
नभ बीच लवण-सत्याग्रह के उमड़े दल-बादल घहर-घहर,
जनगण के आये भाव उभर, नौकरशाही कांपी थर-थर।"[1]

गांधी-इरविन समझौते के कारण, राष्ट्रीय आन्दोलन स्थगित कर दिया गया :—

"राष्ट्रीय युद्ध फिर हुआ स्थगित, गांधी इरविन का मेल हुआ।
पर नौकर शाही के लेखे यह सब फिजूल का खेल हुआ।"[2]

सरकार ने समग्र रोष तथा उत्साह को साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख कर दिया।[3] फूट के बीज बो दिये गये। कूटनीति की परीक्षित विधि अपना ली गई। 'नवीन' जी ने लिखा है :—

'वे शहन्सायित के पुतले, जिनका है सब दिन यही काम,
लड़वाते हैं इन्सानों को लेकर मजहब का पाक नाम,
कारिन्देशाही ने सोचा, है यही आत्म-रक्षा का पथ,
धार्मिक झगड़े होते जायें, औ चलता जाये जीवन-रथ,
उसने जनता का, त्वेष प्रबल परिवर्तित कर डाला क्षण में,
अन्यों के प्रति जो रहा क्षोभ, वह बदला आपस के रण में।'

कवि का यह मत है कि जब जब भी, इसी प्रकार, राष्ट्रीय भावना उभरी है, साम्प्रदायिक विष ने भी अपने पंजे बढ़ाये हैं :—

'राष्ट्रीय भावना जब उभरी, तब भाव साम्प्रदायिक उमड़े,
चमकी जब मुक्ति छटा चपला तब ये दल-बादल भी घुमड़े,
विंशांति शताब्दी का प्रथम चरण लाया जब नवल-नवल सौने,
जब महाराष्ट्र उभरा, जब वंग तोड़ बन्धन अपने—
तब घोर साम्प्रदायिकता के दावानल की फैली ज्वाला,
कन्याएं अपहृत हुईं, जले घर के घर, उठा धुआं काला।'

साम्प्रदायिक गरल के उछलने पर, मस्जिद तथा बाजों में झगड़ा हो पड़ा। ताजिये और पीपल आपस में द्वन्द्व युद्ध करने लगे। अभिशाप नग्न रूप धारण कर आया। विषमता तथा विकार खुलकर खेल खेलने लगे। समग्र सत्याग्रह के पुनीत वायुमण्डल को हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व की विषैली आन्धी ने भ्रष्ट तथा विनष्ट कर दिया :—

१. 'प्राणार्पण' पृ० १७, छंद २०।
२. वही, पृ० १७, छंद २१।
३. गणेश स्मृति ग्रंथ, पृ० १४५।

ये पंक्तियाँ भी एक सिद्धान्त-वाक्य के रूप में प्रचलित हो गईं। पन्त जी के युगान्त-युगवाणी काव्यों में काव्य-तत्त्व की हानि हुई है, यह सभी मानते हैं। कारण यही है कि पन्त जी किसी एक काव्य-तत्त्व पर ही बल देकर चले हैं। किन्तु 'ग्राम्या' में उनकी प्रिय कल्पना-शक्ति को स्वतन्त्र और नवीन क्षेत्र मिल गया है। 'ग्राम्या' में ग्रामीण-सौन्दर्य और ग्रामीण जीवन के सुन्दर चित्र हैं परन्तु ग्राम्य-जीवन को वह केवल 'बौद्धिक-सहानुभूति' ही दे सके। पन्त जी जनता के दुःख को दूर से देखने वाले कवि हैं, अतः 'ग्राम्या' में कविता चुपचाप आँखों से नहीं उमड़ पड़ती; वह एक तरस खाने की प्रवृत्ति के साथ; एक राजा के अतिथि कवि के अधरों से प्रकट हुई। फलतः ग्राम्य-जनता की आत्मा के साक्षात्कार से कवि वंचित रहा है और साथ ही उसकी कला ग्रामों को एक 'दृश्य' के अतिरिक्त आत्मांश के रूप में नहीं देख सकी। फिर भी ग्राम्या ने कवियों के सम्मुख एक नूतन क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया और यह प्रमाणित कर दिया कि नक्षत्रों, सरिताओं, उपवनों, पल्लवों, षड्ऋतुओं आदि के अतिरिक्त ग्रामों के सहज जीवन पर भी आकर्षक काव्य रचे जा सकते हैं।

सन् ४० के पश्चात् पन्त जी योगी अरविन्द के दर्शन के सम्पर्क में आए। उन्हें लगा कि अरविन्द-दर्शन उनकी सारी शंकाओं का समाधान बनकर आ गया है। अपने मार्क्सवादी सोपान में भी पन्त जी हिन्दू संस्कार के रूप में प्राप्त अध्यात्म-वाद को नहीं छोड़ सके थे। उन्हें मार्क्सवाद का जनभावकारी रूप प्रिय था किन्तु उसके 'प्रयत्न-पक्ष' से अरुचि थी, क्योंकि मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन था, वह गांधी-वाद के 'हृदय-परिवर्तन' को एक प्रवंचना मानता था। फलतः पन्त जी ने गांधीवाद और मार्क्सवाद अथवा अध्यात्मवाद का एक मिश्रण ही पसन्द किया है। मार्क्सवाद जहाँ अनेक प्रश्नों के उत्तर देता है, वहीं वह कई प्रश्नों के उत्तर नहीं भी देता। वह दृढ़ता के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक-आस्था को अन्धविश्वास घोषित करता है, क्योंकि वह विज्ञान को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि वस्तुवादी है, आत्मवादी नहीं। जगत् क्या है, ब्रह्म क्या है, जीव क्या है—इन प्रश्नों के उत्तरों में मार्क्स ने सभी अध्यात्मवादियों को, विशेषकर सिर के बल खड़े हीगेल को, सीधा पैरों के बल धरती पर खड़ा कर दिया है, अर्थात् चेतना पदार्थ का गुणात्मक परिवर्तन है—यह सिद्ध किया है। पदार्थ चेतना से आविर्भूत नहीं हुआ, स्वयं चेतना ही पदार्थ की गुणात्मक परिणति है। यह सीधा समाधान अध्यात्मसंस्कार-ग्रस्त भारतीयों के गले नहीं उतरता क्योंकि शताब्दियों से इस देश में अध्यात्मवादी धारणाओं के प्रचार ने जड़ जमा ली है और वे इन्हें अपनी 'संस्कृति' का अंग समझने लगे हैं। उनके पूर्वजों ने इन धारणाओं को ही जीवन-लक्ष्य मान लिया था, अतः नए जीवन-मूल्यों के अनुसन्धान में जब एक झटके के साथ भारतीयों के सम्मुख विश्वासों से अलग होने का क्षण आता है तब स्वभावतः वे विज्ञानगत धारणाओं और प्रचीन आस्थाओं में 'समन्वय'

गणेश जी विषयक अन्य काव्य

हुतात्मा गणेशजी ने अपने युग के कवियों तथा मनीषियों को प्रभावित किया था। उनका एक 'वैचारिक सम्प्रदाय', ही बन गया था, जिसे 'गणेश स्कूल' या 'प्रताप-परिवार' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस सम्प्रदाय के कवियों ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य धारा को नूतन भूमि प्रदान की है। गणेशजी स्वयं कवियों तथा लेखकों को प्रेरित करते, प्रोत्साहन देते और मार्ग-दर्शन प्रदान किया करते थे। कवियों ने उनको अपने काव्य का विषय बनाकर, अपनी वाणी को उपकृत किया।

गणेशजी को महात्मा गांधी ने मूर्तिमन्त संस्था कहा है।[1] श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी उन्हें 'मिशनरी' कहा है।[2] अनेक कवियों ने उन्हें स्फुट एवं प्रबंध दोनों ही प्रकार के काव्यों का नायक बनाया है। इन समग्र रचनाओं में नवीन जी के प्राणार्पण और श्री सियारामशरण गुप्त के आत्मोत्सर्ग शीर्षक प्रबन्ध-कृतियों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। गणेशजी विषयक स्फुट रचनाओं में अमर शहीद के व्यक्तित्व तथा बलिदान के विभिन्न पक्षों को वंदना एवं प्रशस्ति-परक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

'प्राणार्पण' तथा 'आत्मोत्सर्ग'

'प्राणार्पण' तथा 'आत्मोत्सर्ग' काव्य के दोनों रचयिता ही, गणेशजी के अनुगत तथा 'प्रताप'-परिवार के सदस्य रहे हैं। दोनों की इन वृत्तियों के स्रोत एक ही हैं। जहां बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी की अनुभूति प्रत्यक्ष एवं उत्कट है, वहां सियारामशरण गुप्तजी की अनुभूति परोक्ष एवं सौम्य है।[3] सियारामशरण गुप्त जी ने इस रचना को सन् १६३१-३२, गुरु पूर्णिमा : सं० १६८८ वि० में ही लिख डाला था, वहां 'नवीन' जी अपनी कृति को, दस वर्ष पश्चात् सन् १६४१ में लिख सके। दूसरा कारण कवि की व्यस्तता, समयाभाव एवं संघर्षमय जीवन था। यहां 'आत्मोत्सर्ग' की चतुर्थावृत्ति हो चुकी है, वहां 'प्राणार्पण' कवि के जीवन-काल की तो बात ही छोड़िये, सन् १६६२ में प्रकाशित हुआ है।

दोनों काव्यों की कथा-वस्तु में सादृश्य है। २४ मार्च और २५ मार्च, १६३१ ई० को दोनों ने ही अपने कथानक का मूलाधार बनाया है। गुप्तजी का कथानक अधिक विस्तृत तथा प्रशस्त है। जहां 'प्राणार्पण' गणेशजी की मृत्यु के पश्चात्, समाप्त हो जाता है, वहां 'आत्मोत्सर्ग' में उसके पश्चात् की घटनाएं यथा शव का अन्वेषण, जन-प्रतिक्रियाएं, दाह-संस्कार आदि के भी विवरण उपस्थित किये गये हैं। 'प्राणार्पण' में चार सर्ग हैं जबकि 'आत्मोत्सर्ग' तीन अंशों में विभाजित है।

---

१. 'आत्मोत्सर्ग,' पृष्ठ ३।

२. श्री मैथिलीशरण गुप्त-'सुधा,' गणेशाजी, नवम्बर, १६३१, पृष्ठ ४३८-४३६।

३. श्री सियारामशरण गुप्त—आत्मोत्सर्ग, निवेदन, पृ० ११-१२।

होते हैं, यद्यपि यत्र-तत्र महाकवि पन्त की कोमल कल्पना का सम्मोहन और आकर्षक शब्द-शिल्प उन्हें काव्य की परिधि में प्रतिष्ठित किए रहता है।

बहुत पूर्व से ही पाठक और लेखक पन्त जी से एक महाकाव्य की मांग करने लगे थे किन्तु 'लोकायतन' के प्रकाशन के पश्चात् यह आशा है कि पन्त जी अनुभूति-प्रवण महाकाव्य देंगे, पूर्ण नहीं हुई। लोकायतन, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि आदि की ही अगली शृंखला है, जिसमें विचारों की पुनरावृत्ति सर्वाधिक रूप में व्यक्त हुई है। अतः काव्य की दृष्टि से लोकायतन के द्वारा पन्त जी की मनोहर-कला चरम-सीमा पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकी, सम्भवतः पन्त जी यह कार्य अगले काव्य द्वारा कर सकेंगे।

लोकायतन ६८० पृष्ठों का एक बृहत् महाकाव्य है। 'अनास्था' के इस युग में कवि ने ३६ पृष्ठों में काव्य रूपक प्रस्तुत किया है। जिसमें 'अतियुग' या 'ऊर्ध्वयुग' के अवतरण के लिए कवि अपनी आस्था प्रकट करता है। इस विस्तृत रूपक में 'ऋषि' द्वारा देखा गया 'विजन' अवश्य आकर्षक है।

देखा ऋषि ने तप्त कनक भू गोलक
हरित शक्ति के अमित सिन्धु से परिवृत्त
रजत तिमिर से निखर रहे शत रवि-शशि
सुर, किन्नर, मुनि, नर, मृग, खग, कृमि अगणित
धन्य जननि, मैं उठा बहिर्मुख गुण्ठन
सूक्ष्म दृष्टि पा देख रहा नव युग में
स्वर्ण-रश्मि छवि-स्फुरित तुम्हारा आनन।

यही विधि सम्पूर्ण 'लोकायतन' में बार-बार प्रयुक्त हुई है, इतनी अधिक कि इस काव्य को समाप्त कर लेना ही एक उपलब्धि है। अतः यह काव्य 'विजन' का काव्य है, दिव्य-अनुभूति का काव्य है किन्तु मानवीय-भावों की इसमें उपेक्षा हुई है। कवि ने अरविन्द दर्शन के आधार पर मानवीय चेतना को उपचेतन। (यह मनोविज्ञान से लिया गया शब्द है) अधिमानस और ऊर्ध्व चेतना में विभाजित कर लिया है। सन्देश यह है कि मानव-कल्याण तभी सम्भव है जब प्रत्येक जीव ऊर्ध्व चेतनावस्था को प्राप्त कर भौतिक धरातल और ऊर्ध्व धरातल में सामञ्जस्य स्थापित कर ले:—

अधिमानस की कामधेनुओं को दुह
उच्च प्रेरणा-स्रोतों को ला भू पर
प्रज्ञाऽमृत से भरना नव संजीवन
मानव उर का पोषक रस जो भास्वर।
स्वर्गिक क्षितिजों के अक्षय वैभव से
शब्द-सृष्टि कवि रचे मर्म स्पृश नूतन।

गणेश जी विषयक अन्य काव्य

हुतात्मा गणेशजी ने अपने युग के कवियों तथा मनीषियों को प्रभावित किया था। उनका एक 'वैचारिक सम्प्रदाय', ही बन गया था, जिसे 'गणेश स्कूल' या 'प्रताप-परिवार' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस सम्प्रदाय के कवियों ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य धारा को नूतन भूमि प्रदान की है। गणेशजी स्वयं कवियों तथा लेखकों को प्रेरित करते, प्रोत्साहन देते और मार्ग-दर्शन प्रदान किया करते थे। कवियों ने उनको अपने काव्य का विषय बनाकर, अपनी वाणी को उपकृत किया।

गणेशजी को महात्मा गांधी ने मूर्तिमन्त संस्था कहा है।[1] श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी उन्हें 'मिशनरी' कहा है।[2] अनेक कवियों ने उन्हें स्फुट एवं प्रबंध दोनों ही प्रकार के काव्यों का नायक बनाया है। इन समग्र रचनाओं में नवीन जी के प्राणार्पण और श्री सियारामशरण गुप्त के आत्मोत्सर्ग शीर्षक प्रबन्ध-कृतियों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। गणेशजी विषयक स्फुट रचनाओं में अमर शहीद के व्यक्तित्व तथा बलिदान के विभिन्न पक्षों को वंदना एवं प्रशस्ति-परक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

'प्राणार्पण' तथा 'आत्मोत्सर्ग'

'प्राणार्पण' तथा 'आत्मोत्सर्ग' काव्य के दोनों रचयिता ही, गणेशजी के अनुगत तथा 'प्रताप'-परिवार के सदस्य रहे हैं। दोनों की इन वृत्तियों के स्रोत एक ही हैं। जहां बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी की अनुभूति प्रत्यक्ष एवं उत्कट है, वहां सियाराम-शरण गुप्तजी की अनुभूति परोक्ष एवं सौम्य है।[3] सियारामशरण गुप्त जी ने इस रचना को सन् १६३१-३२, गुरु पूर्णिमा : सं० १६८८ वि० में ही लिख डाला था, वहां 'नवीन' जी अपनी कृति को, दस वर्ष पश्चात् सन् १६४१ में लिख सके। दूसरा कारण कवि की व्यस्तता, समयाभाव एवं संघर्षमय जीवन था। यहां 'आत्मोत्सर्ग' की चतुर्थावृत्ति हो चुकी है, वहां 'प्राणार्पण' कवि के जीवन-काल की तो बात ही छोड़िये, सन् १६६२ में प्रकाशित हुआ है।

दोनों काव्यों की कथा-वस्तु में सादृश्य है। २४ मार्च और २५ मार्च, १६३१ ई० को दोनों ने ही अपने कथानक का मूलाधार बनाया है। गुप्तजी का कथानक अधिक विस्तृत तथा प्रशस्त है। जहां 'प्राणार्पण' गणेशजी की मृत्यु के पश्चात्, समाप्त हो जाता है, वहां 'आत्मोत्सर्ग' में उसके पश्चात् की घटनाएं यथा शव का अन्वेषण, जन-प्रतिक्रियाएं, दाह-संस्कार आदि के भी विवरण उपस्थित किये गये हैं। 'प्राणार्पण' में चार सर्ग हैं जबकि 'आत्मोत्सर्ग' तीन अंशों में विभाजित है।

---

१. 'आत्मोत्सर्ग,' पृष्ठ ३।

२. श्री मैथिलीशरण गुप्त-'सुधा,' गणेशाजी, नवम्बर, १६३१, पृष्ठ ४३८-४३६।

३. श्री सियारामशरण गुप्त—आत्मोत्सर्ग, निवेदन, पृ० ११-१२।

कारावास मिला वंशी-संग
हरि को जनगण से अभिनन्दित।
गए कृष्ण गृह वे जयध्वनि से
हुआ गाँव का गगन निनादित।

मानव भावनाओं के प्रति उपेक्षा दर्शनीय है। वंशी के पिटने से न किसी को दुःख हुआ, न कोई रोया। बस यही भाव-विहीन कला पूरे काव्य में घिसटती हुई चलती है। भारतीय क्रान्ति की ऐसी निष्प्राण कथा किसी अन्य काव्य में शायद ही मिल सकेगी। किन्तु कवि का उद्देश्य ही भिन्न है, वह कथा को, 'लोकायतन' में एक प्रतीक मात्र मानता है :—

विजय अहिंसा की कहिये या
विश्व-युद्ध का घटित विपर्यय
चिदादर्श या जड़ यथार्थ का
आग्रह कहिए युग का निर्णय।

किन्तु जायसी ने पद्मावत में भी कथा के प्रतीक पर बल दिया है, पर कथा की उपेक्षा नहीं की, न मानवीय भावनाओं की। परन्तु शायद वह मध्ययुगीन रहस्यवाद था, और पन्त जी आधुनिक-रहस्यवादी कवि हैं, ऊर्ध्वकला के स्रष्टा, अतः उन्होंने कला के साधारण नियमों की भी चिन्ता नहीं की 'मुक्ति-यज्ञ' की कथा ३३ पृष्ठों में है जिसमें न कथा है, न भावनाओं की अभिव्यंजना।

'संस्कृति द्वार' द्वितीय सर्ग है, जिसमें 'आत्मदान' 'संक्रमण' और 'मधु-स्पर्श' तीन उपशीर्षक हैं। आत्म-दान के २५ पृष्ठों में गाँधी जी के आत्म-बलिदान की कथा है, किन्तु इस राष्ट्रीय दुर्घटना के विवरण से कहीं भी हृदय-द्रवित नहीं होता, विवेचन का रूप इस प्रकार का है :—

पशुबल की आत्मिक बल में, कर सामूहिक नव परिणति।
सत साध्य शुद्ध साधन में, स्थापित कर अन्तः संगति।
बापू मृत ! अमर रहें वह, नैतिक जग के उन्नायक।

'ह्रास' और 'संक्रमण' शीर्षकों में कारागार से छूटे हुए हरि और वंशी का वापस आना, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, औद्योगिक युग में गाँवों की उपेक्षा के प्रति आक्रोश आदि का सम्वेदनहीन शैली में वर्णन है, पृष्ठ संख्या ३०। पच्चीस पृष्ठों में मधुस्पर्श' का वर्णन है, जिसमें कतिपय विम्ब सुन्दर हैं, कथातत्त्व अध्यात्मवादी दर्शन में 'यथार्थ' की तरह गायब है।

इसके पश्चात् कामायनी की प्रक्रिया पर विन्दुओं का वर्णन है। 'मध्य विन्दु' (ज्ञान) ३२ पृष्ठों में फैला हुआ है, जिसमें 'वंशी' 'ज्ञान' का विवेचन करता है। यहाँ भी सिद्धान्तों का सीधा उद्वमन है। इस प्रकार २४७ पृष्ठों में लोकायतन का

'आत्मोत्सर्ग' में संवाद-तत्त्व की बहुलता है। 'प्राणार्पण' में अलौकिक तत्त्वों को भी स्थान मिला है परन्तु 'आत्मोत्सर्ग' में इसका सर्वथा अभाव है।

दोनों ने ही चरित्र तथा उद्देश्य की प्राण-प्रतिष्ठा सुन्दर तथा प्रभविष्णुरूप से की है। गणेशजी का व्यक्तित्व 'प्राणार्पण' में जितना उदात्त, प्रभावोत्पादक तथा आभा मण्डित है, उतने अशों में, वह 'आत्मोत्सर्ग' में, प्राप्त नहीं होता। खण्ड-काव्य तथा प्रबन्धात्मकता के दृष्टिकोण से 'आत्मोत्सर्ग' अधिक सफल रचना है, परन्तु काव्य-शालीनता, ओजस्विता, चिन्तन-प्रचुरता तथा विषय-प्रस्तुतीकरण के दृष्टिकोण से 'प्राणार्पण' कहीं अधिक उभर कर आई है। गणेशजी के बलिदान को जो प्रभा तथा गरिमा 'नवीन' जी की लेखनी ने प्रदान की है, वह गुप्तजी से सम्भव नहीं हो सकी है। गणेशजी के बलिदान पर 'आत्मोत्सर्ग' का कवि कहता है :—

'पूर्णाहुति हो गई हुतात्मा, तत्क्षण दीख पड़ा भू पर !
उस शरीर के बन्दीगृह से, आत्मा वह उड्डीन हुई।
अमर ज्योति वह अमर ज्योति में, तदाकार, तल्लीन हुई !
दीन हुई दिनकर की आभा, सान्ध्य गगन में होकर दीन,
हेतु विना जाने ही सहसा सुहृदों के मन हुए मलीन।'[1]

'प्राणार्पण' का कवि इसी बात को प्रस्तुत रूप में उपस्थित करता है :—

'दया माया रोयीं, लोक-रंजन बिलख उठा,
जब धराशायी हुआ, वह चिर वीर श्रेष्ठ,
अम्बर का छोर कंपा, धरित्री सिहर उठी,
जब धरती पर गिरा वह वीर श्रेष्ठ,
आत्मोत्सर्ग वेदी को अपूर्ण हव्य-भाग मिला,
यज्ञ-भावना की हुई प्राप्य आहुति यथेष्ठ।
लेकिन कलंकिनी सदा को हुई मानवता,
जब श्री गणेश जी का शरीर हो गया अचेष्ट।'[2]

गुप्तजी गणेशजी का महत्त्वांकन करते हुए कहते हैं :—

'आत्मोत्सर्ग शीलता, शुचिता, दृढ़ता अपरिमितता तेरी !
निखिल विश्व में परिव्याप्त हो, मति वह सर्वहिता तेरी,
घर घर ज्ञान-प्रदीप जला दे, मरणोद्दीप्तचिता तेरी'[3]

'नवीन' जी ने इस विषय में लिखा है :—

'घोर अंधकार में जगायी आत्म-दीप बाती,
दिशाएं संजोयीं, किया आलोकित आसमान,

१. 'आत्मोत्सर्ग,' पृष्ठ ७५।
२. 'प्राणार्पण', पृष्ठ ५१।
३. 'आत्मोत्सर्ग', पृष्ठ ८४।

क्यों लांछित हों जो नारी को नरक की खान कहते थे। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से पन्त जी शारीरिक प्रेम के विरोधी नहीं हैं किन्तु 'ज्योतिद्वार' पढ़कर लगता यही है कि वे उसे बहुत कुत्सित समझते हैं जबकि यह शारीरिक प्रेम कामायनी में कहीं अधिक स्वस्थ ढंग से मूल्यांकित हुआ है, काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम ! प्रेम में शरीर और मन को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बहरहाल, कला-केन्द्र के 'मानसिक-प्रेम' को भी सुन्दरपुर के माधो गुरु न सह सके, और उन्होंने एक लावारिस शिशु को कला-केन्द्र के पास रखवा दिया, परन्तु कला केन्द्र ने उसे अपना लिया। पता नहीं, इस साधारण घटना के लिये ६६ पृष्ठों का बलिदान क्यों किया गया ? प्रेम में जो 'शरीर' का अंश है, उसे कम-से-कम महत्व देने के लिये किसी पात्र के प्रेमजीवन का वर्णन अधिक स्वाभाविक प्रक्रिया होती, जैसे प्रसाद जी ने 'मनु' के माध्यम से वासना को उच्च प्रेम में परिणत कर दिया है। उपदेशों का शारीरिक प्रेम पर कभी असर नहीं होता, 'रिन्द' लोग 'नासेह' लोगों के पक्के दुश्म होते हैं। फिर भी 'लोकायतन' की उपलब्धि यह है कि इसमें 'विवाह-प्रसव' को नह अपितु 'प्रीति-प्रसव' को ही कल्याणकारक माना गया है :—

काम जनन मेरे मत में जारज
प्रीति-प्रसव ही लोक मूल्य संस्कृत।

'अंतर्विरोध' के ४१ पृष्ठों में सिर्फ कथा इतनी ही है कि माधो-गुरु ने वंश के वध के लिए कला-केन्द्र पर आक्रमण कर दिया और हरि वंशी को बचाने के प्रयत्न में शहीद हो गया। गुरु माधो भी कुछ समय बाद मृत्यु को प्राप्त हुए। वंशी ने गु की मूर्ति स्थापित कर दी किन्तु कहीं भी पाठक भावाभिभूत नहीं होता।

'उत्क्रान्ति' शीर्षक सर्ग में (पृष्ठ संख्या ७४) वंशी को गाँव वाले मार-पीट करते हैं किन्तु वह अविचलित रहता है। इसके सिवा 'मेरी' नामक विदेशी युवती वंशी के सम्पर्क में आती है (अरविन्दाश्रम की शायद माता जी) जो 'महाभाव' को प्राप्त करती है और कवि उसके चरणों में लोट जाता है और उस आत्मजा को अपनी 'भावात्मा' देकर कवि उसके कमरे से बाहर निकलकर अन्तर्धान हो जाता है।

'मेरी' को पा महाभाव में आ, लोटा कवि उसके सित चरणों पर
उसे छोड़ तद्गत स्थिति में चुपके, हुआ कक्ष से कवि—
द्रुत बाहर !
और उसी क्षण छोड़ केन्द्र प्रांगण, अन्तर्धान हुआ वह चिद् वन में
बढ़ता रहा पथिक शाश्वत पथ का, कार्य समापन कर भव जीवन में !

काव्य के नायक का कैसा अकाव्यपरक अंत है। इसके बाद किसी "यानभ्रष्ट अणुबम" से कलाकेन्द्र नष्ट हो जाता है और अवशिष्ट साधक हिमालय में जाकर पुनः कलाकेन्द्र स्थापित करते हैं, जहां 'मेरी' 'संयुक्ता' के नाम से केन्द्र का संचालन करती है।

काव्य-कला के रूप में यह कवि की प्रौढ़तम कृति है। इस रचना की प्रौढ़ि, गाम्भीर्य तथा ऋजुता ही, इसे 'नवीन' के काव्य-साहित्य में पृथक् स्थान प्रदान करती है। इस के रचना-प्रवाह तथा प्रभविष्णुता को देखकर, 'निराला' के 'तुलसीदास' या 'राम की शक्ति पूजा' का स्मरण हो आता है। आलोच्य कृति की भाषा 'ऊर्मिला' से अधिक सशक्त तथा परिपक्व है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से 'प्राणार्पण' का मूल्य अत्यधिक है।

इस काव्य का एक दूसरे दृष्टिकोण से भी मूल्यांकन अपेक्षित है। आजकल हिन्दी-साहित्य में, हमारे वर्तमान युग के कर्णधारों यथा महात्मा गान्धी, प्रेमचन्द आदि के व्यक्तित्व तथा जीवन-चरित्रों को लेकर, जो काव्य या महाकाव्य लिखे जा रहे हैं और उनकी परिपाटी द्रुतगति से चल निकली है, उसमें, कालक्रम से, इस कृति का महत्त्व, गरिमा तथा मूल्य आंकने योग्य है। इस स्वस्थ परम्परा के मूल में 'नवीन' जी की इस कृति को रखकर, परिपाटी का अध्ययन करना, समीचीन तथा सार्थक प्रतीत हो सकता है।

'प्राणार्पण' का मूल्य तथा महत्ता के सूत्र, सामाजिकता से ही बंधे नहीं हैं, अपितु उनमें स्थायित्व के उपादान भी प्राप्त होते हैं। साम्प्रदायिक तत्त्व बार-बार अपनी डाढ़ें पैनी करते हैं। 'नवीन' ने भी लिखा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व और पश्चात् काल में हमने वे सब विभीषिकाएं देखी हैं। इतना सब होते हुए भी, हम भी महात्मा गांधी के शब्दों में पूछते ही रहते हैं कि इस देश में दूसरा गणेशशंकर क्यों नहीं पैदा होता है? साहित्यिकों के दृष्टिकोण से, इस कृति का महत्त्व तथा महिमा उसके काव्य-प्रकर्ष के कारण है, परन्तु इस की कथा की महत्ता के विषय में, हम भी 'नवीन' जी के साथ हैं :—

'मानव के हिय में रहेगा द्वेष जब तक,
जब तक रक्त की पिपासा रही आयेगी,
जब तक अंतर में दुबका रहेगा पशु,
जब तक शोणित की धार बही जायेगी,
जब तक मानव न होगा निज शुद्ध रूप,
जब तक भावना निर्वेद नहीं पायेगी,
तब तक गणेशशंकर की अतीत गाथा,
जन गण हिताय सतत कही जायेगी।'

कलाबाज़ कहता हरि उनको, उड़ा कल्पना के कनकौवे
बोली का रंग दे गढ़ते जो, अर्थहीन बिम्बों के हौवे
जनधरणी की प्रसव व्यथा का, जिसमें नहीं महत् उद्वेलन
वन्ध्या वह कवि, कला अहंप्रिय, लघु निजत्व की थोथी दर्पण।

आज की लघुवादिनी, आस्थाहीन तथा केवल बिम्बों को महत्त्व देने वाली 'नई कविता' पर कैसी सटीक टिप्पणी है।

इसी प्रकार युद्धवाद, साम्राज्यवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, आदि असंगतियों के विरुद्ध पन्त जी ने अपना आक्रोश प्रकट किया है, उनमें चाहे काव्य कम हो पर आज के सन्दर्भ में इन उपदेशों का भी सामाजिक दृष्टि से बड़ा मूल्य है। 'नये मूल्यों' की शोध के नाम पर मूल्यबोध को भ्रष्ट करने वाले कवियों के विपरीत पन्त जी का मूल्यबोध परम्परागत और रहस्यवाद से आक्रान्त होने पर भी कल्याण कामनावादी है।

शुद्ध काव्य की दृष्टि से, जैसा कि मैं 'वातायन' (मासिक, बीकानेर, राजस्थान) में 'लोकायतन' पर अपने एक लेख में लिख चुका हूँ, यह काव्य पन्त जी की काव्य-कला के ह्रास को ही प्रकट करता है क्योंकि यह वस्तुतः 'उपदेशायतन' बन गया है। इस उपदेशवाद को दो प्रवृत्तियाँ कुछ सीमित करती हैं, प्रथम दृश्यवर्णन और द्वितीय दृष्टि-वर्णन (descriptions of visions)। 'दृष्टि' में आत्मसाक्षात्कार-परक गूढ़ अनुभव और भविष्यद्रष्टा के व्यापक अनुभव भी सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त समसामयिक प्रवृत्तियों के सिंहावलोकन भी यत्र-तत्र आकर्षक हो उठे हैं। इनसे यह काव्य 'पूर्ण उपदेशायतन' होने से बच गया है। यद्यपि इस काव्य में अधिक नूतन बिम्बों का विधान नहीं है और इस काव्य की भाषा भी भावावेग के अभाव के कारण आरोह-अवरोह रहित मंथर और बोझिल है, तथापि यत्र-तत्र कतिपय अप्रस्तुत-विधान आकर्षक बन पड़ा है। पन्त जी की दृष्टि सौन्दर्य को पकड़ लेती है। यह विशेषता इस काव्य में भी एक सीमा तक ही सही मिलती अवश्य है। 'लोकायतन' में गाँव, पर्वत, विदेश-सुषमा आदि पर कुछ मोहक स्थल हैं। पन्त जी अपनी नूतन काव्य-कला को पल्लवकालीन कला से अधिक प्रौढ़, सूक्ष्म, और 'सांकेतिक' मानते हैं। किन्तु 'लोकायतन' की कला आवश्यकता से अधिक 'प्रौढ़' है अथवा दूसरे शब्दों में यह कला एक प्रौढ़ या वृद्ध कवि की कला है। आयु के अनुरोध के कारण ही नहीं पन्त जी को यह परवर्ती दार्शनिक काव्य इसलिए भी प्रिय हैं क्योंकि अरविन्द ने जिसे 'मंत्रकाव्य' (द्रष्टव्य, फ़्यूचर पोइट्री) कहा है, उसी प्रकार का 'मंत्रकाव्य' पन्त जी प्रस्तुत करना चाहते हैं। अरविन्द के अनुसार मानवीय राग द्वेष का व्यंजनापरक काव्य मानसिक-स्तर पर रहकर रचा जाता है किन्तु 'अतिमन' के स्तर पर रचा गया काव्य मनुष्य के अंतर्द्वन्द्व और भावनाओं (काम, क्रोध, भ्रम, करुणादि) का काव्य नहीं होता, वह आंतरिक-प्रकाश का काव्य होता है। ऐसे काव्य

ये पंक्तियाँ पन्त जी के काव्य की ही नही, काव्यमात्र की सिद्धान्त-वाक्य ही बन गईं। इनमें यह सिद्धान्त निहित था कि काव्य पूर्णतः सायास प्रयत्न नहीं है, वह मुख्यतः भावुक हृदय का सहज उच्छ्वलन है। योरोप के रोमानी कवियों में कल्पना की अतिशयता के साथ, भावुकता का अतिरेक भी मिलता है, और पन्त जी में भी ये दोनों तत्त्व विद्यमान थे।

रोमानी कवि यह स्वीकारते थे कि काव्य-क्षण में कोई ऐसी शक्ति कवि की सत्ता पर छा जाती है जिसे हम 'दिव्य-प्रेरणा' भी कह सकते हैं। एक प्रकार का आवेश या अन्तःप्रेरणा या आन्तरिक-उच्छ्वास कवि की अभिव्यक्ति का मुख्य कारण है। इसके अभाव में कोई कवि श्रम-परक काव्य की ही सृष्टि कर सकता है। इस अन्तः प्रेरणा (Inspiration) के क्षणों में ही कवि के कलागत अनुशासन की परीक्षा होती है कि वह किस मात्रा में, किस प्रकार अनुभूति या भाव को उत्तमोत्तम कलारूप में व्यक्त करता है। पन्त जी इस 'उक्त-क्षण' में कल्पना और आवेश को प्रायः एक साथ ; एक रचना में नहीं संभाल पाए। उनकी कल्पना अलग और आवेश अलग दिखाई पड़ता है। उनकी 'ग्रन्थि' में भावावेश ही अधिक है और 'पल्लव' में कल्पना का वैभव ही अधिक दिखाई पड़ता है किन्तु आँसू; भादों की भरन, तथा 'पावस ऋतु की पर्वत-प्रदेश' जैसी रचनाओं में उक्त दोनों तत्त्व एक साथ भी सक्रिय दिखाई पड़ते हैं। किन्तु आगे 'ज्योत्स्ना' नाटक में कल्पना और 'युगान्त' 'युगवाणी' में केवल विचार-प्रधानता ही प्रमुख हो गई, अतः पन्त जी की कला में प्रारम्भ से ही कल्पना, विचार और अनुभूति को प्रायः तिल-तण्डुलवत् अलग-अलग देखा जा सकता है। प्रशाद में इन तत्त्वों का जो सामञ्जस्य मिलता है वह पन्त जी में उस सीमा तक नहीं आ पाया। फिर भी पन्त जी की कृतियों में कल्पना के सम्मोहन और नवीन शब्द-चित्रों के कारण एक विशिष्ट आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

यह स्मरणीय है कि अपनी किशोर-कल्पना के वैभव काल में भी पन्त जी पर भाव-दारिद्र्य का आरोप लगाया गया था, जिसकी मात्रा उनके नवीन काव्य में चरम सीमा पर पहुँच गई है। यह अद्भुत तथ्य है कि 'वियोगी होगा पहला कवि' कहने वाला कवि अपने भावघन की रक्षा नवीन काव्य में नहीं कर सका परन्तु यह एक तथ्य है।

युगान्त-युगवाणी काल में पन्त जी मार्क्सवाद से प्रभावित हुए और उन्होंने 'विचार-तत्त्व' को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार कर लिया—

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए, तुम्हें क्या अलङ्कार !

४६

चांद का मुंह टेढ़ा है

डा० गंगाप्रसाद विमल

'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में मुक्तिबोध की अधिकांश महत्त्वपूर्ण कविताएँ संकलित हैं। इस संकलन के बहाने आसानी से मुक्तिबोध की समग्र रचनात्मकता को लेकर बातचीत की जा सकती है। देखा जाय तो "चांद का मुंह टेढ़ा है" का विश्लेषणात्मक विवेचन, वह सारी सामग्री जुटा लेता है जिसे आधार बनाकर न केवल मुक्तिबोध बल्कि नयी कविता के विविध आयामों पर भी बहस की जा सकती है। दरअसल यह तथ्य स्वयं सिद्ध कर देता है कि मुक्तिबोध एक कविता धारा के कितने महत्त्वपूर्ण कवि थे। इस दृष्टि से मुक्तिबोध का काव्य संकलन 'चाँद का मुंह टेढ़ा' एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज बन जाता है जिसकी उपेक्षा करना 'काव्य चर्चाओं' में आसान नहीं है क्योंकि वह एक कवि का ही दर्पण नहीं है बल्कि एक पीढ़ी की 'खंडित यात्राओं' का टूटा हुआ किन्तु पूर्ण बिम्ब है। टूटा हुआ इसलिए कि मुक्तिबोध की कविताओं में 'मनुष्य के विरोधाभास हैं, जो मध्यकालीन काव्य-बोध की पूर्णता के आदर्श के विपरीत हैं तथा पूर्ण इसलिए कि 'चाँद का मुंह टेढ़ा' के रूप में नयी कविता की एक यात्रा खत्म हो जाती है।

मुक्तिबोध की कविताओं को 'समय' के संदर्भ में देखने के लिए उन ऐतिहासिक स्थितियों को समझना आवश्यक है जिन्होंने मानव नियति को राजनीति से बाँध दिया है। इसीलिए मुक्तिबोध का काव्य-बोध अपने समय के राजनैतिक बोध से इतना घुला मिला है कि उसमें मनुष्य की नियति के खतरों को ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में संग्रथित किया हुआ है। मनुष्य की नियति का केवल अस्तित्ववादी दार्शनिक विलास मुक्तिबोध की कविताएं नहीं हैं, बल्कि वे मामूली आदमी की आर्थिक दार्शनिकता से आई हुई कविताएं हैं। उनकी कविताओं की दुनिया इतनी समकालीन है कि वह अपने लिए भी आदर्श नहीं बनती।

मुक्तिबोध का काव्य जिस संसार की रचना करता है, वह एक भीतरी संसार है। वहाँ शब्दों की धारणागत अर्थ-प्रतीति अर्थहीन होकर शब्द से आवेग और शब्द

ये पंक्तियाँ पन्त जी के काव्य की ही नहीं, काव्यमात्र की सिद्धान्त-वाक्य ही बन गईं। इनमें यह सिद्धान्त निहित था कि काव्य पूर्णतः सायास प्रयत्न नहीं है, वह मुख्यतः भावुक हृदय का सहज उच्छलन है। योरोप के रोमानी कवियों में कल्पना की अतिशयता के साथ, भावुकता का अतिरेक भी मिलता है, और पन्त जी में भी ये दोनों तत्त्व विद्यमान थे।

रोमानी कवि यह स्वीकारते थे कि काव्य-क्षण में कोई ऐसी शक्ति कवि की सत्ता पर छा जाती है जिसे हम 'दिव्य-प्रेरणा' भी कह सकते हैं। एक प्रकार का आवेश या अन्तःप्रेरणा या आन्तरिक-उच्छ्वास कवि की अभिव्यक्ति का मुख्य कारण है। इसके अभाव में कोई कवि श्रम-परक काव्य की ही सृष्टि कर सकता है। इस अन्तः प्रेरणा (Inspiration) के क्षणों में ही कवि के कलागत अनुशासन की परीक्षा होती है कि वह किस मात्रा में, किस प्रकार अनुभूति या भाव को उत्तमोत्तम कलारूप में व्यक्त करता है। पन्त जी इस 'उक्त-क्षण' में कल्पना और आवेश को प्रायः एक साथ ; एक रचना में नहीं संभाल पाए। उनकी कल्पना अलग और आवेश अलग दिखाई पड़ता है। उनकी 'ग्रन्थि' में भावावेश ही अधिक है और 'पल्लव' में कल्पना का वैभव ही अधिक दिखाई पड़ता है किन्तु आँसू; भादों की भरन, तथा 'पावस ऋतु की पर्वत-प्रदेश' जैसी रचनाओं में उक्त दोनों तत्त्व एक साथ भी सक्रिय दिखाई पड़ते हैं। किन्तु आगे 'ज्योत्स्ना' नाटक में कल्पना और 'युगान्त' 'युगवाणी' में केवल विचार-प्रधानता ही प्रमुख हो गई, अतः पन्त जी की कला में प्रारम्भ से ही कल्पना, विचार और अनुभूति को प्रायः तिल-तण्डुलवत् अलग-अलग देखा जा सकता है। प्रशाद में इन तत्त्वों का जो सामञ्जस्य मिलता है वह पन्त जी में उस सीमा तक नहीं आ पाया। फिर भी पन्त जी की कृतियों में कल्पना के सम्मोहन और नवीन शब्द-चित्रों के कारण एक विशिष्ट आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

यह स्मरणीय है कि अपनी किशोर-कल्पना के वैभव काल में भी पन्त जी पर भाव-दारिद्र्य का आरोप लगाया गया था, जिसकी मात्रा उनके नवीन काव्य में चरम सीमा पर पहुँच गई है। यह अद्भुत तथ्य है कि 'वियोगी होगा पहला कवि' कहने वाला कवि अपने भावधन की रक्षा नवीन काव्य में नहीं कर सका परन्तु यह एक तथ्य है।

युगान्त-युगवाणी काल में पन्त जी मार्क्सवाद से प्रभावित हुए और उन्होंने 'विचार-तत्त्व' को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार कर लिया—

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए, तुम्हें क्या अलङ्कार! . . .

आपको, कविताओं के प्रसंग में, अलग रखा है जिससे वे सीधे ही पहचाने जाते हैं।

मुक्तिबोध के काव्य और मुक्तिबोध के उस 'काव्य संसार' का, जिसका हम उल्लेख कर रहे हैं, अभिशंसात्मक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता क्योंकि मुक्तिबोध का काव्य सभी 'गरिमावाची' अयथार्थ तत्त्वों से परे है।

मुक्तिबोध ने अपने समय के उस संसार को अपने काव्य वृत्त में लिया है जिसका स्वरूप किसी भी तरह के आदर्शों को स्वीकार नहीं करता। जिस समय में 'हम' रह रहे हैं वह हमारे 'वर्तमान' का भयावह समय है, उससे बचाव या अलगाव की कोई ऐसी विद्या नहीं है जैसी मध्यकाल में थी। अपने समय की 'भयानकता' के लिए न केवल हम उत्तरदायी हैं अपितु उसे स्वीकार करने की विवशता से भी बंधे हुए हैं। मुक्तिबोध का सभी कविताओं में इस सच्चाई का परिचय मिलता है। जो लोग सहज आवेश या भावुकता में आकर मुक्तिबोध को 'महान' कहते हैं और उनके काव्य को उसी महनीय बोध के आधार पर महान मानते हैं वे असल में मुक्तिबोध के काव्य को नहीं जानते हैं। उन्होंने मुक्तिबोध की कविताएं, कविताओं की तरह नहीं पढ़ी हैं, समझी नहीं हैं, वे केवल कोई औपचारिकता बरतते प्रतीत होते हैं। स्वयं मुक्तिबोध ने सीधे अर्थों में 'गरिमावाची' शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। मुक्तिबोध की 'महानता' अगर कोई है, और उसे बतलाने का कोई अधिकारी व्यक्ति है, तो वह भी अपने मन में और अपनी व्याख्याओं में जानता है कि उसके लिए महानता का वह अर्थहीन अर्थ नहीं है जो शेष लोगों के लिए है। यह एक सच्चाई है कि मुक्तिबोध महान आदमी नहीं थे, क्योंकि उनका अपना विश्वास किसी तरह की महानता में नहीं था। मुक्तिबोध का काव्य और उनका जीवन 'महानता' से उस अर्थहीन 'शब्द' को तोड़ने का प्रतीक है, अगर उसे तोड़ते हुए, चाहे कविता में या चाहे पीड़ित हुए जीवन में कहीं कोई और अच्छाई जन्म लेती है तो 'महान' होते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि उसे हम पुरानी प्रतीति या धारणाओं का शब्द दें। शायद हमारे पास जीवन की अच्छाई के लिए सिवाय अनुभव के और कोई शब्द नहीं है, इसलिए हम विवश हैं। परंतु यह मान कर चलते हैं कि मुक्तिबोध के काव्य का मूल्यांकन शास्त्रीय या आधुनिक गरिमावाची शब्दावली में नहीं हो सकता और मूलमांकन भी क्यों—क्योंकि मूल्यांकन स्वयं अपने आप में भ्रामक है, वल्कि हम मूल्यांकन की बात न करें और सिर्फ एक ईमानदार खोज की बात करें तो संभव है कि हम उस दुनिया से आत्मीय रूप से संवद्ध हो जायं जिससे हमारा परिचय है किंतु उससे हमारा संपर्क एक समर्थ कलाकार ही जोड़ता है।

मुक्तिबोध के काव्य का एक अलग सौंदर्यशास्त्र है और शायद वही हमारे समकालीनों के लिए चुनौती है। मुक्तिबोध का काव्य नये काव्य की मात्रा की उपलब्धि भी है और उसके आगे कोई कवि इसलिए नहीं ठहरता है क्योंकि उसने कहीं न कहीं 'अनुकरण' किया है, वह अनुकरण किसी का भी, किसी क्षेत्र या धारा का हो सकता

खोजते हैं। अरविन्द एक चतुर विचारक थे, उन्होंने आधुनिक विकासवाद को स्वीकार कर भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का एक समझौतावादी दर्शन तैयार किया है, फलतः पन्त जी को यह बहुत प्रिय लगा क्योंकि उनकी यह इच्छा कि प्राचीन भी न छूटे और नवीन भी ग्रहीत हो, अरविन्द दर्शन में पूर्ण हो रही थी। रुग्णावस्था में अरविन्द के "द लाइफ़ डिवाइन" के अध्ययन के कारण पन्त जी इस मिश्रणवादी दर्शन से और भी अधिक प्रभावित हो गए, फलतः सन् ४० के बाद उनके सौन्दर्य-बोध का अरविन्द दर्शन के सन्दर्भ में ही विकास हुआ है।

हिन्दू संस्कार, आयु के अनुरोध, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की असंगतियाँ, मार्क्सवादी दर्शन की कठोरता और बौद्धिकता, हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना का आक्रामक रुख आदि अनेक कारणों से पन्त जी अरविन्द-दर्शन को आज के युग की सभी समस्याओं और प्रश्नों का एकमात्र समाधान मानते हैं और वह समाधान एक वाक्य में यह है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों की आवश्यकता है। भौतिकवाद जहाँ भौतिक समस्याओं को हल कर सकता है, वहाँ उसमें 'दिव्य-जीवन' की व्यवस्था नहीं है और दिव्य-जीवन के प्रति वह नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर चलता है, जबकि अरविन्द-दर्शन प्राचीन अध्यात्मवाद के भौतिक जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का विरोधी है। उदाहरणतः अरविन्द-दर्शन जगत् को मिथ्या नहीं मानता, वह तो भौतिक जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानता है। जीव और जगत् सब ब्रह्म हैं, सर्वं खलु इदं ब्रह्म।

अतः अरविन्द-दर्शन मध्ययुगीन-अध्यात्मवाद का विरोधी है। पन्त जी के नए काव्यों में सैंकड़ों स्थलों पर मध्ययुगीनतावाद का घोर विरोध मिलता है जो पाठकों में यह भ्रम उत्पन्न करता है कि अरविन्द-दर्शन या पन्त-दर्शन क्रान्तिकारी-दर्शन है, किन्तु स्वयं भारतवर्ष में शैव, शाक्त, सांख्य, योग आदि दर्शन जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई यह नहीं कहता है कि भौतिक उन्नति नहीं करनी चाहिए। धर्म की व्याख्या में 'लौकिक' और पारलौकिक अभ्युदय ही वरेण्य माना गया है। वस्तुतः अरविन्द ने शाक्त दर्शन और विकासवाद के मिश्रण से अपना दर्शन प्रस्तुत किया है। अतः तत्त्वतः उसमें कोई अभूतपूर्व नवीनता नहीं है। बर्गसाँ का दर्शन अरविन्द से भी अधिक आकर्षक है। बहरहाल पन्त जी सन् ४० के बाद अरविन्द-दर्शन का ही प्रचार कर रहे हैं।

मैंने अपनी पुस्तक 'पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन' में विस्तार से उक्त तथ्य प्रमाणित किया है। पाठक वहाँ इस विषय को देख सकते हैं। किन्तु मेरी पुस्तक में 'लोकायतन' की चर्चा नहीं है, क्योंकि मेरी पुस्तक लोकायतन के पूर्व की कृति है। मेरी पुस्तक के अतिरिक्त अन्य अनेक आलोचकों ने पन्त जी की कला के ह्रास की चर्चा की थी। स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि आदि में विचारतत्त्व भावतत्त्व को इतनी अधिक मात्रा में पीस कर रख देता है कि ये काव्य अरविन्द-दर्शन के छन्दानुवाद प्रतीत

आदि अनेक प्रसंगों में उनके बिंब प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य को लिए हुए हैं। अगर मुक्तिबोध के काव्य की पूरी बिंब-सूची एकत्र की जाय तो लगभग अधिकांश बिंब 'दृश्यांकन' के लिए प्रयुक्त नहीं हुए हैं अपितु वे प्रतीकात्मक अर्थों या वैशिष्ट्य की पूर्ति के साधन हैं। इसीलिए मुक्तिबोध की कविता के शब्द सीधे और अभिधात्मक अर्थों की अन्य कथित प्रतीतियों से नहीं जुड़े हैं अपितु वे शब्द के दूरस्थ अर्थ या शब्द के अपरिचित अर्थ या शब्द के खोये हुए अर्थ की प्रतीति देते हैं। उनके बिंब और प्रतीक अजायबघर के आकर्षण नहीं हैं, वे जीवन के जीवंत गतिवाद सत्य की आत्मीयता को सपाट रूप में सामने रखने में सक्षम हैं।

मुक्तिबोध की कविता वैविध्य और विरोध से परिपूर्ण कविता है। हमारा उद्देश्य क्योंकि यहाँ विशेषताओं का बखान या गुण-गान करना नहीं है इसीलिए हम उनकी कविता में 'विरोध' के तत्त्वों का अस्तित्व भी मानते हैं। उनकी कविता में यंत्रणा, त्रास, भूख, पीड़न, मृत्यु, दरिद्रता, सामाजिक उलझन का आशावाद और साथ-ही साथ एक विचित्र अवसाद और नैराश्य की कविताएँ भी हैं जो अनेक अंतर्कथाओं के सूत्रों के रूप में मुक्तिबोध की कविता में एक साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल जीवन-विधान के अनुभव मिलते हैं। एक ओर आत्मा अधीरा है तो दूसरी ओर आत्मा का पिंजर है, एक ओर चीखता है क्रोध से लगातार और दूसरी ओर आत्मा है गीली आदि अनेक प्रसंग लिये जा सकते हैं जिनमें मुक्तिबोध ने 'जीवन' के यथार्थ को या यथार्थ योग को प्रस्तुत किया है, उसमें अनुकूलता भी आई है उनमें विरोध भी है।

मुक्तिबोध प्रतिबद्ध रचनाकार थे इसलिए विरोध की अनेक दिशाएँ उनमें मिलती हैं। यहाँ हम उनकी 'गद्य' की चर्चा को आधार नहीं बनायेंगे जबकि 'गद्य' में 'विरोध' की दिशाएं स्पष्ट कथनों के रूप में सामने आई हैं। काव्य में उन्होंने आंदोलन, क्रांति आदि शब्द प्रयोग किये हैं किन्तु उनका स्पष्ट प्रयोजन एक जड़ समाज में खोये हुए इन शब्दों की सही स्थिति को खोजने का था। मुक्तिबोध के जीवन-प्रसंग लिये जायं तो हम देखेंगे कि उन्होंने अपने समाज, अपने इतिहास, अपने अस्तित्व और अपने आप से कितनी लड़ाई लड़ी है। अपने आपसे लड़ने की इस लड़ाई में उनका सही विरोध और विद्रोह व्यक्त हुआ है। 'अंधेरे में' शीर्षक उनकी कविता अपने अन्दर की इस लड़ाई की प्रतीक कविता है जिसमें घोर अवसाद और घोर विद्रोह के तत्त्व हैं। उस कविता में मुक्तिबोध हमें एक अन्वेषक के रूप में लगते हैं :

इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झांक-झांक कर देखता हूँ हर एक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र

खोजते हैं। अरविन्द एक चतुर विचारक थे, उन्होंने आधुनिक विकासवाद को स्वीकार कर भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का एक समझौतावादी दर्शन तैयार किया है, फलतः पन्त जी को यह बहुत प्रिय लगा क्योंकि उनकी यह इच्छा कि प्राचीन भी न छूटे और नवीन भी ग्रहीत हो, अरविन्द दर्शन में पूर्ण हो रही थी। रुग्णावस्था में अरविन्द के "द लाइफ़ डिवाइन" के अध्ययन के कारण पन्त जी इस मिश्रणवादी दर्शन से और भी अधिक प्रभावित हो गए, फलतः सन् ४० के बाद उनके सौन्दर्य-बोध का अरविन्द दर्शन के सन्दर्भ में ही विकास हुआ है।

हिन्दू संस्कार, आयु के अनुरोध, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की असंगतियाँ, मार्क्सवादी दर्शन की कठोरता और बौद्धिकता, हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना का आक्रामक रुख आदि अनेक कारणों से पन्त जी अरविन्द-दर्शन को आज के युग की सभी समस्याओं और प्रश्नों का एकमात्र समाधान मानते हैं और वह समाधान एक वाक्य में यह है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों की आवश्यकता है। भौतिकवाद जहाँ भौतिक समस्याओं को हल कर सकता है, वहाँ उसमें 'दिव्य-जीवन' की व्यवस्था नहीं है और दिव्य-जीवन के प्रति वह नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर चलता है, जबकि अरविन्द-दर्शन प्राचीन अध्यात्मवाद के भौतिक जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का विरोधी है। उदाहरणतः अरविन्द-दर्शन जगत् को मिथ्या नहीं मानता, वह तो भौतिक जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानता है। जीव और जगत् सब ब्रह्म हैं, सर्वं खलु इदं ब्रह्म।

अतः अरविन्द-दर्शन मध्ययुगीन-अध्यात्मवाद का विरोधी है। पन्त जी के नए काव्यों में सैंकड़ों स्थलों पर मध्ययुगीनतावाद का घोर विरोध मिलता है जो पाठकों में यह भ्रम उत्पन्न करता है कि अरविन्द-दर्शन या पन्त-दर्शन क्रान्तिकारी-दर्शन है, किन्तु स्वयं भारतवर्ष में शैव, शाक्त, सांख्य, योग आदि दर्शन जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई यह नहीं कहता है कि भौतिक उन्नति नहीं करनी चाहिए। धर्म की व्याख्या में 'लौकिक' और पारलौकिक अभ्युदय ही वरेण्य माना गया है। वस्तुतः अरविन्द ने शाक्त दर्शन और विकासवाद के मिश्रण से अपना दर्शन प्रस्तुत किया है। अतः तत्त्वतः उसमें कोई अभूतपूर्व नवीनता नहीं है। बर्गसाँ का दर्शन अरविन्द से भी अधिक आकर्षक है। बहरहाल पन्त जी सन् ४० के बाद अरविन्द-दर्शन का ही प्रचार कर रहे हैं।

मैंने अपनी पुस्तक 'पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन' में विस्तार से उक्त तथ्य प्रमाणित किया है। पाठक वहाँ इस विषय को देख सकते हैं। किन्तु मेरी पुस्तक में 'लोकायतन' की चर्चा नहीं है, क्योंकि मेरी पुस्तक लोकायतन के पूर्व की कृति है। मेरी पुस्तक के अतिरिक्त अन्य अनेक आलोचकों ने पन्त जी की कला के ह्रास की चर्चा की थी। स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि आदि में विचारतत्त्व भावतत्त्व को इतनी अधिक मात्रा में पीस कर रख देता है कि ये काव्य अरविन्द-दर्शन के छन्दानुवाद प्रतीत

विस्तृत फलक, अर्थ की लय और भाषा-संयोजन, सभी कुछ विचित्रताओं से भरा पड़ा है। मुझे पुकारती हुई पुकार कहाँ खो गई कहने वाले मुक्तिबोध एक सच्चे कवि इसलिए भी थे क्योंकि उन्होंने माना है कि :

नहीं होती कहीं भी
खत्म कविता नहीं होती।

मुक्तिबोध ने अधूरा जीवन जिया है परंतु अपनी काव्य-रचना में वे 'पूर्ण जीवन' प्रस्तुत करते हैं, शायद हिन्दी के इस अद्भुत कवि का काव्य उसी 'संयत और पूर्ण जीवन' की कलामय अभिव्यक्ति है। मुक्तिबोध का काव्य दूसरे शब्दों में कला का इतिहास है, नये सौंदर्य-शास्त्र की रचना। 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' इस सौन्दर्य-शास्त्र की यात्रा का वह पड़ाव है जहाँ हिन्दी की नई कविता पूर्ण विराम के बाद युवा कवियों की वाणी में नया निजत्व प्राप्त करती है। संभवतः मुक्तिबोध ही ऐसे कवि थे जिन्होंने आत्माभिव्यक्ति के मध्ययुगीन विलास की जगह 'निजत्व की खोज' को 'आदमी की सही पहचान' के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया था। इसी पहचान या निजत्व की नई खोज के आयाम मुक्तिबोध से प्रभावित नई पीढ़ी में देखे जा सकते हैं, कदाचित् 'चांद का मुंह टेढ़ा है' का प्रकाशन उस पहचान की शुरूआत का बिन्दु कहा जाय तो ग़लत नहीं होगा।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' का गुणधर्मी विवेचन किसी पूर्व समीक्षा पद्धति (दी गई समीक्षा पद्धति) से नहीं किया जा सकता है, प्रत्येक कविता अपने लिए अपना ही समीक्षाशास्त्र देती है, उनके सौन्दर्य की भंगिमाएं 'स्टिल लाइफ' की तरह दूर से स्थिर किन्तु अपने यथार्थ में अर्थों की गतिमानता से सम्पन्न हैं। समय के साथ-साथ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की व्यंग्य भंगिमाएँ सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ के रूप में स्पष्ट होती जायेंगी, उसके काव्यत्व में तेजस्विता का यही एकमात्र गुणधर्मी आलोक है।

इन 'स्वर्गिक-क्षितिजों के अक्षय वैभव' को कविता द्वारा धरती पर उतारने के लिए कवि ने साधारण काव्य-कला का आश्रय न लेकर 'ऊर्ध्व कला' का ही आश्रय लिया है। और इसके लिए कवि के सम्मुख अरविन्द के 'सावित्री' महाकाव्य का आदर्श था। फिर भी 'सावित्री' में एक अति प्रसिद्ध पौराणिक कथा है, जिसके माध्यम से अरविन्द ने मानवचेतना के उच्च स्वर्गिक-वैभव का वर्णन किया है, किन्तु पन्त जी ने पौराणिक कथा की प्रतीकात्मक व्याख्या न करके स्वतंत्रता के पूर्व के भारतीय इतिहास-चेतना से प्रारम्भ कर आज तक के इतिहास को भी आलोकित करना चाहा है और साथ ही 'दिव्य-अनुभवों' को भी एक साधारण कथा द्वारा कहने का प्रयत्न किया है। 'सुन्दरपुर' नामक एक ग्राम था, जो दैन्य तथा अविद्या का जड़ पिञ्जर था, वहाँ 'वंशी' नामक एक कवि था जो एक साथ अरविन्द और सुमित्रा-नन्दन पन्त का प्रतिनिधि है। एक युवक 'हरि' है जो कवि वंशी का अनुगामी है, 'श्री' नामक हरि की बहिन भी आदर्शवादिनी स्त्री है। ये तीन पात्र नवचेतना-वाहक हैं। इनके विरुद्ध 'माधो' गुरु हैं, जो परम्परावादी हैं, मध्ययुगीन दार्शनिकता तथा दम्भ के प्रतिनिधि हैं,[1] उनके चेले वंशी, हरि तथा श्री के विरोधी हैं। वे अंग्रेजों के भक्त हैं, राजा-महाराजाओं के अनुगत हैं और परम्परागत विद्वत्ता के प्रचारक हैं। वंशी-हरि सुन्दरपुर में एक गृह-उद्योग-शिविर खोलते हैं। हरि के पिता 'रप्पु' और माँ 'जगदम्बा' हैं। 'प्रीति' नामक एक अन्य पालिता कन्या है, जो हरि के प्यार से पोषित हुई है। इतनी कथा ४२ पृष्ठों में दी गई है। कथा वस्तुगत रूप में प्रस्तुत न करके आत्मगत-रूप में प्रस्तुत की गई है, जैसे कवि को कथा में दिलचस्पी नहीं, केवल बीच-बीच में उपदेशों की पुनरावृत्ति में ही रुचि है। "मुक्ति-यज्ञ" शीर्षक अध्याय में गाँधी जी की 'डांडी-यात्रा' का वर्णन है, किन्तु सर्वथा प्राण रहित। लगता है कवि का आवेश पूर्णतः चुक गया है। भारतीय-इतिहास का वह जागरण इतने ठण्डे शब्दों में तथा ऐसी ठिठुरी शैली में व्यक्त किया गया है कि पढ़ते समय कोई सम्वेदन पाठक में नहीं जगता। बीच-बीच में कवि ने उपदेशों के अम्बारों पर गाँधी जी का वह रोमांचक वृत्तान्त असावधानी से टेसू की तरह टाँग दिया है।

यहाँ भारतीय इतिहास की प्रस्तुति कम, उसकी व्याख्या अधिक है, ऐसी व्याख्या जिसमें न कोई नवीनता है, न कलागत कोई आकर्षण। सुन्दरपुर के सत्याग्रह का चित्रण इस प्रकार किया गया है :—

वंशी को पिटवाकर गुरु ने
किया कूट खल नेता घोषित
लाठी की खा चोट फटा सिर
रहा रक्त लथपथ वह मूर्च्छित।

---

१. प्रतिस्पर्द्धा रखते वंशी से, गुरु माधव व्रज बोली के कवि
गढ़ते छन्द, कवित्त, सवैये, सिद्धराज कवि असंगत रवि।

पाश्चात्य विचारधारा ने हमारी राजनीतिक और धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को खोखला सिद्ध कर दिया। प्राचीन भारतीय विचारधारा के प्रति हमारी आस्था नष्ट प्राय: हो चली और हम उसे शंका और संदेह की निगाहों से देखने लगे और उसकी आलोचना करने को तत्पर हो गये। आर्यसमाज के आंदोलन ने, जो धार्मिक अंधश्रद्धा के विरोध स्वरूप आरम्भ हुआ था, हमें नई दृष्टि दी। पाश्चात्य भौतिकवाद ने हमारे सामने इस सत्य का उन्मूलन किया कि केवल धर्म एवं अध्यात्म का अवलम्ब लेकर हम जीवन को सफल नहीं बना सकते। उसके लिए लौकिक जीवन के विकास के लिए भी हमें प्रयत्नशील रहना है।[1] अनायास ही अध्यात्म के प्रति अनास्था और लौकिक के प्रति आग्रह की भावना में नास्तिकता की गंध दृष्टिगत होने लगी किन्तु इसका बौद्धिक आधार था। पश्चिमी मानवतावादी भावना ने हमारी सामाजिक मान्यताओं को प्रभावित किया और हमारी पाप-विषयक भावनाओं में भी परिवर्तन हुआ और हम भी दोषों के लिए केवल व्यक्ति को दोषी न मानकर सम्पूर्ण समाज पर उसका उत्तरदायित्व रखने लगे।

देशव्यापी ग़रीबी, बेकारी और विषमता तथा अंग्रेजी पूंजीवाद के शोषण ने जन जीवन को निराशामय, संशयी बना दिया। निराशा, संशय और हलचल की भावना संपूर्ण देश में व्याप गई और जन-जीवन तथा साहित्य भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। यह राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संघर्ष का काल था।

कविवर बच्चन का विकास काल यही था। इस संघर्ष-कालीन परिस्थितियों का प्रभाव कवि के जीवन पर अनायास ही पड़ा। कवि ने जब रचना आरम्भ की तब छायावाद का उत्कर्ष काल था। अतः छायावादी विचारधारा का प्रभाव भी कवि की आरम्भिक रचनाओं पर स्पष्ट है। छायावाद की संगीतमय शैली, सौन्दर्य भावना और गीति रचना को उन्होंने पूर्णतया अपनाया है।

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक एवम् उपदेशात्मक कविता में मानसिक प्रेरणा की कमी थी, उसमें हृदय का स्पंदन था ही नहीं, उसमें थे दिमाग़ के, बुद्धि के जड़ सिद्धान्त। वहाँ भावनाएँ न थीं। सिद्धान्तों पर सदा ही भावनाओं ने विजय पाई है, इसलिए इस जड़ कविता की प्रतिक्रिया के रूप में ही छायावाद की भाव-प्रधान कविता का श्रीगणेश हुआ। कल्पित सदा ही सुन्दर रहा है। द्विवेदी युग की आलोचनात्मक विश्लेषण प्रवृत्ति के विरोध से कल्पना और अनुभूति को उत्तेजना मिली। यही स्वच्छन्दतावाद है। स्वच्छन्दतावाद प्रधानतया कल्पनात्मक मनोदृष्टि है। इसलिए कविता में शृंगारिकता का भी समावेश हो गया। यह भाव तो कविता में आया, पर उस समय कवि में इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह सामाजिक नियमों के

---

१. श्री बच्चन ने भी भौतिकवाद को अवलम्ब मानकर गाया था—
'इस पार प्रिय मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा?'

प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है। कथातत्त्व की क्षीणता और भावनाओं की उपेक्षा स्मरणीय है।

द्वितीय खण्ड का शीर्षक है 'अन्तश्चैतन्य'। प्रथम सर्ग है, 'कला-द्वार' जिस के उपशीर्षक हैं 'संस्थान' 'द्वन्द्व' और 'विज्ञान' यहाँ हरि-वंशी द्वारा स्थापित 'कला-केन्द्र' की चर्चा है। वंशी का स्वप्न इसमें चरितार्थ हो रहा था। वंशी के रूप में पन्त जी ने अपना जो चित्रण किया है, उससे उनकी स्वप्निलता, तटस्थता तथा आत्मस्थता पर प्रकाश पड़ता है :—

नम्र था कवि, असंग, आत्मस्थ, वहिर्जीवन तटस्थ, अति अल्प।
भाव-उन्मेषित रहता चित्त, प्राण अन्तः शोभा के तल्प।
समर्पित जीवन था एकाग्र, प्रणतछाया वह प्रेम-प्रकाश।
धरा पर रचने जीवन-स्वर्ग, चेतना करती सृजन-विलास।

इसी प्रसंग में पन्त जी ने कला को असंगतियों में नव्य संगति की स्थापना कहा है (कला क्या कहता हरि सोन्मेष, असंगति में संगति भर नव्य !) किन्तु लोकायतन में काव्य तत्त्वों में संगति की स्थापना का किंचित् भी प्रयत्न नहीं है। 'संस्थान' के ५८ पृष्ठों में हरि-वंशी के कला-शिविर का विवरण एकदम नीरस है, यत्र-तत्र ही सौन्दर्य है। 'द्वन्द्व' शीर्षक सर्ग के ५० पृष्ठों में परम्परावाद का विवरण है, जिसमें कुछ स्थल ही आकर्षक हैं। यह समझ में नहीं आया कि अन्ततः इतने विवरण-विस्तार से काव्य की रचना में 'संगति' कैसे उत्पन्न हो सकती है? ६२ पृष्ठों के 'विज्ञान' शीर्षक में पन्त जी ने अपनी विदेश यात्रा का विवरण दिया है, जिसमें कुछ स्थल रमणीय हैं, परन्तु पुनः वही शिकायत है कि कथातत्त्व के साथ इसकी क्या संगति है?

'ज्योति-द्वार' अगला सर्ग है, जिसमें कवि वंशी विश्वभ्रमण से लौटता है और उसका स्वागत होता है। इस सर्ग में 'कला-शिविर' के युवक-युवती प्रेम के आधार पर जीवन व्यतीत करते हैं और विवाह-प्रथा को परम्परागत घोषित करते हैं :—

सोनचमेली के निकुंज भीतर, लेटी थी आस्था ऊषा सी सित
सुन्दर बैठा निकट भावनत सिर, गंध मुग्ध मधु पवन स्पर्श पुलकित।

इस प्रेम की विशेषता यह थी कि वह मानसिक था। 'वंशी' शारीरिक प्रेम को महत्त्व नहीं देता :—

शिश्नदंड में सीमित था जो सुख
व्याप्त निखिल आत्मा में उन्नत।

इसी मानसिक प्रेम के अभाव में 'अजित' और 'कुसुम', के शारीरिक प्रेम की असंगतियों पर प्रकाश डाला गया है :—

बाहुपाश से छुड़ा देह-लतिका, बोली क्लान्त 'कुसुम' लज्जा मोहित।
प्रणय-भोग के और विशद साधन, धरा सृजन रति में हो वह कुसुमित।

प्रेम का 'आध्यात्मिक-रूप' ज्योतिद्वार में मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है और शारीरिक प्रेम पतित करता है, यदि यह सारांश है तो इससे मध्ययुगीन दार्शनिक ही

वहन न कर सके और निराशा, पराजय, पलायन, वेदना और अतृप्ति में इन्हें शान्ति मिली। साथ ही कवियों की क्षयशील रुचियां, अकृत्रिम भाव-प्रवणता और असंयम को खुलकर काव्य में आने का अवसर मिला।······युवकोचित प्रेम, सौन्दर्य, निराशा तथा कामजन्य भावनाओं का प्रदर्शन इन तीनों कवियों—बच्चन, अंचल और नरेन्द्र शर्मा—ने समान रूप से किया है।······काव्य में निराशावाद, भोगवाद, नियतिवाद, क्षणवाद आदि का विकास हुआ। यह काव्यधारा अधिक ग्राह्य न हुई। कवियों में भी कालान्तर में परिवर्तन हुए और वे प्रगतिवादी काव्य आंदोलन में प्रविष्ट हुए, पर उनकी मूल चेतना सर्वत्र वही थी। उनके प्रगतिवाद में यौन-पक्ष का कहीं भी लोप न हुआ और कृत्रिमता का आभास होने लगा। कविगण अपनी स्थिति से परिचित हुए जिसकी आत्मस्वीकृति पश्चात्ताप के रूप में प्रकट हुई।'[1] ऊपरोक्त विचार डा० बलभद्र तिवारी के अपरिपक्व विचारों और पक्षपाती आलोचना के परिचायक हैं। लेखक ने कवियों की जिन कविताओं का संदर्भ दिया है, या तो वे उनके मूल भावों तक नहीं पहुंच पाये हैं, अथवा अपना समर्थन करने के लिए अर्थ को अनर्थ के रूप में ही अपना लिया है। प्रगतिवादी विचारधारा के अंतर्गत कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने भी मानव की सहज युग्मेच्छा की भावना को मानवोचित बताया है:—

क्षुधा-तृषा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर हो जाती मनुजोचित। युगवाणी, पृष्ठ ६५।

ग्राम्या में कवि कुछ और आगे बढ़ा है :—

धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?
मन में जन से लज्जित, शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर?
क्या क्षुधा, तृष्णा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन द्योतक?
मत कहो मांस की दुर्बलता है जीव प्रवर।
हे पुरुष तीर्थ नर-नारी-जन का हृदय मिलन।
आनन्दित होओ, गर्वित, यह जीवन का वर,
गौरव दो द्वन्द्व-प्रणय को पृथ्वी हो पावन।

मुझे लगता है कि डा० बलभद्र तिवारी ने कविवर पंत की विचारधारा को पढ़ा ही नहीं और न ही भारतीय परम्परा से परिचय स्थापित किया है जहां काम को चार पुरुषार्थों में अनिवार्य स्थान दिया गया है। कविवर बच्चन ने कहीं भी परकीया

1. आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका, डा० बलभद्र तिवारी, पृष्ठ २७०-७१।

उस दारुण क्षण से बच कुछ जन
आये प्रशान्त हिम प्रान्तर में ।
दे 'लोकायतन' उसे संज्ञा
जन रचते नवजीवन उपक्रम ।

यह है 'लोकायतन' की कहानी जहाँ सुन्दरपुर के संघर्ष और विनाश के बाद पुनः दिव्य अनुभवों के स्वर्णिम प्रकाश की वर्षा होने लगती है ।

अरगुवम से विनाश कराकर कवि अंत में विश्व शांति के लिए हमें प्रेरित अवश्य करता है किन्तु यह अस्पष्ट है कि मैदानों से भाग कर अर्थात् वास्तविक जीवन संघर्षों से पलायन कर हिमालय में 'लोकायतन' बनाने से किस प्रकार समस्या का समाधान होगा ? कामायनी में तो मनु की व्यक्तिगत मुक्ति का प्रश्न था किन्तु 'लोकायतन' तो लोक-प्रयोग है जिसमें माधोगुरु का परम्परावाद ही नहीं, अनेक विघ्न हैं । यह सत्य है कि 'लोकायतन' जैसे प्रयोग आवश्यक हैं किन्तु जिन प्रश्नों को हल करने के लिए 'लोकायतन' लिखा गया है, इनमें से किसी प्रश्न का वास्तविक उत्तर नहीं मिलता । 'लोकायतन' का समाज शायद सहयोगी समाज होगा, जिसमें समान वितरण होगा, उत्पादन के साधनों पर सबका बराबर अधिकार होगा किन्तु यह 'आश्रमीकरण' द्वारा समस्या का समाधान अत्यधिक मनोराज्यपरक (युटोपियन) लगता है । 'ज्योत्सना' में जैसे कवि ने एक 'युटोपिया' की रचना की है, उसी प्रकार 'लोकायतन' भी कल्पित मनोराज्य-विचरण मात्र है । यह युग युटोपियन युग नहीं है, यह युग तो धरती पर खड़े होकर समस्याओं को समझ कर उन्हें यथार्थ रूप में हल करने का युग है । आकाशगामी अनुभूतियों के आकर्षण दिखाकर अथवा मनुष्य के प्राकृतिक रूप को कोस कर अथवा पैग़म्बरों की तरह बहुत दूर खड़े होकर 'तरस' की भावना दिखाकर और किसी 'अतियुग' के अवतरण की मुनादी कराकर मनुष्य का ऊर्ध्वीकरण असम्भव है ।

काव्य के कथातत्त्व, भावप्रवणता आदि की संगति की चिन्ता न की जाय तो भी केवल नूतन सन्देश की दृष्टि से भी 'लोकायतन' हमें 'कहीं' नहीं पहुँचाता, एक मृग-मरीचिका अवश्य प्रस्तुत करता है । जिस 'संघर्ष' से पन्त जी को भय है, जिस 'वास्तविक-संगठन' से पन्त जी को घृणा है, वही संगठित-संघर्ष मानव समाज को मुक्ति दे सकता है । 'लोकायतन' का इस सन्दर्भ में यह उपयोग अवश्य है कि यह काव्य सदिच्छाओं, कल्याणकारी स्वप्नों, सहयोग के लिए किए गये प्रयत्नों और विश्वशांतिपरक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों को महत्त्व देकर हमारे सामाजिक-बोध को जाग्रत करता है । 'लोकायतन' घोर व्यक्तिवादी आस्थाहीन और निराशावादी 'नए कवियों' के ह्रासशील बोध के विरुद्ध आशा, मंगल, सहयोग, शांति और अध्यात्म की वाणी है, और इसी दृष्टि से उसका स्वागत किया जाना चाहिए । 'लोकायतन' में यत्र-तत्र व्यक्ति-वादी दृष्टि के विरुद्ध मार्मिक उक्तियाँ मिलती हैं, एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा :—

युग-सरिता की जीवन-धारा को अपना अनुदान देता रहता है।[1] कवि, युग का अत्यं भावुक प्राणी, युग के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। वास्तव में वह तो प्राचीन ए नवीन के बीच की कोमल कड़ी बना हुआ भविष्य के लिए अपने रस की धारा बहात रहता है। अतीत एवं वर्तमान की चट्टानों से ही शक्ति का संचय करता हुआ वह गति शील रहता है। अतीत, हमारी अनुभूति, हमारा ज्ञान, हमारी अखण्ड सांस्कृतिक धार में वर्तमान की परिस्थिति रूपी चट्टानों से टकराने का सामर्थ्य दान देकर गतिशील रखने में सहायक होता है। हम अतीत के प्रति उदासीन होकर जी नहीं सकते।

बच्चन ने अतीत एवं वर्तमान के प्रति कभी उदासीनता नहीं दिखाई। यह बात अलग है कि उनके काव्य का व्यक्तिवादी पक्ष अत्यंत सबल है पर इस व्यक्तिवादी पक्ष ने उनके काव्य को दुर्बल होने नहीं दिया, अपितु उसमें निजी जीवन रस निचोड़ा है जिससे वह जीवनगत अनुभूति के आलोक में अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय बन सका है। साहित्य सर्वप्रथम व्यक्तिवादी साधना है, वह समष्टिगत साधना नहीं। युग एवं जीवन की व्यक्तिगत अनुभूति ही कवि को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर युगों एवं कण कण पर आच्छादित कर देती है और वह एक युग का होते हुए भी युग-युग का बन जाता है और उसकी व्यक्तिगत साधना समष्टिगत बन जाती है।

कवि की किसी एक कृति की आलोचना करना उसके प्रति पूर्ण न्याय करने में बाधक होती है। इस छोटे लेख में कवि के विस्तृत काव्य जीवन की आलोचना संभव भी नहीं; पर मुझे सन्तोष भी है कि मैं कवि के काव्य-जीवन पर विस्तारपूर्वक बहुत पहले 'हालावाद और बच्चन' में अपने विचार प्रस्तुत कर सका हूँ। यहाँ हम उनकी सन् १९६३-६४ ई० तक की रचनाएं जो 'दो चट्टानें' में संकलित हैं, का मूल्यांकन करेंगे।

हम अतीत और वर्तमान के प्रति कवि-कर्म के विषय में विचार कर रहे थे, हमारे कवि ने भी नये पुराने के समन्वय की बात कही है और दोनों को अन्योन्याश्रित बताया है:—

उद्घाटन नये से पुराने का होता है
सृजन पुराने से नये का होता है।
'एहि क्रम कर अथ-इति कहुं नाहीं'।[2]

१. नदी तुम बहती चलो।

× × ×

तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा और घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः उसे फिर संस्कार तुम देना।—नदी के द्वीप, अज्ञेय।

२. दो चट्टानें, पृष्ठ १६१।

का मूल्यांकन भी 'अतिमन' को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है और मुझे यह कहने में ज़रा भी संकोच नहीं है कि 'अतिमन' की दृष्टि से 'लोकायतन' कहीं अधिक सफल रचना है किन्तु हम तो 'अतिमन' को भी 'सहजमानवता' के सन्दर्भ में रखकर ही देखने के अभ्यस्त हैं और इस दृष्टि से वही 'अतिमनवादी' काव्य 'महाकाव्य' कहला सकता है जो कला के साधारण नियमों की उपेक्षा न करे। मैं यह नहीं समझ पाया कि यदि लोकायतन में कथा-विधान सुगठित होता और ऊपर से आरोपित उपदेश पात्रों की वास्तविक-परिस्थिति से अद्भुत होते तो 'अतिमनवाद' में कहाँ किस प्रकार कमी आ जाती ? बल्कि मेरा तो अनुमान है कि उससे पन्त जी की विचारधारा अधिक कलापूर्ण ढंग से पाठकों का हृदय परिवर्तन कर सकती। काव्य में 'दर्शन' को रूपायित होना पड़ता है, विचार को भाव की ऊष्मा में तपकर आना पड़ता है, तभी वह प्रभावशाली और मार्मिक बनता है। हम यह आग्रह छोड़ने को प्रस्तुत हैं कि पन्त जी अंधविश्वासात्मक रहस्यवाद का प्रचार न करें। उन्हें अरविन्द-दर्शन में शांति मिली है, वह उनकी आस्था का प्रश्न है, वह प्रसन्नतापूर्वक उसका संदेश वितरित करें किन्तु हमारा आग्रह, एक आलोचक का आग्रह तो यह है कि वह 'दर्शन' को काव्य में रूपायित करें। सन् १९४० के बाद पन्त जी की काव्यकला के ह्रास का मुख्य कारण यही है कि वह अधिकाधिक दार्शनिक बनते जा रहे हैं। पैग़म्बर महाकाव्य नहीं लिख सके और जो पैग़म्बर महाकाव्य लिख सके हैं, वे उस कृति में मानव के सहज धरातल पर उतर कर, उसकी भावना की अंगुली पकड़कर, उसके शिशुमन को क्रमशः 'रहस्यमय' शृंगों पर आरोहण सिखाते हैं। स्पूतनिक युग में भी मानव-मन प्रवृत्तियों की दृष्टि से शिशु ही है, उसके मनोविज्ञान की उपेक्षा करके, उसे उपदेशों के तमाचों से शुद्ध नहीं किया जा सकता। कामायनीकार इस रहस्य को समझता था अतः 'कामायनी' की संकुल किन्तु साथ ही मानवीय कला आज भी अन्यतम है। पन्त जी यदि 'कला और बूढ़ा-चाँद' के कला-स्तर को भी लोकायतन में निभा पाते तो भी यह काव्य उपदेशायतन न बनता। फिर भी 'लोकायतन' के कतिपय आकर्षक रूप द्रष्टव्य हैं :—

१. शीशफूल मेरा रवि, शशि मुख-दर्पण
   उषा माँग रोली, ज्योत्स्ना तन उबटन।
२. गंगातट, कँप उठता थर-थर

   ठिठुरा सा श्लथ, वीचि पंख जल।
३. जाड़े में कँप बूढ़ा कौआ, खाँसा करता बैठ ठूंठ पर।
४. चितकबरे केंचुल से जल पर, रेंग रहे थे अंतिम रवि कर।
५. सरसों से लघु यत्न करें क्या, पर्वत सा शतियों का संकट।
६. धेनुत्वचा से लहरे जल पर, ज्योतिरेख कँप प्रतिपल थर-थर।
७. शिशिर बात अहि सी रेती पर, लोट रही थी उठा धूलि फन।

है वहाँ भारतीय परम्परा अपने अहं के विलीनीकरण द्वारा अपने आराध्य में भक्ति के सहारे चिर जीवन की कल्पना प्रस्तुत करती है। हनुमान के वरदान की माँग ही कुछ विलक्षण है—'मैं तब तक जीवित रहना चाहता हूँ जब तक आपके गुण-गौरव की गाथा चलती रहे और जहाँ-जहाँ वह चले मैं श्रवण करता रहूँ :—

अंजनि-नंदन ने उनसे यह वर माँगा था—
'यादव राम कथेयं से भवेल्लोकेषु शत्रुहन
तावज्जीवेयमित्वेवं'...
'शत्रुविनाशन राम,
तुम्हारी कथा लोक में रहे जब तलक
तब तक जीऊं इसी तरह मैं।'[1]

हम देखते हैं कि किस तरह हनुमान ने भक्ति भावना से वही अमरत्व माँग लिया था :—

एक तरह से अंजनि-सुत ने
अमर बने रहने का ही तो वर माँगा था,
क्योंकि स्पष्ट था उनके मन में
सीयाराम की कथा अमर है
और उसे सुनने की उनकी तृषा अमर है।[2]

भक्ति-युक्त इस माँग में अहं का विलीनीकरण था। यही कारण है कि इस माँग में किसी तरह का दूषण नहीं जहाँ कि सिसिफ़स की मृत्यु पर विजय संसार का भूषण नहीं दूषण बन गई और प्रत्येक व्यक्ति जीवन से उकताकर महसूस करने लगा कि :—

प्रकृति-गत अमरत्व कितना
रुग्ण है, दयनीय है, करुणाजनक है!
मौत आए!
मौत आए! की
सदाएं लगीं उठने,
ये दुआएं माँगने कितने लगे
उस मरण से वंचित नगर में—
प्रभु, कृपा कर मृत्यु भेजो!
दया कर तन-मुक्त कर दो।[3]

---

१. दो चट्टानें, पृष्ठ २०५।
२. वही, पृष्ठ २०५।
३. वही, पृष्ठ १८९-९०।

से अनुभोग-बोध के धरातल पर जिस 'रचना संसार' की ओर इंगित करती है वह अपनी असामान्यता में विचित्र संसार है। शायद यही कारण है, और मुक्तिबोध के जीवन संबंधी अनेक प्रसंगों के आधार पर भी, कि मुक्तिबोध सहज सामान्य आदमी होते हुए भी विचित्र कवि थे, विचित्र क्षमताओं वाले कवि थे। माना यह जाना चाहिए कि मुक्तिबोध उस अर्थ में कवि थे ही नहीं जिस अर्थ में हम दिनकर, बच्चन या उनसे पहले मैथिलीशरण गुप्त को कवि मानते हैं। मुक्तिबोध के कवि-कर्म में और मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर और बच्चन के कवि-कर्म में साफ अंतर यह है कि एक कविता प्रक्रिया को जीता है, दूसरा उसे 'श्रमसाध्य' मानता है और मस्तिष्क, मस्तिष्क की क्षमताओं का बल-प्रयोग करता है। शेष कवियों के लिए दृश्य संसार 'वर्णनात्मक' आधार है या भावनाओं के आरोपण का आधार है जबकि मुक्तिबोध दृश्य संसार के सादृश्यों के अंदर एक और 'संसार' से परिचित कराते हैं। कविता की इस भीतरी दुनिया के लिए जीवनानुभव के जिन दृश्य-तंत्रों का आधार मुक्तिबोध ने लिया है, वह दूसरे धरातल पर मुक्तिबोध के जीवन-बोध, आधुनिक दबाव और इतिहास बोध को स्पष्ट करता है। यह भीतरी दुनिया अविश्वसनीय, अयथार्थ, काल्पनिक, आरोपित अथवा आध्यात्मिक नहीं है, विचित्र होते हुए भी यह भीतरी दुनिया हमारे समय की आत्मीय और परिचित दुनिया है जो ऐतिहासिक परिदृश्य में अपनी तमाम भयानकताओं तथा विद्रूपताओं के रूप में प्रकट हुई है। असल में भीतर का यथार्थ बाहर से अधिक भयावह है किंतु उसका अनुभव कवि के भीतर जुड़े रहने से संबद्ध है और तभी वह एक प्रामाणिक अनुभव है। भीतर का संसार इसलिए भी भयावह है क्योंकि वह मानव-अस्तित्व के उस निर्धारित नियत को बड़ी निर्ममता से जानता है जिसकी 'धारणा' शताब्दियों से अब तक केवल इसलिए पीड़ाजनक है क्योंकि वह बहुत अधिक मानवीय है। मुक्तिबोध की पंक्तियाँ इस बात के लिए प्रमाण हैं :

भीतर जो शून्य है
उसका एक जबड़ा है
जबड़े में माँस काट खाने के दाँत हैं
उनको खा जायेंगे
तुमको खा जायेंगे।

(मुक्तिबोध)

'रचना संसार' जिन अनुभवों पर आधारित है वे अनुभव हमारी समग्र पीढ़ी की 'संक्रामक बीमारी' होते हुए भी मुक्तिबोध के निजी व्यक्तिगत अनुभव हैं : जो कविता में आकर सर्व हो गये हैं। यह 'संक्रामक रोग' न केवल नयेपन का है अपितु आधुनिकता का दबाव है, जो समय की तीव्र अनुकूलता के फलस्वरूप मनुष्य के 'प्रताड़ित अंतर प्रदेश' में प्रवेश कर जाता है। मुक्तिबोध में सहज और स्वीकार्य ढंग से अपने

है वहाँ भारतीय परम्परा अपने अहं के विलीनीकरण द्वारा अपने आराध्य में भक्ति के सहारे चिर जीवन की कल्पना प्रस्तुत करती है। हनुमान के वरदान की माँग ही कुछ विलक्षण है—'मैं तब तक जीवित रहना चाहता हूँ जब तक आपके गुण-गौरव की गाथा चलती रहे और जहाँ-जहाँ वह चले मैं श्रवण करता रहूँ :—

अंजनि-नंदन ने उनसे यह वर माँगा था—
'यावद राम कथेयं से भवेल्लोकेपु शत्रुहन
तावज्जीवेयमित्वेवं'...
'शत्रुविनाशन राम,
तुम्हारी कथा लोक में रहे जब तलक
तब तक जीऊं इसी तरह मैं।'[1]

हम देखते हैं कि किस तरह हनुमान ने भक्ति भावना से वही अमरत्व माँग लिया था :—

एक तरह से अंजनि-सुत ने
अमर बने रहने का ही तो वर माँगा था,
क्योंकि स्पष्ट था उनके मन में
सीयाराम की कथा अमर है
और उसे सुनने की उनकी तृषा अमर है।[2]

भक्ति-युक्त इस माँग में अहं का विलीनीकरण था। यही कारण है कि इस माँग में किसी तरह का दूषण नहीं जहाँ कि सिसिफ़स की मृत्यु पर विजय संसार का भूषण नहीं दूषण बन गई और प्रत्येक व्यक्ति जीवन से उकताकर महसूस करने लगा कि :—

प्रकृति-गत अमरत्व कितना
रुग्ण है, दयनीय है, करुणाजनक है !
मौत आए !
मौत आए ! की
सदाएं लगीं उठने,
ये दुआएं माँगने कितने लगे
उस मरण से वंचित नगर में—
प्रभु, कृपा कर मृत्यु भेजो !
दया कर तन-मुक्त कर दो।[3]

१. दो चट्टानें, पृष्ठ २०५।
२. वही, पृष्ठ २०५।
३. वही, पृष्ठ १८६-६०।

है, जबकि सच्चा कवि उस पूरे अनुकरण-विधान को तोड़ता है और उससे अपने काव्य का निजी व्यक्तित्व स्थापित करता है। मुक्तिबोध जब कहते हैं :

मुझे नहीं मालूम
सही हूं या गलत हूं या कुछ और
सत्य हूं कि मात्र मैं निवेदन सौंदर्य

तब उनका सीधा प्रयोजन 'कुछ और' होने का संकेत है जो एक बहुत बड़ी सच्चाई को सामने रखता है। अंतर इतना है कि दूसरा कवि इस बात को बहुत घुमा-फिरा कर अपनी स्थापना करने में खर्च कर देता है या बहुत हुआ तो फूलों, पत्तियों या जीवों की तुलना में अपने आप को अलग करने या रहने की घोषणा करता है। दूसरा कवि वर्णन करता था, आरोप करता था, अनुभवों को काव्यमय बनाने के लिए 'झूठ' का और कला के झूठ का सहारा लेता था, मुक्तिबोध ने ऐसा नहीं किया। मुक्तिबोध ने अधिकांश कविताओं को काव्य-वृत्त (पोयटिक थीम्स) दिये हैं, चाहे वे छोटी कविताएँ हों या बड़ी कविताएँ। ब्रह्मराक्षस, चांद का मुंह टेढ़ा है, मुझे पुकारती हुई पुकार, एक अंतर्कथा, चकमक की चिनगारियां, एक स्वप्न-कथा, चंबल की घाटियों में और अंधेरे में शीर्षक कविताएं इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। ये काव्य-वृत्त 'कला के झूठ' का आश्रय नहीं लेते क्योंकि जिस जीवन-खंड से ये 'वृत्त' लिये गये हैं, वह मनुष्य के वर्तमान के भयावह वृत्त हैं। ये केवल वातावरण को पुष्ट करने के लिए नहीं अपितु 'वातावरण' भी इनसे प्रभावित है। जीवन-वृत्तों के ये स्फटिक (क्रिस्टलाइज्ड) प्रतीक बिंब रूढ़ि प्रतीक बिंबों की तरह नहीं हैं। मुक्तिबोध ने इनका कलात्मक संयोजन, रुचि और प्रभाव, दोनों दृष्टियों से विचित्र किया है। जैसे इलियट के बारे में कहा जाता है कि उनका काव्य उस कमरे की तरह है जिसमें अनेक पंक्तियों में दर्पण रखे हुए हैं, थोड़े संशोधन से यही बात मुक्ति बोध के बारे में कही जा सकती है कि उनका काव्य दर्पणों का विचित्र संयोजन है :

सामने है अंधियाला ताल और
स्याह उसी खाल पर
संवलायी चाँदनी

अंधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई
भीतों और अहातों के, कांच-टुकड़े जमे हुए
ऊंचे-ऊंचे कंधों पर
चाँदनी की फैली हुई संवलायी झालरें...

कवि ने पहले भी गाया था—'जानकर अनजान बन जा' किन्तु इस अहंवादी युग में अपने दान-अनुदान को भुलाए रहना पाश्चात्य संस्कृति की नहीं भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है। आज यह बहुत कठिन कार्य प्रतीत होता है, पर कठिनाइयों में ही तो जीवन की सार्थकता का परिचय मिलता है। इसी में आत्मतोष की एक भावना जगती है। वह अपने कार्य से ही प्रेम करता है, यह भूल जाता है कि उसने किसके लिए क्या किया :—

मेरे जैसों के श्रम से,
संगीत से, कहाँ कुछ बदलता है;
पर इतना भी क्या कम है
कि जब मेरा तन श्रांत है
मेरा मन शान्त है।[1]

अहं के विकास से[2] अथवा अहं के विलीनीकरण से प्राप्त अमरता एक-रूपता एवं एक-रसता के कारण जीवन सौन्दर्य को मंद कर देती है, मृत्यु जीवन के विकास का एकमात्र कारण है।[3] जीवन विविधताओं का दूसरा नाम है। प्रेम में भी एक-रूपता, चिर मिलन की भावना, जो प्रेम की सहज भावना होती है[4] प्रेम के भाव को मंद कर देती है :—

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है॥
—रामनरेश त्रिपाठी

हमारा कवि भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं। वह तो मानता है कि प्रेमी प्रेम योग से मिलन में भी विरह की अनुभूति कर उसका द्विविध रूप बनाए रखता है और उसमें एक-रूपता का दूषण आने नहीं देता :—

---

१. दो चट्टानें दो युगों में, पृष्ठ १३३।
२. 'ख़ुदी को कर बुलंद इतना कि हर तक़दीर से पहले
ख़ुदा बंदे से यह पूछे बता तेरी रज़ा क्या है?'—अलामा इक़बाल।
३. 'अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास'।—महादेवी वर्मा।
हमारा कवि भी इसी भावना को प्रस्तुत करता है :—
और अब संसार जीने जिए जाने को विवश था।
जल्द ही अनुभूति होने लगी इसकी
मरण में भी एक रस था।—दो चट्टानें, पृष्ठ १८८।
और भी प्रकृति में मृत्यु भी है सुन्दरता—शिवपूजन सहाय के देहावसान पर, पृष्ठ ११६।
४. 'सब सह सकता है, परोक्ष ही नहीं सह सकता प्रेम'। पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त।

व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभव आदर्श
विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ॥
खोजता हूं पठार...पहाड़...समुंदर ॥
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म।

मुक्तिबोध निरंतर अपने से लड़ते और खोजते प्रतीत होते हैं। आतंक, पीड़न और त्रास सहने के बीच वे खोजते जाते हैं, और अपने अलगाव को स्पष्ट करते जाते हैं :

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।

दूसरे प्रसंग में :

मैं उनके नियमों को खोजता
नियमों में ढूंढता हूं अपवाद
परंतु, अकस्मात
उपलब्ध होते है नियम अपवाद के !

जिंदगी की कोख में नया इस्पात—कहीं किसी भावना की संकेतक है, लेकिन 'मेरे लोग' शीर्षक इस पूरी कविता में मुक्तिबोध ने शब्द-कथा द्वारा वर्तमान की भयावहता की गाथा कही है। कहीं-कहीं मुक्तिबोध की कविताओं को पढ़कर अनुभव के रहस्य-देश का आभास मिलता है। कविताओं के पूरे अर्थ से हटकर वे भौतिक जगत के यथार्थ से जुड़ी हैं इसलिए यहाँ कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने जिस रहस्यदेश का अन्वेषण किया है उसमें भौतिक जगत का भयावह यथार्थ पूरी तरह से अवस्थित है।

समकालीन कवियों में शमशेर ने हिंदी की स्वस्थतम आधुनिक सृष्टि के रूप में मुक्तिबोध के काव्य को पहचाना है। मुक्तिबोध की कविताएं माचवे के अनुसार 'ग्वैर्निका इन वर्स' हैं। शायद एक बात की ओर कम लोगों ने संकेत किया है कि मुक्तिबोध सच्चे अर्थों में जनकवि थे क्योंकि उन्होंने भारतीय जन-जीवन के उस पक्ष को लिया है जिसमें वे स्वयं पिसे हैं। इस दृष्टि से मुक्तिबोध 'निराला' की परंपरा में भी आ जाते हैं। परंतु इस परंपरा में देखना उनके साथ न्याय नहीं होगा। उनके

अपने हित में शोषण करती
बुद्धि बिचारी हार मानकर,
शक्ति पक्ष का, न्यायोचित-अन्यायोचित हो,
पोषण करती ।[1]

कविवर प्रसाद ने भी कामायनी में श्रद्धा एवं इड़ा के संघर्ष द्वारा यह प्रतिपादित किया था कि मानव का विकास केवल इड़ा द्वारा संभव नहीं, उसे श्रद्धा की आवश्यकता है । आनंद प्राप्ति श्रद्धा द्वारा ही संभव है । बच्चन भी भारतीय संस्कृति की इस भाव-धारा से अपरिचित नहीं :—

इसीलिए ऊंचाई की अन्तिम उठान पर
शक्ति नहीं, रे,
भक्ति चाहिये ।
भक्ति विनत है,
और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है ।[2]

इतना ही नहीं विनयशीलता ही बड़प्पन का वास्तविक लक्षण है :—

विनम्रता से नीचे ही सचमुच ऊँचे हैं ।[3]

कवि त्रिकाल द्रष्टा होता है । यह केवल अतीत एवं वर्तमान में ही जीवित नहीं रहता । वह भविष्य को भी आत्मसात् किये रहता है ।[4] हमारा कवि इन दो युगों के बीच में भविष्य की आशंका से मुक्त नहीं । वह भविष्य के बारे में चिंतित है । आज के पतनोन्मुख मानव को देखकर कवि के मन में शंका जगती है :—

मनुज की संतान
जो अमरत्व की आकांक्षा
मन में छिपाए,
मृत्यु को उसने
कभी बंदी किया था क्यों ।

आज के पतनोन्मुख बुद्धिवादी एवं शक्ति में आस्था रखने वाले युग के प्रति कवि का भारतीय सांस्कृतिक संदेश है—उसे संयत रखने के लिए रामेच्छा की लक्ष्मण रेखा चाहिये, उसे हनुमान के आत्मदमन की लक्ष्मण रेखा की आवश्यकता है और

---

१. दो चट्टानें, पृष्ठ २०९-१० ।
२. वही, पृष्ठ २०० ।
३. वही, पृष्ठ २०० ।
४. 'युग सत्य शब्द, युग रूप शब्द, युग कर्म शब्द,
शाब्दित कर भावी के सहस्रशत मूक अब्द,
तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार ।'—सुमित्रानन्दन पंत, वाणी.

५०

दो चट्टानें

डॉ० दशरथराज

परिवर्तनशील सृष्टि अपनी गति की छाप युगों की चट्टानों पर छोड़ती आगे बढ़ती रहती है और सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करने लगता है।[1] कवि जो विश्व की इकाई होते हुए भी अपने को अपने अहं के घेरे से उन्मुक्त कर कण कण को अपने में बिखेरता हुआ, कण-कण की जड़ चेतन की अनुभूति को अनुभव करता हुआ जीता है, वह युग के प्रति उदासीन नहीं हो सकता। ये युगों की चट्टानें उसकी जीवन सरिता को गति देती हैं और वह नित्य प्रवाहशील रहते हुए भी इन चट्टानों के अनुदान को नहीं भूलता।

बच्चन का काव्य काल उनकी लगभग २३ वर्ष की आयु सन् १९३० ई० से आरम्भ होता है। यह काल भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वतन्त्रता संग्राम का शंख-नाद सारे भारत में गूंज उठा था। आंदोलन अनायास नहीं होते। आन्दोलन से पूर्व अन्दर ही अंदर आग वर्षों तक दबी और भड़कने का प्रयत्न करती रहती है और परिस्थिति का अवलम्ब पाकर भड़क उठती है। बच्चन का जन्म सन् १९०७ ई० में हुआ। सन् १९१४ ई० के महायुद्ध में भारतीय जनता और नेताओं ने अंग्रेजों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर युद्ध में उनका साथ दिया। उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज़ विजयोपरान्त भारत को कुछ अधिकार देंगे और भारत के स्वातंत्र्य सम्बन्धी प्रश्न पर सहानुभूति पूर्वक विचार करेंगे। किन्तु अंग्रेजों के बारे में ही नहीं शासकों के बारे में यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि वे **'काम परे कुछ और हैं काम सरे कुछ और'**। किन्तु युद्ध के समाप्त होते ही अंग्रेजों ने अपने दमन का कठोर चक्र चलाया और हमें रोल्ट ऐक्ट जैसा काला-कानून और जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड पुरस्कार स्वरूप मिले। जनता की आंखें खुलीं। जनता में असंतोष की लहर दौड़ गई जो सर्वप्रथम सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन में और फिर सन् १९३०-३१ ई० के सत्याग्रह आंदोलन में व्यक्त हुई।

---

१. युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद चिह्न चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।—कामायनी—प्रसाद।

इस संकलन में चीनी आक्रमण से प्रभावित होकर लिखी गई सामयिक रचनाएं भी हैं। कवि की कला का वास्तविक परिचय ऐसे स्थलों पर ही होता है कि वह सामयिक विषय को शाश्वतता किस प्रकार प्रदान करता है? वैसे सभी भावनाएं सामयिक होती हैं किन्तु कवि इस सामयिकता की सीमाओं को पार करता हुआ एक ऐसे शाश्वत सत्य का स्पर्श करता है जो उसकी रचना को देश और काल तक सीमित न रख उसे व्यापकत्व प्रदान करता हुआ अमरत्व प्रदान करता है। हमारे कवि की 'बंगाल का काल' सामयिक भावना को लेकर लिखी गई कलाकृति है पर वह अपने वैभव से देशकाल की सीमाओं को लांघ कर शाश्वत बन गई है, आज भी उसका महत्त्व है, कल भी उसका महत्त्व कम नहीं होगा। युग युग तक वह मानव को जागृति का संदेश देती रहेगी और उसे अपने अधिकारों के लिए लड़ने मरने की प्रेरणा देती रहेगी।

इस संकलन की इन सामयिक रचनाओं में भी हमें कवि के उसी काव्य-वैभव के दर्शन होते हैं जो उसे देश-काल की सीमाओं से उन्मुक्त कर उसके शाश्वत संदेश के कारण युगों तक भारतीय जनता को अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा देता रहेगा और उसमें आत्म-सम्मान एवं आत्म-गौरव की भावना को जगाता रहेगा।

इतिहास साक्षी है कि भारत ने नित्य ही शत्रुओं पर दया दरसाई है। इस दया के दुष्परिणाम भी इतिहास ग्रंथों में उल्लिखित हैं, किन्तु भारत से ये संस्कार जनित भाव आज भी पूर्णतया दूर नहीं हो पाये हैं। युग की मान्यताएं आज बदल चुकी हैं। आज शत्रु को छोटा मानकर छोड़ देना बुद्धिमानी नहीं माना जा सकता:—

विश्व मानव के लिए संभव न होता
इस तरह का पाश्विक आघात सहना;
शाप इससे भी बड़ा है शत्रु का प्रच्छन्न रहना।[1]

चुनौती पाकर शान्त बैठना मृतक का लक्षण है, जीवित तो चुनौती की उपेक्षा कभी नहीं करता। नित्य चुनौतियों को स्वीकार कर संघर्षरत हमारे कवि ने वैयक्तिक सत्य को सामूहिक जीवन-सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है:—

जब हमें कोई चुनौती दे,
हमें कोई प्रचारे,
तब कड़क
हिमशृंग से आसिंधु
यह उठ पड़े
हुंकारे—
कि धरती कांपे,
अम्बर में दिखाई दें दरारें।[2]

---

१. दो चट्टानें, उभरहिं अंत न होइ निबाहू, पृष्ठ १९-२०।
२. वही; सूर समर करनी करहिं, पृष्ठ १३।

विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला अपने परिणय-प्रेम के गीत गाए। इसलिए उसने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मक साधन ढूंढ निकाले। प्रतीक अह की कारा से मुक्ति के द्वार हैं और इन कवियों ने इन प्रतीकों के द्वारा अपनी घुटन को अभिव्यक्ति देकर जहां एक ओर संतोष की सांस ली वहां दूसरी ओर सूक्ष्म कल्पित को स्थूलता प्रदान कर अनुभूतिगम्य भी बनाया। प्रतीकों के मूल्यों में परिवर्तन भी होते हैं, और प्रयोक्ता को उन्हें अपनी भावनाओं के अनुरूप रूप देने का अधिकार भी रहता है। इन कवियों ने अपने कवि सुलभ अधिकारों का उपयोग किया। उनकी भावनाएं अस्पष्ट रूप में ही प्रतीकात्मक व्याख्याओं द्वारा व्यक्त होने के कारण छायामय सी रहीं, इसलिए भी इस युग के काव्य को छायावाद का नाम मिला। छायावाद के विषय में हम कह सकते हैं कि जीवन की अतृप्त कामनाओं की मन में उठने वाली कसक बाहर न निकल पाई और भीतर ही भीतर क्षति के छायाचित्र से अवचेतन मन पर निर्माण होने लगे। वह निकट वास्तविकता कष्टदायक थी इसलिए उसके प्रति उपेक्षा के भाव के कारण विमुखता दिखाई गई और स्वप्निल लोक का निर्माण हुआ जहां पर जीवन के उन अभावों की काल्पनिक क्षतिपूर्ति की जाने लगी। वे भावनाएं या तो स्वर्ण अतीत में अथवा आदर्श भविष्य में अपनी परितृप्ति खोजने लगीं। छायावाद ने वास्तविक जगत् को छोड़कर काल्पनिक जगत् में ही अपने को खुश करने की कोशिश की।

व्यक्तिपरक गीतिकाव्य के अन्तर्गत प्रणयभावना की अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-भावना प्रधान स्थान रखती है। छायावादी कवियों में सौन्दर्य-प्रेम सबसे अधिक पंत में लक्षित होता है। कवि का यह सौन्दर्य प्रेम सौन्दर्य के अन्वेषण में परिणत हो गया है। छायावादी कवियों ने यथाशक्ति अपनी प्रणय भावना को गोपन रखने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं यह भावना बलवती होकर फूट पड़ी है। जैसे कविवर प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों में :—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके,
मुख चन्द्र चांदनी जल से, मैं उठता था मुंह धोके। आंसू।

उद्दाम लालसा या तृष्णा को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर उसे अभिव्यक्त करने का साहस और श्रेय सर्व-प्रथम कविवर बच्चन को है। यह स्पष्टता आगे चलकर व्यक्तिवादी कवियों के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता बन गई है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि व्यक्तिपरक गीतिकाव्य ने अनुभूतियों के प्रकाशन में ईमानदारी का ध्यान सदैव रखा है। पर यही ईमानदारी उनकी कठोर आलोचना का कारण भी बनी है। कविवर बच्चन ने इस ओर संकेत भी किया है :—

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छल रहित व्यवहार मेरा। मधुकलश, पृष्ठ २०।

डा० बलभद्र तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध—'आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका' में लिखा है—'ये कवि छायावादी काव्य के समान आस्था और विश्वास का

काश यह रूप चिर स्थायी हो पाता ! वीरता मृत्यु का आलिंगन करने में है, मारने में नहीं। जो मौत से डरता है, वह जीता ही कब है :—

आग से नहीं
पानी से डरोगे,
दूर भागोगे,
करोगे दीन क्रंदन,
पूर्व मरने के
हज़ार बार मरोगे ।[1]

चीन ने अचानक अपना आक्रमण रोक दिया। राजनीतिक स्थिति चाहे जो रही हो, किन्तु कवि इस स्थिति से एक नई विचारधारा प्रस्तुत करना चाहता है। बात यह नहीं कि भारत एवं भारतीय जनता की वीरता में कवि की आस्था नहीं। बात तो वास्तव में यह है कि कवि भारतीय जनता की वीरता को आजीवन जागृत रखने के लिए और उसमें ऐसे प्राणों की प्रतिष्ठा करने में ही जीवन एवं काव्य सफलता मानता है जहाँ भारतीय जनता इस बात में विश्वास रखने लगे कि 'न लड़ने की अपेक्षा लड़कर मरना जीवन का श्रेय है।[2] भारतीय जनता की वीरता को सजग करने के लिए कवि ने चीन के लौटने का दूसरा आशय ग्रहण किया है कि चीन हम पर दया दिखाकर लौट गया है। उसने हमें मारने के योग्य भी नहीं समझा मानो वह लौटने से यह प्रतिध्वनित करता गया हो कि मरे को मारना कायरता है, कायर को मारने का भाव महान् कायरता है और हमें प्राण दान देकर उसने अपनी वीरता और बड़प्पन को हम पर प्रतिष्ठापित किया हो। कवि इस स्थिति को मरने से भी भयंकर बताना चाहता है।

वे हमें हीन ग्रंथियों में जकड़कर चले गए,
वे हमें बिना पराजित किए,
'तुम विजित किए जाने योग्य भी नहीं !'
कहकर चले गए ![3]

जीवन को संघर्ष मानने वाला हमारा कवि जीवनगत संघर्ष के महत्त्व को कभी नहीं भूला किन्तु आज के युग की व्यवस्था ही कुछ बदली-बदली सी है। आज जीवन के मूल्य कुछ बदले से हैं कि शेरों की खुली नीति की निंदा होती है और शृगालों की चतुराई की दाद दी जाती है :—

---

१. दो चट्टानें, विभाजितों के प्रति, पृष्ठ २३।
२. It is better to have fought and lost, than never to have fought at all.
३. वहीं, मूल्य चुकाने वाला, पृष्ठ २६।

प्रेम को प्रश्रय नहीं दिया है और न परकीया प्रेम के गीत गाये हैं कि उनको समाजहित की भावना से चिंतित हो उठना चाहिये। विद्वान् लेखक ने उमर ख़ैयाम की विचार-धारा को बिल्कुल ही नहीं समझा और उसके प्रभाव को, कविवर बच्चन के काव्य को निराशा का गीत मान लिया है। स्वस्थ आलोचना निष्पक्ष होनी चाहिये।

घोर निराशा व्यक्ति को अनासक्त बनाकर द्रष्टा होने के लिए तैयार करती है। कवि की वेदना ने ही उसे द्रष्टा बनाया है और वह जीवन की विविधताओं का इतनी सूक्ष्मता से अध्ययन कर सका है। निराशा व्यक्ति को भाग्यवादी या नियतिवादी बना देती है। हमारे कवि ने भी नियतिवाद को स्वीकारा है :—

हम जिस क्षण में जो करते हैं हम बाध्य वही हैं करने को।[1]

किन्तु संघर्षमय जीवन बिताते हुए हमारे कवि को इस नियतिवाद ने अक्षम और निकम्मा नहीं बनाया और वे कोरे भाग्यवाद के समर्थक नहीं रहे हैं। इस नियतिवाद ने जहां उन्हें अपनी परिस्थितियों पर विजय पाने का साहस दिया है वहां दूसरी ओर अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा भी दी है। यही कारण है कि कवि के काव्य में पलायनवाद का कहीं भी दर्शन नहीं होता। वह नित्य-जीवन संघर्ष के लिए प्रेरणा देने वाला बना रहा है :—

तीर पर कैसे रुकूं मैं, आज लहरों में निमंत्रण।[2]

तथा—धूलिमय नभ, क्या इसीसे बांध दूं मैं नाव तट पर ?[3]

पंथ ने तो हमारे कवि को हर कदम पर जीवन की चुनौती दी है, प्रेरणा दी है :—

पंथ जीवन को चुनौती दे रहा है हर कदम पर,
आखिरी मंज़िल नहीं होती कहीं भी दृष्टिगोचर,
धूलि से लद, स्वेद से सिंच, हो गयी है देह भारी,
कौनसा विश्वास मुझको खींचता जाता निरंतर ?—
पंथ क्या, पथ की थकन क्या, स्वेद कण क्या
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं।[4]

कोई भी व्यक्ति अपने को युगीन परिस्थितियों से दूर नहीं रख सकता। जीवन जीने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का परिचय शीघ्र ही मिल जाता है कि समाज की मान्यताएं क्या हैं, राजनीतिक परिस्थितियां क्या हैं, उनकी क्या मांग है ? जीवन सरिता के बीच में खड़ा यह भाव-द्वीप जीवन-सरिता से ही संस्कार प्राप्त करता है। कभी वह बहता है, ढहता है, पर वह पुनः अपने पैर टेक कर उठता भी है। जहाँ वहाँ युग सरिता को अपने अस्तित्व से प्राप्त करता है, वहाँ वह भी यौन समर्पण द्वारा

१. मधुकलश, पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ ७३।
३. वही, पृष्ठ ६७।
४. सप्तरंगिनी, पृष्ठ १७१-७२।

काश यह रूप चिर स्थायी हो पाता ! वीरता मृत्यु का आलिंगन करने में है, मारने में नहीं। जो मौत से डरता है, वह जीता ही कब है :—

आग से नहीं
पानी से डरोगे,
दूर भागोगे,
करोगे दीन क्रंदन,
पूर्व मरने के
हज़ार बार मरोगे।[1]

चीन ने अचानक अपना आक्रमण रोक दिया। राजनीतिक स्थिति चाहे जो रही हो, किन्तु कवि इस स्थिति से एक नई विचारधारा प्रस्तुत करना चाहता है। बात यह नहीं कि भारत एवं भारतीय जनता की वीरता में कवि की आस्था नहीं। बात तो वास्तव में यह है कि कवि भारतीय जनता की वीरता को आजीवन जाग्रत रखने के लिए और उसमें ऐसे प्राणों की प्रतिष्ठा करने में ही जीवन एवं काव्य सफलता मानता है जहाँ भारतीय जनता इस बात में विश्वास रखने लगे कि 'न लड़ने की अपेक्षा लड़कर मरना जीवन का श्रेय है।[2] भारतीय जनता की वीरता को सजग करने के लिए कवि ने चीन के लौटने का दूसरा आशय ग्रहण किया है कि चीन हम पर दया दिखाकर लौट गया है। उसने हमें मारने के योग्य भी नहीं समझा मानो वह लौटने से यह प्रतिध्वनित करता गया हो कि मरे को मारना कायरता है, कायर को मारने का भाव महान् कायरता है और हमें प्राण दान देकर उसने अपनी वीरता और बड़प्पन को हम पर प्रतिष्ठापित किया हो। कवि इस स्थिति को मरने से भी भयंकर बताना चाहता है।

वे हमें हीन ग्रंथियों में जकड़कर चले गए,
वे हमें बिना पराजित किए,
'तुम विजित किए जाने योग्य भी नहीं !'
कहकर चले गए ![3]

जीवन को संघर्ष मानने वाला हमारा कवि जीवनगत संघर्ष के महत्त्व को कभी नहीं भूला किन्तु आज के युग की व्यवस्था ही कुछ बदली-बदली सी है। आज जीवन के मूल्य कुछ बदले से हैं कि शेरों की खुली नीति की निंदा होती है और शृगालों की चतुराई की दाद दी जाती है :—

---

१. दो चट्टानें, विभाजितों के प्रति, पृष्ठ २३।
२. It is better to have fought and lost, than never to have fought at all.
३. वही, मूल्य चुकाने वाला, पृष्ठ २६।

हमारा कवि वर्तमान एवं नये के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा, हालांकि उस पर व्यक्तिवादी निराशाजनक गीतों के गायक होने के आरोप भी लगाये जाते रहे हैं जो निरर्थक एवं ईर्ष्या-जनित आलोचना के परिचायक हैं। नये के प्रति कवि के भावों का परिचय हमें उनकी रचनाओं—बंगाल का काल, सूत की माला और खादी के फूल से भी मिलता है। 'नया पुराना' कविता में कवि ने अपने नये के प्रति भाव को इन शब्दों में रखा है :—

मेरी आंख नये के प्रति
निरंतर सजग रहे !
मेरी बुद्धि
नये के प्रति
अनवरत अकुंठित और उदार रहे।
मेरा मन
नये की ओर
सर्वदा आकर्षित-उन्मुख हो,
ललकता रहे !
क्योंकि नया
सृजन की अनंत और असमाप्य
संभावनाओं का
सर्वमान्य, सर्वप्रत्यक्ष प्रमाण है।[1]

इस कलाकृति का शीर्षक कवि ने अपनी कृति—'सिसिफ़स बरक्स हनुमान' के आधार पर रखा है।[2] इसलिए हम इस संकलन की इस लम्बी कविता की आलोचना सर्वप्रथम करेंगे। इस कविता में कवि ने यूनानी एवं भारतीय कथाओं के आधार पर अपनी धारणाओं एवं आस्थाओं को स्पष्ट किया है। हमारा कवि विदेशी साहित्य परम्परा से प्रभावित होते हुए भी भारतीय एवं भारतीय संस्कृति का प्रशंसक रहा है। अगर हम यह कहें कि इस विदेशी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति और अधिक आस्थावान बनाया है तो अनुचित नहीं होगा। पाश्चात्य परम्पराओं एवं मान्यताओं ने हमें भले ही जीवन विषयक नए वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी मूल्य प्रदान किये हों पर शान्ति एवं जीवनानंद की प्राप्ति भारतीय ज्ञान परम्परा से ही प्राप्त हो सकती है। यहां दो विभिन्न संस्कृतियों के दो प्रतीकों को प्रस्तुत करते हुए कवि ने सिसिफ़स एवं हनुमान द्वारा मृत्यु पर विजय पाने का भावना को स्पष्ट किया है। पश्चिमी परम्परा जहाँ अपने अहंभाव और छल-छद्म के आधार पर मृत्यु को भी चमका देना चाहती

१. दो चट्टानें, नया पुराना, पृष्ठ १५९-६०।
२. वही, अपने पाठकों से, पृष्ठ ७।

परीक्षाओं को हमने केवल परीक्षा भवनों और उत्तर-पुस्तकों तक सीमित समझ रखा है और यह भूल गये हैं कि जीवन के समक्ष न जाने कितने प्रश्न खड़े होकर नित्य उत्तर माँगा करते हैं और हम जब तक जीवित हैं, हमें न जाने कितनी परीक्षाएं देनी पड़ती हैं जहाँ सारा समाज, सारा विश्व परीक्षक बनकर हमारे कार्य की आलोचना प्रत्यालोचना किया करता है। वास्तव में जीवन अपने में एक ऐसी परीक्षा है जिसमें परीक्षा में परीक्षा गुंथी हुई है :—

किन्तु अपनी भूल भारी
तब हुई मालूम सहसा
जबकि जाना जिंदगी सारी
परीक्षा ओ' परीक्षक सब जहाँ है।
ज़िंदगी तो इम्तहां-दर-इम्तहां है।[1]

और जब व्यक्ति इन परीक्षाओं से गुज़रता हुआ महसूस करता है कि 'जान पड़ता है के मंज़िल पास' तब उसमें उत्साह एवं उमंग और बढ़ने लगता है :—

इसलिए कहता नहीं हूं
पांव मेरे थक गए हैं;
बल्कि इस कारण कि अब
मेरे पगों की
सब थकावट मिट गई है;
कहीं सुस्ताने, ठहरने का नहीं ये नाम लेते,
रोक जैसे बस इन्हें मंजिल सकेगी।[2]

मंज़िल के समीप पहुँचता हुआ वह अपने जीवन संघर्ष के थपेड़ों को भुलाने में समर्थ होता है और महसूस करता है :—

पंथ के कुश-कंटकों ओ'
क्रूर कंकड़-पत्थरों ने
जो किए थे भाव निर्मम
आज मुझको वे पुरे-से लग रहे हैं।
दर्द, पीड़ा, टीस ग़ायब;
जब किसी से या किसी भी तरह की,
सच, है नहीं मुझको शिकायत।[3]

---

१. दो चट्टानें, जीवन परीक्षा, पृष्ठ १२०।
२. वही, आभास, पृष्ठ १२३।
३. वही, आभास, पृष्ठ १२३।

इस दूषण का प्रमुख कारण है आज का बुद्धिवादी दृष्टिकोण जिसके अंतर्गत हम स्वयं तो जीना चाहते हैं, अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं, फिर चाहे उसके लिए हमें सब को ही नष्ट क्यों न करना पड़े। 'जियो और जीने दो' का भाव वहाँ रह ही नहीं गया है :—

मैं न मिटने के लिए
कुछ भी करने में न हिचकूंगा।
जीना ही तो पहला धर्म है,
यानी अस्तित्व बनाए रखना।[1]

और इस अस्तित्व को बनाए रखने के लिए वह औरों को मिटाना अनुचित नहीं समझता :—

अपना अस्तित्व बनाए रखने को
सब का अस्तित्व मिटाना भी पड़े
तो भी नहीं झिझकूंगा।
लेकिन मिटा भी सकूं
तो मैं उन्हें मिटाऊंगा नहीं,
उन्हें कम करके, घटा करके
नीचा दिखा करके छोड़ दूंगा,
तुलना में अपने को उनसे अधिक,
उनसे बढ़कर, उनसे ऊँचा
सिद्ध कर ही तो मैं अपने अहं को
घोषित करता रह सकता हूँ।[2]

अपने अहं का पोषण करने के लिए आज का अहंवादी युग दूसरों पर अपने उपकारों का प्रदर्शन करने में ही जीवन का श्रेय मानता रहा है किन्तु जो विनम्र है, जिसने अपने को ही मिटा दिया है, वह अपने अनुदान से भी अनजान बना रहता है और यह सरल नहीं :—

सबसे यह बढ़कर है,
अपने अनुदान से
अनजान बने रहते हैं,
पृथ्वी पर अहं की वे
वृद्धि नहीं करते हैं।[3]

---

१. दो चट्टानें, गैंडे की गवेषणा, पृष्ठ ७५।
२. वही, गैंडे की गवेषणा, पृष्ठ ७५।
३. वही, माली की सांझ, पृष्ठ १३१।

हमारे पीने में कुछ भेद,
कि कोई पड़ता झुक-झुक झूम,
किसी का घुटता तन-मन प्राण
अमर पद लेता कोई चूम ।[1]

जीवन की कितनी वास्तविक अभिव्यक्ति है। कोई जीवन में नशे का अनुभव करके जी जाता है, उसे महसूस ही नहीं होता कि वह जी रहा है, कोई अपना दम घुटते हुए पाता है तो कोई मृत्यु से टकराकर अमर पद का अधिकारी बन जाता है। इन तीनों रसों की अभिव्यक्ति करते हुए हमारे कवि ने सुरा को कल्पना-स्वप्न, हलाहल को कटु सत्य, और अमृत को जीवन का आदर्श बताया है, जिसे कोई विरला ही पाता है और पाने वाला मौन हो जाता है।[2] इस सत्य को जानकर व्यक्ति जीवन के किसी भी रस से अपने को दूर नहीं रखता, वह हर रस में भीगने को तयार रहता है :—

अब जो तेरे मन को भाए
    तू वह रंग चढ़ाए जा, रे !
भाग चुकी अब जब सब सारी,
    जितना चाह भिगाए जा, रे ![3]

कविवर प्रसाद ने कामायनी में आज के युग की विडम्बना दर्शाई थी कि किस तरह आज इच्छा, ज्ञान और कर्म के क्षेत्र भिन्न हैं। जीवन की असफलता का प्रधान कारण यही है। विचार, उच्चार और आचार के साम्य से ही जीवन की सफलता संभव है, हमारा कवि भी कहता है कि केवल तन को रंगने से क्या होता है ? वास्तव में रंग तो मन पर ही चढ़ाया जाना चाहिए :—

कठिन कहाँ था गीला करना,
रंग देना इस बसन, बदन को,
मैं तो तब जानूँ रस-रंजित
कर दे जब तू मेरे मन को,
    तेरी पिचकारी में वह रंग
    वह गुलाल तेरी झोरी में
हो तो तू घर, आँगन, भीतर
    बाहर फाग मचाए जा, रे ![4]

---

१. हलाहल, पृष्ठ ८८ ।
२. सुरा है जीवन का वह स्वप्न ... जिसे संसार,
हलाहल जीवन का कटु सत्य, ... हाहाकार,
अमृत है जीवन का आदर्श ... ?
और जो करता भी है प्राप्त ... ।—हलाहल, ...
३. दो चट्टानें, भिगाए जा रे, पृष्ठ १...
४. वही, पृष्ठ १३८ ।

इस दूषण का प्रमुख कारण है आज का बुद्धिवादी दृष्टिकोण जिसके अंतर्गत हम स्वयं तो जीना चाहते हैं, अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं, फिर चाहे उसके लिए हमें सब को ही नष्ट क्यों न करना पड़े। 'जियो और जीने दो' का भाव वहाँ रह ही नहीं गया है :—

मैं न मिटने के लिए
कुछ भी करने में न हिचकूंगा।
जीना ही तो पहला धर्म है,
यानी अस्तित्व बनाए रखना।[1]

और इस अस्तित्व को बनाए रखने के लिए वह औरों को मिटाना अनुचित नहीं समझता :—

अपना अस्तित्व बनाए रखने को
सब का अस्तित्व मिटाना भी पड़े
तो भी नहीं झिझकूंगा।
लेकिन मिटा भी सकूं
तो मैं उन्हें मिटाऊंगा नहीं,
उन्हें कम करके, घटा करके
नीचा दिखा करके छोड़ दूंगा,
तुलना में अपने को उनसे अधिक,
उनसे बढ़कर, उनसे ऊँचा
सिद्ध कर ही तो मैं अपने अहं को
घोषित करता रह सकता हूँ।[2]

अपने अहं का पोषण करने के लिए आज का अहंवादी युग दूसरों पर अपने उपकारों का प्रदर्शन करने में ही जीवन का श्रेय मानता रहा है किन्तु जो विनम्र है, जिसने अपने को ही मिटा दिया है, वह अपने अनुदान से भी अनजान बना रहता है और यह सरल नहीं :—

सबसे यह बढ़कर है,
अपने अनुदान से
अनजान बने रहते हैं,
पृथ्वी पर अहं की वे
वृद्धि नहीं करते हैं।[3]

---

१. दो चट्टानें, गैंडे की गवेषणा, पृष्ठ ७५।
२. वही, गैंडे की गवेषणा, पृष्ठ ७५।
३. वही, माली की सांझ, पृष्ठ १३१।

हाड़-मांस के मनुष्य से
फ़र्क सिर्फ़ इतना है,
मंज़िल पर पहुँचकर
थकने का सुख नहीं पाता है,
पुलकित नहीं होता है।
सिर झुके सौ नहीं, हज़ार बार
समर्पित नहीं होता है।
मुंह तो चलाता, पर
बात सदा दूसरे की
दूसरे के स्वर में दुहराता है।
गाता हुआ, गाता नहीं,
दूसरे का टेप किया गीत ही बजाता है।[1]

इस निर्जीव में जहाँ व्यक्ति समष्टि का अंश बनकर अपने अस्तित्व को उसमें विलीन कर अपने अहं को, अपने आत्म-सम्मान को भूला हुआ जीता है, जीवन में कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं होता। जो जीवन की विविध अनुभूतियों से वंचित जीवन जीते हैं, जिनमें एक स्थिरता होती है, उन्हें कवि ने माँस के फ़र्नीचर की उपमा दी है 'जिसे चाहे जहाँ पर धर दिया जाय, पड़ा-पड़ा सड़ता रहता है। ये लोग अपने अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को भूले रहते हैं। हमारा कवि जिसने सदैव अस्तित्व के गीत गाये हैं[2] यह सब सहन नहीं कर सकता कि मानव इस तरह अस्तित्व-हीन हो जाय।

आज जब सब ओर जीवन के मूल्य बदल गए हैं—सरकार एवं सरकारी दफ़तर एवं विश्वविद्यालय भी बदल गए हैं। सरकार न्याय और नीति को ही अपना कर जीती है सो बात नहीं। बच्चन ने बहुत समीप से इसका अनुभव भी किया है और उनका कवि गा उठा है :—

और सरकार कभी होती नहीं
पाबंद
सच की, न्याय, नैतिकता, उचित की;
उचित-अनुचित,
जो बनाए रहे उनकी अडिग सत्ता,
बे-हिचक, बे-झिझक है करणीय उनको।[3]

---

१. दो चट्टानें, काठ का आदमी, पृष्ठ ६८-६६।
२. वही, सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर : पृष्ठ १४१।
बीज है अस्तित्व का व्यक्तित्व,
जिसके गीत मैंने कम नहीं गाए, सुनाए—
३. वही, १४७।

प्रेम योग यह
जोकि मिलन में विरह जगाकर
मिलन-तृप्ति में मिलन-तृषा की
उत्कटता भी
साथ-साथ अनुभव करता है ।[१]

जीवन का सौन्दर्य परिवर्तन में है । परिवर्तन जीवन के सौन्दर्य का एक-मात्र कारण है और इसी परिवर्तन को आधार बनाए यह प्रकृति आज भी चिर-युवती, चिर-आकर्षक बनी हुई है :—

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल ।
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र, आह ! उत्सुक है उनकी धूल ।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक
नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्तन में टेक ।।

—प्रसाद, कामायनी

सिसिफ़स एवं हनुमान के माध्यम से जहां कवि ने एक ओर भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित की है वहाँ इस बात की भी घोषणा की है कि आज का बुद्धिवादी युग छल-कपट को ही विद्या का चरमोत्कर्ष समझने लगा है । सिसिफ़स भी छल-कपट से मृत्यु पर काबू पाना चाहता है :—

क्या नहीं छल से
मरण से पार पाया जा सकेगा ?
बुद्धि मानव को
इसी के वास्ते तो दी गई है,
जिस जगह बल हार जाए
बुद्धि छल से जीत कर ले ।[२]

विद्या शक्ति को संयमित रख उसका सुसंचालन करती है, उसे शोभन बनाती है पर जब बुद्धि शक्ति की अनुगामिनी होकर चलती है तब बुद्धि ज्ञान और विद्या की संज्ञा से वंचित रह जाती है, वहाँ उचित अनुचित का, विवेक का प्रश्न ही नहीं रह जाता :—

पर विद्या से
शक्ति और हो जाती,
हो सकती थी तीखी !
शक्ति बुद्धि का

---

१. दो चट्टानें पृष्ठ २०३ ।
२. वही, पृष्ठ १८६ ।

क्रंदन भर लिया हो, पर वही निराशा देखते-देखते आशा में बदल जाती दृष्टिगत होती रही है। कवि को विश्वास है कि अगर हम अपने पथ को विश्वास पूर्वक पार करें तो अवश्य ही हम अपने जीवन-मूल्यों को एक बार पुनः प्राप्त कर लेंगे, मात्र हृदय में विगत के लिए सबल पश्चात्ताप की भावना जग जाय :—

किन्तु आत्म-प्रवंचना जो कभी संभव थी
नहीं अब रह गई है।
तो फंसा युग-पंक में मानव रहेगा ?
तो जला युग-ताप से मानव करेगा ?
नहीं।
लेकिन स्नान करना उसे होगा
आँसुओं से—
पर नहीं असमर्थ, निर्बल और कायर,
सबल पश्चात्ताप के उन आँसुओं से,
जो कलंकों का विगत इतिहास धोते।[1]

इस सबके लिए धैर्य चाहिये ताकि हम यथार्थ को खुली आँखों देख सकें, अनुभव कर सकें :—

समय आ गया यथार्थ को खुली आँखों देखने,
पूर्ण भोगने, निडर स्वीकृत करने का,
सपने को पाषाणों के अंदर सेने का।[2]

हमारा अतीत हमें बताएगा कि निर्माण सहज नहीं, उसके लिए जीवन दान देना पड़ता है :—

तोड़-फोड़ आसान,
सृजन के लिए रक्त देना पड़ता है।[3]

इस संग्रह में एक बड़ी कविता 'सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर' शीर्षक से आती है जिसमें कवि ने सार्त्र के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए साहित्यकार एवं समाज के स्वरूप पर विशेष प्रकाश डाला है। इस कविता में कवि की आत्मा की पुकार है। कवि ने सार्त्र में और अपने में कई रूपों में समानता पाई है। सार्त्र को जो नोबेल पुरस्कार बरसों पहले मिलना चाहिए था, वह उसे उस समय दिया जाने लगा जब वह मान अपमान की सीमाओं को पार करके एक ऐसा स्थान प्राप्त कर चुका था जहाँ नोबेल पुरस्कार से सार्त्र का महत्त्व नहीं बढ़ता अपितु सार्त्र को

---

१. दो चट्टानें, युग पंक, युग ताप, पृष्ठ ५५-५६
२. वही, कवि से केंचुआ, पृष्ठ ६०
३. वही, क्रुद्ध युवा बनाम क्रुद्ध वृद्ध, पृष्ठ १४३।

आवश्यकता है हनुमान के आत्म-त्याग की भावना की, न कि सिसिफ़स के अहंवाद की। आज के युग में इन्हीं गुणों का अभाव है और हमारी पतनोन्मुख पीढ़ी अगर अपनी सीमाओं को पहचानकर अपनी शक्ति को सद्मार्ग पर लगाए और आत्मदमन तथा आत्म-त्याग द्वारा परोपकार के पथ पर अग्रसर हो तो अवश्य ही उसका कल्याण होगा :—

काश उसे संयत कर सकती
सत्य-स्वरूपा
रामेच्छा की लक्ष्मण-रेखा।

× × ×

काश उसे संयत कर सकती
हनुमान के आत्म दमन की
लक्ष्मण रेखा।

× × ×

काश कि उनको संयत रखती
हनुमान के आत्म-त्याग की,
उदाहरण की, लक्ष्मण रेखा ![1]

कविवर प्रसाद ने भी कामायनी में इसी समन्वयवादी संदेश का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए शक्ति का संचय निर्बलों के रक्षण हेतु आवश्यक बताया था :—

विश्व की दुर्बलता पर बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार,
हंसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

हमारे कवि ने युग की भावधारा एवं भारतीय संस्कृति के महत्त्व को कहीं भी नहीं भुलाया।

इस बड़ी कविता के अतिरिक्त इस संग्रह में अनेक कविताएँ हैं जिन पर युग की छाप स्पष्ट दृष्टिगत होती है। कवि ने स्वयं इस बात को स्वीकारा भी है कि—'सामयिक स्थिति और मेरी मन:स्थिति का प्रतिबिंब इन पर पड़ना स्वाभाविक ही था।'[2]

---

१. दो चट्टानें, पृष्ठ २१३-१५।
२. वही, अपने पाठकों से, पृष्ठ ७।

समीक्षकों में कौन-सा महत्त्वपूर्ण स्थान पा सका? हिन्दी समीक्षकों ने बच्चन को कभी मान सम्मान नहीं दिया। विश्वविद्यालयों ने उनका कोई सम्मान नहीं किया जबकि आज सम्मान बिकते हैं। आज तो सम्मान उनका होता है जो सम्मान के इच्छुक होते हैं और जो सम्मान पाने के लिए विभिन्न प्रकार के आयोजन करते रहते हैं और स्वयं ही अपने सम्मान के लिए अपने प्रशंसकों की एक समिति बना डालते हैं। हमारा कवि जो अभी साठ के समीप पहुँच चुका है, अपने को मान सम्मान के ऊपर उठा मानता है और आज वह अनुभव करता है कि जब उसे इन चीज़ों की आवश्यकता थी वह नहीं पा सका और आज :—

जिन चीज़ों की चाह मुझे थी,
जिनकी कुछ परवाह मुझे थी,
दीं न समय से तूने, असमय क्या ले उन्हें करूँगा!
कुछ भी आज नहीं मैं लूंगा![1]

शासक शासन दण्ड से लोगों के शरीर पर राज्य कर सकता है, मन पर नहीं:—

परवशता हो सकती है, नहीं होती भीति में प्रीति।[2]

सच्चा राजा वह है जो जन मन पर अपना राज्य करता है। हमारे कवि को साहित्य के ठेकेदारों ने कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया इसका कारण व्यक्तिगत ईर्ष्या ही रहा है पर हमारा कवि जन मन पर अपना अधिकार वर्षों से बराबर बनाए रहा है। उनकी यह लोक-प्रियता ही उनको हिन्दी में कोई स्थान नहीं दिला सकी, पर हमारा कवि संतुष्ट है :—

राजसी लगता अधिकतम
जब कि राजा
राज-सिंहासन स्वयं ही त्याग देता!
जन तथा सज्जन बिठाएँ
उर-सिंहासन पर जिसे
उसके लिए कंचन-सिंहासन धूलि-मिट्टी।
जन-समर्पित
शब्द-शिल्पी के लिए
आसन उचित केवल वही,
केवल वही, केवल वही है।[3]

---

१. दो चट्टानें, सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर, पृष्ठ १५२।
२. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी।
३. दो चट्टानें, सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर, पृष्ठ १५२-५३।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व हम लोगों में एक संगठन था, एकता थी, राष्ट्रीय चेतना थी, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे राष्ट्रीयता लुप्त प्रायः हो गई एवं भारतीयता के स्थान पर प्रान्तीयता के राक्षस ने हम लोगों को ऐसा ग्रस लिया है कि हम प्रान्तीयता से आगे राष्ट्रहित की कल्पना को ही भूल गये हैं। दो दिन पूर्व ही मैसूर वालों की घोषणा हमारे अधःपतन की परम-सीमा का परिचय देती है जहाँ उन्होंने कहा कि अगर बेलगांव महाराष्ट्र में गया तो भारत को यहाँ पाकिस्तान और चीन के लिए भेजी गई सेना से भी अधिक सेना भेजनी होगी। कहते हैं इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। इस तरह की घोषणा करने वालों को प्रान्तीयता को भड़काने वालों को फौरन दण्डित करना शत्रु को दण्डित करने से भी अधिक आवश्यक है। भारत पर अचानक हुए चीनी आक्रमण ने जहाँ भारत के समक्ष एक बड़ी समस्या खड़ी कर दी, वहाँ दूसरी ओर भारतीय जनता एक बार फिर आपसी शत्रुता भुलाकर, प्रान्तीयता की भावना से उठ खड़ी हुई और उसने अपनी उसी अदम्य राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया। हमारा कवि इस चीनी अजदहे का आभार मानता है कि उसके कारण हम एक बहुत बड़े दूषण से मुक्त हो गये :—

अजदहे हम किस क़दर तुझको सराहें,
दाहिना ही सिद्ध तू हमको हुआ है
कि चलता रहा बाएं।[१]

और कवि अनुभव करता है कि :—

देश मेरा उठ पड़ा है,
स्वप्न झूठा पलक-पुतली से झड़ा है,
आँख फाड़े घूरता है
घृण्य, नग्न यथार्थ को
जो सामने आकर खड़ा है।
प्रान्त, भाषा, धर्म, अर्थ-स्वार्थ का
जो वात रोग लगा हुआ था—
अंग जिससे अंग से बिलगा हुआ था—
एक उसका है लगा धक्का
कि वह गायब हुआ-सा लग रहा है,
हो रहा है प्रकट
मेरे देश का अब रूप सच्चा ![२]

---

१. दो चट्टानें, बहुरि बंदि खलगन सति भाएं, पृष्ठ १८।
२. वही, पृष्ठ १८।

हमारा कवि, कवि-धर्म के प्रति नित्य सजग रहा है। कवि ने ऐसे कवियों पर कुठाराघात किया है जो नवजागरण की भावना को महत्त्व नहीं देते और अंधेरे एवं गत्यवरोध से ही प्रेम करते हैं। वे अपने आचरण से समाज में उलझन ही निर्माण करते हैं और उनकी आवाज़ पर चलने वालों की स्थिति ठीक उस सांप की सी होती है जो चूहे के भ्रम में छिछूंदर को पकड़ लेता है। ऐसे लोगों में से कुछ मरते हैं, और कुछ अंधे होते हैं और कुछ किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था में ही रह जाते हैं। कवि को स्पष्टवादी बनना चाहिये, युग-धर्म के प्रति सजग रहना चाहिये जिससे कि वे युग में होने वाले परिवर्तन के संदेशवाहक बनकर जन-जीवन तक वास्तविक स्थित को निष्पक्षता पूर्वक रख सकें। कवि नये युग का संदेश वाहक हुआ करता है, उसका पूर्वाभास उसकी रचनाओं में प्राप्त होता है, पर इतना निश्चित है कि वातावरण का परिवर्तन नव-युग का परिचायक बन जाता है। कवि कहता है सवेरा होने पर मुर्ग़ा बोलता है, मुर्ग़े के बोलने से सवेरा नहीं होता :—

मूल बात यह है
कि सवेरा होने पर मुर्ग बोलते हैं
मुर्ग़ के बोलने से सवेरा नहीं होता।[1]

जागरण काल में भी कुछ ऐसे लोग होते हैं जो जागने के लिए तैयार नहीं होते। जो लोग दिन चढ़े भी सोते रहते हैं, उनके लिए दिन एवं रात में अन्तर ही क्या है? आवश्यकता है दिन का आगमन जानकर अपनी तंद्रा एवं सुस्ती को त्यागने, जागने की, ललकार कर उठने की कि शायद उसकी पुकार अन्य अलसाए हुए को जागने में सहायक बने। हमारे कवि को कवि-धर्म का परिचय है, वह कवि-मुर्ग़ को मूर्ख नहीं मानता :—

मुर्ग़ इतना मूर्ख, भोला, आत्मदंभी नहीं
इतना भी न समझे,
प्रात होता है सदा अपने समय से,
सूर्य उठता क्षितिज पर
अगणित किरण के शर चलाता,
तिमिर हो भयभीत-आहत
भागता चुपचाप,
जीवन-ज्योति-जागृति-गान
कण-कण गूंजता है।[2]

१. दो चट्टानें, कुक-ड़ू-कूं, पृष्ठ ६७।
२. वही, सुबह की मांग, पृष्ठ ६८।

स्वाभिमानी सिंह से
यह कभी हो सकता नहीं है,
फ़र्रुखावादी
खड़ा ओ' खुला
उसका खेल होता,
किन्तु दुनिया तो नतीजा देखती है।
सिंह का बल
स्यार के छल से पराजित,
मूल्य का विघटन यही है![1]

जीवन-गत संघर्ष के उपरांत कोई सफलता प्राप्त कर लेता है तो दुनिया उसके संघर्ष एवं परिश्रम को भुलाकर मात्र उससे ईर्ष्या करती है और उस पर किसी आग्रह का आरोप करती है। कवि की इस उक्ति में उसके निजी जीवन-गत संघर्ष की कथा के साथ उनसे जलने वालों के प्रति भी उनके भावों का परिचय मिल जाता है। कवि तो अपने को ठेठ भारतीय परम्परा रखता हुआ किसी से ईर्ष्या न रख, दूसरों की खुशी में खुशी मानने वाला घोषित कर रहा है :—

दुनिया बड़ी ओछी है;
औरों को खुश देख
लोग कुढ़ा करते हैं,
मातम मनाते हैं, जलते हैं, मरते हैं।
हमने तो औरों की खुशियों में
खुशियाँ मनाई हैं।[2]

अपने आप मियां मिट्ठू बनकर जीने में आत्मतोष नहीं आत्मवंचना का भाव है। जीवनगत संघर्ष से प्राप्त होने वाली विजय पर लोग किसी को प्रोत्साहन नहीं देते। तालियाँ तो आज मात्र खेल के मैदान में ही बजती हैं. जीवन के खेल में विजयी आज भी उपेक्षित बने हुए हैं, कितनी विडम्बना है जीवन की :—

व्यक्ति संघ-विधान से जब जूझता है
जीतता भी तो बहुत कुछ टूटता है।
और ताली जीत पर बस खेल के मैदान में है,
क्षेत्र जीवन का उपेक्षा का,
लगाये धूप का चश्मा दृगों पर, वेहया,
ओ' तेल डाले जाने में है।[3]

१. दो चट्टानें, शृगालासन, पृष्ठ ८२।
२. वही, दो बजनिए, पृष्ठ १३५-३६।
३. वही, दयनीयता : संघर्ष : ईर्ष्या : पृष्ठ १०८।

और शब्द-यज्ञ में मनुष्य के कलुष दहें।[1]

कवि युग युग तक अपने विचारों को मानव मन में संचित रखने में असमर्थ होता है। वह तो उस केंचुए की तरह है जो ज़मीन में छिद्र बनाता जाता है और जल को पृथ्वी के अंदर संचित करने में सहायक होता है। कवि भी सांस्कृतिक जलधार को मानव-मन में संचित रखने में सहायक होता है :—

मैं धरती में एक लगन से
छिद्र बनाता,
छिद्र बनाता, छिद्र बनाता,
जो जल ऊपर बरसा करता
लक्ष-लक्ष छिद्रों से मैं नीचे ले जाकर
संचित करता
जो कि अनल-आतप में भी
धरती की छाती ठंडी रखता—
भू रहती उर्वरा, मरकतांबरा,
स्निग्ध, शीतल तरुवर-छाया प्रदायिनी,
चिर सुहासिनी।[2]

कवि लेखनी की शक्ति से पूर्णतया परिचित है। जिनको तलवार से मारा नहीं जा सकता, उन्हें लेखनी सदैव के लिए मार डालती है। कवि उन भ्रष्टाचारी, अनीति के पथिकों को लेखनी का इशारा देना चाहता है :—

क़लम से ही
मार सकता हूँ तुझे मैं,
क़लम का मारा हुआ
बचता नहीं है।[3]

इन विविध कविताओं में कवि की आत्मा का वही ओज है जो उसके गीतों में आरम्भ से दृष्टिगत होता रहा है। कवि ने कविता नहीं लिखी, कविता ने कवि से अपने को लिखाया है, इसी से बच्चन की कविता सजीव एवं सप्राण है, प्रभावशाली है। इस संकलन की अधिकांश कविताएँ मुक्त छन्द में की गई हैं फिर भी इस गीतिकार की आत्मा ने इन मुक्त छन्द रचनाओं में भी गीति-तत्त्व के गुण भर दिये हैं। हमें विश्वास है कि हमारा कवि आज की देश की स्थिति का समीप से अध्ययन करता हुआ अपनी नवीनतम कृतियों से जन-जीवन को गति-शील बनाने का प्रयत्न करता रहेगा। हमें कवि से अभी बहुत आशाएँ हैं कि कवि की लेखनी अभी मंद नहीं पड़ी, वह तीक्ष्णतर होती जा रही है, भगवान् करे अभी हम उनसे कुछ और बहुमूल्य रचनाएँ प्राप्त कर सकें।

---

१. दो चट्टानें, खून के छापे, पृष्ठ ४६।
२. वही, कवि से केंचुआ, पृष्ठ ६३।
३. वही, लेखनी का इशारा, पृष्ठ ३५।

स्वाभिमानी सिंह से
यह कभी हो सकता नहीं है,
फ़र्रुखाबादी
खड़ा औ' खुला
उसका खेल होता,
किन्तु दुनिया तो नतीजा देखती है।
सिंह का बल
स्यार के छल से पराजित,
मूल्य का विघटन यही है![1]

जीवन-गत संघर्ष के उपरांत कोई सफलता प्राप्त कर लेता है तो दुनिया उसके संघर्ष एवं परिश्रम को भुलाकर मात्र उससे ईर्ष्या करती है और उस पर किसी आग्रह का आरोप करती है। कवि की इस उक्ति में उसके निजी जीवन-गत संघर्ष की कथा के साथ उनसे जलने वालों के प्रति भी उनके भावों का परिचय मिल जाता है। कवि तो अपने को ठेठ भारतीय परम्परा रखता हुआ किसी से ईर्ष्या न रख, दूसरों की खुशी में खुशी मानने वाला घोषित कर रहा है :—

दुनिया बड़ी ओछी है;
औरों को खुश देख
लोग कुढ़ा करते हैं,
मातम मनाते हैं, जलते हैं, मरते हैं।
हमने तो औरों की खुशियों में
खुशियाँ मनाई हैं।[2]

अपने आप मियां मिट्ठू बनकर जीने में आत्मतोष नहीं आत्मवंचना का भाव है। जीवनगत संघर्ष से प्राप्त होने वाली विजय पर लोग किसी को प्रोत्साहन नहीं देते। तालियाँ तो आज मात्र खेल के मैदान में ही बजती हैं, जीवन के खेल में विजयी आज भी उपेक्षित बने हुए हैं, कितनी विडम्बना है जीवन की :—

व्यक्ति संघ-विधान से जब जूझता है
जीतता भी तो बहुत कुछ टूटता है।
और ताली जीत पर बस खेल के मैदान में है,
क्षेत्र जीवन का उपेक्षा का,
लगाये धूप का चश्मा दृगों पर, बेहया,
औ' तेल डाले जाने में है।[3]

१. दो चट्टानें, शृगालासन, पृष्ठ ८२।
२. वही, दो बजनिए, पृष्ठ १३५-३६।
३. वही, दयनीयता : संघर्ष : ईर्ष्या : पृष्ठ १०८।

लगते हैं, वहाँ कविता के साथ-साथ सुगमता और सरसता भी तिरोहित हो जाती है। वहाँ केवल 'अज्ञेय' ही शेष रह जाता है।

अज्ञेय : व्यक्तित्व

सम्भ्रान्त और विद्याव्यसनी वंश ने आभिजात्य और बहुश्रुतता जैसे भारी भरकम आधार अज्ञेय को दिए हैं। शालीनता और मधुर व्यवहार उनके अपने कौशेय-कण्ठ-कोष से निःसृत मधुरता की स्रोतस्विनी वाणी के अनुरूप है। देश-विदेश की 'यायावरी' ने उन्हें आधुनिक जीवन की नई दृष्टि दी है। इस दृष्टि में रोमांस, प्रणय, तत्व-दर्शन और प्रगतिशीलता (वाद नहीं) इतना कुछ एक साथ समाहित हुआ है। वे मूर्तिभंजक हैं, क्योंकि पुरानी आचार-मर्यादा और आस्था-निष्ठाओं को उन्होंने धराशायी करने का प्रयत्न किया है। अश्लील समझे जाने वाले मानव-अंगों को प्रतीक रूप में अपनाकर एक नई अर्थमत्ता उन्होंने दी है।[1] छंदों की 'संकरी' राह पर चलने का अनुभव उन्हें नहीं है, 'स्वर-छंद' उत्तराधिकार में जा मिला था। छन्दों के स्थान पर लोक-गीतों की धुन उन्हें अधिक भाती है।

अर्थबोध की दृष्टि से अज्ञेयत्व उनका उपनाम ही नहीं बल्कि उनके उलझे हुए व्यक्तित्व का प्रतीक भी है। इस उलझे हुए व्यक्तित्व का ताना-बाना मनोविज्ञान (फ्रायडवादी), अद्वैतोन्मुख रहस्यवाद,[2] छायावादी काव्य चेतना तथा आत्म-केन्द्रित भावधारा जैसे गूढ़-तत्त्वों से बुना गया है।

अज्ञेय : दर्शन

दर्शन तार्किक प्रक्रिया और अपने उपपत्ति-परक विधि-विधान के साथ कविता की सीमाओं में नहीं आ सकता। केवल दर्शन-मूलक जीवन-दृष्टि ही किसी कवि या दूसरे विधायक कलाकार को प्रेरणा दे सकती है। हृदय और बुद्धि जैसे विभिन्न उत्सों से जन्म लेने वाले भावना-प्रधान काव्य और विचार प्रधान दर्शन मूलतः दो विभिन्न प्रक्रियाओं के परिणाम हैं। फलतः किसी भी कवि या उसकी कविता का सम्बन्ध सीधे दर्शन से स्थापित करना कविता और दर्शन दोनों को गलत समझना है।

---

१. और, वह दृढ़ पैर मेरा है।
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ,
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग सा खड़ा हुआ।
(आह्वान : 'पूर्वा' में संकलित पृष्ठ १३४, प्रकाशित १९६५)

२. मैं उस असीम शक्ति से,
सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ,
अभिभूत होना चाहता हूँ,
जो मेरे भीतर है,
एक असीम बूंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है।

कवि ने पूर्व भी 'मिलन यामिनी' में गाया था:—

'मैं दुखों का भाग अपना भोग आया,
तब मिलन का यह मधुर संयोग पाया।'

फिर जीवन में तो इतना शोरगुल मचा हुआ है, आपा-धापी मची हुई है कि कहीं बैठकर सोचने को अवकाश कहाँ मिलता है, वहाँ तो बस, करना ही अभीष्ट है। सोचने वाले शायद कर्म-पथ से कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, बच जाते हैं :—

जीवन की आपा-धापी में कब वक्त मिला,
कुछ देर कहीं पर बैठ कभी यह सोच सकूं,
जो किया, कहा, माना उसमें क्या, बुरा-भला।[1]

कवि आज भी इसी सत्य का अनुभव करता है कि जीवन तो चलते-चलते समाप्त हुआ जाता है और न जाने इस मार्ग पर वह स्वयं चल पड़ा था या चलने के लिए विवश किया गया था पर हाँ एक युग तक चलने के बाद उस अपरिचित राह से भी प्रेम होने लगता है। ये बीहड़ रास्ते कभी-कभी जीवन के सभी साथियों को विलग कर देते हैं किन्तु यह अभिशाप है या वरदान ? कौन कहे ? पथिक ! तो बस आज अपने पथ से ही प्रेम करता हुआ बढ़ता जा रहा है और आज वह महसूस करता है कि—'चलते पांव नहीं हैं केवल, मन भी साथ चला करता है।' :—

यही मंजिल—
जो परिस्थिति ही नहीं है,
मनस्थिति भी—
सफ़र बाहर,
और उससे कम नहीं
अंदर चला था।
और मंजिल, जिस तरह की भी,
मुझे मन भा रही है।[2]

इसी रास्ते पर चलते चाहे सफलता का अमृत मिले चाहे विफलता का हलाहल, पथिक को दोनों प्रिय होते हैं, वह दोनों को गले लगाने के लिए प्रस्तुत रहता है। कवि ने हलाहल में अपने इस आशय को स्पष्ट किया था :—

हलाहल और अमिय मद एक,
एक रस के ही तीनों नाम,
कहीं पर लगता है रतनार,
कहीं पर श्वेत, कहीं पर श्याम,

---

१. मिलन यामिनी, पृष्ठ १८१।
२. दो चट्टानें. एक फ़िकर, एक डर, पृष्ठ १२७।

लगते हैं, वहाँ कविता के साथ-साथ सुगमता और सरसता भी तिरोहित हो जाती है। वहाँ केवल 'अज्ञेय' ही शेष रह जाता है।

अज्ञेय : व्यक्तित्व

सम्भ्रान्त और विद्याव्यसनी वंश ने आभिजात्य और बहुश्रुतता जैसे भारी भरकम आधार अज्ञेय को दिए हैं। शालीनता और मधुर व्यवहार उनके अपने कौशेय-कण्ठ-कोष से निःसृत मधुरता की स्रोतस्विनी वाणी के अनुरूप है। देश-विदेश की 'यायावरी' ने उन्हें आधुनिक जीवन की नई दृष्टि दी है। इस दृष्टि में रोमांस, प्रणय, तत्त्व-दर्शन और प्रगतिशीलता (वाद नहीं) इतना कुछ एक साथ समाहित हुआ है। वे मूर्तिभंजक हैं, क्योंकि पुरानी आचार-मर्यादा और आस्था-निष्ठाओं को उन्होंने धरा-शायी करने का प्रयत्न किया है। अश्लील समझे जाने वाले मानव-अंगों को प्रतीक रूप में अपनाकर एक नई अर्थमत्ता उन्होंने दी है।[1] छंदों की 'संकरी' राह पर चलने का अनुभव उन्हें नहीं है, 'स्वर-छंद' उत्तराधिकार में जा मिला था। छन्दों के स्थान पर लोक-गीतों की धुन उन्हें अधिक भाती है।

अर्थबोध की दृष्टि से अज्ञेयत्व उनका उपनाम ही नहीं बल्कि उनके उलझे हुए व्यक्तित्व का प्रतीक भी है। इस उलझे हुए व्यक्तित्व का ताना-बाना मनोविज्ञान (फ्रायडवादी), अद्वैतोन्मुख रहस्यवाद,[2] छायावादी काव्य चेतना तथा आत्म-केन्द्रित भावधारा जैसे गूढ़-तत्त्वों से बुना गया है।

अज्ञेय : दर्शन

दर्शन तार्किक प्रक्रिया और अपने उपपत्ति-परक विधि-विधान के साथ कविता की सीमाओं में नहीं आ सकता। केवल दर्शन-मूलक जीवन-दृष्टि ही किसी कवि या दूसरे विधायक कलाकार को प्रेरणा दे सकती है। हृदय और बुद्धि जैसे विभिन्न उत्सों से जन्म लेने वाले भावना-प्रधान काव्य और विचार प्रधान दर्शन मूलतः दो विभिन्न प्रक्रियाओं के परिणाम हैं। फलतः किसी भी कवि या उसकी कविता का सम्बन्ध सीधे दर्शन से स्थापित करना कविता और दर्शन दोनों को गलत समझना है।

---

१. और, वह दृढ़ पैर मेरा है।
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ,
तेरी प्राण पीठिका पैं लिंग सा खड़ा हुआ।
(आह्वान : 'पूर्वा' में संकलित पृष्ठ १३४, प्रकाशित १९६५)

२. मैं उस असीम शक्ति से,
सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ,
अभिभूत होना चाहता हूँ,
जो मेरे भीतर है,
एक असीम बूंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है

कवि वर्तमान युग की स्थिति के प्रति उदासीन नहीं है। आज समाज में भ्रष्टाचार की भावना जोर पकड़ती जा रही है। जितनी रोक थाम के आयोजन होते हैं भ्रष्टाचार उतना जोर पकड़ता जा रहा है, सारा देश ही मानो इस पंक में पंकिल हो रहा है :—

दूध-सी कपूर-चंदन चाँदनी में
भी नहाकर, भीगकर
मैं नहीं निर्मल, नहीं शीतल
हो सकूँगा,
क्योंकि मेरा तन-वसन
युग-पंक में लिथड़ा-सना है
और मेरी आत्मा युग-ताप से झुलसी हुई है;
नहीं मेरी ही तुम्हारी, औ, तुम्हारी और सबकी।
वस्त्र सबके दाग़-धब्बे से भरे हैं,
देह सबकी कीच-काँदों में लिसी, लिपटी, लपेटी।[1]

आज का मानव आत्मवंचक बना अपने अपराधों पर पर्दा डालने का प्रयत्न करता रहा है। वह मानो उस मिट्टी से बना है कि उस पर प्रभाव ही नहीं होता। वह मानने लगा है कि इसी मोटी खाल (वेहयाई) को धारण करने के कारण ही वह सुरक्षित है :—

अगर लेकर न आता इतनी मोटी खाल,
जीना होता बहुत दुश्वार।
दुनिय में हैं
बहुत से मत, मतान्तर,
बहुत से आद-वाद,
पर सबसे ज्यादा काम का है गैंडावाद,
(यानी वेहयावाद)[2]

प्रोफ़ेसर मनोरंजनदास ने भी वर्तमान युग की इस अवस्था को लक्ष्य कर "फ़ैशन भारती" में लिखा था :—

गर लात या जूते पड़ें, धैर्य-पूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं, हरदम खुशामद में रहो।

आज अपने सिद्धान्तों पर जीने वालों की कमी है। आज तो दूसरों की बात दुहराने वाले काठ के आदमियों की ही संख्या अधिक प्रतीत होती है :—

१. दो चट्टानें, युग पंक : युग ताप, पृष्ठ ५४।
२. वही, गैंडे की गवेषणा, पृष्ठ ७७।

काव्य--में ये जन-वादी स्वर या तो हैं ही नहीं, या फिर ये स्वर उनके 'अहम्' के विष से मूर्छित हैं।[1]

सुनहले शैवाल

अज्ञेय अपनी पुरानी कविताओं और कभी-कभी अपने संग्रहों को भी नए नाम से प्रकाशित करते रहे हैं। भग्नदूत (सन् १९३३) से लेकर १९५० तक की कवितायें 'पूर्वा' इस अन्वर्थक नाम से अज्ञेय ने प्रकाशित की हैं (सन् १९६५)। 'सुनहले शैवाल' नाम से उनकी कुछ पुरानी तथा कुछ नयी कविताओं का एक आकर्षक संकलन १९६६ में छपा है। इस संकलन की साज-सज्जा नयनाभिराम है। अज्ञेय के अपने कैमरे का छायांकन इस संकलन की अविताओं को कलात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। कैमरे के अनुरोध पर इस संकलन की कविताओं का आयाम केवल प्रकृति तक ही सिमट आया है। फलतः छायावादी स्वर इस संकलन की कविताओं के प्रमुख स्वर कहे जा सकते हैं।

सुनहले शैवाल में ४४ कविताएँ संकलित हैं। अज्ञेय की काव्य-यात्रा के विभिन्न पड़ाव इन कविताओं में देखे जा सकते हैं। इन कविताओं में अज्ञेय ने अपने 'यायावरी' चित्रकार को प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में ला खड़ा किया है। अपनी अनुभूतियाँ भी कहीं-कहीं प्रकृति पर आरोपित की हैं। नदी को 'दर्द की रेखा' और सागर-गर्जन को 'दर्द का गान' कहना, इसी आरोपित भावना का परिणाम है।

मानव के छद्मवेश में अज्ञेय का अपना भोगा हुआ यथार्थ और अपनी अनुभूतियों के वज्रपाश में शतधाबद्ध—अहम् स्थान-स्थान पर ताल ठोंककर सामने आ खड़ा हो जाता है। इस छद्मवेशी मानव—जिसे वे 'यौन वर्जनाओं का पुंज' मानते आये हैं—की नाना-ग्रंथि-मूलक रति-लीला को इन कविताओं में छुआ भर गया है। इस दृष्टि से यह संकलन अज्ञेय के उद्दाम-वासना-प्रधान काव्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। जनवादी स्वरों की अनुगूंज भी इस संकलन में यत्र-तत्र सुनी जा सकती है।

---

१. "तुम जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊंची दुकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम जो रक्त चूस, ठठरी को देते हो जलदान,
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूं, सुनो घृणा का गान।
तुम सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन
तुम श्मशान के देव! सुनो यह रणभेरी की तान।"
जैसी पंक्तियां अज्ञेय के काव्य में विरल हैं।

(भग्नदूत: अज्ञेय १९३३—.

आज के विश्वविद्यालयों की महत्त्व-हीनता के प्रति भी कवि सजग है। वह अनुभव करता है कि :—

विश्वविद्यालय बंधे हैं
विगत मूल्य परम्परा में—
तू रहा जिनका विरोधी—
और अब तो बिक रहे वे,
राजनीति खरीदती है।
आज उनकी डिग्रियाँ—आनरिस काज़ा—
योग्यता के लिए
प्रतिभावान को अर्पित न होतीं,
कूटनीतिक कारणों से
दी, दिलाई और पाई जा रही हैं।[1]

ये संस्थाएँ चाहे विश्व-वंदित क्यों न रही हों, पर यह व्यवस्था बदलनी चाहिए :—

संस्थाएँ—हों भले ही विश्व-वंदित—
यह नहीं अधिकार उनको—
क्योंकि उनके पास धन-बल—
जिस समय चाहें दिखाएँ मान-टुकड़ा,
और प्रतिभा दुम हिलाती
दौड़ उनके पांव चाटे ![2]

कवि एक बार पुनः भारतीय परम्परा की ओर मुड़ता है ताकि वह पुरातन से, अनुभूत से कोई मार्ग-दर्शन पा ले और उसे महसूस होता है कि अतीत में हमारे पुरखों ने हमें नित्य आशावादी बना रहने का पाठ पढ़ाया था और साहस बनाए रखने की शिक्षा दी थी :—

हमारे पुरखों ने सिखलाया
कि जब-जब बाढ़ आए,
दो चीज़ बचाना—
छाती में विश्वास
और हांडी में दाना।[3]

कवि आशावादी है। कवि ने नित्य ही आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कुछ क्षणों के लिए निराशा ने भले ही जीवन को आच्छादित कर लिया हो, गीतों में

१. दो चट्टानें, पृष्ठ १४६।
२ वही, सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर, पृष्ठ १५०
३. वही, बाढ़ पीड़ितों के शिविर में, पृष्ठ ५८।

१६४१ के पश्चात्—सम्भवतः अवसाद के दौरे पड़ने पर—अज्ञेय 'प्रकृति' के प्रति बहुत क्षुब्ध भी दिखाई पड़ते हैं —

'वंचना है चाँदनी रात
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार'।

(वंचना के दुर्ग : अज्ञेय)

वैसे कुल मिलाकर प्रकृति अज्ञेय के काव्य में सर्वव्यापिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है।

सुनहले शैवाल में संकलित और छायांकित प्रकृति-चित्र अज्ञेय के सर्वोत्तम चित्र हैं। सम्भ्रान्त और सम्पन्न वर्ग की रुचि, छायावादी दृष्टि तथा आत्मकेन्द्रित चिन्तन का मुंह बोलता चित्र इस संकलन की उपलब्धि कही जा सकती है। विशेषतः 'सूर्यास्त' कविता अज्ञेय की संश्लिष्ट-शैली, सूक्ष्म-पर्यवेक्षण शक्ति तथा अनूठे बिम्ब-विधान का मोहक रूप प्रस्तुत करती है —

अन्तिम रवि की अन्तिम रक्तिम किरण छू चुकी हिमगिरि भाल,
अन्तिम रक्त-रश्मि के नर्तन को दे चुके चीड़-तरु ताल,
नीलिम शिला-खंड के पीछे दीप्त अरुण की अन्तिम ज्वाल,
जग को दे अन्तिम आश्वासन अस्ताचल की ओट हुए रवि !
खोल हृदय-पट तू दिखला दे अपना उल्लास प्राणोन्माद,
शब्द-शब्द की कम्पन कम्पन में भर दे अतुलित आह्लाद,
अक्षर-अक्षर हो समर्थ बिखराने को जीवन-अवसाद,
फिर भी वर्णित हुई न होगी इसकी एक किरण भर छवि। (पृष्ठ ३०)

"सन्ध्या संकल्प' का यह चित्र सचमुच सुन्दर है :—

यह सूरज का जवा फूल,
नैवेद्य चढ़ चला,
सागर हाथों
अम्बा तिमिरमयी को,} (पृ० ६)

प्रकृति को अज्ञेय ने साध्य और साधन दोनों रूपों में रूपायित किया है। अपनी वेदना, अपने संत्रास और अपने मानववादी दृष्टिकोण को काव्यमयी अभिव्यक्ति प्रकृति के संदर्भ में अज्ञेय ने दी है।

हिरोशिमा, साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान, सागर चित्र, वर्फ की झील, कलगी बाजरे की, हवाई यात्रा, प्रभृति कविताओं में अज्ञेय के चिन्तन और उनके काव्य-वैभव का मोहक चित्र देखा जा सकता है।

मानव : अज्ञेय

मानव और उसके सुख-दुःखों की कहानी कविता कहती आई है। अज्ञेय की इस कहानी में मानव-मन का कोमलतम पक्ष अर्थात् प्रेम और प्रेम की परिधि में रूप,

दिए जाने से नोबेल पुरस्कार का महत्त्व बढ़ता। व्यक्ति जीवन की अंतिम सचाई है :—

व्यक्ति मेरे लिए भी अंतिम इकाई,
और उसके सामने संसार सारा,
धर्म, रूढ़ समाज, शासन-तंत्र सारा,
प्रकृति सारी, नियति सारी,
देश सारा, काल सारा,
और उसको
एक, बस अस्तित्व का अपने, सहारा।[1]

व्यक्ति जब अपने बल पर अपना स्थान बना लेता है तब वह मान अपमान की अवस्था से ऊपर उठ जाता है, तब सारी व्यवस्थाएँ एवं जीवन-मान बदल जाते हैं :—

इस उमर में पहुँच
जीवन-मान सारे बदल जाते
मान औ' अपमान खोते अर्थ अपना,
कर चुका अभिव्यक्ति जब व्यक्तित्व
सब सामर्थ्य अपना।[2]

सार्त्र जिसने जीवन भर निरपेक्ष भाव से साहित्य की सेवा की किन्तु राजकीय व्यवस्थाओं ने उसे सम्मान का अधिकारी नहीं माना कि वह खुशामद से दूर था। इस कविता में कवि ने विश्वविद्यालयों की व्यवस्था में एवं राज्यशासन की व्यवस्था पर भी करारा व्यंग्य किया है। कवि का स्वाभिमान यह कदापि स्वीकार नहीं करता कि ये संस्थाएँ जब चाहें कुत्ते को दिए जाने वाले टुकड़े की तरह अनुकम्पा दिखाकर साहित्यकार को खरीद लें :—

संस्थाएँ हों भले ही विश्व-वंदित—
यह नहीं अधिकार उनको—
क्योंकि उनके पास धन-बल—
जिस समय चाहें दिखाएँ मान-टुकड़ा,
और प्रतिभा दुम हिलाती
दौड़ उनके पाँव चाटे।[3]

कवि ने सार्त्र के साथ अपने काव्य जीवन एवं विश्वविद्यालयों की व्यवस्था पर भी करारा व्यंग्य किया है। हमारा कवि भी जीवन भर काव्य साधना करके

१. दो चट्टानें, सार्त्र के नोबेल-पुरस्कार ठुकरा देने पर, पृष्ठ १४३।
२. वही, पृष्ठ १५१।
३. वही, पृष्ठ १५०।

फिर हमारे भारत में यह कोई नई बात भी तो नहीं कि जीवित व्यक्ति उपेक्षा का पात्र बना न रहा हो। प्रेमचंद जीवन भर सुख एवं सम्मान नहीं पा सके, आज हम उनके स्मारक खड़े कर रहे हैं। शायद रविबाबू को भी भारत ने कभी स्वीकार न किया होता अगर वे नोबेल पुरस्कार पाकर भारतीय साहित्यकारों में अपना स्थान न बना लेते। हमारे कवि ने 'शिवपूजन सहाय के देहावसान पर' कविता में हमारी व्यवस्था पर व्यंग्य किया है कि वाणी के क्षेत्र में मृत्यु ही कलाकार को जन्म देती है :—

वाणी का क्षेत्र है
मृत्यु यहाँ जन्म दिया करती है।[1]

इस संग्रह में कवि ने युग पुरुष नेहरू के प्रति ७ कविताएं संकलित की हैं—२७ मई, गुलाब की पुकार, गुलाब, कबूतर और बच्चा, दो फूल। इनमें नेहरू और गांधीजी को कवि ने एक साथ अपने श्रद्धा के फूल चढ़ाए हैं, कील-काँटों में फूल, तथा विक्रमादित्य का सिंहासन। अपनी व्यक्तिगत कमज़ोरियों और दूषणों के बावजूद भी नेहरू ने भारत के लिए जन-जीवन के लिए, तथा शान्ति के लिए जो कुछ संभव था किया। उसके सामाजिक महत्त्व, राष्ट्रीय महत्त्व, अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। कवि ने इस संग्रह में लुमुम्बा के नाम भी एक कविता जोड़ी है जिससे कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि 'भोलापन है भार जगत् में।' फिर भी कवि का आशावाद झलकता पुनर्निमाण की भावना प्रकट करता है :—

प्राणों से बढ़कर और बचा लेने की कोई चीज़ नहीं,
कुछ ध्वंस न ऐसा हो सकता, यदि जीता है,
इंसान पुनर्निर्माण न जिसका कर लेता।[2]

कवि ने गांधी, एवं गांधीवादी युग पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। हमारे कवि को गांधीजी के समीप रहने के अवसर भी प्राप्त हुए हैं और उन्होंने उस महान् विभूति की आचरण की मौन सभ्यता को समीप से देखा था[3] और उनका प्रभाव उन पर भी है। वे काम में विश्वास रखते हैं शब्दों में नहीं :—

वे कण्ठ खोले,
बोलना हो तो
तुम्हारे हाथ की दी चोट बोले।[4]
तथा वचन पर मौन की
मौन पर कर्म की जय मानता हूं।[5]

१. दो चट्टानें, शिवपूजन सहाय के देहावसान पर, पृष्ठ ११
२. वही, भोलेपन की कीमत, पृष्ठ १५।
३. नए पुराने झरोखे, बच्चन।
४. दो चट्टानें, सूर समर करनी करहिं, पृष्ठ १५।
५. वही, कुकड़ूं-कूं, पृष्ठ ६७।

कवि के लिए अपने उत्तरदायित्व को निभाना भी अनिवार्य होता है मुर्ग़ के सिर पर लाल कलिंगी का ताज रखा गया है जो सूर्य की लालिमा का परिचायक एवं नवजागरण का परिचायक है, मुर्ग़ उससे अपरिचित नहीं और उसके भार को भी पहचानता है और सूर्योदय की प्रतीक्षा करता रहता है, उसकी झलक पाकर ही वह बोल उठता है :—

किन्तु उसके शीश पर जो
अरुणिमा का ताज रखा गया
उसकी लाज,
उसकी आन भी उसको निभानी;
और उसके वक्ष में जो आग
उसके कंठ में जो राग,
स्वर में जो तीव्र, तार, सुतीक्ष्ण
रक्खा गया उसका
निष्ठुरता दायित्व भी उसको उठाना ।'[1]

कवि अपने को समाज के दूषणों का उत्तरदायी मानता है, राजनीतिज्ञों को नहीं । राजनीतिज्ञ अपने को सदैव साफ़ सुथरा रखते हैं । उन पर कोई धब्बा लगने ही नहीं पाता । वे नित्य ही अपने ऊपर लगने वाले दाग़ों को शब्दों के जाल से धुलाया करते हैं । कवि ने युग के अनाचार एवं शोषण के प्रति अपने उत्तरदायित्व का परिचय 'खून के छापे' कविता में दिया है । जहाँ शोषित एवं पीड़ित कवि को सहृदय समझकर अपने शोषकों से लड़ने के लिए ललकारते हैं और वे नित्य ही उसके द्वार पर खून के छापे लगाया करते हैं । कवि भी इन दाग़ों को नित्य लगा रहने देना चाहता है ताकि उसे अपना कर्त्तव्य याद रहे, वह आज के नेताओं की तरह उन धब्बों को धुलाने के लिए प्रयत्नशील नहीं है :—

लेकिन इस अमानवीय, अत्याचार, अन्याय
अनुचित, अकरणीय, अकरुण का
दायित्व किसने लिया ?······
जिसके भी द्वार पर ये छापे लगे उसने
पानी से धुला दिया,
चूने से पुता दिया ।
किन्तु कवि-द्वार पर
छापे ये लगे रहें,
जो अनीति, अति की
कथा कहें, व्यथा कहें,

१. दो चट्टानें, सुबह की मांग, पृष्ठ ६८ ।

५१

सुनहले शैवाल

डा० गोविन्दनाथ राजगुरु

असंभव को संभव, वक्र को ऋजु और अज्ञेय को ज्ञेय बनाना एक साहसिक कार्य है। अज्ञेय का अज्ञेयत्व उनके अपने शब्दों में इस प्रकार अंकित हुआ है:—

"ज्ञेय हो, दुर्ज्ञेय हो, अज्ञेय निश्चय हो,
अर्थ के अभिशापियों से सतत निर्भय हो।"[1]

उनका अज्ञेयत्व मुख्यतः व्यक्तिवादी विचारधारा की उपज है। छायावाद की तरल भावुकता, रहस्यवाद की अतीन्द्रियता तथा प्रगतिवादी स्थूल यथार्थ के विरोध में उनके अस्मिताप्रधान व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने बौद्धिकता से संकुल और प्रकृति-कोकनद के मधु-मिश्रित पराग से पंकिल काव्य-जगत् की सृष्टि की है।

अज्ञेयत्व को और भी गहराने के लिए उत्तरदायी हैं उनके अपने वक्तव्य। कविता के लिए वक्तव्य की आवश्यकता को नकारते हुए भी उन्होंने भूमिका तथा प्रस्तावना आदि विभिन्न रूपों में अपनी कविता को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।[2]

यूरोप में इलियट आदि आधुनिक कवियों के इसी प्रकार के स्पष्टीकरण अनेक भ्रान्तियों और विवादों को जन्म दे चुके हैं। इधर छायावादी कवियों के इसी कोटि के 'स्व-गत' कथनों से कवि और कविता दोनों का 'स्व' पर्याप्त रूप से तिरोहित हुआ है। अज्ञेय के स्पष्टीकरणों की परिणति भी अ-स्पष्टीकरण में ही हुई है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि अज्ञेय का समस्त काव्य अज्ञेय या अस्पष्ट है। उनके काव्य का अधिकतर रूप स्पष्ट ही नहीं बल्कि सुन्दर और सुबोध रहा है। पर जहाँ कहीं वे दर्शन और चिन्तन की गहन वीथियों में कविता के साथ आंखमिचौनी खेलने

१. अज्ञेय ने यह कविता अपनी 'जयतु हे कंटक चिरंतन' नामक कविता की 'पैरोडी' के रूप में लिखी है। तार-सप्तक: द्वितीय संस्करण १९६६, पृष्ठ २९१ पर इस 'पैरोडी' की रोचक कविता दी गई है। शालीनता का तकाजा है कि आगे की पंक्तियाँ उद्धृत न की जाएँ।

२. तार-सप्तक: द्वितीय संस्करण: पृष्ठ २७५।

इसके अतिरिक्त मात्र 'दर्शन' या 'वाद' के वल पर कोई भी कविता उदात्त तो क्या—कविता भी बनी नहीं रह सकती। किसी भी कविता की पहली शर्त काव्यत्व की है और काव्यत्व के लिए सहृदयों की अनुभूति ही एकमात्र प्रमाण है। आधुनिक युग के संदर्भ में सहृदय शब्द अटपटा लग सकता है। परन्तु जब तक कविता कविता है, तब तक उसे पुरातन या आधुनिक सहृदय का प्रमाण-पत्र अवश्य प्राप्त करना होगा।

अज्ञेय : 'वादों' के सन्दर्भ में

अज्ञेय का सम्बन्ध विभिन्न वादों से रहा है। छायावादी दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के कई भाव-पूर्ण चित्र उतारे हैं। छायावादी प्रच्छन्न रीति के ये चित्र रीति-कालीन सुरत या सुरतान्त के वर्णनों से सफलतापूर्वक होड़ ले सकते हैं —

"घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा,
विशद, श्वासाहत, चिरातुर,
छा गया इन्दु का नील वक्ष,
वासना के पंक सी फैली हुई थी,
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी,
औ समर्पित

(इत्यलम्, पृ० १५५)

इस भोग प्रधान रति वर्णन के साथ वे 'अद्वैती' भी हैं। उनकी अनेक पंक्तियाँ अध्यात्मवादी साधना, प्रार्थना और 'आशिष्' के स्तर की हैं। प्रयोग के वाद का बोझा भी वे प्रायः अनिच्छा से ही ढो रहे हैं, क्योंकि यह बोझ उन पर बलात् लाद दिया गया है।

वस्तुतः पिछले तीन दशकों (सन् १९३३) से लेकर आज तक हिन्दी-काव्य के कलेवर और उसकी भावभूमि को जिन-जिन वादों ने प्रभावित किया है, अज्ञेय का कवि उन सभी वादों से प्रायः साक्षात्, परोक्ष अथवा सूक्ष्म रूप से प्रभावित हुआ है। व्यक्तिवादी तथा आत्मकेन्द्रित दृष्टि के कारण अज्ञेय ने अपने अहम् की ही भांवरें अधिक ली हैं। जन-सामान्य के स्तर पर उतरने से अज्ञेयत्व कैसे अक्षुण्ण रहता ? गाँधी की आंधी उनके काव्य को झकझोर न सकी। दूब की ये नन्ही पंक्तियाँ उस आँधी में झूम तो लीं, पर उनका सम्वर्धन और पोषण भिन्न रूप से भिन्न दिशा में निरन्तर होता रहा।

वे क्रान्तिकारी रहे हैं, सजायाफ्ता होने की सनद उनके पास है, किसान आन्दोलन में भी वे भाग ले चुके हैं। परन्तु उनके काव्य—विशेषतः उनके अधुनातन

इसके अतिरिक्त मात्र 'दर्शन' या 'वाद' के बल पर कोई भी कविता उदात्त तो क्या—कविता भी बनी नहीं रह सकती। किसी भी कविता की पहली शर्त काव्यत्व की है और काव्यत्व के लिए सहृदयों की अनुभूति ही एकमात्र प्रमाण है। आधुनिक युग के संदर्भ में सहृदय शब्द अटपटा लग सकता है। परन्तु जब तक कविता कविता है, तब तक उसे पुरातन या आधुनिक सहृदय का प्रमाण-पत्र अवश्य प्राप्त करना होगा।

अज्ञेय : 'वादों' के सन्दर्भ में

अज्ञेय का सम्बन्ध विभिन्न वादों से रहा है। छायावादी दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के कई भाव-पूर्ण चित्र उतारे हैं। छायावादी प्रच्छन्न रीति के ये चित्र रीतिकालीन सुरत या सुरतान्त के वर्णनों से सफलतापूर्वक होड़ ले सकते हैं —

"घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा,
विशद, श्वासाहत, चिरातुर,
छा गया इन्द्र का नील वक्ष,
वासना के पंक सी फैली हुई थी,
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी,
औ समर्पित

(इत्यलम्, पृ० १५५)

इस भोग प्रधान रति वर्णन के साथ वे 'अद्वैती' भी हैं। उनकी अनेक पंक्तियाँ अध्यात्मवादी साधना, प्रार्थना और 'आशिष्' के स्तर की हैं। प्रयोग के वाद का बोझा भी वे प्रायः अनिच्छा से ही ढो रहे हैं, क्योंकि यह बोझ उन पर बलात् लाद दिया गया है।

वस्तुतः पिछले तीन दशकों (सन् १९३३) से लेकर आज तक हिन्दी-काव्य के कलेवर और उसकी भावभूमि को जिन-जिन वादों ने प्रभावित किया है, अज्ञेय का कवि उन सभी वादों से प्रायः साक्षात्, परोक्ष अथवा सूक्ष्म रूप से प्रभावित हुआ है। व्यक्तिवादी तथा आत्मकेन्द्रित दृष्टि के कारण अज्ञेय ने अपने अहम् की ही भांवरें अधिक ली हैं। जन-सामान्य के स्तर पर उतरने से अज्ञेयत्व कैसे अक्षुण्ण रहता? गांधी की आंधी उनके काव्य को झकझोर न सकी। दूब की ये नन्ही पंक्तियाँ उस आंधी में झूम तो लीं, पर उनका सम्वर्धन और पोषण भिन्न रूप से भिन्न दिशा में निरन्तर होता रहा।

वे क्रान्तिकारी रहे हैं, सजायाफ्ता होने की सनद उनके पास है, किसान आन्दोलन में भी वे भाग ले चुके हैं। परन्तु उनके काव्य—विशेषतः उनके अद्यतन

प्रकृति : अज्ञेय

अज्ञेय के काव्य का वातायन है प्रकृति। इसी वातायन से अज्ञेय ने विश्व को निरखा और परखा है। इसी वातायन से अज्ञेय के काव्य को प्राणप्रद शुद्ध वायु मिलती है। इसी वातायन पर अज्ञेय का 'यायावर' हमेशा अपनी दृष्टि जमाए रहता है।

छायावादी काव्य में चित्रित प्रकृति का अभिराम रूप तो अज्ञेय को उत्तराधिकार में मिला ही था। अज्ञेय की अपनी सौंदर्य-चेतना तथा उनके निजी पर्यवेक्षण और पर्यटन ने भी प्रकृति तथा उसके अछूते सौंदर्य से अज्ञेय के भावुक अन्तःकरण को परिचित करवाया।

अज्ञेय के विचारक ने प्रकृति को केवल जड़-पदार्थों का समूह मात्र ही नहीं माना। अज्ञेय के शब्दों में प्रकृति "सम्पूर्ण परिवेश है, जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है।"

(रूपाम्बरा : भूमिका पृ० १)

इस प्रकार ऐन्द्रिय और मानसिक दोनों धरातलों पर प्रकृति के प्रेरक और जीवित प्रभाव को अज्ञेय स्वीकारते हैं। उन्होंने आधुनिक प्रकृति-परक-काव्य को 'नयी और व्यापकतर संवेदना' के माध्यम से 'उस आभ्यन्तर' के साथ 'नया राग सम्बन्ध जोड़ने' वाला भी बताया है। वस्तुतः प्रकृति के सम्बन्ध में उनके वक्तव्य और उनकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में ताल-मेल बैठाना सर्वत्र सरल नहीं है। छायावादी दृष्टिकोण लेकर वे 'प्रकृति को विज्ञान की अधुनातन अवस्था के चौखटे में बैठाने' का प्रयास करते हैं। यह प्रयास सफल है या नहीं, यह प्रश्न दूसरा है। पर अपने स्वीकृत-मूल्यों का प्रकृति पर आरोपण प्रकारान्तर से रीतिकालीन बोध की आवृत्ति मात्र ही है।

'भग्न-दूत', 'बन्दी-स्वप्न' तथा 'हिय हारिल' में प्रकृति के चित्र, स्वर तथा रेखा दोनों ही दृष्टियों से छायावादी हैं। 'रजनी-गंधा मानस मेरा' जैसी प्रारम्भिक कविताओं में कवि की संवेदना और सशक्त बिम्ब-विधान के कौशेय परिधान में प्रकृति बहुत आकर्षक दिखाई पड़ती है :—

"रजनी गंधा मेरा मानस,
पा इन्दु किरण का नेह परस,
छलकाता अन्तस् से स्मृति-रस,
उत्फुल्ल खिले इह से बरबस,
जागा पराग तन्द्रिल सालस,
मधु से बस गईं दिशाएँ दस"